श्रीअरविन्द-साहित्य

खण्ड १८

श्रीअरविन्दके पत्र

भाग चार

LETTERS ON YOGA

PART FOUR

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1973

अनुवादक:

मेधाव्रत विद्यालंकार

प्रथम संस्करण, वर्ष 1973
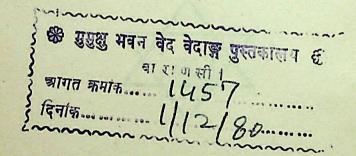
Price Rs. Rs 30/ मूल्य रू०

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक : ऑल इन्डिया प्रेस,
श्रीअरविन्द आश्रम,
पांडिचेरी - 2.

विषय-सूची

श्रीअरविन्दके पत्र

भाग चार

भाग चार

विभाग एक

त्रिविध रूपान्तर

चैत्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक

त्रिविध रूपान्तर

चैत्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक

I

इस योगकी मौलिक अनुभूतियां ये हैं :

1. चैत्य परिवर्तन जिसमें कि श्रीमाताजीके साथ सतत एकत्व प्राप्त कर तथा उनकी उपस्थितिके अन्दर निवास करते हुए एक पूर्ण भक्ति-भावना हृदयकी प्रधान चालिका-शक्ति एवं हमारे विचार, जीवन और कर्मकी शासिका बन जाय।

2. उच्चतर चेतनाकी शान्ति, शक्ति , ज्योति इत्यादिका अवतरण जो मस्तक और हृदयमेंसे होकर समस्त सत्तामें आ जाय और शरीरके कोषाणु-ओंतकको अधिकृत कर ले।

3. एकदम सत्य और भगवान्‌का अनन्त रूपोंमें सर्वत्र साक्षात्कार, श्रीमां-का सर्वत्र दर्शन तथा उसी अनन्त चेतनामें निवास।

*

तुम उन चीजोंको जानते ही हो जिनपर योगकी सिद्धिको स्थापित करना होता है; वे हैं :

1. मनसे ऊपर एक स्थानपर उठना और विश्वचेतनाकी ओर उद्‌घाटित होना;

2. चैत्य उद्‌घाटन साधित करना; और

3. उच्चतर चेतनाका अवतरण कराना जिससे कि उसकी शान्ति, ज्योति, शक्ति, ज्ञान और आनन्द आदि सत्ताके सभी लोकोंमें — नीचे अत्यन्त भौतिक स्तरतकमें भर जायं।

यह सब करना होगा श्रीमांकी शक्तिकी क्रियाके द्वारा और उसके सहायक होंगे तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति और आत्मसमर्पण।

यही है पथ। बाकी जो है वह है इन सब चीजोंको कार्यान्वित करना, जिसके लिये तुम्हें श्रीमांकी क्रियामें श्रद्धा-विश्वास रखना होगा।

*

जब हम दिव्य स्फुलिंगकी बात करते हैं तब हम अन्तरात्माको भगवान्के एक अंशके रूपमें सोचते-समझते हैं जो ऊपरसे इस अभिव्यक्तिमें अवतरित हुआ है, किसी ऐसी चीजसे नहीं निकला है जिसने अपनेको विश्वसे पृथक् कर रखा है। हमारी जो प्रकृति है बस उसीने वैश्व शक्तियोंमेंसे अपना निर्माण किया है — विश्वव्यापी मनमेंसे मन, विश्वव्यापी प्राणमेंसे प्राण और विश्वव्यापी जड़तत्त्वमेंसे शरीर निर्मित हुआ है।

अन्तरात्माके लिये तीन आध्यात्मिक उपलब्धियां हैं :— 1. यह उपलब्धि कि चैत्य सत्ता और चेतना इस विकासक्रममें विद्यमान भागवत तत्त्व हैं; 2. विश्वात्माकी उपलब्धि जो कि सबमें एक है; 3. परात्पर भगवान्की उपलब्धि जिससे व्यक्ति और विश्व दोनों ही उद्भूत हुए हैं तथा व्यष्टि पुरुष (जीवात्मा) के विषयमें यह उपलब्धि कि वह भगवान्का एक शाश्वत अंश है।

*

निस्संदेह भौतिक सत्ता आधार है — अधिमानसका आधार दो गोलार्द्धों के बीचमें स्थित है। निम्नतर गोलार्द्धमें अवश्य ही संपूर्ण मनका उसकी उच्चतर भूमिकाओं, प्राण और शरीरके साथ समावेश होता है। उच्चतर गोलार्द्ध दिव्य सत्-चित्-आनन्दको अपने अन्दर समाये हुए है और अतिमानस उसके आत्म-रूपायनका साधन है। अधिमानस निम्नतर गोलार्द्धके शिखरपर स्थित है और वह दोनों गोलार्द्धोंके बीचमें मध्यवर्ती या संक्रमणात्मक भूमिका है।

चैत्य सत्ता मन, प्राण और शरीरको सहारा देती हुई हृदयके पीछे स्थित है। चैत्य रूपान्तरमें तीन मुख्य तत्व हैं: 1. गुह्य आन्तर मन, आन्तर प्राण और आन्तर भौतिक सत्ताका उद्घाटन, जिससे मनुष्य उपरितलीय मन, प्राण, शरीरके पीछे रहनेवाली सब वस्तुओंको जान जाता है — 2. चैत्य सत्ता या अन्तरात्माका एक ऐसा उद्घाटन, जिसके द्वारा वह अग्रस्थानमें आ जाती है, मन, प्राण और शरीरपर शासन करती है और उन सबको भगवान्की ओर मोड़ देती है — 3. समग्र निम्नतर सत्ताका आध्यात्मिक सत्यके प्रति उद्घाटन — इस अन्तिम तत्वको रूपान्तरका चैत्य-आध्यात्मिक भाग कहा जा सकता है। चैत्य रूपान्तरके लिये यह बिलकुल संभव है कि वह मनुष्यको व्यष्टि-सत्तासे परे वैश्व-सत्ताकी ओर ले जाय। गुह्य उद्घाटन भी वैश्वमन, वैश्वप्राण और वैश्वशरीरके साथ सम्बन्धको स्थापित करता है। चैत्य सर्वरूप सत्ताके साथ सम्पर्क, परमात्माके साथ एकता, वैश्व-प्रेम और वैश्व-चेतनाकी ओर ले जानेवाले अन्य अनुभवोंको उपलब्ध करता है।

पर वह सब ऊपर स्थित आध्यात्मिक सत्ताके प्रति उद्घाटनका परिणाम है और यह मन, प्राण और शरीरमें आध्यात्मिक प्रकाश और सत्यके छनके आने या प्रतिबिम्बित होनेके फलस्वरूप प्राप्त होता है। सही आध्यात्मिक रूपान्तर तब प्रारम्भ या सम्भव होता है जब व्यक्ति मनसे ऊपर उठता है और ऊपरसे सबका शासन करता हुआ वहीं निवास करता है। चैत्य रूपान्तरमें भी व्यक्ति एक प्रकारसे मानसिक, प्राणिक और स्थूल सत्ताकें ऊपर जाकर ऊंचे उठ सकता है और फिर वहांसे लौट भी सकता है, किन्तु तब भी वह ऊपर उस शिखरकी चेतनामें निवास नहीं करता जहां मानव मनसे ऊपरकी अन्य भूमिकाओंके साथ अधिमानसका भी धाम है।

अतिमानसिक रूपान्तर केवल तभी हो सकता है जब निम्नतर और ऊच्चतर गोलार्द्धोंके, अथवा सत्ताके दो अर्ध भागोंके बीचका आवरण हटा दिया जाता है और अधिमानसके स्थानपर अतिमानस सत्तापर शासन करनेवाली शक्ति बन जाता है — पर अभी उसके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता।

*

चैत्यीकरण और आध्यात्मीकरणके बीचमें एक भेद है। आध्यात्मिक परिवर्तन एक ऐसा परिवर्तन है जो ऊपरसे उतरता है और चैत्य परिवर्तन एक ऐसा परिवर्तन है जो मन, प्राण और स्थूल सत्तापर शासन करनेवाले चैत्य द्वारा अन्दरसे आता है।

*

चैत्यीकरणका अर्थ है निम्नतर प्रकृतिका ऐसा परिवर्तन जो मनमें सम्यक् दृष्टि, प्राणमें समुचित आवेग और बोध, शरीरमें यथार्थ क्रिया और गति तथा अभ्यास ले आता है — ये सभी भगवान्‌की ओर मुड़े होते हैं, सबका आधार होता है प्रेम, पूजा-भाव और भक्ति — अन्तमें हम सर्वत्र, सबमें तथा अपने हृदयमें श्रीमाताजीके दर्शन और अनुभव प्राप्त करते हैं, उनकी शक्तिको अपनी सत्तामें कार्य करते हुए अनुभव करते हैं, श्रद्धा, आत्मोत्सर्ग, आत्मसमर्पणका भाव जागृत होता है।

आध्यात्मिक परिवर्तनका अर्थ है शान्ति, ज्योति, ज्ञान, शक्ति, आनन्दका ऊपरसे स्थायी अवतरण, आत्मा, भगवान् और उच्चतर वैश्व चेतनाका ज्ञान तथा उसके अनुसार संपूर्ण चेतनामें परिवर्तन।

*

ये जो तुम्हारे दो भाव हैं ये दोनों ही ठीक हैं। ये साधनाकी दो आवश्यक बातोंको सूचित करते हैं। एक है अन्तरमें पैठना और चैत्य सत्ता तथा बाह्य प्रकृतिके बीच पूर्णतः संपर्क स्थापित करना। दूसरा है ऊपर अवस्थित भागवत शान्ति, शक्ति, ज्योति और आनन्दकी ओर खुलना, उनमें ऊपर उठना और उन्हें अपनी प्रकृति और शरीरमें नीचे उतार लाना। इन दोनों — चैत्य तथा आध्यात्मिक — क्रियाओंमेंसे कोई एक-दूसरीके बिना पूर्ण नहीं होती। यदि आध्यात्मिक आरोहण और अवरोहण न साधित हो तो प्रकृतिका आध्यात्मिक रूपान्तर नहीं हो सकता; यदि पूर्ण चैत्य उद्घाटन न हो और संपर्क स्थापित न किया जाय तो रूपान्तर पूर्ण रूपसे साधित नहीं किया जा सकता।

इन दोनों क्रियाओंके बीच कोई असामंजस्य नहीं है; कुछ लोग तो पहले चैत्यसे आरम्भ करते हैं और दूसरे पहले आध्यात्मिकसे, कुछ दूसरे लोग दोनोंको एक साथ करते हैं। सर्वोत्तम मार्ग है दोनोंके लिये अभीप्सा करना और श्रीमाताजीकी शक्तिको प्रकृतिकी आवश्यकता तथा झुकावके अनुसार उसे कार्यान्वित करने देना।

*

यदि उच्चतर चेतनाका विकास ऐसी वस्तुओंको लाये जिनके विषयमें मनने पहले कभी सुना न हो, तो उसका कोई विशेष लाभ नहीं होगा। साधनाके लिये किसी न किसी समय चैत्य और उच्चतर चेतनाकी शक्तियोंका एकीकरण अनिवार्य होता है।

*

दो आवश्यक रूपान्तरोंमें सबसे पहला है चैत्य रूपान्तर — यदि तुम्हारा चैत्य रूपान्तर हो चुका हो तो यह दूसरेको — सामान्य मानव-चेतनासे उच्चतर आध्यात्मिक चेतनामें रूपान्तरित होनेको — बहुत अधिक आसान बना देता है, अन्यथा बहुत सम्भव है कि साधककी यात्रा बहुत धीमी और नीरस हो अथवा उत्तेजनापूर्ण पर खतरनाक हो.........।

मैंने कभी "चैत्यके रूपान्तर" के विषयमें कुछ नहीं कहा है; मैंने बराबर ही प्रकृतिके "चैत्य रूपान्तर" के विषयमें लिखा है, जो एक बहुत भिन्न विषय है। मैंने कभी-कभी उसके विषयमें लिखते समय उसे प्रकृतिका चैत्यीकरण कहा है। चैत्य पुरुष क्रमविकासके भीतर है, मानवसत्ताका अंग है, उसका

दिव्य अंग है — इसलिये चैत्यीकरण मनुष्यको वर्तमान क्रमविकासके परे नहीं ले जायगा, बल्कि जो कुछ भगवान् या उच्चतर प्रकृतिसे आता है उस सबका प्रत्युत्तर देनेके लिये सत्ताको तैयार करेगा एवं सत्तामें विद्यमान असुर, राक्षस, पिशाच या पशुका प्रत्युत्तर देनेसे अनिच्छुक बना देगा अथवा निम्न प्रकृतिकी जो कोई बाधा दिव्य परिवर्तनके मार्गमें आ खड़ी होती है उसको स्वीकार करनेसे विमुख कर देगा।

*

मैंने तुम्हारी साधनाका तुम्हारा लिखा विवरण पढ़ा है। मैं समझता हूँ, उसमें विशेष कुछ कहनेकी बात नहीं है,—क्योंकि वह बिलकुल ठीक है, —सिवा इसके कि तुम्हारे लिये सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि तुम अपने हृदयमें चैत्य अग्निको विकसित करो और यह अभीप्सा बनाये रखो कि चैत्य पुरुष सामने आकर तुम्हारी साधनाका नेता बन जाय। जब चैत्य पुरुष नेतृत्व करने लगेगा तब वह तुम्हें "अलक्षित अहं-ग्रंथियों"को दिखा देगा जिसकी चर्चा तुमने की है और वह उन्हें सुलझा देगा या चैत्य अग्निमें जला देगा। यह चैत्य विकास तथा मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतनाका चैत्य परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उच्चतर चेतनाके अवतरण तथा आध्यात्मिक रूपान्तरको निर्विघ्न और सरल बना देता है जिसके बिना अतिमानसिक चेतना सर्वदा ही अत्यन्त दूर बनी रह जाती है। शक्तियों आदि-का स्थान तो है, पर जबतक यह सब नहीं हो जाता तबतक उनका स्थान बहुत गौण ही होता है।

*

साधनामें चैत्य परिवर्तनके सिवाय सबकुछ खतरनाक होता या हो सकता है।

*

अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष दिव्य सत्यके साथ सीधा संपर्क रखता है, पर वह मनुष्यके अन्दर मन, प्राण-सत्ता और शारीरिक प्रकृतिसे ढका हुआ है। मनुष्य योगाभ्यास कर सकता है ऑर मन तथा बुद्धिमें आलोक प्राप्त कर

सकता है; वह शक्ति आयत्त कर सकता और प्राणके अन्दर सभी प्रकारकी अनुभूतियोंका आनन्द भोग सकता है; वह आश्चर्यजनक भौतिक सिद्धियां भी प्राप्त कर सकता है; परन्तु पीछे अवस्थित अन्तरात्माकी सच्ची शक्ति यदि प्रकट नहीं होती, यदि चैत्य प्रकृति सामनेके भागमें नहीं आती तो फिर यही कहना होगा कि कुछ भी यथार्थ कार्य नहीं हुआ है। इस योगमें चैत्य पुरुष ही बाकी समस्त प्रकृतिको सच्ची आध्यात्मिक ज्योतिकी ओर और अन्तमें परात्पर आनन्दकी ओर खोलता है। मन स्वयं अपने-आप अपने ही उच्चतर स्तरोंकी ओर खुल सकता है; यह निश्चल-निष्कंप हो सकता और निर्व्यक्तित्वमें प्रसारित हो सकता है; यह किसी प्रकारकी स्थितिशील मुक्ति या निर्वाणमें जाकर अपने-आपको अध्यात्मभावापन्न भी बना सकता है; परन्तु केवल अध्यात्मभावापन्न मनमें अतिमानसिक चेतनाको पर्याप्त आधार नहीं मिल सकता। यदि अन्तःस्थ अन्तरात्मा जागृत हो, यदि नितांत मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतनामेंसे चैत्य चेतनामें मनुष्यका नवजन्म हो गया हो तो ही यह योग किया जा सकता है; अन्यथा (एकमात्र मन या किसी अन्य भागकी शक्तिके द्वारा) इसे करना असम्भव है...। यदि बौद्धिक ज्ञान या मानसिक विचारों या किसी प्राणिक कामनाके प्रति आसक्ति होनेके कारण कोई चैत्य चेतनामें नवजन्म लेना अस्वीकार करे, यदि श्रीमाताजीसे नये रूपमें उत्पन्न एक बच्चा होना अस्वीकार करे, तो वह साधनामें असफल ही होगा।

*

चैत्य पुरुष सदा ही विद्यमान रहता है, पर वह अनुभूत नहीं होता, क्योंकि मन और प्राणसे आवृत होता है। जब वह आवृत नहीं होता तब यह कहा जाता है कि वह जागृत है। ज़ब वह जागृत हो जाता है तब वह सत्ताके बाकी हिस्सोंपर अधिकार जमाना, उनपर प्रभाव डालना और उन्हें परिवर्तित करना आरम्भ कर देता है जिसमें कि सब कुछ आन्तरिक आत्माकी सच्ची अभिव्यक्ति बन जाय। इसी परिवर्तनको 'आन्तरिक रूपान्तर' (Inner Conversion) कहते हैं। चैत्य पुरुषकी जागृतिके बिना कोई रूपान्तर साधित नहीं हो सकता।

*

जब मैं "चैत्यका उद्घाटन" शब्दावलीका प्रयोग करता हूँ तब मेरा ध्यान किसी सामान्य आन्तरिक उद्घाटनपर नहीं होता जो आन्तरिक (प्राणिक-

से भिन्न) प्रेम और भक्तिकी कुछ मात्राको उत्पन्न करता है, बल्कि मेरा ध्यान उसपर होता है जिसे चैत्य पुरुषका सामने आना कहा जाता है। जब ऐसा होता है तब मनुष्य चैत्य पुरुष और उसके सरल-स्वाभाविक आत्मदानके भावको ज़ान जाता है तथा मन, प्राण और शरीरके ऊपर उसके बढ़ते हुए प्रत्यक्ष शासन-को (महज एक प्रच्छन्न अथवा अर्ध-प्रच्छन्न प्रभावको नहीं) अनुभव करता है। विशेषकर उस समय चैत्य विवेक वहां मौजूद रहता है जो विचारों, भावा-वेगमय क्रियाओं, प्राणिक आवेगों और भौतिक अभ्यासोंको तुरत आलोकित कर देता है और अनुचित क्रियाओंके बदले उचित क्रियाओंको ले आकर किसी चीजको धूमिल या अस्पष्ट नहीं रहने देता। यही चीज बड़ी कठिन और विरल है, अधिकांश समय विवेक मानसिक होता है और मन ही सब चीजोंको यथा-क्रम रखनेकी कोशिश करता है। ऐसी हालतमें उच्चतर चेतनाका जब अवतरण मनके भीतरसे होता है तो उसीसे चैत्य उद्घाटित होता है, उस समय सीधे चैत्य उद्घाटन नहीं होता।

*

किसीने भी ऐसा नहीं कहा है कि इसे (चैत्यका उद्घाटन) निश्चित रूपसे ऊपरसे करना होगा। स्वभावतः ही यह सीधे किया जाता है और तभी यह अत्यन्त फलदायी होता है। पर, जब इसे सीधे करना कठिन दिखायी देता है, जैसा कि कुछ स्वभाववालोंमें होता है, तब परिवर्तन ऊपरसे आरम्भ होता है और ऊपरसे उतरनेवाली चेतनाको हृदय-केंद्रको मुक्त करना होता है। चूंकि वह हृदय-केंद्रपर कार्य करती है, इसलिये चैत्य क्रियाका होना अधिक सम्भव हो जाता है।

*

यह (हृदयमें ऊपरसे सक्रिय अवतरण) चैत्यको आगे आनेमें मदद कर सकता है, किन्तु इसे वह सदा आपसे-आप ही नहीं करता — कमसे कम यह चैत्यके लिये अधिक अच्छी अवस्थाएं अवश्य उत्पन्न करता है।

*

चैत्य-केंद्रका सीधा उद्घाटन तभी आसान होता है जब अहंकेंद्रितता

अत्यधिक घट जाती है और तब भी जब श्रीमांके लिये दृढ़ भक्ति होती है। आध्यात्मिक विनय, नम्रता एवं निर्भरताका भाव आवश्यक है।

*

(चैत्य पुरुषके) सामने आनेका अर्थ महज यह है। साधारणतया चैत्य पुरुष भीतर सोया रहता है। बहुत थोड़ेसे लोग ही अपने अन्तरात्माके विषयमें सचेत होते हैं—जब वे अपने अन्तरात्माकी बात कहते हैं तब सामान्यतया उनका मतलब होता है प्राणमय-मनोमय पुरुष अथवा (झूठा) कामनात्मा। चैत्य पुरुष पीछे बना रहता है और जहां संभव होता है वहां वह केवल मन, प्राण और शरीरके द्वारा कार्य करता है। यही कारण है कि जहां चैत्य पुरुष बहुत अधिक विकसित होता है, उसे छोड़कर अधिकांश मनुष्योंके जीवनपर उसका केवल थोड़ासा और आंशिक, प्रच्छन्न और मिश्रित या क्षीण प्रभाव ही पड़ता है। आगेकी ओर आनेका मतलब है कि वह पर्देके पीछेसे सामने आ जाता है, उसका प्रभाव मन, प्राण और उनकी क्रियाओंमें, यहांतक कि शरीरमें भी भर जाता है, वह उन्हें अपने वशमें कर लेता है और उन्हें रूपांतरित करता है। उस समय साधक अपने अन्तरात्माको जानता है, चैत्यको अपना सच्चा स्वरूप अनुभव करता है, मन तथा शेष सब भाग हमारे भीतर अवस्थित अन्तरतम पुरुषका केवल यन्त्र हो जाना आरम्भ कर देते हैं।

आन्तर मन, प्राण और शरीर भी ढके हुए हैं, परन्तु वे ऊपरी तलके बहुत अधिक समीप हैं और उनकी बहुतसी क्रियाएं या अन्तःप्रेरणाएं पर्देके भीतरसे होकर (पर किसी प्रकारकी पूर्णता या शुद्धताके साथ नहीं) विकसित मनुष्योंके जीवनोंमें, कभी-कभी साधारण लोगोंके जीवनोंमें भी आती हैं। परन्तु योगमें ये (आन्तर मन, प्राण और मन) भी कुछ दिनों बाद अपने पर्देको फेंक देते हैं और सामने आ जाते हैं तथा चेतनाके अन्दर उनकी क्रिया प्रधान्य स्थापित कर लेती है जिससे बाह्य सत्ताको अब मनुष्य अपना निजी स्वरूप नहीं अनुभव करता बल्कि अपनी सत्ताका केवल एक सम्मुख भाग या यहांतक कि महज किनारा अनुभव करता है।

*

मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हें अबतक चैत्य सत्ताके सम्बन्धमें ज्ञान हो ही गया होगा अर्थात् यह कि चैत्य आवरणके पीछे विद्यमान् है इसी प्रकार

इसकी चेतना भी; मन, प्राण और शरीरमें उसका केवल थोड़ासा अंश ही प्रकट होता है। जब यह चेतना छिपी नहीं होती, जब तुम अपनी अन्तरात्मा (चैत्य सत्ता)से सचेतन हो जाते हो, जब उसके वेदन और उसकी चेतना तुम्हारे अपने हो जाते हैं तब समझो कि तुमने चैत्य सत्ताकी चेतना उपलब्ध कर ली है। चैत्य सत्ताके सब वेदन और अभीप्साएं सत्य, सच्ची चेतना और भगवान्की ओर उन्मुख होते हैं; यही एक ऐसा हिस्सा है जिसे विरोधी शक्तियां और उनके सुझाव स्पर्श नहीं कर सकते।

*

अधिकतर मनुष्योंमें साधना ग्रहण करनेके बाद भी, चैत्य सत्ता धीरे-धीरे प्रकट होती है। मन और प्राणमें ऐसी बहुतसी वस्तुएं हैं जिन्हें चैत्यके पूरी तरह मुक्त हो सकनेसे पहले बदलना और पुनःव्यवस्थित करना होता है। चैत्य सत्ता अपने युगयुगान्तरोंके परदेको चीरकर प्रकृतिपर नियन्त्रणके लिये सामने आ सके इससे पहले व्यक्तिको तबतक प्रतीक्षा करनी होती है जबतक कि आवश्यक प्रक्रिया दूरतक आगे न प्रगति कर ले। यह सत्य है कि कोई भी वस्तु इतना अधिक आन्तरिक सुख और हर्ष प्रदान नहीं कर सकती —यद्यपि शान्ति मानसिक और प्राणिक मुक्ति द्वारा या सत्तामें प्रबल समताके विकास द्वारा ही आ सकती है।

*

इस (चैत्यको आगे लाने)के लिये कोई प्रक्रिया नहीं है। यह अन्य वस्तुओंकी तरह ही आगे आता है—तुम्हें इसके लिये अभीप्सा करनी होती है और ऐसा केवल तभी हो सकता है जब तुम काफी कुछ आगे बढ़ गये होते हो।

*

चैत्य पुरुष केवल तभी पूर्णतः उद्घाटित हो सकता है जब कि साधक अपनी साधनामें प्राणिक उद्देश्योंके मिश्रणसे मुक्त हो चुका हो और श्रीमांके प्रति सरल और सच्चा आत्मदान करनेमें समर्थ हो। यदि उसमें किसी प्रकारका अहंकारपूर्ण झुकाव या उद्देश्यके विषयमें कुटिलता हो, यदि योगसाधना किसी

प्राणिक मांगके दबावके अधीन की जाती हो अथवा अंशतः या पूर्णतः किसी आध्यात्मिक या अन्य प्रकारकी महत्त्वाकांक्षा, किसी गर्व, मिथ्याभिमानको तृप्त करनेके लिये, शक्ति, पद-प्रतिष्ठा और दूसरोंपर प्रभाव प्राप्त करनेकी इच्छासे की जाती हो, अथवा यौगिक शक्तिकी सहायतासे किसी प्राणिक कामना-को तृप्त करनेकी किसी प्रवृत्तिके साथ की जाती हो तो चैत्य पुरुष उद्घाटित नहीं हो सकता अथवा केवल अंशतः ही उद्घाटित होगा अथवा केवल कभी-कभी होगा और फिर बन्द हो जायगा क्योंकि वह प्राणिक क्रियाओंके द्वारा आच्छादित होगा; दम घोंटनेवाले प्राणिक धुँएंमें चैत्य अग्नि धीमी पड़ जाती है। फिर, मन यदि योग-साधनामें नेतृत्वका कार्य करने लगे और अन्तरस्थ अन्तरात्माको पीछेकी ओर ठेल दे, अथवा, यदि भक्ति या साधनाकी अन्य गतियां चैत्य आकारके बदले अधिक प्राणिक आकार ले लें तो फिर वही असमर्थता आ उपस्थित होती है। पवित्रता, सरल सच्चाई तथा विना किसी बहाने या मांगके अहंकारशून्य अविमिश्र आत्मदान करनेकी क्षमताका होना ही बस चैत्य पुरूषके पूर्ण उद्घाटनकी शर्त्त है।

*

अवश्य ही चैत्यके प्रकट होनेमें अहं और प्राण अपने दावों और कामनाओं-के साथ सदैव मुख्य वाधारूप होते हैं। क्योंकि उनके कारण व्यक्ति अपने लिये ही जीता है, कर्म करता है यहां तक कि साधना भी अपने लिये ही करता है और चैत्यीकरणका अर्थ है भगवान्‌के लिये जीना, कर्म करना और साधना करना।

*

यदि कामनाका परित्याग कर दिया जाय और उसका विचार, वेदन या कर्मपर अधिकार न रहे एवं पूर्णतया सच्चे आत्मदानकी अभीप्सा स्थिर रहे तो चैत्य सामान्यतया कुछ समयके बाद आप ही आप खुल जाता है।

*

चैत्यको आगे लानेके लिये स्वार्थ एवं मांगसे '(जो प्राणिक वेदनोंका आधार है) छुटकारा प्राप्त करना होगा — कमसे कम उन्हें स्वीकार तो कदापि

नहीं करना होगा।

*

इस (हृदय-केंद्रसे प्रेम और हर्षके प्रवाह) का बड़े पैमानेपर दुरुपयोग तभी किया जा सकता है जब वहां एक ऐसा प्रबल और उग्र प्राणिक अहं विद्य-मान हो जो भूलको सुधारनेका आदी न हो या फिर एक ऐसा प्राण हो जो कामवासनासे भरपूर हो। छोटे पैमानेपर इसका दुरुपयोग तुच्छ स्वार्थों; मिथ्या अभिमानों, महत्त्वाकांक्षाओं और निम्नप्राणके सहारे पनपनेवाली उसकी मांगोंके द्वारा किया जा सकता है। यदि तुम इनके विरोधसे सचेत रहो तो दुरुपयोग-का कोई खतरा नहीं रहता। यदि चैत्य पुरुष प्रेमके साथ-साथ चैत्य विवेकको भी प्रकट करे तो कोई खतरा नहीं रहता कारण चैत्य विवेकका प्रकाश सब मिश्रण या दुरुपयोगको तुरन्त अस्वीकार कर देता है।

*

सतत और सच्ची अभीप्साका होना, और एकमात्र भगवान्के अभिमुख होनेका संकल्प करना ही चैत्य पुरुषको सामनेकी ओर ले आनेका सबसे उत्तम मार्ग है।

*

यह (चैत्य) या तो सतत प्रेम और अभीप्सा द्वारा या ऊपरके अवतरण और शक्तिकी क्रिया द्वारा प्राण और मन तैयार कर लिये जानेपर स्वयं सामने आ जाता है।

*

यदि केन्द्रीय सत्तामें समर्पण करनेका संकल्प हो, तो चैत्य आगे आ सकता है।

*

केन्द्रीय पुरुष आधारके ऊपर स्थित है—अधिकतर लोग अपने केंद्रीय

पुरुष (जीवात्मा) के सम्बन्धमें नहीं जानते — वे केवल अहंको ही जानते हैं।

चैत्य ही अन्तरात्मा, भगवान्‌का वह अंश है जो विकासमें मन और शरीरको सहारा देता है। चैत्य सहायता सीधे भगवान्‌से ही प्राप्त करता है।

केन्द्रीय पुरुष वह है जिसपर सत्ताके अन्य सब भाग निर्भर करते हैं। यदि वह आत्म समर्पण करता है अर्थात् भगवान्‌का उपकरण बननेके लिये अपनी पृथक् सिद्धिका त्याग कर देता है तो मन, प्राण और शरीरके लिये समर्पण करना अधिक आसान हो जाता है।

*

इसका अनुकूल परिस्थितियोंके साथ कुछ वास्ता नहीं। यदि केन्द्रीय पुरुषका संकल्प भगवान्‌के साथ मिलनकी ओर उन्मुख होता है तब यह अपनी पृथक् पूर्णताका त्याग कर देता है।

*

इसको (चैत्य सत्ताको सचेतन रूपसे और अधिकाधिक ज्ञानपूर्वक समर्पित करना होगा। चैत्य भगवान्‌के लिये अभीप्सा करता है या दिव्य वस्तुओंको प्रत्युत्तर देता है, यह सिद्धान्ततः समर्पित हो गया है, किन्तु इसे अपना समर्पण सारी सत्ताके समर्पणको साथ लेकर ब्यौरेवार करना होगा।

*

यदि मनुष्यमें भूतकाल या वर्तमान कालमें किये गये अपने बुरे कर्मोंसे छुटकारा पाने तथा चैत्य एवं आध्यात्मिक चेतनामें निवास करनेकी सच्ची आकांक्षा हो तो भूतकाल या वर्तमान कालमें किया हुआ कोई कर्म चैत्य पुरुष-को आगे आनेसे नहीं रोक सकता।

*

तुम्हारा पहला अनुभव चैत्य पुरुषके उद्‌घाटित होनेका अनुभव था; तुम्हें अपनी चेतनाके दो पृथक् भागोंका — चैत्य सत्ता, उसकी अभीप्साओं और

अनुभूतियोंका तथा सामनेकी बाह्य सत्ताका — ज्ञान प्राप्त हुआ था। तुम इस अनुभवको बनाये नहीं रख सके क्योंकि तुम्हारी प्राण-सत्ता शुद्ध नहीं थी और उसने तुम्हें साधारण बाह्य चेतनामें खींच लिया। उसके बाद तुम फिर चैत्य सत्तामें वापस चले गये और उसके साथ ही अपनी साधारण प्राणगत प्रकृतिको देखने, उसके दोषोंको समझ सकने तथा उसे शुद्ध करनेके लिये चैत्य पुरुषकी शक्तिके द्वारा कार्य करनेमें समर्थ हुए। मैंने प्रारम्भमें ही तुम्हें लिखा था कि यही पथ है; क्योंकि चैत्य पुरुष यदि जागृत हो और सामने हो तो बाह्य प्रकृतिमें जो चीजें बदलनेकी हैं उनके विषयमें सचेतन बने रहना आसान हो जाता है तथा उन्हें परिवर्त्तित करना भी अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। परन्तु चैत्य पुरुष यदि आच्छादित हो जाय और पीछेकी ओर हट जाय तो बाह्य प्रकृति अकेली छूट जाती है और अपनी भ्रांत क्रियाओंके विषयमें सचेतन बने रहना उसके लिये कठिन हो जाता है। वह यदि बहुत कठिन प्रयास भी करे तो वह उनसे मुक्त होनेमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। तुम खुद ही देख सकते हो, जैसा कि भोजनके प्रसंगमें घटित हुआ है, कि चैत्य पुरुषके जागृत और सक्रिय रहनेपर समुचित भाव स्वभावतः ही आ जाता है और जो कुछ कठिनाई रहती है वह जल्द कम हो जाती है या यहांतक कि दूर भी हो जाती है।

मैंने उस समय तुमसे यह भी कहा था कि प्रकृतिका एक तीसरा भाग भी है; वह है आन्तर सत्ता (आन्तर मन, आन्तर प्राण और आन्तर शरीर)। अभी उसका ज्ञान तुम्हें नहीं हुआ है, पर वह भी अपने समयपर अवश्य उद्-घाटित होना चाहिये। तुम्हारी अन्तिम अनुभूतिमें बस वही घटित हुआ है। जिस चीजको तुमने अपने एक अंगके रूपमें अनुभव किया, स्वयं अपनी सत्ताके रूपमें, पर अपनी भौतिक सत्ताके रूपमें नहीं, अनुभव किया तथा उच्चतर चेतनासे मिलनेके लिये ऊपर उठते हुए अनुभव किया, वह यही आन्तर सत्ता थी; यह तुम्हारी (आन्तर) उच्चतर प्राण-सत्ता थी जो उस रूपमें उच्चतम आत्म-सत्तासे युक्त होनेके लिये ऊपर उठी थी — और वह ऐसा करनेमें समर्थ भी हुई, क्योंकि बाह्य प्राण-प्रकृतिकी शुद्धिका कार्य सच्चे रूपमें आरम्भ हो गया था। प्रत्येक बार ही जब बाह्य प्रकृतिकी थोड़ी शुद्धि होती है, आन्तर सत्ताके लिये अपने-आपको प्रकट करना, मुक्त होना तथा ऊपरकी उच्चतर चेतनाकी ओर उद्घाटित होना अधिक सम्भव हो जाता है।

जब ऐसा होता है तब उसके साथ-साथ और कई बातें घटित होती हैं। प्रथम, साधक ऊपर अवस्थित शान्त-नीरव आत्माके विषयमें सज्ञान होता है — वह अपनेको मुक्त, विशाल, सीमारहित, शुद्ध, मानसिक, प्राणिक और

शारीरिक क्रियाओंसे अक्षुब्ध, अहंकार और सीमित व्यक्तित्वसे शून्य अनुभव करता है — इसी बातका वर्णन तुमने भी अपने पत्रमें किया है। दूसरे, आत्मा-की इस नीरवता और मुक्तिके अन्दरसे होकर भागवत शक्ति अवतरित होती है और आधारमें कार्य करना आरम्भ करती है। इसी बातका अनुभव तुम्हें दबावके रूपमें हुआ था। मस्तकके शीर्षस्थान, ललाट, आंखों और नाकके भीतरसे इसके आनेका मतलब यह है कि वह आन्तर मनोमय सत्तामें मनोमय केन्द्रोंको — विशेषकर चिन्तन, संकल्प और सूक्ष्म-दर्शनके दो उच्चतर केंद्रोंको खोलनेके लिये कार्य कर रही थी। ये दोनों केंद्र — सहस्र-दल कमल या सहस्रार और आज्ञा-चक्र (भौंहोंके बीचका) कहलाते हैं। तीसरे, इस क्रियाके द्वारा सत्ताके आन्तरिक भाग उद्घाटित और मुक्त हो जाते हैं। तुम साधारण व्यक्ति-गत मन, प्राण और शरीरकी सीमाओंसे मुक्त हो गये हो तथा एक विशालतर चेतनाके विषयमें सज्ञान हो गये हो जिससे तुम आवश्यक रूपान्तर साधित करनेमें अधिक समर्थ हो सकते हो। परन्तु इस कार्यके लिये पर्याप्त समय और लम्बी क्रियाकी आवश्यकता होती है और तुम केवल इस रास्तेपर अभी पहला कदम ही उठा रहे हो।

जब कोई अपनी आन्तर सत्तामें घुसता है तो उसमें एकदम अन्दर चले जाने तथा बाहरी जगत्की चेतना खो देनेकी प्रवृत्ति जगती है — इसीको लोग समाधिके नामसे पुकारते हैं। परन्तु यह भी आवश्यक है कि साधक अपनी जागृत अवस्थामें भी उन्हीं अनुभवों (आत्मा, आन्तर चेतनामें होनेवाली क्रिया आदि) को प्राप्त करनेमें समर्थ हो। तुम्हारे लिये सबसे उत्तम नियम यह होगा कि तुम जब अकेले होओ और किसीके द्वारा बाधा पहुँचनेकी संभावना न हो तो केवल तभी पूर्णतः अन्दर चले जानेकी क्रियाको होने दो, और दूसरे समय इस बातका अभ्यास करो कि तुम्हें जब ये अनुभव हों तो तुम्हारी भौतिक चेतना जागृत रहे और उनमें भाग ले अथवा कम-से-कम उनके विषयमें सज्ञान रहे।

*

जब चैत्य पुरुष जागृत होता है तब तुम्हें अपने निजी अन्तरात्माका ज्ञान प्राप्त होता है; तुम अपने अन्तरात्माको जानते हो। और उसके बाद तुम अपने मनोमय पुरुष या प्राणमय पुरुषके साथ एकात्म होनेकी भूल नहीं करते। तुम उन्हें (मन और प्राणको) अपना अन्तरात्मा माननेकी भूल नहीं करते।

दूसरे, जागृत होनेपर चैत्य पुरुष भगवान्के प्रति या गुरुके प्रति सच्ची

भक्ति प्रदान करता है। वह भक्ति मानसिक या प्राणिक भक्तिसे एकदम भिन्न होती है।

अपने मनमें कोई व्यक्ति किसी मनुष्यकी — या गुरुकी बौद्धिक महानताके लिये आदर या प्रशंसाका भाव रख सकता है, पर वह महज मानसिक होता है; वह विषयको बहुत दूरतक नहीं ले जाता। पर निस्संदेह, उसे भी बनाये रखनेमें कोई हानि नहीं है। परन्तु स्वयं अपने-आपमें वह भाव संपूर्ण आन्तर सत्ताको उद्घाटित नहीं करता। वह केवल एक प्रकारका मानसिक संपर्क स्थापित करता है।

प्राणिक भक्ति महज मांग करती है और सदा मांगती ही रहती है। वह अपनी निजी शर्त्तोंको लादती है। वह भगवान्‌को समर्पण तो करती है पर अपनी शर्त्तोंपर। वह भगवान्‌से कहती है, "आप इतने महान् हैं, मैं आपकी पूजा करती हूँ, और अब आप मेरी इस इच्छाको अथवा उस महत्त्वाकांक्षाको पूरा कीजिये, मुझे महान् बनाइये, मुझे एक महान् साधक, एक महान् योगी बना दीजिये, इत्यादि।"

आलोकहीन मन भी सत्यके प्रति समर्पण करता है, पर करता है अपनी निजी शर्त्तोंपर। वह सत्य-रूप भगवान्‌से कहता है, "मेरे निर्णय और मेरी रायको संतुष्ट कीजिये।" वह सत्यसे यह मांग करता है कि वह अपनेको इसके (मनके) अपने आकारोंमें ढाल दे।

प्राण-पुरुष भी सत्यसे इस बातका आग्रह करता है कि वह इसीकी (प्राणकी) शक्तिकी क्रियाओंके अन्दर अपने-आपको झोंक दे। प्राण-पुरुष उच्चतर शक्तिको खींचता है तथा गुरुकी प्राणसत्ताको खींचता और लगातार खींचता रहता है।

ये दोनों (मन और प्राण) अपने समर्पणमें एक प्रकारकी मानसिक हिचकिचाहट बनाये रखते हैं।

परन्तु चैत्य पुरुष और उसकी भक्ति वैसी नहीं है। क्योंकि पीछे विद्यमान भगवान्‌के साथ उसका साक्षात् सम्पर्क बना रहता है, सच्ची भक्ति बनाये रखनेकी उसमें क्षमता होती है। चैत्य भक्ति कोई मांग नहीं करती, किसी प्रकारकी हिचकिचाहट उसमें नहीं होती। वह अपने निजी अस्तित्वसे ही संतुष्ट रहती है। चैत्य पुरुष यह जानता है कि समुचित रूपमें सत्यका अनुसरण कैसे किया जाता है। वह सच्चे रूपमें भगवान् या गुरुके प्रति अपने-आपको दे देता है, और चूँकि वह अपने-आपको वास्तवमें दे सकता है, इसलिये वह वास्तवमें ग्रहण भी कर सकता है।

तीसरे, जब चैत्य पुरुष ऊपरी तलपर आ जाता है तब वह उस समय

दुःखी होता है जब कि मनोमय या प्राणमय पुरुष मूर्खता करते हैं। वह उदासी आघातप्राप्त पवित्रता होती है।

जब मन अपना खेल खेलता है या जब प्राण-पुरुष अपने निजी आवेगोंके द्वारा परिचालित होता है तब चैत्य पुरुष ही यह कहता है कि "मैं इन चीजों-को नहीं चाहता; आखिर मैं यहां किसलिये हूँ? मैं यहां सत्यके लिये हूँ, मैं यहां इन सब चीजोंके लिये नहीं हूँ।"

चैत्य पुरुषकी उदासी मानसिक असन्तोष या प्राणिक उदासी या शारी-रिक अवसादसे एकदम भिन्न वस्तु है।

यदि चैत्य पुरुष शक्तिशाली होता है तो वह मनोमय या प्राणमय पुरुष-को अपना प्रभाव अनुभव कराता है और उनपर परिवर्त्तित होनेके लिये जोर डालता है—उन्हें विवश करता है। परन्तु वह यदि दुर्बल होता है तब दूसरे भाग उसका लाभ उठाते हैं और अपने निजी लाभके लिये चैत्य उदासीका उपयोग करते हैं।

कुछ मनुष्योंमें चैत्य पुरुष ऊपरी तलपर आ जाता है और मनोमय तथा प्राणमय पुरुषको परेशान कर देता है एवं प्रत्येक चीजको अस्तव्यस्तताकी स्थिति-में डाल देता है। पर मन या प्राण-पुरुष यदि चैत्य पुरुषसे अधिक प्रबल होता है तो यह (चैत्य पुरुष) कभी-कभी ही अपना प्रभाव ड़ालता है और धीरे-धीरे पीछेकी ओर हट जाता है। उसका सारा रोना-धोना अरण्य-रोदन सिद्ध होता है और मनोमय या प्राणमय पुरुष अपनी ही लीकपर चलता रहता है।

चौथे, चैत्य पुरुष बाह्य रूपोंद्वारा प्रतारित होना स्वीकार नहीं करता। वह मिथ्यात्वके द्वारा परिचालित नहीं होता। मिथ्यात्वके कारण वह हतो-त्साह होना स्वीकार नहीं करता—और सत्यको यह अतिरंजित भी नहीं करता। उदाहरणार्थ, यदि आसपासकी सभी वस्तुएं यह कहती हों कि "भग-वान् नामकी कोई चीज नहीं है", तो भी चैत्य पुरुष इसे विश्वास करना अस्वी-कार कर देता है। वह कहता है, "मैं जानता हूँ, और मैं इसलिये जानता हूँ कि मैं अनुभव करता हूँ।"

और, चूँकि वह पीछे विद्यमान वस्तुको जानता है, इसलिये वह बाह्य रूपोंके कारण धोखा नहीं खाता। वह तुरत दिव्य शक्तिको अनुभव करता है।

साथ ही, जब चैत्य पुरुष जग जाता है तब वह भावनात्मक सत्तापरसे सारी मैल झाड़ फेंकता है और उसे भावुकता या भावुकताकी निम्नतर क्रीड़ासे मुक्त कर देता है।

परन्तु उसमें न तो मनका रुखापन होता है और न प्राणिक अनुभवकी अतिरंजना। वह प्रत्येक भावावेगको समुचित स्पर्श प्रदान करता है।

*

(चैत्यके सामने आनेके लक्षण:) केन्द्रीय प्रेम, भक्ति, समर्पण, प्रत्येक वस्तुका दान, एक आन्तरिक दृष्टि जो सदैव इस बातको स्पष्टतासे देख लेती है कि आध्यात्मिक दृष्टिसे क्या सही या क्या गलत है और गलत वस्तुको स्वत: अस्वीकार कर देती है—पूर्ण आत्मनिवेदनकी क्रिया और सत्ताके सब अंगोंको एक करके श्रीमांके प्रति समर्पित कर देना।

*

यह चैत्य अनुभवका एक अंग है—दूसरा है पूर्ण आत्मदान, मांगका अभाव, चैत्य सत्ताका प्राधान्य जिसके द्वारा सभी मिथ्या, गलत, अहंकारपूर्ण बातें, भागवत सत्य, भागवत संकल्प, भागवत विशुद्धि और प्रकाशके प्रतिकूल वस्तुएं सामने आ जाती है, झड़ जाती हैं और प्रकृतिपर हावी नहीं हो सकती। इन सबके साथ कृतज्ञता, आज्ञापालन, नि:स्वार्थता, सच्चे बोध और सच्ची प्रवृत्तिके प्रति निष्ठा इत्यादि सभी चैत्य गुण बढ़ते हैं जो श्रीमांसे आते हैं और श्रीमांकी ओर ले जाते हैं। जब यह पक्ष बढ़ाता है तब दूसरा पक्ष अर्थात् उपस्थिति, प्रेम, हर्ष, और सौन्दर्य भी विकसित हो सकता है और आधारमें स्थिर रूपसे रह सकता है।

*

जो परिवर्तन चेतनाको ज्योतिकी ओर मोड़ रखता है और समुचित मनोभाव बनाये रखनेको स्वत:स्फूर्त्त स्वाभाविक और स्थायी बना देता है और त्यागकी क्रियाका भी अपने-आप होते रहना संभव बनाता है, वह चैत्य परिवर्तन है। मनुष्य साधारणतया अपने प्राणमें निवास करता है और शरीर उसका यंत्र होता है तथा मन उसका सलाहकार और मंत्री होता है (उन थोड़ेसे मनुष्योंको छोड़कर जो अधिकांशत: मनकी चीजोंके लिये जीते हैं, पर वे भी अपनी सामान्य गतिविधियोंमें प्राणके अधीन होते हैं)। आध्यात्मिक परिवर्तन उस समय आरम्भ होता है जब अन्तरात्मा गभीरतर जीवन यापन करनेपर आग्रह करना आरम्भ करता है और वह परिवर्तन उस समय पूर्ण होता है जब चैत्य पुरुष चेतनाका आधार या नेता बन जाता है, मन, प्राण और शरीर उसके पथप्रदर्शनमें आ जाते हैं और उसके आज्ञाकारी हो जाते हैं। निस्संदेह, यदि ऐसा पूर्ण रूपसे घटित हो जाय तो संदेह, अवसाद और निराशा बिलकुल नहीं आ सकते, यद्यपि कठिनाइयां फिर भी हो सकती हैं

और होती भी हैं। यदि ऐसा पूर्णरूपेण न हुआ हो, पर फिर भी मूलतः संपन्न हुआ हो तो, उस हालतमें भी ये चीजें या तो नहीं आतीं या गुजरते हुए बादलों-की तरह ऊपरी सतहपर थोड़े समयके लिये आती हैं — क्योंकि उस समय साधनाके मूलमें एक आधार-शिला और निस्संदिग्धता विद्यमान रहती हैं, जो, यद्यपि अंशतः ढकी होती हैं पर कभी एकदम विलीन नहीं हो सकतीं।

परन्तु अधिकांश क्षेत्रोंमें जब अवसाद और हतोत्साह या संदेह और विद्रोह-का निरन्तर पुनरागमन होता रहता है तब उसका कारण होती है कोई मानसिक या प्राणिक रचना जो प्राणमय मनपर अधिकार जमा लेती है और कोई मामूली उत्तेजनापूर्ण कारण होनेपर या बिना कारणके भी उसे उसी चक्करमें सदा चक्कर काटनेके लिये प्रेरित करती है। यह एक बीमारीकी तरह होता है जिसे शरीर अभ्यासवश और उस बीमारीपर विश्वास होनेके कारण अपनी अनुमति देता है यद्यपि वह उससे कष्ट भोगता है। एक बार जब यह बीमारी आरम्भ हो जाती है तब वह अभ्यासजन्य रास्तेपर तबतक चलती रहती हैं जबतक कि कोई प्रतिकार करनेवाली प्रबल शक्ति उसे काट नहीं देती। यदि एक बार शरीर अपनी अनुमति हटा सके तो बीमारी तुरत या शीघ्रतासे दूर हो जाती है,—यही कूए (Coué) की पद्धतिका रहस्य था। इसी तरह यदि प्राणगत मन अपनी अनुमति हटा ले, अभ्यासजन्य सूचनाओं और अभ्यासजन्य क्रियाओंद्वारा अधिकृत होना अस्वीकार कर दे, तो अवसाद और निराशाके इस प्रकार बार-बार आनेको शीघ्र बन्द किया जा सकता है। परन्तु इस मनके लिये ऐसा करना आसान नहीं है, एक बार जब यह अनुमति देनेके लिये, यहां-तक कि एकदम निष्क्रिय और मौन और अन्यमनस्क अनुमति भी देनेके लिये अभ्यस्त हो जाता है तो इस अभ्यासको रद्द करना और अशुभ चक्करसे मुक्त होना आसान नहीं होता। यह केवल तभी आसानीसे किया जा सकता है जब कि मन उन सूचनाओंपर विश्वास करना तथा उस चक्करको आरम्भ करनेवाली भावनाओं और अनुभवोंको ग्रहण करना अब अस्वीकार कर दे।

*

एक बार जब वह अवस्था आ जाती है जिसमें गुजरनेवाले विचारोंपर विश्वास नहीं होता, उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता अथवा उन्हें अपने आचरण-को परिचालित नहीं करने दिया जाता तब ऐसा समझना चाहिये कि प्राणगत मनका अब कोई प्राधान्य नहीं है — क्योंकि प्राणगत मनका स्वभाव है सर्वदा ही सच्चे मनकी दृष्टिको धूमिल बना देना तथा उसे कार्यमें प्रवृत्त करना।

सच पूछो तो न तो प्राणगत मन और न भौतिक मन वह चीज है जिससे हमें मुक्त होना है, बल्कि हमें इन दोनोंको शान्त, शुद्ध, संयत और रूपान्तरित करना है। यह कार्य पूर्णतः तभी सिद्ध होगा जब चिन्तनशील मन पूरी तरह सचेतन होगा और जब चैत्य पुरुष आगे आकर चिन्तनशील मन तथा प्राणिक और भौतिक सत्ता दोनोंको शासित और परिचालित करेगा। तुम्हारा चिन्तनशील मन अधिकाधिक सचेतन हो रहा है ; यह बात तुम जो कुछ लिखते हो उससे सूचित होता है, क्योंकि मनके जिन निरीक्षणोंको उसमें व्यक्त किया जाता है वे बिलकुल स्पष्ट-दृष्ट और निर्भूल होते हैं और एक वर्द्धनशील यथार्थ समझदारीका परिचय देते हैं। जो हो, जो कुछ तुम्हें सचेतन बना रहा है वह है पीछे विद्यमान चैत्य पुरुषका आगे आनेके लिये बढ़ता हुआ दबाव। क्योंकि, तुमने जो यह अनुभव किया था कि कोई चीज पीछेसे बाहर आनेकी कोशिश कर रही है वह चीज स्वयं चैत्य पुरुष ही था। फूलों और गन्ध और एक प्रकारकी ठंडक और शान्तिका अनुभव इस बातका सदा ही सुनिश्चित लक्षण होता है कि चैत्य पुरुष सक्रिय हो रहा है। यह कुछ दिनोंसे तुम्हारे अन्दर विकसित होता आ रहा है, यह केवल उस प्राणगत मनके आक्रमणोंके कारण ढका हुआ था जो अपने अधिकार या अपने स्थानको खोना नहीं चाहता था। अब जब कि प्राणगत मन शान्त है, चैत्य पुरुष फिरसे आगे आनेके लिये दबाव डाल रहा और अपने प्रभावको स्थापित कर रहा है।

दूसरोंके साथ किये गए तुम्हारे कार्यके दोषोंके विषयमें जो पीछे विचार आये, तुम्हें जो पश्चात्ताप हुआ और यह मालूम हुआ कि दूसरोंके साथ तुम समुचित सम्बन्ध क्यों नहीं स्थापित कर सके — ये सब चैत्य पुरुषके इस प्रकार सामने आनेके ही परिणाम थे। क्योंकि जब चैत्य पुरुष आगे आता है या जब वह प्रबल रूपमें मन या प्राणको प्रभावित करता है तब मनुष्य अपनी निजी प्रकृति और कर्मको, दूसरी चीजों और मनुष्योंको साफ-साफ और ठीक-ठीक देखना तथा हृदयद्वारा यथार्थ रूपमें महसूस करना आरम्भ करता है। फिर चैत्य पुरुषका दबाव ही वह कारण था जिससे कि एक ओर तो मनको ये सही विचार और ज्ञान प्राप्त हुए और दूसरी ओर प्राणको जो कुछ किया गया था उसके लिये पश्चात्ताप हुआ और उस (प्राण) ने क्षमा मांगनेकी इच्छा की। परन्तु क्षमा मांगनेकी यह इच्छा यद्यपि अपने-आपमें एक समुचित भावना थी, शरीरसे प्रत्यक्ष रूपमें वैसा करना बिलकुल बुद्धिमानीका काम या उत्तम काम नहीं हुआ होता। अतएव स्वयं चैत्य पुरुषने ही तुरत बतलाया कि माताजीसे क्षमा मांगनेके स्थानमें करने योग्य सच्ची चीज क्या है। जो कुछ आवश्यक था उसे मन और प्राणमें कर देनेके बाद चैत्य पुरुषने समूची चेतनाको परिष्कृत

कर दिया और अपनी निजी स्थिरता और शान्तिको वहां फिरसे ले आया। यह सब मैं तुम्हें इसलिये समझाता हूँ कि तुम यह समझना आरम्भ कर दो कि ये चीजें भीतर कैसे होती हैं और चैत्य पुरुष और उसकी क्रिया तथा प्रभावका क्या अर्थ है।

तुम्हें जो एक दूसरे ज्योतिर्मय, शान्तिपूर्ण और रमणीय जगत्का सूक्ष्म-दर्शन प्राप्त हुआ वह सच्ची भौतिक चेतना तथा वह चेतना जिस जगत्में रहती है उसका एक प्रकारका प्रतीकात्मक चित्र था। भौतिक चेतना जब सीधे चैत्य पुरुषके अधिकारमें आ जाती है और अपने लिये एक जगत्की सृष्टि करनेकी ओर प्रवृत्त होती है तब वह भौतिक चेतना और उसके जगत्का स्वरूप सूक्ष्म जगत्में इसी रूपमें दिखायी देता है।

*

संभवतः वह तुम्हारा चैत्य पुरुष था जो सामने आ गया था, अथवा वह तुम्हारा सच्चा प्राण-पुरुष था जो सामने आनेमें सफल हुआ था क्योंकि तुमने चैत्य मनोभाव ग्रहण किया था। जब चैत्य पुरुष सामने आता है तब सत्य और असत्य, दिव्य और अदिव्य, वस्तुओंके आध्यात्मिक यथार्थ और अयथार्थ स्वरूपका स्वाभाविक बोध प्राप्त होता है और मिथ्या प्राणिक तथा मानसिक क्रियाएं एवं आक्रमण तुरत-फुरत स्पष्ट दिखायी देते हैं, नष्ट हो जाते हैं तथा कुछ भी नहीं कर पाते। धीरे-धीरे प्राण और शरीर और साथ ही मन भी इस चैत्य ज्योति, सत्य, ठोस अनुभूति और पवित्रतासे भर जाते हैं और जैसा प्रचंड आक्रमण तुमपर हुआ वैसा आक्रमण असम्भव हो जाता है। जब सच्चा प्राण-पुरुष आगे आता है तो वह एक ऐसी सत्ता होता है जो विशाल, शक्तिशाली और शान्त होती है, भगवान् और सत्यके लिये एक अचल-अटल और बलवान् योद्धा होती है, सभी दुश्मनोंको पीछे हटा देती, सच्चा बल-वीर्य ले आती और प्राणको ऊपरकी महत्तर चेतनाकी ओर खोल देती है। यह देखना होगा कि इन दोमेंसे किस चीजको तुम अपने अन्दर अनुभव करते हो।

*

यह तुम्हारा चैत्य पुरुष है जो आगे आ गया है—और जब चैत्य पुरुष आगे आ जाता है तब सब कुछ आनंददायी समुचित मनोभाव, वस्तुओंका यथार्थ दर्शन बन जाता है। निश्चय ही एक अर्थमें वह एक ही 'मैं' होता है

जो अपने विभिन्न अंगोंको आगे ले आता है। परन्तु ये विभिन्न अंग जब सबके सब चैत्य पुरुषके अधीन हो जाते हैं और उसके द्वारा उच्चतर चेतनाको ग्रहण करनेके लिये मोड़ दिये जाते हैं तब इन सब अंगोंमें सामंजस्य आना आरम्भ हो जाता है और वे धीरे-धीरे उच्चतर चेतनाके सांचोंमें फिरसे ढलने लगते हैं जिससे कि वे शान्ति, ज्योति, शक्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्दमें वर्द्धित होने लगते हैं और इसे ही हम रूपान्तर कहते हैं।

*

यह स्वयं सत्ताका नहीं, चैत्य पुरुषका कार्य है जो मन, प्राण और शरीर-की अक्षमताके साथ मिलजुल जाता है, क्योंकि जो कुछ थोड़ीसी सच्ची चैत्य प्रतीति पर्देके भीतरसे छनकर आती है उसे अभिव्यक्त करनेके लिये उसे उनका उपयोग करना होता है। भगवान्के लिये हृदयमें अभीप्सा होनेपर ही चैत्य पुरुष इन अक्षमताओंसे छुटकारा पाता है।

*

यदि तुम्हें दिव्य उपस्थितिका बोध है तो इसका अर्थ है कि तुम चैत्य केंद्रकी चेतनामें निवास कर रहे हो। मनसे सोचना अच्छा है क्योंकि वह उस ओर ले जाता है, पर वह अपने-आपमें चैत्य केन्द्रके अन्दर निवास करना नहीं है।

*

वह अच्छा है। उसका मतलब है कि चैत्य पुरुष फिर ऊपर आ गया है। जब चैत्य पुरुष सामने होता है तो साधना स्वाभाविक और आसान बन जाती है और फिर केवल समय और स्वाभाविक विकासका ही प्रश्न बाकी रह जाता है। जब मन या प्राण या भौतिक चेतना ऊपरी भागमें होती है तो साधना एक तपस्या और संघर्ष बन जाती है।

*

तुम्हें सच्चे चैत्य-उद्घाटनकी अनुभूति हो रही है और तुम्हें इसके लिये

तवतक सतत अभीप्सा करनी चाहिये और अन्य वस्तुओंका परित्याग करते रहना चाहिये जबतक यह (उद्घाटन) तुम्हारी चेतनाका सामान्य आधार न बन जाय। एक बार यह हो जानेपर, इसके द्वारा ऊपरसे उस सामर्थ्यको पुकार लाना संभव हो जायेगा जो प्राणको बलवान् बना देगी और निर्बलताको हटा देगी। तुम्हारी साधना अभी अत्यन्त मानसिक है और इस कारण कठिन और धीमी भी; चैत्य उद्घाटन ही प्रगतिको अधिक सन्तोषदायक और प्रगति-पूर्ण बनाता है।

*

तुम योगका नहीं, बल्कि साधारण जीवनके कार्यका वर्णन कर रहे हो। योग एक प्रयास है (मानसिक खोज नहीं है) यह कोई विपरीत और विरोधी चीजोंको लेकर परीक्षण करना नहीं है। यह तो मन है जो ऐसा करता है और मन है जो विश्लेषण करता है। अन्तरात्मा न तो खोजता है, न विश्लेषण करता है और न परीक्षण करता है—वह प्रयत्न करता है, महसूस करता है, अनुभव करता है।

तुम्हारे वर्णनमें सत्यका केवल एक कण है और वह यह कि जबतक तुम एक विशेष ऊंचाईपर नहीं पहुँच जाते तबतक योग सामान्यतया उत्थान-पतनोंकी एक क्रमपरंपरा होता है। परन्तु इसके लिये बिलकुल ही एक दूसरा कारण है—अन्तरात्माका भ्रम इसका कारण नहीं है। इसके विपरीत, जब चैत्य पुरुष सामने आ जाता है और प्रभु बन जाता है तो साधनामें मूलतः अबाध क्रिया चलने लगती है और यद्यपि कठिनाइयां रहती हैं तथा क्रियाके अन्दर हलचल होती है, पर ये सब असंगत या नाटकीय स्वभावकी नहीं होती।

*

अन्तरात्माके अन्दर सभी सम्भव शक्तियां विद्यमान हैं, परन्तु इसका अधिकतर भाग पर्देके पीछे होता है और जो कुछ प्रकृतिके अन्दर आगेकी ओर आता है वही महत्त्वपूर्ण होता है। कुछ लोगोंमें चैत्य तत्त्व प्रबल होता है और दूसरे लोगोंमें दुर्बल; कुछ लोगोंमें मन सबसे प्रबल अंश होता है और वही शासन करता है, दूसरोंमें प्राण सबसे प्रबल अंश होता है और वही नेतृत्व करता या बलपूर्वक आगे चलाता है। परन्तु साधनाके द्वारा चैत्य पुरुषको अधिकाधिक आगे ले आया जा सकता है जबतक कि वह प्रभुत्वपूर्ण न हो

जाय और बाकी सब अंगोंको परिचालित न करने लगे। यदि वह पहलेसे ही परिचालित करता हो तो मन और प्राणके संघर्ष और कठिनाइयां बिलकुल ही कठोर नहीं होंगी; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य चैत्य पुरुषकी ज्योतिके अन्दर सत्यको देखता और अनुभव करता तथा अधिकाधिक उसका अनुसरण करता है।

तुम्हें जो विस्तीर्णताका अनुभव हुआ था जिसमेंसे बहुतसी सड़कें निकल रही थीं, वह उच्चतर चेतनाका एक प्रतीक था जिसमें सत्ताकी सभी क्रियाएं उन्मुक्त, सच्ची और सुखद होती हैं — अज्ञान और निम्नतर प्रकृतिकी असमर्थता विलीन हो जाती है। यही वह चीज है जिसे ऊपरसे आनेवाली ज्योति ले आ रही है।

*

जब चैत्य पुरुष प्रधान शक्तिके रूपमें कार्य करता है तब वह एक प्रकार-की ऐसी विशेष प्रतीति और अन्तर्निहित चैत्य बोधके द्वारा कार्य करता है जो मिथ्यात्वको दूर भगा देते हैं। परन्तु मनके ऊपरके मनोमय स्तर उस तरह कार्य नहीं करते — मनके ऊपरके स्तरोंमें विवेक और संकल्पशक्ति कार्य करती हैं और उनका कार्य अधिक विस्तृत तो होता है पर मानों कम सुनिश्चित और कम अपने-आप होनेवाला होता है।

*

जब एकाग्रता सिरके ऊपरी भागपर होती है तब उसका अर्थ होता है मानसिक सत्ता उच्चतर चेतनाके साथ वहां युक्त हो रही है और बहुत अधिक बाधा या कोई बाधा नहीं है। दूसरा स्थान यह सूचित करता है कि चैत्य पुरुष उच्चतर चेतनाके साथ युक्त हो रहा है और इसलिये बहुत अधिक नीरवता है, क्योंकि चैत्य पुरुष मानसिक सत्तासे कहीं अधिक केंद्रीय सत्ता है। परन्तु उसके साथ ही चैत्यके द्वारा बाकी निम्न चेतनाको भी उच्चतर चेतनाके साथ युक्त कर देनेका प्रयत्न जारी है और वहींपर है बाधा। मनके युक्त होनेका कोई प्रभाव प्राण और शरीरपर नहीं पड़ता, अतएव वे चुपचाप हैं अथवा फिलहाल वैसा बने रह सकते हैं — चैत्य पुरुषका युक्त होना उनपर एक दबाव डालता है जिसकी पहली प्रतिक्रिया होती है थकावट महसूस करना और अंतिम प्रतिक्रिया हो सकती है एक प्रकारकी उथल-पुथल। परन्तु चैत्यका युक्त होना

यदि सफल हो तो वह सारी सत्ताका परिवर्तन करानेके लिये बहुत अधिक शक्तिशाली होता है।

*

अन्तरात्मा साक्षी, अनुमंता और भोक्ता है, परन्तु वह सिद्धान्ततः ही ही प्रभु है, वास्तवमें वह तबतक 'अनीश' (प्रभु नहीं) है जबतक कि वह अज्ञान-को अनुमति देता है। कारण, वह एक सर्वसामान्य अनुमति होती है जिसका मतलब होता है कि प्रकृति पुरुषके साथ कल्लोल करती है और उसके साथ जो कुछ करना चाहती है उसे खूब अच्छी तरह करती है। जब वह फिरसे अपनी प्रभुता पाना चाहता है, सिद्धान्तको व्यवहारमें परिणत करना चाहता है, तब उसे वैसा करनेके लिये बहुत अधिक तपस्या करनेकी आवश्यकता होती है।

चैत्य पुरुष सर्वदा ही पर्देसे ढका रहा है, मन, प्राण और शरीरकी क्रीड़ा-को अनुमति देता रहा है, उन्हींके माध्यमसे, उन्हींके अज्ञानपूर्ण तरीकेसे सब चीजोंका अनुभव लेता रहा है। तब भला यह कैसे हो सकता है कि ठीक जैसे ही चैत्य पुरुष उनके कानोंमें यह फुसफुसाने या कहनेका कष्ट उठावे कि "ज्योति हो जाय" वैसे ही वे (मन, प्राण, शरीर) तुरत परिवर्तित होनेके लिये बाध्य हो जायं? उनमें एक भीषण खण्डनात्मक शक्ति है और वे अस्वीकार कर सकते हैं और साफ-साफ इन्कार कर ही देते हैं। मन अपने तर्कको बार-बार आग्रहके साथ पेश करके तथा विचारोंका एक सतत जाल उत्पन्न करके बाधा देता है, प्राण अपने पक्षमें दिये गये मनके अकाटच युक्तियोंसे समर्थित बुरी इच्छाकी प्रचंडताके द्वारा बाधा उत्पन्न करता है और शरीर जड़ ताम-सिकता और पुराने अभ्यासोंके प्रति गाढ़ें अनुरागके द्वारा बाधक होता है, और जब वे अपना काम कर लेतें हैं तब सामान्य प्रकृति आ पहुँचती है और कहती है, "क्या, तुम इतनी आसानीसे मुझसे छुटकारा पानेवाले हो? नहीं, यदि मैं जान जाऊं", और वह घेरा डाल देती है और जबतक सम्भव होता है तबतक पुराने स्वभावको तुम्हारे ऊपर बार-बार फेंकती रहती है। फिर भी तुम कहते हो कि अन्तरात्मा यह सब 'तमाशा' (fun) चाहता है तथा और अधिक पानेके लिये हंसता-उछलता हुआ आगे बढ़ जाता है!

*

मन, प्राण और शरीरका एक-एक भाग बराबर ही ऐसा होता है जिसे चैत्य पुरुष प्रभावित करता या कर सकता है; हम उन भागोंको चैत्य-मन, चैत्य-प्राण और चैत्य-शरीर कह सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तित्वके या उसके विकासकी मात्राके अनुसार ये भाग छोटे या बड़े, दुर्बल या सबल, आच्छादित और निष्क्रिय या उभरे हुए और सक्रिय हो सकते हैं। जब ये कार्य करते हैं तो मन, प्राण या शरीरकी क्रियाएं चैत्य आशय या उद्देश्यको स्वीकार करती हैं, चैत्यके स्वभावमें हिस्सा बंटाती हैं या उसके लक्ष्यका अनुसरण करती हैं पर करती हैं ऐसे ढंगसे परिवर्त्तित करके जो मन, प्राण या शरीरका ढंग होता है। चैत्य-प्राण भगवान्‌को खोजता है, पर वह अपने आत्मदानमें एक मांगको, कामनाको, प्राणिक उत्सुकताको बनाये रखता है। चैत्य पुरुषमें यह सब नहीं होता, क्योंकि चैत्य पुरुषमें इसके स्थानमें होता है शुद्ध आत्मदान, अभीप्सा और चैत्य अग्निकी प्रखरता। चैत्य-प्राण दुःख-दर्दके अधीन होता है, चैत्य पुरुषमें दुःख-दर्द नहीं होता।

आत्मा ठीक वही चीज नहीं है जो चैत्य पुरुष है—आत्मा वह पुरुष है जो सबमें एक है, स्थिर, विस्तृत, सदा शान्तिमय, सर्वदा मुक्त। चैत्य पुरुष हमारे भीतरका वह अन्तरात्मा है जो जीवनका अनुभव लेता है और विकसनशील मन, प्राण और शरीरके साथ-साथ विकसित होता है। चैत्य पुरुष प्राण या शरीरकी तरह दुःख नहीं भोगता, उसके अन्दर पीड़ा या अतिशय वेदना या निराशा नहीं होती; परन्तु उसमें एक चैत्य उदासी होती है जो इन सब चीजोंसे भिन्न है। उसमें तीव्र स्पृहाकी एक प्रकारकी स्थिर मधुर उदासी होती है जिसे वह उस समय महसूस करता है जब कि सारी बातें भगवान्‌के विरुद्ध चली जाती हैं, जब अन्धकार और विघ्नबाधाएं बहुत भरी होती हैं, जब मन, प्राण और शरीर दूसरी चीजोंका अनुसरण करते हैं, जब अशुभ, मिथ्यात्व और अन्धकार दिव्य ज्योतिके लिये अत्यन्त प्रबल प्रतीत होते हैं। उसे निराशा नहीं होती,—पर वह अनुभव करता है कि ये सब चीजें नहीं होनी चाहियें और ये सब चीजें अन्य प्रकारकी हों इस बातकी चैत्य स्पृहा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह ऐसी लगती है मानो उदासीसे मिलती-जुलती कोई चीज हो।

चैत्य पुरुषके सामने न होनेके विषयमें यह कहना है कि उसे एकाएक सामने नहीं लाया जा सकता,—सत्ताके अन्य भाग परिवर्तनके लिये अवश्य तैयार हो जाने चाहियें और बीचका पर्दा धीरे-धीरे पतला होना चाहिये। इसीके लिये अनुभव आते हैं और आन्तरिक मन, प्राण, शरीर तथा साथ-ही-साथ बाहरी प्रकृतिपर भी कार्य हो रहा है।

जो सूक्ष्म-दर्शन तुम्हें प्राप्त हुआ था वह लक्ष्यकी ओर जानेका पथ था। मार्गमें अवस्थित शिव वह शक्ति हैं जो ज्योति ढालती है पर साथ ही यह जाननेके लिये साधकको सूक्ष्म रूपमें देखती है कि आया अधिक आगे बढ़नेके लिये वह तैयार है या नहीं। जब शिव आगे जाने देते हैं तब आती है नयी और उच्चतर अनुभूतियोंकी एक बाढ़, दिव्य शक्तियां, देवतागण और उनकी शक्तियां आगे बढ़ती हैं और प्रगति करती हैं, एक उच्चतर चेतनामें प्रकृतिका रूपान्तर होता है। जिन शक्तियोंको तुमने अपने सूक्ष्म-दर्शनमें गुजरते हुए देखा वे यही शक्तियां थीं।

*

सत्ताके जिस विभाजनकी चर्चा तुम करते हो वह यौगिक विकास और अनुभवका एक आवश्यक स्तर है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके अन्दर द्विविध सत्ता है, आन्तर चैत्य पुरुष जो कि सच्ची सत्ता है और दूसरी, बाहरी मानव सत्ता जो कि बाहरी जीवनका यंत्र है। आन्तरिक चैत्य सत्तामें भगवान्‌के साथ एकत्व रखकर निवास करना तथा साथ ही बाहरी कार्य करते रहना, जैसा कि तुम अनुभव करते हो, कर्मयोगकी प्रथम अवस्था है। इन अनुभूतियोंमें कोई भी चीज गलत नहीं है; इस अवस्थामें वे अनिवार्य और स्वभाविक हैं।

यदि तुम इन दोनों अवस्थाओंको जोड़नेवाले पुलको नहीं अनुभव करते तो इसका कारण शायद यह है कि अभीतक तुम उस चीजके विषयमें सचेतन नहीं हो जो इन दोनोंको जोड़ती है। हमारे भीतर एक आन्तर मन, एक आंतर प्राण और एक आन्तर शरीर है जो चैत्य सत्ता और बाहरी सत्ताको जोड़ता है। परन्तु उसके विषयमें अभी चिन्तित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

प्रधान बात है जो तुम्हारे पास है उसे बनाये रखना और वर्द्धित होने देना, सर्वदा चैत्य-सत्ता, अपनी सच्ची सत्तामें निवास करना। चैत्य पुरुष, ठीक समयपर, प्रकृतिके बाकी सभी भागोंको जगायगा और भगवान्‌की ओर मोड़ देगा और इस कारण बाहरी सत्ता भी यह अनुभव करेगी कि वह भगवान्‌के साथ संपर्क बनाये हुए है और वह जो कुछ है, जो कुछ अनुभव करती है और जो कुछ करती है उस सबमें भगवान्‌के द्वारा ही चालित होती है

*

निश्चय ही यह एक बड़ा मूल्यवान् अनुभव था, एक श्रेष्ठ चैत्य अनुभव

था। "भीतर मखमलकी जैसी मुलायमियतका — एक अकथनीय नमनशीलता-का अनुभव करना" — चैत्य अनुभव है और अन्य कुछ नहीं हो सकता। इसका अर्थ है चेतनाके सत्तत्वका, विशेषकर प्राणिक भावावेगमय भागका एक परिवर्तन, और यदि ऐसा परिवर्तन बना रहे या तबतक बार-बार होता रहे जबतक कि वह स्थायी न बन जाय तो इसका मतलब है कि जिस चीजको मैं सत्ताका चैत्य रूपान्तर कहता हूँ उस ओर एक बहुत बड़ा पग उठाना।

आन्तर सत्तत्वमें होनेवाले ठीक ये परिवर्तन ही रूपान्तरको सम्भव बनाते हैं। इसके अलावा, एक ऐसा परिवर्तन ही वह चीज था जिसने ज्ञानके आनेका प्रारम्भ कराया था — क्योंकि योगमें ज्ञानका अर्थ आध्यात्मिक वस्तुओंके विषयमें कोई विचार या भावना बनाना नहीं है बल्कि उसका अर्थ है भीतरसे आनेवाली चैत्य समझ और ऊपरसे आनेवाला आध्यात्मिक आलोक। इसलिये उसका पहला परिणाम था तुम्हारा यह बोध कि "उसे न समझनेमें कोई छोटाई बिलकुल नहीं है और सच्ची समझ केवल तभी आयगी जब हम यह अनुभव कर लेंगे कि हम पूर्ण रूपमें अक्षम हैं।" यह अपने-आपमें समझ आनेका आरम्भ है — एक चैत्य समझदारीका प्रारम्भ है, एक चीज भीतर अनुभूत हुई है जो ज्योति बरसाती है या एक ऐसा आध्यात्मिक सत्य सामने ले आती है जिसे महज चिन्तनने नहीं दिया होता, एक ऐसा सत्य भी ले आती है जो तुम्हें आवश्यक आलोक और आश्वासन दोनों देनेमें सफल होता है, क्योंकि चैत्य पुरुष अपने साथ जो कुछ लाता है वह बराबर ही ज्योति और आनन्द, एक आन्तरिक बोध और शान्ति और आश्वासन होता है।

*

इस अनुभवका एक दूसरा बहुत ही आशाजनक पक्ष यह है कि यह भग-वान्से की गयी एक प्रार्थनाके सद्यः उत्तरके रूपमें आया था। तुमने प्रार्थना की कि तुम्हें समझमें आ जाय और बाहर निकलनेका मार्ग मिले और तुरत कृष्णने तुम्हें दोनों चीजें दिखा दीं — बाहर निकलनेका मार्ग था भीतरी चेतना-का परिवर्तन, नमनीयता जो ज्ञानका आना सम्भव बनाती है और साथ ही मन और प्राणकी अवस्थाको समझनेकी शक्ति भी देती है जिसमें सच्चा ज्ञान या ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति आ सकती है। क्योंकि आन्तरिक ज्ञान भीतरसे और ऊपरसे आता है (चाहे हृदयस्थ भगवान्से आता है या ऊपर-स्थित आत्मासे) और उसके आनेके लिये ऊपरी मनकी भावनाओंमेंसे और उनपर होनेवाले मन और प्राणके आग्रहोंमेंसे मन और प्राणका दंभ अवश्य दूर हो जाना चाहिये।

मनुष्यको जानना आरम्भ करनेसे पहले यह जानना होगा कि वह अज्ञ है। यह बात सिद्ध करती है कि मैं बाहर निकलनेके एकमात्र पथके रूपमें जो चैत्य उद्घाटनपर जोर देता हूँ वह गलत नहीं है। क्योंकि, जैसे ही चैत्य पुरुष उद्-घाटित होता है वैसे ही ऐसे प्रत्युत्तर और बहुत अधिक दूसरी चीजें भी रोजकी मामूली बातें हो जाती हैं तथा आन्तरिक परिवर्तन भी होने लगता है जिससे ये सब बातें सम्भव बन जाती हैं।

*

उसका ('आन्तरिक नमनीयता'का) अर्थ, मैं समझता हूँ, 'चैत्य नमनीयता' था जो ऊपरसे कार्य करके भगवान्‌के प्रति एक अबाध उद्घाटनके साथ-साथ समर्पण करना सम्भव बनाती है। भीतरी नमनीयताके विरुद्ध है कठोरता जो अपने ही निजी विचारों, अनुभवों तथा ऊपरसे या भीतर-स्थित चैत्यसे आने-वाली उच्चतर चीजोंके विरुद्ध चेतनाके अभ्यासगत तरीकोंको बनाये रखनेपर आग्रह करती है।

*

यदि यह हृदयमें स्थित कोई चीज थी तो वह अवश्य ही पीछे स्थित चैत्य पुरुष होगा जिसके विषयमें प्रायः ही ऐसा अनुभव होता है मानों वह खूब नीचे गहराईमें कहीं हो या गहराईमेंसे ऊपर उठ रहा हो। यदि कोई उसके पास जाता है तो प्रायः ही ऐसा अनुभव होता है मानों वह एक गहरे कुएंमें उतर रहा हो।

जो धक्का तुम्हें लगा वह अवश्य ही चैत्य शक्ति होगी जिसने अन्तरात्मा-को ढक रखनेवाले मानसिक-प्राणिक ढक्कनको खोलनेकी कोशिश की होगी।

*

यह स्पष्ट ही चैत्य पुरुष है—यह अक्सर एक गहरे कुंएंकी तरह या खाईकी तरह दिखायी देता है जिसमें मनुष्य प्रवेश करता है; परन्तु यहां यह स्पष्ट ही वह चैत्य है जो सभी निम्नतर स्तरोंमें घुस रहा है और साथ ही ऊपरके उच्चतर स्तरोंतक ऊपर उठ रहा है।

*

चैत्य पुरुष छातीके बीच हृदय-केंद्रमें है (स्थूल हृदयमें नहीं, क्योंकि सभी चक्र शरीरके मध्य भागमें हैं), परन्तु यह पीछेकी ओर बहुत गहराईमें है। जब कोई प्राणसे चैत्यमें जाता है तब ऐसा लगता है मानों वह नीचे गहराईमें उतरता जा रहा है जबतक कि वह चैत्यके केंद्रीय स्थानमें नहीं पहुँच जाता। हृदयचक्रका ऊपरी भाग भावमय पुरुषका स्थान है; वहांसे मनुष्य चैत्यको पानेके लिये गहराईमें उतरता है। जितना ही अधिक मनुष्य उतरता है उतना ही अधिक चैत्य आनन्द तीव्र होता जाता है जिसका कि तुमने वर्णन किया है।

मैं आशा करता हूँ कि दर्द चला गया होगा। जब ये चीजें आती हैं तब बराबर श्रीमाताजीको पुकारो और फिर अपने ऊपर उनकी शक्तिको कार्य करने दो।

*

चैत्य पुरुषका स्थान हृदयके भीतर गहराईमें है,—पर 'भीतर गहराई'में, न कि ऊपरी तलपर जहां साधारण भावावेग होते हैं। परन्तु वह आगे आ सकता और ऊपरी तलपर अधिकार जमा सकता है और फिर साथ ही अन्दर भी बना रह सकता है,—उस समय स्वयं भावावेग भी प्राणिक वस्तुएं नहीं रह जाते बल्कि चैत्य भावावेग और अनुभव बन जाते हैं। इस तरह सामने खड़ा हुआ चैत्य पुरुष अपने प्रभावको सर्वत्र फैला सकता है, उदाहरणार्थ, मनमें जिसमें कि उसके विचारोंको रूपान्तरित कर दे अथवा शरीरमें जिसमें कि उसकी आदतों और प्रतिक्रियाओंको रूपान्तरित कर दे।

जिस व्यक्तिको तुमने ऊपर देखा वह शायद स्वयं मेरा ही कोई रूप हो। साधक अपने सूक्ष्म-दर्शनोंमें हमें देख सकते हैं और न केवल हमारे भौतिक आकारमें बल्कि उन अन्य आकारोंमें देख सकते हैं जो सत्ताके अन्य स्तरोंपर होते हैं।

तुम्हारा अनुभव......उन स्वप्नानुभूतियोंमेंसे एक है जिन्हें मनुष्य प्राणलोकमें प्राप्त करता है,—क्योंकि वहां अच्छी और बुरी, सुखदायी और दुःखदायी चीजें एक-दूसरीके बहुत पास-पास होती हैं।

अपनी प्रकृतिके किसी दोषको पहचान जानेसे, जैसा कि तुमने किया है, वह दोष तुरत पूर्ण रूपसे दूर नहीं हो जाता, परन्तु ऐसा करना उसे दूर करनेके लिये एक बहुत बड़ा कदम है। इससे दोष तुरत दूर नहीं होता, क्योंकि प्रकृतिमें अभ्यासकी शक्ति विद्यमान होती है, परन्तु फिर भी सचेतन होना

और उसे दूर करनेका संकल्प रखना उसकी शक्तिको कमजोर बनानेमें सहायक होता है और श्रीमाताजीकी क्रियामें बहुत अधिक सहयोग देता है।

*

जो सूक्ष्म-दर्शन तुम्हें प्राप्त हुआ वह मानसिक स्तरका था और प्रतीकात्मक था। यह तुम्हारी अपनी स्थितिको उतना सूचित नहीं करता जितना उन सामान्य कठिनाइयोंको सूचित करता है जो चैत्य केंद्रके अन्दर अन्दर गहराईतक पैठ जाने और वहां निवास करनेके मार्गमें आ खड़ी होती हैं। ज्योतिसे भरा हुआ मैदान था अंतरतम चैत्य केंद्र; बीचमें दिखायी देनेवाला काला स्थान था अज्ञानका पर्दा जो इस अंतरतम चैत्य केंद्र तथा बाह्य प्रकृतिके बीचकी खाईके द्वारा उत्पन्न हुआ था। एक (मानसिक) ओरसे रास्ता रोककर रखनेवाला घूमता हुआ चक्र है साधारण मनकी क्रिया; जब मन स्थिर हो जाता है तब आगे बढ़ना आसान हो जाता है। सर्प है प्राणिक शक्ति जो चैत्य पुरुषको ढक रखती है और दूसरी (प्राणिक) ओरसे जानेका रास्ता रोकती है। यहां भी, यदि प्राण स्थिर हो जाय तो आगे बढ़ना आसान हो जाता है।

ललाटमें जो आघात लगे वे शायद शक्तिकी क्रियाको सूचित करते हैं जो वहांके केंद्रको खोलनेके लिये की गयी थी — क्योंकि आंखोंके मध्यमें आंतर मन, संकल्प और सूक्ष्म-दर्शनका केंद्र है। सामान्य चेतनामें ये सब केंद्र बन्द होते हैं या ऊपरी तलपर केवल बहुत थोड़ासा ही खुले होते हैं। यदि आंतर मनका केंद्र खुल जाय तो ऊपरसे शांति वगैरह चीजें मनमें और उसके बाद प्राणमें आसानीसे प्रवेश कर सकती हैं और उससे मन और प्राण दोनों शांत-स्थिर हो जायंगे।

मनके दो भागोंके विषयमें आनेवाली कठिनाई भी एक ऐसी कठिनाई है जो प्रत्येक मनुष्यको उस समय होती है जब उसमें अन्दर घुसनेकी प्रवृत्ति जागृत होती है। इस साधनामें इसका समाधान एक प्रकारका सामंजस्य स्थापित होनेपर होता है जिससे मनुष्य अपना कार्य करते हुए तथा आवश्यक बाहरी क्रियाओंको बनाये रखते हुए भी अपने अन्दर आन्तरिक जीवन और अनुभवकी परिपूर्णतामें निवास कर सकता है।

सर्वदा श्रीमाताजीपर भरोसा रखो। ये चीजें यौगिक अनुभवकी पहली आरंभिक चीजें हैं और मन तथा प्राणकी कठिनाइयां (जो वे ही पुरानी कठिनाइयां नहीं हैं जो तुममें थीं, बल्कि सत्ताके विभिन्न भागोंको सुव्यवस्थित और सुसमंजस करनेकी महज मामूली कठिनाइयां हैं) स्वयं अपने-आप सुलझ जायंगी।

*

यह सब बहुत अच्छा है;—जो कुछ तुमने लिखा है वह सब चैत्य पुरुष-उन्मज्जित होनेका एक प्रबल प्रमाण है। चैत्यके इसी प्रकटीकरणके विषयमें मैंने कलके पत्रमें लिखा था। तुम्हारे वर्णनोंसे ऐसा लगता है कि तुम्हारी चेतना तुरत चैत्य चेतनामें गहराईतक डूब गयी थी और मन तथा हृदयमें चैत्य प्रभाव प्रकट हो गया था। अत्यन्त गहराईमें डूब जानेके कारण ही तुम्हारा कार्य इतना धीमा हो गया था, क्योंकि तुम्हारी चेतना इतना अधिक भीतर घुस गयी थी कि बाहरी चीजोंपर तेजीके साथ कार्य करना संभव नहीं था। यह एक स्थिति है जिसमेंसे मनुष्यको अपनी आन्तरिक परिवर्तनकी प्रक्रियामें गुजरना पड़ता है। इसके साथ-ही-साथ तुम्हारे मनके विचार, तुम्हारा ज्ञान, चीजोंके प्रति तुम्हारा मानसिक और प्राणिक भाव, तुम्हारे सामनेकी घटनाएं और लोग सभी अधिक-अधिक चैत्य स्वभाव ग्रहण करते जा रहे हैं। भगवान्के प्रति प्रेम और भक्ति चैत्य स्वभावका केंद्रीय भाव है और तुम्हारे अन्दर श्रीमाता-जीके प्रति वह भाव बढ़ रहा है तथा तुम्हारी सत्तामें व्याप रहा है। सबके प्रति चैत्य प्रेम भी प्रकट हो रहा है; यह प्रेम एक अन्तर्मुखी वस्तु है और यह प्राणिक प्रेमकी तरह, जो साधारणतया लोगोंमें होता है, बाहरकी ओर प्रकट होनेकी चेष्टा नहीं करता। चैत्य और आध्यात्मिक मनोभाव वस्तुओंमें विद्यमान भलाई या बुराईपर भी निर्भर नहीं करता, बल्कि वह अपने-आप उत्पन्न होता है। वह दूसरोंको अपने अन्दर भगवान्को वहन करनेवाले, भले ही उनमें भगवान् चाहे जितने मोटे पर्दोंसे क्यों न ढके हों, आत्मा तथा श्रीमाताजीके बच्चे समझता है।

*

मधुरता और सुन्दर भावनाको बढ़ने दो, क्योंकि वे इस बातके अत्यन्त प्रबल लक्षण है कि अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष जागृत है तथा हमारे साथ उसका संपर्क बना हुआ है। अपने विचार या वाणी या कार्यकी भूलोंसे विचलित मत होओ — उन्हें अपनेसे दूर रखो मानों वे ऊपरी चीजें हों जिनपर दिव्य शक्ति और ज्योति कार्य करेंगी तथा जिन्हें दूर करेंगी। बस, एक ही केंद्रीय वस्तुका ध्यान रखो — अपने अन्तरात्माका तथा इन उच्चतर सत्य वस्तुओंका जिन्हें वह अपने साथ लाता है।

*

यह हृदयके पीछे विद्यमान तुम्हारा अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष है, जो जागृत है और चाहता है कि मन भगवान्‌पर एकाग्र हो। यह मनका स्वभाव है कि वह अन्य चीजोंकी ओर चला जाता है, पर अब जब कि वह ऐसा करता है, हृदयमें बेचैनी होती है, चैत्य दुःख होता है, क्योंकि हृदय तुरत यह अनुभव करता है कि यह भूल है और सिर भी दुखता है क्योंकि भागवत शक्तिको कार्य करनेमें बाधा पहुँचती है। यह एक ऐसी चीज है जो प्रारंभिक अवस्थामें, चेतनाके साधनाकी ओर उद्‌घाटित हो जानेके बाद, बहुत अधिक घटित होती है।

*

एक चैत्य विषाद भी है जो साधारणतः तब होता है जब वह अनुभव करता है कि संसारमें प्रतिरोध कितना प्रबल है और उसकी शक्तियां माताजीके विरोधमें कितनी प्रचण्ड हो उठती हैं।

*

शायद प्राणने इसे (चैत्य विषादको) ग्रहण कर लिया और इसे अधिक उग्र और कलुषित ढंगसे व्यक्त किया — अन्यथा चैत्य विषादमें कोई वस्तु विक्षुब्ध करनेवाली नहीं होती।

*

चैत्य उदासी निर्मल करनेवाली वस्तु है, कोई इस ढंगकी वस्तु नहीं जो अवसाद लाये।

*

चैत्य द्वारा उत्पन्न की गई बेचैनी अवसाद नहीं होती — उसका स्वरूप होता है गलत क्रियाका परित्याग।

यदि बेचैनी अवसाद या प्राणिक असंतोष पैदा करे तो वह चैत्यमूलक नहीं होती।

*

बेचैनी केवल इस बातको याद दिलाती है कि तुम्हें भविष्यमें अधिक सतर्क रहना चाहिये।

*

मन और प्राण हमेशा प्रमुख रहे हैं और उन्होंने अपनेको विकसित कर लिया है और वे अपने लिये काम करनेके आदी है। तुम यह आशा कैसे करते हो कि कोई प्रभाव (चैत्यका) आगे आकर पहली बारमें ही अधिक शक्तिशाली हो जाय? चैत्य स्वयं चंचल नहीं है, जब तुम कोई गलत बात करते हो तो यह तुम्हें विकल बना देता है।

*

तुम हजारों जन्मोंसे चैत्यको पृष्ठ भागमें रखे रहे हो और प्राणमें रत रहे हो। इसी कारण तुम्हारा चैत्य शक्तिशाली नहीं है।

*

तुम्हें जो रुलाई आती है वह चैत्य पुरुषसे आती है—यह चैत्य आकांक्षा और अभीप्साका आंसू है। एक विशेष अवस्थामें बहुतोंको ऐसा होता है और यह बहुत अच्छा लक्षण है। दूसरी भावनाएं और प्रवृत्तियां भी उसी स्रोतसे आयी हैं। वे यह सूचित करती हैं कि चैत्य पुरुष बड़ा प्रबल प्रभाव डाल रहा है और, जैसा कि हम कहते हैं, सामने आनेकी तैयारी कर रहा है। इस क्रियाको स्वीकार करो और इसे संपन्न होने दो।

*

यह बिलकुल ठीक है कि रोनेसे ऐसी शक्तियां भीतर घुस आती हैं जिन्हें बाहर ही रखना चाहिये—क्योंकि रोनेका अर्थ है आन्तरिक संयमका हट जाना और प्राणिक प्रतिक्रिया तथा अहंकारका प्रकट होना। केवल चैत्य रुलाई ही ऐसी चीज है जो इन शक्तियोंके लिये दरवाजा नहीं खोलती—बल्कि वह रुलाई बिना किसी क्लेशके होती है, भक्ति, आध्यात्मिक अनुराग या आनन्दका आंसू होती है।

तुम्हारा अनुभव बहुत सुन्दर था — ऐसे अनुभवोंके द्वारा आन्तरिक सत्ता उस चीजको प्राप्त करती है जिसे जागृत अवस्थामें आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक जीवनके आधारके रूपमें स्थापित करना आवश्यक होता है।

*

स्पष्ट ही, जब वशमें करनेकी अक्षमता तथा अति-उत्सुकता है तब वह अवश्य ही प्राणिक स्वभावकी एक क्रिया है। प्राण-पुरुष किसी क्रियामें भाग ले सकता है पर उसपर उसका अधिकार नहीं होना चाहिये — उसे चैत्यके अधीन होना चाहिये।

*

ये चैत्य स्पर्शके अधीन प्राणकी क्रियाएं हैं। यदि नीचेकी ओर चैत्य आधार स्थापित हो गया हो तो उसका अनुभव एक अन्तर्निहित स्थिरता और विश्वास-के रूपमें अथवा आत्मसमर्पणके एक स्थायी भावके रूपमें होगा।

*

हृदयमें तीव्र उत्कण्ठा हो सकती है पर ऐसा नहीं होना चाहिये कि वह शान्तिमें बाधा डाले।

*

मैं समझता हूँ कि इसे (हृदयकी उत्कण्ठाको) इस समय तो तुम्हें रोक देना होगा। यह बहुत सम्भव है कि प्राण साधनाकी प्रगतिको लेकर असंतोष पैदा करनेके लिये इसका लाभ ले रहा हो। चैत्यकी उत्कण्ठा,अधीरता, असंतोष या विक्षोभकी किसी प्रतिक्रियाको उत्पन्न नहीं करती।

*

मांगें वहां पहले ही विद्यमान् थीं — जब चैत्य स्पर्श करता है तो प्रेम सघन हो जाता है पर निम्नतर प्राण प्रेमको सब प्रकारकी मांगोंके साथ मिश्रित

कर देता है।

*

चैत्य अग्नि अभीप्सा, शुद्धि और तपस्याकी अग्नि है जो चैत्य पुरुषसे आती है। यह स्वयं चैत्य पुरुष नहीं है, बल्कि चैत्य पुरुषकी एक शक्ति है। चैत्य पुरुष एक पुरुष है, लौ नहीं है—चैत्य अग्नि पुरुष नहीं है, यह ऐसी चीज है जो पुरुषकी निजी है।

*

तुम जिस ज्वालाका अनुभव कर रहे हो वह अग्नि है। अग्नि एक साथ अभीप्साकी ज्वाला, विशुद्धीकरणकी ज्वाला, तपस्याकी ज्वाला और रूपान्तरकी ज्वाला है।

*

घनीभूत स्थिरता और समर्पणसे भरपूर अभीप्साके रूपमें विद्यमान अग्नि, निःसंदेह, वह पहली चीज है जिसे हृदयमें प्रज्ज्वलित करना चाहिये।

*

माताजीकी शक्ति ही अग्निमें कार्य करती है।

*

यह सच है कि अभीप्साकी अग्निको निरन्तर जलाये रखना होगा; परन्तु यह अग्नि चैत्य अग्नि है और जैसे-जैसे अपने भीतर चैत्य सत्ता वर्द्धित होती है वैसे-वैसे यह भी बल उठती या जलने लगती है और बढ़ती जाती है तथा चैत्य सत्ताके बढ़नेके लिये निश्चलता आवश्यक होती है। यही कारण है कि तुम्हारे अन्दर चैत्य सत्ताके बढ़नेके लिये तथा निश्चलताके बढ़नेके लिये भी हम कार्य करते रहे हैं एवं यही कारण है कि हम चाहते हैं कि तुम पूरे धैर्य और विश्वासके साथ श्रीमाताजीकी क्रियाके लिये प्रतीक्षा करो। श्रीमाताजीको

सर्वदा याद करते रहने और अपने भीतर एक़ जैसी निष्कंप आगको सदा बनाये रखनेका स्वयं यह अर्थ है कि साधनामें काफी प्रगति हो गयी है और इसकी तैयारी अनेक उपायोंके द्वारा करनी होगी ठीक जैसे कि कुछ अनुभव तुम्हें हो रहे हैं। अतएव अपने विश्वासपर अटल-अचल बने रहो और जो कुछ करना आवश्यक है वह अवश्य किया जायगा।

*

केंद्रीय आग चैत्य पुरुषमें है, पर इसे सत्ताके समस्त भागोंमें प्रज्ज्वलित किया जा सकता है।

*

ठीक भौतिक चेतना वह चीज है जिसमें आगको जलाये रखना कठिन होता है — भौतिक चेतना किसी निश्चित क्रमका सतत अनुसरण बड़ी आसानी-से कर सकती है, पर किसी सतत सजीव प्रयासको आसानीसे नहीं जारी रख सकती। परन्तु कुछ समयके बाद उसे ऐसा करनेके लिये तैयार किया जा सकता है। सब प्रकारकी सहायता तुम्हें दी जायगी।

*

यदि अहं यह समझता है कि वही चैत्य आग है तो यह घमंडकी बात है। यदि चेतना चैत्य आगके साथ एकात्म अनुभव करती है और उसे यह ज्ञान होता है कि यह आग सभी अशुद्धियोंको जला सकती है तो फिर यह एक सच्चा अनुभव है।

*

यह सच है कि यदि चेतना शान्त-स्थिर बनी रहे तो चैत्य पुरुष अन्दरकी गहराईमेंसे अधिकाधिक अभिव्यक्त होगा और इस बातका सुस्पष्ट ज्ञान प्राप्त होगा कि क्या सत्य है और आध्यात्मिक दृष्टिसे सही है तथा क्या गलत या असत्य है और फिर इसीके साथ-साथ आयेगी उस सबको फेंक देनेकी शक्ति जो विरोधी, अयथार्थ या असत्य है।

अग्निका अनुभव बिलकुल सही है,—यह शुद्धि और एकाग्रता (अर्थात् चेतनाको एकत्र करके दृढ़तापूर्वक भगवान्‌की ओर मोड़ देने) की महान् आग, है, चैत्य अग्नि है जिसमेंसे सबको गुजरना ही होगा ताकि वे स्थायी और पूर्ण रूपसे श्रीमाताजीतक पहुँच जायं।

*

यह (हृदयमें ऊष्माका अनुभव) कभी अग्निकी ज्वालाके सामीप्यसे, कभी प्रेम या आनन्दकी ज्वालासे और कभी केवल शक्तिके स्पर्शसे होता है।

*

जिस आगको तुमने देखा उससे डरना भूल है, क्योंकि वह पवित्र बनाने-वाली दिव्य अग्नि है जिसे तुमने जलते हुए देखा और जो कोई हानि नहीं पहुँचाती। यह केवल उस चीजको दूर कर देती है जिसे वहां नहीं रहना चाहिये। यही कारण है कि उसके बाद आता है एक हलकापन या एक खालीपन। तुम्हें बस शान्त-स्थिर बने रहना है और उस अग्निको अपना कार्य करने देना है। उस समय जिस गर्मीको मनुष्य अनुभव करता है वह ज्वरका ताप अथवा कोई दूसरी दूषित गर्मी नहीं है। बादमें, जैसा कि तुमने अनुभव किया, सब कुछ ठंडा और हलका हो जाता है।

*

यह सब केवल सत्ताके विभिन्न भागोंमें अग्निका ज्वलन है। यह उसे रूपान्तरके लिये तैयार करता है। किन्तु चैत्यका आगे आना और बात है और उसके चिह्न आभ्यन्तरिक होते हैं।

*

मनके भीतर कोई ऐसा संस्कार है जो बहुत करके अग्निको चैत्यके साथ संयुक्त करता है। निःसंदेह व्यक्तिगत अग्निज्वालाका प्रारम्भ बिंदु चैत्यमें है, किन्तु केवल अग्निका जलना यह सूचित नहीं करता कि चैत्य अग्रभागमें आ

रहा है।

यदि अग्नि हृदयमें जलती हो तो यह चैत्यकी अग्नि होती है। चैत्य-अग्नि व्यक्तिगत होती है और सामान्यतया अभीप्सा या व्यक्तिगत तपस्याका रूप धारण करती है। यह अग्नि वैश्व है और ऊपरसे आई है।

*

चैत्य अग्नि प्राणमें प्रज्वलित हो सकती है। यह सब इस बातपर निर्भर करता है कि यह ऊपरसे आनेवाली सार्वभौम शक्तिकी अग्नि है या तुम्हारे अन्तरात्माकी अभीप्सा और तपस्याकी।

*

ये सब चीजें इस समय चलनेवाली प्रक्रियाको सूचित करनेवाले लक्षण हैं और अब ये बार-बार प्रकट हो रही हैं। गर्मीका महसूस होना बाधाओंको जला डालनेवाली चैत्य अग्निका परिणाम है—ठंडापन और पूर्ण निश्चलता उसीके फलस्वरूप आती हैं। सोनेकी प्रवृत्ति वास्तवमें आन्तरिक चेतनाके अन्दर पैठ जानेकी प्रवृत्ति है जो परिवर्तनके लिये पड़नेवाले दबावके कारण आयी है।

जिस ज्योतिर्मय विशालताको तुमने देखा वह मानवीय मन, प्राण और शरीरकी चेतनाकी संकीर्ण सीमाओंसे मुक्त यथार्थ चेतनाकी विशालता थी। यह ठीक है कि मन संकीर्ण है, लेकिन केवल तुम्हारा ही नहीं बल्कि सभी मनुष्योंके मन, यहांतक कि अत्यन्त विकसित मन भी सच्ची चेतनाकी, जिसकी कोई सीमा नहीं, विशालताके मुकाबले संकीर्ण हैं! ठीक यही विशालता है जो साधनासे आयेगी और जिसके लिये ये प्रक्रियाएं तैयारी कर रही हैं। फूलों-की वृष्टिका अर्थ है चैत्य गुणों और क्रियाओंकी प्रचुरता और मानसिक विजय-का सफेद फूल सूचित करता है उस विजयकी ओर—बाहरी अज्ञानके ऊपर आन्तरिक ज्योतिकी मानसिक विजयकी ओर—जानेका पग जिसकी ओर इस समय उसे ले जाया जा रहा है।

*

शरीरमें जो गर्मी महसूस होती है वह महज उस क्रियाके कारण उत्पन्न

हुई है जो भीतर चल रही है; यही वह चीज है जिसे तपस्‌की ऊष्मा कहते हैं। इसमें कोई भी चीज अस्वास्थ्यकर नहीं है जैसा कि ज्वरकी गर्मीमें होती है। जो सुन्दर गन्ध तुम्हें मिलती है वह है सूक्ष्म या चैत्य गन्ध, ठीक जिस तरह कि कमलका सूक्ष्म-दर्शन एक सूक्ष्म या चैत्य दर्शन है।

चैत्य पुरुष प्रायः ही हमारे भीतर एक बालकके रूपमें दिखायी देता या अनुभूत होता है,—शायद उसीको तुम अपने भीतर अनुभव कर रहे हो; वह पूर्ण सच्चाईकी मांग कर रहा है, परन्तु सच्चाईका यहां अर्थ लिया जाता है केवल भागवत प्रभावों और प्रवेगोंकी ओर उद्‌घाटन, अन्य किसी चीजकी ओर नहीं। उसकी मांगका अर्थ यह नहीं है कि तुमने कोई दोष किया है बल्कि केवल यह है कि तुम्हारे अन्दरका चैत्य पुरुष तुमसे यह चाहता है कि तुम पूर्ण रूपसे एकमात्र उसीके शासनके अधीन आ जाओ जिसमें कि तुम्हारे अन्दरकी सब चीजें एकमात्र भगवान्‌के लिये हों जायं। दुःखका भाव शायद तुम्हारे प्राण-पुरुषका इस मांगके लिये प्रत्युत्तर है—वह यह सोचता है कि उसने अवश्य ही कोई भूल कर दी है; परन्तु इस प्रकारका दुःखका भाव आवश्यक नहीं है। प्राण-पुरुष चुपचाप चैत्य प्रक्रियाकी प्रतीक्षा कर सकता है जो ठीक समयपर आवश्यक सभी बातें पूरी कर देगी।

*

जो आग तुमने देखी वह फिर वही शुद्धि और तपस्याकी चैत्य आग थी और माला थी पूजाकी वस्तु जिसे वह श्रीमाताजीके लिये, साधकमें विद्यमान चैत्य और दिव्य चेतना (मोती और हीरा) के लिये तैयार कर रहा था। सुन्दर स्थान भी संभवतः चैत्यका ही एक प्रतीक था और कमल चैत्य चेतनाके उद्‌घाटनको सूचित करता था।

द्वादश-दल कमल और द्वादश-किरण सूर्य उस एक चीजको, भगवती मांकी पूर्ण सत्य-चेतनाको सूचित करते हैं। वह उग रही थी पर आधी ही उगी थी। लाल रंग शक्तिका चिह्न था।

*

जिस अग्निको तुमने देखा वह पृथ्वीके नीचे अर्थात् अवचेतनमें जलती हुई चैत्य सत्ताकी अग्नि, अभीप्सा और तपस्याकी अग्नि थी। यह पृथ्वीको, स्थूल चेतनाको दिव्य प्रकाशके प्रति उद्‌घाटित करती है। चांदनी आध्यात्मिक

चेतनाकी प्रतीक हो सकती है और कमरा तुम्हारी अपनी व्यक्तिगत सत्ता या व्यक्तिगत स्थूल चेतनाका। इन संकेतोंके आधारपर तुम्हारे लिये अपने अनुभवकी महत्ताको समझना आसान होगा।

*

अग्नि है चैत्य अग्नि — वह भागवत उपस्थिति नहीं है। यदि चैत्य पुरुष सक्रिय और खुला हुआ हो तो दिव्य उपस्थितिका अनुभव हो सकता है — इस (उपस्थितिके अनुभव) के लिये यह आवश्यक नहीं है कि चैत्य पुरुष सामने हो। फिर वह सामने हो भी सकता है, पर भागवत उपस्थितिका अनुभव हृदयमें अभी नहीं भी हो सकता, उस समय केवल अभीप्सा, भक्ति, आत्मदानके भाव ही उदित हो सकते हैं। इन सब बातोंके विषयमें कुछ निश्चित नियम नहीं है — यह विभिन्न स्वभाववालोंमें विभिन्न रूपसे विकसित होता है।

*

यदि वह हृदयमें है तो वह चैत्य अग्नि हो सकती है — सम्भवतः हर्षने उस आगको नहीं उत्पन्न किया है बल्कि तुम जो इस निर्णयपर पहुँचे थे कि तुम माताजीके कार्यपर विश्वास करोगे चाहे मन उसे समझे या न समझे, उस निर्णयने उत्पन्न किया। ऐसा मनोभाव चैत्यके उद्घाटनको बढ़ावा देता है और इसलिये तुरत चैत्य हर्ष ले आता तथा चैत्य केंद्रमें अग्निको प्रज्ज्वलित करता है।

*

सभी मनुष्योंमें भौतिक मनको अपने अभ्यास छोड़नेमें एक जैसी कठिनाई होती है; उसके लिये दूसरी कोई चीज इससे अधिक कठिन नहीं है। जिस आगको तुम अनुभव करते हो वह अवश्य ही वह चीज होगी जिसे हम 'अग्नि' कहते हैं, जो शुद्धिकी अग्नि है और भौतिक मनको परिर्वात्तत करनेके लिये उसपर क्रिया करती है।

जिस पुलको तुमने देखा वह साधारण चेतनासे आध्यात्मिक चेतनामें

जानेके पथका प्रतीक था; विशाल मैदान विशाल शांति और निश्चल-नीरवता-का प्रतीक था जो शांति और नीरवता भगवान्‌पर भरोसा करनेपर आध्यात्मिक चेतनाके साथ आती हैं।

जिस सुगन्धको तुमने अनुभव किया वे सच्ची सुगन्धें थीं पर भौतिक जगत्‌की नहीं थीं। रक्त और मांसका यह शरीर ही हम लोगोंका संपूर्ण स्व-रूप नहीं है; आंखोंसे अदृश्य एक सूक्ष्म शरीर भी है और जब हमारी आन्तरिक चेतना खुलती है तब हम उसके विषयमें सज्ञान होते हैं। उसी शरीरकी गह-राईमेंसे वे सुगन्धें आयी थीं, वे पवित्रता, प्रेम और आत्मसमर्पण (गुलाब) आदिकी गन्ध थीं। उसी शरीरके अन्तरतम भागमें चैत्य पुरुष निवास करता है और उस समय तुम वहीं जानेका प्रयास करते हो जिस समय भीतर पैठनेकी प्रेरणा या दबाव आता है; यही कारण था कि तुमने अपनेको अधिकाधिक शान्तिपूर्ण अनुभव किया, क्योंकि तुम अपनी चैत्य सत्ताकी अधिकाधिक गहराईमें पैठ रहे थे और वहींसे वे सुगन्धें आयी थीं।

*

सुधा है देवताओंका खाद्य या पेय पदार्थ अमृत। योगमें इस शब्दका प्रयोग उस चीजके लिये किया जाता है जो अत्यन्त गभीर एकाग्रता होनेपर ब्रह्मरंध्रसे प्रवाहित होकर जीभपर आ जाती है। परन्तु यह आन्तरिक सत्ताकी चीज है, अतएव यह वह चैत्य मिठास होगी जो सारे शरीरमें प्रवाहित होती है।

II

यह सब पूर्ण रूपसे सही है। इस योगकी साधना द्विविध है—इसका एक पक्ष तो है उच्चतर लोकोंमें चेतनाका आरोहण, और दूसरा पक्ष है उच्चतर लोकोंकी शक्तिका पार्थिव चेतनामें अवतरण जिसमें कि अन्धकार और अज्ञानकी शक्तिको बाहर भगाकर प्रकृतिको रूपान्तरित कर दिया जाय।

*

मनुष्य एक मनोमय सत्ता है जो सजीव जड़तत्त्वके अन्दर सशरीरी हुई है। इस मनुष्यकी समस्त चेतनाको ऊपर उठना होगा जिसमें वह उच्चतर

चेतनाके साथ युक्त हो जाय। साथ ही उच्चतर चेतनाको भी मनमें, प्राणमें और शरीरमें उतर आना होगा। इस तरह बाधाएं दूर हो जायंगी और उच्चतर चेतना समूची निम्न प्रकृतिको अपने हाथमें लेकर उसे अतिमानसकी शक्तिसे रूपान्तरित कर सकेगी।

पृथ्वी क्रमविकासका भौतिक क्षेत्र है। मन, प्राण, अतिमन और सच्चिदानन्द तत्त्वतः यहां पार्थिव चेतनामें अन्तर्निहित हैं; परन्तु आरम्भमें केवल जड़-तत्त्व ही सुव्यवस्थित होता है। फिर प्राण प्राणलोकसे उतरता है और जड़तत्त्वके अन्दर प्राणतत्त्वको आकार देता, सुसंगठित करता तथा क्रियाशील बनाता है, उद्भिज और पशु जगत्की सृष्टि करता है। फिर मनोलोकसे मन उतरता है और मनुष्यकी सृष्टि करता है। अब अतिमानसका अवतरण होनेवाला है जिसमें कि वह एक अतिमानसिक जातिका निर्माण कर सके।

*

यह साधना इस तथ्यपर आधारित है कि उच्चतर लोकोंकी शक्तियोंके अवतरण तथा उच्चतर लोकोंमें निम्नतर चेतनाके आरोहणके द्वारा निम्नतर प्रकृतिका रूपान्तर साधित होता है — यद्यपि इसमें स्वभावतः ही समय लगता है और पूर्ण रूपान्तर केवल अतिमानसिक अवतरण होनेपर ही हो सकता है।

*

ऐसी वस्तुओंमें कोई निश्चित नियम नहीं होता। बहुतसे व्यक्तिओंमें अवतरण पहले होता है और आरोहण बादमें, अन्य लोगोंमें यह और ढंगसे होता है; कुछ लोगोंमें दोनों प्रक्रियाएं एक साथ चलती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनेको ऊपर स्थिर कर सके तो और भी अच्छा। ऐसा क्यों नहीं हुआ इसका कारण मैंने तुम्हें स्पष्ट कर दिया है।

*

मैं केवल ऊपर उठनेकी ही बात नहीं कह रहा। ऊपर उठनेके बाद सत्ताके विभिन्न भागोंमें उच्चतर चेतनाके अवतरणको आना ही होगा। यह वस्तु चैत्य विकासकी सहायता पाकर और उसकी सहायता करते हुए बाह्य प्रकृतिको बदल देती है।

*

हां। नीचे उतार लानेसे ऊपर उठना अधिक आसान है; उच्चतर चेतना भौतिक चेतनामें तथा मानसिक और प्राणिक चेतनामें उलझ जाती और रुद्ध हो जाती है।

*

भौतिक चेतनाके अन्दर अवतरणका होना अत्यन्त आवश्यक है। सूक्ष्म भौतिक चेतनाका कुछ अंश बराबर ही ऊपर जा सकता है—पर बाह्य भौतिक चेतना केवल तभी ऊपर जा सकती है जब ऊपरसे शक्ति उतरकर उसके अन्दर भर जाय। उस समय एक प्रकारका एकीकरण हो जाता है, उच्चतर चेतना तथा भौतिक चेतना एक अखण्ड चेतना बन जाती हैं और एक ही संग तथा परस्पर घुलमिलकर नीचेसे शक्तियां ऊपर उठती हैं और ऊपरसे नीचे उतरती हैं।

*

सत्यके अभिव्यक्त होनेके लिये ऊर्ध्वमुखी गति और निश्चल-नीरवताका होना अनिवार्य है।

*

जब सत्तासे अर्थात् विभिन्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तरसे पर्याप्त अभीप्सा उठती है तब आरोहण या ऊर्ध्व गति घटित होती है। इनमेंसे प्रत्येक बारी-बारीसे मनसे ऊपर उस स्थानपर आरोहण करता है जहां वह अतिमानससे मिलता है और फिर अपनी भी गतियोंको प्रारम्भ करनेकी प्रवृत्ति ऊपरसे ग्रहण कर सकता है। उच्चतरका अवतरण तभी होता है जब तुम्हारी सत्ता उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार हो जाती है और उसके विभिन्न स्तरोंमें एक प्रकारकी ग्रहणशील निश्चलता छा जाती है। चाहे उच्चतरकी ओर ऊपर उठनेकी अभीप्सा करनी हो या उच्चतरको ग्रहण करनेके लिये निष्क्रिय और उद्घाटित रहना हो, दोनों ही अवस्थाओंमें सत्ताके विभिन्न भागोंमें पूर्ण शान्ति-का होना आवश्यक है। यही सच्ची अवस्था है।

यदि तुम्हारी शान्त अभीप्सा या संकल्पशक्तिके अन्दर आवश्यक शक्ति नहीं है और यदि तुम समझते हो कि ऊपर उठनेमें थोड़ासा प्रयास तुम्हें सहायता

करेगा तो तुम एक सामयिक साधनके रूपमें उसका व्यवहार तबतक कर सकते हो जबतक कि स्वाभाविक उद्घाटन नहीं हो जाता और उसमें एक मौन पुकार या सरल प्रयासहीन संकल्प नहीं उदय हो जाते जो उच्चतर शक्तिकी क्रियाको प्रवृत्त करनेके लिये पर्याप्त हों।

*

साधना करते समय आधारकी प्रत्येक चीजमें एक समय ऊपर उठने और ऊपरके अपने मूल स्रोतके साथ युक्त होनेकी प्रवृत्ति होती है।

*

आधार वह है जिसमें चेतना इस समय समाई हुई है अर्थात् मन-प्राण-शरीर।

*

उच्चतर भूमिकामें निवास करना और वहांसे स्थूल भूमिकाकी क्रियाओंको एक पृथक् वस्तुके रूपमें देखना रूपान्तरकी ओर होनेवाली गतिका एक सुनिश्चित सोपान है।

*

यह साधनाका उद्देश्य है कि चेतना शरीरसे बाहर उठकर ऊपर अपना स्थान ग्रहण करे, —सर्वत्र विशाल रूपमें फैल जाय, शरीरसे सीमित न रहे। इस तरह मुक्त होनेपर मनुष्य उस स्थानसे ऊपर, साधारण मनसे ऊपर जो कुछ है उसकी ओर खुल जाता है, ऊंचे शिखरोंसे जो कुछ अवतरित होता है वह सब वहां ग्रहण करता है और नीचे जो कुछ है उसे वहांसे देखता है। इस तरह नीचे जो कुछ है उसका पूर्ण स्वतंत्रताके साथ निरीक्षण करना और सबको अपने वशमें करना, जो कुछ नीचे आता या शरीरमें प्रवेश करता है उस सबका ग्रहीता या प्रणाली बनना संभव है। यही क्रिया शरीरको एक उच्चतर अभिव्यक्तिका उपकरण बननेके योग्य तैयार करती है, एक उच्चतर चेतना और स्वभावमें उसे दुबारा गढ़ती है।

तुम्हारे अन्दर जो घटित हो रहा है वह यही है कि चेतना इस मुक्तिके अन्दर स्थापित होनेकी चेष्टा करती है। जब मनुष्य उस उच्चतर स्थानमें रहता है तब वह आत्माको स्वतन्त्रता, विशाल निश्चल-नीरवता और अक्षर शान्तिको प्राप्त करता है — पर इस शान्तिको नीचे शरीरतकमें, सभी निम्नतर स्तरोंमें उतार लाना होता है और उसे वहां इस तरह जमकर बैठ जाना होता है जैसे कोई चीज पीछेकी ओर विद्यमान् हो और समस्त क्रियाओंको धारण किये हुए हो।

*

तुममें कोई चीज ऐसी है जो उच्चतर चेतनाको जान चुकी है और ऊपर चली गयी है — मस्तकसे ऊपर जहां साधारण चेतना उच्चतर लोकोंसे मिलती है। इस चीजको तबतक विकसित करते रहना होगा जबतक कि चेतनाका संपूर्ण मूलस्रोत ही वहां नहीं आ जाता और बाकी सभी चीजें वहींसे परिचालित नहीं होने लगतीं — साथ ही चैत्य पुरुषकी मुक्ति भी प्राप्त हो जानी चाहिये जिसमें कि मन, प्राण और शरीरके भागोंमें ऊपरसे होनेवाली क्रियाको वह सहारा दे सके।

यह आत्मा — मनसे ऊपर विद्यमान आध्यात्मिक सत्ता है — इसका पहला अनुभव है निश्चल नीरवता और शान्ति (जिसे मनुष्य बादमें अनन्त और शाश्वतके रूपमें अनुभव करंता है), जो मन, प्राण और शरीरकी क्रियाओंसे अस्पष्ट होती है। उच्चतर चेतना सर्वदा आत्माके साथ संपर्क बनाये रहती है — निम्नतर चेतना अज्ञानकी क्रियाओंके द्वारा उससे विच्छिन्न होती है।

*

यदि तुम्हारी चेतना मस्तकसे ऊपर उठती है तो इसका अर्थ है कि वह साधारण मनसे परे ऊपरके चक्रमें जाती है जो उच्चतर चेतनाको ग्रहण करता है अथवा वह स्वयं उच्चतर चेतनाके ही ऊपर उठते हुए स्तरोंकी ओर जाती है। इसका पहला परिणाम है आत्माकी निश्चल-नीरवता और शान्ति जो उच्चतर चेतनाका आधार है; यह नीरवता और शान्ति पीछे निम्नतर स्तरोंमें, एकदम शरीरतक उतर सकती है। फिर ज्योति और शक्ति भी अवतरित हो सकती हैं। नाभि और उसके नीचेके चक्र प्राण और शरीरके चक्र हैं; उच्चतर शक्तिका कुछ अंश शायद वहां अवतरित हुआ होगा

*

परमपुरुषका साक्षात्कार करनेसे पहले बाह्य प्रकृति उच्चतर प्रकृतिमें कैसे उठ सकती है? उच्चतर प्रकृति, उस उच्चतर चेतनाकी प्रकृति है जिसका प्रथम आधार है शान्ति, विशालता और परम पुरुषका अर्थात् उस एकमेवका साक्षात्कार, जो सर्वरूप है।

*

दो क्रियाएं होती हैं — एक तो उच्चतर चेतनासे मिलनेके लिये निम्नतर चेतनाका आरोहण, दूसरी निम्नतर चेतनामें उच्चतर चेतनाका अवतरण। तुमने पहले जिसका अनुभव किया था वह सब अंगोंमेंसे निम्नतर चेतनाका ऊपरकी ओर इतना उद्दाम प्रवाह था कि उसने आन्तरिक मनके ढक्कनको तोड़ दिया — यही था ब्रह्मरन्ध्रका भेदन — और उसने दोनों चेतनाओंको पूर्ण होनेके लिये ऊपर जाने योग्य बना दिया। इसके परिणाम स्वरूप अवतरण हुआ। साधारणतया उच्चतर चेतनासे पहली वस्तु जो नीचे उतरती है वह है उसकी गहरी और अखण्ड शान्ति — दूसरी है प्रकाश, यहां श्रीमांका सफेद प्रकाश। जब उच्चतर चेतना नीचे उतरती है या उसका अतितीव्र अनुभव होता है तो साधारणतः सीमित व्यक्तिगत चेतनाका वैश्व चेतनाके भीतर उद्-घाटन होता है — व्यक्ति एकमात्र अस्तित्व रखनेवाली विशाल और असीम सत्ताका अनुभव करता है, शरीरके साथ तादात्म्यका यहांतक कि शरीरका बोध भी विलीन हो जाता है, सीमित व्यक्तिगत चेतना वैश्व सत्तामें खो जाती है। तुम्हें यह सब अनुभव पहले निर्व्यक्तिक ढंगसे हुआ, किन्तु चैत्य अग्निके जल उठनेके बाद तुमने भगवती माताकी सगुण-साकार विशालताका, विराट् चेतनाका अनुभव किया और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

*

यह बहुत अच्छा है। तुम्हारे भीतरसे जो विचार और भाव उदित होते हैं वें नवजात चैत्य प्रकृतिके विचार और भाव हैं।

तुम्हें शामके समय अपनी विचारधाराके बन्द हो जाने तथा अपनी अन्दर-की किसी चीजके सिरसे ऊपर उठनेका जो अनुभव हुआ वह साधनाकी क्रियाका ही एक अंग है। तुम्हारे शरीरमें नहीं, बल्कि तुम्हारे ऊपर, इसलिये सिरसे ऊपर एक प्रकारकी ऊंची चेतना है जिसे हम उच्चतर आध्यात्मिक या दिव्य चेतना, अथवा माताजीकी चेतना कहते हैं। जब हमारी सत्ता खुलती है तब

हमारे अन्दरका सब कुछ, मन (मस्तक), भावात्मक सत्ता (हृदय), प्राण, यहांतक कि भौतिक चेतनाका भी कुछ अंश इस महत्तर उच्चतर चेतनाके साथ युक्त होनेके लिये ऊपर उठता है। जब मनुष्य आंखें बन्दकर ध्यानमें बैठता है तो उसे ऊपर उठनेका बोध होता है जैसा कि तुमने लिखा है। इसे निम्न चेतनाका आरोहण कहते हैं। उसके बाद ऊपरसे चीजें, जैसे, शान्ति, हर्ष, ज्योति, शक्ति, ज्ञान आदि अवतरित होना आरम्भ करती हैं, और प्रकृतिमें एक महान् परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। इसे ही हम लोग उच्चतर (माताजीकी) चेतनाका अवतरण कहते हैं।

बेचैनीका जो तुम्हें अनुभव हुआ वह इस कारण हुआ कि प्रकृति अभी ऐसी क्रियाके लिये अभ्यस्त नहीं थी। इसका कोई महत्त्व नहीं है और यह चीज बहुत जल्दी दूर हो जाती है।

*

तुम जिन अनुभवोंका वर्णन करते हो वे परस्पर संगत हैं और उनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट रूपसे की जा सकती है। पहला यह बताता है तुम्हारे मनका कोई हिस्सा खुला हुआ था और इसने चैत्य-उद्घाटनकी सहायता पाकर तुम्हें ऊपरके क्षेत्रमें, अर्थात् मुक्त आध्यात्मिक मनके उन स्तरोंमें आरोहण करनेमें समर्थ बनाया जहां सर्वोच्च साक्षात्कारकी ओर ले जानेवाला आत्माका अनन्त पथ विद्यमान है। किन्तु शेष प्रकृति तैयार नहीं थी। उस समय अनुभवको फिरसे प्राप्त करनेके लिये खींचतान करना ठीक न था; उस समय करनी चाहिये थी प्रकृतिके शोधन और तैयारीकी अभीप्सा, स्थायी चैत्य-उद्घाटन और ऊपरकी ओर उच्चतर आध्यात्मिक उद्घाटनको तबतक विकसित करते जाना जबतक सत्ता पूर्णतया मुक्त होनेमें समर्थ न हो जाय। शक्तियोंकी क्रियाकी उग्रताका कारण था प्रतिरोध और सिरमें एवं प्रकृतिके विभिन्न भागोंमें ग्रन्थियोंका भेदन मुक्तिके लिये की गई उनकी क्रिया थी। मेरुदण्डमेंसे 'विद्युत' के गुजरनेका अनुभव शक्तिका केन्द्रोंमेंसे होकर रास्ता बनाते हुए नीचेकी ओर जाना था। स्पष्ट ही यह प्राणकी अर्थात् कामनामय प्रकृतिकी प्रतिरोध करनेवाली अन्धकारमय शक्ति है, जो उभरका हृदय तक सभी भागोंको आच्छादित कर देती है। दूसरी तरफ, ऊपरसे आनेवाला प्रवाह और उससे उत्पन्न मुक्ति, इस वस्तुका चिह्न है कि ऊपरका उद्घाटन अब भी विद्यमान है; क्योंकि प्रकृतिकी निश्चल नीरवता और अचंचलता ऊपरसे प्राप्त स्पर्श है और वह शोधन एवं मुक्तिके लिये बहुत आवश्यक है। कमी है केवल हृदयके पीछे स्थित

चैत्य सत्ताके पूर्ण उद्‌घाटनकी—क्योंकि वही हृदयको अन्धकारमयी शक्तिसे मुक्त कर सकता है और वही अस्तव्यस्त व्यापार और संघर्षसे युक्त उग्र क्रियाके स्थानपर शान्त और स्थिर क्रिया द्वारा शेष भागकी भी शुद्धिको संभव बना सकता है। जब आध्यात्मिक मनमें तो उद्‌घाटन होता है पर चैत्य परिवर्तन पर्याप्त नहीं होता तो शक्तिकी इस प्रकारकी उग्र क्रिया एवं प्रतिरोध होता है या हो सकता है; जब चैत्य उद्‌घाटित होता है तो वह समग्र प्रकृति अर्थात् मन, प्राण और शरीरपर अपनी क्रिया करता है; उन्हें अन्दरसे नियंत्रित करता है, जिससे वे अपनेको रूपान्तरित कर लें और पूर्ण आध्यात्मिक उद्‌घाटन एवं आध्यात्मिक चेतनाके लिये तैयार हो जाय। भक्ति और अधिकाधिक पूर्ण आन्तर आत्म-निवेदन चैत्य उद्‌घाटनका सर्वोत्तम मार्ग है।

*

ऐसा होना अच्छा है—चैत्य चेतनाका जागरण तथा बाकी सत्तापर उसका अधिकार साधनाका एक अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य तत्त्व है।

यह वह चीज है जिसे हम उच्चतर या आध्यात्मिक चेतना कहते हैं—यह सभी उच्चतर स्तरों, उच्चतर लोकोंको अपने अन्दर धारण करती या उन्हें सहारा देती है। जब मनुष्य बराबर इसे अपने ऊपर अनुभव करने लगता है तब ऐसा समझना चाहिये कि यह साधनाका आगेका एक बहुत बड़ा पग है; उसके बाद चेतना वहां ऊपर उठ सकती है और वहांसे मन, प्राण और शरीरमे जो कुछ है उसे देख सकती, पहचान सकती और वशमें कर सकती है। यह आरोहण करनेवाली और अवतरण करनेवाली शक्तियोंका मिलन-स्थान है जैसा कि तुम देखते हो।

*

जो कुछ तुम ऊपर देखते हो वह निस्संदेह यथार्थ या उच्चतर चेतना—श्रीमांकी चेतना—है, जिसमें मनुष्य सारे संसारको एक अखण्ड वस्तु-के रूपमें, मुक्ति, शान्ति और ज्योतिसे भरी एक विशाल उन्मुक्त चेतनाके रूपमें देखता है—यह वही चीज है जिसे हम उच्चतर या दिव्य चेतना कहते हैं। यदि यह आती और चली जाती है तो भी हृदयपर जो इसका प्रभाव पड़ता है वह यह सूचित करता है कि चैत्यके द्वारा उसके साथ एक संबंध स्थापित हो गया है—क्योंकि चैत्य हृदयके पीछे विद्यमान है। वह मस्तकसे

ऊपर विद्यमान है ताकि चेतना वहां ऊपर उठे और वहीं रहे; साथ ही यह नीचे मस्तक, हृदय, निम्नतर प्राण और भौतिक चेतनामें भी उतरती है और वहां अपनी विशालता, ज्योति, शान्ति और स्वतन्त्रता ले आती है।

*

जो कुछ तुमने अनुभव किया वह बिलकुल ही कोई कल्पना नहीं था, बल्कि वह एक ऐसा सामान्य अनुभव था जो लोगोंको उस समय होता है जब उनकी चेतना शरीरसे बाहर ऊपर उठती है और मस्तकके ऊपर जाकर स्थित होती है। उस समय मनुष्य भौतिक चेतना या शरीरके बोधसे बन्धा नहीं रहता — उस समय शरीर केवल एक यंत्र बन जाता है, चेतनाका एक छोटा-सा अंश रह जाता है जिसे पूर्ण बनना है। मनुष्य अपनी वर्तमान बद्ध और सीमित भौतिक चेतनाके स्थानमें एक बृहत्तर मुक्त आध्यात्मिक चेतनामें प्रवेश कर जाता है। यदि शरीरसे ऊपर उठनेकी यह क्रिया बराबर होती रहे और अन्तमें चेतनाको ऊपर ही बनाये रखना सम्भव हो जाय तो यह तुम्हारी प्रगतिका एक महान पग होगा। सच पूछा जाय तो भौतिक चेतनामें अवरुद्ध रहना ही तुमको (और प्रत्येक व्यक्तिको) संकीर्ण, स्वार्थांध और दुःखी बनाता है। अबतक उच्चतर चेतना अपनी शान्ति आदिके साथ बहुत कठिनाईसे तुम्हारे अन्दर अवतरित होती रही है और प्राणिक और भौतिक बाधाओंके साथ संघर्ष करती रही है। यदि उच्चतर चेतनामें ऊपर जाकर इस मुक्तिको बनाये रखा जा सके तो फिर वह कठिनाई नहीं रहेगी। फिर भी बहुत कुछ करना बाकी रहेगा, पर साधनाकी नींव पड़ जायगी।

*

साधारणतया चेतना शरीरमें आबद्ध होती है, मस्तिष्क, हृदय और नाभि-केंद्रमें (मानसिक, भावमय, संवेदनात्मक केंद्रमें) केंद्रित होती है। यदि तुम इसे या इसके कुछ अंशको ऊपर जाते और सिरके ऊपर स्थित होते हुए अनुभव करते हो तो इसका मतलब है शरीरकी व्यवस्थासे आबद्ध चेतनाकी मुक्ति। तुम्हारे अन्दरकी मानसिक सत्ता इस तरह ऊपर जाती है, साधारण मनसे उच्चतर किसी चीजके साथ संस्पर्श स्थापित करती है और वहांसे रूपान्तरके लिये बाकी सत्ताके ऊपर उच्चतर मनःसंकल्पका प्रयोग करती है। कंपन और उष्णता बाधाके कारण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि शरीर और प्राणमें इस मांग

या इस मुक्तिके अभ्यासका अभाव है। जब मानसिक चेतना इस प्रकार ऊपर स्थायी रूपसे रह सकेगी या जब इच्छा हो तभी ऊपर जा सकेगी तब यह प्रथम मुक्ति सिद्ध हो जाती है। वहांसे मानसिक सत्ता अबाध रूपसे उच्चतर लोकोंकी ओर अथवा विश्व-सत्ता और उसकी शक्तियोंकी ओर खुल सकती है और कहीं अधिक स्वतंत्रता और शक्तिके साथ निम्नतर प्रकृतिपर कार्य भी कर सकती है।

*

कभी-कभी मनुष्य सिरसे ऊपर उठनेका अनुभव करता है। मैं समझता हूँ कि उसे यही अनुभव हुआ था, परन्तु वह उसका मन था (जब कि वह महज शरीरसे बाहर जाना नहीं था) जो उच्चतर मानस-लोकोंमें ऊपर गया था। मनसे ऊपर जानेके लिये मनुष्यको पहले मनसे ऊपर स्थित अपने आत्माको प्राप्त करना और उसमें निवास करना होगा।

*

चिन्ताओंसे मुक्ति और मन एवं शरीरका हल्कापन बहुत अच्छे परिणाम हैं। साधारणतया वे तुरन्त स्थायी नहीं हो जाते — हां, यदि वे बारम्बार या साधारणतया आयें तो बस इतना ही पर्याप्त है।

छाती और सिरका ऊपर उठना सूक्ष्म शरीरके संवेदन हैं — इसका अर्थ है कि मन और हृदयकी चेतना (अर्थात् चिन्तनशील मानसिक और भाव-प्रधान चेतना) सिरके ऊपर स्थित आध्यात्मिक चेतनाकी भूमिकासे मिलनेके लिये ऊपर उठ रही हैं।

शब्द चेतनाके उद्घाटनका और आन्तरिक शक्तिकी क्रियाका चिह्न है। योगके अभ्यासियोंको ऐसे सूक्ष्म शब्द बहुधा ही सुनाई पड़ते हैं।

*

जब चेतना ऊपर केंद्रित हो जाती है तो कहा जा सकता है कि वह ऊपरके केंद्रमें प्रतिष्ठित हो गई। इसका आशय यह नहीं कि निम्नतर भागोंमें चेतना नहीं रही।

*

मनुष्य ऊपरसे कुछ प्रभावोंको पा सकता है, पर जबतक उसका मन उच्चतर अचंचलता, शान्ति, निश्चल-नीरवता आदिसे भर नहीं उठता तबतक वह प्रत्यक्ष संपर्क नहीं प्राप्त कर सकता। ये प्रभाव क्षीण हो जाते हैं, मन और प्राणमें आकर उनके तद्रूप हो जाते हैं और अपने मूल स्वभावमें उच्चतर लोकों-की शक्तियां नहीं रह जाते। और यह चीज चेतनाके सभी स्तरोंकी गुप्त शक्तियों-को अपने अधिकारमें कर लेनेके लिये भी — इसे ही शायद वह गुह्यविद्या कहता है — यह पर्याप्त नहीं है।

*

यह बिलकुल स्वाभाविक है। उच्चतर लोक वे लोक नहीं हैं जिनके विषयमें साधारणतया लोग सचेतन होते हैं और वह उनके सीधे प्रभावकी ओर भी खुला हुआ नहीं है — मानव मनके अत्यन्त निकटके लोकोंके कुछ अप्रत्यक्ष प्रभावोंकी ओर ही वह खुला है। वे केवल एक गंभीर आन्तरिक स्थितिमें या समाधिकी अवस्थामें ही उन लोकोंतक जा सकता है और जितना ऊंचा वह जायगा उसके लिये समाधिमें भी उनके विषयमें सचेतन होना उतना ही कम आसान होगा। यदि तुम अपनी आन्तर सत्ताके विषयमें सचेतन न होओ तो समाधिमें सचेतन रहना अधिक कठिन होगा।

*

(भगवान्‌के साथ) अप्रत्यक्ष सम्बन्ध तब होता है जब व्यक्ति सामान्य चेतनासे ऊपर उठनेमें असमर्थ होते हुए उसीमें निवास करता है और ऊपरके प्रभावोंको यह जाने बिना ही कि वे कहांसे आते हैं अथवा उनके उद्गमको अनुभव किये बिना ही ग्रहण करता है।

*

क्या तुम ऊपर उठनेपर उच्चतर सत्ताको विशाल और अनन्त अनुभव करते हो? जब तुम वहां होते हो तब क्या तुम उसे अनन्ततामें फैली हुई अनु-भव करते हो? क्या तुम समस्त विश्वको अपने अन्दर, अपनेको सर्वभूतस्थ आत्माके साथ एक अनुभव करते हो? क्या तुम एक ही विश्वशक्तिको सर्वत्र कार्य करते हुए अनुभव करते हो? क्या तुम अपने मनको विश्व-मनके साथ

एकात्म अनुभव करते हो? अपने प्राणको विश्व-प्राणके साथ एक अनुभव करते हो? अपने शरीरके जड़तत्त्वको विश्वव्यापी जड़तत्त्वके साथ एक अनुभव करते हो? पृथकात्मक अहंको असत्य अनुभव करते हो? शरीरको अब एक प्रकारका सीमाबन्धन नहीं अनुभव करते? महज यह कहनेसे क्या लाभ कि उच्चतर सत्ता विशाल और अनन्त है? जब तुम उच्चतर सत्तामें रहते हो तब क्या ये अनुभव तुम्हें होते हैं और यदि नहीं होते तो क्यों नहीं होते? आन्तरसत्ता बड़ी आसानीसे इन सब अनुभूतियोंके लिये खुल जाती है, बाहरी सत्ता नहीं खुलती? अतएव जबतक तुम्हारी आन्तरिक सत्ता अपने विषयमें सचेतन नहीं हो जाती तबतक महज ऊपर उठना केवल एक उच्चता प्रदान करता है अथवा अन्य लोकोंका कुछ अस्पष्ट बोध देता है, ये सब ठोस अनुभूतियां नहीं प्रदान करता।

*

मेरा मतलब है कि यह (आन्तरिक चेतना) वहां स्थापित हो गयी है, यद्यपि वह आच्छादित है। एक बार जब वह वहां आ जाती है तब शक्तिका अवतरण आदि अधिक और लगातार होता है अथवा कमसे कम अधिक बार होता है। बाहरी प्रकृतिकी कठिनाइयोंके साथ फिर भी निपटना होता है, पर इस आन्तर चेतनाको अपना आधार बनाकर यह कार्य अधिक सुरक्षित और प्रभावशाली रूपमें किया जा सकता है।

दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। एक तो है कि चेतना वास्तवमें शरीरसे बाहर जाती है—पर उससे गहरी नींद या समाधि लग जाती है। दूसरी है, चेतना शरीरसे बाहर ऊपर उठती है और शरीरसे बाहर स्थित हो जाती है—ऊपर और चारों ओर विस्तृत रूपमें फैली हुई। यह योगीकी जागृत अवस्थामें भी एक स्थिति हो सकती है—वह अपनेको शरीरमें नहीं अनुभव करता बल्कि वह शरीरको ही अपने विशाल मुक्त आत्मामें अनुभव करता है, वह शरीर-चेतनाकी सीमासे मुक्त हो जाता है।

*

दो अलग-अलग अनुभूतियां हैं और तुम्हारे वर्णनसे ऐसा लगता है कि वे दोनों एक साथ हुई हैं।

1. चेतनाका शरीरसे बाहर निकल जाना। चेतनाका कुछ भाग—

मानसिक, प्राणिक या सूक्ष्म भौतिक चेतना या सभी एक साथ —शरीरसे बाहर ऊपर उठता है और शरीरको एक गभीर अन्तर्मुखी स्थितिमें, नींद या समाधिमें छोड़ देता है। वह अकेले अन्य लोकोंमें अथवा कमरेमें और बाहर अथवा पृथ्वीलोकमें चारों ओर विचरण करता है। ऐसी अवस्थाओंमें शरीर नीचे या कमरेमें पड़ा हुआ दिखायी दे सकता है, वैसे ही स्पष्ट रूपमें दिखायी दे सकता है जैसे कोई किसी पृथक् वस्तुको अपनी स्थूल आंखोंसे देखता है। जैसा भय तुम्हें हुआ वैसा भय बाहर निकलनेकी ऐसी अवस्थाओंमें हो सकता है और चेतनाको बड़ी तेजीके साथ शरीरमें वापस ले आ सकता है।

2. चेतनाका एक ऐसी जगहमें आरोहण करना, जो शरीरमें नहीं बल्कि उससे ऊपर है। चेतना इस तरह आरोहण कर सकती है और इस बोधके साथ अधिकाधिक ऊपर उठ सकती है कि साधारण मनके ऊपरके क्षेत्रोंमें प्रवेश कर रही है। साधारणतया यह आरम्भमें बहुत दूर नहीं जाती पर बार-बार इस अनुभवके होनेपर बराबर अधिक ऊपर जानेकी क्षमता प्राप्त करती है। इस अनुभवके अन्तमें वह शरीरमें वापस आ जाती है। परन्तु निश्चित रूपसे एक उत्थान भी होता है जिससे चेतना ऊपर जाकर स्थायी रूपसे अपना स्थान ग्रहण कर लेती है। अब वह शरीरमें नहीं होती और न उससे सीमित ही होती है। वह केवल अपनेको शरीरसे ऊपर ही नहीं अनुभव करती बल्कि चारों ओर आकाशमें विस्तारित भी अनुभव करती है। शरीर उसके उच्च स्थानके नीचे होता है और उसकी विस्तारित चेतनासे घिरा हुआ होता है। निस्संदेह, कभी-कभी विस्तारका अनुभव केवल ऊपर उच्चतर स्तरमें होता है और नीचेके आच्छादित करनेवाले विस्तारका अनुभव कुछ पीछे आता है। परन्तु इसका स्वभाव सुनिश्चित, असंदिग्ध होता है, यह महज एक अनुभव नहीं होता बल्कि एक उपलब्धि, सिद्धि होता है, एक स्थायी परिवर्धन होता है। यह शरीरके साथ हमारे तादात्म्यसे मुक्ति ले आता है; उस समय सत्ताकी विशालताके अन्दर शरीर केवल एक स्थिति, सत्ताका एक यंत्ररूप अंग बन जाता है; अथवा ऐसा अनुभव होता है कि शरीर कोई बहुत छोटी चीज है अथवा यहांतक कि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उस समय ऐसा लगता है मानों एक विशाल, लगभग अनन्त चेतनाके सिवा और कुछ अनुभूत नहीं होता, ऐसा भान होता है मानो वह चेतना ही हम हैं यदि वह चेतना एकदम अनन्त नहीं लगती तो वह कुछ ऐसा तो लगता ही है जिसे हम अभी सीमाहीन सान्त कहते हैं।

यह नयी चेतना ऊपरसे आनेवाले समस्त ज्ञानकी ओर खुली होती है, पर वह मस्तिष्कसे नहीं सोचती जैसे कि साधारण मन करता है—उसके

पास चिन्तनसे भिन्न जाननेका दूसरा और विशालतर साधन है। किसी पद्धति-विशेषके द्वारा चक्रोंको खोलनेकी कोई जरूरत नहीं — चक्र तो वास्तवमें खुले ही हैं, अन्यथा यह आरोहणकी क्रिया संपन्न ही नहीं हुई होती। इस योगमें चक्रोंका उद्घाटन अपने-आप होता है—हम जिसे उद्घाटन कहते हैं वह चक्रोंका उद्घाटन नहीं है बल्कि वह स्वयं चेतनाकी एक क्षमता है जिससे वह विभिन्न स्तरोंपर ऊपरसे होनेवाले उच्चतर चेतनाके अवतरणको ग्रहण करती है। आरोहणके द्वारा निश्चय ही मनुष्य ऊपर से ज्ञानको उतार ला सकता है; परन्तु उससे भी विशालतर क्रिया है ऊपरसे उसे ग्रहण करना और निम्नतर मनोमय स्तर तथा दूसरे स्तरोंमें प्रवाहित होने देना। यहां मैं यह भी जोड़ दूँ कि इन सभी स्तरोंपर मन, हृदय तथा उसके नीचेके भागोंमें, भौतिक सीमाबन्धनसे एक प्रकारकी मुक्ति, एक प्रकारकी विशालता आती है जो फिर शरीरके साथ तादात्म्य नहीं होने देती।

इस अनुभवमें सामान्यतया वह भय नहीं होता जो तुम्हें हुआ, अवश्य ही यदि शरीर चेतनामें यह अनुभव हो तो दूसरी बात है, शरीर इस क्रियासे परिचित न होनेके कारण आतंकित हो जाता है और उसे शंका होती है कि कहीं उसे छोड़ या फेंक न दिया जाय। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है और सामान्यतया बार-बार नहीं होता। इसलिये संभव है कि उस अनुभवके साथ-साथ शरीरसे बाहर निकलनेका भी अनुभव लगा हुआ हो। तुम लिखते हो कि तुम चाहो जब शरीर छोड़ने या उसमें घुस आनेमें समर्थ थे; परन्तु यह क्षमता शरीरसे बाहर निकल जानेकी क्रियाका ही सूचक है—चेतनाका आरोहण होनेपर आरोहण और अवतरण आसान और साधारण क्रिया बन जाती है और ऊपर एक उच्चतर स्थानमें स्थित हो जानेकी सुनिश्चित उपलब्धि हो जानेपर वास्तवमें चेतना नीचे नहीं आती, केवल उसका एक भाग शरीरमें अथवा निम्नतर स्तरोंमें कार्य करनेके लिये नीचे उतर सकता है जब कि स्थायी रूपसे ऊपर स्थित सत्ता जो कुछ अनुभूत या संपन्न होता है उसपर अध्यक्षता करती है।

*

अनुभवकी भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं जिनमें 'शरीरसे बाहर ले लिया गया' उक्ति लागू होगी। एक अनुभूति है जिसमें मनुष्य शरीरके चक्रोंसे ऊपर चेतना-के उस चक्रमें जाता है जो स्थूल मस्तकसे ऊपर फैला है और वहां एक ऐसा स्थान ग्रहण करता है जिसमें वह शरीर-बोधकी अधीनता और उसके भारी

बन्धनसे मुक्त हो जाता है तथा इसके साथ-साथ निश्चय ही एक प्रकारके हलके-पनका साधारण बोध लगा होता है। उस समय मनुष्य उच्चतर चेतना और उसकी शक्ति एवं क्रियाके साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर सकता है। परन्तु तुम्हारे वर्णनसे यह बात बहुत स्पष्ट नहीं होती कि आया यही घटित हुआ या नहीं। फिर, श्वास-प्रश्वासकी कुछ क्रियाएं हैं जिनमें मुक्ति या आरोहणकी स्थिति जुड़ी होती है। परन्तु यहांपर श्वास शायद सामान्य रूपमें प्राण-तत्त्वको सूचित करता है।

*

यह बहुत सामान्य अनुभव है। इसका मतलब है कि एक क्षणतक तुम अपने शरीरमें नहीं थे, बल्कि शरीर-चेतनासे किसी प्रकार ऊपर या बाहर थे। कभी-कभी यह चीज उस समय घटित होती है जब प्राण-सत्ता मस्तकसे ऊपर उठ जाती है अथवा, अधिक विरल रूपमें जब वह भौतिक संपर्कसे बाहर अपने निजी कोष (सूक्ष्म शरीरके एक भाग) में प्रसारित होती है। परन्तु यह चीज शरीर चेतनाके साथ स्थापित तादात्म्यसे हठात् — यद्यपि क्षणिक —मुक्ति होनेपर भी आती है, और यह मुक्ति बार-बार आ सकती और देरतक बनी रह सकती या स्थायी भी हो सकती है। उस समय शरीर इस तरह अनुभूत होता है मानों वह कोई पृथक् चीज हो या चेतनाके अन्दर कोई एक तुच्छ परिस्थिति हो अथवा कोई ऐसी चीज हो जिसे हम अपने साथ वहन करते हों आदि-आदि, यथार्थ अनुभव नाना प्रकारका होता है । यहांपर बहुतसे साधकोंको यह अनुभव हुआ है। जब मनुष्य अभ्यस्त हो जाता है तब इसकी विलक्षणता (स्वप्नलोक आदि) दूर हो जाती है।

*

शरीरके सूक्ष्म अंश ही ऊपर जाते हैं। बाह्य चेतना भी ऊपर जा सकती है, पर उस समय पूर्ण समाधिकी अवस्था आ जाती है। इस साधनामें पूर्ण समाधि बहुत उपयोगी नहीं है।

*

यदि सब कुछ ऊपर चला गया होता तो फिर शरीरमें बना रहना संभव

न होता। कुछ चेतना बराबर बनी रहती है और इसलिये व्यक्तित्वका कुछ अंश शरीरको आश्रय दिये रहता है।

*

नहीं, स्वयं शरीर ऊपर नहीं जा सकता — वह कैसे जा सकता है? शरीर तो चेतनाको भौतिक जगत्‌के साथ जोड़े रखनेके लिये बना है।

*

एकबार जब सत्ता या उसके विभिन्न भाग ऊपरके लोकोंमें चढ़ना आरम्भ कर देते हैं तब सत्ताका कोई भी भाग ऐसा कर सकता है, चाहे वह सम्मुखका भाग हो या दूसरा। इस संस्कारसे हमें मुक्त होना होगा कि ऊपर जानेके बाद मनुष्य वापस नहीं आ सकता। मनके ऊपरी शिखरपर या जो लोक मनके लिये अभी अतिचेतन हैं उनमें कहीं भी जानेपर निर्वाणका अनुभव हो सकता है; आत्मामें आरोहण करनेपर, अध्यात्मभावापन्न मनको ऐसा बोध होता कि एक अतिचेतन निश्चल-नीरवता और अनन्ततामें, जिसे वह समझ नहीं सकता, जो अज्ञेय है, उसका लय हो गया है, स्वयं वह, उसके विचार, गतिविधियां, संस्कार सब विलीन हो गये हैं। परन्तु यह चीज केवल तभी निर्वाणकी कोई अवस्था ला सकती या उसमें ले जा सकती है जब कि हम निर्वाणको अपना लक्ष्य बनावें, जब कि हम मनसे बँधे हों और अनन्तमें उसका विलय हो जानेको स्वयं अपनी सत्ताका ही विलय मान लें अथवा जब कि हममें मानसिक स्तरके ऊपरके किसी उच्च स्तरमें अपने अनुभवको सुसंगठित करनेकी क्षमता ही न हो। परन्तु, जब ऐसा नहीं होता तब, जो कुछ अतिचेतन — हमारे लिये चेतनातीत, अबोध्य होता है वह बोध्य हो जाता है, हम या तो उच्चतर स्तरों-की क्रियाशक्तिको अधिकृत करना या उसका यंत्र होना आरम्भ कर देते हैं और वहां एक क्रिया होती है जो निर्वाणमें जाकर मुक्त होनेकी क्रिया नहीं होती बल्कि मुक्ति और रूपान्तरकी क्रिया होती है। चाहे जितना भी ऊपर कोई क्यों न जाय, वह बराबर ही वापस आ सकता है बशर्त्ते कि वह वापस न आनेकी इच्छा ही न करे।

*

ये सब साधनाकी सामान्य और सार्वजनीन अनुभूतियां हैं। ये तब आतीं हैं जब ऊपरसे कोई उद्घाटन होता है — ब्रह्म, आत्मा या भगवान्की शान्तिका संस्पर्श और उच्चतर दिव्य शक्तिका, विश्वजननीकी शक्तिका संस्पर्श प्राप्त होता है। यह एकदम स्वाभाविक है कि वह यह नहीं जानता कि ये क्या हैं, पर बहुत सही-सही अनुभव करता है और उसका वर्णन एकदम ठीक है। "यह सब कितना सुन्दर, शान्त और अचंचल प्रतीत होता है — मानों पानीमें एक भी तरंग न उठती हो। पर यह सब 'शून्य' नहीं है। मैं एक सत्ताका अनुभव करता हूँ जो जीवनमें डूब गई है पर है पूर्णतः नीरव और शान्त-स्थिर-ध्यानस्थ",—इस अनुभवका, भगवान्की शान्ति और निश्चल-नीरवताकी, अपनी मौलिक शान्ति और नीरवतामें स्थित स्वयं भगवान्की अनुभूतिका इससे बढ़िया वर्णन मुश्किलसे ही किया जा सकता है। फिर दिव्य शक्तिके विषयमें जो वह अनुभव करता है वह भी बिलकुल सही है, "अभिव्यक्त सृष्टि (मन-जड़तत्व) के ऊपरकी कोई शक्ति, पीछे विद्यमान कोई शक्ति जो उस शक्तिसे पृथक् है जो भावावेगों, काम, क्रोध आदिको उत्पन्न करती है जो सब धीरे-धीरे पवित्रीकृत और रूपान्तरित होते हैं", दूसरे शब्दोंमें, दिव्य या आध्यात्मिक शक्ति, उस विश्वव्यापी प्राणशक्तिसे भिन्न जो साधारण मूर्त्तिमान् चेतनाको धारण करती और सहारा देती है; यह भी बहुत स्पष्ट है। मैं समझता हूँ कि अभी यह एक संस्पर्शमात्र है, पर एक बहुत सच्चा और सुस्पष्ट संस्पर्श है क्योंकि यह इतना साफ और सच्चा अनुभव उत्पन्न करता है, ऐसा लगता है कि वह (अपनी साधनाको) बहुत अच्छे ढंगसे प्रारम्भ करने जा रहा है।

*

अपनी चिट्ठीमें तुमने जिस अनुभवका वर्णन किया है वह शरीरसे स्वतंत्र सच्चे आत्माकी अनुभूतिकी एक झांकी है। जब यह अनुभूति स्थायी हो जाती हैं तो मनुष्यको मुक्ति प्राप्त हो जाती है, केवल शरीर ही नहीं बल्कि प्राण और मन भी केवल करण अनुभूत होते हैं और मनुष्यका आत्मा शांत-स्थिर, स्वयंभू, मुक्त और विशाल या अनन्त अनुभूत होता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर चैत्य पुरुषके लिये यह संभव हो जाता है कि वह उस मुक्तिकी अवस्थामें प्रकृति का पूर्ण रूपान्तर साधित करे। पहलेके तुम्हारे सभी अनुभव इसीकी तैयारी कर रहे थे, परन्तु भौतिक चेतना आड़े आ गई। अब जब कि तुम्हें शरीरसे पृथक् आत्माकी झांकी मिल गई है, यह भौतिक कठिनाई बहुत शीघ्र दूर हो जायगी।

*

जब उच्चतर चेतनामें जानेपर सबसे पहले निश्चल-नीरवताका अनुभव होता है तब वहां कालका अनुभव नहीं होता — वहां केवल शुद्ध सत्का, चेतना, शांति या एक प्रबल निर्विशेष आनन्दका बोध होता है। यदि दूसरी कोई चीज उसमें आती है तो वह इस कालरहित स्वयंभू सत्ताके ऊपरीतलपर होनेवाली कोई गौण क्रिया होती है। यह अनुभव और इसके साथ आनेवाला मुक्तिका बोध मनकी निश्चलताका परिणाम होता है। और भी उच्चतर स्तरपर यह शांति और मुक्ति बनी रहती हैं पर एक महत्तर तथा मुक्त सक्रिय क्रियाके साथ मुक्त हो सकती है।

*

आत्मा या विशुद्ध सत्में कोई देश या काल नहीं हैं — सिवाय आध्यात्मिक देश या विस्तारके।

*

हां — आत्माकी नीरवतामें कोई काल नहीं है — वह 'अकाल' है।

*

तुम्हें जो यह अनुभव हुआ कि कोई चीज तीरकी भांति तुम्हारे सिरसे बाहर निकल गई, वह शायद यह सूचित करता है कि कोई चीज मानसिक चेतनासे बाहर निकलकर किसी लक्ष्य या उद्देश्यकी ओर चली गई। कभी-कभी स्वयं मानसिक चेतनाका एक अंश इस भांति या तो ऊपरकी ओर किसी उच्चतर लोकमें या अपने चारों ओरके जगत्में किसी स्थानपर चला जाता है और पीछे लौट आता है। कभी-कभी इस तरह बाहर जानेवाली चीज या तो कोई विचार-शक्ति होती है या संकल्प-शक्ति। शक्तियां सर्वदा ही, हमारे अनजानेमें भी, हमसे बाहर जाती हैं और वहां उनका बहुधा कुछ परिणाम भी उत्पन्न होता है। यदि हम किसी मनुष्य या स्थानकी बात और वहां घटित होनेवाली किसी चीजकी बात सोचते हैं तो उस व्यक्ति या स्थानतक कोई चीज इस तरह जा सकती है। यदि हमारे अन्दर यह इच्छा या प्रबल मानसिक कामना होती है कि अमुक चीज घटित हो तो एक संकल्प-शक्ति बाहर जा सकती और उसे घटित करानेकी चेष्टा कर सकती है। परन्तु ऊपरी चेतनामें

कोई सज्ञान कारण न होनेपर भी आन्तर मनसे शक्तियां बाहर जा सकती हैं।

योगीका दर्शन जो हुआ वह उच्चतर लोकोंकी किसी सत्ताका दर्शन हो सकता है। अथवा वह शिवका कोई एक रूप हो सकता है। कमलके फूल यह सूचित करते हैं कि उन-उन स्थानोंमें चेतना पूर्णरूपसे विकसित हो गई है।

तुम जो ऐसे आत्मदानकी कामना करते हो जिसमें कोई मांग न हो वह चैत्य पुरुषका पूर्ण उद्घाटन होनेपर अवश्य पूर्ण होगी।

आजकी घटनाके विषयमें तुमने जो अन्तमें मनोभाव ग्रहण किया है वह ठीक है — अपने निजी पूर्णत्वके लिये प्रयास करना और दूसरोंकी किसी भी भूलसे विक्षुब्ध न होना बल्कि उनकी पूर्णताके लिये एक मौन संकल्पके साथ प्रत्युत्तर देना भी सदा ही सही मनोभाव है।

*

उसे जो एक पर्वत-शिखरपर सुनहली ज्योतिके महान् विस्तारका अनुभव हुआ उसका कारण यह था कि मैंने उसे ऊपरकी चेतनाके उच्चतर अनुभवोंके लिये अभीप्सा करनेको कहा था। शिखरपर प्रकाशके साथ पर्वतका प्रतीकात्मक दृश्य ऐसे अधिकांश साधकोंको दिखाई देता है जिनमें सूक्ष्म दर्शन प्राप्त करनेकी थोड़ी भी क्षमता होती है। पर्वत है चेतना जो पृथ्वी (भौतिक स्तर) से क्रमबद्ध ऊंचाइयों (प्राणमय, मनोमय, मानसोत्तर स्तरों) मेंसे होती हुई आध्यात्मिक गगनकी ओर ऊपर उठती है। सुनहली ज्योति सर्वदा ही उच्चतर सत्य (अतिमानस, अधिमानस या उससे थोड़ा नीचे विशुद्ध संबोधि)की ज्योति होती है और यह सत्ताके शिखरोंपर एक महान् प्रकाशमय विस्तारके रूपमें प्रकट होती है। 'अ' ज्योतिपर एकाग्र होनेके कारण उच्चतर स्तरोंके संपर्कमें आ गई और उससे बराबर ही ये परिणाम प्राप्त होते हैं: शान्ति, हर्ष, शक्ति, भगवान्‌की शक्तिके अन्दर सुरक्षित चेतना आदि प्राप्त होते हैं। निःसंदेह उसे यह संपर्क चैत्य पुरुषके द्वारा प्राप्त हुआ पर स्वयं अपने-आपमें यह अनुभव उतना चैत्य अनुभव नहीं था, बल्कि कहीं अधिक मनसे ऊपरकी उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाका अनुभव था।

ध्यानका स्वरूप सत्ताके उस भागपर निर्भर करता है जिसमें मनुष्य उस समय केंद्रीभूत होता है। शरीरमें (बल्कि यों कहें कि स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीरमें, पर स्थूल भौतिक शरीरके उनसे मिलते-जुलते अंगोंके साथ संबंधित भी) सत्ताके प्रत्येक स्तरसे संबंधित कई चक्र हैं। एक चक्र सिरके

ऊपरी भागपर और उससे ऊपर है जो मानसोत्तर चेतना या उच्चतर चेतनाका चक्र है; एक चक्र दोनों भौंहोंके बीच ललाटमें है जो चिन्तनशील मन, मानसिक-संकल्प, मानसिक दर्शनका चक्र है; गलेमें एक चक्र है जो अभिव्यंजनात्मक या बाह्य रूप देनेवाले मनका चक्र है; ये सब मनोमय चक्र हैं। नीचे आता है प्राण — हृदय (भावावेग), नाभि (सक्रिय प्राण-चक्र), दूसरा नाभिसे नीचे तलपेटमें जो निम्नतर या संवेदनात्मक प्राण-केंद्र है। अन्तमें, मेरुदण्डके एकदम नीचे है मूलाधार या भौतिक केंद्र। हृदयके पीछे है चैत्य केन्द्र। यदि कोई सिरमें एकाग्र होता है, जैसा कि बहुतसे लोग करते हैं, तो वह मनोमय-आध्यात्मिक ध्यान करनेकी चेष्टा करता है; यदि हृदयमें एकाग्र होता है तो वह चैत्यध्यान होता है; ये ही हैं साधारण स्थान जहां लोग अपना ध्यान एकाग्र करते हैं। परन्तु सबसे पहले जो कुछ ऊपर उठता है या खुलता है वह मनोमय या चैत्य भाग नहीं हो सकता बल्कि भावावेगमय या प्राणमय भाग हो सकता है; वह स्वभावपर निर्भर करता है — क्योंकि उसमें जिसका खुलना सबसे अधिक आसान होता है उसीकी सबसे पहले खुलनेकी संभावना होती है। यदि यह उद्घाटन प्राणमें होता है तो ध्यानकी प्रवृत्ति चेतनाको प्राणमय स्तरमें तथा उसके अनुभवोंमें प्रक्षिप्त कर देनेकी होती है। परन्तु वहांसे हम अपनी चेतनाको अधिकाधिक भीतरकी ओर खींचकर, प्राणिक अनुभवोंमें मशगूल न होकर उनसे अपनेको पृथक् करके तथा उनकी ओर अनासक्तिके साथ इस प्रकार देखते हुए मानों हम अन्दर गहराईमें हों और चीजोंको अपनेसे बाहर देख रहे हो, चैत्य सत्तातक जा सकते हैं। इसी प्रकार अपने विचारोंमें एकाग्र होकर तथा इसके द्वारा तदनुरूप अनुभव, उदाहरणार्थ, भूतमात्रका ब्रह्मके रूपमें चिंतन, को ले आकर हम मानसिक अनुभवोंको प्राप्त कर सकते हैं, अथवा हम विचारसे पीछे भी हट आ सकते हैं और अपने विचारोंको बाहरी वस्तुओंके रूपमें देख सकते हैं और इस तरह अन्तमें निश्चल-नीरवतामें और विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूतिमें प्रवेश कर सकते हैं।

*

इस योगमें मस्तकके ऊपर जो प्रायः ही ज्योति दिखायी देती है वह भागवत सत्यकी ज्योति होती है। वह सिरके ऊपर है जिससे वहां पूर्ण रूपसे दिव्य शांति; शक्ति, प्रकाश, ज्ञान और आनन्द विद्यमान हैं। जब व्यक्तिगत चेतना पर्याप्त रूपसे तैयार हो जाती है तब ये चीजें शरीरमें अवतरित होना आरम्भ करती हैं। सामान्यतया तैयारीका कार्य ऐसे ही विपर्ययोंसे भरा होता

है, परन्तु साधकको धैर्यपूर्वक लगे रहना होता है तथा तबतक अपने-आपको अधिकाधिक खोलते रहना होता है जबतक कि वह (चेतना) तैयार नहीं हो जाती।

*

यदि कोई सर्वदा उच्चतर चेतनामें निवास कर सके तो यह बहुत अच्छा है। परन्तु साधक वहां बराबर क्यों नहीं रह पाता? क्योंकि निम्नतर अभी भी प्रकृतिका अंग है और यह चेतना तुमको अपनी ओर नीचे खींचती है। परन्तु दूसरी ओर, यदि निम्नतर चेतना रूपान्तरित हो जाती है तो वह उच्चतरके साथ एक प्रकारकी हो जाती है और फिर कुछ भी निम्नतर नहीं रह जाता जो नीचेकी ओर खींचे।

रूपान्तरका अर्थ यह है कि उच्चतर चेतना या प्रकृतिको मन, प्राण और शरीरमें उतार लाया जाय और वह निम्नतर स्थान ग्रहण कर ले। सच्चे आत्माकी एक उच्चतर चेतना है जो आध्यात्मिक है पर वह ऊपर है; जब मनुष्य ऊपर उसके अन्दर उठ जाता है तब वह जबतक वहां रहता है मुक्त रहता है, पर जब मनुष्य मन, प्राण या शरीरमें नीचे आ जाता है या इनका उपयोग करता है — और यदि वह जीवनके साथ कोई संपर्क रखता है तो उसे ऐसा करना पड़ता है, या तो नीचे आनेके लिये और सामान्य चेतनासे काम करनेके लिये अथवा आत्मामें रहते हुए मन, प्राण और शरीरका उपयोग करनेके लिये, — तब इन उपकरणोंकी अपूर्णताओंका सामना करना और उन्हें सुधारना पड़ता है — उनका सुधार केवल रूपान्तरके द्वारा ही किया जा सकता है।

तुम कहते हो कि तुम थोड़ासा ऊपर उच्चतर चेतनामें उठ जाते हो, पर तुम कहां उठते हो? क्या अचंचल मनमें और प्राणसे ऊपर या स्वयं मनसे ऊपर किसी ऐसी चीजमें जो सर्वदा शान्त-स्थिर, पवित्र और मुक्त होती है?

*

नहीं, अपने प्रश्नके द्वारा कोई व्यंग करनेका मेरा उद्देश्य नहीं था। तुमने लिखा था कि साधारण चेतनासे थोड़ासा ऊपर उठ जानेसे कठिनाईसे मुक्त हो जाता है और यही अनुभव किसीको हुआ था। मैंने समझा कि तुम्हारा कहनेका मतलब यह था कि वह तुम्हारा अपना अनुभव था। इसीलिये मैंने वह प्रश्न किया, क्योंकि स्थिर मनका अनुभव एक ऐसा अनुभव है जो बड़ी

आसानीसे प्राणकी उद्विग्नता या भौतिक सत्ताकी तामसिकताके द्वारा भंग किया जा सकता है। गभीरतर मुक्ति और शान्तिका अनुभव जो कि आत्मासे संबंध रखता है, बना रहता है पर वह निम्नतर चेतनासे आच्छादित हो सकता है।

*

मनुष्य उच्चतर चेतनामें रहता हुआ भी निम्नतर प्रकृतिके परिवर्तनके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रख सकता है। निःसंदेह माताजीकी शक्ति ही आवश्यक वस्तु करेगी, किन्तु साधककी सहमति और श्रीमांकी क्रियाके साथ उसके संकल्पका या कमसे कम उसकी साक्षी-दृष्टिका सहयोग भी आवश्यक है।

*

तुम्हारे झुकाव ऊर्ध्वमें चले जाने और उच्चतर चेतनाको निम्नतर चेतनाके साथ निबटनेके लिये छोड़ देनेकी ओर था जिससे तुम्हें इसके लिये कोई व्यक्तिगत प्रयत्न न करना पड़े। यह योजना इन दो शर्त्तोंपर ही ठीक-ठीक काम कर सकती थी: 1. कि शान्ति और शक्ति उतरका नीचे भौतिक सत्तातक सबको अपने अधिकारमें कर ले, 2. कि तुम आन्तर सत्ताको बाह्य सत्तासे अविचल रखनेमें सफल होओ। भौतिक सत्ता शान्तिको आत्मसात् करनेमें असफल रही, बल्कि जड़ता उठ खड़ी हुई; शक्ति उतर नहीं सकी; तुम्हारे लिये बाह्य प्रकृतिके सुझाव बहुत बलवान् सिद्ध हुए औंर अपने सुझावों और जड़ताके बीचमें उन्होंने साधनामें बाधा उपस्थित की।

*

मैंने यह नहीं कहा है कि तुमने भूल की। मैंने सिर्फ यही बताया है कि क्या हुआ और उसके कारण क्या थे। यदि तुम बाह्य प्रकृतिसे अपनेको अनासक्त रखते हुए ऊपर स्थित रहनेमें समर्थ होते और शक्तिको उतरने और काम करने देते तो यह सब ठीक रहता। तुम ऊपर इसलिये जा सके कि शांति अवतरित हुई। तुम ऊपर इसलिये स्थिर न रह सके कि शान्ति पर्याप्त रूपसे भौतिक सत्ताको अपने अधिकारमें न कर सकी और शक्ति पर्याप्त रूपसे अवतरित नहीं हुई। इसी बीच तमस् उत्पन्न हुआ, बाह्य प्रकृतिमें प्राणिक सुझावोंके और तमस्के धावेके कारण तुम अधिकतर विक्षुब्ध होते गये, इस प्रकार तुम

अपने-आपको अनासक्त रखनेमें, और शक्तिको अधिकाधिक नीचे उतरने देनेमें या इसे अधिकाधिक नीचे उतरनेके लिये पुकारनेमें असमर्थ रहे। परिणामतः तुम भौतिक चेतनामें नीचे उतर आये।

*

तुम अपनी चेतनाको ऊपर उठाये रख सके यह पहले ही एक प्राप्ति है। जहांतक उद्‌घाटनका प्रश्न है, उसका आने और जानेका आभास एक सर्वसामान्य अनुभव है — यह वस्तु ऊपरकी चेतनाके स्थायी संतुलन द्वारा एवं सिर और नीचेके भागमें बढ़ते हुए अवतरणके द्वारा स्थिर हो जाय इससे पहले अनेक उद्‌घाटनोंकी आवश्यकता होती है। नीचेसे होनेवाले आकर्षणमें तो किसी प्रकारका भी लगाव नहीं होना चाहिये — क्योंकि यद्यपि अधिकतर लोग इसमें आसक्त हो जाते हैं तो भी यह कर्म करनेकी एक गलत, टेढीमेढी चाल है। व्यक्तिको बिना किसी पतनके नीचे उतर सकनेसे पहले अपनेको किसी ऊर्ध्व केन्द्रमें अधिष्ठित कर लेना होगा। यह बात नहीं कि पतन हो जाय तो वह उसे ऊपर जानेसे रोकता है — ऐसा नहीं होता; यह कोई कारण नहीं कि इसे होने ही दिया जाय।

*

मुझे पुरानी बातोंको कुरेदने या इधर-उधर भटकने या गला काटनेके लिये कोई कारण दीखता नहीं। यदि कोई स्थायी उद्‌घाटन तुरन्त न भी हो तो भी तुम्हें केवल प्रतीक्षा करनी होगी और अन्तमें यह होकर ही रहेगा। यह निश्चय ही खेदकी बात है कि प्राणकी चंचलता चेतनाकी रिक्तताके विरोधमें इतना अधिक उछलकूद मचाये; क्योंकि यदि तुम इसको सहन कर सको तो यह शून्यता जो इस समय तटस्थ है और इसलिये प्राणको रोचक नहीं लगती, भावात्मक बन जायेगी और ऊपरसे उंडेली गई वस्तुको ग्रहण करनेवाला शक्तिशाली साधन बन जायेगी। कठिनाई यह है कि प्राण हमेशा ही या तो किसी वस्तुको करनेका या किसी कार्य करती वस्तुका आदि रहा है और जब यह कुछ नहीं कर रहा होता या कोई वस्तु कार्य नहीं करती होती (अथवा सतहपर ऐसा प्रतीत होता हो); तो यह उकता जाता है और बेहूदा सोचने-समझने और बोलने या करने लगता है। तथापि इस बाधाके होनेपर भी 'अवतरण' साधित हो सकता है — इसे अतिमानस चेतनाके लिये प्रतीक्षा

करनेकी आवश्यकता नहीं।

*

मैं कह दूँ कि दिव्य ज्योतिके प्रति उद्घाटन, उसके अन्दर आरोहण और उसके बाद ही सामान्य चेतना और सामान्य जीवनमें अवतरण योगाभ्यास-का प्रारम्भिक निश्चित अनुभव है और प्रायः सबको होता है। यहांतक कि यह अनुभव उन लोगोंको योगाभ्यासके बिना भी हो सकता है जिनके भाग्यमें आध्यात्मिक परिवर्तन आना बदा है, विशेषकर उस अवस्थामें जब कि उनके अन्दर साधारण जीवनसे कहीं कुछ असन्तोष हो और किसी और अधिक, महान् और अच्छी चीजके लिये खोज हो, यह अनुभव बहुधा ठीक उसी ढंगसे आता है जैसा कि उसने वर्णन किया है और उसका अन्त तथा अवतरण भी उसी तरीकेसे आते हैं। इस प्रथम अनुभवके बाद बहुत लम्बा समय निकल जा सकता है जिसमें कि न तो यह अनुभव ही दुबारा आ सकता है और न उसके बादका कोई दूसरा ही अनुभव। यदि योगाभ्यास निरन्तर जारी रखा जाय तो यह बीचका समय कम लम्बा हो सकता है, पर फिर भी यह बहुधा काफी लम्बा होता है। अवतरणका होना अनिवार्य है क्योंकि ऊपरकी ओर समूची सत्ता नहीं उठी है बल्कि केवल भीतरी कोई चीज ही उठी है, और प्रकृतिका बाकी सब अंश तैयार नहीं है, वह साधारण जीवनमें संलग्न या उससे आसक्त है और उन गतिविधियोंसे परिचालित हो रहा है जिनका दिव्य ज्योतिके साथ कोई सामंजस्य नहीं है। फिर भी, भीतरी 'कोई चीज' सत्ताकी कोई केंद्रीय चीज है और इसलिये वह अनुभव एक प्रकारसे सुनिश्चित और निश्चया-त्मक है। क्योंकि वह आध्यात्मिक भवितव्यताकी एक सुनिश्चित सूचना या जीवनमें किसी समय क्या उपलब्धि होगी उसके लक्षणके रूपमें आता है। एक बार जब वह आ गया है तब कुछ-न-कुछ ऐसा होना निश्चित है जो रास्ता खोल दे, रास्तेपर आगे बढ़नेकी योग्यता प्रदान करनेवाले समुचित ज्ञान और समुचित मनोभावको स्थापित करे तथा सहायता पहुँचानेवाला प्रभाव ले आये। उसके बाद, उन बाधाओंको, जो दिव्य ज्योतिकी और वापस जानेसे रोकती हैं और सारी सत्ताके आरोहणको बाधा देती हैं तथा, जो कुछ उतना ही महत्व-पूर्ण है उसको अर्थात् समूची सत्तामें दिव्य ज्योतिके अवतरणको बन्द करती हैं, दूर हटानेका काम आरम्भ हो सकता है और परिपूर्णताकी ओर आगे बढ़ा जा सकता है। यह कार्य धीमा हो सकता है या तेज हो सकता है, यह निर्भर करता है आन्तरिक आवेगपर तथा बाहरी अवस्थाओंपर भी पर आन्तरिक

अभीप्सा और प्रयासका महत्व बाहरी अवस्थाओंसे अधिक है, बाहरी परिस्थितियां तो आन्तरिक आवश्यकताके बहुत प्रबल होनेपर अपने आपको उसके अनुकूल बना सकती हैं। उसके लिये समय हो गया है तथा आवश्यक अभीप्सा, ज्ञान और प्रभावके आनेका भी समय आ गया है जो उसे सहायता पहुँचा सकते हैं।

*

जिस शक्तिका तुमने अनुभव किया वह स्पष्ट ही कुंडलिनी शक्तिका आरोहण होगा; वह ऊपर दिव्य शक्तिके साथ युक्त होने तथा अवसादको दूर करनेके लिये आवश्यक शक्ति का अवतरण करानेके लिये ऊपर उठी होगी और उसके बाद निम्नतर चक्रों और 'ऊर्ध्व'के बीचके सम्बन्धको और भी शक्तिशाली बनानेके लिये फिरसे ऊपर उठी होगी। सिरमें जो एक विस्तारका अनुभव हुआ वह ऊपरकी आत्मा या भगवान्की चेतनाके साथ मनके मुक्त हो जानेके कारण हुआ होगा। वह (आत्मा या भगवान्की) चेतना विशाल और अपरिमेय है और, जब मनुष्य उसके अन्दर जाता है तो, व्यक्तिगत चेतना भी अपनी सीमाएं भंग करके अपनेको विशाल और अपरिमेय अनुभव करती है। ऐसे समयोंपर मनुष्य प्रायः ही ऐसा अनुभव करता है कि उसे न तो सिर है और न शरीर बल्कि सब कुछ मानों एक विशाल आत्मसत्ता और उसकी चेतना हो, अथवा सिर या शरीर उस स्थितिसे संबन्धित कोई एक वस्तु है। ऐसे अनुभवोंके समय कभी-कभी शरीर या भौतिक मन चौंक उठता या भयभीत हो उठता है क्योंकि वे उसके लिये अस्वाभाविक होते हैं; पर उनसे डरनेका कोई कारण नहीं,—ये तो योगमें होनेवाले सर्व-सामान्य अनुभव हैं।

*

मेरुदण्ड शक्तिके अवरोहण और आरोहणकी मुख्य प्रणाली है जिसके द्वारा वह शक्ति निम्नतर और उच्चतर चेतनाको परस्पर जोड़ती है।

*

मेरुदंडमें और उसके दोनों ओर सनसनीका अनुभव होना कुंडलिनी-शक्तिके जागरणका सूचक है। वह नीचे उतरती हुई और ऊपर चढ़ती हुई

धाराके रूपमें अनुभूत होती है। वहां धाराओंके लिये दो मुख्य नाड़ी-मार्ग हैं, रीढ़के भीतरकी केंद्रीय प्रणालिकाके दोनों ओर ये नाड़ी-मार्ग हैं। ऊपरसे उतरनेवाली धारा वह ऊपरसे आनेवाली शक्ति है जो मेरुदण्डके सबसे नीचेके निम्नतम नाड़ी-चक्रमें प्रसुप्त शक्तिको स्पर्श करनेके लिये नीचे उतरती है; ऊपर चढ़नेवाली धारा उस शक्तिका मुक्त प्रवाह है जो जाग्रत कुंडलिनीसे ऊपरकी ओर जाती है। जब यह क्रिया चलती है तो यह सूक्ष्म नाड़ी-संस्थानके छः चक्रोंको खोलती है और उनके खुलनेपर साधक स्थूल शरीरसे बद्ध ऊपरी चेतनाकी सीमाओंसे छुट्टी पा जाता है; उसके साथ-ही-साथ प्रच्छन्न सत्ताके, (आन्तर) मन, (आन्तर) प्राण और सूक्ष्म भौतिक सत्ताके महत्तर अनुभव क्षेत्रोंको भी वह देख लेता है। जब कुंडलिनी मस्तकके ऊपरी भागमेंसे होकर ऊपर उठती है और उच्चतर चेतनाके साथ युक्त होती है तब सामान्य मनसे ऊपरके उच्चतर अतिचेतन क्षेत्रोंका उद्घाटन हो जाता है। हमारी चेतनामें विद्यमान इन्हीं क्षेत्रोंमेंसे होकर ऊपर उठने तथा उनकी शक्तियोंके अवतरणको ग्रहण करनेपर अन्तमें अतिमानसतक पहुँचना सम्भव होता है। यह तंत्रकी पद्धति है। हमारे योगमें इस क्रमबद्ध पद्धतिसे चलना आवश्यक नहीं है। यह सब आवश्यकताके अनुसार अभीप्साकी शक्तिके द्वारा अपने-आप घटित होता है जैसे ही उद्घाटन होता है, भागवती शक्ति अवतरित होती है और आवश्यक क्रियाको परिचालित करती है, जो कुछ जरूरी है उसे करती है, प्रत्येक चीज ठीक उसके समयपर करती है और फिर साधकके अन्दर यौगिक चेतना उत्पन्न होना प्रारम्भ कर देती है।

*

श्रीअरविन्द गुरुके रूपमें तुम्हें मार्गदर्शन करनेका भार इसलिये नहीं ले सकते कि वे केवल उन्हींको शिष्य रूपमें ग्रहण करते हैं जो उनके ही विशिष्ट योगमार्गका अनुसरण करते हैं। तुम्हारे अनुभव किसी भिन्न पद्धतिका अनुसरण करते हैं। उनके योगमें अन्य स्नायु-प्रणालियों या शरीरके विभिन्न अंगोंके समान मेरुदण्डमें भी बीच-बीचमें प्रवाहका अनुभव हो सकता है, किन्तु इस विशिष्ट और प्रबल ढंगसे कुण्डलिनीका जागरण नहीं होता। केवल चेतनाका ऊपरकी आध्यात्मिक चेतनासे संयुक्त होनेके लिये निम्नतर केंद्रोंसे शान्तिपूर्वक ऊपर उत्थान होता है और भागवत शक्ति ऊपरसे अवतरित होती है जो मन और शरीरमें अपना कार्य करती हैं — उसकी रीति और भूमिकाएं प्रत्येक साधकमें भिन्न-भिन्न होती हैं। भगवती मातामें पूर्ण विश्वास और सब गलत

सुझावों और प्रभावोंके निवारणके लिये सतर्क रहना इस योगका मुख्य नियम है। अधिक प्रचलित तांत्रिक पद्धतियों द्वारा (तुम्हारी इच्छाके हस्तक्षेपके बिना भी) जब एक बार तुम्हारा उद्घाटन इतना प्रबल हो चुका है तो इसे अन्य मार्गपर आसानीसे परिवर्तित कर सकना बहुत कठिन है—इस प्रकारका कोई भी प्रयत्न गंभीर अव्यवस्था पैदा कर सकता है। एक समर्थ गुरुकी चर्चासे श्रीअरविन्दका आशय एक ऐसे गुरुसे था जिसने स्वयं चक्रोंके इस उद्घाटनका अभ्यास किया हो और योगकी इस प्रणालीमें सिद्ध हो गया हो। ऐसे गुरुको प्राप्त करना असंभव नहीं होना चाहिये—जब व्यक्तिके अन्दर गुरुके लिये देर या सबेर आ ही मिलते हैं। इस बीचमें भयको निकाल देना और भागवत क्रियापर भरोसा रखना अनिवार्य है—किन्तु एकाग्र प्रगाढ़ ध्यान द्वारा बलात् गति बढ़ानेके लिये कोई प्रयत्न तबतक नहीं करना चाहिये जबतक तुम्हारे पास कोई ऐसा मार्गदर्शन न हो जिसपर तुम भरोसा रख सको अर्थात् भीतरसे एक स्पष्ट मार्गदर्शन या बाहरसे कोई पथ-प्रदर्शक गुरु न प्राप्त हो जाय। इडा नाड़ीके सम्बन्धमें अन्तःप्रेरणा और उसके बाद होनेवाली शक्तिकी क्रिया यह बताती है कि विकट कालमें कोई हस्तक्षेप हुआ था और यह भी कि उसके पुकार जब भी आवश्यक हो तब सम्भवतः सफल होगी।

तुम्हारे पहले पत्रमें उल्लिखित विशिष्ट अनुभवोंमें ऐसी कोई बात जरा भी नहीं है जिससे तुम विक्षुब्ध हो उठो। सब बिलकुल सामान्य था, ये सब ऐसे अनुभव थे जो साधारणतया ऐसी घड़ीमें योगीको होते हैं और बहुत अच्छे और शक्तिशाली अनुभव थे, और ऐसे अनुभव भगवान्‌की कृपाके सिवाय नहीं आते। बहुत सम्भव है कि यह उद्घाटन सिरके शिखरपर स्थिर सहस्रार पर ध्यान करनेके परिणाम स्वरूप हुई धीमी और प्रच्छन्न तैयारीके बाद हुआ हो; क्योंकि यह सदैव कुण्डलीनीको जागनेके लिये या निम्नचेतनाको उठकर उच्च-चेतनासे मिलनेके लिये निमन्त्रण ही होता है। हृदयमें बेचैनीके अनुभवके साथ गड़बड़ पैदा करनेवाले जो तत्व घुस आये उनका कारण स्थूल सत्तामें कोई प्रतिरोध था जिसका बहुधा अनुभव होता है और जिसे स्वयं शक्तिकी क्रियाके द्वारा काबूमें किया जा सकता है और उस भयको भी जो बादमें प्राणिक प्रकृति, हृदय, नाभि इत्यादिके केन्द्रोंमें पीछेसे उत्पन्न हुआ परन्तु वह अनुभवका अंग नहीं था; यह निम्नतर या बाह्य चेतनाकी गलत प्रतिक्रियाका हस्तक्षेप था। यदि तुम अपनेको विशुद्ध न होने देते तो बहुत करके किसी प्रतिकूल वस्तुने इस प्रक्रियाको बिगाड़ न दिया होता। व्यक्तिको असाधारण अवस्थाओं या क्रियाओं अथवा अनुभवोंसे भयभीत नहीं हो जाना चाहिये, योगीको निर्भीक, 'अभी' होना चाहिये; भयभीत होना मूर्खतापूर्ण है क्योंकि व्यक्ति अपनी अवस्था-

ओंको नियंत्रित कर सकता है; यह एक ऐसी शक्ति है जो योगमें बहुत ही अधिक वांछनीय और स्वागत योग्य है।

दूसरे पत्रमें उल्लिखित संकट शायद ही आते यदि यह प्रतिक्रिया न होती; किन्तु जो भी हो उस अवस्थामें हस्तक्षेप हुआ और गड़बड़ी ठीक कर दी गई तथापि प्रतिक्रियाएं और विक्षोभका उत्पन्न होना, ये तथ्य बताते हैं कि बाह्य चेतनामें कोई ऐसी वस्तु है जो पूरी तरह तैयार नहीं हुई; प्रतीक्षा करना और पथ-प्रदर्शककी खोज करना अधिक अच्छा है जिससे मूर्खतापूर्ण कदम या प्रतिक्रियाएं कोई गंभीर विपत्ति या ख़तरा फिरसे उत्पन्न न कर सके। यही सब कुछ है जिसे श्रीअरविन्द आदेश और उपदेशके रूपमें कह सकते हैं। वे सामान्यतः ऐसे किसी व्यक्तिकी साधनामें हस्तक्षेप नहीं करते जो उनका शिष्य न हो, किन्तु क्योंकि तुम्हारी अवस्था असाधारण थी और तुम्हारी पुकार तीव्र थी इसलिये उन्होंने तुम्हारे अनुभव पर यथाशक्ति प्रकाश डाला।

*

योगका अर्थ है भगवान्‌के साथ एकत्व — चाहे यह एकत्व विश्वातीत हो या विश्वगत या व्यक्तिगत हो अथवा, जैसा कि हमारे योगमें है, एक साथ यह सब तीनों ही हो। अथवा इसका अर्थ है एक ऐसी चेतनामें प्रवेश करना जिसमें मनुष्य तुच्छ अहं, व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीरसे अब सीमित नहीं रहता, बल्कि परम आत्माके साथ या विश्वगत चेतनाके साथ या किसी भीतरी गभीरतर चेतनाके साथ युक्त होता है जिसमें वह अपनी निजी अन्तरात्माके विषयमें, अपनी निजी आन्तर सत्ताके विषयमें और जीवनके यथार्थ सत्यके विषयमें सचेतन रहता है। यौगिक चेतनामें चले जानेपर मनुष्य केवल वस्तुओंका ही ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता बल्कि शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और केवल शक्तियोंका ही नहीं वरन शक्तियोंके पीछे विद्यमान सचेतन पुरुषका भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह इन सब चीजोंका ज्ञान केवल अपने ही अन्दर नहीं वरन विश्वके अन्दर भी प्राप्त कर लेता है।

एक ऐसी शक्ति है जो नई चेतनाकी वृद्धिके साथ-साथ आती है, नई चेतनाके साथ-साथ तुरत वर्द्धित होती है तथा उस चेतनाको बाहर प्रकट होने तथा पूर्ण बननेमें मदद करती है। यह शक्ति है योग-शक्ति। यह हमारी आंतर सत्ताके सभी चक्रोंमें कुंडलित होकर सोयी पड़ी है और सबसे नीचे विद्यमान है। इसे ही तंत्रमें कुंडलिनी-शक्ति कहा गया है। परंतु यह हमारे ऊपर भी है, हमारे मस्तकसे ऊपर भागवत शक्तिके रूपमें विद्यमान है — वहां वह कुंडलित नहीं

है, अन्तर्ग्रस्त, निद्रित नहीं है, बल्कि जाग्रत, ज्ञानपूर्ण, ओजपूर्ण, विस्तारित और विशाल है। यह प्रकट होनेके लिये वहां प्रतीक्षा कर रही है और इसी शक्तिके प्रति — श्रीमांकी शक्तिके प्रति — हमें अपने-आपको खोलना होगा। मनमें यह दिव्य मानस-शक्ति या विराट् मानस-शक्तिके रूपमें व्यक्त होती है और ऐसी प्रत्येक चीजको कर सकती है जिसे व्यक्तिगत मन नहीं कर सकता; उस समय यह यौगिक मानस-शक्ति कहलाती है। जब यह उसी तरह प्राण या शरीरमें प्रकट होती और कार्य करती है तब वह वहां एक यौगिक प्राणशक्ति या यौगिक देह-शक्तिके रूपमें प्रकट होती है। यह बाहर-की ओर और ऊपरकी ओर भभककर, अपनेको नीचेसे विशालताके अन्दर फैलाकर इन सभी रूपोंमें जाग्रत हो सकती हैं; अथवा यह अवतरित हो सकती और वहां वस्तुओंके लिये एक सुनिश्चित शक्ति बन सकती है। यह नीचेकी ओर शरीरमें बरस सकती है, कार्य कर सकती, अपना राज्य स्थापित कर सकती, ऊपरसे विशालतामें फैल सकती, हमारे अन्दरके निम्नतमको हमारे ऊपरके उच्चतमके साथ जोड़ सकती और व्यक्तिको विराट वैश्वभावमें या निरपेक्ष और परात्परमें मुक्त कर सकती है।

*

आन्तर शरीरमें कुंडलित या प्रसुप्त अवस्थामें एक योगशक्ति पड़ी हुई है और वह सक्रिय नहीं है। जब मनुष्य योग करता है तब यह शक्ति अपनी गेंडुरी खोलकर भागवत चेतना और शक्तिसे, जो हमसे ऊपर प्रतीक्षा कर रही हैं, मिलनेके लिये ऊपर उठती है। जब ऐसा होता है, जब जाग्रत योगशक्ति ऊपर उठती है, तो इसका अनुभव प्रायः ही ऐसा होता है मानों कोई सांप गेंडुरी छोड़कर ऊपर सीधे खड़ा हो रहा हो और अधिकाधिक ऊपरकी ओर अपनेको उठा रहा हो। जब यह शक्ति ऊपर भागवत शक्तिसे युक्त होती है तब भागवत चेतनाकी शक्ति अधिक आसानीके साथ शरीरमें उतर सकती है और वहां प्रकृतिका रूपान्तर करनेके लिये कार्य करती हुई अनुभूत हो सकती है।

तुम्हें जो कुछ लगता है कि तुम्हारा शरीर और आंखें ऊपर खिंची जा रही हैं यह उसी क्रियाका अंग है। वास्तवमें शरीरमें स्थित आन्तरिक चेतना और शरीरमें विद्यमान आन्तरिक सूक्ष्म दृष्टि ही ऊपर ताक रही हैं और ऊपर-की भागवत चेतना तथा भागवत दृष्टि-शक्तिसे युक्त होनेकी चेष्टा कर रही है।

*

कुंडलिनीकी शक्ति श्रीमांकी शक्ति है।

*

मैं नहीं समझता कि तुम्हारी कठिनाई क्या है। यह बात तो सर्वविदित है कि एक दिव्य शक्ति जड़तत्वमें सोयी हुई है या निश्चेतनाके द्वारा आच्छादित है और उच्चतर शक्तिको अवतरित होना और दिव्यज्योति और सत्यके द्वारा उसे जगाना होगा। यही बात इस योगका एकदम मूल आधार है।

*

मुझे भय है कि आध्यात्मिक या यौगिक वस्तुओंके लिये वैज्ञानिक तर्क-वितर्कका प्रयोग करनेपर बहुत अधिक बार उलझनके सिवाय और कोई चीज नहीं प्राप्त होती — ठीक उसी तरह यह उलझन पैदा करती है जिस तरह कि यह दर्शनके ऊपर लादनेपर करती है। मूलाधारमें कुंडलित कुंडलिनी सोयी हुई निश्चेतनामें डूबी हुई है और अज्ञानकी क्रीड़ाको सहारा देती है। स्वभावतः ही, यदि वह वहांसे उमड़ पड़े, तो अज्ञानकी अवस्थाओंमें अस्तव्यस्तता या विच्छिन्नता हो सकती है, पर वह वस्तु तो बल्कि एक कल्याणकारी उथल-पुथल होगी और योगके उद्देश्यके लिये सहायक होगी। कुंडलिनी सचेतन होकर सहस्रदल कमलमें ब्रह्मके साथ युक्त होनेके लिये ऊपर उठती है। उसके उच्चतर चेतनाके साथ युक्त होनेसे महज दूर रहना तो शायद ही कोई मौलिक परिवर्तन ले आयेगा। निःसंदेह, भौतिक केंद्रसे सम्पूर्ण रूपमें अपना सम्बन्ध त्याग देनेकी उसे कोई आवश्यकता नहीं; पर अब वह वहां कुंडलित नहीं है, यदि वह कुंड-लित हो तो जो महान् गुह्य शक्ति वहां विद्यमान है वह मुक्त नहीं होगी। उसके जगने और ऊपर उठनेका प्रचलित रूपक, मैं समझता हूँ कि, यही है कि एक सर्प सीधे खड़ा हो रहा है, उसकी पूंछ तो निम्नतम केंद्रको छू रही है और सिर ब्रह्मरन्ध्रमें सर्वोच्च केंद्रको। इस तरह सभी चक्रोंको खोलकर और सक्रिय होकर वह सत्ताके दोनों छोरोंको, उच्चतर और निम्नतरको, जड़-तत्त्वके साथ आत्माको जोड़ देती है।

*

वह (मस्तकसे ऊपर उठ जाना) बहुत अच्छा है। इस तरह ऊपर उठने-

से चेतनाके उच्चतर और निम्नतर लोकोंके बीचके ढक्कनको भंग कर देने तथा विशालताका निर्माण करनेमें सहायता मिलती है।

*

क्या करना चाहिये, यह निर्भर करता है इस बातपर कि वह रोड़ा है कहां। दो क्रियाएं हैं जो आवश्यक हैं — एक तो है शांति और निश्चल नीरवता-को बढ़ाते हुए मनसे ऊपर इसके मूल स्रोततक ऊपर आरोहण करना,—यह बात सूचित होती है चेतनाको इस प्रवृत्तिसे कि वह शरीरसे बाहर मस्तकके शिखरतक और उससे ऊपर उठना चाहती है जहां आत्माको उसकी सम्पूर्ण निश्चलता, मुक्ति और विशालताके साथ उपलब्ध करना तथा उच्चतर चेतनाकी अन्य शक्तियोंकी ओर उद्घाटित होना अधिक आसान होता है। दूसरी है शान्ति, निश्चल-नीरवता, आध्यात्मिक मुक्ति और विशालता तथा उच्चतर चेतनाकी शक्तियोंका अवतरण, जब कि वे निम्नतर सत्तामें, नीचे अत्यन्त भौतिक और यहांतक कि अवचेतनतकमें वर्द्धित होते हैं। इन दोनों क्रियाओंके लिये कोई रोड़ा आ सकता है — एक रोड़ा ऊपर मन और निम्न प्रकृतिके अनभ्यस्त होनेके कारण (यह वास्तवमें यही है, कोई अक्षमता नहीं है), और एक रोड़ा नीचे भौतिक चेतना तथा परिवर्तनके लिये उसके स्वाभाविक धीमेपनके कारण आ सकता है। प्रत्येक मनुष्यमें ऐसे रोड़े आते हैं पर सतत संकल्प, अभीप्सा या अभ्यासके द्वारा इन्हें पार किया जा सकता है।

*

विशालता साधारण सीमाओंसे बाहर चेतनाके विस्तारित होनेका चिह्न है — विशालताकी सफेदीका अर्थ है कि जिस चेतनाको तुम अनुभव करते हो वह शुद्ध चेतना है, हां, यदि वहां श्वेत ज्योति या जगमगाती ज्योति हो तो उससे यह सूचित होता है कि वहां श्रीमाताजीकी चेतना है अथवा उसका कुछ प्रभाव है। जिस सूक्ष्म बाधाको तुमने अनुभव किया वह निश्चय ही ठीक वही चीज होगी जो हृदयसे तुम्हारे ऊपर उठनेको और वहांसे परे ऊपरके क्षेत्रोंमें तुम्हारे चले जानेको रोकती है। वहां बराबर ही एक प्रकारका ढक्कन होता है और जब वह खुल जाता है या दूर हो जाता है केवल तभी मनुष्य स्वाधीन रूपमें ऊपर आ सकता है। मनुष्य "अदृष्ट विशालता"के विषयमें सचेतन हो सकता है पर मनुष्य वहां आत्मा-रूपमें नहीं रहता जबतक कि

वैसा नहीं हो जाता।

*

उच्चतर चेतनाकी क्रियाके लिये विशालता आवश्यक है—यदि सत्ता अपने आपमें बन्द न हो तो तीव्र अनुभूतियां हो सकतीं हैं और ऊंचाइयोंसे आनेवाले स्पर्शोंके लिये एक प्रकारका उद्घाटन हो सकता है, पर रूपान्तरके लिये पूर्ण स्थायी आधार नहीं प्राप्त हो सकता।

*

मस्तिष्कमें शून्यता और विशालताका होना एक बहुत अच्छा लक्षण है। यह एक अवस्था है जिससे सीधे विश्वगत चेतनामें और ऊपरकी ओर आत्मा तथा मस्तकसे ऊपर उच्चतर आध्यात्मिक मनमें उद्घाटन होता है।

*

हलकापन, सिरके विलीन हो जानेका अनुभव और सब कुछ खुल जानेका अनुभव उस मानसिक चेतनाकी विशालताका चिह्न है जो अब मस्तिष्क और अपने शरीर-बोधसे सीमित नहीं है—जो अब कारावरुद्ध नहीं वरन विस्तारित और उन्मुक्त है। इसका अनुभव पहले केवल ध्यानके समय अथवा आंखें बन्द कर लेनेपर होता है पर बादकी अवस्थामें यह सुस्थापित हो जाता है और मनुष्य अपनेको एक ऐसी विस्तीर्ण चेतनाके रूपमें बारबार अनुभव करता है जो शरीरके किसी बोधसे आबद्ध नहीं होती। अपनी दूसरी अनुभूतिमें, जब माताजीके चरणने तुम्हारे भौतिक मन (मस्तक)को नीचे दबा दिया जिससे वह नीचे चला गया और उसने अनन्त आत्माके इस बोधके लिये स्थान छोड़ दिया तथा तुमने अपनी सत्ताकी इसी विशालताका थोड़ासा अनुभव किया। इसी विशाल चेतनाको जो शरीरपर अवलम्बित नहीं होती या उसके द्वारा सीमित नहीं होती, योगमें आत्माके नामसे पुकारी जाती है। तुम्हें अभी उसकी प्राथमिक झांकियां मिल रही हैं, पर पीछे यह स्वाभाविक बन जाता है और मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह सदासे यह अनन्त और अमर आत्मा ही रहा है।

मैं नहीं समझता कि नींदका अभाव जब होता है तब वह कामकी कमीके

कारण होता है; क्योंकि जो लोग बिलकुल काम नहीं करतें उन्हें भी अच्छी नींद आती है। इसका कारण कुछ और ही है; पर इससे मुक्त होना ही होगा।

श्रीमाताजीका निरन्तर स्मरण बने रहना कठिन है और बहुत कम लोगों-को यह प्राप्त होता है, पर यह अपने समयपर आयेगा। इस बीच उनकी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है और उसके लिये तुम्हारी चेतनाको तैयार कर रही है।

*

सबसे पहले आत्माका साक्षात्कार उच्चतर मनके स्तरपर होता है, पर वह एक स्थानसे सीमित नहीं है—साधारणतया यह विशाल रूपमें फैली हुई किसी चीजकी तरह अनुभूत होता है, पर मनुष्य इसे सहस्रारमें या उसके ऊपर एक केन्द्रीभूत चेतनाके रूपमें भी अनुभव कर सकता है।

*

आत्मा अपने एकत्वके द्वारा अपनी सृष्टिके वैभिन्यको नियंत्रित करता है और उच्चतर मनलोकसे लेकर ऊपर उस लोकतक जहां एकताकी उपलब्धि ही चेतनाका स्वाभाविक आधार होती है, सभी स्तरोंपर नियंत्रित करता है। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य ऊपरकी ओर जाता है वैसे-वैसे दृष्टि बदलती जाती है, चेतनाकी शक्ति बदलती जाती है, ज्योति कहीं और अधिक तीव्र और शक्ति-संपन्न होती जाती है। यद्यपि अनन्तता और शाश्वतता तथा कालातीत एकता-के स्थाणुतत्वकी उपलब्धि ज्योंकी त्यों बनी रहती है, एकमेवाद्वितीयकी क्रिया-वलीका दर्शन अधिक विस्तीर्ण होता जाता है और उसके साथ-ही-साथ यह अनुभव लगा रहता है कि दिव्य शक्ति एक महत्तर यंत्रके रूपमें कार्य कर रही है और जो कुछ जानने या करनेको है उसे समझ सकनेकी एक अधिक व्यापक शक्ति वहां विद्यमान है। वस्तुओंके सभी सम्भव रूप और गठन अधिकाधिक स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, अपने समुचित स्थानमें रखे होते हैं, व्यवहार करनेके योग्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, उच्चतर मनमें जो कुछ विचार-ज्ञान होता है वह आलोकित मनमें ज्ञानप्रकाश बन जाता है और संबोधि मनमें प्रत्यक्ष घनिष्ट दर्शन। परन्तु संबोधि मन चमकें देखता है और ज्योतिकी एक सतत क्रीड़ाके द्वारा—इलहाम, अन्तःप्रेरणा, आन्तर्ज्ञान, क्षिप्र विवेकके द्वारा जोड़ता है। अधिमानस शान्तिके साथ, स्थिरतापूर्वक, देश और काल और सम्बन्धके

महान् स्तूपों और विशाल विस्तारोंमें, वर्तुलाकार रूपमें देखता है; यह उसी तरह सृष्टि करता है और कर्म करता है — यह महान् देवोंका, दिव्य स्रष्टाओं-का लोक है। केवल, प्रत्येक देव अपने निजी तरीकेसे सृष्टि करता है; वह सर्वको देखता है पर देखता है अपने निजी दृष्टिकोणसे। वहां पूर्ण अतिमानसिक सामंजस्य और सुनिश्चितता नहीं है। विभिन्न लोकोंके बीचके ये ही कुछ भेद हैं जिन्हें यहां कुछ अपूर्ण रूपसे प्रकट किया गया है। निश्चय ही यहां उन लोकोंके निजी संपर्कसे ही उनकी बात कही गयी है — जब वे मानव चेतनामें कार्य करते हैं तब मन, प्राण और शरीरके मानवीय यंत्रपर निर्भर करनेके कारण वे अपनी क्रियामें अनिवार्य रूपसे बहुत अधिक ह्रासको प्राप्त हो जाते हैं जब ये मन, प्राण और शरीर अचंचल हो जाते हैं, केवल तभी वे अपनी पूर्णतर शक्तिको प्राप्त करते तथा अपने स्वभावको कहीं अधिक प्रकट करते हैं।

*

समस्त ऊर्ध्व लोकोंमें ज्ञानका मूल तत्व एक ही है, परन्तु उच्चतर मन ज्ञानके मूलतत्व और रूपको केवल विचार और शब्दके रूपमें देता है; मनुष्य जैसे-जैसे उच्चतर लोकोंमें उठता जाता है अथवा यों कहें कि जैसे जैसे ज्ञान उच्च-से-उच्चतर लोकोंमें उठता है अथवा यों कहें कि जैसे ज्ञान उच्चसे-उच्चतर स्रोतसे आने लगता है वैसे-वैसे वह वर्धित होता है और प्रबुद्ध मनमें उसकी एक विशिष्ट ज्योति और शक्ति और आनन्द प्रकट होना प्रारम्भ करते हैं। ये ज्योति आदि चीजें अभी भी प्रबुद्ध मनमें अवमिश्रित और प्रसारित होती हैं; वे और भी उच्चतर लोकोंमें अधिकाधिक तीव्र, स्पष्ट रूपमें निश्चित, सशक्त और प्रभावशाली होती जाती हैं और वे इस योग्य हो जाती हैं कि ज्ञानके स्वभाव और शक्तिको बराबर बदलते रहनेमें समर्थ होती हैं।

*

अज्ञान सिरके ऊपरसे क्रिया कर सकता है — पर उच्चतर स्तरोंके अंगके रूपमें नहीं — वह आता है बाहरसे। परन्तु मस्तकसे ठीक ऊपरके उच्चतर लोक पूर्ण सत्यके लोक नहीं हैं; पूर्ण सत्यको तो तुम केवल अतिमानसमें ही पाते हो।

*

विभिन्न लोक और शरीर एक ही चीज नहीं हैं। सिरसे ऊपर अधिमानस-से लेकर नीचे उच्चतर मनतकके सभी लोक दिखाई देते हैं, पर यह चेतनाके अन्दर केवल एक प्रकारका सहसम्बन्ध है—देशके अन्दर कोई यथार्थ स्थान नहीं है।

*

जैसे-जैसे विचार ऊपर उठता है वैसे-वैसे वह बौद्धिक रहना बन्द कर देता है, वह आलोकित, फिर अन्तःप्रेरणात्मक फिर अधिमानसिक बन जाता है और अन्तमें चरम परात्परकी खोजमें विलीन हो जाता है। परन्तु यह कविता* किसी दार्शनिक विचारको नहीं व्यक्त करती; यह तो महज एक विशिष्ट गति का दर्शनमात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं।

"धुँधला नीला" रंग संबोधितक मनके उच्चतर स्तरोंका रंग है। उसके ऊपर, वह अतिमानसिक ज्योतिसे सुनहला होना आरम्भ कर देता है।

*

विचार ज्ञानका देनेवाला नहीं है बल्कि वह निश्चेतना और अतिचेतनाके बीचका 'मध्यस्थ' है। वह निश्चेतनासे उत्पन्न जगत्को उस ज्ञानको पानेका प्रयत्न करनेके लिये बाध्य करता है जो सहजबोधात्मक प्राणिक या महज अनु-भूत ज्ञानसे भिन्न है और जो स्वयं विचारको अतिक्रम करता है। वह उस अतिचेतन ज्ञानका आवाहन करता है और यहां चेतनाको उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार करता है। वह उच्चतर क्षेत्रोंमें आरोहण करता है और यहांतक कि अतिमानसिक और आनन्द लोकोंमें विलीन होकर एक ऐसी चीजमें रूपान्त-रित हो जाता है जो उनकी शक्तियोंको उस नीरव आत्मामें उतार लायेगी जिसे उसका अवसान अपने पीछे छोड़ जाता है।

सुनहरा-लाल शरीरमें अतिमानसिकका रंग है—कविता विचारका वर्णन उस स्थितिमें कर रही है जब विचार रूपान्तरित होने जा रहा है और ऊपर अनन्तमें आरोहण करके विलीन होने जा रहा है, "ज्योतित-शब्द मन्त्र" (Flame

*यह पत्र और इसके बादका पत्र दोनों ही श्री अरविन्दकी एक कविता 'थोट द पाराक्लिट'के सम्बन्धमें लिखे गये थे। कविताके लिये देखिये श्री अरविन्दकी पुस्तक 'कलेक्टड पोयम्स एण्ड प्लेज', पृ० ३००.

word rime) शब्द उच्चतर अन्तःप्रेरणा, संबोधि, श्रुतिका शब्द है जो कि विचारकी उच्चतर उपलब्धि है।

*

संबोधिमय पुरुषसे मेरा आशय संबोधि सत्तासे था अर्थात् उस भागसे जो संबोधि भूमिकाका भाग है या उससे सम्बद्ध है। संबोधि चिन्तनशील मानव मन और अतिमानसिक भूमिकाओंके बीचमें स्थित चेतनाकी उच्चतर भूमिकाओंमेंसे एक है।

*

संबुद्ध मानस अतिमानसका सीधा स्पर्श नहीं प्राप्त करता। इससे ऊपर अधिमानस है जिसमें एक उच्चतर और महत्तर संबोधि विद्यमान है और उससे ऊपर अतिमानसिक क्षेत्र हैं।

*

मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि संबुद्ध मानसमें पवित्रता, शक्ति और सौंदर्यके पृथक्-पृथक् स्तर हैं। ये भगवान्की विभिन्न शक्तियां हैं न कि पृथक् स्तर। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि, किसी सुव्यवस्थित उद्देश्य-सिद्धिके लिये मन उनको उस ढंगसे सुविन्यस्त कर सकता है।

*

श्रुति-प्रकाश संबोधि-चेतनाका एक अंग है।

*

एक ऐसा विवेक है जो बौद्धिक नहीं बल्कि एक सीधा प्रत्यक्ष-बोध होता है।

*

अहंकारके बने रहनेपर भी मनुष्य वहांसे (संबोधि-लोकसे) अन्तःप्रेरणाएं, सूचनाएं प्राप्त कर सकता है; परन्तु अहंकारकी सीमाके साथ सम्बोधिकी विशालतामें निवास करना सम्भव नहीं है।

*

संबोधिमें निवास करनेके लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि मनुष्यमें वैश्व चेतनाकी ओर उन्मुक्तता हो और वह पहले उच्चतर और आलोकित मनमें निवास करे और वहांसे प्रत्येक चीजको देखे। ऊपरसे निरन्तर अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक नहीं है—यह पर्याप्त है कि मनुष्यको सर्वत्र एकतमकी उपस्थितिका बोध हो और वह बाह्य मन और इंद्रियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक मन और इंद्रियोंके द्वारा वस्तुओं और लोगोंके साथ संपर्क प्राप्त करे —बाह्य मन और इंद्रिय वस्तुओंके केवल ऊपरीतलसे सम्बन्ध प्राप्त करते हैं और वे अन्तर्ज्ञानक्षम नहीं होते।

*

विश्व-चेतनाके कई स्तर हैं—वैश्व भौतिक, वैश्व प्राणिक, वैश्व मानसिक और वैश्व मनके उच्चतर लोकोंसे ऊपर संबोधि है और उसके ऊपर अधिमानस तथा उसके और भी ऊपर अतिमानस है जहां परात्पर चेतना आरम्भ होती है। संबोधि-लोकमें रहनेके लिये (महज अन्तर्ज्ञान प्राप्त करनेके लिये नहीं) साधकको वैश्व चेतनामें निवास करना पड़ता है क्योंकि वहां मानों व्यक्तिगत और विश्वगत चेतनाएं एक दूसरीमें समा जाती हैं, और उनके बीचकी मानसिक पृथक्ता भंग हो जाती है, अतएव पृथगात्मक अहंमें रहनेवाला कोई आदमी वहां नहीं पहुँच सकता।

विश्वगत किसी भी लोकमें सच्चिदानन्दकी प्रतिबिंबित निष्क्रिय अवस्थाकी उपलब्धि करना सम्भव है, पर पूर्ण रूपसे उसमें प्रवेश कर जाना, परात्पर भगवान्‌के साथ सक्रिय और निष्क्रिय दोनों रूपोंमें समग्र एकत्व प्राप्त करना विश्वातीत हो जानेपर ही सम्भव होता है।

*

यह (व्यष्टि-आत्मा) विशेष रूपसे (संबोधिके साथ) संबंधित नहीं है—

संबोधि वह उच्चतम शक्ति है जिसे अपनेको विश्वभावापन्न बनाये बिना शरीर-धारी व्यष्टि प्राप्त कर सकता है। जब वह अपनेको विश्वभावापन्न बना लेता है तब अधिमानसके संपर्कमें आना उसके लिये सम्भव हो जाता है। यदि व्यष्टि-आत्माका अर्थ जीवात्मा हो तो यह चेतनाके किसी भी स्तरसे हो सकता है।

*

चैत्य नहीं किन्तु मन ही ऊपर उठता है और रूपान्तरित होता है तथा उसकी क्रिया चेतनाके संबोधिभावापन्न होनेके द्वारा तीव्र हो जाती है। चैत्य सदैव सारतः वही रहता है और अपनी क्रियाको रूपान्तरकी आवश्यकताके बिना ही चेतनाके किसी भी परिवर्तनके अनुकूल बना लेता है।

*

हां, (संबोधि-स्तरपर) सत्ताएं हैं। संबोधिको उच्चतर सत्यका साक्षात् संस्पर्श प्राप्त है पर वह संस्पर्श सर्वांगपूर्ण नहीं होता। वह सत्यको चमकोंके रूपमें पाता है और सत्य-दर्शनकी इन चमकोंको अन्तर्ज्ञानमें — अन्तःप्रेरित भावनाओंमें बदल देता है। सच्ची संबोधिकी भावनाएं, जहांतक उनका अपना क्षेत्र होता है, सदा ही ठीक होती हैं — पर जब अन्तर्ज्ञान साधारण मनके उपादानके मिल जानेसे दूषित हो जाता है तब इसका सत्य भूल-भ्रांतियोंके साथ मिलजुल जाता है।

*

मुझे याद नहीं कि किस प्रसंगमें मैंने उसे लिखा था। परन्तु पतनको रोकनेके लिये संबोधि-भावापन्न होना पर्याप्त नहीं है; यदि वह पूर्ण हो (और वह तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक न केवल मनपर प्राण और शरीर भी संबोधि-भावापन्न नहीं हो जाते) तो तुम्हारे अन्दर और इर्दगिर्द जो सब प्रक्रियाएं चल रही हैं उन्हें जान सकते और उनके विषयमें सचेतन हो सकते हो, परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि तुम सभी प्रतिक्रियाओंके संपूर्ण प्रभु बन जाओ। उसके लिये ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है — एक प्रकारके ज्ञान-संकल्प (ज्ञान और संकल्प एक साथ घुले-मिले) अथवा चित्-शक्तिकी आवश्यकता है।

*

अधिमानस भागवत सत्यको ग्रहण करता है और उसे विभिन्न रचनाओं तथा शक्तियोंकी विभिन्न क्रीड़ाओंमें विभक्त कर देता है और इस तरह इस विभाजनके भीतरसे विभिन्न लोकोंका निर्माण करता है।

संबोधिमें ज्ञानका स्वरूप है सत्य जो व्यापक या समग्र नहीं है, बल्कि एक ऐसे सत्यके बहुत से बिन्दुओं, किनारों, चमकोंके रूपमें प्रकट होता है जो उसके पीछे विद्यमान है और उसे प्रत्यक्षदर्शन प्रदान करता है।

*

उसके कहनेका अर्थ यह प्रतीत होता है कि अधिमानसके परे "उच्चतर ज्योतित बुद्धि" का एक स्तर है। यह असंभव है। अधिमानसके परे तो अतिमानस है — अतिमानससे नीचेके लोकोंमें उच्चतम लोक अधिमानस है, और अभीतक अतिमानसका संस्पर्श उसे प्राप्त नहीं हुआ है। वह यहां जिसे अधिमानस कहता है वह सच्चा अधिमानस नहीं हो सकता। उसके अनुभव उस मनके अनुभव हैं जो उच्चतर मानसिक लोकोंकी ओर खुल रहा है और उनमेंसे उनकी शक्तियोंमेंसे कुछ चीजों और शक्तियोंको मन, प्राण और शरीरमें उतार लानेका प्रयास कर रहा है।

उसने चार जगतोंका जो वर्गीकरण किया है वह उसने जो कुछ देखा है उसकी व्याख्या करनेका मनका एक प्रयास है; परन्तु उसने उसे एकदम ठीक रूपमें नहीं पाया है। यदि महासरस्वतीने उसे इस क्षण रोक दिया तो इसका कारण यह रहा होगा कि उसका मन एक गलत रचना कर रहा था और उसे और आगे बढ़ा ले जानेका कोई लाभ नहीं था।

अपने योगकी इस अवस्थामें उसे यह निरीक्षण करना चाहिये कि क्या हो रहा है पर उसे किसी ऐसे वर्गीकरण या मानसिक व्यवस्थापनको कोई सुनिश्चित या अन्तिम महत्व नहीं देना चाहिये, ऐसी अवस्थामें मन कभी-कभी इन चीजोंको ठीक-ठीक रूपमें पाता है, कभी-कभी उनकी रचनाएं करता है जो सही नहीं होतीं और जिनका त्याग करना होता है अथवा जब उच्चतर ज्ञान आता है तब सुधार करना होता है।

*

तुम जिसे अतिमानस चेतना कहते हो वह निःसंदेह मानव मनसे ऊपर स्थित है, किन्तु इसे अतिमानस नहीं किंतु केवल उच्चतर चेतना कहना चाहिये।

इस उच्चतर चेतनामें बहुतसे कोटिक्रम हैं, अतिमानस चेतना जिनका शिखर या उद्गम है। शिखर या उद्गमको एक बारगी ही पा लेना सम्भव नहीं; सर्वप्रथम निम्नतर चेतनाको शुद्ध करके तैयार करना होगा। तुमने जो प्रकाश देखा उसका यही अर्थ था, उसका देह या उपादान इतना घना और शक्तिशाली है कि तुम इस समय उसमें प्रवेश नहीं कर सकते।

*

निश्चय ही अधिमानसिक अवतरण उन लोगोंके लिये आवश्यक है जो अतिमानसिक परिवर्तन चाहते हैं। जबतक अधिमानस नहीं खुलता तबतक चेतनाका सीधा अतिमानसिक उद्घाटन नहीं हो सकता। यदि कोई मनमें, यहांतक कि प्रकाशित मनमें या संबोधिमें रहे तो उसे अतिमानससे अप्रत्यक्ष संदेश या कोई प्रभाव प्राप्त हो सकता है, किन्तु चेतनाका सीधा अतिमानसिक नियमन या अतिमानसिक परिवर्तन नहीं।

*

लोग बड़े हलके रूपमें अधिमानस और अतिमानसकी चर्चा करते हैं मानों उनमें प्रवेश करना बड़ा ही आसान हो और वे भूलवश निम्नतर क्रियाओंको ही अधिमानसिक या अतिमानसिक मानने लगते हैं, और इस तरह सत्यके विषयमें गड़बड़घोटाला करते हैं तथा साधनाकी प्रगतिमें बाधा उत्पन्न करते हैं।

*

यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है कि इस 'ज्ञान-संकल्प' का मतलब क्या है। ऐसा वर्णन साधारणतया अधिमानसका किया जाता है जहां ज्ञान और संकल्पमें कोई विभेद नहीं है, प्रत्येक दूसरेपर कार्य करता है अथवा यों कहें कि दोनों एक साथ एकत्वमें ग्रथित होते हैं और इसलिये अमोघ होते हैं। तुम कहते हो कि इसने मन, प्राण और शरीरमें रूप ले लिया है; यदि ऐसा है तो इसका अर्थ होगा स्थायी और सुनिश्चित रूपान्तर; अतएव यह अतिमानसिक नहीं हो सकता। यह कोई अधिमानसिक सत्यका लोक होगा।

*

ज्ञान और संकल्प दोनोंको स्वभावतः ही एक हो जाना होगा, उसके बाद ही वे दोनों पूर्ण रूपसे कार्य कर सकते हैं।

*

यह परात्पर लोकोंका अनुभव है जैसा कि वे चेतनाके उच्चतर लोकोंमें (अधिमानस आदिमें) उन लोकोंके संपर्कके अनुसार प्रतिबिंबित होते हैं; ठीक जिस तरह कि मनुष्य मनोमय या प्राणमय या शरीर चेतनामें प्रतिबिंबित सच्चिदानन्दका और इन लोकोंका अनुभव प्राप्त कर सकता है उसी तरह इसे भी वहां प्राप्त कर सकता है — पर प्रत्येक लोकमें यह अलग-अलग रूपमें दिखाई देता है।

*

अधिमानस अनुभव तब आता है जब मनुष्य अधिमानस लोकमें ऊपर उठ जाता है और चीजोंको वैसी देखता है जैसी वे उस लोकमें हैं अथवा जैसी वे उस चेतनाको दिखाई देती हैं जो अधिमानसिक दृष्टिसे अन्य लोकोंको देखती है। जब मनुष्य मन, प्राण या भौतिक लोकमें रहता है तब अधिमानसिक प्रभाव नीचे आता है और उस क्षणकी सम्भावनाओं या किये जानेवाले कार्यके अनुसार कम या अधिक मात्रामें मन, प्राण या भौतिक क्रियाओंमें परिवर्तन ले आता है। यह वैसी विशुद्ध शक्ति नहीं होता जैसा कि यह अपने निजी लोकमें होता है बल्कि मानसिक, प्राणिक या भौतिक परिस्थितियोंके अधीन कार्य करता है। इसकी शक्ति बहिर्मुखीकी अपेक्षा कहीं अधिक अन्तर्मुखी होती है — इसके लिये विषय-संबंधी हमारी दृष्टि और अनुभवको तथा विषयसंबंधी हमारे ज्ञानको बदलना आसान होता है, पर स्वयं विषयको या उसके स्वभाव या परिस्थितियोंको अथवा उस स्तरकी वस्तुओंकी बाहरी अवस्थाको बदलना उसके लिये उतना आसान नहीं होता।

*

कोई भी अधिमानसिक विपत्ति नहीं है — बस, बात यह है कि निम्नतर चेतना अधिमानस या उच्चतर चेतनाकी सूचनाओंका दुर्व्यवहार करती है और वही खतरा ले आ सकता है। अधिमानसिक मिथ्यात्व नामकी भी कोई चीज

नहीं है। अधिमानस इस अर्थमें अज्ञानका अंग है कि वही वह उच्चतम ज्ञान है जिसे अज्ञान (अविद्या) प्राप्त कर सकता है, पर ज्ञान अभीतक विभक्त है और सत्यके अंशों और पहलुओंका ज्ञान वैसा ही हो सकता है, वह सर्वांग-पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा होनेके कारण मन इसका दुष्प्रयोग कर सकता और इसे मिथ्यात्वमें परिणत कर सकता है।

*

अधिमानसिक अनुभव अनिवार्य रूपसे निम्नतर प्राणिक और शारीरिक क्रियाओंसे मुक्त नहीं करता — यह उन्हें एक हदतक केवल परिवर्तित करता है और उन्हें एक महत्तर सत्यके लिये तैयार करता है।

*

यह पूर्णतः स्वाभाविक है। इन अनुभवोंमें तुम अन्य लोकोंकी चेतनाके विषयमें सज्ञान होते हो। इस तरह तुम भागवत चेतना, श्रीमांका एक आकार होनेका अनुभव करते हो, और जबतक अनुभव बना रहना है श्रीमांकी शक्तिको अनुभव करते हो; जब अनुभव समाप्त हो जाता है तुम अपनी सामान्य स्थितिमें वापस आ जाते हो, शक्ति तुमसे अलग हट जाती है। ये अधिमानस ज्ञानसे युक्त चेतनाके विशिष्ट अनुभव हैं और उसे रूपान्तरके लिये प्रस्तुत करते हैं।

*

यह बहुत सीधी बात है, यह भागवत चेतनाके प्रति आकर्षण है जो एक ठोस अनुभवके रूपमें व्यक्त हुआ है। इन अनुभूतियोंका ठोस रूप लेना ही तुम्हें हैरतमें डाल रहा है। वहां सभी अनुभव ठोसरूप लेनेकी प्रवृत्ति रखते हैं, मनकी तरह वहां कोई "अमूर्त" सत्य नहीं है — अधिमानसमें विचार भी एक ठोस शक्ति और एक सुस्पष्ट पदार्थ है।

*

हां — यह सत्यका एक पक्ष है, — क्योंकि अधिमानसमें सत्यके बहुतसे पहलू हैं, वे पृथक् या एक साथ संयुक्त या एकके ऊपर एक विन्यस्त हैं।

क्यों नहीं ? दोनों ही अधिमानसके विभिन्न स्तरोंपर अथवा अधिमानससे आनेवाली विभिन्न वैश्व रचनाओंमें सत्य हैं। अधिमानसमें सभी पक्ष विद्यमान हैं, यहांतक कि वे पक्ष भी हैं जिन्हें बुद्धि परस्पर विरोधी समझती है; अधिमानसमें वे परस्पर विरोधी नहीं होते बल्कि एक दूसरेके परिपूरक होते हैं।

*

एकमात्र अतिमानस ही भूल-भ्रांतिसे पूर्ण स्वतन्त्र है। अधिमानस सत्यको सब प्रकारकी क्रम-व्यवस्थाओंमें सामने रखता है और जब उन सभी क्रम-व्यवस्थाओंको एक साथ लिया जाता है तब वे पूर्ण सत्यकी जैसी कोई चीज हमें प्रदान करती हैं—पर ये क्रमव्यवस्थाएं फिर तुम्हारी पार्थिव चेतनामें प्रतिबिंबित हुई हैं अथवा उच्चतर लोकोंसे होनेवाले अवतरणके द्वारा तुम्हारी पार्थिव चेतनातक पहुँचाई गई हैं, पर इन्हें ग्रहण करते समय पार्थिव चेतना इनकी व्याख्या करने, इन्हें समझने, इनका प्रयोग करने और इन्हें विन्यस्त करनेमें भूल कर सकती है।

*

सभी वस्तुओंके विषयमें चरम निश्चयात्मक ज्ञान तो केवल अतिमानससे ही प्राप्त हो सकता है। इस बीच व्यक्तिको उसी ज्ञानको लेकर चलना पड़ता है जो अन्य भूमिकाएं प्रदान करती हैं।

III

अवतरण उस उच्चतर चेतनाकी शक्तियोंका होता है जो सिरसे ऊपर रहती है। यह चेतना साधारणतया एक केंद्रसे दूसरे केंद्रपर उतरती है और बादमें सारी सत्ताको अधिगत कर लेती है, पर शुरुमें यह कार्य बड़े अस्थिर ढंगका होता है। यह स्थायी केवल तभी होता है जब ऊपर से शान्ति उतर ही नहीं आती वरन् समस्त सत्तामें अपने-आपको स्थापित कर लेती है। अवतरणका अभिप्राय है चेतनाका रूपान्तर करना पर रूपान्तरके कार्यमें समय लगता है; एक क्षणमें सब कुछ नहीं हो जाता।

*

मैंने यह कहा है कि शान्ति या निश्चल-नीरवताके आनेके लिये सबसे अधिक निर्णायक मार्ग है ऊपरसे होनेवाला अवतरण। तथ्य यह है कि वास्तवमें वे इसी प्रकार आती हैं—यद्यपि बाहरसे हमेशा ऐसा नहीं प्रतीत होता;—यह बाहरसे हमेशा आती हुई इसलिये नहीं दिखाई देती कि साधक सदा ही प्रक्रियाके विषयमें सचेतन नहीं होता; वह अपने अन्दर शान्तिको स्थिर होते हुए या कमसे-कम प्रकट होते हुए तो अनुभव करता किन्तु इस सम्बन्धमें सचेतन नहीं हुआ होता कि वह कैसे और कहांसे आई। फिर भी यह सच है कि उच्चतर चेतनासे सम्बन्धित सब कुछ, ऊपरसे आता है, केवल आध्यात्मिक शान्ति और निश्चल-नीरवता ही नहीं, परन्तु प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, उच्चतर अवलोकन और विचार एवं आनन्द भी ऊपरसे ही आते हैं। यह भी सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दुतक वे भीतरसे आयें, किन्तु यह इसलिये होता है कि चैत्य सत्ता उनके सीधी खुली हुई होती है और वे पहले उसमें आते हैं और फिर चैत्यसे या उसके सामने आनेके द्वारा सत्ताके बाकी हिस्सेमें अपनेको पुनः प्रकट करते हैं। भीतरसे उद्घाटन और ऊपरसे अवतरण ये दो योग-सिद्धिके महिमामय मार्ग है। बाह्य ऊपरितलीय मन या भावावेगोंका प्रयत्न, किसी प्रकारकी तपस्या इन वस्तुओंमेंसे किसीका निर्माण करती प्रतीत हो सकती है, किन्तु इन दो मूलगामी मार्गोंके परिणामकी तुलनामें ये परिणाम साधारणतया अनिश्चित और आंशिक होते हैं। इसलिये इस योगमें साधनाके फलोंकी प्राप्तिके लिये हम सदैव अनिवार्य रूपमें 'उद्घाटन' पर—अर्थात् हमारे अन्तर्तम भाग चैत्य की ओर आन्तर मन, प्राण और देहके अन्तर्मुख उद्घाटनपर एवं मनसे ऊपर स्थित सभी चीजोंकी ओर ऊर्ध्वमुख उद्घाटनपर —आग्रह पूर्वक बल देते हैं।

इसका मूलभूत कारण यह है कि जिस क्षुद्र मन, प्राण, शरीरको हम अपनी आत्मा कहते हैं वह केवल उपरितलीय गति या क्रिया है और हमारा सच्चा आत्मा बिलकुल नहीं। यह व्यक्तित्वका एक बाह्य टुकड़ा है जो एक छोटेसे जीवनके लिये अज्ञानकी क्रीड़ाके निमित्त आगे लाया गया है। इसे सत्य-के अवशेषोंको खोजनेके लिये इधर-उधर ठोकर खाते हुए अज्ञानी मनसे; सुखके टुकड़ोंकी खोजमें इधर-उधर दौड़नेवाले अज्ञानी प्राणसे, वस्तुओंके संस्पर्शों-को ग्रहण करनेवाले और उनसे फलित होनेवाले दुःख या सुखपर अधिकार रखनेकी अपेक्षा उसे झेलनेवाली तमोग्रस्त और प्रायः अवचेतन भौतिक सत्तासे सज्ज किया गया है। इस सबको तबतक स्वीकार किया जाता है जबतक कि मन विरक्त होकर अपने एवं वस्तुओंके यथार्थ सत्यकी प्राप्तिके लिये खोज आरम्भ नहीं कर देता, प्राण विरक्त होकर इस संदेहसे नहीं भर उठता कि कहीं यथार्थ

आनन्द जैसी किसी वस्तुका अस्तित्व मिथ्या तो नहीं और स्थूल सत्ता थककर स्वयं अपनेसे और अपने दुःखों एवं सुखोंसे मुक्ति नहीं चाहने लगती। तब जाकर व्यक्तित्वके अल्प अज्ञानी अंशके लिये अपने यथार्थ आत्माकी और साथ ही इन महत्तर वस्तुओंकी ओर — या फिर अपने निर्वाणकी ओर लौटना सम्भव होता है।

सच्चा आत्मा कहीं सतहपर नहीं किन्तु अन्दर गहराईमें और ऊपर ऊर्ध्वमें विद्यमान् है। अन्दर अन्तरात्मा है जो उस आन्तर मन, आन्तर प्राण और आन्तर स्थूल सत्ताको सहारा या अवलम्ब दे रहा है जिसमें वैश्व विशालता-की क्षमता है और उसके साथ ही उन वस्तुओंकी भी जिसकी इस समय मांग की गई है अर्थात् आत्मा और वस्तुओंके सत्यके साथ सीधे सम्पर्ककी, वैश्व आनन्दके आस्वादकी दिशामें और स्थूल भौतिक शरीरकी काराबद्ध क्षुद्रता और कष्टोंसे मुक्ति की। यहांतक कि युरोपमें भी सतहके पीछे रहनेवाली किसी वस्तुके अस्तित्वको बहुधा स्वीकार किया जाता है लेकिन उसकी प्रकृति-को गलत समझा गया है और उसे अवचेतन या अन्तःप्रच्छन्न सत्ताका नाम दिया गया है, जब कि यथार्थ रूपसे यह अपने ढंगसे बहुत सचेतन होती है न कि अन्तःप्रच्छन्न किन्तु केवल आवरणके पीछे विद्यमान होती है। हमारे मानस-शास्त्रके अनुसार यह (आत्मा) हमारे क्षुद्र बाह्य व्यक्तित्वके साथ चेतनाके उन विशेष केन्द्रोंके द्वारा जुड़ा हुआ है जिनके विषयमें हम योग द्वारा सचेतन होते हैं। आन्तरिक सत्ताका केवल छोटा-सा अंश इन केन्द्रोंमेंसे बच निकलकर बाह्य जीवनमें आता है, किन्तु वह थोड़ासा अंश ही हमारी सत्ताका सर्वोत्तम अंश है और वही हमारी कला, काव्य, दर्शन, आदर्श, धार्मिक अभीप्साओं, ज्ञानकी और पूर्णताकी प्राप्तिके हमारे प्रयत्नके लिये उत्तरदायी है किन्तु आन्त-रिक केन्द्र अधिकांशमें बन्द है या सोये पड़े हैं — उन्हें खोलना और जगाकर सक्रिय करना योगका एक लक्ष्य है। उनके खुलते ही हमारे अन्दर आन्तर सत्ताकी शक्तियां और सम्भवनाएं भी जाग जाती है; हम पहले एक बृहत्तर चेतनाके प्रति और फिर वैश्व चेतनाके प्रति जाग्रत होते हैं तब हम पहलेकी तरह सीमित जीवनोंवाले क्षुद्र पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह जाते किन्तु वैश्व क्रियाके केन्द्र और ब्रह्माण्डकी शक्तियोंसे सीधे संबद्ध हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त न चाहते हुए भी ब्रह्माण्ड़की शक्तियोंके खिलौने बननेके स्थानपर, जैसा कि उत्तलीय व्यक्ति होता है, हम कुछ हदतक प्रकृतिकी क्रीड़ाके विषयमें सचेतन और उसके स्वामी भी हो सकते हैं — यह कितनी सीमातक प्राप्त हो सकता है यह तो आन्तर सत्ताके विकास और ऊपर उच्चतर सत्ताके स्तरोंकी ओर उसके उद्घाटनपर निर्भर करता है उसके साथ ही हृदय केन्द्रका उद्घाटन

उस चैत्य सत्ताको मुक्त करता है जो हमें अन्तरमें स्थित भगवान्‌के और हमसे ऊपर स्थित उच्चतर सत्यके विषयमें सचेतन बनाने लगता है।

क्योंकि सर्वोच्च आध्यात्मिक पुरुष हमारे व्यक्तित्व और शारीरिक-सत्ताके अस्तित्वके पीछे ही नहीं किन्तु उसके ऊपर भी है और उससे बिलकुल परे भी जैसे आन्तरिक केन्द्रमें सबसे गहरा केन्द्र हृदयमें है वैसे ही सबसे ऊंचा केन्द्र सिरमें है; किन्तु वह केन्द्र जो कि आत्माके प्रति सीधा उद्‌घाटित होता है, सिरके ऊपर स्थूल देहके बिलकुल बाहर उस शरीरमें विद्यमान है जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इस आत्माके दो पक्ष हैं और उसके साक्षात्कारके परिणाम इन दो पक्षोंसे मेल खाते हैं। एक तो है स्थाणु, विशाल शान्ति, मुक्ति, निश्चल-नीरवताकी अवस्था: नीरव आत्मा किसी भी कर्म या अनुभवसे प्रभावित नहीं होता; वह तटस्थ रहकर उन्हें सहारा देता है किन्तु उन्हें आरम्भ करता जरा भी प्रतीत नहीं होता, बल्कि अनासक्त या अलिप्त उदासीन रूपमें पीछे अवस्थित प्रतीत होता है। दूसरा पक्ष सक्रिय है और उसका अनुभव एक ऐसे वैश्व पुरुष या आत्माके रूपमें होता है जो केवल सहारा ही नहीं देता बल्कि संपूर्ण वैश्व व्यापारको जन्म देता है और धारण करता है—उसके केवल उसी अंशको नहीं जिसका हमारी स्थूल सत्ताओंके साथ सम्बन्ध है किन्तु उस सबको भी जो इससे परे है—इस जगत्‌को और अन्य सब जगतोंको, विश्वके अतिभौतिक एवं भौतिक स्तरोंको भी इसके सिवाय, हम पुरुषको सबमें एकमेवके रूपमें अनुभव करते हैं; बल्कि हम उसे इस रूपमें भी अनुभव करते हैं कि वह सबसे ऊपर है, परात्पर है, समस्त व्यक्तिगत जन्म या वैश्व अस्तित्वको अतिक्रान्त किये हुए है। उस विश्वात्मामें जो सबमें एक है, प्रवेश करनेका अर्थ है अहंसे मुक्त होना; अहं या तो चेतनामें एक क्षुद्र करणरूप तत्व बन जाता है या यहां तक कि हमारी चेतनामेंसे बिलकुल लुप्त ही हो जाता है। यही है अहंका लय या निर्वाण। सबके ऊपर स्थित परात्पर पुरुषमें प्रवेश करना हमें वैश्व चेतना और व्यापारके भी बिलकुल परे चले जानेमें समर्थ बनाता है—यह जगत् सत्तासे उस पूर्ण मुक्तिका मार्ग भी बन सकता है जिसे लय, मोक्ष या निर्वाण भी कहते हैं।

तथापि इस बातपर भी ध्यान देना चाहिये कि ऊपरकी ओर होनेवाला उद्‌घाटन अनिवार्य रूपसे केवल शान्ति, निश्चल-नीरवता और निर्वाणकी ओर ही नहीं ले जाता। साधक केवल हमारे ऊपर, मानों हमारे सिरके ऊपर स्थित, एवं सब भौतिक और अतिभौतिक अवकाशमें विस्तृत होती हुई एक महान् और अन्ततः असीम शान्ति, नीरवताके और विशालताके विषयमें ही सचेतन नहीं हो जाता अपितु अन्य वस्तुओंके सम्बन्धमें भी सचेतन हो सकता है—

एक विशाल शक्तिके विषयमें जिसमें सर्व शक्ति स्थित है, एक विशाल प्रकाशके विषयमें भी जिसमें सर्वज्ञान विद्यमान है, एक विशाल आनन्दके विषयमें जिसमें संपूर्ण आनन्द और हर्षोल्लासका अस्तित्व है। सर्वप्रथम तो वे कोई सारभूत, निर्विशेष, चरम, एकमात्र, केवल वस्तु जैसे प्रतीत होते हैं: इनमेंसे किसी भी वस्तुमें लय होना सम्भव दिखाई देता है किन्तु यह बात भी हमारी दृष्टिमें आ सकती है कि इस शक्तिमें सभी शक्तियां इस प्रकाशमें सभी प्रकाश, इस आनन्दमें सभी हर्ष एवं आनन्द समाये हुए हैं। और यह सब हममें अवतरित हो सकता है। उनमेंसे कोई एक या सबके सब नीचे आ सकते हैं केवल शान्ति ही नहीं; सबसे अधिक निरापद है पहले केवल एक चरम स्थिरता और शांति-को नीचे उतार लाना, क्योंकि उसके कारण अन्योंका अवतरण अधिक सुरक्षित हो जाता है; अन्यथा बाह्य प्रकृतिके लिये इतनी अधिक शक्ति, प्रकाश, ज्ञान या आनन्दको अपने अन्दर धारण या सहन करना कठिन हो सकता है। ये सब वस्तुएं मिलकर उस चेतनाका निर्माण करती हैं जिसे हम उच्चतर आध्यात्मिक या भागवतचेतना कहते हैं। हृदयके द्वारा चैत्यका उन्मीलन होनेपर वह प्रथमतः वैयक्तिक भगवान्‌के साथ अर्थात् जो भगवान् हमारे साथ आन्तरिक सम्बन्ध बनाये हुए हैं उनके साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित कर देता है; यह विशेषकर प्रेम और भक्तिका मूल स्रोत है यह ऊर्ध्वमुख उन्मीलन समग्र भगवान्‌के साथ हमारा सीधा सम्बन्ध स्थापित कर देता है और हमारे भीतर दिव्य चेतनाका और आत्माका नवजन्म या जन्मोंका निर्माण कर सकता है।

जब शान्ति स्थापित हो जाती है तो यह उच्चतर या भागवत शक्ति ऊपरसे उतर सकती है और हमारे अन्दर कार्य कर सकती है। यह शक्ति सामान्यतया पहले मस्तकमें उतरती है और आन्तरिक मनके चक्रोंको मुक्त करती है, फिर हृत्केंद्रमें आती है और चैत्य तथा भावात्मक सत्ता को पूरी तरह मुक्त करती है, फिर नाभि और अन्य प्राणिक केन्द्रोंमें आती है एवं आन्त-रिक प्राणको मुक्त करती है, फिर मूलाधारमें तथा और नीचेकी ओर जाती है एवं आन्तरिक शारीर सत्ताको मुक्त करती है। यह एक साथ ही मुक्ति और पूर्णता दोनोंके लिये कार्य करती है; यह सारी प्रकृतिको एक-एक भाग करके हाथमें लेती है और उसपर क्रिया करती है, जिसका परिहार करना है उसका परिहार करती है, जिसे उन्नीत करना है उसे उन्नीत करती है, जिसकी रचना करनी है उसकी रचना करती है। यह प्रकृतिके अन्दर एक नया ताल-छन्द प्रतिष्ठित करती है, एकसूत्रता और सामंजस्य ले आती है। यह उच्चतर प्रकृतिकी अधिकाधिक ऊंची शक्ति और उसके अधिकाधिक ऊंचे क्षेत्रको तबतक उतारती रह सकती है जबतक कि, यदि यह साधनाका लक्ष्य हो, अतिमानसिक

शक्ति और सत्ताको उतार लाना सम्भव न हो जाय। हृत्केंद्रमें चैत्यकी जो क्रिया होती है वही इस सबकी तैयार करती है, इस सबमें सहायता देती है, और इस सबको आगे बढ़ाती है; चैत्य पुरुष जितना ही अधिक खुला होता है, सामने होता है, सक्रिय होता है उतनी ही अधिक तेजी, निरापदता और आसानीसे इस शक्तिकी क्रिया हो सकती है। हृदयमें जितना ही अधिक प्रेम, भक्ति और समर्पण बढ़ते हैं, साधनाका विकास भी उतना ही अधिक तीव्र और पूर्ण होता है। कारण, अवतरण और रूपान्तरका अर्थ ही है संग-संग भगवान्के साथ संपर्क और एकत्वका बढ़ते रहना।

यही है साधनाके मौलिक तत्वोंका स्वरूप। यह स्पष्ट ही है कि यहां सबसे महत्वपूर्ण दो चीजें ये हैं कि जो कुछ भी हृदय और मनके पीछे है और उनसे ऊपर है उस सबकी ओर हृत्केंद्र और मानस-केन्द्रका उद्घाटन हो। क्योंकि, हृदय खुलता है चैत्य पुरुषकी ओर और मनके चक्र खुलते हैं उच्चतर चेतनाकी ओर और चैत्य पुरुष तथा उच्चतर चेतनाके बीचका सम्वन्ध ही सिद्धिका प्रमुख साधन है। पहला, हृदयका उद्घाटन होता है हृदयके अंदर एकाग्र होनेसे, अपने अंदर अभिव्यक्त होनेके लिये, तथा चैत्यके द्वारा सारी प्रकृतिको हाथ-में लेने और उसका नेतृत्व करनेके लिये भगवान्को पुकारनेसे। अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम और समर्पण — ये ही साधनाके इस अंगके प्रमुख अवलम्ब होते हैं — अवश्य ही इसके साथ-साथ उस सब का परित्याग भी होना चाहिये जो हमारी अभीप्सित वस्तुकी सिद्धिके मार्गमें बाधक हो। दूसरा उद्घाटन सिरमें (बादमें, उससे ऊपर) चेतनाकी एकाग्रता द्वारा और सत्ताके अन्दर दिव्य शान्ति, शक्ति, प्रकाश, ज्ञान, आनन्दके पहले शांतिके या शान्ति और शक्ति दोनोंके एकसाथ अवतरणके लिये अभीप्सा, पुकार और स्थिर संकल्प द्वारा साधित होता है — वस्तुतः कुछ लोग पहले प्रकाशको या आनन्दको प्राप्त करते हैं और कुछ लोग ज्ञानकी एकाएक आ पड़नेवाली वृष्टिका अनुभव करते हैं। कुछ लोगोंमें पहले एक ऐसा उद्घाटन होता है जो उनके ऊपर स्थित एक विस्तृत असीम, नीरवता, शक्ति, प्रकाश या आनन्दको उनके सामने प्रकट कर देता है और बादमें वे लोग या तो उनमें आरोहण करते हैं या ये वस्तुएं निम्नतर प्रकृतिमें उतरने लगती हैं। अन्य लोगोंमें अवतरण या तो पहले सिरमें, फिर नीचे हृदयके स्तरतक, उसके बाद नाभि और उसके नीचे एवं सारे शरीरमें व्याप्त होता हुआ आता है या फिर शांति, प्रकाश, विस्तार या शक्तिका एक ऐसा अवर्णनीय उन्मीलन होता है जिसमें अवतरणकी कोई भावना नहीं होती, या फिर वैश्व चेतनामें एक दिगन्तसम उद्घाटन होता है या सहसा विस्तृत हुए मनमें ज्ञानका प्रवाह उमड़ पड़ता है। जो कुछ भी आये

उस सबका स्वागत करना होगा—क्योंकि सबके लिये कोई निश्चित-निरपेक्ष नियम नहीं है—किन्तु यदि शान्ति सर्वप्रथम न आई हो, तो इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्ति खुशीसे फूल न उठे या सन्तुलनको खो न दे तथापि प्रधान क्रिया तो तभी प्रारम्भ होती है जब भागवत शक्ति अर्थात् माता-जीकी शक्ति नीचे आकर आधारको अपने हाथमें ले लेती है, क्योंकि तभी चेतनाका संगठन प्रारम्भ होता है और योगकी बृहत्तर नींव पड़ती है।

साधारणतया एकाग्रताका परिणाम तुरन्त नहीं प्राप्त होता—यद्यपि कुछ लोगोंमें यह चेतनाका प्रस्फुटन तीव्र वेगसे और एकाएक ही हो उठता है; किन्तु अधिक लोगोंको अपनेको अनुकूल बनाने या तैयारी करनेमें अपेक्षाकृत अधिक या कम समय लगता ही है, विशेष कर तब यदि जब प्रकृति अभीप्सा या तपस्याके द्वारा कुछ हदतक पहलेसे ही तैयार की गई हो। कभी-कभी परिणामके आनेमें एकाग्रताके साथ प्राचीन योगकी किसी प्रक्रियाके सहयोगसे भी सहायता मिलती है। ज्ञान मार्गकी एक अद्वैत प्रक्रिया भी है—व्यक्ति मन, प्राण और शरीरके साथ तादात्म्यका इनकार करता रहता है और इन वस्तु-ओंको अपने सच्चे आत्मासे पृथक् रूपमें देखते हुए निरन्तर यह कहता रहता है कि 'मैं मन नहीं हूँ,' 'मैं प्राण नहीं हूँ,' 'मैं शरीर नहीं हूँ'—और कुछ समयके बाद मनुष्य यह अनुभव करता है कि सब मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्रियाएं और स्वयं मन, प्राण, शरीरके अस्तित्वका बोध भी एक बाह्य वस्तु, एक बाह्य क्रिया बन गया है। जब कि भीतर उनसे अनासक्त एक ऐसा पृथक् स्वयंभू सत्ताका बोध उद्भुत होता है जो वैश्व या परात्पर आत्माकी उपलब्धिकी ओर खुल जाता है। पुरुष और प्रकृतिमें भेद करनेकी एक और पद्धति भी है—सांख्योंकी बहुत बलशाली पद्धति। व्यक्ति मनपर साक्षीभावको बलात् आरोपित करता है—मन, प्राण और भौतिक सत्ताका समस्त कर्म एक ऐसी बाह्य क्रीड़ा बन जाता है जो मैं या मेरा नहीं होता किन्तु प्रकृतिसे सम्बन्ध रखता है और होता है मेरी बाह्य आत्मापर बलपूर्वक आरोपित। मैं साक्षी पुरुष हूँ; मैं नीरव, अनासक्त और इनमेंसे किसी भी वस्तुसे बद्ध नहीं हूँ। परिणामतः सत्ताके अन्दर एक द्वैतभाव उत्पन्न होने लगता है; साधक अपने अन्दर एक ऐसी स्थिर, नीरव, पृथक् चेतनाके विकासका अनुभव करता है जो अपनेको मन, प्राण और भौतिक प्रकृतिकी उत्तलीय क्रीड़ासे बिलकुल पृथक् अनुभव करती है। साधारणतया जब ऐसा होता है तो उच्चतर चेतनाकी शान्ति एवं उच्चतर शक्तिकी क्रियाको बहुत तेजीसे नीचे उतार लाना सम्भव हो जाता है और योग-यात्रा पूर्ण वेगसे आरम्भ हो सकती है। किन्तु एकाग्रता और पुकारके प्रत्युत्तर स्वरूप पहले स्वयं शक्ति नीचे आती है और अन्य ऐसे

साधन या प्रक्रियाका प्रयोग करती है जो सहायक या अनिवार्य हो।

एक बात और भी। ऊपरसे होनेवाले अवतरणकी इस प्रक्रियामें और ऊपरकी इस क्रियामें यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है कि व्यक्ति पूरी तरहसे अपने ऊपर ही भरोसा न रखे किन्तु गुरुके पथप्रदर्शन पर निर्भर रहे तथा जो कुछ भी हो उस सबको निश्चय, निर्णय और फैंसलेके लिये उसके सामने रख दे। कारण बहुधा यह होता है कि ये निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियां इस अवतरणके कारण भड़क उठती हैं और उत्तेजित हो जाती हैं एवं इसके साथ मिलकर इसे अपने लाभके लिये काममें लाना चाहती हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि ऐसी शक्ति या शक्तियां जिनकी प्रकृति दिव्य नहीं होती, अपने-आपको परम प्रभु अथवा भगवती माता-के रूपमें प्रस्तुत करती हैं और व्यक्तिसे सेवा एवं समर्पणकी मांग करती हैं। यदि इन वस्तुओंको स्वीकार कर लिया जाय तो इसके अधिक दारुण परिणाम होंगे। यदि साधककी यथार्थतः केवल भागवत क्रियाके प्रति सहमति हो और उस पथप्रदर्शनके प्रति नमन या समर्पणका भाव हो तो सबकुछ बिना विघ्न बाधाके आगे बढ़ सकता है। यह सहमति और सब अहंमय शक्तियों या अहंको आकृष्ट करनेवाली सब शक्तियोंका परित्याग साधनामें आद्योपान्त रक्षाकवचका काम देता है। किन्तु प्रकृतिके मार्ग फन्दोंसे भरे पड़े हैं, अहंके कपट वेश अगणित है, अन्धकारकी शक्तियोंकी भ्रान्तियां अर्थात् राक्षसी माया असाधारण रूपसे कुशल होती है; तर्कबुद्धि एक अपूर्ण पथप्रदर्शक है और प्रायः विश्वासघाती बन जाती है; प्रत्येक आकर्षक पुकारका अनुसरण करनेके लिये ललचानेवाली प्राणिक कामना हमारे साथ सदैव लगी रहती है। यही कारण है कि हम इस योगमें उस वस्तुपर अत्यधिक आग्रह रखते हैं जिसे हम समर्पण कहते हैं —अंग्रेजी शब्द 'सरेण्डर' द्वारा इसका भाव पर्याप्त रूपसे प्रकट नहीं होता। यदि हृत्केंद्र पूर्णरूपसे खुला रहे और चैत्य सदैव नियन्त्रण करता रहे तो फिर कोई प्रश्न नहीं रहता, सब कुछ सुरक्षित हो जाता है। किन्तु चैत्य किसी भी क्षण निम्नतर वस्तुओंके उभर आनेसे आच्छादित हो सकता है। ऐसे लोग बहुत ही कम हैं जो इन खतरोंसे मुक्त होते हैं और ये ठीक वहीं लोग होते हैं जो समर्पण सरलतासे कर सकते हैं। इस कठिन प्रयासमें ऐसे किसी व्यक्तिका मार्गदर्शन अत्यावश्यक और अनिवार्य होता है जो तादात्म्यके द्वारा स्वयं भग-वान् बन गया हो या उसका प्रतिनिधि हो।

मैंने जो कुछ लिखा है उससे तुम्हें इस सम्बन्धमें कोई स्पष्ट धारणा बनानेमें सहायता मिलेगी कि योगकी केंद्रीय प्रक्रियासे मेरा क्या आशय है। मैंने कुछ अधिक विस्तारसे लिखा है किन्तु स्वभावतः मैं केवल आधारभूत वस्तुओंका ही समावेश कर सका हूँ। जब व्यक्ति इस पद्धतिको क्रियान्वित

करता है या अधिक ठीक कहें तो जब पद्धति अपनेको क्रियान्वित करती है —क्योंकि साधनाकी क्रिया जब सबल रूपसे प्रारम्भ होती है तो साधारणतया पद्धति ही अपनेको क्रियान्वित करती है—तब परिस्थिति और विवरणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातें उठती ही हैं।

*

शान्तिका अवतरण, शक्ति या बलका अवतरण, प्रकाशका अवतरण, आनन्दका अवतरण, ये चार चीजें हैं जो प्रकृतिको रूपान्तरित करती है।

*

सान्निध्य, शान्ति, शक्ति, प्रकाश आनन्द—ये पांच वस्तुएं हैं जो अत्यन्त सर्वसाधारण रूपसे अवतरित होती हैं।

*

शान्ति, प्रकाश, शक्ति आदि अन्य प्रत्येक वस्तुके समान ही विशालता भी अवतरित होती है।

*

आध्यात्मिक चेतना प्रकाश, शान्ति, शक्ति और आनन्दकी ही बनी है; यदि प्रमुख अनुभूतियोंमें उनका स्थान नहीं है तो फिर किनका है?

*

वस्तुतः भूमिका ऊपरसे नहीं उतरती किन्तु उसकी शक्ति और उसका सत्य ही स्थूल भूमिकाके भीतर उतरता है और उसके बाद स्थूल भूमिका और उसके बीचका परदा नहीं रह जाता।

*

मैंने यह नहीं कहा था कि यह (आनन्दका अवतरण) प्राणिक और मानसिक था, किन्तु यह कि यह एक ऐसा आनन्द था जो मानसिक और प्राणिक भूमिकाओंमें अपनेको व्यक्त कर रहा था — यह बिलकुल भिन्न बात है; क्योंकि एकमेव आनन्द (सत्य वस्तु) सत्ताके किसी भी भागमें व्यक्त हो सकता है।

*

यह (उच्चतर चेतना) वातावरणपर भी उतरती है, परन्तु इसके प्रभावशाली बननेके लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति इसे ग्रहण करे और प्रत्युत्तर दे। व्यक्तिमें भी यह उसके वातावरणसे स्वतंत्र रहकर अवतरित होती है।

*

वह चेतना जिससे ये अनुभव आते हैं, सदा ही उन्हें अन्दर लानेके लिये दबाव डालती हुई ऊपर स्थित रहती है। इन अनुभवोंके अबाध रूपसे न आने या न ठहरनेका कारण है मन और प्राणकी वह प्रवृत्ति जिसके आधीन होकर वे सदैव इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, कभी वे इस बातका विचार करते हैं, कभी उस वस्तुकी कामना करते हैं और इसके स्थानपर कि उच्चतर चेतनाके प्रति एक वस्तुकी कामना करते हैं और इसके स्थानपर कि उच्चतर चेतनाके प्रति एक बलशाली और सरल अभीप्सा एवं उद्घाटनको पोषित करें ताकि वह चेतना अन्दर आकर अपना काम कर सके, निम्नतर चेतनाके सभी टीलोंपर पर्वतारोहणकी कलाके करतब दिखानेका प्रयत्न करते रहते हैं। 'काव्य-रस', चित्रकला या शारीरिक कार्य ऐसी वस्तु नहीं है जिनका हमें अनुसरण करना है। योगमें जो वस्तु रसप्रद होती है वह है भगवान् और दिव्य चेतनाका 'रस' अर्थात् शान्तिका, नीरवताका, आन्तरप्रकाश एवं आनन्दका, विकसित होते हुए आन्तर ज्ञानका, बढ़ती हुई अन्तःशक्तिका, भागवत प्रेमका, और अनुभवके उन सभी असीम क्षेत्रोंका रस जो व्यक्तिके सामने आन्तर चेतनाके उन्मीलनके साथ व्यक्तिके सामने उद्घाटित हो जाते हैं। काव्यका, चित्रकलाका या अन्य किसी भी प्रवृत्तिका सच्चा रस तो यथार्थतः तभी मिलता है जब ये प्रवृत्तियां तुम्हारे भीतर भागवत शक्तिकी क्रियाका अंग बन जाती हैं एवं तुम उन्हें उसी रूपमें अनुभव करते हो तथा उसमें उस (दिव्य) क्रियाका उल्लास अनुभव करते हो।

आन्तर सत्ता और उसकी नीरवताकी ऐसी स्थिति तुमने प्राप्त की जो

उपरितलीय चेतना और उसकी क्षुद्र चंचल क्रियाओंसे पृथक् थी, वही प्रथम मुक्ति है, अर्थात् पुरुषकी प्रकृतिसे मुक्ति और यह एक आधारभूत अनुभव है। जिस दिन तुम इसको कायम रख सकोगे उस दिन यह जान सकोगे कि यौगिक चेतना तुम्हारे अन्दर प्रतिष्ठित हो गई है। इस बार इसकी प्रगाढ़ता बढ़ी है, किन्तु इसकी अवधिको भी बढ़ना होगा।

इन वस्तुओंका 'लोप' नहीं होता — तुमने जिस वस्तुका अनुभव किया है वह सारे समय तुम्हारे अन्दर विद्यमान रही है, किन्तु तुम्हें इसका बोध इसलिये नहीं हुआ कि तुम बिलकुल ऊपरी सतहपर ही निवास कर रहे थे और सतह भीड़ और शोरगुलसे भरी होती है। किन्तु यह नीरव पुरुष सभी मनुष्योंमें विद्यमान होता है, जो सच्ची मानसिक सत्ता, सच्ची प्राणिक सत्ता और सच्ची भौतिक सत्ताका आधार है। तुम्हारी प्रार्थना और अभीप्साके द्वारा ही यह वस्तु आई, तुम्हें यह बतानेके लिये कि वस्तुओंके सच्चे रसको प्राप्त करनेके लिये तुम्हें किस दिशामें यात्रा करनी होगी, क्योंकि जब मनुष्य मुक्त होता है तभी वह यथार्थ रस प्राप्त कर सकता है। कारण इस मुक्तिके बाद ही अन्य प्रकारकी मुक्ति आती है और उनमें ही है कर्मके अन्दर और स्थितिशील नीरवता-में मुक्ति और आनन्द।

*

साधारण प्रकृतिकी आदत यदि अवतरणमें प्रतिरोधक न हो तो फिर साधनाकी आवश्यकता ही क्या है? समस्त उच्चतर चेतनाको नीचे आकर तुम्हें एक ही क्षणमें अतिमानवके रूपमें बदलनेसे कौनसी वस्तु रोकती है? क्योंकि निम्नतर प्रकृतिकी चीजें हठीला प्रतिरोध करती हैं इसलिये साधना आवश्यक होती है।

*

मेरे वाक्यमें 'सर्व सामान्य अवस्था' का अर्थ वह उपरितलीय अवस्था नहीं है जैसा कि तुम उसे समझते हो। इसके अन्दर ऐसी बहुतसी वस्तुएं हैं जिन्हें तुम नहीं जानते। ऊपरसे आनेवाली वस्तु तब आ सकती है जब मनुष्य-का मन निर्मल हो या जब प्राण विक्षुब्ध हो, जब मनुष्य ध्यानावस्थामें हो या जब वह इधर-उधर घूम रहा हो, जब वह काम कर रहा हो या निठल्ला बैठा हो। बहुधा यह तब आती है जब व्यक्ति शुद्ध एकाग्र अवस्थामें हो, किन्तु

यह सम्भव है कि वह न भी आये,—इसके लिये कोई सुनिश्चित नियम नहीं है। इसके सिवाय यह भी हो सकता है कि खींच-तान या पुकारका कोई ठोस प्रभाव न उत्पन्न हो और फिर भी यह सम्भव है कि प्रभाव तब उत्पन्न हो जब व्यक्ति अधिक खींचतान या पुकार न कर रहा हो। इसके आने या जानेके सम्बंधमें जो ये सब तथाकथित मानसिक तर्क दिये गये हैं वे बहुत अधिक कट्टरतापूर्ण हैं। कभी-कभी वे लागू होते हैं किन्तु बहुधा नहीं लागू होते। व्यक्तिको श्रद्धा, विश्वास और अभीप्सा बनाये रखने चाहिये पर वह शक्तिको इसके लिये बाधित नहीं कर सकता कि वह कब, कैसे और क्यों कार्य करे।

*

सम्भव है यह (उच्चतर चेतना) ठीक अभीप्साके अनुरूप न भी आये, किंतु यह बात नहीं कि अभीप्सा फलप्रद नहीं होती। वह चेतनाको उद्घाटित किये रखती है और जो कुछ भी आये उस सबकी वश्यताको स्वीकार करनेवाली तामसिक अवस्थाको रोकती है तथा उच्चतर चेतनाके उद्गमोंके साथ एक प्रकारकी खींचतानका प्रयोग करती है।

*

आधारमें जब कभी उच्चतर चेतनाका अवतरण होता है तब :

1. इसका एक अंश सामनेकी चेतनामें संचित होकर वहीं स्थिर हो जाता है।

2. एक अंश पीछेकी ओर चला जाता है और सत्ताके सक्रिय अंगके अवलम्बनके रूपमें वहां बना रहता है।

3. एक अंश वैश्व प्रकृतिमें बाहर चला जाता है।

4. एक अंशको निश्चेतन निगल जाता है और व्यक्तिगत चेतना और क्रियाके लिये खो ही जाता है।

*

भागवत शक्ति दो कार्योंके लिये अवतरित होती है :

1. प्रकृतिका रूपान्तर करनेके लिये।

2. आधारके द्वारा कार्यको आगे चलानेके लिये।

शुरू-शुरूमें व्यक्ति इनमेंसे किसी भी क्रियाके प्रति सचेतन नहीं होता; कुछ समयके बाद उसे पता लगने लगता है कि शक्ति कार्य कर रही है, पर इस बातकी चेतना उसे फिर भी नहीं होती कि वह कैसे कार्य कर रही है। और अन्तमें तो मनुष्य पूर्ण रूपसे, छोटी-से-छोटी क्रियाके प्रति भी, सचेतन हो जाता है।

*

व्यक्ति शक्तिका अनुभव तभी करता है जब वह उसके साथ सचेतन संपर्क-में होता है।

*

आधारपर शक्तिकी ये जो सारी विभिन्न क्रियाएं हैं उनका एकमात्र प्रयोजन है उसे ऊपरसे, नीचेसे, और समतल रूपसे भी, खोल देना। ऊपरकी क्रिया इसे मनसे ऊपर स्थित शक्तियोंके अवतरणकें प्रति और साधारण मानव मनके आवरणके ऊपर चेतनाके आरोहणके प्रति उद्घाटित करती है। समतल क्रिया इसे वैश्व चेतनाके प्रति उसके अपने सब स्तरोंपर उद्घाटित करती है। नीचे-की क्रिया अतिचेतनाको अवचेतनाके साथ जोड़नेमें सहायता देती है। अन्तमें, चेतना देहमें सीमित रहनेके स्थानपर असीम हो जाती है, असीमरूपसे ऊपर उठती है, अनन्तरूपसे नीचे गोता लगाती है और अपार रूपसे चारों ओर विस्तृत हो जाती है। इसके सिवाय सभी केन्द्र उस प्रकाश, शक्ति और आनन्दके प्रति खुल जाते हैं जिसे ऊपरसे उतारना है। अभी तो शक्तिके अवतरणको केवल मनके केन्द्र ही पूर्णतया ग्रहण करते प्रतीत होते हैं, जब कि ऊपरके प्राणिक केन्द्र शरीरके अन्य अंगोंपर छोटी-मोटी क्रियाके द्वारा तैयार किये जा रहे हैं। मार्गके पूरी तरह खुलनेके लिये केवल समय और लगनकी ही आवश्यकता है।

*

सभी साधकोंका यह सामान्य अनुभव है कि शक्ति, चेतना या आनन्द इसी प्रकार पहले ऊपरसे या चारों ओरसे आते हैं, फिर वे या तो सिरपर दबाव डालते हैं या उसे घेर लेते हैं; तब वे मानों कपालको भेदकर पहले मस्तिष्क और मस्तिष्कके अग्रभागको और फिर सारे शिरको ओतप्रोत कर

देते हैं और फिर प्रत्येक केंद्रको अधिगत करते हुए नीचे उतरते हैं जबतक पूरी सत्ता ही प्लावित नहीं हो जाती। वैसे कुछ प्रारंभिक संवेग तो आते हैं और आ ही सकते हैं जो कुछ समयके लिये सारी सत्ताको या उसके किसी ऐसे भागको अधिकृत कर लेते हैं जो सबसे अधिक खुला हुआ है और उस प्रभावका कम-से-कम विरोध करता है।

*

यह सर्व सामान्य नियम है कि शरीरके अन्दर अवतरण सबसे पहले मस्तकमें, फिर नीचे कण्ठतक और अन्तमें वक्षस्थलमें होता है। बहुतसे लोगोंमें किसी नाभि केन्द्रके नीचे अवतरण होनेसे पहले प्राणिक प्रतिरोधके कारण एक बड़ा विराम काल आता है। एकबार इस मोरचेको पार करनेके बाद और आगे नीचे उतरनेमें साधारणतया अधिक समय नहीं लगता। किन्तु समय कितना लगता है इस सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नहीं, कुछ लोगोंमें तो यह बाढ़की तरहसे नीचे उतरता है, अन्य लोगोंमें वह व्यवस्थित रूपसे और सावधानीसे बढ़ता चलता है। मैं नहीं समझता कि शान्तिके अवतरणको अपने मित्रोंके लिये प्रतीक्षा करनेकी आदत हो — बहुधा वह अपने पैरोंपर अकेला खड़ा रहना और फिर मित्रोंको यह सन्देश देते हुए बुलाना पसन्द करता है कि 'चले आओ मैंने तुम लोगोंके लिये जगह पूरी तैयार कर दी है'।

*

यदि तुम्हारा आशय उच्चतर चेतनाके अवतरणसे है तो उसका अनुभव ठीक मस्तककी तरह ही सारे हृदय प्रदेशमें भी होता है, केवल केन्द्रमें ही नहीं। सिरमें हुआ स्पर्श केवल प्रथम दबाव है। आगे जाकर यह अनुभूति होती है कि शान्ति, शक्ति, प्रकाश, आनन्द या चेतनाका सघन पुंज सीधा नीचे मस्तकमें आ रहा है और उसके आगे वक्षतक तथा वैसे ही सारे शरीरमेंसे होते हुए नाभितक नीचे अवतरित हो रहा है। कुछ लोगोंमें इसके अवतरणमें अनेक सप्ताह या महीने लगते हैं, अन्य लोगोंमें यह तेजीसे अवतरित होता है।

*

जब चीजें इस क्रमसे आती हैं तो मस्तक पहले उद्घाटित होता है और

हृदय बादमें अन्तमें सभी केंद्र। यदि तुम शांति, ज्ञान और मुक्तिसे ही संतुष्ट हो तो सम्भव है हृदय केन्द्र केवल उनके प्रति ही उद्घाटित हो। किन्तु यदि तुम प्रेमको चाहते हो, तो अवतरित होता हुआ बल और प्रकाश उसके लिये भी कार्य करेगा।

*

यह संभव है कि नाभि और निम्नतर केन्द्रको खोलनेके इस प्रयत्नमें बहुत अधिक जल्दबाजी की गई हो। इस योगमें क्रिया नीचेकी ओर होती है — पहले मस्तकके दो केन्द्र फिर हृदय, उसके बाद नाभि और अन्तमें दो अन्य केंद्र। यदि उच्चतर अनुभव अपनी उच्चतर चेतना, ज्ञान और संकल्पके साथ पहले ऊपरके तीन केंद्रोंमें पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाय तो निम्नतर केंद्रोंको उनमें अत्यधिक विक्षोभके बिना खोलना अधिक आसान हो जाता है।

*

हां, यह वही अनुभव था। तुम शक्तिके दबावके अधीन होकर भीतर चले गये — जो प्रायः पहला परिणाम होता है, पर हमेशा नहीं — सादी भाषामें कहें तो कुछ क्षणोंके लिये तुम समाधिमें चले गये। जब शक्ति अवतरित होती है तो वह शरीरको खोलकर चक्रोंमेंसे गुजरनेका यत्न करती है। इसे (साधारणतया) मस्तकके शीर्ष भाग (ब्रह्मरन्ध्र)मेंसे होकर आना होता है और आन्तरिक मनके केन्द्रमेंसे अर्थात् माथेके मध्य भागमें भौंहोंके बीचमेंसे गुजरना होता है। इसलिये यह पहले-पहल सिरपर दबाव डालती है। आंखें खोलनेसे व्यक्ति बाह्य जगत्की सामान्य चेतनामें लौट आता है, इसीलिये आंख खोलनेसे प्रगाढ़ता शिथिल हो जाती है।

*

तुम्हें जो अनुभव हुआ वह केवल शरीरके अन्दर भागवत शक्तिके अवतरण-का अनुभव था। अपनी वृत्ति और अभीप्सा द्वारा तुमने अपने अन्दर कार्य करनेके लिये इसको पुकारा इसलिये यह आई। इस प्रकारका अवतरण मनमें, स्वभावतः गहरी अन्तर्मुख अवस्था और निश्चल-नीरवताको ले आता है तथा यह और भी बहुत कुछ ला सकता है — शान्ति, मुक्तिका बोध, प्रसन्नता और

आनन्द। जैसा कि तुम्हारे इस अनुभवमें हुआ है यह बहुधा प्रकाश या दीप्तिके साथ आता है। तुमने जो इसे नीचे हृदय केन्द्रतक शरीरके ऊपरी भागको आच्छादित करते हुए अनुभव किया उसका कारण यह है कि सबसे पहले ये केन्द्र ही ऊपरसे उतरनेवाली सभी चीजों — चेतना, शक्ति, प्रकाश, या आनन्द द्वारा आक्रान्त और अधिकृत होते हैं। साधारणतया पहले-पहल ऊपरसे सिरपर दबाव आता है, उसके बाद व्यक्ति किसी वस्तुको सिरके ऊच्चतर भागमें प्रवेश करतें हुए अनुभव करता है और फिर सारा मस्तक उसके अधिकारमें आ जाता है, जैसे कि तुम अब एकाग्रताके समय 'चीटियोंके रेंगने' जैसा अनुभव करते हो। एक बार जब सिर अपने मानसिक चक्रोंके साथ शक्तिके प्रति उद्-घाटित और उससे अधिकृत हो जाता है तो वह शक्ति हृदय केन्द्रमें तेजीसे उतरती है बशर्ते कि उच्चतर प्राणिक भागोंमें कोई बाधा या प्रतिरोध न हो। वहांसे यह अपनी धाराओंको सारे शरीरमें प्रवाहित करती है और नाभिसे लेकर मूलाधार तक सभी प्राणिक और भौतिक केन्द्रोंको अपने अधिकारमें करने लगती है। ऊपरकी शक्तिके द्वारा शरीरके अधिकृत हो जानेके इस अनु-भवका होना साधनामें आगेकी ओर एक बहुत बड़ा कदम है।

मूर्च्छाके भयका कारण केवल मनका संस्कार ही था; इसे निकाल देना चाहिये। पूर्ण जाग्रत अवस्थामें शक्ति खूब अच्छी तरह नीचे उतर सकती है, यदि इससे किसी प्रकारकी समाधि लग जाये तो यह साधारणतया एक सचेतन आंतरिक अवस्था होती है—चेतना बाह्य वस्तुओंसे खींच ली जाती है परन्तु अन्दर पूर्ण शक्तिके साथ विद्यमान होती है। यदि समाधि हो जाय तो वह समाधि ही होगी न कि मूर्च्छा।

*

तुमने जो अनुभव गिनाये हैं उनमें अधिक महत्वपूर्ण निम्न हैं:—

1. स्थिरताका वेदन और विक्षुब्ध करनेवाले विचारोंकी अपेक्षाकृत कमी। इसका अर्थ है मनकी अचंचलतामें वृद्धि जो पूर्णतया सफल ध्यानके लिये आव-श्यक है।

2. सिरके ऊपर दबाव और उसके अन्दर गतियोंका होना। दबाव मनसे ऊपरकी उस उच्चतर चेतनाकी शक्तिका दबाव है जो मनपर (मानसिक केंद्र है सिर और कण्ठमें) दबाव ड़ाल रही है और उसमें प्रवेश कर रही है। एक-बार प्रवेश कर लेनेके बाद वह मनको इसके प्रति अधिक पूर्णताके साथ उद्-घाटित होनेके लिये तैयार करती है और सिरके भीतर जो गतियां होती हैं

उनका कारण ये क्रिया ही होती है। एकबार जब सिरके केंद्र और रिक्त स्थान खुल जाते हैं तो व्यक्ति इसे धाराके रूपमें या और किसी प्रकार निर्बाध उतरते हुए अनुभव करता है। बादमें यह इसी प्रकार शरीरके निम्न केंद्रोंको भी खोलती है। सिरमें होनेवाली स्थूल क्रिया अवश्य ही इस कारण होती हैं कि शरीर शक्तिके दबाव और प्रवेशका आदी नहीं हुआ होता जब वह इसे ग्रहण करनेमें और पचानेमें समर्थ हो जाता है तो ये क्रियाएं और अधिक नहीं होती।

3. हृदयमें किये गये उस ध्यानका प्रभाव जो अपने-आपको सिरतक विस्तृत करके वहां हलचल उत्पन्न करता है, एक सर्वसामान्य बात है — किसी भी केंद्रमें एकाग्रता करनेपर उससे उत्पन्न हुई योग-शक्ति अन्य केंद्रोंतक अपना विस्तार करती है और वहांपर भी एकाग्रता या क्रियाओंको उत्पन्न करती है।

4. विचार और क्रियाओंका एकाएक बन्द हो जाना — यह बड़ी महत्व-पूर्ण वस्तु है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि आन्तरिक निश्चल-नीरवताकी क्षमता प्रारम्भ हो रही है। अपनी अभिव्यक्तिके प्रारम्भ में यह केवल थोड़ी देरके लिये ही रहती है किन्तु आगे जाकर इसकी पकड़ और अवधि बढ़ जाती है।

साधनाकी दिशा ठीक है और तुम्हें केवल इसे चालू रखना चाहिये।

हम बाहरके मामलोंके सम्बन्धमें कोई बात निश्चित रूपसे नहीं कह सकते —मैं समझता हूँ इन परिस्थितियोंमें इन वस्तुओंके विषयमें तुम्हें सोचना ही है, किन्तु साधनाका महत्व इससे अधिक है।

इस साधनामें हम हठ योगके अभ्यासोंको शामिल नहीं करते। यदि तुम इसका प्रयोग केवल स्वास्थ्यके प्रयोजनसे करते हो तो वह किसी ऐसी वस्तुके रूपमें करना होगा जो साधनासे पृथक् है — यह तुम्हारे अपने चुनाव-पर आधार रखता है।

*

मनकी पूर्ण नीरवता और निष्क्रियता आरम्भमें ही नहीं आ सकती — जो वस्तु सम्भव है वह है मनकी अचंचलता, अर्थात्, अव्यवस्थित या असम्बद्ध विचारोंकी चंचल विविध प्रवृत्तिमें उसकी तल्लीनताकी समाप्ति और साधनाके लक्ष्यपर एकाग्रता। माताजीने जिस प्रकारकी कल्पना करनेका परामर्श दिया है वह ऐसी एकाग्रताका साधन थी। सर्वव्यापकताका जिस प्रकारका मानसिक विचार तुम्हारे सामने आता है वह भी उसके लिये एक अच्छा सहायक है; विशेषकर यदि वह प्रबल श्रद्धा और भरोसेको उत्पन्न करे। सिरके चारों ओर

माताजीकी शक्तिके स्पन्दनका अनुभव एक मानसिक विचारसे या मानसिक उपलब्धिसे भी अधिक ऊंची वस्तु है, यह एक अनुभूति है। वस्तुतः यह कंपन माताजीकी शक्तिकी वह क्रिया है जिसका अनुभव पहले सिरके ऊपर या उसके चारों ओर और फिर बादमें सिरके भीतर होता है। दबावका आशय है कि यह मन और उसके केन्द्रोंको खोलनेके लिये कार्य कर रही है जिससे वह उनमें प्रवेश कर सके। मनके केंद्र सिरमें हैं, एक उसके शीर्ष भागमें और उसके ऊपर, दूसरा आंखोंके बीचमें और तीसरा कण्ठमें। इसलिये तुम सिरके चारों ओर कभी-कभी कण्ठ तक स्पन्दनका अनुभव करते हो किन्तु इसके नीचे नहीं। साधारणतया ऐसा ही होता है, क्योंकि मनको चारों ओरसे आच्छादित करने और उसमें प्रवेश करनेके बाद ही वह नीचे भावप्रधान और प्राणिक अंगोंमें (हृदय, नाभि इत्यादिमें) जाती है — यद्यपि यह शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले कभी-कभी उसे आच्छादित ही अधिक करती है। हृदयमें ज्योतिके दर्शनके लिये मनुष्यको गहराईमें जाना होता है किन्तु मनुष्य हृदयकी गहराईमें जायें बगैर अन्य स्थानपर भी ज्योतिको देख सकता है। पहले ज्योति प्रायः भौंहोंके बीचमें, या सामने अथवा उसी सतहपर दिखाई देती है क्योंकि उसी स्थानपर अन्तर्दृष्टिका केंद्र है और उसका थोड़ासा उद्घाटन भी उसके लिये (ज्योति-दर्शनके लिये) पर्याप्त होता है — इसलिये भी प्रायः ज्योति सिरके चारों ओर या उसके ऊपर और बाहर ही दिखाई देती है।

*

माथेके केंद्रपर अन्दरसे दबाव बहुधा माथेपर पड़नेवाले ऊपरके दबावके बाद ही आरम्भ होता है — शक्तिका कुछ तत्व इस दूसरे दबावको ड़ालनेके लिये पर्याप्त रूपसे अन्दर आ चुका होता है। पीठपर अनुभव हुआ दबाव अवश्य ही (यदि यह पीठके मध्यमें या मध्य भागके पास हो तो) चैत्य प्रदेशपर पड़ा सीधा दबाव होना चाहिये। इसका प्रयोजन हृदयमें क्रियाकी तैयारी करना था जब केन्द्र खुलने लगते हैं तो आन्तरिक अनुभूतियां जैसे कि आज्ञा चक्रमें (माथेके केन्द्रमें) सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ज्योति या मूर्तियोंका दर्शन अथवा हृदयमें चैत्य अनुभव और प्रत्यक्ष बोध बार-बार होते हैं — मनुष्य क्रमशः अपनी आन्तरिक सत्ताको बाह्य सत्तासे पृथक् रूपमें जानने लगता है, और साधारण उथली मानसिक और प्राणिक क्रियाओंके स्थानपर वह चेतना अपनी सब गभीरतर क्रियाओंके साथ विकसित होती है जिसे हम यौगिक चेतना कह सकते हैं।

*

यह अच्छा है कि तुमने अपने अन्दर शान्तिका और हृदयमें क्रियाका अनुभव किया। यह बताता है कि शक्ति केवल ऊपरसे ही नहीं किन्तु तुम्हारे अन्दर भी कार्य कर रही है, और यह वस्तु आगे होनेवाली प्रगतिके लिये आश्वासन देती है। पूर्ण उद्घाटन तो समयपर ही आयेगा — महत्वपूर्ण बात यह है कि तुम ठीक मार्गपर चल रहे हो और तुम जितना प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव करते हो उससे अधिक तेजीसे आगे बढ़ रहे हो।

*

यह वह वस्तु है जिसे हम शक्तिका (उच्चतर आध्यात्मिक या दिव्य चेतनाकी शक्तिका अर्थात् माताजीकी शक्तिका) दबाव कहते हैं; यह विविध रूपों, स्पन्दनों, धाराओं, लहरोंके रूपमें, विशाल प्रवाह, वर्षाकी-सी बौछार इत्यादिके रूपमें आता है। वह शक्ति क्रमशः मस्तकके शीर्ष भागमें माथेके केन्द्रमें कण्ठ, हृदय, नाभिसे लेकर मूलाधारतक प्रत्येक केन्द्रमेंसे गुजरती है और शरीरमें भी सब जगह फैल जाती है। चक्राकार गति शक्तिकी वह गति है जिसे वह तब करती है जब सत्तामें कार्य और किसी चीजका निर्माण कर रही होती है।

*

ऊपरसे आनेवाली सभी वस्तुएं इसी प्रकार लहरोंके रूपमें आ सकती हैं —वह चाहे प्रकाश हो या शक्ति या शांति हो या आनन्द। तुम्हारे उदाहरणमें शक्ति मनपर लहरोंके रूपमें कार्य कर रही थी। यह भी सच है कि जब इस रूपमें कार्य हो रहा था, न कि धाराओं या वर्षा या एक शान्त बाढ़के रूपमें, तो कार्य करनेवाली शक्ति महाकालीकी शक्ति थी। जब ऐसी बात होती है है तो पहली आवश्यकता है भयभीत न होना।

*

तुमने जिस धाराको सिरके ऊपर और अपने अन्दर आता हुआ अनुभव किया वह निःसंदेह माताजीकी शक्तिका प्रवाह है; इसका अनुभव प्रायः इसी रूपमें होता है; यह शरीरमें धाराओंके रूपमें बहती है और चेतनाको मुक्त और परिवर्तित करनेके लिये कार्य करती है। जैसे-जैसे चेतना बदलेगी और

विकसित होगी वैसे-वैसे तुम इन वस्तुओंके अर्थ और कार्यको स्वयं ही समझने लगोगे।

*

स्पन्दन या तो शक्तिके हैं या उपस्थितिके।

*

दबाव, धड़कन, बिजलीके कम्पन ये सब शक्तिकी क्रियाके चिह्न है। स्थान उनके कार्यक्षेत्रको सूचित करते हैं—सिरके ऊपरका भाग चिन्तनशील मनका शिखर है जहां यह उच्चतर चेतनाके साथ सम्पर्कमें रहता है; गला या कण्ठ भौतिक, बाह्यरूप देनेवाले या अभिव्यक्त करनेवाले मनका स्थान है; कान आन्तर मानस केन्द्रके साथ आदान-प्रदानका वह स्थान है जिसके द्वारा विचार इत्यादि सार्वभौम प्रकृतिसे व्यक्तिगत सत्तामें प्रवेश करते हैं। निर्दिष्ट बिन्दुपर स्थित उरोस्थि चैत्य और भावप्रधान केन्द्रको थामें रखती है, उसका शिरो-भाग पीछेकी ओर मेरुदण्डपर होता है।

*

इस (बिजली जैसी धारा) का अर्थ है शक्तिका मेरुदण्डमेंसे प्रवाहित होना। तान्त्रिक पद्धतिमें मेरुदण्ड शक्तिका स्वाभाविक मार्ग समझा जाता है, क्योंकि छहों केन्द्र मेरुदण्ड़में ही हैं।

*

बिजलीका धक्का सदैव गतिशील शक्तिके गुजरनेका द्योतक होता है।

*

मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि तुम्हें ये अनुभव हो रहे हैं—यह तीव्र होती हुई प्रगतिका लक्षण है। रिमझिम वर्षाके रूपमें होता हुआ अवतरण उच्चतर चेतनाके अवतरणका एक बड़ा विशिष्ट और सुप्रसिद्ध ढंग है, यह

शान्तिको लाता है किन्तु यह उच्चतर चेतनाकी अन्य सब सम्भावनाओंको भी लाता है, और जैसा कि तुमने अनुभव किया, यह भौतिक चेतनाके अन्दर उच्चतर प्रकृतिके बलों और गुणोंके बीजोंके आनेके द्वारा उस चेतनाके रूपान्तर-के बीजोंको भी लाता है।

*

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि जिस अनुभवको तुम्हारे लिये लानेका हम यत्न कर रहे थे वह इतने प्रबल रूपसे आया है एवं बढ़ रहा है। यह उच्चतर चेतनाका एक ऐसा ठोस अवतरण है जो एकबार स्थिर हो जानेपर साधनामें सदा ही एक निश्चित मोड़को लक्षित करता है। यदि यह तुरन्त पूरी स्थिरताके साथ प्रतिष्ठित न भी हो तो भी जब यह एकबार इतने प्रबल रूपसे आया है तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यह उत्तरोत्तर तबतक आता रहेगा जबतक यह अपना कार्य पूरा नहीं कर लेगा और तुम्हारी स्थाई चेतना नहीं बन जायेगा। बौछार और फुहार, सिरके ऊपर और हृदयपर (उच्च चेतनाका) अधिकार, परिवेष्टन, अन्तरमें अग्निका प्रज्वलन, मजबूती और ठोसपनका भाव, शान्ति, सुरक्षा और भक्ति, श्रीमांके अधिकारका बोध, ये सब अवतरणके चिह्न हैं — अन्ततोगत्वा यह सर्वत्र प्रवेश कर लेगा और समग्र चेतना और शरीरको अधिकृत करनेवाली एक ठोस और स्थिर वस्तु बन जायेगा।

*

ऊपरसे चेतना या शक्तिके एक विशेष अवतरणके साथ कभी-कभी कोई शब्द भी अवश्य आता है।

*

वकीलोंके पास जाते हुए तुम्हें जो अनुभव हुआ था वह ऊपरकी शक्तिके प्रति एक ऐसा उद्घाटन था जो, यदि अचानक आया हो तो प्रायः इस प्रकारके ऊंचे शब्द और सिरके उद्घाटनके संवेदनके साथ आता है — मस्तकका यह उद्घाटन सूक्ष्म शरीरमें ही घटित होता है यद्यपि वह संवेदन इस प्रकार अनुभव हुआ है मानों यह भौतिक हो। शक्ति माताजीके महालक्ष्मी और महासरस्वती-के रूपोंके अधिष्ठातृत्वमें नीचे आई और ऊपर गई और उसने (यहां मेरु-

दण्डमें जो यौगिक शक्तिका चक्रोंमें होकर गुजरनेका मुख्य मार्ग है) आरोहण एवं अवरोहणकी वह क्रियाकी जो क्रिया उच्चतर चेतनाको निम्नतर चेतनाके साथ जोड़नेमें सहायता देती है। फलतः तुम्हें अपने शरीरमें मेरे साथ तादात्म्य का अनुवेदन हुआ। खांसी बहुत करके भौतिक मनमें एकाग्रताके विरुद्ध किसी कठिनाईको सूचित करती है। सबसे अच्छा यह होगा कि एकाग्रताके लिये जबर्दस्ती न की जाय किन्तु शान्त रहा जाय और आह्वान किया जाय एवं माताजीकी शक्तिके द्वारा वस्तुओंको स्वतः ही क्रियान्वित होने दिया जाय।

*

मनके अन्दर यह कोई अवरोध है जो शक्तिके दबावके कारण टूट रहा है, और प्रत्येक बार एक चमक उत्पन्न होती है एवं शक्तिकी क्रिया होती है।

*

यदि यह वेदन ऐसा हो मानों आवरणके अन्दर छेद किये जा रहे हैं तो ऐसा संवेदन व्यक्तिको प्रायः तब होता है जब शक्ति किसी प्रतिरोधके बीचमें होकर अपने लिये मार्ग बना रही होती है—यहांपर यह क्रिया भौतिक मनके किसी भागमें होनी चाहिये।

माताजीपर पूरा भरोसा रखो। ऐसा करनेपर व्यक्तिको विजय विलम्बसे भले ही हो, मिलती अवश्य है।

*

आधारपर क्रिया करनेके लिये या उसमें प्रवेश करनेके लिये जब शक्ति दबाव ड़ालती है तो इसका (मस्तकके केन्द्रमें भारीपनका) अनुभव प्रायः ही होता है, विशेषकर यदि शक्ति मस्तकमें कार्य कर रही हो। यदि देहतंत्र शक्तिको ग्रहण और आत्मसात् कर ले तो यह भारीपन विलीन हो जाता है और शक्ति शरीरमें उन्मुक्त होकर बहने लगती है—तबतक किसी-न-किसी केन्द्रपर जहां भी शक्ति कार्य कर रही हो, प्रायः दबाव या किसी प्रकारके भारीपनका अनुभव होता है।

*

ऐसा भारीपन जो बल-सामर्थ्य प्रदान करता है, सम्भवतः अवतरणका सूचक होना चाहिये। सिरमें दंश या चुभन जैसे संवेदन प्रायः इसके साथ ही आते हैं। यह साधारणतया ऊपरसे आनेवाली किसी ऐसी शक्तिका चिह्न होता है जो गुजरनेके लिये रास्ता बनानेका यत्न कर रही है या भौतिक तत्वमें उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार करनेका कार्य कर रही है।

*

विचारोंपर नियंत्रण और सिरमें माताजी और श्रीअरविन्दकी मूर्तिके दर्शनकी शक्ति बहुत अच्छा आरम्भ हैं। सिरमें अनुभव होनेवाली गर्मी ज्वर नहीं है, किन्तु मानसिक केन्द्रोंमें उस शक्तिकी क्रियाका परिणाम है जो मानव-मनमें सदैव होनेवाले मानसिक प्रतिरोधपर विजय प्राप्त करनेके लिये कार्य कर रही है — भारीपन कभी-कभी शक्तिके दबावके परिणाम स्वरूप भी आता है — जब मन निर्बाध रूपसे शक्तिको ग्रहण करने लगता है तो यह स्वयं ही चला जाता है।

यह (सिरके फूलनेका अनुभव) सिरमें सूक्ष्म शरीरके विस्तारित होनेके वेदनका ऐसा अनुभव था जो बहुधा ही होता है।

*

मस्तकके शीर्ष भागमें और माथेके ऊपरके हिस्सेमें तुम जिन संवेदनोंका वर्णन करते हो वे ऐसे संवेदन हैं तो व्यक्तिको प्रायः तब होते हैं जब उच्चतर चेतना या शक्ति मनके अन्दर अपने लिये एक खुला रास्ता बनानेका यत्न कर रही होती है। इसलिये संभवतः ऐसा ही हो रहा है। तुम्हारे जोरसे बोलने आदिसे होनेवाली बेचैनी या निर्बलताका जहांतक प्रश्न है, ऐसे अवसरोंपर वह भी होती है। इसका कारण यह है कि अन्दर कार्य करनेके लिये ऊर्जाकी जिस एकाग्रताकी आवश्यकता है वह भंग हो गई है और दो प्रकारके विरोधी खिंचावोंके द्वारा अंगोंको थकाती हुई ऊर्जाएं बाहर फैंक दी गई हैं। यह अधिक अच्छा होगा कि जब भीतर कोई क्रिया जारी हो तो वाणीको बहुत मौन रखा जाय और उसका यथा शक्ति कम प्रयोग किया जाय। दूसरे समयमें इसका इतना अधिक महत्व नहीं होता।

*

कुछ ऐसे संवेदन हैं जो अवतरणके कारण होते हैं और जरा भी कष्ट-प्रद या संकटमय नहीं होते, अन्य कुछ ऐसे भी हैं जो भौतिक होते हैं। परन्तु इनमें भेद क़रनेके लिये इनका विवरण देना आवश्यक है।

*

तुमने जो कुछ देखा था वह निःसंदेह सूर्य था,—एक नीले प्रकाशवाला सूर्य। यह नीला प्रकाश साधारण मानवमनके प्रकाशकी अपेक्षा उच्चतर मनका प्रकाश अधिक है। सूर्य है प्रकाश और सत्यका प्रतीक। यह उच्चतर आध्यात्मिक मन तुम्हारे भीतर जाग्रत होनेकी चेष्टा कर रहा है, किन्तु आरम्भमें सदैव कठिनाई होती है क्योंकि चेतनाको ग्रहण करनेकी आदत नहीं होती, इसलिये एक ऐसे दबावका भान होता है जिसके तीव्र होनेपर कभी-कभी सिर दर्दका अनुभव होता है या ऐसा लगता है मानों सिर फट रहा है। यह और कुछ नहीं किन्तु आन्तर मन द्वारा (सिरका यह भाग आन्तर मनका केन्द्र है) स्थूल सत्तामें उत्पन्न किया गया एक संवेदन मात्र है जो ऊपरका स्पर्श पाकर उद्‌घाटित होनेका प्रयत्न कर रहा है।

तुम्हारा स्वप्न तुम्हारे अन्दरकी सांसारिक कामनाका सूचक नहीं था, किन्तु केवल एक कसौटी या अग्नि-परीक्षारूप स्वप्न था जैसा तुम्हें पहले भी आया था। स्वप्नमें तुमने जो प्रत्युत्तर नहीं दिया वह बताता है कि इन वस्तुओंकी ओर तुम्हारा ऐसा कोई झुकाव नहीं है जैसा बहुतोंका होता है। यह सब प्राणिक भूमिकापर बाह्य शक्तियोंकी रचना या सुझाव मात्र था, यह जाननेके लिये कि तुम्हारी चेतना यदि कोई जवाब दे तो वह किस प्रकारका होगा।

*

शक्तिकी क्रिया सदैव दबाव उत्पन्न करती हो ऐसी बात नहीं। जब इसे दबाव ड़ालनेकी आवश्यकता नहीं होती तो वह शान्त भावसे कार्य करती है।

*

दबावको अनुभव करना आवश्यक नहीं। मनुष्य शक्तिका अनुभव तब करता है जब कोई क्रिया हो रही होती है या शक्ति प्रवाहित हो रही होती है अथवा यदि वह शरीरमें अभिव्यक्त हो — किन्तु तब नहीं जब व्यक्त होने-

वाली वस्तु शान्ति और निश्चल-नीरवता होती है।

*

व्यक्ति बिना सचेतन हुए अर्थात् प्रस्तुत की गई वस्तुके सम्बन्धमें ठीक-ठीक जाने बिना ग्रहणशील हो सकता है।

*

निम्न अंगोंको व्याप्त करनेके लिये शान्त प्रवाहका होना आवश्यक है। बड़े-बड़े अवतरण मार्गको खोल देते हैं और निरन्तर सहायता भेजते रहते हैं और अन्तमें उसके शिखरके रूपमें सर्वोच्च शक्तिको ले आते हैं—किन्तु शान्त प्रवाहकी भी आवश्यकता होती है।

*

जब शरीरमें शान्ति या शक्ति उतरने लगती है तो कुछ लोगोंका शरीर ड़ोलने लगता है क्योंकि इससे उसे ग्रहण करनेमें सुविधा होती है। यह ड़ोलना साधारणतया तब बन्द हो जाता है जब शरीर अवतरणको आत्मसात् करनेका अभ्यस्त हो जाता है।

ध्यानके समय शांति पूर्णतया इसलिये प्राप्त होती है कि उस समय माता-जीकी एकाग्रता उच्चतर चेतनाकी शक्तिको नीचे ले आती है और यदि व्यक्तिमें सामर्थ्य हो तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। एक बार आना शुरु होनेके बाद यह शान्ति साधारणतया साधककी ग्रहणशीलताके साथ-साथ अपनी शक्ति-को तबतक बढ़ाती जाती है जबतक वह सब कालों और अवस्थाओंमें आनेकी सामर्थ्य न प्राप्त कर ले और अधिकाधिक समयतक रहते हुए अन्तमें स्थिरता न प्राप्त कर ले। साधकको अपनी ओरसे उसे ग्रहण करनेके लिये अपनी चेतना-को यथा शक्ति शान्त और स्थिर रखना होता है। उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी शान्ति, शक्ति, प्रकाश, आनन्द सब व्यक्तियोंमें ऊपर प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान है। उस सबके नीचे उतरनेके लिये इसके ऊपरकी ओर एक विशेष उद्घाटनकी आवश्यकता है—मनकी अचंचलता और अवतरित होते हुए प्रभावके प्रति एक विशेष प्रकारकी व्यापक घनीभूत निष्क्रियता अवतरणके लिये सर्वोत्तम अवस्थाएं है।

*

यह (शरीरका हिलना) कभी-कभी होता ही है जब शक्ति नीचे उतर रही होती है। ज्यों ही शरीर अधिक अचंचल और पचानेमें समर्थ हो जाय, इसे गुजर जाने देना चाहिये।

*

यदि दबाव बहुत ही अधिक हो तो इसका इलाज है चेतनाका विस्तृत करना। शान्ति और नीरवताके साथ ऐसी विशालता भी आनी चाहिये जो बिना किन्हीं प्रतिक्रियाओंके, चाहे वह भारीपन हो या अन्तर्मुख रहनेकी विवशता हो या आंखोंकी कठिनाई — शक्तिको किसी भी मात्रामें ग्रहण कर सके।

*

बहुत संभवतः संचित शक्ति भौतिक सत्ताकी ग्रहण शक्तिसे अधिक हो गई थी। जब ऐसा होता है तो अपनेको विस्तृत करना ही सही काम होता है (और व्यक्ति ऐसा थोड़े अभ्याससे ही कर सकता है)। यदि चेतना विशालता-की अवस्थामें हो तो वह बिना असुविधाके शक्तिको किसी भी मात्रामें ग्रहण कर सकती है।

*

दो क्रियाओंके बीचमें सदैव तैयारी और परिपाचनके विराम काल आते हैं।

*

शक्तिके अवतरणके बाद कुछ समयके लिये शांत रहना ही उसे आत्मसात् करनेका सर्वोत्तम तरीका है।

*

ऐसी शून्य नीरवता और शान्ति हो सकती हैं जो अपने आप ही संतुष्ट हों। ग्रहणशीलता एक अलग ही शक्ति है। निःसंदेह मनकी सारी अचंचलता

ग्रहणशीलताको कार्य करने देनेके लिये अच्छी अवस्थाएं उत्पन्न करती है।

*

जहांतक तुम्हारी और अन्य लोगोंकी साधनाका प्रश्न है...मैं इसपर दो तीन बातें टिप्पणीके रूपमें कहना आवश्यक समझता हूँ। पहले कुछ समय तो मुझपर यह छाप रही है कि प्रगतिके तीव्र वेग और अनुभवोंके बाहुल्यके लिये खूब लगातार प्रवृत्ति चल रही है और निरन्तर दबाव ड़ाला जा रहा है। ये चीजें अपने-आपमें ठीक हैं पर कोई सुरक्षाके उपाय भी अवश्य होने चाहिये। पहले तो विश्राम और मौनका, यहांतक कि बहलावका भी पर्याप्त काल होना चाहिये जिनमें वस्तुका शांतिसे परिपाचन हो सके। परिपाचन बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है और इसके लिये आवश्यक अन्तरालोंको अधीर होकर योगके विराम कालके रूपमें नहीं मान लेना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्थिर और शान्त सामर्थ्य एवं आन्तर नीरवता समस्त कार्यकी आधार भूत अवस्था बन जाय। अतिशय आयास नहीं करना चाहिये; थकान, विक्षोभ या स्नायविक और भौतिक अंगोंकी अतीव उत्तेजित होनेकी प्रवृत्ति जिन लक्षणोंकी तुम अपने पत्रमें चर्चा करते हो, उन्हें शान्त करना या हटा देना चाहिये, क्योंकि योगमें ये प्रायः अति आयास या उग्र प्रवृत्ति या तीव्रताके लक्षण होते हैं। यह भी याद रखना होगा कि अनुभव केवल संकेतों और उद्घाटनोंके रूपमें ही मूल्यवान होते हैं तथा सदा ही प्रमुख वस्तु होती हैं चेतना और सत्ताके विभिन्न अंगोंका स्थिर संवादमय और उत्तरोत्तर संगठित होता हुआ उद्घाटन और परिवर्तन।

*

साधना पथमें इस प्रकारकी भौतिक थकान विभिन्न कारणोंसे आती है:

1. भौतिक सत्ता जितना कुछ पचानेके लिये तैयार होती है उससे अधिक ग्रहण करनेसे यह आ सकती है। तो दूसरा उपाय यह है कि शक्तिको ग्रहण करते समय सचेतन अचलतामें शान्तिपूर्वक विश्राम लिया जाय पर इसका प्रयोजन सामर्थ्य और ऊर्जाकी पुनः प्राप्तिके सिवाय और कोई नहीं होना चाहिये।

2. इसका कारण यह हो सकता है कि निष्क्रियता तमस्‌का रूप ले लेती है — तमस् चेतनाको नीचे उस साधारण भौतिक स्तरकी ओर ले आता है जो जल्दी ही थक जाता है और उसका 'तमस्'की ओर झुकाव होता है। इसका यही इलाज है कि व्यक्ति पीछेकी ओर सच्ची चेतनामें स्थिर हो जाय

और उसमें विश्राम करे न कि तमस्‌में।

3. इसका कारण निरा शरीरका अति श्रम अर्थात् इसे पर्याप्त निद्रा या आराम न देना भी हो सकता है। शरीर योगका आश्रय है पर इसकी ऊर्जा अक्षय नहीं है एवं इसे संभालकर खर्च करना आवश्यक है; वैश्व प्राण-शक्तिसे शक्ति खींचनेके द्वारा भी इसे कायम रखा जा सकता है किन्तु इस मददकी भी अपनी मर्यादाएं हैं। प्रगतिके उत्साहमें भी एक प्रकारकी समतोलना की आवश्यकता है — समतोलनाकी न कि उदासीनता या अकर्मण्यताकी।

*

हां, सामान्य भौतिक चेतना संपर्कको कायम नहीं रख सकती और अवश्य ही थक जाती है — साथ ही यह बात भी कि यह एक बारमें अधिक नहीं पचा सकती। किन्तु दबावको हमेशा भगवान् ही नहीं दूर करते; निम्नतर चेतना स्वयं इसे खो या छोड़ देती है।

*

हां, देहतंत्रको विश्राम लेना होता है जिससे वह वस्तुको आत्मसात् कर ले और अपनी ग्रहण शक्तिको पुनः ताजा बना ले।

*

व्यक्ति जब आत्मसात् कर रहा होता है तब ग्रहण नहीं कर रहा होता।

*

दिनके समय इसप्रकारके कालोंका आना बहुत सामान्य वस्तु है। चेतनाको आराम और परिपाचनके लिये समयकी आवश्यकता होती है, यह सब समय तीव्रताकी एक ही उच्च स्थितिमें स्थिर नहीं रह सकती। परिपाचनके समय समुचित स्थिति है एक स्थिर अचंचलता।

*

ऐसा नहीं होना चाहिये कि उदासीनता व्यक्तिको निष्क्रियताकी ओर प्रेरित करे — अन्यथा यह सत्तामें तमस्‌को उकसायेगी। आवश्यकता है केवल ऊपरसे आनेवाली वस्तुके प्रति ही आन्तरिक उदासीनताकी — तामसिक उदासीनता उदासीनताका एक गलत प्रकार है।

*

व्यक्ति किसी वस्तुको निद्रामें भी आत्मसात् कर सकता है। इस तरह जागते रहना अच्छा नहीं, क्योंकि अन्तमें इससे स्नायुओंपर तनाव पड़ता है और देहतंत्र उत्तेजित होकर वस्तुको गलत रूपमें ग्रहण करता है या फिर इतना थक जाता है कि ग्रहण ही नहीं कर सकता।

*

परिपाचनके इन अन्तरालोंके बाद, चाहे वे काल कितने ही शुष्क या कष्टदायक क्यों न हो, यदि व्यक्ति इन्हें ठीक ढंगसे ग्रहण करे तो, किसी भागमें कोई प्राप्ति या प्रगति सदैव होती है।

*

इस प्रकार चक्कर आना और इस प्रकारकी निर्बलता और विक्षोभ नहीं होने चाहिये। जब ऐसा होता है तो वह यह सूचित करता है कि शरीर जितनी शक्ति आत्मसात् कर सकता है उससे अधिक खींची जा रही है। ऐसे समयोंमें जबतक विक्षोभ हट न जाय और यथोचित संतुलन स्थिर न हो जाय तबतक तुम्हें आराम लेना चाहिये।

*

मेरा मतलब है कि तुम्हें इसे (शक्तिको) नीचे खींचनेकी आवश्यकता नहीं, किन्तु तुम्हें अपनी पूर्ण अभीप्सा और सहमति द्वारा इसे अन्दर आने देनेमें सहायता देनी चाहिये।

*

सत्ताका कोई अंग जितना ग्रहण करनेके लिये तैयार है उससे अधिक शक्ति या प्रकाशको यदि कोई व्यक्ति नीचे ले आये और वह अंग प्रतिरोध करे या अवतरित होती हुई और विरोधी शक्तियोंमें परस्पर संघर्ष हो तो ये चीजें (शरीरमें जलनका संवेदन आदि) उत्पन्न हो सकती हैं।

*

इस प्रकारकी बेचैनी हमेशा ही किसी स्थानमें होनेवाले प्रतिरोधके कारण होती है — सत्तामें कोई ऐसी वस्तु होती है जो बन्द पड़ी रहती है और शक्तिके स्पर्श करनेपर भी नहीं खुलती। बहुत करके यह (बेचैनी) उतनी अधिक तुम्हारे अपने कारण नहीं होती जितनी तुमपर कार्य करनेवाले अन्य परस्पर विरोधी प्रभावोंके कारण होती है।

*

सम्भव है कि प्रतिरोधका अनुभव प्रत्युत्तर देनेके प्रयत्नका परिणाम हो। जब प्रवाह निर्बाध होता है तो न वहां प्रयत्न होता है, न प्रतिरोध।

*

'ऊपरके दबाव द्वारा उत्पन्न' सिरदर्द, जैसे कि तुम इसे व्यक्त करते हो, दबावके कारण या उसके द्वारा नहीं किन्तु प्रतिरोध द्वारा उत्पन्न होता है।

*

दबाव प्रतिरोधको 'उत्पन्न' नहीं करता। ठीक ज्ञान यह है, 'यदि प्रतिरोध न होता तो सिरदर्द न होता, न कि इससे उल्टा। तुम जबतक यह सोचते रहोगे कि दबाव ही प्रतिरोध उत्पन्न करता है तबतक स्वयं यह विचार ही प्रतिरोध पैदा करता रहेगा। क्ष का दृष्टान्त प्रतिरोधके कारण हुई सिरदर्द या दबावसे उत्पन्न हुई सिरदर्द, दोनोंमेंसे किसीका भी उदाहरण नहीं — यह सामान्य भौतिक और मनोवैज्ञानिक कारणोंके फल स्वरूप हुआ है।

*

नहीं, लोगोंको सुधारने और पूर्ण बनानेके लिये अस्वस्थ बनाना माताजीकी पद्धति नहीं है। किन्तु सिरदर्द जैसी चीजें कभी-कभी इसलिये आती हैं कि या तो मस्तिष्कने अत्यधिक परिश्रम किया है या वह ग्रहण करना न चाहता हो या अड़चनें पैदा करता हो। परन्तु यौगिक सिरदर्द विशेष प्रकारके होते हैं और मस्तिष्कके ग्रहण करने या प्रत्युत्तर देनेका तरीका खोज निकालनेके बाद ये बिलकुल नहीं होते।

*

साधनामें प्रगति करनेकी पहली शर्त है अनुभूतिके समय भयभीत न होना, भरोसा रखना और शान्त रहना। हुआ केवल यह था कि शक्तिने नीचे आकर कार्य कर सकनेके लिये मनको अचंचल और शरीरको स्थिर बनाये रखनेकी चेष्टा की। यदि तुम भयभीत न हुए होते तो ऐसा हो जाता। पर तुम्हारे डरने मन और शरीरके द्वारा प्रतिरोध करवाया और ऐसा असर उत्पन्न किया कि उनपर अत्याचार किया जा रहा है या वे खतरेमें है। शरीरके अकड़-जाने और उसपर हाथके स्पर्श जैसे किसी महान् शक्तिके स्पर्शका बोध इस प्रकारके अनुभवमें बहुधा होता है एवं यह साधकको भयभीत नहीं करता, किन्तु महान् हर्ष और मुक्तताके भावको उत्पन्न करता है। तुम्हें भविष्यमें निश्चल रहनेका प्रयत्न करना होगा और किसी डर या खतरेकी कल्पना नहीं करनी होगी। स्वभावतः तुमने जब यह सोचा कि तुम शक्तिको नहीं सहार सकते तो वह चली गई क्योंकि तुम इसे ग्रहण करनेके लिये तैयार नहीं हो।

*

परिपाचनके काल वस्तुतः तबतक जारी रहते हैं जबतक करने लायक सबकुछ मूलतः पूरा न कर लिया जाय। केवल साधनाकी बादकी स्थितियोंमें उनका स्वरूप और हो जाता है। यदि वे प्रारंभिक स्थितिमें ही सर्वथा बन्द हो जाते हों (तुम अभी बहुत प्रारंभिक स्थितिमें हो), तो इसका कारण यह है कि प्रकृतिकी क्षमतानुसार सब किया जा चुका है और इसका अर्थ है कि उसमें अधिक क्षमता न थी।

*

मैंने जो कुछ लिखा है वह पूर्णतया स्पष्ट है। परिपाचनके काल तबतक जारी रहते हैं जबतक करने योग्य सब वस्तुएं मूलतः पूरी नहीं कर ली जाती। यदि वे जल्दी ही बन्द हो जाते हैं तो इसका अर्थ है कि जो कुछ किया जा सकता था वह सब किया जा चुका है और इससे अधिक और कुछ सम्भव नहीं, साधनाके आगे परवर्ती एवं अधिक उन्नत विकास अब सम्भव नहीं है —यदि वे सम्भव होते तो परिपाचनके काल तबतक जारी रहते जबतक सब कुछ विकसित न हो जाता और वे बन्द न होते। इस प्रकार समयसे पहले साधनाकी समाप्तिका एकमात्र कारण यह होगा कि साधक आगे बढ़नेमें समर्थ नहीं है।

*

आगे जाकर परिपाचन कालोंमें केवल यही परिवर्तन होता है कि कुछ चीजें तो देहतंत्रमें स्थिर बनी रहती हैं जब कि परिपाचन क्रिया उन वस्तुओं-पर लागू की जाती है जो अभी देह-संस्थानमें स्थिर नहीं हुई, उदाहरणार्थ, व्यक्ति आन्तर सत्तामें सतत शान्तिका अनुभव करता है, किन्तु सतहपर विक्षोभ तबतक चालू रहते हैं जबतक सतह भी शान्तिको आत्मसात् नहीं कर लेती। या शायद शान्ति तो सर्वत्र हमेशा ही बसी रहती है किन्तु ज्ञान या सामर्थ्यका आनाजाना होता रहता है। अथवा ये सब यहां विद्यमान होते हैं किन्तु आनन्द आता-जाता रहता है आदि-आदि।

*

यह शांति एकबार स्थिर हो जाय तो फिर उसके बाद परिपाचन क्रियाकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि समग्र आधार सतत रूपसे ग्रहण और आत्मसात् करनेके लिये पर्याप्त तैयार हो गया है। यह सम्भव है कि अन्य वस्तुओंके लिये परिपाचनके कालोंकी आवश्यकता पड़े पर यह जरूरी नहीं कि वे आन्तर स्थितिमें अन्तराय उपस्थित करें ही। उदाहरणके लिये यदि शक्ति या आनन्द या ज्ञान ऊपरसे उतरने लगे तो उसमें बाधाएं आ सकती हैं और बहुत करके बाधा आयेंगी ही क्योंकि देहतन्त्र इस अखण्ड प्रवाहको आत्मसात् करनेमें समर्थ नहीं होता, पर आन्तर सत्तामें तो शांति ही रहेगी। अथवा सम्भव है सतहपर संघर्षके काल जैसी कोई वस्तु आये किन्तु आन्तर सत्ता निरीक्षण करती हुई अक्षुब्ध अवस्थामें, शान्त और

स्थिर बनी रहेगी। और यदि अन्तरमें ज्ञान प्रतिष्ठित हो गया हो तो क्रियाको समझती हुई वैसी ही बनी रहेगी। इसके लिये केवल प्राणिक, भौतिक और स्थूल समग्र सत्ताको शान्तिके प्रति उद्घाटित और ग्रहणशील हो जाना होगा। तब शायद शान्ति अधिकाधिक गम्भीर और विशाल होती जायेगी, पर अन्तराय और परिपाचनके कालोंकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

*

हां, हाथसे पत्थर तोड़ सकनेका या इसी प्रकार बिना किसी अन्य वस्तुके स्वयं केवल शक्तिके सहारे जगत्को ध्वस्त करनेका यह एक ऐसा अनुभव है जो विशेष कर तब आता है जब मन और प्राणने शक्तिको आत्मसात् नहीं किया होता। यह किसी ऐसी वस्तुका बोध है जो उनके लिये असाधारण और सर्वशक्तिमान् है; तोड़ने या कुचलनेका विचार प्राणमें रजस् द्वारा ही सुझाया गया है। पीछे इसे शान्तिपूर्वक आत्मसात् करनेके बाद यह संवेदन लुप्त हो जाता है और केवल शान्त सामर्थ्य और अटल दृढ़ताका भाव ही शेष रहता है।

*

हां, जब चीजें उतरना शुरू होती हैं तो अवश्य ठोस आधारके स्थापित होने पर ही उन्हें उतारना होगा। इसलिये सर्वप्रथम शान्तिका उतारना आवश्यक है। और यह भी आवश्यक है कि वह जहांतक हो सके अधिकसे अधिक बलशाली और ठोस हो। पर जो भी हो, उसे धारण करना ही सर्वप्रथम आवश्यक है — तभी वह अधिकाधिक आ सकती है और अपनेको सुस्थापित कर सकती है। एकबार शान्ति और सामर्थ्य दोनों स्थिर हो जानेपर व्यक्ति आनन्द, ज्ञान या अन्य किसी भी वस्तुको कितनी ही मात्रामें सहन कर सकता है।

*

पुरुषकी शान्ति, पवित्रता और स्थिरताको दृढ़ करना होगा — अन्यथा सक्रिय अवतरण अपने द्वारा जगाई गई शक्तियोंको निम्न शक्तियों द्वारा शासित होता हुआ पायेगा और अव्यवस्था पैदा हो जायेगी। ऐसा बहुतोंके साथ हुआ

है।

*

यह किसी विशेष क्रिया या बोधका मामला नहीं है पर एक प्रकारका उत्तेजित स्पन्दन है जिसे लेकर प्राणिक एवं भौतिक चेतना प्राणिक अव्यवस्थाका सामना करती है—जब प्राणिक सुझावका दबाव होता है उस समय तुम जो कुछ लिखते हो उसकी ध्वनि और भाषासे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है —किन्तु यह तब भी उभरा करता था जब तुम उत्तेजनात्मक स्पन्दन और हर्षके हुलासकी उस अवस्थामें अनुभव प्राप्त करते थे जो अवस्था किसी राजसिक क्रियामें आसानीसे पतित हो जाती थी या जिसका स्थान कष्ट और विक्षोभकी विरोधी उत्तेजना आसानीसे ग्रहण कर लेती थी। अचंचलता, अधिकाधिक अचंचलता, शान्त सामर्थ्य, शान्तिमय प्रसन्नता—ये चीजें हैं जिनकी सिद्धिके आधाररूपमें मन, स्नायुओं और शरीरमें आवश्यकता होती है—निःसंदेह इसलिये कि नीचे उतरनेवाली शक्ति, प्रकाश और आनन्द अत्यधिक प्रगाढ़ होते हैं और उन्हें सहन और धारण करनेके लिये शरीरमें महान् निस्तब्ध शान्तिकी आवश्यकता होती है।

*

स्थूल भौतिक सत्तातक सभी निम्नतर अंगोंमें उच्चतर सत्ताकी शान्ति बलात् स्थापित करनेसे ये चीजें संभव हो जाती हैं—1. उस पार्थक्यको उत्पन्न करना जो आन्तरिक सत्ताको बाह्य विक्षोभ या प्रतिरोध द्वारा प्रभावित होनेसे रोके और 2. उच्चतर सत्ताकी शक्ति तथा अन्य बलोंके लिये अवतरणको अधिक आसान बना देना।

मनुष्य जब इतना आगे बढ़ गया होता है कि उसपर ऊपरसे शान्ति उतर सके तो यह एक पर्याप्त प्रगति है।

*

यह अच्छा है—शान्तिके बाद अगली वस्तु है सामर्थ्य, जिसे नीचे उतरकर उससे संयुक्त होना है। अन्ततोगत्वा दोनों मिलकर एक हो जाती हैं।

*

शान्ति और उसके आधारपर होनेवाली क्रिया, ये दो उस एकमेवका पहला पक्ष हैं जिसे अपनेको प्रतिष्ठित करना होता है। आनन्द और प्रकाश इतनी जल्दी या इतनी आसानीसे स्थिर नहीं होते — उन्हें क्रमशः विकसित होना होता है।

*

उस नीरवतामें जिसे हम प्रथम नीरवता कह सकते हैं, ऐसा ही होता है — यह एक ऐसी एकान्तिक नीरवता होती है जिसमें कोई भावावेग या अन्य आन्तरिक प्रवृत्ति नहीं होती। जब यह गहरी हो जाती है तो व्यक्ति बौद्धोंके निर्वाणका या वेदान्तियोंके आत्मबोधका अनुभव कर सकता है। शक्ति और आनन्द दोनों या उनमेंसे कोई एक, नीरवताके भीतर उतर सकते हैं और उसे स्थिर तपस् या नीरव आनन्दसे परिपूर्ण कर सकते हैं।

*

दो अवस्थाएं हैं, एक आनन्दकी, दूसरी महान् स्थिरता और समताकी जिसमें न हर्ष होता है न शोक। यदि व्यक्ति दूसरी अवस्थाको प्राप्त कर ले तो आगे जाकर एक अधिक महान् एवं स्थायी आनन्दका अवतरण सम्भव हो जाता है।

*

आनन्द बादमें आता है — यदि यह प्रारम्भमें आये तो भी साधारणतया सतत विद्यमान नहीं रहता। विशालता इसलिये नहीं आती कि चेतना अभी देहसे स्वतंत्र नहीं हुई। बहुत करके सिरके ऊपर अनुभव होनेवाली वस्तु जब नीचे उतरती है तो यह (चेतना) मुक्त होकर विशालता बन जाती है।

*

तुमसे यह किसने कहा कि जब कभी नीरवता या असली नीरवता आयेगी तब ज्ञान भी नीचे उतरेगा? ऊपरसे आनेवाली किसी भी वस्तुके लिये नीरवता एक उपयुक्त आधार है, लेकिन इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि नीरवता

स्थापित होनेपर प्रत्येक वस्तु अपने-आप ही नीचे उतरनेके लिये बाध्य हो जायेगी।

*

इसका कोई नियम नहीं है, किन्तु इसका अत्यधिक साधारण मार्ग है मनसे ऊपर स्थित किसी शान्ति और शक्ति तथा ज्योतिका नीचे उतरना, और इसकी क्रियाओंके परिणाम स्वरूप वैश्व चेतना खुल जाती है और उसमें मनसे ऊपरके अधिकाधिक ऊंचे स्तर भी। बहुतसे लोग पहले वैश्व चेतनाकी ओर खुलते हैं किन्तु ऊच्चतर शान्ति और प्रकाशका आधार न होनेपर यह केवल बहुत सारे अव्यवस्थित अनुभवोंको ही लाती है।

*

शान्तिका आगमन शुद्ध और मुक्त पुरुषके अनुभवकी प्राप्तिको अधिक सुलभ बना देता है।

*

अवश्य ही यह उच्चतर नीरवताका अर्थात् पुरुष या आत्माकी नीरवताका अवतरण रहा होगा। इस नीरवतामें व्यक्तिको प्रत्यक्ष बोध होता है पर उसका मन सक्रिय नहीं होता,—वस्तुओंका बोध तो होता है किन्तु किसी प्रत्युत्तरदायी संबंध या स्पन्दनके बिना। नीरव पुरुष वहां एक पृथक् सत्ताके रूपमें प्रकृतिके व्यापारसे मुक्त और अलिप्त, अकेला, अनासक्त और स्वयंभूरूपमें स्थित होता है। यदि विचार इस नीरवतासे आरपार गुजरते रहें तो भी वे उसे विक्षुब्ध नहीं करते; यह पुरुष चिन्तनशील मनसे भी पृथक् होता है। इस सिलसिलेमें 'मैं सोचता हूँ', यह भाव पुरानी चेतनाका एक अवशेष होता है; व्यक्ति पूर्ण नीरवतामें जो अनुभव करता है वह है—'विचार मेरे अन्दर आता है'। विचारोंके साथ-साथ वस्तुओंके प्रत्यक्ष बोधके साथ भी तादात्म्य समाप्त हो जाता है।

*

तुम्हें जो अनुभव हुआ वह हर्ष और शोकसे, कामनासे, चिन्ता या व्या-

कुलतासे अस्पृष्ट सच्चे पुरुषका अनुभव है; विशाल, स्थिर-धीर और शान्तिसे परिपूर्ण यह बाह्य सत्ताकी हलचलोंको उसी प्रकार देखता है जैसे कोई बच्चोंका खेल देख रहा हो। यथार्थमें यही तुम्हारे भीतरका भागवत तत्व है। तुम इसमें जितना अधिक स्थिर रह सकोगे साधनाकी नींव उतनी ही अधिक दृढ़ बनेगी। इस पुरुषमें ही सब उच्चतर अनुभूतियां, भगवान्‌के साथ एकता, प्रकाश, ज्ञान, बल, आनन्द, श्रीमांकी उच्च शक्तिकी लीला प्रकट होगी। यह सब सदैव ही स्थिर नहीं हो जाता, यद्यपि कुछ लोगोंमें ऐसा होता भी है किन्तु यह अनुभूति तबतक बारम्बार आती और देरतक ठहरती है जबतक यह सामान्य प्रकृतिसे और अधिक आच्छादित नहीं होने पाती।

*

पुरुष और आत्मामें कोई भेद नहीं। चैत्य है अन्तरात्मा जो क्रम विकास-में विकसित होता है—आत्मा है पुरुष जो क्रम विकाससे प्रभावित नहीं होता, उससे ऊपर होता है—हां, वह मन, प्राण और शरीरकी प्रवृत्तियोंसे आवृत या प्रच्छन्न रहता है। इस आवरणको हटा देना ही है आत्माकी मुक्ति—और यह हटता तब है जब पूर्ण और विशाल आध्यात्मिक नीरवता आ जाती है।

*

जब मनुष्य स्थिर, नीरव, विशाल, वैश्व पुरुषके विषयमें सचेतन हो जाता है तो फिर वह अज्ञानसे आवृत्त नहीं रहता, जब व्यक्ति मन, प्राण, और शरीर एवं उनकी क्रियाओं या उनके तुच्छ अहंके साथ नहीं किन्तु पुरुषके साथ तादात्म्य सिद्ध कर लेता है, तो यह पुरुषकी मुक्ति होती है।

*

तुम्हें जो अनुभव हुआ है वह आत्माका अर्थात् उस वैश्व पुरुषका है जो वैश्व चेतनाको सहारा देता है—अभी यह स्पष्ट नहीं है किन्तु यह उस आत्माका पहला प्रभाव है। जब चेतना उस अवस्थासे नीचे उतर आती है तो वह अपने कुछ अंश प्राणिक या भौतिक चेतनामें लाती है और उसका परिणाम यह होता है कि या तो ये भाग या कमसे-कम प्राण उद्घाटित होता है एवं

उतारकर लाई गई वस्तुके संपर्कमें आता है। टांगोंमें जड़ तामसिकता या असुखका अनुभव इसलिये होता है कि भौतिक सत्ता उसे ग्रहण या आत्मसात् करनेमें समर्थ नहीं होती। जब यह अंग खुलेगा और ग्रहण करेगा तथा आत्म-सात् करनेमें समर्थ होगा तब यह लुप्त हो जायेगा।

शक्तिका यह प्रासंगिक अवतरण था जो सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये आया था — यहांपर अवतरण अन्य एक ऐसे रूपको ग्रहण कर रहा है जिसका प्रयोजन साक्षात्कारके आधारभूत अनुभवोंको प्रतिष्ठित करना है।

*

तुम्हारे अन्दर जो चीजें उतरनेकी चेष्टा कर रही हैं वे हैं पुरुषकी नीरवता और शान्ति — जब वह पूरी तरह आ जाती है तो अहंमूलक बोध नहीं रहता, वह पुरुषकी नीरवता और शान्तिकी विशालतामें डूब जाता है। पर यह उप-लब्धि पहले पुरुषकी निश्चल-स्थितिमें ही होती है — तो भी अहं तो भूत-कालकी आदतोंके कारण गतिशील क्रियाओंमें रह सकता है। पर प्रत्येक बार जब आहंकारिक क्रियाका परित्याग किया जाता है तो अहंके विलयका भाव अधिकाधिक गहरा और पूर्ण होता जाता है। जो वस्तु तुम्हारे अन्दर प्रवेश करनेकी चेष्टा कर रही है शायद उसके किसी प्रभावने ही तुम्हें स्पर्श किया है।

*

हां, जब सब जगह शान्ति और विशालता छा जाती है तो व्यक्तित्वका भाव पूर्णतया लुप्त हो सकता है। मनुष्यको अनुभव होता है कि शान्ति एवं विशालता उसका अपना स्वरूप है, पर व्यक्तिगत अर्थमें नहीं — क्योंकि वह अन्य प्रत्येक व्यक्तिका भी 'आत्मा' है। आगे जाकर एक और प्रकारके 'मैं' का भी अनुभव हो सकता है किन्तु यह विश्वभावापन्न 'मैं' होता है जो अन्य सबको समाविष्ट करता है और अन्य प्रत्येक व्यक्तिके साथ समस्वर होता है एवं स्वयं भगवान्में समाया होता है। यही वह वस्तु है जिसे योगी लोग कभी-कभी क्षुद्र अहंके विपरीत 'विशाल' अहं कहते हैं। मैंने इसके सम्बन्धमें इसे सच्चा व्यक्ति नाम देकर लिखा है।

*

यदि क्रियाएं वस्तुतः उच्चतर चेतनाकी हों अथवा यदि वे प्रबल हो जायं तो अहं क्षीण हो जाता है — किन्तु वहां प्रायः वैश्व मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताके प्रति उद्घाटनकी विशालता भी होती है और, यदि साधक उच्चतर चेतनाकी जगह इसे प्रत्युत्तर दे तो वह मुक्त नहीं होता। कभी-कभी अहं भी विराट् हो जाता है। किन्तु यदि चैत्य जाग्रत हो तो यह खतरा नहीं रहता; व्यक्ति अहंकी जगह अपने सच्चे पुरुषको पा लेता है।

*

ऊपरसे उतरनेवाली शान्ति यदि समग्र सत्तामें प्रतिष्ठित हो जाय तो वह निम्नतर क्रियाको रोक सकती है। परन्तु यदि व्यक्ति सत्ताके गतिशील पक्षको भी योगकी प्रणालियोंके अनुसार विकसित करना चाहे तो यह पर्याप्त नहीं होता।

*

इसका अर्थ यह है कि शक्ति भौतिक चेतनामें (यान्त्रिक मन और अवचेतनमें) निश्चलता लानेके लिये उनपर अब भी क्रिया कर रही है। कभी-कभी निस्तब्धता आती है पर पूरी नहीं, कभी यांत्रिक मन फिरसे अपना अधिकार जमा लेता है। इस प्रकारकी क्रियामें ऐसी ड़ांवाड़ोल स्थिति साधारणतया आती ही है। यदि कोई आकस्मिक या तीव्र रूपान्तरकारी धक्का या अधोमुख प्रवाह आ पड़े तो भी बादमें इस प्रकारकी कोई क्रिया करना आवश्यक होता ही है — कम-से-कम मेरा अनुभव सदा यही रहा है। तथापि अधिकतर लोगोंमें पहले तैयारीकी यह धीमी प्रक्रियामें ही आती है।

*

यदि चेतनाके उच्चतर भागोंकी क्रिया बलवती हो तो यान्त्रिक मनके कार्य करनेकी सम्भावना बहुत अधिक घट जाती है। यह हो सकता है कि वह विश्राम या थकानके क्षणोंमें ऊपर आ जाय पर यह साधारणतया केवल गौण ढंगसे ही सक्रिय होता है जिसकी ओर व्यक्तिका ध्यान आकृष्ट नहीं होता।

*

शरीरपर दबाव डालनेवाले और उसे अचल बनानेवाले शान्तिके ठोस शीतल पिण्डका तुमने जो वर्णन किया है वह इस बातमें कोई संदेह नहीं रहने देता कि यह वही चीज है जिसे हम इस योगमें उच्चतर चेतनाका अवतरण कहते हैं। इस चेतनाकी शक्तियोंमेंसे जो सर्वप्रथम अवतरित होती है वह प्रायः गभीर, प्रगाढ़ या बृहत् पिण्डरूप शान्ति एवं निस्तब्धता ही होती है और बहुत लोग इसे इसी प्रकार अनुभव करते हैं। पहले-पहल यह शांति केवल ध्यानमें ही प्राप्त होती और ठहरती है अथवा, हमें शारीरिक निष्क्रियता या निश्चलता-का बोध हुए बिना, यह पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक देर ठहरकर लुप्त हो जाती है। परन्तु यदि साधना स्वाभाविक गतिसे चलती रहे तो यह अधिका-धिक प्राप्त होती एवं अधिक देर ठहरती है। अन्तमें स्थायी गभीर शान्ति आन्तर निस्तब्धता तथा मुक्तताके रूपमें चेतनाका स्वाभाविक गुण और शांत एवं मुक्त नूतन चेतनाका सच्चा आधार बन जाती है।

चैत्यके विषयमें तुम्हारा विचार निश्चय ही एक मानसिक रचना है और उसे त्यागना चाहिये। चैत्यमें शांतिका गुण है अवश्य पर यह उसका वैसा मुख्य धर्म नहीं जैसा आत्माका है। चैत्य व्यक्तिके अन्दरका भागवत तत्त्व है। इसकी विशेष शक्ति है प्रत्येक वस्तुको भगवान्की ओर मोड़ देना, शुद्धि, अभीप्सा और भक्तिकी अग्निको, विवेक, बोध, संकल्प तथा कर्मकी सत्य ज्योतिको जन्म देना। वह अग्नि वा ज्योति ही सम्पूर्ण प्रकृतिको क्रमशः रूपांत-रित करती है। चैत्यको प्राप्त कर उसमें निमग्न होनेके लिये हृदयमें और अतएव सत्ताके प्राणमय भागमें अचंचलता, शांति तथा निश्चल-नीरवता आव-श्यकीय हैं। कारण, प्राणिक प्रकृतिकी हलचलें, कामना, अहंकी ओर या संसार-की ओर झुकी चित्तवृत्ति उस पर्देका मुख्य भाग हैं जो अन्तरात्माको प्रकृतिसे छिपाता है। अतएव, जब तुम चैत्यमें डुबकी लगाओ तब यह अधिक अच्छा होगा कि तुम मानसिक रचनाओंसे मुक्त रहकर केवल अभीप्साका, भक्तिका तथा भगवान्के प्रति आत्मदानका भाव रखो।

*

यह उच्चतर चेतनाकी नीरवता और स्थिरता ही है जो शरीरमें नीचेकी ओर दबाव ड़ाल रही है। जब यह पूर्णतया नीचे उतर जाती है तो पहले 'अचल प्रतिमा'की सी अनुभूति होती है। बादमें स्थिरता या नीरवता मुक्त और सामान्य हो जाती है।

*

मैं पहले ही मान लेता हूँ कि इसका (मस्तिष्कके पिंड़ोंमें बहुत ठोस रूपसे शान्ति अनुभव करनेका) अर्थ होगा कि शान्ति भौतिक रूपसे बहुत मूर्त्त और ठोस एवं स्थूल रूपसे स्पर्शयोग्य अर्थात् 'कोषाणुगत शांति' बन गई थी या बन रही थी। प्रत्येक वस्तु एक 'द्रव्य' है — यहांतक कि शांति, चेतना और आनन्द भी, — केवल द्रव्यकी विंभिन्न श्रेणियां होती हैं।

*

हां, निश्चय ही शान्ति बाह्य चेतनामें भी आ सकती है, इसका प्रयोजन भी यही है। शरीरके लिये शांति और निश्चलताको सहन करना पूर्णतया सम्भव है। शक्तिकी सम्पूर्ण क्रीड़ाको सहन करना इसके लिये अधिक कठिन है; किन्तु यदि शक्ति इसमें पहले ही स्थापित हो जाय तो इस प्रकारकी कठिनाई नहीं रहती।

*

शान्तिको भौतिक सत्तामें — स्वयं उसके कोषाणुओंतक उतारा जा सकता है। भौतिक सत्ताका सक्रिय रूपान्तर तो अतिमानसिक अवतरणके बिना 'पूर्णतया' सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

*

हां, लेकिन जब शरीर शान्तिका आदी हो जाता है तो स्वयं शान्ति भी गतिशील बन सकती है।

*

शीतलताका संवेदन साधारणतया शान्तिके स्पर्श या अवतरणको सूचित करता है। मानव-प्राणको यह अति शीतल लगता है क्योंकि वह सदैव चंचलताके ज्वरसे ग्रस्त होता है।

*

शीतलताका अनुभव बहुत सर्वसामान्य है पर शीतल गन्ध असामान्य वस्तु है। कभी-कभी लोगोंको सुगन्धका अनुभव तो होता है पर उन दोनोंमें ऐसा प्रगाढ़ सम्बन्ध नहीं होता — शायद वे सूक्ष्म रूपसे अवलोकन नहीं करते।

*

यदि शीतलता जड़तामें बदल गई तो संभवतः यह केवल भौतिक रही होगी। किन्तु संभवतः पहले प्रवाह अन्दर आया और केवल बादमें ही निम्नतर जड़ताकी ऐसी प्रतिक्रिया हुई जो शांति और अचंचलताके प्रति भौतिक प्रकृतिका विशिष्ट प्रतिवाद रूप होती है। जब तमस् ऊपर आता है तो उसके साथ ही वे पुरानी क्रियाएं यंत्रवत् उभर आ सकती हैं जिन्हें मुहैया करनेके लिये अवचेतन सदा ही तैयार रहता है। एक विशेष अर्थमें यह तमस् और 'शम' एक-दूसरेके उजेला और अंधेरा प्रतिपक्ष हैं — उच्चतर प्रकृति शममें विश्रांति प्राप्त करती है और निम्नतर प्रकृति उसे ऊर्जाकी शिथिलतामें और अवचेतनकी ओर लौटनेमें अर्थात् तमस्में खोजती है।

*

यह आवश्यक नहीं कि नीरवता अवसाद लाये ही; नीरवतामें सब संभव सामर्थ्य विद्यमान होता है। पर यह हो सकता है कि नीरवताके प्रति तुम्हारे झुकावमें देह-चेतनासे शक्ति खींच लानेकी प्रवृत्ति हो। यह प्रवृत्ति भौतिक तमस्को ले आयेगी।

*

बिलकुल ठीक। तमस्की आदतसे मेरा यही आशय था कि 'शरीरने थकान अनुभव की'। शरीर सतत अनुभूतिको सहन नहीं कर सकता, यह उसे एक तनावके रूपमें अनुभव करता है। ऐसा अधिकतर साधकोंके साथ होता है। किन्तु जब तुम्हारे सामने यह अवरोध आता है तो ऐसा लगता है कि वह अत्यधिक तीव्र रूप धारण कर लेता है। मैंने इससे मुक्त होनेका उपाय तुम्हें पहले ही बता दिया है, पर यह एक दिनमें तो सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्रकृतिकी एक बद्धमूल आदत है और बद्धमूल आदतको दूर करनेमें समय लगता है। पर इसे हटानेमें बहुत लम्बा समय नहीं भी लग सकता

बशर्तें इसके आनेपर तुम क्षुब्ध न होओ और इसके साथ दृढ़ता और स्थिरता पूर्वक बरतो।

*

जब मानसिक संकल्प तमस्‌के लिये मौन सम्मति देता है, उसके प्रति निष्क्रिय हो जाता है, जैसा कि हम कहते हैं — तो व्यक्ति निष्क्रिय अवस्थामें रहता है और इसके विरोधमें तबतक कोई बलप्रयोग नहीं किया जाता जबतक कि वह स्वयं ही चली न जाय। यदि मानसिक संकल्प या यहांतक कि प्राणिक इच्छा या प्रकृतिका कोई क्रियाशील अंग उससे अछूता रहकर प्रतिक्रिया कर सके तो इसे दूर फैंक देनेका एक ऐसा प्रयत्न किया जाता है जो अन्तरिम कालको संक्षिप्त कर सकता है।

*

शान्तिके अवतरण और अवसादमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। तमस् तब आ सकता है यदि स्थूल सत्ता प्रशान्तिके लिये दबावका अनुभव तो करे किन्तु उसे निष्क्रियतामें बदल दे — परन्तु इसे ठीक अर्थमें अवतरण, कमसे-कम एक पूर्ण अवतरण तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्थूल सत्ता इसमें हिस्सा नहीं लेती।

*

साधना-कालमें इस प्रकारकी (स्मरण शक्तिकी दुर्बलताकी) शिकायत बहुधा ही होती है। मैं समझता हूँ कि स्मृतिकी सामान्य क्रिया मानसिक नीरवता द्वारा या फिर भौतिक तमस् द्वारा थोड़ी देरके लिये स्थगित हो जाती है।

*

चेतनाके परिवर्तन द्वारा, स्मृतिकी एक अधिक सचेतन और पूर्ण क्रिया स्थापित हो सकती है जो पुरानी यान्त्रिक पद्धतिका स्थान ले लेती है।

*

एक बार जब आन्तर सत्ता अपने पृथक् भावको पूर्णतया स्थापित कर लेती है तो तमस्के पारावार भी इसे इस भावको बनाये रखनेसे रोक नहीं सकते। इस पृथक् भावको पूरी तरह स्थापित करना ही वह पहला कार्य है जिसे योगके सुरक्षित आधारकी प्राप्तिके लिये, इस पृथक् भावको पूर्णतया प्रतिष्ठित करनेके लिये हमें संपन्न करना है। यह बहुधा तब आता है जब आन्तरिक अंगोंमें शान्ति पूर्णतया स्थिर हो जाती है, फिर यह पृथक् भाव भी दृढ़ और स्थायी हो जाता है।

*

यदि आन्तरसत्ता सुरक्षित हो तो कोई संघर्ष या तमस्का आक्रमण या अवसाद या अन्य मूल कठिनाइयां और अधिक नहीं रहती। बाकी सब उत्तरोत्तर और शान्तिपूर्वक किया जा सकता है, इसमें शक्तिका अवतरण भी शामिल है। तब बाह्य सत्ता एक यन्त्र या उपकरण मात्र बन जाती है जिसे सुधारना होता है। आन्तरिक सत्तामें पूर्णतया 'मुक्त' होना इतना आसान नहीं।

*

तमस्को 'शम' में अर्थात् शान्तिमें और उच्चतर प्रकृतिके अन्य तत्वोंमें रूपान्तरित करना है और फिर उसे 'तपस्' एवं 'ज्योति'से परिपूर्ण करना है। पर भौतिक सत्तामें यह क्रिया पूर्ण रूपसे केवल तभी की जा सकती है जब भौतिक अतिमानसिक शक्ति द्वारा अन्तिम रूपसे रूपान्तरित हो जाती है।

*

तुम रजोगुण और तमोगुणको बाहर नहीं निकाल सकते, तुम उन्हें केवल बदल ही सकते हो और सत्वको प्रधानता दे सकते हो। तम और रज केवल तभी लुप्त होते हैं जब उच्चतर चेतना केवल उतरती ही नहीं बल्कि नीचे शरीरके कोषाणुओंतक प्रत्येक वस्तुको नियंत्रित भी करती है। तब वे दिव्य विश्रान्ति एवं शान्ति तथा दिव्य ऊर्जा या तपःशक्तिमें परिवर्तित हो जाते हैं, —अन्तमें सत्व भी दिव्य ज्योतिमें बदल जाता है। जहांतक तमस्के रहते शान्त रहनेका प्रश्न है, एक तामसिक शान्ति भी हो सकती है।

*

तीनों गुण विशुद्ध और परिष्कृत हो जाते हैं और अपने अनुरूप दिव्य तत्वोंमें बदल जाते हैं: 'सत्व' 'ज्योति' अर्थात् यथार्थ आध्यात्मिक ज्योति बन जाता है; 'रज' तपःशक्ति अर्थात् प्रशान्त रूपसे प्रबल दिव्य शक्ति बन जाता है; 'तम' 'शम' अर्थात् दिव्य अचंचलता, विश्रान्ति और शान्ति बन जाता है।

*

तुम्हारा कहना ठीक है। सभी अवांछनीय वस्तुएं अज्ञानमें ऐसी वस्तुका अशुद्ध रूपान्तर हैं जो उच्चतर भूमिकामें वांछनीय होती या हो सकती हैं। जड़ता अर्थात् तम दिव्य शम एवं विश्रान्ति, अचंचलता और शान्तिका अशुद्ध रूपान्तर है; पीड़ा आनन्दका और कामुकता प्रेमका गलत रूपान्तर है इत्यादि। जब निम्नतर विकृतियोंसे मुक्ति मिल जाती है केवल तभी उच्चतर वस्तुएं सच्चे रूपमें शासन कर सकती हैं।

*

अज्ञानमय प्रकृतिका प्रत्येक दोष उच्चतर प्रकृतिकी किसी वस्तुका विकार होता है—एक ऐसा विकल रूप जो दूषित रूपके तुल्य ही होता है। इसके प्रतीकात्मक बोधको ही तुमने अपने अनुभवमें उपलब्ध किया।

*

मैं स्वयं इसे ठीक नहीं समझता। यह माना गया है कि जब (सत्व, रज और तम) तीन गुण साम्यावस्थामें नहीं होते, जब उनमें विषमता और विभेदकी गति होती है तो सृष्टि सक्रिय हो जाती है—अन्यथा सबकुछ निश्चल मूल प्रकृति ही हो जाता है। बात वस्तुतः ऐसी ही हो इसमें संदेह है।

*

तुमने जिन अनुभवोंका अर्थात् आरोहण करती हुई शक्तिके प्रत्यक्ष बोधसे लेकर अवरोहण करती हुई शक्तिके प्रत्यक्ष बोधतक जानेके जिस मार्गका वर्णन किया है वह महान् प्रगतिको सूचित करता है। क्योंकि तुमने प्रकाशकी जिन

चक्राकार कुण्डलियोंको देखा और जिनके प्रभावोंका अर्थात् नीरवता और शांतिमें अत्मिक या ब्राह्मी चेतनाकी शान्तिमें डूब जानेका अनुभव किया — वे साधारणतया प्रथम परिणाम हैं, वे ऊपरकी भागवत शक्तिके गतिशील अवतरण-के गोचर रूप हैं; और जगत् सत्ताकी अयथार्थताके भावके साथ-साथ अचल ब्रह्मके साक्षात्कारसे लेकर चल ब्रह्मकी स्थितिके साक्षात्कार तकका मार्ग भी हैं। सर्वांगीण योगमें यह पर्याप्त महत्वपूर्ण पग है।

कभी-कभी ब्राह्मी चेतनाका स्थाणु चेतनाके रूपमें भी वर्णन किया जाता है, किन्तु इसके दो पक्ष हैं, अचल और चल, और जब दोनों संयुक्त हो जाते हैं तभी यह सर्वांगीण बनती है। तुम्हारे द्वारा उद्धृत वाक्यमें मैंने इसी महत्तर चेतनाकी चर्चा की है। यह चेतना उससे भी अधिक महान् है जो केवल ब्राह्मी नीरवता और अचलताको प्रत्यक्ष करती है और उससे भी जो केवल वैश्व सत्ता और क्रियाका ही प्रत्यक्ष दर्शन करती है।

*

शक्तिसे मेरा मतलब मानसिक या प्राणिक ऊर्जा नहीं है बल्कि ऊपरकी भागवत शक्ति है — जैसे शान्ति एवं विशालता भी ऊपरसे आती है उसी प्रकार यह शक्ति भी। शक्तिके बिना कोई भी कार्य यहांतक कि चिन्तन या ध्यान भी नहीं किया जा सकता। जिस शक्तिके विषयमें मैं कहता हूँ वह आलोक-का दान, रूपान्तर, पवित्रीकरण, योगमें जो कुछ भी किया जाता है उस सबको करनेवाली, विरोधी शक्तियों और गलत क्रियाओंको हटानेवाली शक्ति है — निःसंदेह यह बाह्य कर्म करनेवाली भी है, इसका कोई महत्व नहीं कि वह कर्म देखनेमें छोटा या बड़ा हो — यदि यह भागवत संकल्पका अंग हो। मेरा मतलब किसी व्यक्तिगत आहंकारिक या राजसिक शक्तिसे नहीं है।

*

बलका अर्थ है सामर्थ्य और शक्ति, जो व्यक्तिको सब सम्भव घटनाओंका सामना करने, उनके सामने टिके रहने और उन्हें जीतनेमें, एवं भागवत संकल्प-की अभिमत वस्तुओंको चरितार्थ करनेमें भी समर्थ बनाती है। यह मनुष्यों, घटनाओं, परिस्थितियों और साधनोंपर अधिकार इत्यादि बहुतसी वस्तुओंको अपनेमें समाविष्ट कर सकती है। पर यह सब मानसिक या प्राणिक ढंगकी वस्तु नहीं होती, किन्तु यह उस क्रियाके द्वारा संपादित किया जाता है जो

भगवान् और सब पदार्थों एवं सत्ताओंके साथ चेतनाकी एकताके द्वारा की जाती है। यह कोई व्यक्तिगत सामर्थ्य नहीं है जो किन्हीं व्यक्तिगत क्षमताओं पर आधार रखती है, परन्तु ऐसी भागवत शक्ति है जो व्यक्तिका उपकरणके रूपमें प्रयोग करती है। इसका गुह्य सिद्धियोंसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

*

मनुष्यकी निजी शक्तिसे क्या मतलब? सारी शक्ति ही वैश्व है और व्यक्ति एक उपकरण मात्र है—शक्ति उसमें कुछ मात्रामें संचित हो सकती है, पर इस कारण वह उसकी निजी नहीं हो जाती।

अनुभव जिस ढंगसे हुआ उसमें कुछ सम्भावनाएं विद्यमान हैं। प्रथम है श्रद्धा, या कभी-कभी एक मानसिक साक्षात्कार और यह स्वयं व्यक्तिको माताजीकी शक्तिके प्रति इस प्रकार उद्घाटित करनेके लिये पर्याप्त है कि वह (शक्ति) सदैव आवश्यकता पड़नेपर या पुकारनेपर सुलभ हो जाय। मनुष्य यदि शक्तिको आते हुए न अनुभव करे, तथापि परिणाम तो उत्पन्न होते ही हैं और वे दृष्टिगोचर भी होते हैं। दूसरी है, जब वह अपनेको उपकरण रूपमें अनुभव करता है और इस ऊर्जाके विषयमें सचेतन होता है जो उसका उपयोग कर रही है। तीसरी है ऊपरकी शक्तिके साथ संपर्क और उसका (सहज रूपसे या पुकारनेपर) शरीरमें अवतरण—इसे प्राप्त करनेका यह अधिक ठोस ढंग है, क्योंकि व्यक्ति स्थूल भौतिक रूपमें शक्तिको अपने अन्दर काम करते हुए अनुभव करता है। अंतमें श्रीमांके साथ (अंतर्मुख) निकट संपर्कमें रहनेवाली चेतनाकी ऐसी अवस्था आती है जो उसी प्रकारका परिणाम उत्पन्न करती है।

*

शक्ति है मूल शक्ति; ऊर्जा है शक्तिका कार्यबल, उसकी सक्रिय गतिशीलता; बल है शक्तिसे उत्पन्न हुई क्षमता; सामर्थ्य है आधारमें घनीभूत और संचित ऊर्जा।

*

निष्क्रिय शक्तिका कोई अर्थ नहीं—शक्ति हमेशा सक्रिय होती है।

शक्ति केवल स्थिर निष्क्रिय आधारपर ही कार्य कर सकती है जैसे वह स्थूल जगत्‌में जड़ताके आधारपर कार्य करती है।

*

प्रत्येक कर्मके पीछे एक शक्ति होती है जो उस क्रियाके उपयुक्त ढ़ंगसे ही कार्य करती है। क्रिया करनेके लिये आवश्यक होनेके कारण वह इन सब नानाविध रूपोंको धारण करती है, किन्तु है यह एक ही शक्ति।

*

मैंने शक्तिके विभिन्न रूपोंका कभी वर्गीकरण नहीं किया; वे सैंकड़ों या हजारोंकी संख्यामें हो सकते हैं। शक्तिको जो कार्य करना होता है उसके अनुसार ही वह अपने रूपका प्रयोग करती हैं।

*

ज्योति, शांति और अन्य प्रत्येक वस्तुकी तरह ज्ञान भी ऊपरसे ही आता है।

चेतना ज्यों-ज्यों प्रगति करती है त्यों-त्यों ज्ञान उत्तरोत्तर उच्चतर भूमिकासे आता है। पहले उच्चतर आलोकित मन ही प्रमुख हो जाता है, फिर संबोधिकी भूमिका, उसके बाद अधिमानसकी और अन्तमें अतिमानसकी; परन्तु अतिमानस ज्ञान आना प्रारम्भ हो सके इसमें पहले समग्र चेतनाको पर्याप्त रूपसे रूपान्तरित कर लेना होगा।

*

प्रकाशकी कुछ विशिष्ट शक्तियां भी है और उनकी क्रीड़ा आवश्यकताओंके अनुसार होती है किन्तु व्यक्ति जितना शान्ति या आनन्दमें निवास कर सकता है उतना ही स्वयं प्रकाशमें भी निवास कर सकता है।

जैसे शान्ति और आनन्द सारे देहतन्त्रके आरपार प्रवाहित हो सकते हैं और अन्तमें अपनेको इतना स्थिर बना लेते हैं कि वे शरीरमें होते हैं और शरीर एवं सारी सत्ता उनमें — प्रायः यह कहा जा सकता है कि वे वही अर्थात्

शान्ति और आनन्द बन जाते है—इसी प्रकार प्रकाशके साथ भी होता है। वह शरीरमें प्रवाहित हो सकता है, प्रत्येक कोषाणुको ज्योतिर्मय बना सकता है, अपनेको स्थिर करके प्रकाशके एवं ज्योतिर्मय पुंजके रूपमें सबको चारों ओरसे आच्छादित कर सकता है।

*

ये प्रकाशके पिण्ड़ या दीप्तियां नहीं हैं परन्तु प्रकाशका एक ऐसा प्रवाह या सागर है जो शरीरमें प्रवेश कर रहा है, उसे चारों तरफसे घेर रहा है और चेतनाके समस्त प्रदेशको आलोकित कर रहा है। अन्तर्दर्शनके बिना भी प्रकाश और आलोकका एक जीवन्त बोध हो सकता है। साधारणतया यह गाढ़ें सफेद या हीरे जैसे अथवा सुनहरे प्रकाशके या सूर्य प्रकाश जैसी किसी वस्तुके या, बहुत लोगोंको, नीले या नीले-से सफेद प्रकाशके रूपमें दीख सकता या अनुभूत हो सकता है।

*

प्रकाश या प्रकाशकी किरणें सदैव उच्चतर चेतनाका वह आलोक होती हैं जो सत्तामें सत्यकी प्राप्तिके प्रयोजनसे चेतनाको आलोकित, परिष्कृत या जाग्रत करनेके लिये कार्य कर रहा है।

*

यह प्रकाशके रंगपर निर्भर करता है। जो भी हो, यह ऊपरकी शक्तिका प्रकाश है। सब प्रकाश शक्ति या बलके द्योतक हैं। ये प्रकाशों और शक्तियोंकी उस क्रियाको सूचित करते हैं जो अवतरणके समय निम्न प्रकृतिपर कार्य करती है और उसे बदलती है।

*

परिभाषा करना आवश्यक या सम्भव नहीं है। प्रकाश है प्रकाश, ठीक वैसा प्रकाश जैसा तुम देखते हो, पर केवल सूक्ष्म—यह चेतनाको निर्मल बनाता है और शक्तिके रूपमें कार्य करता है एवं ज्ञानको सम्भव बनाता है।

*

इसका (भागवत प्रकाशका) कोई कार्य नहीं होता—यह भागवत चेतनाका प्रकाश मात्र है। यदि तुम्हारा आशय फलसे है तो यह माना जाता है कि यह आलोकित करेगा, अन्धकार और अज्ञानको हटायेगा, प्रकृतिको सत्य-चेतना ज्ञान आदिके योग्य बनायेगा।

*

यह (ज्योति) एक ऐसी शक्ति है जो उन सभी वस्तुओंको आलोकित करती है जिनपर वह पड़ती है—इसका परिणाम सूक्ष्म दर्शन, स्मृति, ज्ञान, यथार्थ संकल्प, यथार्थ प्रवृत्ति आदि कुछ भी हो सकता है।

*

1. कपालके आवरणके खुलनेका अर्थ है कि मानसिक सत्ता भागवत प्रकाशके प्रति उद्घाटित हो गई है, और ज्वालाएं प्रकाशसे परिपूर्ण उस अभीप्सा-को सूचित करती हैं जो मानसिक भागको मनसे ऊपरकी सत्ताके साथ संयुक्त करनेके लिये उठ रही है।

2. ऊपरसे आनेवाला भागवत प्रकाश विविध रंगोंका होता है। सफेद प्रकाश पवित्रताकी दिव्य शक्तिका, नीला आध्यात्मिक चेतनाका, सुनहरा अति-मानस ज्ञानका या मध्यवर्ती भूमिकाओंसे आनेवाले ज्ञानका रंग है।

3. आकाशकी ओर उठते हुए (सुनहरे) ॐका अर्थ एक ऐसी वैश्वचेतना जो विज्ञान भावापन्न हो गई है और परात्पर चेतनाकी ओर उठ रही है।

1. और 2. या तो किसी ऐसी वस्तुको सूचित करते हैं जो इस समय हो रही है या एक ऐसी सम्भाव्यताको सूचित करते हैं जो मूर्तरूप लेनेका प्रयत्न कर रही है। 3. योगकी उस प्रक्रियाका प्रतीक है जिसका इस संभाव्यताके साक्षात्कार हो जानेपर अनुसरण किया जायगा और इसकी खोज तबतक जारी रहेगी जबतक इसका स्वाभाविक लक्ष्य प्राप्त न हो जाये।

*

अग्नि है अभीप्सा और आन्तर तपस्याकी दिव्य ज्वाला। जब अग्नि बढ़ती हुई शक्ति और विस्तारके साथ मानव अज्ञानके अन्धकारमें बारंबार अवतरित होती है तो पहले-पहल ऐसा प्रतीत होता है मानों यह अन्धकारमें

ग्रस्त होकर डूब गई, पर अवतरणकी अधिकाधिक मात्रा अन्धकारको प्रकाशमें, मानव मनके अज्ञान और अचेतनाको आध्यात्मिक चेतनामें बदल देती है।

*

यह अच्छा है। मस्तकके अन्दर स्थित शक्ति निश्चय ही श्री माताजीकी शक्ति है—यह उस उच्चतर चेतनाकी शक्ति है जो अपने अवतरणके मार्गको तैयार कर रही है। यह उच्चतर चेतना जो अपने अन्दर विस्तृत और निःसीम सत्ता, प्रकाश, शक्ति, शांति, आनन्द इत्यादिको धारण किये है, सदैव सिरके ऊपर विराजमान रहती है और जब आध्यात्मिक शक्तिकी कोई वस्तु प्रकृतिपर क्रिया करनेके लिये नीचे आती है तो यह वहींसे आती है। परन्तु शान्ति, आनन्द आदिके पूर्ण अवतरण जैसी कोई वस्तु तबतक नहीं आ सकती जबतक सत्ता तैयार नहीं हो जाती। प्रथम तैयारीमें बहुधा मन, प्राण और स्थूल प्रकृतिपर इस प्रकार क्रिया की जाती है कि अन्तरात्माको अर्थात् चैत्य सत्ताको अपनेको प्रकट करनेका और शेष प्रकृतिपर अपना प्रभाव ड़ालनेका अवसर मिल सके; इस प्रयोजनके लिये मन और प्राणकी समस्त मुख्य अन्धकारमय स्थितियोंके साथ युद्ध करके उन्हें बाहर निकाल देना होगा और भौतिक सत्ताको भी एक स्थूल ढ़ंगसे इस प्रकार तैयार करना होगा जिससे अवतरण सम्भव हो सके। यही वस्तु तुम्हारे अन्दर अबतक सम्पन्न की गई हो। इसे अधिक बलवान् और पूर्ण बनाना है—किन्तु भौतिक सत्तामें उच्चतर चेतनाके अवतरणकी तैयारीकी सम्भावनाके लिये पर्याप्त काम किया जा चुका है। यहां दो बातें होती हैं; व्यक्तिकी चेतनाका मस्तकमें तथा उसके ऊपर उच्चतर भूमिकाओंकी ओर आरोहण, और ऊपरकी उच्चतर चेतनाका व्यक्तिके मन, प्राण और शरीरमें अवरोहण। यह कैसे या किन अवस्थाओंमें गुजरते हुए किया जाता है या इसमें कितना समय लगेगा यह प्रत्येक व्यक्तिके अनुसार अलग अलग होता है। किन्तु यह नवीन चेतना सामान्य चेतनासे बहुत भिन्न है और इसके अवतरणके समय ऐसी बहुत-सी वस्तुएं होती हैं जो मनके साथ नहीं होती और उसे विलक्षण लग सकती हैं—उदाहरणार्थ अहंका विलय और ऐसे विशालतर पुरुष या आत्माके प्रति उद्घाटन जो देह द्वारा आबद्ध नहीं है और जिसके लिये शरीर एक छोटेसे उपकरणसे अधिक कुछ नहीं है। इसलिये व्यक्तिको नवीन वस्तुओंके प्रति भयमात्रको दूर भगा देना होगा और परिवर्तनके सारे कालमें पथ-प्रदर्शन, अवलम्बन और रक्षणके लिये भगवती माताकी शक्तिपर भरोसा रखते हुए नये अनुभवके प्रत्येक क्षेत्रको धीरता और विश्वासके साथ स्वीकार कर

लेना होगा।

*

तुम्हारी साधनाके सम्बन्धमें दो शब्द। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे भावी विकासकी चावी उसी अनुभूतिमें निहित है जिसे तुमने अपने कथनानुसार 'क' के यहां कुछ दिनों तक अनेक बार प्राप्त किया। 'एक ऐसी अवस्था जो ज्ञान, शान्त प्रसन्न चेतना, गंभीरता, सामर्थ्य और विशाल चैतन्य से परिपूर्ण थी — सब प्रश्न आपसे-आप हल हो गये — शक्तिका सतत प्रवाह आज्ञा चक्रमेंसे होता हुआ सारे शरीरमेंसे गुजर गया — मैं अत्यधिक शक्तिशाली हूँ, मुझमें अविचल समता, स्थिर विश्वास, तीक्ष्ण दृष्टि एवं ज्ञान है'। तुम्हारे अन्दर यह उस सच्चे पुरुषकी चेतना थी जो अपनी विज्ञानमय सत्ताके विषयमें सचेतन है और इसे ही तुम्हारी साधारण चेतनाके साथ अतिमानसिक विकास-का आधार भी बनना होगा। इसके ऐसा बन सकनेके लिये मनको स्थिर और बलवान् बनाना होगा, आवेग प्रधान और प्राणिक सत्ताको शुद्ध करना होगा एवं भौतिक चेतनाको इसप्रकार उद्घाटित करना होगा कि शरीर उस चेतना तथा शक्तिको धारण कर सके और सुरक्षित रख सके। मैंने यह देखा कि तुम्हें जब यह अनुभूति हुई थी उस समय शरीर भी इसे अभिव्यक्त कर रहा था। यह इस बातका चिह्न है कि तुम्हारी भौतिक सत्तामें यह क्षमता पहलेसे ही विद्यमान है। स्थिरता एवं सामर्थ्य ऊपरसे उतरेंगे ही, तुम्हें बस अपनेको उद्घाटित करके इसे ग्रहण करना है और साथ ही निम्न प्रकृतिकी उन सब क्रियाओंको अस्वीकार करना है जो इसे वहां बने रहनेसे रोकती हैं तथा सच्ची सत्ता, सच्ची शान्ति और सच्चे ज्ञानसे मेल न खानेवाली कामनाओं और आदतों द्वारा शासित होती हैं। उच्चतर शक्ति निःसंदेह तुम्हारी सामने स्वयं प्रकट होगी और तुम्हारी प्रकृतिके सभी विघ्नबाधाओंको हटायेगी। पर शर्त यह है कि केवल तुम्हारी मानसिक ही नहीं किन्तु प्राणिक और भौतिक सत्ताको भी इसके प्रति उद्घाटित और समर्पित होना होगा एवं अन्य बलों और शक्तियोंके प्रति अपनेको समर्पित करनेसे इनकार करना होगा। जैसा कि तुमने स्वयं उस समय अनुभव किया था, यह महत्तर चेतना अपने-आप ही उच्चतर संकल्प और ज्ञानके विकासको संपादित करेगी। ठीक प्रकारकी चैत्य अनुभूतियां अवश्य ही बहुत सहायक होती हैं किन्तु तुम्हारे विषयमें हो सकता है कि चैत्यका कोई समृद्ध विकास बादमें आये या उस अनुपातमें आये जिस अनुपातमें यह चेतना स्थिर ज्ञान, संकल्प और 'समता'के साथ सत्ताके विभिन्न अंगोंपर अधिकार

करती जाय।

*

तुमने अपने पत्रमें जो लिखा है वह सब बड़ा उत्साहवर्धक है,। यह प्रदर्शित करता है कि तुम्हारे अन्दर शक्ति कार्य कर रही है और वह भी ठीक प्रकारसे। दो बातें आवश्यक हैं — तुम्हारे मन और प्राणका चैत्यके साथ पूर्ण सम्बन्ध और ऊपर श्रीमांकी चेतनाके प्रति चेतनाका उद्घाटन। ये दोनों प्रारम्भ हो रहे हैं। जो वाणी उत्पन्न हुई वह तुम्हारी अन्तरात्माकी, चैत्य सत्ताकी थी, भीतर गहराईमें जानेकी प्रवृत्ति चैत्यकी गहराईमें डूबनेकी ही क्रिया थी। जिस चेतनाने क्रोध और पुरानी क्रियाओंको अस्वीकार कर दिया और फेंक दिया वह भी चैत्यकी ही थी।

तुमने सिरपर जो दबावका अनुभव किया वह ऐसे समय सदा ही आया करता है जब ऊपरसे उच्चतर चेतनाका अर्थात् श्रीमांकी चेतनाका तुम्हारे भीतर प्रवेश करनेके लिये दबाव पड़ता है और तुम्हें शीतलता आदिके जो संवेदन हुए वे भी प्रायः ऐसे समय अनुभवमें होते हैं। प्रथम परिणाम था व्यक्तिगत संबन्धोंसे अनासक्ति, हृदयमें मुक्ति, प्रसन्नता, उद्घाटन एवं निर्भयता तथा माताजीकी उपस्थितिका वेदन भी। ये सच्ची चेतनाके चिह्न हैं, और आध्यात्मिक प्रकृतिके अंग हैं। पहले वे अनुभवोंके रूपमें आते हैं, बादमें वे बारंबार आते हैं, फिर देरतक रहने लगते हैं और अन्तमें प्रकृतिमें स्थिर रूपसे बस जाते हैं।

*

तुम्हारे अनुभव पक्के प्रतीत होते हैं। प्रथम अनुभव उस उच्चतर (यौगिक या आध्यात्मिक) चेतनाका है जो मस्तकके ऊपरसे नीचे उतरकर देहके भीतर आती है। इसकी अनुभूति प्रायः इस रूपमें होती है मानों एक धारा मस्तकमें होती हुई सारे शरीरमें बह रही हो। और सबसे पहले वह शान्तिके अवतरणको लाती है। इस अवतरणका एक फल यह होता है कि व्यक्ति अपने अन्दर एक ऐसी आन्तर सत्ताका अनुभव करता है जो बाह्य कर्मोंसे अलिप्त होती है एवं उसे पीछे रहकर सहारा देती है किन्तु उसमें आसक्त नहीं होती — यह है दूसरा अनुभव। निद्रासे संबद्ध तीसरा अनुभव भी तब होता है जब व्यक्तिको माताजीमें विश्वास हो और उनके संरक्षणमें इस प्रकार सोता

हो मानों उनकी गोदमें, उनकी उपस्थितिसे घिरा हुआ सोया हो। स्वप्नका जहांतक प्रश्न है पैर उस भौतिक चेतनाको सूचित करते हैं जो अब भी दुहरे खिंचावके अधीन है, एक गति ऊपरकी ओर उच्च चेतनाके प्रति जिससे स्थूल चेतना अपनेको आध्यात्मिक चेतनाके साथ संयुक्त कर सके, दूसरा, नीचेकी ओर निम्न चेतनाके प्रति। मेरी तरफ देखना इस बातको सूचित करता है कि सत्ताकी अभिरुचि ऊर्ध्वमुख गतिकी ओर है।

*

यह विशालता उच्चचेतनाकी है, सुनहरा रंग सत्यके प्रकाशका रंग है और गौ उच्चतर चेतनाके उस प्रकाशका प्रतीक है जो अवतरित होकर सब वस्तुओंको सत्य-प्रकाशमें बदल रहा है।

अवतरणका स्वाभाविक परिणाम है किसी भी घटनासे प्रभावित न होने-वाली विशालता और अचंचलताकी अवस्था, इस आकृतिमें तुमने इसे ही देखा। कर्म या अकर्मके प्रति एक उदासीन स्थिति भी इस अवतरणका ही फल है। साधारणतया प्राण ही व्यक्तिको कर्मकी ओर धकेलता है और प्राणके इस धक्के-के बिना व्यक्ति कर्म बहुत कम ही कर सकता। जब उच्चतर चेतना मन और प्राणमें उतरती है तो यह आवेग शान्त हो जाता है, किन्तु कर्म करनेकी क्षमता विद्यमान रहती है,—बादमें जब नई चेतना सुप्रतिष्ठित हो जाती है तो यह कामको हाथमें लेकर उसे एक अन्य ऐसी शक्तिके साथ मिलकर आगे बढ़ाती है जो प्राणके धक्केका स्थान ले लेती है और उससे बहुत अधिक महान् होती है।

*

उद्घाटनकी एक उत्तम स्थिति जिसमें शक्ति अवतरित हो रही हो और सतत स्मरण बना रहे—या यह अवस्था अन्य जो भी रूप धारण करे—सच्ची चेतनाका श्रीगणेश है और शुरु-शुरुमें इसकी अवधि सदैव छोटी ही होती है क्योंकि सामान्य चेतना इसकी नहीं परन्तु किसी अन्य वस्तुकी आदी होती है किंतु अवधिका काल और शक्ति हमेशा तबतक बढ़ते जाते हैं जबतक वह अपनेको तब भी स्थिर रखनेमें समर्थ न हो जाय जब कि बाह्य चेतना अन्य वस्तुओंमें व्यस्त होती है। पहले वह एक ऐसी वस्तु के रूपमें पीछेकी ओर स्थित होती है जो बाह्य व्यस्तताके समाप्त होते ही बाहर उभर आती है;

बादमें भी वह पीछे विद्यमान रहती है किन्तु एक ऐसी वस्तुके रूपमें जिसका केवल वेदन ही होता है और उसके बादकी स्थितिमें भी वह सदैव विद्यमान रहती है, तो इस प्रकार वहां दो चेतनाएं हो जाती हैं, एक आन्तर चेतना जो सदैव माताजीसे संयुक्त रहती है और उनकी क्रियासे या उनकी उपस्थितिसे या दोनोंसे पूर्ण होती है और दूसरी बाह्य चेतना जो अन्य वस्तुओंमें व्यस्त होती है। अन्तमें बाह्य चेतना भी स्वयं कर्ममें सीधे सम्बन्धका अनुभव करने लगती है। बीचमें ऐसे समय जबकि व्यक्तिकी स्थिति ठीक हो, अन्तराल आये तो उसे परवाह नहीं करनी चाहिये। यह इस बातको नहीं सिद्ध करता कि तुम अयोग्य हो; यह महज एक ऐसा समय होता है जिसमें वह वस्तु जो अभी बदली नहीं इसलिये ऊभर आती है कि उसपर कार्य करके उसे परिवर्तनके लिये तैयार किया जाय। जब आन्तर चेतना अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो जाती है, तो ये काल केवल उपरितलीय चेतनामें ही आते हैं और पहले जैसे कष्ट-दायक नहीं होते।

पुनश्च :—बहुत करके जो कठिनाई तुम अनुभव करते हो वह उस बाह्य-रूप देनेवाले मनमें है जिसका केन्द्र कण्ठमें है। जब उसमें प्रतिरोध नहीं होता तो शक्ति हृदयके स्तरतक और उससे भी नीचे उतर आती है।

*

उच्चतर चेतनाकी क्रिया सामान्यतया बाह्य प्रकृतिके परिवर्तनसे आरम्भ नहीं होती — वह अन्तःसत्तापर कार्य करती है, उसे तैयार करती है और फिर बाहरकी ओर निकल आती है। इससे पहले बाह्य प्रकृतिमें जो भी परि-वर्तन करना हो वह अन्तरात्मा द्वारा ही करना होता है।

*

यह कुछ ऐसी-सी बात है। अर्थात् कार्यरत शक्तिकी तीव्रतामें सदा ही परिवर्तन होता रहता है। यह महान् बलके साथ आती है और उस कार्यको प्रभावित करती है जो हमें करना है; फिर या तो वह छिप जाती है या थोड़ी पीछे हट जाती है या इसका अनुभव तो होता है किन्तु जैसा कि तुम कहते हो परदेके पीछेसे, इसी बीच कोई ऐसी वस्तु आती है जिसे आलोकके लिये तैयार करना होता है और उसके बाद यह फिर सामने आती है और यथोचित क्रिया करती है। परन्तु पहले जब कि अवलम्ब और सहायता, यहांतक कि

गभीरतर चेतना भी विद्यमान थी, जैसा कि तुम इस समय ठीक ही अनुभव कर रहे हो, तो परदेके गिरते ही यह सब भूलभाल गया और तुम्हें ऐसा लगने लगा कि यहां अन्धकार और अस्तव्यस्तताके सिवाय और कुछ नहीं है। प्रारंभिक अवस्थामें अधिकतर साधकोंके साथ ऐसा ही होता है। उस समय जब कि शक्ति परदेके पीछे काम कर रही होती है, यदि तुम यह अनुभव करो कि सहायता और अवलम्ब एवं अधिक आलोकित चेतना वहां अब भी विद्यमान है तो यह एक महान् विकास, एक निर्णायक प्रगति है। यह साधनाकी दूसरी स्थिति है। एक तीसरी अवस्था भी है जब कि कोई परदा नहीं रहता और शक्ति एवं अन्य सब वस्तुओंका सदैव अनुभव होता है चाहे वे सक्रिय रूपसे कार्य कर रही हों या संक्रमण कालमें कार्यसे विरत हों।

*

हां, यह (शक्ति) पर्याप्त ठोस है। साधारणतया पहले यह समय समय पर स्वयं ही उतरती है—और व्यक्ति उसे कठिनाईके सामने आनेपर पुकारता भी है। परन्तु अन्ततः तो वह सत्ताके सभी कर्मोंको सहारा देते हुए और उनका निर्णय करते हुए वहां सदैव बनी रहती है।

*

नीचे उतरनेवाली शक्ति और शान्ति तुम्हारे सिरके ऊपर स्थित उच्चतर चेतनासे ही उतरती है, उस महत्तर सत्तासे जिसके विषयमें तुम्हारा मन, सामान्यतः मानव मन, सचेतन नहीं होता। वे भगवान्‌की शक्ति और शान्ति हैं। जब वे शरीरके बाहरसे तुम्हें चारों ओरसे घेर लेती हैं (इसलिये तुम उन्हें बाह्य वस्तु अनुभव कर रहे हो) तो ये एक संरक्षण और एक वातावरण रूप होती हैं। किन्तु वे शरीरमें भी, सिर (मन), हृदय और नाभि (प्राण)के अन्दर और सम्पूर्ण शरीरको आरपार करती हुई अवतरित होती है, चेतनाको परिवर्तित करनेके लिये तुम्हारे अन्दर क्रिया करती है और जो कुछ आवश्यक है वह सब करती है। यदि तुम इसे अपने अन्दर अनुभव नहीं करते, बल्कि केवल एक बाहरी चीजके रूपमें ही इसका अनुभव करते हो तो इसका कारण यह है कि तुम बाह्य स्थूल चेतनामें ही बहुत अधिक रहते हो — किन्तु वास्तवमें यह तुम्हारी आन्तरिक सत्ताके अन्दर है और वहां तुममें क्रिया कर रही है। जब तुम आन्तरिक चेतनाको पुनः प्राप्त कर लेते हो तो तुम फिर इसे

अपने अन्दर अनुभव करते हो और यह तुम्हारे अन्दर तुम्हारी अपनी सच्ची चेतनाको, चैत्य चेतनाको जगाती है — और केवल चैत्य चेतना ही श्रद्धा और भक्ति प्रदान करती है। तथापि यह एक महान् प्रगति होगी यदि बाह्य भौतिक चेतनामें रहते हुए भी तुम अपनेको चारों ओर शान्तिसे घिरा हुआ अनुभव करो।

*

यह कल्पना क्यों? जब उच्चतर चेतना स्पर्श करती है तो वह जबतक रहती है तबतक एक ऐसी मूलभूत पवित्रताको उत्पन्न करती है जिसमें सत्ताके सभी अंग हिस्सा ले सकते हैं। अथवा, यदि बाह्य सत्ता उसमें सक्रिय रूपसे भाग न भी ले तो वह निश्चल पड़ी रह सकती है जिससे किसी विशेष अनुभवके सत्यका साक्षात्कार करनेवाली समग्र आन्तर सत्तामें विघ्न ड़ालनेवाली कोई भी वस्तु वहां नहीं रहती। यह अवस्था देरतक नहीं टिकती क्योंकि यह केवल तैयार करनेवाला स्पर्श है न कि पूर्ण या स्थायी अवतरण; परन्तु जब वह वहां विद्यमान होती है तो यथार्थ होती है। यौन-संवेदन अवश्य ही बाह्य सत्ता-की वस्तु है जो प्रकृतिकी विकृति या उसकी मिथ्या अभिव्यक्ति है, अनुभवके बारंबार आने और फिर सामान्य हो जानेमें मुख्य बाधा यही है। साधारण-तया यह होता है कि अनुभवके बाद इस प्रकारकी विरोधी वस्तुएं अपना अधि-कार जमायें रखनेकी चेष्टा करती हैं।

*

तुम यौन-भावके साथ ठीक ढ़ंगसे व्यवहार कर रहे हो। जब तुम नाम जप कर रहे थे उस समय इसके उठनेके दो कारण हैं। पहला यह कि जब तुम नाम जप करते हो तो तुम माताजीकी शक्तिका आवाहन कर रहे होते हो और उसका प्रथम परिणाम प्रायः यह होता है कि कठिनाई इस प्रकार उठ खड़ी होती है जैसे सिरका स्पर्श करनेपर उत्पीड़नका विरोध करनेके लिये सांप उठ खड़ा होता है अथवा — यदि तुम इसे दूसरे दृष्टि बिन्दुसे देखो — तो यह कठिनाई इसलिये उठ खड़ी होती है कि इससे निबट लिया जाय। दूसरा कारण यह है कि जब वह वस्तु जिसे हमें नीचे लाना है, आनन्द होती है — शक्ति, प्रकाश इत्यादिका, किन्तु विशेषतः प्रेमका आनन्द — तो प्राणमय भौतिक आवेग ऊपर आता है और आनन्दको एक प्रकारके उदात्तीकृत प्राणिक सुखमें

बदलनेकी आशासे उसके साथ मिश्रित होने और उसपर अधिकार जमानेकी चेष्टा करता है। यह सुविदित है कि संकीर्तन करते समय वैष्णवोंके साथ ऐसा प्रायः होता है। तुम्हारे विषयमें तो बहुत करके पहला ही कारण ठीक है, कारण प्रेमका आनन्द या कोई अन्य अभी उतर नहीं रहा है इसलिये वह व्याख्या असम्भव है। सिरमें अवतरित होती हुई शक्तिका जहांतक प्रश्न है, इसके दो पक्ष हैं—एक है शान्ति और जब यह प्रमुख होती है तो शीतलताका वेदन होता है, इसके स्थानपर जब तीव्र शक्तिशाली क्रिया होती है तो गर्मीका, अग्नि-शक्तिका भान हो सकता है। अधिकतर लोग इन दोनोंका अनुभव करते हैं; ये कल्पना नहीं है।

*

तुम कहते हो कि जब शक्ति नीचे उतरती है तो युद्ध शुरू हो जाता है, किन्तु ऐसा परिणाम अनिवार्य नहीं होता अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि प्रगति युद्ध द्वारा ही हो। अधिक ठीक यह है कि जब शक्तिका सत्तामें आगमन होता है, जब व्यक्ति अभी उसके प्रति अपनेको उद्घाटित करनेका प्रयत्न कर रहा होता है या अभी शक्ति ऊपरसे दबाव ही डाल रही होती है या उसने समग्र प्रकृतिको नहीं बल्कि उसकी किसी एक वस्तुको ही हाथमें लिया होता है, उससे पहले ही युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। जब शक्ति काम कर रही होती है तो प्रकृतिकी अपूर्णताएं और न्यूनताएं अवश्यमेव बदलनेके लिये उठेंगी ही, किन्तु व्यक्तिको उनके साथ युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं, उसे अचंचल रहकर उनकी ओर इस रूपमें देखना चाहिये मानों वे ऐसे उपरितलीय कलपुर्जे हों जिन्हें बदलना है। हमें उन्हें 'उदासीनता'के साथ नहीं देखना, क्योंकि उसका अर्थ होगा तमस्, संकल्प या प्रेरणा या बदलनेकी आवश्यकताका अभाव, बल्कि उन्हें देखना होगा अनासक्तिके साथ। अनासक्तिका अर्थ है कि व्यक्ति उनसे हटकर खड़ा होता है, उनके साथ एकाकार नहीं हो जाता या उनकी उपस्थितिसे अशान्त या विक्षुब्ध नहीं होता; बल्कि उन्हें किसी ऐसी वस्तुके रूपमें देखता है जो उसकी सच्ची चेतना और सच्चे आत्माके लिये विजातीय हों, वह इन क्रियाओंको अस्वीकार करता है एवं इन्हें बाहर निकालने और वहां सच्ची चेतना और उसकी क्रियाओंको लानेके लिये इनके भीतर माताजीकी शक्तिको पुकार लाता है। अवश्य ही इस क्रियामें होना चाहिये परित्यागका दृढ़ संकल्प, इससे छुटकारा पानेके लिये दबाव न कि कोई मल्ल-युद्ध या संघर्ष।

जब तुम्हें शक्ति, एकाग्रता, शान्तिका अनुभव हुआ तो स्पष्ट ही इसका

अर्थ यह था कि सच्ची चेतना आ रही है; यह नहीं हो सकता कि इसने रात-को बेचैनी पैदा की हो। यदि बेचैनी शक्तिके आगमनका फल हो तो इसका अर्थ यह होगा कि शक्ति जितनी अधिक उतरती है बेचैनी भी अवश्य ही उतनी अधिक बढ़ती है। परन्तु यह बेतुकी बात होगी और असली बात यह नहीं है। जो हुआ महज यह था कि शक्तिके साथ आन्तर या आध्यात्मिक शान्ति आना प्रारम्भ हुई; स्नायुओंमें जो पुरानी बेचैनी सोई पड़ी थी वह इन सब अभ्यस्त क्रियाओंकी तरह अधिक देरतक रहनेके लिये यत्न करती हुई प्रति-रोधके रूपमें जाग उठी। जैसे-जैसे शान्ति प्राणिक और स्नायविक सत्तामें प्रविष्ट होती है वैसे-वैसे ये वस्तुएं स्वभावतः मन्द होती जाती हैं और बाहर फैंक दी जाती हैं। व्यक्तिको केवल शान्त और निर्लिप्त रहना चाहिये और शक्तिको कार्य करते समय वहां भी शान्तिको लाने देना चाहिये। यदि कठि-नाई अड़ी रहे तो तुम हमें जतलाना जिससे हम इसके सम्बन्धमें कुछ कर सकें।

*

जिस वृत्तिका उसने उल्लेख किया है यदि वह उसे ठीक ढ़ंगसे बनाये रखे तो वह एक सही वृत्ति है। इसके कारण ही पहले-पहल सच्चे अनुभवका प्रारम्भ हुआ, उस ज्योति (सफेद और सुनहरी) और शक्तिने सहस्त्रदलसे प्रवाहित होकर सारे देह तन्त्रको आप्लावित कर दिया; पर जब उसने प्राणिक अंगोंका स्पर्श किया तो उसने प्राण-केन्द्रोंमें (नाभिमें और उसके नीचे) प्राणकी ऊर्जाओंको जगा दिया होगा और क्योंकि वे शुद्ध नहीं थे इसलिये सब मलिनताएं (क्रोध, यौन-वृत्ति, भय, शंका इत्यादि) उभर आई और मन उद्दाम वेगसे उठती हुई अशुद्ध प्राणिक शक्तियोंसे आच्छन्न हो गया। वह कहता है कि यह सब अब शान्त हो रहा है एवं मन स्थिर हो रहा है तथा प्राणमें आवेग आते तो हैं पर टिकते नहीं। केवल मनको ही नहीं प्राणको भी स्थिर बनना होगा; इन आवेगोंको परित्याग और शोधन द्वारा ऐसा कर देना होगा कि इनकी बारंबार लौटनेकी अपनी शक्ति नष्ट हो जाय। सम्पूर्ण आधारमें अखण्ड पवित्रता और शान्तिको स्थापित करना होगा; केवल तभी व्यक्ति और आगे बढ़नेके लिये सुरक्षित और निश्चित आधारको पायेगा।

उसमेंसे शक्तिके बाहर बह जानेका कारण अवश्य ही यह होगा कि वह अपने-को प्रत्यक्ष वस्तुके प्रति अत्यधिक तामसिक रूपसे निष्क्रिय और खुला रहने देता है। व्यक्तिको केवल भागवत शक्तिके प्रति ही निष्क्रिय होना होगा परन्तु इस वस्तु-के प्रति जागरूक रहना होगा कि वह अपनेको सभी शक्तियोंकी दयापर न छोड़

दे। जब वह किसी अन्य व्यक्तिमें भगवान्के दर्शन करनेकी चेष्टा करता है उस समय यदि वह निष्क्रिय रहे तो बहुत करके वह अपनेको ऐसी किसी भी शक्तिके हाथमें दे देता है जो उस व्यक्ति द्वारा कार्य कर रही होती है और उसकी अपनी शक्तियां दूसरे व्यक्तिकी ओर बह निकलती हैं। उसके लिये यह अच्छा होगा कि वह इस ढंगसे प्रयत्न न करे; उसे ऊपरसे आनेवाली शान्ति एवं बल तथा पूर्ण पवित्रताके लिये अभीप्सा करने दो और केवल उस शक्तिके प्रति ही अपनेको खोलने दो। (केवल इस या उस व्यक्तिमें ही नहीं बल्कि) सर्वत्र भगवान्का भान होने जैसी अनुभूतियां तब स्वयमेव आयेंगी।

हमारा उद्देश्य अतिमानसिक साक्षात्कार है और हमें उसके लिये या उसकी दिशामें प्रत्येक भूमिकाकी नियम-मर्यादाओंके आधीन रहकर आवश्यक सभी कुछ करना है। हालमें आवश्यकता है भौतिक चेतनाको तैयार करना; उसके लिये भौतिक एवं निम्नतर प्राणिक अंगोंमें पूर्ण समता एवं शान्ति तथा व्यक्तिगत मांग या कामनासे मुक्त पूर्ण आत्मदान ही एक ऐसी वस्तु है जिसे हमें प्रतिष्ठित करना है। अन्य वस्तुएं अपने उपयुक्त समयमें आपसे-आप आ सकती हैं। इस समय आवश्यकता इस बातकी है कि भौतिक सामीप्यका आग्रह न रखा जाय जो कि इन अन्य वस्तुओंमेंसे एक है, बल्कि आग्रह रखा जाय भौतिक चेतनामें चैत्य उद्घाटनका और चेतनामें सतत उपस्थिति एवं पथप्रदर्शनका।

*

प्राणिक मनके (या किसी भागके) उद्घाटनका यह अर्थ नहीं है कि प्राणिक मन पूरी तरह इस प्रकार खुल गया है या पूर्णतया परिवर्तन हो गया है कि फलतः उसमें फिर सिवाय चेतनाके कोई अन्धकार या अज्ञान या अशुद्धि या प्रतिरोध या अन्य कोई वस्तु कभी नहीं रहेगी। इसका केवल यह अर्थ है कि उच्चतर चेतना वहां उतर सकती है और कार्य कर सकती है एवं उस अंगमें अपना कुछ अंश स्थापित कर सकती है। प्रत्येक भूमिकाको, नीचे स्थूल भूमिकातक प्रारम्भिक रूपसे एकके बाद एक इस प्रकार खुलना होगा। जबतक यह प्रारम्भिक उद्घाटन सब अंगोंमें नहीं हो जाता तबतक उच्च-तर चेतनाका पूर्ण और अन्तिम अवतरण कहीं भी नहीं हो सकता। यदि स्नायविक सत्ता और अन्य अंग उद्घाटित न हों तो चिन्तनशील मन भी अन्तिम रूपसे उद्घाटित नहीं हो सकता क्योंकि यह नीचे प्रतिरोध, अन्धकार इत्यादिसे प्रभावित हो सकता है। यदि प्राणिक मन खुला हो तो इसका अर्थ

यह नहीं कि वह इतना पूरी तरह खुला है कि वह पहले ही दिव्य हो चुका है एवं गर्व या अन्य अशुद्ध क्रियाओंका अनुभव नहीं करता।

जहांतक स्नायविक सत्ताका प्रश्न है, वह उस स्थूल चेतनाका अंग है जो स्थूल मनसे नीचे है उसके ऊपर नहीं,—स्नायु शरीरके अंग हैं।

*

यह (विक्षोभोंका आना) ऊपरके किसी दबावका परिणाम नहीं है। यदि ऊपरसे कोई वस्तु न आ रही होती तो शांति और स्पष्टता न होती और विक्षोभ तब भी आते और बारंबार आते।

लालसाएं पहले कभी प्राणिक भौतिक सत्तासे संबद्ध थीं किन्तु जब सत्ता-में शान्तिकी पर्याप्त शक्ति आ जाती है तो वे चली जाती हैं और प्राणिक भौतिक सत्ता मुक्त हो जाती है एवं अचंचलताके प्रभावके आधीन हो जाती है। विक्षोभकी शक्तियां व्यक्तित्वके साथ अब और सम्बन्ध नहीं रखतीं; परंतु यदि वे बाहर चली गई हों तो भी वे वातावरणमें प्रतीक्षा करती रहती हैं और मौका मिलनेपर लौट आनेकी तथा बाह्य सत्तापर फिरसे पकड़ जमानेकी चेष्टा करती हैं जिससे वे आन्तर शान्तिको भंग कर दें या, यदि वे अब और अधिक ऐसा न कर सकें तो उसे आच्छादित कर दें। क्योंकि स्थूल प्राणको कुछ समयके लिये उनका स्वेच्छासे प्रत्युत्तर देनेकी आदत रही है, अब भी वे उससे अपने स्पन्दनोंका प्रत्युत्तर अनिच्छापूर्वक भी दिलवा सकती हैं। शान्ति और स्पष्टताको ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी कि उन शक्तिओंके लौट आनेपर भी वे वहां कायम रहें — तब वहां ऐसी आन्तरिक शान्तिका प्रत्यक्ष दर्शन होगा जो आन्तर सत्तामें तब भी अविचल रहेगी जब कि बाह्य सत्ता उपरितलपर चलायमान होगी। यह प्रगतिकी एक सुनिश्चित भूमिका है। बादमें ऐसी शक्तिको नीचे लाया जा सकता है जो इतनी पर्याप्त शक्तिशाली हो कि बाह्य सत्ताको भी इतनी प्रबल शान्ति और स्पष्टतासे भर दे कि वहां विक्षोभ और अधिक प्रवेश कर ही न सकें। तो भी व्यक्ति वातावरणमें उन्हें कभी-कभी अनुभव कर सकता है किन्तु वह उनके द्वारा पहलेकी तरह बिलकुल भी प्रभावित नहीं होता।

*

प्राणिक सत्ता विक्षोभ की क्रियाको फिरसे प्रवेश करने देती है इसका

कारण यह नहीं होता कि वह ऐसा चाहती है; यह इसलिये भी हो सकता है कि उसके रहते भी कुछ आघात या सुझाव पुराने स्पन्दनोंको फिरसे जगा देते हैं और उसमें प्रत्युत्तर देनेकी आदत इतनी प्रबल हो कि वह "अपने रहते" भी उसका प्रत्युत्तर देती है, और कुछ समयके लिये वह अपने संतुलनको फिरसे जमानेमें असमर्थ हो जाती है। ऐसा सत्ताके सभी अंगोंमें होता है, किन्तु यह विशेषकर भौतिक अंगोंके विषयमें अधिक सत्य है — भौतिक मन अभ्यस्त विचारोंके सामने झुक जाता है, भौतिक प्राण अभ्यस्त कामनाओं और आवेगोंसे हार मान लेता है, शरीर अभ्यस्त संवेदनों, बीमारियों आदिके वशमें हो जाता है इत्यादि। साधक प्रायः लिखते हैं "किन्तु मैं इन वस्तुओंको नहीं चाहता, मेरा प्राण और शरीर भी बेचैनी अनुभव करते हैं और चाहते हैं कि वे दूर हो जायें, तो फिर वे क्यों आते हैं"। इसका कारण यह है कि प्रत्युत्तर देनेकी लम्बे समयसे जमी हुई यह आदत इतनी अधिक शक्तिशाली है कि उससे प्रभावित अंगमें परित्यागका अभीतक अत्यधिक प्रशान्त और निष्क्रिय संकल्प (यदि उसे संकल्प कहा जा सके तो) टिक नहीं सकता। यह भौतिक अंगोंके लिये विशेष रूपसे सत्य है क्योंकि एक निष्क्रिय प्रशान्ति, शक्तियों द्वारा परिचालित होनेकी आदत उनका निजी स्वभाव ही है और वह तबतक रहता है जबतक वे (अंग) ऊपरसे नियंत्रित नहीं होते या उन्हें उच्चतर अंगोंके विचार एवं संकल्पमें हिस्सा लेनेको बाध्य नहीं कर दिया जाता।

*

जो अंग कार्य कर रहा है वह अवश्य ही प्राणिक भौतिक होना चाहिये। शक्तिके दबावके कारण ही प्रतिरोध अधिकाधिक नीचेकी ओर हटता जाता है और वह इसलिये व्यक्त होता है कि विशेष रूपसे इस प्रतिरोधके बाहर निकालनेके लिये वहां भी दबाव डाला जाय।

*

यह उच्चतर चेतनाका (सामान्य मनसे परे नीले प्रकाशकी भूमिकाओंका) दबाव है जो नीचे उतर आया है और नीचे शरीर तक और उससे भी नीचे प्रतिरोधी वस्तुओंपर दबाव ड़ाल रहा है। इसके साथ ही अवचेतन प्रकृतिको भी ऊपर उठाया जा रहा है ताकि उससे छुटकारा पाया जा सके — इन अनुभवोंका आशय यही है।

*

यह अच्छी प्रगति है। जहांतक प्रतिरोध करनेवाले अंगका प्रश्न है, भौतिक सत्ताके किसी स्तरसे प्रतिरोध लंबे समयतक हुआ ही करता है — एक परत खुलती है; नीचेकी दूसरी परत तमसाच्छन्न रहती है। पर यदि ऊपरसे दबाव निरंतर पड़ता रहे तो आखिर प्रतिरोध समाप्त हो जाता है।

तुम ध्यानमें जिस निस्तब्धताकी बात करते हो वह बड़ा अच्छा लक्षण है। यह साधारणतया इस प्रकार चारों ओरसे घेरती हुई तब आती है जब इसके आगमनको सम्भव बनानेके लिये पर्याप्त शोधन हो चुका होता है। दूसरी ओर यह स्वयं उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी नींव रखनेकी शुरुआत होती है।

मैं समझता हूँ तुम्हारी यह बात ठीक है कि बहुतसे लोगोंमें परिवर्तन आ रहा है। यह परिवर्तन पुराने स्वभावके बचे खुचे अंशों और उसके फिर-फिर लौटनेके कारण अवरुद्ध होनेपर भी अग्रसर हो रहा है।

*

प्रथम अवस्थामें तुम मन द्वारा ग्रहण कर रहे हो और यह उपस्थितिको ग्रहण करने तथा ऊपरकी ज्योति एवं शक्तिमें विकसित होनेके लिये अन्तर्मुख हो गई है। शरीर या बाह्य चेतना बहुत करके उसके बहिर्मुख अंगोंमें भाग नहीं ले रहे, बाह्य चेतना जिस कामको करनेकी अभ्यस्त है उससे भिन्न किसी कामको कार्यान्वित करनेवाली कोई ऊर्जा उसके पास नहीं है।

दूसरी अवस्थामें प्राण सीधा ग्रहण कर रहा है और तत्काल ही गतिशील ऊर्जामें रूपान्तरित हो रहा है; क्योंकि प्राण द्वारा सीधा ग्रहण करना या फिर प्रकाश, बल या आनन्दमें प्राणका सक्रिय भाग लेना ही बाह्यरूप प्रदान करने और कार्यान्वित करनेकी क्रियाको तथा सब प्रकारके कार्य एवं क्रियाओंको सम्भव तथा सरल बना देता है।

*

तुमने जो लिखा है वह बिलकुल ठीक है। साधारणतया शरीर उच्च चेतनासे जुड़ा नहीं होता। वह केवल मनसे ही जो कुछ ग्रहण कर सकता है, करता है। यह उस भूमिकामें आन्तर या सूक्ष्म शरीरके आरोहण तथा वहांसे उच्चतर प्रकाशके अवतरण द्वारा सीधे सम्बन्धके लिये तैयार किया जा रहा है।

*

18/10

यह (उच्चतर शक्ति) भौतिक चेतनामें सीधी इस अर्थमें आ सकती है कि बाकी भाग निष्क्रिय बने रह सकते हैं, किन्तु इसे स्थूल सत्तातक पहुँचने-के लिये तो सूक्ष्ममेंसे गुजरना ही होगा।

*

वे सब अनुभव जो केन्द्रोंमें प्रविष्ट होते हैं, शरीरमें अंकित हो जाते हैं और शरीरके अनुभव प्रतीत होते हैं, लेकिन व्यक्तिको वहां पड़नेवाले अनुभवोंके प्रतिबिंब तथा स्वयं भौतिक शरीर-चेतनासे सम्बद्ध अनुभवोंके बीचमें भेद करना होगा। यह चेतना और स्वतंत्र विवेकका प्रश्न है। समयके सम्बन्धमें कोई अन्तिम नियम नहीं है।

*

मैंने केवल इस तथ्यके विषयमें कहा था कि व्यक्ति जो कुछ भी भौतिक शरीरमें अंकित होता हुआ अनुभव करता है, हो सकता है कि वह वस्तुतः केवल सूक्ष्म शरीरमें ही हो रहा हो। यह किसी विशेष उदाहरणमें उस प्रकारका है या भौतिक शरीरका भी साक्षात् अनुभव है, यह एक ऐसा विषय है जिसपर प्रत्येक व्यक्तिके अनुसार (अलग-अलग) विचार करना होगा। यह क्या है इस सम्बन्धमें तो व्यक्तिको स्वयं विवेक करना होगा।

*

निरा अंकित होना ही क्यों? यदि तुम यह समझते हो कि सूक्ष्म शरीर-के अनुभव मन्द अस्पष्ट वस्तुएं हैं तो तुम गलती करते हो — वे शरीरके अनुभव जितने ही सघन, तीव्र, इन्द्रियगोचर और भारी-भरकम हो सकते हैं।

*

सूक्ष्म शरीरसे किसी प्रकारके प्रतिबिंब पड़नेका या किसी वस्तुके प्रवा-हित होनेका अनुभव भौतिक शरीरमें ठोस रूपमें ही होगा।

*

सब अनुभव सत्ताके छोटे-से-छोटे तत्वोंमें भी लाये जा सकते हैं।

*

यह उच्चतर चेतनाकी चैत्य और प्राण द्वारा — जो कि जोड़नेवाली कड़ियां हैं — अवचेतनतक पहुँच है, प्राणके बिना क्रिया पूर्ण नहीं होगी और चैत्यके बिना यह सम्भव ही नहीं होगी।

*

उच्चतर चेतनाके अत्यन्त स्थूल चेतनामें अवतरणके कुछ प्रभाव ये हैं। यह कोषाणुओंमें और सब भौतिक क्रियाओंमें प्रकाश, चेतना, शक्ति, आनन्द लाती है। शरीर सचेतन और जागरूक हो जाता है और उच्चतर संकल्पकी आज्ञाका पालन करते हुए या फिर अपने अन्दर आई चेतनाकी शक्ति द्वारा स्वतः ही ठीक क्रियाओंको सम्पन्न करता है। शरीरके व्यापारोंपर नियंत्रण करना और गलत चीजको ठीक करना, बीमारी और पीड़ासे निबटना इत्यादि अधिक सम्भव हो जाता है। शरीरकी क्रियाओंपर अधिक महान् प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है और इसके साथ होनेवाली बाहरसे आई घटनाओंपर भी, उदाहरणार्थ दुर्घटनाओं और छोटे-छोटे अनिष्टोंको कम-से-कम कर देता है। कार्य करनेके लिये शरीर अधिक प्रभावशाली उपकरण बन जाता है। थकानको अल्पतम करना सम्भव हो जाता है। सुख, शान्ति, बल-सामर्थ्य और हल्कापन सारे देह-संस्थानमें आ जाते हैं। ये अधिक स्पष्ट एवं सामान्य फल हैं जो चेतनामें विकासके साथ बढ़ते चले जाते हैं परन्तु अन्य भी बहुतसे परिणाम हैं जो हो सकते हैं। पार्थिव-चेतनाके साथ ऐक्य भी हो सकता है, भौतिक सत्तामें भगवान्का सतत भान भी रह सकता है, इत्यादि।

निःसंदेह इस प्रकार भौतिक सत्ताको पूर्णतया सचेतन बनाना सरल नहीं है — कि यह अचेतनाका, अन्धकारका, जड़ताका अधिष्ठान है — किन्तु उच्चचेतनाका आंशिक और पर्याप्त प्रभावशाली सूत्रपात आधारके रूपमें किया जा सकता है और शरीरपर उसकी शक्तिकी वृद्धिके साथ-साथ बाकी प्रदेशपर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

*

हालमें हुए तुम्हारे अनुभव सत्ताकी त्रिविध अवस्था, सर्वत्र भगवान्का भान, विश्वमें रम रहे बाल-कृष्णका अनुभव — बहुत महत्वपूर्ण है। पिछले दो अनुभवोंकी महत्ता स्वतः ही स्पष्ट है। जहांतक त्रिविध अवस्थाका प्रश्न है यह सत्ताके तीन भागोंमें साधनाकी सिद्धिकी ठीक दिशाको सूचित करती है। मनको नीरव पुरुषकी एकमेव असीम चेतनामें उद्भूत होना होगा जो फिर सारी सत्ताको सब ओरसे व्याप्त कर लेगी, हृदयको आराधना, प्रेम और समर्पण द्वारा गतिशील भगवान्में रहना होगा और उसका निवासस्थान बनना होगा; (नाभिसे नीचेकी) प्राणिक और भौतिक सत्ताको भागवत संकल्पका यंत्र बनना होगा — विशुद्ध, समर्पित, एकमात्र उसी संकल्पको व्यक्त करनेवाले यन्त्र।

*

मूलाधारकी सतहसे नीचेतक आते हुए नीले प्रकाशका अर्थ है कि वह भौतिक (भौतिक-मानसिक, भौतिक-प्राणिक और स्थूल) चेतनामें प्रविष्ट हो गया है। यहां दो मुख्य अवरोध हैं, भूतकालकी स्मृतियों और कामनाओंसे युक्त यांत्रिक-मन और अत्यन्त बाह्य यौन क्रियाएं — इन सबपर विजय प्राप्त करनी है (विशेषकर यांत्रिक मनपर क्योंकि दूसरी चीजपर तो आसानीसे विजय प्राप्त की जा सकती है यदि उसे असली प्राण सहारा न दे) जिससे कि प्रकाश समस्त भौतिक चेतनाको अपने अधिकारमें ला सके। बहुत संभवतः यही कारण है कि इन अंगोंमें प्रकाशके आनेपर ये चीजें इतनी प्रबल रूपसे उठ खड़ी हुई।

*

गतिशीलता सर्वत्र विद्यमान् है क्योंकि शक्तिका अस्तित्व सर्वत्र है। पूर्ण गतिशीलता तो अतिमानसमें ही है अन्य किसी भी भूमिकाकी क्रिया अमोघ नहीं हो सकती।

शरीर उच्चतर गतिशक्तिको किस प्रकार ग्रहण करता है यह तो शरीर-की अवस्थापर या अधिक ठीक कहें तो भौतिक और अत्यंत स्थूल चेतनाकी अवस्था-पर ही आधार रखता है। एक अवस्थामें यह तामसिक जड़ होता है और बन्द पड़ा होता है और शक्तिको सहन या ग्रहण अथवा धारण नहीं कर सकता; दूसरी अवस्थामें, रजो-गुण प्रबल हो जाता है और गतिशक्तिको तेजीसे अपनी पकड़में लानेकी चेष्टा करता है किन्तु इसे बरबाद करता है, बिखेर देता है

और खो देता है; तीसरीमें, ग्रहणशीलता, सामंजस्य और संतुलन होता है और इसका परिणाम होता बिना किसी खींचतान या प्रयत्नके एक संवाद-युक्त कार्य।

*

गतिशील अवतरण तपः शक्तिको लाता है न कि 'शम' को। शान्तिका अधिकाधिक महान् अवतरण ही शमको लाता है—क्रियाशील अवतरण राज-सिक विक्षोभके तत्त्वोंको बिखेरने और 'रजस्' को 'तपस्'में बदलनेके द्वारा इस कार्यमें सहायता करता है।

*

जड़ता स्वयं गतिशील तत्व नहीं है। जड़ताका स्वभाव है 'अप्रवृत्ति' —यांत्रिक मनकी क्रिया है 'प्रवृत्ति', यद्यपि एक तामसिक अन्धकारमयी प्रवृत्ति।

*

अवतरणके द्वारा जड़ता अपने स्वभावको बदल देती है। वह भौतिक सत्ताके लिये बाधक नहीं रहती और केवल एक ऐसी भौतिक अवस्था बन जाती है जिसे सच्ची आधारभूत अचलता और विश्रान्तिमें रूपान्तरित करना है।

IV

अतिमानस शब्दका प्रयोग वह बहुत हलके रूपमें कर रहा है। जिसका वह अतिमानसिक रूपमें वर्णन करता है वह अत्यधिक आलोकित चेतना हैं; किंचित् क्षीण अतिमानस प्रकाश इसका स्पर्श कर सकता है पर अतिमानसकी समस्त शक्ति नहीं और, जो भी हो, यह अतिमानस तो नहीं ही है। वह एक ऐसे अतिमानसिक भागके विषयमें कहता है जो ग्रहणशील नहीं है—यह तो असम्भव है, यह सम्भव नहीं कि अतिमानसमें ग्रहणशीलता न हो। अतिमानस स्वयं ऋत-चित् है; उसने पहले ही सत्यपर अधिकार कर रखा है और इसे ग्रहण करनेंकी उसे जरूरत ही नहीं। विज्ञान शब्दका प्रयोग कभी-कभी सत्यके

सम्पर्कमें रहनेवाली उच्चतर आलोकित प्रज्ञाके लिये भी किया जाता है और उसने अपने भीतरके इसी भागका अनुभव किया होगा — किन्तु यह अति-मानस नहीं है। व्यक्ति केवल साधनाकी पूरी समाप्ति पर ही अतिमानसमें प्रवेश पा सकता है, जब सब कठिनाइयां विलीन हो गई होती हैं और तब साक्षात्कारके मार्गमें कोई बाधा शेष नहीं रहती।

*

तीन भूमिकाएं —

1. कारण 2. हिरण्यगर्भ 3. विराट्

उपनिषद्का विज्ञान या कारण जगत् जिसका अधिष्ठाता है प्राज्ञ और जिसे सुषुप्तिके समकक्ष कहा गया है, और हिरण्यगर्भ जगत् जिसे ईश्वरके स्वाप्न पुरुष और सूक्ष्म वस्तुओंके समकक्ष माना गया है, ये दोनों और मेरा किया हुआ अतिमानसका वर्णन बिलकुल एक ही चीज नहीं हैं*। किन्तु यह कहा जा सकता है कि साधारण मन जब अतिमानस भूमिकाके निकट पहुँचता है या उसमें प्रवेश करता है तो वह उसके लिये सुषुप्तिकी अवस्था बन जाती है। लेखकने यदि इसे अतिमानसकी अतिचेतन निद्रा कहा होता तो इस भेदका निराकरण हो जाता — क्योंकि रूपान्तरको अप्राप्त मन जब इस अतिमानसिक अवस्थाको स्पर्श करता है या इसका बोध प्राप्त करता है तो उसे यह ऐसी ही प्रतीत होती है, क्योंकि तब वह अनिवार्य रूपसे ऐसी अचेतन निद्रामें ही जा पड़ता है।

*

तुमने अतिमानसके विषयमें जो लिखा वह बिलकुल ठीक है — यहां लोग वस्तुतः बड़े-बड़े शब्दोंका इतनी अधिक स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करते हैं मानो यह कोई ऐसी वस्तु है जो प्रत्येक व्यक्तिकी पहुँचमें हो। सबसे पहले जो चीज करनी है वह है चैत्य रूपान्तर और जबतक इसमें पर्याप्त प्रगति नहीं हो जाती तबतक अतिमानस बहुत दूरकी चीज है और लोगोंको उसके विषयमें सोचनेकी जरा भी जरूरत नहीं। तुमने अवश्य ही प्रगति की है, किन्तु बाह्य प्रकृतिका परिवर्तन हमेशा ही एक धीमी क्रिया होती है, इसलिये इससे

*देखो माण्डूक्य उपनिषद् मन्त्र १०-११. अनुवादक

दु:खी होनेकी आवश्यकता नहीं।

*

यह सबको समझ लेना चाहिये कि सच्चा साक्षात् अतिमानस प्रारम्भमें नहीं परन्तु साधनामें बहुत आगे चलकर ही आता है। पहले मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताका उद्घाटन और आलोकित होना; दूसरे मनको संकल्प इत्यादि द्वारा संबोधिमय बनाना और प्रच्छन्न आन्तरात्मिक चेतनाका विकसित होना और उसका उत्तरोत्तर स्थूल चेतनाका स्थान ग्रहण करना; तीसरे, परिवर्तित मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताका अतिमानसीकरण और अन्तमें सच्चे अतिमानसका अवतरण और अतिमानस भूमिकामें आरोहण।

यह है इस योगका स्वाभाविक क्रम। ये अवस्थाएं एक दूसरेको आच्छादित कर लेती हैं और परस्पर मिश्रित भी हो जाती हैं, इनमें बहुतसे भेद-प्रभेद हो सकते हैं किन्तु अन्तिम दो तो प्रगतिकी समुन्नत अवस्थामें ही आ सकती हैं। नि:संदेह विज्ञानमय भगवान् इस योगका आद्योपान्त पथ-प्रदर्शन करते हैं किन्तु ऐसा पहले बहुतसे मध्यवर्ती भूमिकाओंके द्वारा ही होता है; तथा प्रारम्भिक कालोंमें आनेवाली किसी वस्तुके विषयमें यह सहज ही नहीं कहा जा सकता कि यह सीधा या पूर्ण अतिमानस है। ऐसा न होनेपर भी इसे ऐसा समझना प्रगतिके लिये सहज ही बाधक हो सकता है।

*

पर्याप्त विकसित होनेपर चैत्य प्रारम्भिक शोधनके लिये काफी बलशाली सिद्ध हो सकता है।

एकमात्र अतिमानस ही स्थूल सत्ताको रूपान्तरित कर सकता है, किन्तु चैत्य और अतिमानसकी क्रिया द्वारा भी भौतिक मन और भौतिक प्राण बहुत अधिक बदले जा सकते हैं। तथापि पूर्ण परिवर्तन तो केवल तभी संपन्न होता है जब अतिमानसका प्रभाव पड़ता है। किन्तु इस समय तो निम्नतर प्रकृतिके प्रारंभिक शोधनके लिये चैत्यकी शक्तिपर ही भरोसा रखा जा सकता है।

*

व्यक्तिको अधिमानस और अतिमानसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना ही

होगा, किन्तु उन्हें प्राप्त कर लेनेके लिये कोई महत्वाकांक्षा नहीं होनी चाहिये —इसे साधनाका एक ऐसा स्वाभाविक अन्तिम लक्ष्य समझना चाहिये जो स्वयमेव प्राप्त होगा। सारी एकाग्रता तात्कालिक कदमपर अर्थात् उस समय जो भी किया जा रहा हो उसपर ही होनी चाहिये। सो तुम शक्तिकी क्रियाको अपने अन्दर होने दो और उसे सब वस्तुओंको एकके बाद एक कार्यान्वित करने दो।

*

जो क्रिया हुई थी वह अतिमानसिक नहीं थी; तुम मस्तिष्कमें एक केंद्र-के प्रति सचेतन हुए, यह तथ्य बताता है कि यह क्रिया मनके द्वारा ही हुई। जिस शक्तिने कार्य किया था, वह भागवत शक्ति थी जो इस प्रकार किसी भी भूमिकापर अर्थात् अतिमानसिक, मानसिक, प्राणिक या भौतिक या एकसाथ सभी भूमिकाओंपर कार्य कर सकती है। केवल लक्ष्यकी ओर प्रेरित सुदीर्घ योगाभ्यासके बाद ही अतिमानसिक क्रिया प्रवृत्त हो सकती है; ये कोई आरंभिक अनुभूति नहीं हो सकती।

उसमें कोई मानसिक प्रत्याशा नहीं थी, यह सब भलेके लिये ही था; यदि कोई प्रत्याशा होती तो मन सक्रिय होता और उसने हस्तक्षेप किया होता तथा अनुभवको या तो विकृत कर दिया होता या फिर वह उसके विशुद्ध और पूर्ण होनेके मार्गमें बाधक बनता।

*

अपनी साधनाके विषयमें तुम जो कहते हो वह बहुत करके तुम्हारे अनु-भवोंकी सच्ची व्याख्या है। तुम जिन दो वस्तुओंके विषयमें कहते हो वे वस्तुतः एक ही क्रियाके दो पक्ष हैं। निम्नस्तरोंका उद्घाटन और शोधन उतनी ही मात्रामें सफलता पूर्वक किया जा सकता है जितना कि यह सापेक्ष या मानसीकृत अतिमानस चेतना हमारी चेतनापर अपना अधिकार कर पाती है तथा ऊपरसे उच्चतर या मध्यवर्ती अतिमानसकी ओर उद्घाटित हो सकती है और उसे नीचे ला सकती है, और फिर यह भी अपने-आप हमारी सत्तामें केवल उसी मात्रामें प्रतिष्ठित हो सकता है जितनी मात्रामें चैत्य-प्राणिक और भौतिक सत्ता उद्घाटित, और परिवर्तित होती हैं। इस पारस्परिक क्रियाको तबतक जारी रहना होगा जबतक इन दो क्रियाओंमें एक ऐसा विशेष सन्तुलन उत्पन्न

न हो जाय जो कि उच्चतर सत्ताको बिना किसी रोकटोकके हमारी सत्ताको अपने कब्जेमें रखनेमें और उसे सच्ची अतिमानसिक क्रियाओंकी ओर अधिकाधिक उद्घाटित करनेमें समर्थ बनाये। जिस काममें तुम्हें लगा दिया गया है वह बहुत सम्भवत: आवश्यक था क्योंकि यह तुम्हारी सत्ताका वह सक्रिय गतिशील भाग है जिसपर निम्न प्रकृतिके दोषोंकी पकड़ सबसे अधिक है एवं जिसमें ये दोष सबसे अधिक प्रमुख हैं।

*

यह प्रश्न इसलिये उठा और हमेशा ही उठता है क्योंकि प्राणमें एक ऐसी उत्सुकता है जो प्रबल अनुभूतिवाली किसी भूमिकाको अन्तिम भूमिका यहांतक कि अधिमानस, अतिमानस एवं पूर्ण सिद्धि भी मान लेती है। अतिमानस या अधिमानससे किसी भी भूमिकातक, केवल उसके ज्ञान या आंतर अनुभूतिके पक्षमें भी, पहुँचना इतना आसान नहीं है। तुम जो अनुभव कर रहे हो उसका सम्बन्ध अध्यात्मभावापन्न और मुक्त मनके साथ है। इस अवस्थामें सम्भव है उच्चतर मनके स्तरसे संकेत आयें, लेकिन ये संकेत केवल छुटपुट अनुभव होते हैं, न कि चेतनाका परिवर्तन। अतिमानस कोई मनका हिस्सा या मनका उच्चतर स्तर नहीं है — वह एक बिलकुल भिन्न वस्तु है। कोई भी साधक अपने ही प्रयत्नसे अतिमानस तक नहीं पहुँच सकता और व्यक्तिगत तपस्या द्वारा ऐसा करनेका यत्न अनेक अनिष्टोंका मूल रहा है। मनुष्यको एक-एक करके सब भूमिकाओंमेंसे तबतक शान्तभावसे गुजरना होगा जबतक सत्ता तैयार न हो जाय और उसके बाद भी केवल भगवान्‌की कृपा ही सच्चे अतिमानसिक परिवर्तनको ला सकती है।

*

अतिमानसका द्वार इस तरह धक्का देकर नहीं खोला जा सकता। आधार-को अतिमानसिक अवतरणके लिये स्थिरतापूर्वक तैयार करना, बदलना और उसके योग्य बनाना होगा। साधारण मन और अतिमानसके बीचमें अनेक शक्तियां हैं तथा उन्हें चेतना द्वारा खोलना और आत्मसात् करना होगा — केवल तभी अतिमानसिक परिवर्तन होना सम्भव है।

*

"सचेतन न होनेपर भी अतिमानस शक्तिको ग्रहण करने" के विषयमें कहना विचित्र बात है। सचेतन न होनेपर भी व्यक्ति उच्चतर शक्तिको ग्रहण कर सकता है, भगवान्की शक्ति प्रायः परदेके पीछे रहकर ही कार्य करती है, अन्यथा मनुष्यकी अज्ञान और अचेतनाकी अवस्थामें वह बिलकुल भी कार्य न कर सकती। किन्तु शक्तिकी प्रकृति या क्रियाको थोड़ा बदल दिया जाता है जिससे वह साधककी स्थितिके अनुकूल हो जाय। व्यक्ति सीधा अतिमानसिक शक्तिसे कोई वस्तु ग्रहण कर सके इससे पहले उसे अत्यधिक पूर्ण सचेतन भावको विकसित करना होगा और अधिमानस या अन्य किसी मध्यवर्ती प्रदेश द्वारा उस शक्तिके थोड़े परिवर्तित रूपतकको ग्रहण करनेके लिये भी सचेतन भावमें बहुत आगे बढ़ जाना होगा।

*

कोई व्यक्ति असमयमें ही यह दावा करे कि उसने अतिमानसपर अधिकार कर लिया है या इतना भी कि उसे अतिमानसका आस्वाद मिल गया है, तो यह उसके लिये बड़ी मूर्खतापूर्ण बात होगी। साधारणतया अतिरंजित अहंकारका विस्फोट, प्रत्यक्ष बोधमें कोई मूलगत भारी भूल या एक घोर पतन, गलत अवस्था या गलत क्रिया ही इस दावेका साथ देते हैं। एक विशेष प्रकारकी आध्यात्मिक विनम्रता, अपने प्रति एक गंभीर निरभिमान दृष्टि एवं अपनी वर्तमान प्रकृतिकी त्रुटियोंका शान्त अवलोकन तथा आत्म-बहुमान और स्वत्व-स्थापनके स्थानपर अपनी वर्तमान सत्ताका अतिक्रमण करनेकी आवश्यकताका भान, किन्तु यह आन्तरिक अहंकारके कारण नहीं बल्कि भावी भगवान्के प्रति लगनके कारण — ये सब मेरी समझमें इस भंगुर, पार्थिव एवं मानवी देह-संस्थानके अतिमानसिक परिवर्तनकी ओर अग्रसर होनेके लिये कहीं अधिक अच्छी परिस्थितियां हैं।

*

अधिमानस और अतिमानसके विषयमें जाननेके लिये व्यक्तिको पहले ही सम्बोधिमय ढंगसे सचेतन हो जाना होगा। "परिभाषा" बनाना व्यर्थ है क्योंकि "परिभाषाओं" द्वारा निर्णय करनेकी चेष्टा करनेमें मन केवल गलतियां ही करेगा — व्यक्तिको भीतरसे सचेतन होना होगा और सीधा ज्ञान प्राप्त करना होगा।

*

किसने कहा कि यह (अतिमानस) भौतिक चेतनामें मन और प्राणका स्पर्श किये बिना ही उतर रहा है?

निश्चय ही प्रकृतिका कोई भी भाग अतिमानस भावको प्राप्त नहीं हुआ है — यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक समग्र सत्ता अतिमानस-प्रभावके अधीन नहीं कर दी गई होती। सर्व प्रथम अतिमानस प्रभावको आना होगा; अतिमानस रूपान्तर तो बादमें ही आ सकता है।

*

अतिमानसका स्पर्श या प्रभाव और अतिमानस भावकी प्राप्ति एक ही वस्तु नहीं है। यह कल्पना करना निरी मूर्खता है कि मानसिक और प्राणिक सत्तासे पहले भौतिक सत्ता अतिमानस भावको प्राप्त हो सकती है। मैंने यह कहा था कि मन और प्राण तबतक अतिमानस भावको प्राप्त नहीं हो सकते जबतक भौतिक सत्ता जैसी है वैसी ही स्थितिमें अर्थात् भौतिक अवतरण द्वारा अछूती छोड़ दी जाय।

*

नहीं। मैंने यह बिलकुल नहीं कहा। यह सर्वथा असम्भव है कि मन और प्राणमें पूर्ण अतिमानसिक परिवर्तन हो जानेसे पहले ही अतिमानस शरीरको हाथमें ले ले। 'क्ष' और अन्य लोग सदा ही किसी प्रकारके अबुद्धिगम्य चमत्कारकी आशा करते दीखते हैं। वे नहीं समझते कि यह एक ऐसा संकेंद्रित विकास है जो तीव्र होता हुआ भी भावी सृष्टिके नियमका ही अनुसरण करेगा। चमत्कार क्षणिक आश्चर्य हो सकता है। केवल भागवत नियमके अनुसार होनेवाला परिवर्तन ही स्थायी हो सकता है।

*

यह (अतिमानस) नीचे भौतिक सत्तामें भी उतार लाये बिना मन और प्राणमें नहीं उतारा जा सकता — यह भी हो सकता है कि कोई उसके प्रभावका अनुभव करे अथवा उसकी अन्य किसी वस्तुको पा ले किन्तु नीचे लानेका अर्थ इससे कहीं अधिक होता है।

अतिमानस एक ज्योतिर्मय अखण्ड वस्तु है — यह प्रकाश और अज्ञानका

मिश्रण नहीं हैं। यदि भौतिकं मनको अतिमानसभावापन्न न किया जाय तो मनमें अज्ञानका मिश्रण रहेगा ही, परन्तु तब वहां जो वस्तु होगी वह अतिमानस नहीं किन्तु कोई अन्य वस्तु ही होगी — यही बात प्राणके बारेमें भी लागू होती है। मनमें जो कुछ भी पृथक् रूपसे प्रकट हो सकता है वह सब अशंतः विज्ञानभावापन्न अधिमानस ही होता है।

यदि अतिमानस मन और प्राणमें स्थित रह सकता है तो यह भौतिकमें भी अवश्य ही स्थित रहेगा। यदि यह भौतिक सत्तामें स्थित नहीं रहता तो यह मन और प्राणमें भी स्थित नहीं रह सकता; यह अन्य कोई वस्तु होगी, अतिमानस नहीं।

*

यह शायद ही सम्भव हो। शरीर-चेतनाका अस्तित्व है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, परिणामतः व्यक्ति शरीरसे निबटनेका काम बादके लिये छोड़कर न तो उच्चतर अंगोंको ही पूरी तरह रूपान्तरित कर सकता है और न अगली स्थितिमें जानेसे पहले प्रत्येक स्थितिको, उसके सभी अंगोंमें पूर्ण ही बना सकता है। मैंने इस पद्धतिका प्रयोग किया किन्तु वह कभी सफल नहीं हुई। उदाहरणके लिये जब हम अधिमानसीकरण करते हैं तो मन और प्राणका प्रबल अधिमानसीकरण पहला कदम होता है; परन्तु दैहिक चेतना सब निम्न क्रियाओंको अधिमानस प्रभावसे रहित ही बनाये रखती है और जबतक इन्हें ऊपर खींचकर अधिमानस सतहतक नहीं लाया जाता तबतक कोई अधिमानसिक पूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती, शरीर चेतना सदा ही अपने अन्दर त्रुटियों और सीमाओंको ले आती है। अधिमानसको पूर्ण बनानेके लिये व्यक्तिको अतिमानसिक शक्तिका आवाहन करना होगा और अधिमानसके आंशिक रूपसे विज्ञानभावापन्न हो चुकनेके बाद ही शरीर उत्तरोत्तर अधिमानसिक बनने लगता है। मुझे इस प्रक्रियासे बचनेका कोई मार्ग नहीं दीखता, यद्यपि इसके कारण यह क्रिया लम्बी हो जाती है।

*

जब उच्चतर शक्ति निम्नतर भूमिकामें उतरती है, तो यह उस निम्नतर भूमिकाकी निम्नकोटिके तत्व, अल्पतर शक्ति एवं अपेक्षाकृत अधिक मिश्रित क्रियाओं द्वारा मद्धिम और थोड़ी बहुत परिवर्तन हो जाती है। इस प्रकार,

यदि अधिमानसिक शक्ति आलोकित मन द्वारा कार्य करे तो उसके सत्य और स्वातन्त्र्यका केवल थोड़ा-सा अंश ही व्यक्त और प्रभावोत्पादक होता है — केवल उतना ही जितना इस ग्रहणशील चेतनामें प्रवेश पा जाता है। और जो प्रवेश पा जाता है वह भी निम्न कोटिका सत्य, अन्य तत्वोंसे मिश्रित और कम अधिमानसिक होता है तथा सहज ही एक ऐसी वस्तुमें बदल जाता है जो अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या होती है। जब यह क्षीण परोक्ष शक्ति और अधिक नीचे मन और प्राणमें उतरती है तो तब भी इसमें सर्जनशील अधिमानस सत्यका कोई अंश होता है, पर यह उन मानसिक और प्राणिक रचनाओंसे बहुत बुरी तरह मिश्रित हो जाता है जो उसे विरूप बना देती हैं तथा उसे अधूरा फल देनेवाला या कभी-कभी तो निष्फल भी बना देता है।

*

जबतक भौतिक सत्ता तैयार नहीं हो जाती तबतक अतिमानस अन्य भूमिकाओंपर विजय नहीं प्राप्त कर सकता, पर केवल उन्हें प्रभावित ही कर सकता है।

*

और जबतक भौतिक सत्ता तैयार नहीं हो जाती तबतक मन और प्राणको पूर्ण कैसे बनाया जा सकता है — क्योंकि मनोमय भौतिक एवं प्राणमय भौतिक जैसी सत्ताएं भी हैं और जबतक ये नहीं तैयार हो जातीं तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि मन और प्राण तैयार हो गये हैं।

V

विज्ञानभावकी प्राप्तिके बिना शरीरकी किसी प्रकारकी अमरता संभव नहीं है; यौगिक शक्तिमें यह सम्भाव्यता विद्यमान है और योगी २०० या ३०० वर्ष या उससे भी अधिक जी सकते हैं, किन्तु अतिमानसके बिना इसका कोई यथार्थ सिद्धान्त नहीं बन सकता।

भौतिक शास्त्र भी मानता है कि एक दिन भौतिक साधनों द्वारा मृत्युको जीता जा सकता है और उसके तर्क पूर्णतया युक्तियुक्त हैं। इसका कोई कारण नहीं कि अतिमानसिक शक्ति यह न करे। पृथ्वी पर आकार स्थायी

नहीं होते (यद्यपि अन्य भूमिकाओंमें स्थायी होते हैं) क्योंकि ये आकार इतने कठोर होते हैं कि आत्माकी प्रगतिको व्यक्त करते हुए विकसित नहीं हो सकते। यदि वे ऐसा करनेके लिये पर्याप्त नमनीय हो जायें तो कोई कारण नहीं कि वे देरतक स्थायी न रहें।

*

अच्छा तो, क्या तुम यह जानते हो कि वृद्ध मनुष्योंको कभी-कभी बुढ़ापेमें नये या तीसरी बार भी दांत उगते हैं? और यदि बन्दरकी ग्रन्थियां क्रियाओं और सामर्थ्योंको फिरसे ताजा बना सकती हैं तथा गंजे सिरपर बाल उगा सकती हैं, जैसा कि वोरोनोफने जीवन्त उदाहरणोंसे सिद्ध किया है—अच्छा तो फिर?......और ख्याल रखो कि भौतिक शास्त्र अभी इन परिक्षणोंकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही है। यदि ये सम्भावनाएं भौतिक शास्त्रके सामने खुल रही हैं तो किसीको अन्य (यौगिक) साधनों द्वारा उनकी नितान्त अशक्यता क्यों घोषित करनी चाहिये?

*

मृत्युका अस्तित्व इसलिये है कि देहधारी सत्ता अभी इतनी विकसित नहीं हुई कि वह परिवर्तनकी आवश्यकताके बिना ही उसी शरीरमें बढ़ती जाय और इसलिये भी कि शरीर स्वयं पर्याप्त सचेतन नहीं हुआ है। यदि मन, प्राण और शरीर स्वयं अधिक सचेतन और नमनीय होते तो मृत्यु आवश्यक न होती।

*

भौतिक मृत्युका अर्थ है भौतिक आकारका विलय। किन्तु आकारमात्र मृत्यु द्वारा लुप्त नहीं हो जाते।

*

शरीरको त्यागनेकी अपनी निजी इच्छाके सिवाय किसी अन्य कारणसे मृत्यु हो जानेसे विमुक्ति और रोगसे छुटकारा ये ऐसी वस्तुएं हैं जिन्हें चेतनाके

पूर्ण परिवर्तनके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्यको यह परिवर्तन अपने अन्दर विकसित करना है इस सिद्धिके बिना आपसे-आप कोई मुक्ति नहीं मिल सकती।

*

इस (मृत्यु) की अपने-आपमें कोई पृथक् सत्ता नहीं है, यह केवल शरीरके क्षयके तत्त्वका परिणाम है और यह तत्व उसमें पहलेसे ही विद्यमान है — यह भौतिक चेतनाका अंग है। साथ ही यह अनिवार्य भी नहीं; यदि व्यक्ति आवश्यक चेतना और शक्तिको प्राप्त कर सके तो क्षय और मृत्यु अनिवार्य नहीं हैं। परन्तु उस चेतना एवं शक्तिको समस्त स्थूल प्रकृतिमें लाना सबसे अधिक कठिन बात है। बहरहाल इस रूपमें लाना तो बहुत ही कठिन है कि क्षयके तत्वका ही उन्मूलन कर दिया जाय। यह क्षयका तत्व इसलिये आया कि यह उस अवचेतन और जड़तत्वमें विद्यमान है जिसमें तुम संबोधि या अधि-मानसको उतार लानेका यत्न कर रहे हो — यह आन्तरिक केंद्रमें प्रविष्ट होना चाहता था जिससे यह मन इसी प्रकार शरीरमें भी उच्चतर शक्तिसे लड़ाई कर सके।

*

*मुझे इसमें कोई संदिग्धता नहीं दीखती। "En fait," (वस्तुतः) और Attachée (संयुक्त) किसी अवश्यंभाविताके भावको नहीं व्यक्त करते। En fait का अर्थ है केवल यथार्थतः वस्तुतः, हालमें जो स्थिति है उसके अनुसार मृत्यु समस्त जीवनके साथ उसकी समाप्तिके रूपमें जुड़ी हुई है, किन्तु इसके द्वारा यह विचार जरा भी व्यक्त नहीं होता कि इसके विपरीत कदापि हो ही नहीं सकता या यह समग्र सत्ताका अपरिवर्ततनीय नियम है। वर्तमानमें यह किन्हीं कारणोंसे एक ऐसा तथ्य है जिनका उल्लेख कर दिया गया है, अर्थात् ये किन्हीं मानसिक या भौतिक परिस्थितिके कारण होता है — यदि इन्हें बदल दिया जाय तो फिर मृत्यु अनिवार्य नहीं रह जाती। स्पष्ट ही परिवर्तन केवल तभी

*ये टिप्पणियां माताजीके इस कथनके संदर्भमें की गई है: "En fait, la mort a été attachée à toute vie sur terre." अर्थात् मृत्यु इस भूतलपर समस्त जीवनके साथ जुड़ी हुई है। देखो La Mère, Entretieus (१९६७ संस्करण) पृ० ४६.

आ सकता है 'यदि' किन्हीं शर्त्तोंको पूरा कर दिया जाय — क्रम विकास द्वारा की गई सारी प्रगति और परिवर्तन उस 'यदि' पर निर्भर करता है जिसकी शर्त्तोंको पूरा कर दिया गया हो। यदि पशु-मनको वाणी और तर्कका विकास करनेके लिये बलात् प्रेरित न किया गया होता तो मनोमय मनुष्य अस्तित्वमें ही न आता,—किन्तु इस 'यदि' को — इस विकराल और भीषण 'यदि'की शर्त्तोंको पूरा कर दिया गया था। तो यही बात उन यदिओंकी है जो अगली प्रगतिके लिये शर्त लगाते हैं।

*

चेतनाका परिवर्तन आवश्यक वस्तु है और इसके बिना भौतिक सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। किन्तु यदि शरीर मृत्यु, रोग क्षय, पीड़ा, अचेतना और अज्ञानके अन्य सभी परिणामोंका वैसा ही दास बना रहे जैसा कि आज है तो अतिमानसिक परिवर्तनकी पूर्णता नहीं आ सकती। यदि इन्हें रहना हो तो अतिमानसिक अवतरणकी शायद ही जरूरत पड़े — कारण भगवान्‌के साथ मानसिक-आध्यात्मिक मिलनको उत्पन्न करनेवाले चेतनाके परिवर्तनके लिये अधिमानस ही पर्याप्त है, यहांतक कि उच्चतर मन भी। मन, प्राण, और शरीरमें सत्यकी शक्ति शाली क्रियाके लिये अतिमानसका अवतरण आवश्यक है। अन्तिम परिणामके रूपमें इसमें शरीरकी अचेतनताका लोप भी समाविष्ट है; यह फिर क्षय और रोगके अधीन नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह होगा कि यह उन साधारण प्रक्रियाओंके अधीन नहीं रहेगा जिनके द्वारा मृत्यु आती है। यदि देहका परिवर्तन किया जाना हो तो यह देहीके संकल्प द्वारा ही करना होगा। भौतिक अमरताका सारतत्त्व यही होगा (न कि ३००० वर्ष जीनेके लिये बाध्य होना, क्योंकि वह भी एक बन्धन ही होगा)। फिर भी, यदि कोई १००० वर्ष या उससे अधिक जीना चाहे, तब यह मानते हुए कि उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो गई है तो उसके लिये असम्भव नहीं होना चाहिये।

*

यह उस मायावादीका तर्क* है जिसके लिये सारी अभिव्यक्ति निरर्थक

*भौतिक सत्ताके रूपान्तरकी आवश्यकता क्या है यदि, आखिर, इच्छापूर्वक (यदि व्यक्ति अमरताकी चेतनाको पा ले) या (कुछ अन्य दृष्टांतमें) अनिच्छासे देहको तो छोड़ना ही पड़े?

और अयथार्थ है क्योंकि वह क्षणिक है — यहांतक कि देवताओंका जीवन भी व्यर्थ है क्योंकि यह कालबद्ध है न कि कालातीत। किन्तु यदि अभिव्यक्तिका कोई उपयोग है तो अपूर्णकी अपेक्षा पूर्ण अभिव्यक्तिको प्राप्त करना ही सार्थक है। "स्वेच्छापूर्वक छोड़नेके लिये बाध्य होना" इन शब्दोंमें परस्पर विरोध है। व्यक्ति एक आलोकपूर्ण संकल्पके साथ इच्छानुसार शरीरको बनाये रखता है और उसी संकल्प द्वारा उसे त्याग देता या बदल देता है। यह वस्तु उस शरीरसे बहुत भिन्न है जो क्षय एवं बीमारी द्वारा लाई गई कामना, कष्ट और मृत्युसे निरन्तर आक्रान्त रहता है। यह हमेशा ही मानना होगा कि दिव्य या कोई भी अभिव्यक्ति लाभप्रद होती है।

जहांतक दूसरे तर्कका* प्रश्न है, परिवर्तन और प्रगति अतिमानसिक जीवनसे बहिष्कृत नहीं है। मान लो यदि कोषाणुओंका परिवर्तन अतिमानसी-कृत शरीरमें भी चालू रहता है तो मुझे यह समझ नहीं आता कि इससे रूपान्तर-का महत्व क्यों घट जाता है, यदि कोई ऐसा परिवर्तन हो जो उसके समान या उससे अधिक सचेतन और आलोकपूर्ण हो।

*

हम ऐसे रूपान्तरकी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं जिसमें चेतना भगवान्-में डूबी रहे और चैत्य सत्ता सारी प्रकृतिको नियंत्रित और परिवर्तित करती रहे तथा उसे तबतक भगवान्की ओर मोड़े रखे जबतक समग्रसत्ता भगवान्में निवास करनेमें समर्थ न हो जाय। इसके आगे अतिमानसीकरण है, किन्तु यह केवल रूपान्तरको अपनी अधिक-से-अधिक ऊंची और विशाल संभावनाओं-की ओर ले जाता है — यह उसकी मूल प्रकृतिको नहीं बदलता।

अमरता विज्ञानमयताका एक स्वाभाविक परिणाम है किन्तु कोई अपरिहार्य परिणाम नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि मानव जीवन उसमें अपने वर्त-मान रूपमें अनन्त या अनिश्चित कालतक चालू रहेगा। कुछ लोग ऐसा ही सोचते हैं कि वे अपनी सब मानवी-कामनाओंको साथ लेकर जैसे हैं वैसे ही रहेंगे और उसमें केवल अन्तर यह होगा कि वे उन्हें अनन्त कालतक तृप्त करते रहेंगे; किन्तु ऐसी अमरता प्राप्त करनेका कोई अर्थ नहीं तथा लोग उससे जल्दी ही ऊब जायेंगे। भगवान्में निवास करना तथा भागवत चेतनाको धारण

*जड़तत्त्व, विशेष करके शरीरके कोषाणु प्रतिक्षण बदलते रहते हैं — तो फिर शरीरके लिये रूपान्तरका क्या मूल्य है?

करना अपने-आपमें अमरत्व है और शरीरको दिव्य एवं भागवत कार्य तथा जीवनके लिये एक योग्य उपकरण बनानेका सामर्थ्य प्राप्त करना केवल उसकी स्थूल अभिव्यक्ति है।

*

जहांतक मृत्युपर विजयका प्रश्न है यह केवल अतिमानसभावकी प्राप्तिके आखिरी परिणामोंमेंसे एक है — और मुझे मालूम नहीं कि मैंने अतिमानसिक अवतरणके विषयमें अपने विचारोंको निश्चित रूपसे अस्वीकार किया हो।पर मैंने यह कभी नहीं सोचा कि अतिमानसिक अवतरण स्वतः ही प्रत्येक व्यक्तिको अमर बना देगा। अतिमानस किसी भी व्यक्तिके लिये केवल सर्वोत्तम अवस्थायें ही उत्पन्न कर सकता है जो तत्काल या उसके बाद उसके प्रति उद्घाटित हो सकता है और अतिमानसिक चेतना एवं उसके परिणामोंको प्राप्त कर सकता है। किन्तु यह (अतिमानस) साधनाकी आवश्यकतासे मुक्ति नहीं दिला सकता। यदि यह कर सकता तो इसका तर्कसंमत परिणाम यह होता कि समग्र पृथ्वी, मनुष्य, कुत्ते और कीड़े एकाएक जागकर अपनेको अतिमानव हुआ पाते। तो फिर आश्रम या योगकी आवश्यकता ही न रहती।

महत्वपूर्ण क्यों? महत्वपूर्ण वस्तु है चेतनाका अतिमानसिक परिवर्तन — मृत्युपर विजय एक गौण वस्तु है और, जैसा कि मैंने कहा, इसका अन्तिम स्थूल परिणाम है, न कि सबसे पहला या सबसे अधिक महत्वपूर्ण — ऐसी वस्तु जो संपूर्ण वस्तुको पूरा करनेके लिये जोड़ी जाती है, ऐसी वस्तु नहीं जो आवश्यक और अनिवार्य हो। इसे प्रथम स्थान देनेका अर्थ है सब आध्यात्मिक मूल्योंका उल्टा देना — इसका अर्थ यह होगा कि जिज्ञासु किसी उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य द्वारा नहीं किन्तु जीवनके प्रति प्राणिक आसक्ति द्वारा या शरीरकी सुरक्षाके लिये एक स्वार्थ और कायरतासे पूर्ण कामना द्वारा प्रेरित हुआ था — इस प्रकारकी भावना अतिमानसिक परिवर्तन नहीं ला सकती।

निःसंदेह प्रत्येक वस्तु मेरी सफलतापर निर्भर करती है।...... पर क्या तुमने यह कल्पना की कि उसका अर्थ होगा इस ग्रहसे मृत्युका मिट जाना और यह भी कि किसी भी व्यक्तिके लिये साधनाकी आवश्यकता नहीं रहेगी?

*

इस विषयपर तुमने जो कहा था वह बिलकुल ठीक था। साधनाकी

तीन भूमिकाएं हैं, चैत्य परिवर्तन, हमारी चेतनाका अपने उच्चतर स्तरोंपर संक्रमण — और साथ ही उनकी सचेतन शक्तियोंका अवतरण — और अति-मानस। अन्तिम भूमिकामें भी मृत्युपर प्रभुत्व बादकी भूमिका है न कि प्रारम्भिक। इन भूमिकाओंमेंसे प्रत्येकके लिये बड़े लंबे समय की और महान् एवं सुदीर्घ प्रयासकी अपेक्षा होती हैं।

*

शरीरको रूपान्तरित करनेका विचार बिलकुल व्यर्थ बात है जब कि ऐसी अन्य वस्तुएं अभी संपादित नहीं की गईं जिन्हें संपादित करना बहुत अधिक आसान है — यद्यपि वास्तवमें तो इनमेंसे कोई भी आसान नहीं। इससे पूर्व कि बाहरसे सत्ता अनुसरण कर सके, आन्तरिक सत्ताको बदल जाना ही होगा। तो इस प्रकारकी एकाग्रताका तबतक क्या लाभ है — जबतक कि व्यक्ति यह न सोचता हो कि अन्य प्रत्येक वस्तु पूर्ण है, जो वस्तुतः एक आश्चर्य-जनक दावा होगा। शरीरके साथ सबसे पहले जो किया जाना है वह यह कि इसे शक्तिके प्रति इस प्रकार उद्घाटित किया जाय कि वह रोग और थकान-का सामना करनेके लिये शक्तिको ग्रहण कर सके — जब वे आयें तो वहां एक ऐसी शक्ति होनी चाहिये जो प्रतिक्रिया करके उन्हें दूर फेंक दे और शरीर-में शक्तिके प्रवाहको निरन्तर जारी रखे। यदि यह कर लिया जाय तो दैहिक परिवर्तनका शेष भाग अपने उचित समयकी प्रतीक्षा कर सकता है।

*

यह नितान्त सत्य है कि समग्र सत्ताका समर्पण और उससे फलित होने-वाला रूपान्तर इस योगका लक्ष्य है। शरीरको बहिष्कृत नहीं किया जाता किन्तु साथ ही प्रयत्नका यह भाव सबसे अधिक कठिन और संदिग्ध है — बाकीको संपादित करना यद्यपि बहुत सरल नहीं है किन्तु अपेक्षाकृत कम कठिन है। मनुष्यको साधनाका आरम्भ शरीरपर चेतनाके आन्तरिक नियंत्रणसे ही करना चाहिये। आन्तरिक नियंत्रणका अर्थ है एक ऐसी शक्ति जो इसमें संचारित किये गये संकल्प या शक्तिकी आज्ञाका उससे अधिकाधिक पालन करवाये। अन्तमें जैसे-जैसे उत्तरोत्तर उच्चतर शक्ति अवतरित होती है और शरीरकी नमनीयता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे रूपान्तर सम्भव होता जाता है।

*

अमरताका जहांतक प्रश्न है वह नहीं आ सकती यदि शरीरके साथ आसक्ति हो तो,—क्योंकि केवल व्यक्तिके अपने उस अमर अंशमें जो शरीरसे अभिन्न नहीं है, निवास करनेसे ही और उसकी चेतना और शक्तिको कोषाणुओंमें नीचे लानेसे ही यह आ सकती है। मैं अवश्य ही यौगिक साधनोंकी बात कह रहा हूँ। वैज्ञानिक अब मानने लगे हैं (कमसे कम सैद्धांतिक रूपसे) कि ऐसे भौतिक साधनोंका आविष्कार करना सम्भव है जिनके द्वारा मृत्युपर विजय प्राप्त की जा सकती है, किन्तु इसका अर्थ होगा केवल वर्तमान चेतनाका वर्तमान शरीरमें चिरस्थायी होना। जबतक चेतना और व्यापार परिवर्तन नहीं हो जाते तबतक यह प्राप्ति बहुत छोटी ही होगी।

*

यह चेतनापर आधार रखता है। वर्तमानमें जो स्थिति है उसमें अधिकतर लोग जीवनसे ऊबते नहीं; वे मरते हैं क्योंकि उन्हें अवश्य मरना है, इसलिये नहीं कि वे चाहते हैं—कमसे कम प्राणके लिये तो यह सत्य है ही; केवल कुछ अल्प संख्यक लोग ही हैं जो जीवनसे थक जाते हैं और इनमेंसे बहुतसे लोगोंके लिये इसका कारण होता है वृद्धावस्थाके दुःख-कष्ट, सतत अस्वस्थता और दुरवस्था। मान लो कि शरीरमें एक ऐसी चेतना अवतरित हुई जिसने उसे इन कष्टोंसे मुक्त कर दिया तो भी क्या लोग जीवनसे उसी प्रकार महज उसके चिरायु होनेके कारण थक जायेंगे या क्या उन्हें अन्दर इसी तरह बाहर भी सतत रसप्रदान करनेवाला ऐसा कोई स्रोत मिल जायगा जिसके आधारपर वे जीवन धारण करते रहेंगे—यह प्रश्न है। अवश्य ही भौतिक अमरताका अर्थ यह नहीं होगा कि मनुष्य शरीरसे बंधा ही रहेगा, किन्तु यह कि वह रोग और मृत्युके अधीन नहीं होगा लेकिन इच्छानुसार शरीरको रख या छोड़ सकेगा। मुझे नहीं मालूम कि अश्वत्थामा* अभीतक जीवित है क्योंकि वह मर नहीं सकता या मरना नहीं चाहता—या उसेके लिये यह दण्ड है या पुरस्कार। प्रसंगवश, ऐसे प्राणी भी हैं जो अनेक शताब्दियों तक जीते हैं, पर क्योंकि उनका मन तर्कशील नहीं होता इसलिये उनके लिये यह प्रश्न उठता ही नहीं—बहुत करके यह उनके लिये अवधिका प्रश्न होता है।

*

*यह माना जाता है कि अश्वत्थामाको नर्मदा नदीके किनारे रहते ३६००० वर्ष हो गये हैं।

जीवनसे थक जानेके विषयमें तुमने जो कहा है वह ठीक है। एडिसनका परिवार बहुत दीर्घजीवी था किन्तु उसके दादाको एक शताब्दिके बाद जीवन बहुत लम्बा लगने लगा और इसलिये वह चल बसा क्योंकि उसने मरना चाहा। दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो प्रबल रूपसे प्राणिक होते हैं और जीवनसे थकते नहीं, जैसे कि वह तुर्क जो मैं समझता हूँ कि हाल हीमें १५० वर्षकी आयुमें मरा, किन्तु जो अब भी जीनेके लिये उत्सुक था।

*

अधिकतर लोगोंके लिये यह मूलतः सत्य है कि जीवनका, स्वयं अस्तित्व-का सुख जीवनके कष्टोंपर हावी हो जाता है; अन्यथा अधिकतर लोग मरना चाहते जब कि तथ्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है—और यदि तुम उनके सामने निर्वाणके सरल उपाय प्रस्तुत करो तो वे बिना कृतज्ञता प्रकट किये इसे अस्वीकार कर देंगे। 'क्ष' यही कह रहा है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यह भी सच है कि यह सत्ताके उस आनन्दमेंसे उत्पन्न होता है जो प्रत्येक वस्तुके पीछे विद्यमान है और सत्ताके सहज प्रेरित सुखमें प्रतिबिंबित हुआ है। यह सारभूत सुख स्वभावतः ही आनन्द नहीं है—यह निम्न-कोटिकी प्राण चेतनामें उसका हलका और मद्धिम प्रतिबिम्ब मात्र है। पर अपने प्रयोजनके लिये पर्याप्त है। मैंने यह बात कहीं कही है और इस कथन-में मुझे ऐसी कोई चीज नहीं लगती जो बेहूदी या अतिशयोक्तिपूर्ण हो।

*

कुछ लोग शरीरसे वस्तुतः उसकी अस्वच्छताके कारण घृणा करते हैं लेकिन मुझे कहना चाहिये कि ऐसे लोग बहुत थोड़े ही हैं।

पतंजलि* का निर्देश यह मानकर चलता है कि मन ही सबकुछ है, इसलिये यदि मेरे मनमें यह विचार आ जाय कि शरीर अशुचि वस्तु है तो मेरे सारे भाव उस विचारके अनुसार व्यवस्थित हो जायेंगे। किन्तु ऐसी बात नहीं—अन्य ऐसे भी अंग हैं जो मनके विचार या ज्ञानकी परवाह नहीं करते और उससे प्रभावित नहीं होते किन्तु अपनी सहज प्रेरणाओं और कामनाओंसे संचा-

*'शौचात् स्वांगजुगुप्सा' अर्थात् मनुष्यको अपने शरीरसे स्वच्छताकी आवश्यकताके कारण ही घृणा उत्पन्न होती है। पातंजल योग सूत्र अ० २, सू० ४०.

लित होते हैं। जिन लोगोंका पहलेसे ही 'वैराग्य' की ओर झुकाव होता है वे अपने वैराग्यकी मददके लिये पतंजलिके निर्देशका उपयोग कर सकते हैं। उदाहरणके लिये चिकित्सक शरीरकी बनावटका अपना ज्ञान भौतिक शास्त्रके प्रत्यक्ष सत्यके रूपमें रखता है, वह इस ज्ञानको अपने मनके विज्ञान सम्बन्धी खानेमें अलगसे रख देता है तथा यह तथ्य उसके अन्य विचार, भाव या व्यापारोंको जरा भी प्रभावित नहीं करता।

*

अतिमानसिक पूर्णताका यह आशय है कि शरीर सचेतन हो जाता है, चेतनासे परिपूर्ण हो जाता है और क्योंकि यह सत्य चेतना है इसलिये इसके सब व्यापार, क्रियाएं इत्यादि उसके भीतरकी चेतनाकी शक्ति द्वारा संवादमय, आलोकित, सत्य और यथार्थ अर्थात् अज्ञान या अव्यवस्थासे रहित हो जाते हैं।

हठयोगकी पद्धति है शरीरमें अपरिमित प्राण शक्तिको लाना और इसके द्वारा एवं किन्हीं विशेष प्रक्रियाओं द्वारा इसे बलवान् और स्वस्थ होनेके साथ-साथ समर्थ उपकरण बनाये रखना।

*

यह वेदमें उल्लिखित एक ऐसा तैजस्-देह है जैसा उच्चतर भूमिकाओंकी सत्ताओंका होता है। पूर्व और पश्चिमके योगके कुछ सम्प्रदाय ऐसा मानते हैं कि पृथ्वीपर चरम रूपान्तर सम्पन्न होनेपर मनुष्य इन गुणोंसे युक्त शरीरका विकास कर लेगा। श्रीमांके प्रथम आध्यात्मिक गुरुने इसे "Corps Glorieux" अर्थात् दिव्य तेजोमय देह नाम दिया था।

*

मैंने कभी बाइबलको बड़ी मेहनतके साथ पढ़ा था।......जब कभी मैंने इसपर दृष्टि ड़ाली तो मुझपर इसका हमेशा यही प्रभाव पड़ा कि अभिव्यक्तिकी स्पष्टताके बावजूद इसके विचार तत्वमें अयथार्थता है, और इसके कारण इन बातोंके सम्बन्धमें निश्चयात्मक होना हमारे लिये बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरणके लिये शरीरके सम्बन्धमें यह संदर्भ — यद्यपि सेन्ट पोलको असाधारण रूपसे गुह्य अनुभव हुए और, निःसंदेह, बहुत काफी गहन (मैं समझता

हूँ कि विशालकी अपेक्षा कहीं अधिक गहन) आध्यात्मिक ज्ञान हुआ — तो भी मैं दृढ़तापूर्वक घोषित नहीं कर सकता कि वह अतिमानसिक शरीर (स्थूल शरीर) का ही निर्देश कर रहा है। सम्भव है कि वह अपने ही देशकाल और सारतत्वमें विद्यमान अतिमानसिक शरीर या अन्य किसी ऐसे तेजोमय देहका उल्लेख कर रहा हो जिसे उसने कभी-कभी यों अनुभव किया मानों वह उसे चारों ओरसे आच्छादित किये हुए हो और इस मरणधर्मा शरीरको — जैसा कि वह इस स्थूल देहको समझता था — नष्ट कर रहा हो। (बाइबलके) अन्य अनेक अनुवाक्योंके समान इसकी भी अनेक व्याख्याएं हो सकती हैं और यह बिलकुल अतिभौतिक अनुभवका भी निर्देश कर सकता है। विभिन्न परपरा-ओंमें शरीरके रूपान्तरका विचार अस्तित्व रखता है, लेकिन मुझे कभी भी यह पक्का विश्वास नहीं रहा है कि इसका आशय स्वयं इस जड़तत्वके परि-वर्तनसे है। कुछ समय पहले इस प्रदेशमें एक ऐसा योगी था जिसने इसका उपदेश दिया था, किन्तु उसे आशा थी कि परिवर्तनके पूर्ण होनेपर यह ज्योतिमें विलीन हो जायगा। वैष्णव लोग एक ऐसे दिव्य शरीरका उल्लेख करते हैं जो पूर्ण सिद्धि प्राप्त होनेपर इस शरीरका स्थान लेगा। किन्तु फिर क्या यह एक दिव्य भौतिक शरीर है या अतिभौतिक शरीर? इसके साथ ही यह कल्पना करनेमें कोई बाधा नहीं है कि ये सब विचार, सहजबोध और अनुभव यदि भौतिक रूपान्तरको निश्चित रूपसे सूचित नहीं करते तो उसकी ओर संकेत अवश्य करते हैं।

*

इस विषयपर चिन्तन करनेवाले अनेक लोगोंका यह विचार रहा है कि भावी मनुष्य जातिका शरीर ज्योतिर्मय (Corps Glorieux) होगा और उसका अर्थ तेजाधर्मी Radio-active हो सकता है। किन्तु इस बातका भी विचार करना होगा: 1. कि अतिमानसिक शरीर अनिवार्य रूपसे एक ऐसा शरीर होना चाहिये जिसमें चेतना ही भौतिक क्रिया और प्रक्रियाका, उनके स्थूलसे स्थूल रूपका भी निर्धारण करती है और इसलिये ये भौतिक अवस्था या नियमोंपर जैसे कि वे आज हमें ज्ञात हैं, पूरी तरहसे आधार नहीं रखती, 2. यह कि सूक्ष्म प्रक्रिया स्थूलसे अधिक बलशाली होगी जिससे अग्निकी एक सूक्ष्म क्रिया उस कार्यको करनेमें समर्थ होगी जिसे आज बढ़े हुए तापमान जैसे भौतिक परिवर्तनकी आवश्यकता होगी।

*

यदि चेतना वर्तमान शरीरमें भौतिक क्रिया और प्रतिक्रियाका निर्धारण न कर सके; यदि इसे भिन्न आधारकी जरूरत हो तो इसका अर्थ है कि इसे यह भिन्न आधार, भिन्न साधनों द्वारा तैयार करना होगा। किन साधनोंसे? भौतिक? पुराने योगी ऐसा शारीरिक तपस्या द्वारा करनेकी चेष्टा करते थे; अन्य लोग जीवनके पारसमणिके अन्वेषण द्वारा इत्यादि। इस योगके अनुसार उच्चतर शक्ति और चेतनाकी उस क्रियाको, जिसमें अग्निकी सूक्ष्म क्रिया भी शामिल है, हमारे शरीरका उद्‌घाटन और उसकी तैयारी करनी है, तथा उसे (नियम-धर्म कहलानेवाली) अपनी वर्तमान आदतोंमें दृढ़तापूर्वक जमें रहनेके स्थानपर चित्-शक्तिके प्रति अधिक प्रत्युत्तरशील बनाना है। किन्तु भिन्न आधार तो केवल स्वयं अतिमानसिक क्रियाके द्वारा ही निर्मित किया जा सकता है। अतिमानसके सिवाय ऐसी कौन वस्तु है जो अपने आधारका निर्णय कर सकती है?

*

मेरा किसी वस्तुको टालनेका इरादा नहीं था, हां यह बात अलग है कि अबतक मैं यह भी नहीं जानता कि परिवर्तित शरीरका रासायनिक संगठन क्या होगा, इसलिये मैं इसका कोई उत्तर दे ही नहीं सकता था। इसलिये मैंने कहा कि इसके लिये खोजकी जरूरत है।

मैं केवल इस विषयपर अपना विचार रख रहा था जो सदा ही यह रहा है कि अतिमानस ही अपने भौतिक आधारका निर्माण करेगा। यदि तुम्हारा यह आशय हो कि अतिमानस अपनी वर्तमान प्रक्रियाओं द्वारा वर्तमान शरीरमें अपनेको चरितार्थ नहीं कर सकता तो यह सत्य है। प्रक्रियाओंको प्रत्यक्ष ही बदल देना होगा। शरीरका संगठन कितनी हदतक और किस दिशामें बदलेगा यह दूसरा प्रश्न है। जैसा मैंने कहा है कि यह तुम्हारे सुझावके अनुसार तेजो-धर्मी बन सकता है: तेओं (माताजीके गुह्य-विद्याके गुरु) ने इसके विषयमें कहा था कि यह ज्योतिर्मय है। लेकिन इस सबके कारण वर्तमान शरीरमें परि-वर्तनका कार्य करना अतिमानसके लिये असम्भव नहीं हो जाता। ये वस्तु है जिसकी मैं हालमें उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

निःसंदेह अतिमानसिक रूपान्तरसे पहले जैसे चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर आते हैं ठीक वैसे ही एक प्रकारका प्रारंभिक रूपान्तर आवश्यक है। किन्तु यह है भौतिक चेतनाका कोषाणुओंकी अवमग्न चेतनातक परिवर्तन जिससे वे उच्चतर शक्तियोंको प्रत्युत्तर दे सकें और उन्हें अन्दर आने दें। और कुछ

हदतक यह परिवर्तन है प्रक्रियाओंमें परिवर्तन या कम-से-कम उनमें एक महत्तर नमनीयता। भोजन इत्यादिके नियमोंका प्रयोजन है अवरोधोंको कम-से-कम करके इसको सहायता देना। इसमें शरीरके रासायनिक संगठनका परिवर्तन कहां तक अपेक्षित है यह मैं नहीं कह सकता। मुझे अब भी ऐसा लगता है कि प्रारंभिक परिवर्तन जो भी हो, केवल अतिमानसिक शक्तिकी क्रिया ही उन्हें संपुष्ट और पूर्ण बना सकती है।

विभाग दो

मनका रूपान्तर

मनका रूपान्तर

व्यक्ति जिस प्रकार प्राण, हृदय और शरीरके द्वारा कोई वस्तु ग्रहण करता है वैसे ही चिंतनशील मन द्वारा किसी वस्तुको ग्रहण न करे इसका कोई कारण नहीं। चिन्तनशील मन इनके समान ही ग्रहण करनेमें समर्थ है, और, क्योंकि शेष अंगोंके समान ही इसका भी रूपान्तर करना है इसलिये इसे भी ग्रहण करना सिखाना चाहिये अन्यथा इसका रूपान्तर नहीं हो सकता।

जैसे प्राणकी सामान्य असंस्कृत प्रवृत्ति या शरीरकी अन्धकारमयी, मूर्खतापूर्ण ढंगसे बाधा उत्पन्न करनेवाली चेतना विघ्नरूप होती है, ठीक वैसे ही बुद्धिकी साधारण प्रकाश रहित क्रिया ही आध्यात्मिक अनुभवमें बाधक होती है। बुद्धिकी गलत प्रक्रियाओंके विरोधमें साधकको विशेषरूपसे जिन बातोंके सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिये, वे हैं, एक, मानसिक विचारों और संस्कारों या बौद्धिक परिणामोंको उपलब्धि मान लेनेकी कोई भूल करना; दूसरे, निरे मनकी चंचल प्रवृत्ति जो चैत्य और आध्यात्मिक अनुभूतिकी सहज यथार्थताको गड़बड़ा देती है और सच्चे एवं आलोक प्रदान करनेवाले ज्ञानके अवतरणको जगह नहीं देती या फिर ज्योंही यह ज्ञान मानवकी मानसिक भूमिकाको स्पर्श करता है या उसके पूरी तरह स्पर्श करनेसे पहले ही तुरन्त उसे विकृत कर देती है। निःसंदेह बुद्धिके कुछ सामान्य दुर्गुण भी हैं,—प्रकाशमय ग्रहणशीलता और स्थिर आलोकित विवेकके स्थानपर निष्फल संदेहकी ओर इसका झुकाव; ऐसी वस्तुओंके सम्बन्धमें निर्णय देनेका दावा करनेकी इसकी धृष्टता जो इससे परेकी है, इसे ज्ञात नहीं और इतनी गहरी है कि उसके अपने सीमित अनुभव द्वारा निर्धारित किये गये मापदण्डोंसे मापी नहीं जा सकती; भौतिक वस्तुओं द्वारा अतिभौतिक वस्तुओंकी व्याख्या करनेके इसके प्रयास या जड़तत्वकी और उसमें स्थित मनकी अपनी विशिष्ट कसौटियों द्वारा उच्चतर और गुह्य पदार्थोंको प्रमाणित करनेकी मांग, और भी ऐसे बहुतसे दुर्गुण है जिन्हें गिनाना यहां सम्भव नहीं। हमेशा ही यह सच्चे ज्ञानके स्थानपर अपनी स्थापनाओं, रचनाओं और सम्मतियोंको ला बिठाती है। किन्तु यदि बुद्धिने आत्म समर्पण कर दिया हो, वह खुली हो, अचंचल हो और ग्रहणशील हो तो इसका कोई कारण नहीं कि वह प्रकाशको ग्रहण करनेका साधन न बने या आध्यात्मिक भूमिकाओंके अनुभवमें एवं एक आन्तरिक परिवर्तनकी पूर्णतामें सहायक न हो।

*

विकसित बुद्धिका होना सदा ही सहायक होता है, यदि व्यक्ति उसे ऊर्ध्व लोक द्वारा आलोकित कर सके और उसे दिव्य उपयोगकी ओर मोड़ सके।

*

कामनाके प्राणिक व्यापारकी तरह मानसिक (बौद्धिक) व्यापारकी हलचलको भी इसलिये नीरव कर देना होगा ताकि स्थिरता और शांति पूर्णता-को प्राप्त कर लें। ज्ञानको केवल ऊपरसे ही आने देना होगा। इस स्थिरतामें साधारण प्राणिक व्यापारोंके समान साधारण मानसिक व्यापार भी एक ऐसी उत्तलीय क्रिया बन जाते हैं जिनके साथ नीरव आन्तर पुरुषका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह एक मुक्ति है जो इन अर्थोंमें आवश्यक है कि सच्चा ज्ञान और सच्चे जीवन-व्यापार अज्ञानके व्यापारोंका स्थान ले लें या उन्हें रूपान्तरित कर दें।

*

बौद्धिक व्यापार आन्तर सत्ताके अंग नहीं हैं —बौद्धिक व्यापारका सम्बन्ध बाह्य मनसे है।

*

बुद्धि जब सत्यकी अपेक्षा अपनी कृतियोंको ही पसन्द करनेका निर्णय करती है तो यह प्राणके समान ही एक महान् अन्तराय बन सकती है।

*

बुद्धि मनका एक भाग है और शेष मनके समान ही अर्धसत्यका एक उपकरण है।

*

तुमने जो कहा वह बिलकुल ठीक है। सत्यका दर्शन बुद्धिके बड़े या छोटे होनेपर आधार नहीं रखता। यह निर्भर करता है सत्यके संस्पर्शमें होनेपर

और इसे ग्रहण करनेके लिये मनके नीरव और अचंचल होनेपर। बड़ी-से-बड़ी बुद्धिवाले व्यक्ति सत्यके सम्पर्कमें न होनेपर या प्रत्यक्ष अनुभूति न होनेपर अधिक-से-अधिक बुरे ढंगकी भूलें कर सकते हैं और सत्य और मिथ्याको मिला जुला देते हैं।

*

इसका (बुद्धिका) कार्य है मन और इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष बोधोंके आधारपर, तर्क करना, निष्कर्ष निकालना और वस्तुओंका परस्पर तर्क सम्मत रूपसे संबन्ध बिठाना। एक सुप्रशिक्षित बुद्धि महत्तर ज्ञानके लिये मनकी एक अच्छी तैयारी-की सूचक है, पर यह स्वयं यौगिक ज्ञान प्रदान नहीं कर सकती या भगवान्‌को नहीं जान सकती — भगवान्‌के विषयमें यह केवल धारणायें बना सकती है, पर धारणायें बनाना ज्ञान नहीं है। साधना कालमें बुद्धिको उस उच्चतर मनमें बदलना होगा जो स्वयं ज्ञानकी ओर जानेका मार्ग है।

*

अधिकतर मनुष्योंकी बुद्धि अत्यधिक अपूर्ण, कुप्रशिक्षित और अर्धविकसित होती है — इसलिये अधिकतर लोगोंमें बुद्धिके निर्णय उतावलीभरे, अपर्याप्त आधारवाले और भ्रांतिपूर्ण होते हैं या, यदि वे सही हों तो भी अपने गुण या समुचित क्रियाके कारण सही होनेकी अपेक्षा संयोगवश ही ठीक होते हैं। निष्कर्ष तथ्योंको या ठीक अथवा पर्याप्त तथ्य सामग्रीको जाने बिना केवल जल्दबाजीसे किये गये अनुमानके द्वारा निकाले जाते हैं और जिस प्रक्रियाके द्वारा बुद्धि प्रतिज्ञा वाक्योंसे परिणामोंतक पहुँचती है वह साधारणतया तर्क-विरुद्ध या दोषपूर्ण होती है — क्योंकि जिस प्रक्रिया द्वारा निष्कर्षतक पहुँचा जाता है वही युक्तियुक्त नहीं होती इसलिये निष्कर्ष भी सम्भवतया भ्रांतिपूर्ण ही होगा। साथ ही सामान्यतया बुद्धि ढीठ और घमण्डी होती है और अपने अपूर्ण निष्कर्षोंको विश्वासपूर्वक सत्यके रूपमें स्थापित करती रहती है तथा उनसे असहमत होनेवालोंको भ्रान्त, मूर्ख या बेवकूफ ठहराती है। पूर्णतया प्रशिक्षित और विकसित किये जानेपर भी बुद्धि चरम सुनिश्चितता या पूर्ण सत्यतक नहीं पहुँच सकती, किन्तु वह उसके एक पहलू या पक्ष तक पहुँचकर तर्कपूर्ण या सत्यप्राय स्थापना कर सकती है, किन्तु अप्रशिक्षित होनेपर यह बिलकुल अपर्याप्त उपकरण होती है जो एक साथ ही जल्दबाज़, जिद्दी, असुरक्षित

और अविश्वासनीय होता है।

*

मन वस्तुओंको उस रूपमें अंकित नहीं करता जैसी वे हैं बल्कि उस रूपमें जैसी कि उसे प्रतीत होती हैं। यह कुछ अंशोंको पकड़ता है अन्योंको छोड़ देता है; बादमें स्मृति और कल्पना दोनों मिलकर उस वस्तुका बिलकुल भिन्न ढंगका निरूपण करते हैं।

*

यह संकल्पकी कमजोरी या निष्क्रियताका परिणाम नहीं किन्तु किसी मानसिक प्रवृत्तिके सम्बन्धमें निर्णय देनेका अत्यधिक उतावलापन है। साधारणतया मनका व्यापार ऐसा ही होता है—और यह कभी-कभी एक विशेष प्रकारके सात्विक उत्साहका फल भी होता है। किन्तु जल्दी मचानेके कारण विरोधी पक्षपर किये गये निर्णयके दोषोंपर या किये जा सकनेवाले आक्षेपपर विचार करनेके लियें पर्याप्त समय नहीं दिया जाता। शांति आधार अवश्य है परन्तु इसमें ऊर्ध्वके उस विशेष प्रकाशकी क्रियाको आना होगा जो प्रत्येक वस्तुको उसके समग्र रूपमें सही अनुपातोंमें दिखाता है—क्योंकि मन अपनी अपनी सर्वोत्तम अवस्थामें भी ऐसे उच्चतर प्रकाशके निर्देशनके बिना अपूर्ण ही रहता है और सामान्यतया अपने प्रत्यक्ष बोधोंमें एकांगी भी।

*

अधिकतर ज्ञानहीन लोगोंका रुझान अपने मनके आग्रहकी ओर होता है—उनके अपने ख्याल होते हैं और वे उन्हें बदलना नहीं चाहते या उनकी पकड़को ढीला नहीं करना चाहते।

*

बात यह है कि लोग़ यह देखनेकी तकलीफ नहीं लेते कि बुद्धि वस्तुओं और व्यक्तियोंके सम्बन्धमें उन्हें सही विचार, सही निष्कर्ष, सही दृष्टिकोण, उनके आचार या क्रियाके मार्गके सम्बन्धमें सही संकेत दे भी रही है या नहीं।

उनकी अपनी धारणा होती है और वे उसे सत्य मानते हैं या उनका अनुसरण केवल इसलिये करते हैं कि वह उनकी "निजी" धारणा है। जब वे समझ जाते हैं कि उन्होंने मानसिक भूलें की हैं तो भी वे उसे बहुत महत्वकी बात नहीं मानते और न पहलेकी अपेक्षा मानसिक रूपसे अधिक सावधान रहनेकी चेष्टा ही करते हैं। प्राणिक क्षेत्रमें लोग जानते हैं कि उन्हें अपनी कामनाओं या आवेगोंका उनपर संयम या नियंत्रण किये बिना बिलकुल अनुसरण नहीं करना चाहिये, वे जानते हैं कि उनमें सद्विवेक या नैतिक भाव होना चाहिये जो इस बातमें भेद नहीं कर सके कि वे क्या कर सकते है या उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं कर सकते या क्या नहीं करना चाहिये; बुद्धिके प्रदेशमें इस प्रकारकी सावधानी नहीं बरती जाती। यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी बुद्धिका अनुसरण करते हैं, बिना किसी नियंत्रणके अपने सही या गलत विचारोंको रखते हैं और उनका समर्थन करते हैं; यह कहा जाता है कि बुद्धि मनुष्यका उच्चतम करण है और उसे उसके विचारोंके अनुसार सोचना और कार्य करना चाहिये। किन्तु यह सत्य नहीं है; बुद्धिको अपने मार्गदर्शन, निरोध और नियंत्रणके लिये आंतरज्योतिकी बिलकुल उतनी ही आवश्यकता है जितनी प्राणको। बुद्धिसे ऊपर कोई वस्तु ऐसी है जिसे व्यक्तिको खोज निकालना है और सत्य ज्ञानके उस उद्गमकी क्रियाके लिये बुद्धि केवल एक मध्यवर्ती साधन ही होनी चाहिये।

*

मानवके चिन्तनशील मनके लिये प्रत्येक वस्तुके सदैव अनेक पहलू होते हैं और यह अपने झुकाव या अपनी पसन्द या अपने अभ्यस्त विचार या बुद्धिके सामने अपनेको सर्वोत्तम युक्तिके रूपमें प्रस्तुत करनेवाले किसी तर्कके अनुसार निर्णय करता है। यह यथार्थ सत्यको केवल तभी प्राप्त करता है जब कोई अन्य वस्तु इसके अन्दर उच्चतर प्रकाशको डालती है—जब चैत्य या संबोधि इसे स्पर्श करता है और अनुभव कराता या दिखा देता है।

*

बहुतसी चीजें केवल देखनेके उस ढंगके कारण खराब प्रतीत होती हैं जिससे लोग उन्हें देखते हैं। तुम जिन वस्तुओंको बिलकुल ठीक समझते हो, अन्य लोग उन्हें बुरी कहते हैं; जिसे तुम बुरा समझते हो, दूसरे लोग उसे बिलकुल

स्वाभाविक पाते हैं।

*

सही बात है सब वस्तुओंको एक अविचल शान्तिके साथ देखना, 'भला' और 'बुरा' दोनोंको प्रकृतिके उपरितलपर होनेवाले एक व्यापारके रूपमें देखना। किन्तु इसे सच्चे ढंगसे, बिना किसी भूल या अहंकार या गलत प्रतिक्रियाके, करनेके लिये एक ऐसी चेतना एवं ज्ञानकी आवश्यकता होती है जो वैयक्तिक और सीमित न हो।

*

संबोधिजन्य सुझाव बहुधा इसीप्रकार आते हैं और मन उनकी अवहेलना कर देता है। यह इसलिये होता है कि मन अपनी ही प्रक्रियाके अनुसरण करनेका आदि है और संबोधिके आनेपर उसे पहचान नहीं सकता, न उसपर विश्वास ही कर पाता है। मनको इन वस्तुओंके आनेपर इन्हें देखना सीखना चाहिये और यदि अनुभव इनके सत्यका अनुमोदन करें तो उन्हें महत्व भी प्रदान करना चाहिये।

*

आत्माके प्रदेशमें केवल अनादि सत्य ही होते हैं — वहां सब कुछ अनादि रूपसे अपने मूल रूपमें विद्यमान होता है, वहां कोई विकास नहीं होता, कुछ भी असिद्ध या सिद्ध होनेके लिये प्रयत्नशील नहीं होता। इसलिये वहां सम्भावना जैसी वस्तुएं नहीं होती।

दूसरी ओर जीवनमें सबकुछ सम्भावनाओंकी लीला है — कोई भी वस्तु अपने संसिद्ध रूपमें नहीं है, सब संसिद्ध होनेके लिये यत्न कर रही हैं — अथवा (यदि) अभी यत्न नहीं कर रहीं तो उसके लिये परदेके पीछे प्रतीक्षा कर रही हैं। कोई भी वस्तु अपने सर्वश्रेष्ठ रूपमें, अपने सत्य या पूर्ण भावमें सिद्ध नहीं हुई, किन्तु सब कुछ सम्भावनाकी स्थितिमें है। ये सारी संभावनाएं ऊपरके सत्योंसे उत्पन्न हुई हैं, उदाहरणार्थ, ज्ञानकी सम्भावना, प्रेमकी सम्भावना, हर्षकी संभावना इत्यादि।

बुद्धि, संकल्प आदि ऐसे मध्यवर्ती तत्व हैं जो प्रच्छन्न उच्चतर सत्योंके

किसी अंशको पकड़नेका और उन्हें जीवनमें लानेका या फिर जीवनको उनकी ओर उठानेका यत्न करते हैं जिससे यहां जीवनकी सम्भावनाएं ऐसी पूर्ण यथार्थ सत्य हो जायें जो ऊपर पहलेसे ही विद्यमान हैं।

*

बुद्धि कल्पनाओं, प्रत्यक्षबोधों और अनुमानोंसे बनी है। विशुद्ध तर्क बिलकुल और ही वस्तु है, किन्तु केवल थोड़े लोग ही उसका प्रयोग कर सकते हैं। योगमें यौगिक ज्ञानका जहांतक प्रश्न है, वह पहले पहल उच्चतर मनसे आता है, किन्तु वह भी समग्र सत्यको नहीं किन्तु केवल इसके पक्षोंको ही देखता है।

*

विशुद्ध तर्क वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपके साथ अर्थात् वस्तु सम्बन्धी विचारों, प्रत्ययों, उनकी सारभूत प्रकृतिके साथ व्यवहार करता है। यह विचारोंके जगत्में निवास करता है। इसकी प्रकृति दार्शनिक और तत्व-चिन्तक होती है।

*

सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम प्रयुक्त शब्दोंका क्या अर्थ लगाते हो; यह तो परिभाषाका प्रश्न है। साधारणतया, यदि कोई मनुष्य अच्छी तरह विचार कर सके तो कहा जाता है कि उसमें बुद्धि है; इसमें विचारकी प्रकृति, प्रक्रिया तथा उसके क्षेत्रका कोई महत्व नहीं। यदि तुम बुद्धिको इस अर्थमें लो तो तुम कह सकते हो कि बुद्धिके नाना स्तर हैं और फोर्डका सम्बन्ध बुद्धिके एक स्तरसे है, आइन्स्टाइनका दूसरेसे — फोर्डकी बुद्धि व्यावहारिक और कार्य कुशल व्यापारिक बुद्धि है और आइन्स्टाइनकी वैज्ञानिक गवेषणात्मक और सिद्धान्त-निर्मात्री। किन्तु अपने क्षेत्रमें फोर्ड भी सिद्धान्त बनाता है, गवेषणा और आविष्कार करता है। तो भी क्या तुम फोर्डको बुद्धिजीवी या बुद्धिमान् व्यक्ति कहोगे? मनकी सामान्य क्षमताके लिये मैं बुद्धि शब्दका प्रयोग करना पसन्द करूँगा। फोर्डकी बुद्धि महान् एवं प्रबल-व्यावहारिक, प्रखर एवं द्रुत, सफल एवं ऊर्जस्वल है। उसके पास एक ऐसा मस्तिष्क है जो विचारोंसे भी

सम्बन्ध रख सकता है, किन्तु वहां भी उसकी प्रवृत्ति व्यावहारिकताकी ओर ही होती है। उदाहरणके लिये वह पुनर्जन्म (देहान्तर प्राप्ति) में विश्वास करता है किसी दार्शनिक कारणवश नहीं किन्तु इस कारण कि यह जीवनकी व्याख्या इस रूपमें करता है कि वह अनुभवकी पाठशाला है जिसमें व्यक्ति अधिकसे अधिक अनुभव संचय करता है और उसके द्वारा विकसित होता है। दूसरी ओर आइन्स्टाइनके पास महान् गवेषणात्मक वैज्ञानिक बुद्धि है किन्तु वैज्ञानिक अन्वेषणके उपयोगके लिये मार्कोनी जैसी बलशाली, व्यावहारिक आविष्कारशील बुद्धि नहीं। निःसंदेह सब मनुष्योंमें एक प्रकारकी बुद्धि होती है, उदाहरणार्थ सब लोग चर्चा और वाद-विवाद कर सकते हैं (जिसके लिये, तुम ठीक ही कहते हो कि बुद्धि आवश्यक है); किन्तु जब व्यक्ति इससे ऊपर उठकर विचारोंके क्षेत्रमें पहुँचता है और वहां स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करता है तभी तुम कहते हो "इस मनुष्यमें बुद्धि है"। किसानोंकी सभामें भाषण देनेपर तुम देखोगे कि यदि उन्हें मौका दिया जाय तो वे तुम्हारे सामने ऐसे विषय और सवाल रख सकते हैं कि संसद्में बहस करनेवाले व्यक्तिका भी सांस फूल जाय। पर हम यह कहकर मन मना लेते हैं कि इन किसानोंके पास व्यावहारिक ज्ञान बहुत अधिक है।

मैंने जैसे कहा कि चर्चा और वाद विवादकी शक्ति एक सर्व सामान्य मानव क्षमता और आदत है। शायद यह वही स्थान है जहांसे मानव पशुसे पृथक् होना शुरू करता है; क्योंकि पशुओंमें बहुत बुद्धि होती है, बहुतसे पशुओंमें, यहांतक कि कीड़ोंमें भी, व्यावहारिक तर्क करनेकी कुछ प्राथमिक शक्ति होती है, किन्तु जहांतक हम जानते हैं वे वस्तुओंके विषयमें एकत्रित होकर अपने विचारोंको आमने-सामने नहीं रखते या वाद-विवादके समय उन्हें एक दूसरे पर गुलेलकी तरह फैंककर नहीं मारते* जैसा कि अत्यन्त अज्ञानी मानव कर सकता है या खूब जोश-खरोशके साथ करता भी है।

यद्यपि यह मानव जातिकी सर्व सामान्य शक्ति है किन्तु इसमें प्रायः विशेषज्ञता भी देखनेमें आती है, इतनी अधिक कि साहित्यिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक क्षेत्रकी चर्चामें जिस व्यक्तिका विरोध करना खतरेसे खाली नहीं यदि वह राजनीति या अर्थशास्त्र या कहें कि आध्यात्मिकता या योग चर्चा करे तो अपनी मूर्खता प्रदर्शित कर सकता है तथा भयानक भूलों एवं भ्रान्तियोंकी दलदलमें मजेसे लोट सकता है। उसका निस्तार इंसीमें है कि वह अपने अज्ञानकी उस सुखद गहराईमें डूबा रहे जो उसके अपने किये घोटालेको देखने नहीं देती।

*शायद वायस-संसदमें कौवे कभी-कभी ऐसा करते हैं।

और फिर एक कानून या राजनीति सम्बन्धी बहसमें बड़ा प्रखर वक्ता हो सकता है, बहुधा इन दोनोंमें मेल भी होता है; तो भी वह बुद्धिजीवी नहीं हो सकता। मैं मानता हूँ कि अच्छे ढंगसे बहस करनेके लिये मनुष्यमें थोड़ी तार्किक बुद्धि अवश्य होनी चाहिये। किन्तु आखिर वादविवादका लक्ष्य है जीतना, अपनी बातको सिद्ध करना और यह तुम तब भी कर सकते हो जब कि तुम्हारी बात असत्य हो; बहसका लक्ष्य होता है सफलता न कि सत्य। तो मैं तुम्हारी बातको कुछ अपवादोंके साथ स्वीकार कर लेता हूँ।

मैं इस बातसे सहमत हूँ कि लेबल, जब अल्प विकसित लोगोंपर लगाये जाते हैं तब भी वे सन्तोष जनक नहीं होते। वस्तुतः हम करते यह है कि व्यक्तिकी किसी प्रमुख वस्तुको चुनकर उसपर उसी चीजका लेबल मार देते हैं मानों वही चीज समूचा व्यक्ति हो। किन्तु उसके बिना वर्गीकरण सम्भव नहीं होता और मनुष्यकी बुद्धिका झुकाव सदा ही वर्गीकरण करने, भेदोंको स्थिर करने और लेबल लगाकर अलग-अलग करनेकी ओर होता है। दार्शनिकोंने बताया है कि भौतिक विज्ञान बड़ी कट्टरताके साथ ऐसा ही करता है और ऐसा करते हुए वह प्रकृतिके सत्यको गलत ढंगसे पूराका पूरा काट देता है। किन्तु यदि हम ऐसा न करें तो हमारा कोई भौतिक विज्ञान बन ही नहीं सकता।

*

यदि बौद्धिक व्यक्तिमें हमेशा ही महत्तर विशालता और व्यापकता रहे तो इस सम्बन्धमें हम कैसे आश्वस्त हो सकते हैं कि उसमें आवेग प्रधान व्यक्ति जितना जोश, गहराई और माधुर्य होगा ही ?

यह सम्भव है कि 'बुद्धिजीवी मानव' का हृदय अधिक विशाल हो और 'चैत्य प्रधान मानव' का हृदय अधिक गम्भीर (तब भी जब उसका आन्तरमन ऊपरकी ओर खुल जाय)।

उच्चतर ज्ञान और मानसिक ज्ञानमें घपला न करो। बुद्धिजीवी मनुष्य 'चैत्य प्रधान मानव'की अपेक्षा अपने प्राप्त किये उच्चतर ज्ञानको अधिक विशाल और अधिक व्यवस्थित रूपसे अभिव्यक्ति प्रदान कर सकेगा; किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि वह ज्ञान उसे अधिक मात्रामें मिलेगा। यह उसे केवल तभी मिलेगा जब वह ऊंचे उठकर उच्चतर ज्ञानकी भूमिकाओंमें उतनी ही विशालता, नमनीयता और व्यापकताको प्राप्त कर लेगा। उस अवस्थामें वह अपनी मानसिक क्षमताके स्थानपर मनसे ऊपरकी क्षमताको ले आयेगा। किन्तु बहुतसे तथाकथित बुद्धिजीवियोंके लिये उनकी बौद्धिकता मार्गका रोड़ा

बन सकती है क्योंकि वे अपनेको मानसिक धारणाओंके साथ बांध लेते हैं या तार्किक चिन्तनके भारी बोझके नीचे अपनी चैत्य अग्निको रूँध देते हैं। दूसरी ओर मैंने अपेक्षाकृत अशिक्षित लोगोंको ऐसी आश्चर्यजनक पूर्णता, गहराई और सक्ष्मताके साथ उच्चतर ज्ञानको व्यक्त करते देखा है जिसके सम्बन्धमें उनके मस्तिष्ककी लड़खड़ाती क्रियाएं हमें कदापि यह कल्पना भी नहीं करने दे सकती कि ऐसा होना सम्भव है। इसलिये मनके द्वारा पहलेसे ही क्यों स्थिर कर लेते हो कि जब ऊर्ध्व मनका साम्राज्य होगा तो क्या सम्भव होगा और क्या नहीं? मन जिस वस्तुके विषयमें यह धारणा करता है कि यह 'होना ही चाहिये' यह आवश्यक नहीं कि वह उस चीजका मानदण्ड हो जो वस्तुतः 'होगी'। अमुक-अमुक प्रकारका "बुद्धिवादी मानव" जोशीले भावुक मनुष्यसे अधिक भगवत्प्रेमी बन सकता है; अमुक-अमुक भावनावादी व्यक्ति, उसकी अपनी बुद्धि या यहांतक कि बुद्धिवादीकी बुद्धि भी जितना ज्ञान धारण या व्यवस्थित कर सकती है उससे अधिक विशाल ज्ञानको ग्रहण और व्यक्त कर सकता है। हमें चाहिये हम उच्चतर चेतनाके व्यापारोंको निम्नतर भूमिकाकी सम्भावना और शक्यताके नियम द्वारा बांध न लें।

*

क्या किसी अबुद्धिजीवीका मन ज्ञानको नीचे नहीं उतार सकता? तो फिर रामकृष्णके विषयमें क्या कहें? क्या तुम्हारा कहनेका मतलब यह है कि यहांके अधिकतर साधक, जिन्होंने तर्कशास्त्र नहीं पढ़ा और जो दर्शनशास्त्रसे अनभिज्ञ है, कभी भी ज्ञान नहीं प्राप्त करेंगे?

*

यदि व्यक्तिमें श्रद्धा हो और वह उद्घाटित भी हो तो इतना पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त समझ दो प्रकारकी होती हैं — बुद्धिसे प्राप्त होनेवाली समझ और चेतनामें होनेवाली समझ। यदि इनमेंसे पहली यथार्थ हो तो उसे प्राप्त करना अच्छा है — किंतु यह अनिवार्य नहीं। चेतना द्वारा प्राप्त समझ श्रद्धा और उद्घाटन होनेपर ही आती है, यद्यपि यह केवल अनुक्रमसे और अनुभवके सोपानों द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु मैंने अशिक्षित या बुद्धिहीन लोगोंको अपने अन्दर चल रही योगकी प्रक्रियाको इस ढंगसे पूरी तरह ठीक ठीक समझते देखा है, जब कि बौद्धिक मनुष्य बड़ी-बड़ी भूलें करते हैं। उदाहरणार्थ वे उदासीन मानसिक

शान्तिको आध्यात्मिक शान्ति मान लेते हैं और आगे बढ़नेके लिये उसमेंसे बाहर निकलनेसे इनकार करते हैं।

*

हां अत्यधिक बौद्धिक झुकाववाले लोगोंमें सक्रिय मन अधिक गहरी और निश्चल-नीरव आध्यात्मिक क्रियामें बाधक हो सकता है। बादमें जब वह उच्चतर (संबोधिमय या अधिमानसिक) चिन्तनमें बदल जाता है तो यह पहलेसे ठीक विपरीत, एक महान् शक्ति बन जाता है।

*

चिन्तनशील मनको पूर्णतया निश्चल-नीरव होना सीखना है। केवल तभी सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

*

बहुत अच्छा। विचार और अन्य स्पन्दनोंका रुक जाना आन्तर-नीरवताकी परकाष्ठा है। व्यक्ति एकबार जब उसे प्राप्त कर चुकता है तो मानसिक विचारों-के स्थानपर सच्चे ज्ञानका ऊपरसे आना अधिक सरल हो जाता है।

*

मनकी अधीरताको थोड़ा नियंत्रित करना आवश्यक है। ज्ञान उत्तरोत्तर प्रगतिशील है—यदि वह एकदम शिखरपर कूद लगानेकी चेष्टा करे तो हो सकता है कि वह कोई ऐसी अविचारी धारणा बना ले जिसे आगे जाकर उसे रद्द करना पड़े। ज्ञान और अनुभवको क्रमशः एक-एक कदम करके ही आना होगा।

*

मनके अन्दर हमेशा ही एक खास जल्दबाजी होती है जिससे वह अपने सामने प्रस्तुत वस्तुको जल्दीसे सर्वोच्च सत्यके रूपमें पकड़ लेना चाहता है।

इससे बचा नहीं जा सकता, किन्तु व्यक्ति मनमें जितना अधिक शान्त होगा उसका मन वस्तुओंको उतना ही कम विकृत करेगा।

*

मनके साथ हमेशा यही कठिनाई होती है। इसे निश्चल नीरव रहना सीखना होगा और उसे ज्ञानको अपनी क्रीड़ाके लिये पकड़नेकी चेष्टा किये विना अन्दर आने देना होगा।

*

मन और प्राणका अनुभूति पर अधिकार जमानेकी चेष्टा करना सदैव एक अन्यतम प्रमुख बाधा होता है।

*

अनुभूतिको विकसित होनेके लिये या उसका सम्पूर्ण प्रभाव आत्मसात् करनेके लिये पूरा समय देना चाहिये। जबतक मजबूरी ही न हो या वस्तुतः यदि अनुभव अच्छा ही न हो तबतक उसमें रुकावट नहीं ड़ालनी चाहिये।

*

अनुभूति होते समय मनको अचंचल रहना चाहिये। अनुभूतिके समाप्त होनेके बाद ही उसे सक्रिय होना चाहिये। यदि वह अनुभूतिके होते सक्रिय रहे तो अनुभूति बिलकुल बन्द हो सकती है।

*

जब अनुभूति हो रही हो उस समय उसके सम्बन्धमें विचारना या प्रश्न करना गलत बात है; यह इसे रोक देता है या मन्द कर देता है। यदि अनुभूति इस 'नवीन जीवन-शक्ति' के जैसी कोई चीज हो अथवा शान्ति या शक्ति या अन्य कोई सहायक वस्तु हो तो इसे खुलकर कार्य करने दो। उसके समाप्त हो जानेपर ही तुम उसके विषयमें विचार कर सकते हो — तब नहीं जब वह

चल रही हो। क्योंकि ये अनुभव आध्यात्मिक हैं न कि मानसिक, इनमें मनको शान्त रहना चाहिये एवं बीचमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

*

तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी वस्तु है जो प्रत्येक वस्तुके विषयमें मानसिक ढंगसे विचारनेकी आदतसे चिपटी रहना चाहती है। जबतक तुम्हें कोई यथार्थ अनुभव नहीं हो रहे थे तबतक तो इसका कोई महत्व न था। किन्तु एक बार यथार्थ अनुभूतियां शुरू होनेपर तुम्हें उन्हें ठीक ढंगसे समझना सीखना होगा।

*

तुम्हें अनुभवके द्वारा सीखना होगा। मानसिक जानकारी (यदि इसे ठीक ढंगसे न समझा जाय, जैसा कि अनुभवके अभावमें हमेशा ही होता है तो) सहायताकी अपेक्षा बाधा ही अधिक उपस्थित कर सकती है। सच यह है कि इन वस्तुओंके सम्बन्धमें, जिनके असीम भेद हैं, कोई बंधा-बंधाया मानसिक ज्ञान नहीं होता। तुम्हें मानसिक जानकारीकी उत्कण्ठासे परे जाना और ज्ञानके सच्चे मार्गके प्रति उद्घाटित होना सीखना होगा।

*

चेतनाके दो केन्द्र या भाग हैं — एक है 'साक्षी' और वह अवलोकन करता है, चेतनाका दूसरा भाग सक्रिय होता है। तुमने चेतनाके इस सक्रिय भागको नीचे प्राणिक सत्ताके भीतर गहरे जाते हुए अनुभव किया। यदि तुम्हारा मन सक्रिय न हो जाता तो तुम जान जाते कि वह कहां गया या वहां क्या अनुभव या कार्य करनेके लिये गया। जब अनुभव हो रहा हो तब तुम्हें उसके विषयमें सोचना नहीं शुरू कर देना चाहिये क्योंकि इसका कोई भी लाभ नहीं और यह केवल अनुभवको रोक ही देता है — तुम्हें निश्चल-नीरव रहना चाहिये, अवलोकन करना चाहिये और उसे अन्तिम छोरतक जाने देना चाहिये।

*

यह कल्पना नहीं किंतु एक अनुभव था। जब ऐसा अनुभव हो रहा हो तो मानसिक रूपसे इसे अधिकारमें करनेकी चेष्टा करना और उस अधिकारको बनाये रखना अनुभवको चालू रखनेके विपरीत इसमें बाधा ही उपस्थित कर सकता है। इसे स्वयं जारी रहने देना सबसे उत्तम है, यदि यह रुक जाता है तो बहुत करके फिरसे आ सकता है।

*

अनुभूतिके समय अभीप्सा होना इतना आवश्यक नहीं। इसे अन्तरालोंमें ही आना चाहिये।

*

जब व्यक्तिगत मन शान्त हो जाता है तो जो मानसिक क्रिया आवश्यक होती है उसे हाथमें लेकर शक्ति उसपर कार्य करती है। वही सभी आवश्यक विचारणा करती है तथा प्रत्यक्ष बोध और ज्ञानकी ऊंचीसे-ऊंची भूमिकाको उसमें उतार लाकर उसे उत्तरोत्तर रूपान्तरित करती हैं।

*

चेतनाके निम्नतर अंगोंके किसी हस्तक्षेप या क्रियाके बिना पूर्ण शून्य अवस्थामें स्थित होकर कार्य करना पूरी तरह सम्भव है।

*

मनकी निश्चल-नीरवतामें ही अधिक-से-अधिक बलशाली और मुक्त क्रिया आ सकती है उदाहरणार्थ पुस्तक लिखना, कविता, अन्तःप्रेरित भाषण आदि। जब मन सक्रिय होता है तो यह अन्तःप्रेरणामें दखल देता है, बीचमें अपने ऐसे क्षुद्र विचारोंको डाल देता है जो अन्तःप्रेरणाके साथ मिश्रित हो जाते हैं या निम्नतर भूमिकाकी किसी वस्तुको शुरू कर देता है या सब प्रकारके निरे मानसिक सुझावोंके बुलबुले उठाकर अन्तःप्रेरणाको बिलकुल ही समाप्त कर देता है। इसी प्रकार संबोधिमय ज्ञान या व्यापार आदि भी तब अधिक आसानीसे आ सकते हैं जब कि मनमें साधारण निम्नतर व्यापार नहीं हो रहा

होता। मनकी नीरवतामें ही ज्ञानके लिये भीतरसे या ऊपरसे, चैत्यसे या ऊच्च-तर चेतनासे आना अत्यधिक सरल होता है।

*

विचारका अभाव बिलकुल ठीक वस्तु है—क्योंकि सच्ची आन्तर चेतना एक ऐसी नीरव चेतना है जिसे चीजोंके विषयमें सोचना नहीं होता, किन्तु जो सही प्रत्यक्ष बोध, समझ और ज्ञानको सहज भावसे भीतरसे प्राप्त करती है या उसके अनुसार कहती या कार्य करती है। बाह्य चेतनाको ही बाह्य वस्तुओंपर निर्भर करना और उनके विषयमें विचार करना होता है क्योंकि उसके पास यह सहज पथ-प्रदर्शन नहीं होता। व्यक्ति जब इस आन्तर चेतनामें स्थिर हो जाता है तो निःसंदेह वह संकल्पके प्रयत्न द्वारा फिरसे पुरानी क्रिया-की ओर लौट सकता है पर यह पहलेकी तरह स्वाभाविक क्रिया नहीं होती और, यदि इसे देरतक कायम रखा जाय तो थकानेवाली भी बन जाती है। जहांतक स्वप्नोंका प्रश्न है वह और बात है। पुरानी बीती हुई वस्तुओंके संबंध-में सपने उस अवचेतनमेंसे उभरा करते हैं जो पुराने संस्कारों और पुरानी क्रियाओं तथा आदतोंके बीजोंको जाग्रत चेतना द्वारा उनके त्याग देनेके बाद भी बहुत देरतक संचित रखता है। जाग्रत चेतना द्वारा परित्यक्त होकर वे और मनुष्य साक्षी रूपमें स्थित होता है जबकि चेतनामें कोई वस्तु सहज भावसे फिर स्वप्नमें उभर आते हैं; क्योंकि निद्रामें बाह्य भौतिक चेतना नीचे अवचेतनके भीतर या उसकी ओर चली जाती है और बहुतसे सपने वहींसे उत्पन्न होते हैं।

वह नीरवता पूर्ण निश्चल-नीरवता है जिसमें सबकुछ अचंचल होता है और मनुष्य साक्षी रूपमें स्थित होता है जबकि चेतनामें कोई वस्तु सहज भावसे उच्चतर वस्तुओंको पुकार कर नीचे लाती है। यह तब आती है जब उच्चतर चेतनाकी पूरी शक्ति मन, प्राण और शरीरपर लगी होती है।

*

विशुद्ध अन्तःप्रेरणा और अवधारणा बिलकुल भिन्न वस्तु हैं।—ये या तो भीतरकी गहराईसे या बहुत ऊपरसे आती है। यह निम्नतर प्राणिक मन है जो क्रिया करता हुआ रचनाएं बना रहा है। जब सत्तामें स्थिर भाव होता है तो सब प्रकारकी चीजें उठकर सतहपर आ सकती हैं—उन्हें स्वीकार नहीं

करना, परन्तु उनका निरीक्षण मात्र करना है। समय आनेपर स्थिरता इतनी विकसित हो जायगी कि प्राण और बाह्य मनको भी शान्त कर देगी और उस पूर्ण शान्त अवस्थामें सच्चे प्रत्यक्ष बोध उत्पन्न होंगे।

*

मनको सब प्रकारके विचार और वेदनों इत्यादि से खदबदाने नहीं देना चाहिये किन्तु शान्त रहना चाहिये और केवल सच्ची एवं सही वस्तुओंको विचारना और अनुभव करना सीखना चाहिये।

*

मानसिक शक्तियोंमें खतरा यह है कि जब उच्चतर चेतना नीचे उतरती है (यदि उसमें गहरी निश्चल-नीरवता न हो) तो उनका मानसिक प्रकारके विचारोंके निर्माणके लिये चेतनामें सक्रिय होनेकी ओर झुकाव होता है जिसका हमेशा ही दुरुपयोग हो सकता है। सबसे पहले उसमें पूर्ण स्थिरता, शान्ति और नीरवताका आधार होना चाहिये — यदि उसमें क्रियाशीलता हो तो वह नीचे उतरते हुए ज्ञानकी ही होनी चाहिये और मनको नीरव रहकर उसे ठीक-ठीक रूपमें ग्रहण करते रहना चाहिये। यह वस्तु तुम सरलतासे प्राप्त कर सकते हो, यदि केवल मन अचंचल हो।

प्राणका खतरा यह है कि वह प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य-भावको अपने कब्जेमें करके अपने प्रयोजनोंके लिये, प्राणिक मानव सम्बन्धों या परस्पर आदान प्रदान या फिर किसी प्रकारके अपने निजी उपभोग मात्रके लिये ही इसका उपयोग करता है।

*

पश्चिममें भौतिक मन अत्यधिक प्रबल होता है, इतना कि चैत्यको सरलतासे कार्य करनेका मौका नहीं मिलता — निःसंदेह कुछ अपवाद रूप लोगोंकी दूसरी है।

*

आखिर भारतने आध्यात्मिक क्षेत्रमें अपनी मनोवृत्ति और पद्धतिको लेकर बौद्धिक संदेह और तर्कवितर्क करनेवाले युरोपकी अपेक्षा सैंकड़ों गुना अधिक काम किया है। जब कोई युरोपियन संदेह और तर्कवितर्क पर विजय प्राप्त कर लेता है तब भी वह उतने ही शक्तिशाली व्यक्तित्ववाले भारतीयके समान उतनी ही तेजीसे और समान दूरी तक जाना सरल नहीं अनुभव करता। क्योंकि उसमें मनकी हलचल तब भी बहुत अधिक होती है। जब वह उसके परे जा पाता है, तभी सफलता प्राप्त करता है, किन्तु उसके लिये यह इतना आसान नहीं होता।

तथापि, दूसरी ओर तुम्हारा कथन ठीक है। 'कालका ध्यान रखते हुए यह स्वाभाविक' है और सर्वत्र प्रचलित पाश्चात्य मनोवृत्तिको ध्यानमें रखते हुए भी वह स्वाभाविक ही है। बहुत करके यहं भी आवश्यक है कि पार्थिव-चेतनामें अतिमानसिक साक्षात्कार हो सकनेसे पहले इसका मुकाबला करके इसे जीत लेना चाहिये — क्योंकि आध्यात्मिक वस्तुओंके प्रति भौतिक मनकी यही (संदेह करनेकी) मनोवृत्ति होती है और क्योंकि इस योगके लिये आवश्यक ढंगसे मनको अतिक्रान्त किया जा सके, इससे पहले भौतिक सत्तामें ही प्रतिरोध-पर विजय प्राप्त करनी होती है इसलिये इसकी कठिनाइयोंको यथा सम्भव अधिकसे अधिक प्रबल रूपमें प्रस्तुत करना अनिवार्य है।

*

संदेहोंको दूर करनेका अर्थ है अपने विचारोंको संयमित करना — यह बात बिलकुल ठीक है। अमने विचारोंको संयमित करना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्राणगत कामनाओं और आवेगोंको संयमित करना अथवा अपने शरीरकी गतिविधिको संयमित करना — योगके लिये तो यह आवश्यक है ही, पर एकमात्र योगके लिये ही यह आवश्यक नहीं है (अर्थात् योग न करनेपर भी इसकी आवश्यकता होती है)। यदि कोई अपने विचारोंको वशमें न कर ले, यदि उनका साक्षी, अनुमन्ता और ईश्वर — मनोमय पुरुष — न बन जाय तो वह एक पूर्ण-विकसित मनोमय जीव भी नहीं हो सकता। जिस तरह मनोमय जीवके लिये अपनी वासनाओं और आवेगोंके तूफानमें बेपतवार जहाज होना अथवा शरीरकी जड़ता या प्रवृत्तिका दास होना उचित नहीं है उसी तरह उसके लिये अपने निरंकुश और असंयत विचारोंकी कठपुतली बनना भी उचित नहीं। मैं जानता हूँ कि यह बड़ा कठिन कार्य है, क्योंकि मनुष्य प्रधानतः मनोमय प्रकृतिका एक जीव होनेके कारण अपने मनकी वृत्तियोंके

साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, हठात् उनसे अपने-आपको अलग नहीं कर सकता तथा मानस-भंवरके चक्करों और लपेटोंसे मुक्त होकर खड़ा नहीं हो सकता। अपने शरीरको, कम-से-कम शरीरकी क्रियाओंके कुछ भागको संयमित करना उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक आसान है; अपने प्राणगत आवेगों तथा वासनाओंके ऊपर एक मानसिक संयम स्थापित करना उतना आसान तो नहीं, पर फिर भी कुछ संघर्षके बाद वह उसके लिये सम्भव हो जाता है; पर जिस तरह एक तांत्रिक योगी नदीके ऊपर बैठ जाता है उसी तरह अपने विचारों-के भंवरके ऊपर बैठ जाना उसके लिये थोड़ा कठिन है। फिर भी यह किया जा सकता है; उन सभी मनुष्योंको, जिनका मानसिक विकास हो चुका है, जो साधारण मनुष्योंसे ऊपर उठ चुके हैं, किसी न किसी तरह अथवा कम-से-कम किसी विशेष समयपर और किसी विशेष प्रयोजनके लिये अपने मनके दो भागोंको अलग-अलग करना ही पड़ता है — एक भाग है सक्रिय, जो विचारों-का कारखाना है और दूसरा है प्रशान्त और प्रभुत्वपूर्ण जो एक साथ ही साक्षी भी है और संकल्पशक्ति भी, जो विचारोंको देखता है, उनका निर्णय करता है, वर्जन करता है, बहिष्कार करता है, स्वीकार करता है, संशोधन और परि-वर्तनकी आज्ञा देता है, मनोमय गृहका स्वामी है, आत्मप्रभुत्वका — साम्राज्य-का — अधिकारी है।

योगी इससे भी आगे जाता है; वह केवल मनके अन्दर ही स्वामी नहीं होता, बल्कि एक प्रकारसे मनमें रहते हुए भी वह मानों उससे बाहर चला जाता है और उससे ऊपर या एकदम उसके पीछे अवस्थित होता है तथा उससे मुक्त रहता है। उसके विषयमें अब 'विचारोंके कारखाने' की उपमा उतनी लागू नहीं होती; क्योंकि वह देखता है कि सभी विचार बाहरसे, विश्वमानस या विश्वप्रकृतिसे आते हैं, कभी-कभी तो उनका निर्दिष्ट और स्पष्ट रूप होता है और कभी-कभी कोई रूप नहीं होता और जब उनका कोई रूप नहीं होता तब उन्हें कहीं हमारे अन्दर रूप प्राप्त होता है। हमारे मनका प्रधान कार्य यह है कि वह इन विचार-तरंगोंको (साथ ही साथ प्राणकी लहर तथा सूक्ष्म-भौतिक शक्तिकी लहरोंको भी) या तो स्वीकार करे या त्याग दे अथवा पारि-पार्श्विक प्रकृतिशक्तिसे आनेवाली विचार-सामग्रीको (अथवा प्राणकी गतियोंको) इस प्रकार व्यक्तिगत मनोमय आकार प्रदान करे। श्री लेलेका मुझपर वह महान् ऋण है कि उन्होंने मुझे यह बताया। उन्होने कहा, "ध्यान करने बैठ जाओ, किन्तु विचार मत करो केवल अपने मनको देखो, तुम देखोगे कि विचार इसके 'अन्दर आ' रहे हैं, वे अन्दर घुस सकें इससे पहले ही उन्हें अपने मनसे बाहर तबतक फैंकते रहो जबतक तुम्हारा मन पूर्ण नीरवताको धारण करनेमें

समर्थ न हो जाय"। 'मैंने पहले यह कभी नहीं सुना था कि विचार मनके भीतर दृश्य रूपसे बाहरसे ही आते हैं। किन्तु मेरे मनमें उसकी सचाई या सम्भावनाके विषयमें शंका करनेका भी विचार न आया, मैं बस बैठ गया और जैसा उन्होंने कहा वैसा ही किया। मेरा मन क्षण भरमें ऊंचे पर्वतके शिखरपर स्थित स्तब्ध पवनकी तरह नीरव-निस्तब्ध हो गया और फिर मैंने विचारोंको मूर्त रूपमें एकके बाद एक बाहरसे आते देखा; वे आकर मस्तिष्कपर कब्जा जमा लें इससे पहले ही मैं उन्हें बाहर फैंक देता और तीन दिनमें मैं विचारोंसे मुक्त हो गया। उसी क्षणसे, सिद्धान्ततः मेरी मनोमय सत्ता एक मुक्त बुद्धि, एक विश्वव्यापी मन बन गई जो विचारके कारखानेमें कामकाज करनेवाले मजदूरकी तरह व्यक्तिगत विचारोंके संकीर्ण दायरेमें सीमित नहीं रही परन्तु सत्ताके सैंकड़ों प्रदेशोंसे ज्ञानको ग्रहण करनेवाली बन गई एवं अपने विशाल दृष्टि-साम्राज्य और विचार-साम्राज्यमें अपनी इच्छानुसार चुनाव करनेमें स्व-तन्त्र हो गई। मैं यह वर्णन केवल इस बातपर भार देनेके लिये कर रहा हूँ कि मनोमय पुरुषकी शक्यताएं असीम हैं और वह मुक्त साक्षी और अपने गृह-का ईश्वर बन सकता है। मैं यह नहीं कहता कि प्रत्येक व्यक्ति मेरे समान ही और निश्चयात्मक क्रियाकी उतनी ही तेजीके साथ यह कर सकता है (क्यों-कि, मुझे इस नवीन बन्धनमुक्त मानसिक शक्तिके परवर्ती पूर्णतम विकासमें अवश्य ही अनेक वर्ष लगे)। किन्तु अपने मनपर उत्तरोत्तर स्वातन्त्र्य और प्रभुत्व प्राप्त करना उस प्रत्येक व्यक्तिके लिये पूर्णतया संभव है जिसमें इस कामका बीड़ा उठानेके लिये श्रद्धा और संकल्प हो।

*

यह भूल इस विचारके कारण होती है कि तुम यह समझते हो तुम्हारे विचार तुम्हारे निजी हैं और तुम उनके निर्माता हो और यदि तुम विचारोंको न उत्पन्न करो (अर्थात् उन्हें न विचारो) तो एक भी विचार नहीं आयेगा। थोड़ासा निरीक्षण करनेसे ही मालूम हो जाना चाहिये कि अपने विचारोंका उत्पादन तुम नहीं करते बल्कि विचार तुममें आते हैं। एक प्रसिद्ध लोकोक्तिके अनुसार कवियोंके समान ही विचार उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते। जब तुम किसी चीजको उत्पन्न करनेकी या फिर किसी विषयपर विचार करनेकी चेष्टा करते हो तो तुम्हें उसके लिये अवश्य ही एक प्रकारका श्रम और यत्न करना होता है किन्तु यह ऐसी एकाग्रता है जिसका प्रयोजन यह है कि विचार, परिस्थितिके अनुसार, ऊपर, अन्दर और नीचे आयें तथा एक दूसरेके साथ

संगतरूपसे स्थित हो जायं। यह धारणा कि तुम विचारोंका रूप गढ़ रहे हो या उन्हें यथा स्थान बिठा रहे हो, एक अहंतापूर्ण भ्रांति है। यह वे स्वयं कर रहे हैं, या केवल किसी विवशताके अधीन होकर तुम्हारे लिये प्रकृति ऐसा कर रही है; तुम्हें उससे यह करवानेके लिये उसकी ताड़ना करनी पड़ती है, और यह ताड़ना हमेशा फलप्रद नहीं होती। किन्तु मन या प्रकृति या मानसिक ऊर्जा — तुम जो भी नाम दो — इसे एक खास ढंगसे करती है और विचारोंके एक विशेष क्रम और अनेक प्रकारकी ऊलजलूल बौद्धिकता (असभ्यताके लिये माफ करना) या मूर्खता, कट्टरतासे या अधकचरे ढंगसे व्यवस्थित बुद्धिमत्ता, तार्किक श्रृंखलाओं और असंगतियों आदिके द्वारा बेवकूफ बनाती रहती है। उस लहराती और टकराती भीड़के बीचमें संबोधि प्रवेश कैसे करे? कभी-कभी यह करता भी है; किन्हीं लोगोंके मनमें प्रायः संबोधि ज्ञान आते अवश्य हैं पर उसे तुरन्त ही सामान्य विचार घेर लेते हैं और जिन्दा निगल जाते हैं और उसके बाद संबोधि-विहीन जठरोंमें चमकनेवाले हत्याके शिकार संबोधिके किसी बचे खुचे टुकड़ेको लेकर वे मुस्कराते हुए तुम्हारी ओर देखते हैं और कहते हैं, 'श्रीमान्, मैं संबोधि हूँ'। पर वे केवल ऐसी बुद्धि, बोध शक्ति या सामान्य विचार होते हैं जिनके अन्दर खण्डित अतएव भ्रामक संबोधिका कोई भाग विद्यमान होता है। हां, तो बात यह है कि संबोधिके लिये शून्य मनमें ही — (यह महत्वपूर्ण बात है) कि मन शून्य हो जड़ नहीं — जीवित और अखण्डरूपमें प्रवेश करनेका अवकाश होता है। पर इस विचारमें बह न जाओ कि शून्य मनके भीतर जो कुछ भी आये सब संबोधिमय ही होगा। कोई भी वस्तु कोई भी बढ़िया विचार भीतर आ सकता है। व्यक्तिको जागरूक रहना होगा और आगन्तुकके परिचय-पत्रकी जांच करनी होगी। दूसरे शब्दोंमें मानसिक सत्ताको वहां नीरव किन्तु जाग्रत, निष्पक्ष पर विवेकयुक्त बनना होगा। तथापि जब तुम सत्यकी खोज करते हो तो ऐसा ही होता है। जहांतक कविताका प्रश्न है उसमें इतना अधिक करनेकी जरूरत नहीं होती। उसमें केवल आगन्तुक के कवित्वके गुणकी जांच पड़ताल करनी होती है और वह तब की जा सकती है जब वह अपना पुलिन्दा छोड़ जाय — उसके परिणामों द्वारा।

*

चीजें इसी ढंगसे आती हैं, केवल व्यक्तिका ध्यान ही उधर नहीं जाता। विचार, भाव, बढ़िया सूझें आदि-आदि चारों ओर (विचार तरंगोंमें या अन्य रूपोंमें) घूम रहे होते हैं, ये एक ऐसे मनकी खोज कर रहे होते हैं जो उन्हें

शब्द देह दे सके। एक मन उन्हें पकड़ता है, देखता है और त्याग देता है, दूसरा उसे पकड़ता है, देखता है और स्वीकार कर लेता है। दो भिन्न मन एक ही विचार रूप या विचार-तरंगोंको पकड़ते हैं परन्तु क्योंकि उनके मानसिक व्यापार परस्पर भिन्न होते हैं इसलिये वे उनसे भिन्न परिणाम निकालते हैं। अथवा यदि वह किसीके पास आता है और वह उसका कुछ नहीं करता तो वह यह कहता हुआ सटक जाता है "ओहो, यह कैसा आलसी जीव है"। और दूसरेके पास जाता है जो उसका चटसे स्वागत करता है तथा अन्तःप्रेरणा, ज्ञानालोक अथवा मौलिक खोज या सर्जनके उल्लासके हर्षोद्गारके साथ सुस्थिर अभिव्यंजनाका रूप धारण कर लेता है और उसे ग्रहण करनेवाला गर्वके साथ चिल्ला उठता है "यह मैंने, हां, मैंने ही किया"। जनाब, यह अहंकार है अहंकार! तुम उसके ग्रहीता हो, चाहो तो कह सकते हो उसे सीमित करनेवाले माध्यम — इससे अधिक कुछ नहीं।

*

पहली बात तो यह है कि ये विचार-तरंग, विचार-बीज या विचार रूप या वे जो कुछ भी हों — इन सबका अलग-अलग मूल्य है और वे चेतनाके विभिन्न स्तरोंसे आते हैं। एक ही विचार-तत्व उच्चतर या निम्नतर स्पन्दनोंको चेतनाकी उस भूमिकाके अनुसार (उदाहरणार्थ चिन्तनशील, प्राणिक, भौतिक और अवचेतन मनके अनुसार) ग्रहण कर सकता है जिसके द्वारा विचार अन्दर आते हैं या चेतनाकी उस शक्तिके अनुसार जो उन्हें पकड़कर एक या अन्य मनुष्यके मस्तिष्कमें धकेल देती है। इसके अलावा प्रत्येक मनुष्यमें एक मानसिक उपादान होता है और अन्दर आनेवाला विचार अपने रूप बदलनेके लिये (हम साधारणतः इसे प्रतिलेखन कहते हैं) उसका उपयोग करता है, किन्तु यह उपादान एक मनमें दूसरेकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म या स्थूल, सबल या निर्बल आदि-आदि होता है। और प्रत्येकमें प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूपसे एक मानसिक ऊर्जा भी होती है जो अलग-अलग होती है और यह मानस-ऊर्जा विचारके अपने आदानमें आलोकमय या अन्धकारमय, सात्विक, राजसिक या तामसिक हो सकती है जिसके परिणाम भी प्रत्येक व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न होते हैं।

*

ये (वैश्व मनके विचार) मनमें तब शब्दरूप धारण करते हैं जब वे

उसमें प्रवेश करते हैं — पर यदि वे निरी विचार शक्तियोंके रूपमें नहीं बल्कि किन्हीं सत्ताओसे आये हों तो बात दूसरी है।

*

यह गलत मानसशास्त्र है। शब्दोंके बिना भी विचारका अस्तित्व हो सकता हे। बच्चोंको भी विचार आते हैं, पशुओंको भी — विचार शब्दोंसे भिन्न कोई अन्य रूप भी ग्रहण कर सकते हैं। विचारात्मक बोध पहले आते हैं — फिर भाषा विचार बोधोंको व्यक्त करनेके लिये आती है और स्वयं नवीन विचारोंकी ओर ले जाती है।

II

मानसिक ज्ञानसे नहींके बराबर लाभ होता है सिवाय इसके कि यह कभी-कभी प्रस्तावनाके रूपमें उस यथार्थ ज्ञानकी ओर संकेत करता है जो पदार्थ सम्बन्धी सीधी चेतनासे आता है।

*

ज्ञानको ऊपरसे प्राप्त करना और मन द्वारा सामर्थ्यानुसार पाना, क्या एक ही बात है? यदि मन समर्थ हो तो उसे ऊपरके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, यह अपनी महत्ता द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

*

मानसिक ज्ञान आवश्यक नहीं बल्कि आवश्यक है चैत्यबोध या चेतनामें प्रत्यक्ष बोध। मानसिक ज्ञानको प्राणिक चालाकियां सदा ही तिमिराच्छन्न कर सकती है।

*

यह (ज्ञानकी महत्तर पूर्णता) और आगे विकासके द्वारा तथा एक अन्य प्रकारके ज्ञानकी क्रिया द्वारा आ सकती है, जो ज्ञान अपने-आपको भौतिक

सत्तामें संचारित करता है तथा मनके सभी भागोंके व्यापारोंको क्रमशः अपने हाथमें ले लेता है।

*

ज्ञान अज्ञानसे सदा ही श्रेष्ठ होता है। यह यदि तत्क्षण नहीं तो बादमें भी वस्तुओंको साध्य बनाता है जब कि अज्ञान सक्रिय रूपसे बाधा उपस्थित करता है तथा मार्गभ्रष्ट करता है।

*

ज्ञान विभिन्न प्रकारके होते हैं। उनमेंसे एक है अन्तःप्रेरणा, उदाहरणार्थ, कोई वस्तु जो ज्ञानकी भूमिकाओंसे एक चमकके रूपमें आकर मनको सत्यके प्रति एक ही क्षणमें उद्घाटित कर देती है। यह है अन्तःप्रेरणा। यह सहज ही शब्दोंका रूप तब धारण करती है जब कोई कवि या वक्ता, जैसा कि लोग कहते हैं, अन्तःप्रेरणासे लिखता या बोलता है।

*

विचार पर्याप्त नहीं है। यह केवल अधूरा प्रकाश देता है—तुम्हें विचार और पदार्थ दोनोंके पीछे रहनेवाले समग्र सत्यको एक साथ प्राप्त करना होगा। सत्ता, चेतना और शक्ति, ये त्रिविध रहस्य है।

*

विचारमें एक शक्ति है—एक ऐसी शक्ति जिसका आकार होता है विचार। और फिर विचार शक्ति और शब्दके पीछे वह वस्तु स्थित होती है जिसे हम आत्मा कहते हैं, अर्थात् एक ऐसी चेतना जो शक्तिको उत्पन्न करती है।

*

समस्त चेतना उस एक ही चेतनासे आती है—ज्ञान भागवत चेतनाका

एक पक्ष है।

*

यह (आध्यात्मिक ज्ञान) सत्यका एक ऐसा सचेतन अनुभव है जिसे हम आन्तरिक रूपसे देखते हैं, अनुभव करते हैं और जीवनमें धारण करते हैं एवं यह वस्तुओंके गूढ़ार्थका (बुद्धिकी अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और ठोस) वह आध्यात्मिक बोध भी है जो अपनेको विचार और वाणीमें व्यक्त कर सकता है पर स्वयं उनसे स्वतन्त्र है।

*

मैं तुम्हारे उच्चतर चेतनाके अनुभवोंके सम्बन्धमें सब पदार्थोंमें श्रीमांको देखनेके विषयमें चर्चा कर रहा था—यही वे अनुभव हैं जो आध्यात्मिक उपलब्धियां, आध्यात्मिक ज्ञान कहलाते हैं। उपलब्धियां ज्ञानका सार तत्व होती हैं; उनके सम्बन्धमें विचार और शब्दों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति एक अल्पतर ज्ञान है और यदि ये विचार अनुभव या उपलब्धिसे रहित और महज मानसिक हों तो आध्यात्मिक अर्थमें उन्हें ज्ञान जरा भी नहीं माना जाता।

*

मन अपने उच्चतर भागमें इस सम्बन्धमें सचेतन होता है कि वह सब अवस्थाओंमें और सब वस्तुओंमें भगवान्के साथ एक होता है—इस परम ज्ञानको धारण करता हुआ यह निम्नतर करणात्मक अंगोंमें अपने ही अज्ञान और दुर्बलतासे विचलित नहीं होता; किन्तु यह इन सब वस्तुओंको मुस्कराता हुआ देखता है और सर्वोच्च ज्ञानके प्रकाशके कारण प्रसन्न और आलोकित रहता है।

आध्यात्मिक खोज करनेवालेके लिये भगवान्के साथ मिलनकी चेतना ही सर्वोच्च ज्ञान है।

*

हां ऐसा ही होता है। उपलब्धिका एक ही स्पर्श उच्चतर मनके ज्ञानको

या आलोकित मनके ज्ञानके प्रवाहको चालू करनेके लिये पर्याप्त है।

*

ऐसा नहीं होने देना चाहिये कि ये प्रश्न (उच्चतर ज्ञानके) प्रवाहको रोक दें। बादमें व्यक्ति उनपर विचार कर सकता है और उनका उत्तर पा सकता है। जो भी ज्ञान आता है वह अपनी व्यंजनामें अनिवार्य रूपसे समग्र या पूर्ण हो ही ऐसी बात नहीं; किन्तु इसे मुक्त रूपसे आने देना होगा और उनमें परिवर्तन या संशोधन बादमें भी किये जा सकते हैं।

*

पहले-पहल सतत रूपसे न तो ज्ञान न कोई अन्य वस्तु ही आती है— और यदि वह वहां हो तो भी व्यक्ति यह आशा नहीं कर सकता कि वह हमेशा सक्रिय रहेगी। ऐसा तो आगे जाकर ही होता है।

*

जिस वस्तुको बाहर निकालना है वह है अहंकार। ज्ञान तबतक अवश्य ही सीमित रहेगा जबतक ऊपरसे अधिकसे अधिक पूर्ण विशालता नहीं आयेगी; पर इसकी कोई परवाह नहीं।

*

तुम्हारा मन अति सक्रिय है। यदि यह अधिक शान्त और कम शंकाशील, तर्क करनेवाला और अधीरता पूर्वक उपायोंको ढूंढ़नेकी कामना करनेवाला होता तो मुझे लगता है कि तुम्हारे अन्दर ज्ञानको उतरनेके लिये और संबोधिमय एवं अ-बौद्धिक चेतनाके विकासके लिये अधिग अवसर होता।

*

जब तक बाह्य मन शान्त नहीं हो जाता तबतक संबोधिका विकास संभव नहीं। इसलिये जब तक इस मानसिक क्रियाके बावजूद संबोधि विकसित नहीं

हो जाता तब तक यदि तुम बुद्धिसे पर वस्तुओंके विषयमें बौद्धिक प्रश्न पूछते रहना चाहोगे तो तुम्हें अनन्त कालतक यह करते रहना होगा।

*

इन सब प्रश्नोंको भौतिक मन ही उठाता है और वह इन्हें समझ नहीं सकता, न उनका सही जवाब ही दे सकता है। यथार्थ ज्ञान और समझ केवल तभी आ सकते हैं जब तुम क्षुद्र भौतिक मन द्वारा प्रश्न पूछना बन्द कर दो और अपने अन्दर विद्यमान गभीरतर एवं विशालतर चेतनाको बाहर आकर विकसित होने दो। तुम तब अपने-आप ही सच्चा उत्तर और सच्चा पथप्रदर्शन प्राप्त करोगे। तुम्हारी गलती यह है कि तुम आन्तरिक चेतनाके विकासपर एकाग्र होनेके स्थानपर बाह्य मन और उसके विचारों एवं प्रत्यक्ष बोधोंको बहुत अधिक महत्व देते हो।

*

किसी भी प्रकारकी वस्तुके सम्बन्धमें हजारों प्रश्न पूछे जा सकते हैं किन्तु उनके जवाबके लिये एक बड़े पोथेकी आवश्यकता होगी और उसपर भी मन कुछ नहीं समझ पायेगा। स्वयं चेतनाके विकसित होनेपर ही तुम इन वस्तुओंके सम्बन्धमें किसी सीधे प्रत्यक्षबोधको प्राप्त कर सकते हो। किन्तु इसके लिये मनको शान्त होना होगा और एक प्रत्यक्ष अनुभव और संबोधिको उसका स्थान ग्रहण करना होगा।

*

जब तुम सच्ची संबोधि भूमिकाको प्राप्त कर लेते हो तो साधना करनेके सम्बन्धमें निर्देश पाने या प्रश्न पूछनेकी आवश्यकता न रहेगी। सम्बोधिके प्रकाशमें साधना अपने-आप चलती रहेगी।

*

हमेशा ऐसा ही होता है। साधनाके सम्बन्धमें कही गई बातें — या किसी भी प्रकारका यथार्थ सत्य — चेतना और अनुभवके विकासके साथ

सदा ही अधिक अर्थ देने लगती हैं। इसीलिये जब व्यक्तिकी चेतनाका स्तर उन्नत हो जाता है तो मनमें पहले देखे गये सत्य सदैव नवीन और विशालतया गम्भीर बन जाते हैं।

*

हमेशा एकमात्र शान्ति और शक्तिको ही कार्य करने देना चाहिये और मनको वस्तुओंके पीछे दौड़ने और विक्षुब्ध होने देना नहीं चाहिये। मनके सारे मूल्य अज्ञानके बनाये हैं—जब चैत्य पुरुष आगे आता है तभी तुम्हें सच्चा ज्ञान मिलता है—क्योंकि तुम्हारे चैत्य पुरुषको ही ज्ञान होता है।

*

हां, यही बात है। प्राणिक कामनाओं और अपनी मानसिक रचनाओंसे अनुशासित साधारण मन समझ नहीं सकता—इसे शान्त हो जाना होगा और शान्ति एवं शक्तिको कार्य करने देना होगा जिससे वह इसमें सच्चे प्रकाश-के साथ अन्य चेतनाको ले आये। यह हो जानेपर इन प्रश्नों और उनकी प्रति-क्रियाओंके लिये कोई स्थान नहीं रह जायगा।

*

तुम्हें केवल चेतनाको विकसित होने देना है—पहले पहल भूलें होंगी और साथ ही सच्चे विचार भी आयेंगे पर जब पर्याप्त विकास हो जायगा और माताजीकी शक्ति और ज्ञान तुममें सीधा कार्य करने लगेंगे तो चीजें अधि-काधिक ठीक होने लगेंगी — केवल इतना ही नहीं; किन्तु तुममें निश्चयात्मकता भी आयेगी। अभी तो तुममें पुराने भौतिक मनका इतना अधिक अंश है कि प्रत्यक्ष बोध हमेशा यथार्थ नहीं हो सकते। जैसे-जैसे शान्ति और शक्ति भौतिक चेतनापर प्रत्यक्ष और पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करती जायेगी वैसे-वैसे यह बदलता जायगा और चेतना अधिक असंदिग्धरूपमें और महत्तर प्रकाशके साथ विकसित होती जायगी।

*

अपने अन्दर पीछे हटकर शक्ति और शान्तिके सच्चे वेदनको प्राप्त करो—समझ वेदन और अनुभूतिके विकासके साथ बढ़ती जायगी। क्योंकि शक्ति और शान्तिके साथ हमेशा प्रकाशका कोई अंश आता ही है और यह मनको आलोकित करनेवाला ऐसा प्रकाश है जो समझको भी लाता है। जब तक तुम अप्रकाशित मनके द्वारा समझनेकी चेष्टा करोगे तब तक भूलें और समझका अभाव अनिवार्य रहेगा।

III

भौतिक मनका यह स्वभाव है कि वह अतिभौतिक वस्तुओंपर तबतक विश्वास नहीं करता या उन्हें स्वीकार नहीं करता जबतक यह आलोकित नहीं हो जाता और प्रकाश द्वारा ऐसा करनेके लिये बाध्य नहीं हो जाता। इस मनके साथ अपनेको तदाकार न करो, इसे तुम अपना निजी रूप न समझो; बल्कि प्रकृतिका केवल एक अज्ञानमय व्यापार मानो। इसमें प्रकाश लानेके लिये तबतक पुकार करो जबतक यह इसपर विश्वास करनेके लिये बाध्य न हो जाय।

*

हां, यह (भौतिक मन) तर्क करता है, किन्तु अधिकतर बाह्य सामग्रीके आधारपर ही—वस्तुओंके उस स्वरूपके आधारपर जैसा कि वह बाह्य मन और इन्द्रियोंको या उन अभ्यस्त विचारोंको प्रतीत होता है जिनका यह आदी है या जैसा वह निरे बाह्य ज्ञानको दिखाई देता है।

*

यह (भौतिक मन) समझ-बोधका और भौतिक वस्तुओंपर व्यवस्थित क्रिया करनेका साधन है। इसे केवल अन्धकार और अज्ञानमय और टटोलने-वाला, जैसा कि वह अब है—होनेके स्थानपर, या फिर बाह्य ज्ञान द्वारा संचालित होनेकी जगह भगवान्‌के सम्बन्धमें सचेतन होना होगा और भौतिक जगत्‌के साथ अपना सम्पर्क और बोधमय एकता रखते हुए आन्तर प्रकाश, संकल्प, और ज्ञानके अनुसार कार्य करना होगा।

*

इसका अर्थ यह है कि बाह्य भौतिक मनके भीतर एक प्रकारका अन्धकार है जो ज्ञानको बाहर आनेसे रोकता है। बाह्य भौतिक मनका यह अन्धकार विश्वव्यापी है—तुम इसे इस समय इसलिये अधिक अनुभव करते हो क्योंकि विरोध अब भौतिक चेतनामें ही केन्द्रित हुआ है। ज्यों ही शक्ति-मन और प्राणके द्वारा नीचे उतरकर भौतिक प्रकृतिपर सीधा कार्य करनेमें समर्थ हो जायगी त्यों ही यह चला जायगा।

*

तुमने जिसका अनुभव किया था वह बाह्य भौतिक मन और प्रकृतिका (कण्ठ चक्र इस बाह्य मनका केन्द्र है) अज्ञानान्धकार था। जबतक यह अज्ञान उसमें रहता है तबतक बाह्य प्रकृति और क्रिया हमेशा जैसी ही बनी रहती है और इसमें तथा आन्तरिक आध्यात्मिक चेतना और अनुभवमें कोई मेल नहीं होता। केवल एक अनुभवसे ही यह समाप्त नहीं हो सकता; परिवर्तित होनेके लिये एक स्थिर संकल्पका होना आवश्यक है।

*

तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। कोई व्यक्तिगत प्रयत्न इन वस्तुओंको सिद्ध नहीं करा सकता; इसीलिये हम तुम्हें शान्त रहने और शान्ति एवं शक्तिको कार्य करने देनेके लिये कहते हैं। समझका जहांतक प्रश्न है यह तुम्हारा भौतिक मन है जो समझना चाहता है परन्तु भौतिक मन स्वयं अकेला इन बातोंको समझनेमें असमर्थ है—क्योंकि उसके पास न तो इन चीजोंका ज्ञान ही है और न इन्हें जाननेका साधन ही। इसके मापदण्ड भी सच्चे ज्ञानके मापदण्डोंसे बिलकुल भिन्न हैं। भौतिक मन बस यही कुछ कर सकता है कि वह शान्त रहे और अपने अन्दर प्रकाशको आने दे तथा उसे स्वीकार करे न कि उसमें विचारोंको बलात् ड़ाल दे। तभी वह उत्तरोत्तर ज्ञानको प्राप्त करेगा। वह इसे इस ढंगसे नहीं प्राप्त कर सकता; इसे समर्पण करना ही होगा।

*

बाह्य वस्तुओसे व्यवहार करनेका काम बाह्य भौतिक मनका है—इसीलिये वह सदा ही उनमें व्यस्त रहना चाहता है। इसे सीखना है शान्त रहना

और केवल तभी कार्य करना जब कि संकल्प उसका उपयोग करना चाहे अर्थात् जब उसकी सचमुचमें आवश्यकता हो — और केवल उसी पर कार्य करना जिसके साथ संकल्प कार्य करना चाहता हो न कि अव्यवस्थित ढ़ंगसे इधर-उधर दौड़ते रहना। जब यह शान्त हो जाता है तो भीतर जा सकता है और आन्तरिक भौतिक चेतनाके साथ संस्पर्श एवं एकत्व प्राप्त कर सकता है। विशालता एवं शान्ति अपने बढ़नेके साथ-साथ भौतिक मनको अचंचल बनाने के लिये भी बहुत कुछ कर सकती है और गभीरतर कर्मके लिये उसे एक आन्तरिक उद्‌गम प्रदान कर सकती है।

*

तुमने अब जो देखा है और जिसका अपने पत्रमें वर्णन किया है वह उस भौतिक मनका सामान्य व्यापार है जो साधारणतः, अभ्यासगत और सतत लौटकर आनेवाले विचारोंसे पूर्ण है और हमेशा बाह्य विषयों और प्रवृत्तियोंमें व्यस्त रहता है। तुम्हें जो परेशान किया करता था वह प्राणिक मन था जो इससे भिन्न है,—क्योंकि वह सदा भावावेगों, आवेशों, कामनाओं, जीवनके संपर्कोंके प्रति सब प्रकारकी प्रतिक्रियाओं और अन्य लोगोंके साथ होनेवाले व्यवहारमें संलग्न रहता है। भौतिक मन भी इन वस्तुओंको प्रत्युत्तर दे सकता है किन्तु भिन्न प्रकारसे — इसकी प्रकृति कामनाकी अपेक्षा अभ्यस्त क्रियाओं, छोटी-मोटी सर्व सामान्य अभिरुचियों और सुख दुःखकी ओर अधिक झुकी होती है। यदि व्यक्ति इसके नियंत्रण या दमनकी चेष्टा करे तो यह अधिक सक्रिय हो जाता है।

इस मनके साथ व्यवहार करनेके लिये दो वस्तुएं आवश्यक हैं, 1. इसपर नियन्त्रण करने या इसके साथ युद्ध करने या इसे दबानेकी चेष्टा करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक इससे पीछे हटकर स्थित होना : व्यक्ति उसका निरीक्षण करता है और देखता है कि वह क्या है किन्तु मनके पृष्ठ भागमें शान्त और पृथक् रहते हुए इसके विचारोंका अनुसरण करनेसे या जिन वस्तुओंका वह पीछा करता है उनमें इधर-उधर दौड़ते रहनेसे इनकार करता है; 2. इस पृथक्तामें तबतक अचंचलता और एकाग्रताका अभ्यास करना जबतक अचंचल रहनेकी आदत भौतिक मनपर अधिकार नहीं कर लेती और इन क्षुद्र प्रवृत्तियोंकी आदत-का स्थान नहीं ले लेती। अवश्य ही इसमें समय लगता है और यह केवल अभ्यास करनेसे ही आ सकता है। इसलिये तुमने जो कुछ करनेका विचार किया है वह सही चीज है।

*

इससे (विचारोंकी अभ्यासगत क्रियासे) अपने-आपको विलग कर लो —अपने मनको इससे बाह्य बना लो, इसे कोई ऐसी वस्तु बना लो जिसे तुम उसी प्रकार देख सको जैसे कि तुम गलीमें होनेवाली घटनाओंको देखते हो। जबतक तुम ऐसा नहीं कर लेते तबतक तुम्हारे लिये मनका अधिष्ठाता होना कठिन है।

*

बिलकुल ठीक। किन्तु वह सर्वसामान्य अनुभव है—यह असाधारण बात है कि भौतिक मनपर इस तथ्यका भास होनेमें कितना लम्बा समय लग जाता है कि करने योग्य सीधी-सादी चीज क्या है।

*

स्थूल मनपर चैत्य पुरुषका बहुत बड़ा प्रभाव हो सकता है, क्योंकि वह उसे सही मनोभाव और चीजोंकी ओर देखनेका सही तरीका दे सकता है जिसमें कि वह भावात्मक सत्ताको उसकी अभीप्सा, उसके प्रेम और समर्पणमें सहारा देने लगे और स्वयं भी चीजोंके केवल बाहरी पक्षको देखने और मिथ्या अनुमानों तथा रूपोंका अनुसरण करनेके बदले उनके आन्तरिक सत्यमें रुचि, विश्वास और अन्तर्दृष्टि रखने लगे। स्थूल मनके जो प्रमुख दोष होते हैं—संकीर्णता और संशय—उनसे छुटकारा पानेमें भी चैत्य पुरुष सहायता कर सकता है।

*

चैत्य पुरुष यदि स्थूल मन और प्राणिक स्थूल सत्ताको पकड़ ले तो वह उनकी इच्छा, दृष्टि और दिशाको पूरी तरह बदल सकता है और उन्हें वस्तुओंकें सच्चे ज्ञान तथा सच्चे आवेगकी ओर खोल सकता है। मन और उच्चतर प्राण इस विषयमें बहुत सहायता कर सकते हैं।

*

जब स्थूल मन प्राणके द्वारा अशान्त कर दिया जाता है तब आसानीसे उसे विश्वास नहीं दिलाया जा सकता, क्योंकि उसे तर्ककी सामग्री मिलती

है प्राणसे और प्राण सोचता है अपनी ही कामनाओं और अपने ही भावोंके द्वारा — जब चैत्यसे या ऊपरके चिन्तनशील मनसे कोई बड़ी स्पष्टता रक्षा करनेके लिये आ जाती है तब बात दूसरी होती हैं।

जिन लोगोंकी बात तुमने लिखी है उनमेंसे कुछ लोगोंको चैत्य चेतना ही सहारा देती और उनके विश्वासको बनाये रखना उनके लिये आसान बनाती है। यह चेतना अभी पूर्ण तो नहीं है फिर भी भली भांति विकसित है — किन्तु उनके अन्दर यह विकास बहुत प्राणिक कठिनाईके बाद ही हुआ है — और इसका कोई कारण नहीं कि तुम्हारे अन्दर भी यह विकास तेजीसे न हो।

*

यह (भौतिक मनका संबोधिभावापन्न होना) तब होता है जब वस्तुओंको वैसा देखनेके स्थानपर जैसा कि वे बाह्य मन और इन्द्रियोंको प्रतीत होती हैं मनुष्य उनके (मन और इन्द्रियोंके) चारों कोरकी वस्तुओंको सूक्ष्मतर भौतिक मन और इन्द्रियसे देखने लगता है — उदाहरणार्थ जब वह सहज बोधात्मक रूपसे यह देखने लगता है कि क्या करना है, उसे कैसे करना है, पदार्थ (यहां तक कि तथाकथित जड़ पदार्थ भी) क्या चाहता है या उसे क्या जरूरत है, बहुत करके आगे क्या होनेकी सम्भावना है (या कभी-कभी तो यह भी कि निश्चित रूपसे क्या होनेवाला है), भौतिक भूमिकापर किन शक्तियोंकी क्रीड़ा हो रही है आदि-आदि। स्वयं शरीर भी इस प्रकार सहज बोधात्मक ढंगसे सचेतन हो जाता है, कि मनके द्वारा कहे गये बिना ही वह इस बातका अनुभव कर लेता है कि उसे क्या करना है, किस बातसे बचना है, कौन उसके पास है या पास आ रहा है (यद्यपि वह दीखता नहीं) आदि-आदि।

*

अवश्य ही। यह (बदला हुआ भौतिक मन) उसपर (भौतिक प्राणपर) सच्ची वृत्ति और भावको बलात् आरोपित कर सकता है, गलत सुझावों और प्रेरणाओंके प्रवेशको अधिक कठिन बना सकता है और सच्ची क्रियाओंको पूर्ण शक्ति प्रदान कर सकता है। भौतिक मनकी यह क्रिया समग्र भौतिक, यहांतक कि स्थूलसे स्थूल चेतनाके भी परिवर्तनके लिये अनिवार्य है, यद्यपि इसके लिये अवचेतन का आलोकित होना अनिवार्य है।

IV

जो व्यक्ति साधना करना चाहता है उसे साधनाको प्रथम स्थान देना होगा — पठन और मानसिक विकास क़ेवल गौण वस्तुएं ही हो सकती हैं।

*

साधनामें मानसिक विकास मदद दे सकता है और नहीं भी — यदि मन किन्हीं तर्कवादी पद्धतियोंके आधारपर अत्यधिक बौद्धिक रूपसे विकसित हो तो वह बाधक भी बन सकता है।

*

मुझे नहीं मालूम कि यह (मानसिक कार्य) साधनामें सहायक होता है या नहीं और मैं ठीकसे नहीं समझता कि इस उक्तिका क्या आशय है। तथ्य यह है कि भौतिक कर्मकी तरह मानसिक कर्मको भी साधनाका अंग बनाया जा सकता है,—साधनाके प्रतिद्वन्दीके रूपमें नहीं, न ही एक ऐसी क्रियाके रूपमें जिसके अधिकार साधनाके समान हों और जो भगवान्‌की खोजकी अपेक्षा स्वार्थमय तथा कम अहंकारपरायण हो।

*

यह स्पष्ट है कि साधनाका स्थान कविता नहीं ले सकती; यह केवल उसकी संगत कर सकती है। यदि उसमें (भक्ति, समर्पण आदिका) भाव हो तो यह उसे व्यक्त और पुष्ट कर सकती है; यदि व्यक्तिको कोई अनुभव हो तो वह अनुभवकी शक्तिको व्यक्त एवं सुपुष्ट कर सकती है। उपनिषदों या गीता जैसे ग्रन्थोंको पढ़ने या भक्तिपूर्ण गीतोंको गानेकी तरह यह भी विशेषतः किसी एक या अन्य अवस्थामें सहायता दे सकती है। यह बाह्य चेतना और आन्तर मन या प्राणके बीचके मार्गको भी खोलती है। किन्तु यदि व्यक्ति वहीं रुक जाय तो कोई खास प्राप्ति नहीं होती। साधना अवश्य ही मुख्य वस्तु होनी चाहिये और साधनाका अर्थ है प्रकृतिका शोधन, सत्ताका निवेदन, चैत्यका और आन्तर मन एवं प्राणका उद्घाटन, भगवान्‌का संस्पर्श और उनकी उपस्थिति, सब पदार्थोंमें भगवान्‌का साक्षात्कार, समर्पण, भक्ति, चेतनाका वैश्वचेतनामें,

सर्वगत एकमेव आत्मामें विस्तार, प्रकृतिका चैत्य और यदि इन वस्तुओंकी उपेक्षा की जाय और केवल कविता, मानसिक विकास और सामाजिक सम्बन्ध ही तुम्हारा सारा समय ले लें तो यह साधना नहीं है। और कविता भी सच्चे भावमें लिखनी होगी, यश या स्वान्तः—सुखके लिये नहीं; किन्तु भगवान्के साथ अभीप्सा द्वारा संयुक्त होनेके लिये या व्यक्तिकी अपनी आन्तर सत्ताकी अभिव्यक्तिके साधनके रूपमें जैसी कि प्राचीन कालमें उन लोगों द्वारा लिखी गई जो अपने पीछे भारतमें भक्ति-प्रधान और आध्यात्मिक-भावसे पूर्ण इतना अधिक काव्य छोड़ गये; यदि यह केवल पश्चिमी कलाकार या साहित्यकारकी भावनामें लिखी गई हो तो भी इससे कुछ बनता नहीं। यहांतक कि कर्म या ध्यान भी तबतक सफल नहीं हो सकते जबतक वे एक ऐसे आत्म-निवेदन और आध्यात्मिक अभीप्साके सम्यक् भावमें न किये जाये जो समग्र सत्ताको अपने अन्दर ले लें और अन्य सब भागोंपर अधिकार कर लें। यहां रहनेवाले अधिकतर साधकोंमें यही कमी है कि वे समग्र जीवन और प्रकृतिको इस प्रकार समाविष्ट नहीं कर सकते और उसे एकमात्र लक्ष्यकी ओर नहीं मोड़ सकते। यही वस्तु वातावरणको निम्नस्तरपर ले आती है और मेरे द्वारा एवं माताजीके द्वारा किये जा रहे कार्यमें बाधक बनी हुई है।

*

स्वाध्याय साधना जितना या उसकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

*

यदि साधकमें लम्बे समयतक ध्यान करनेकी शक्ति हो तो वह स्वभावतः ही तबतक ध्यान करेगा और पुस्तक पढ़नेकी परवाह नहीं करेगा — जबतक वह उस भूमिका तक न पहुँच गया हो जिसमें प्रत्येक वस्तु यौगिक चेतनाका ही अंग होती है क्योंकि यह स्थायी होती है। साधकका लक्ष्य साधना ही है न कि मानसिक विकास। किन्तु यदि उसके पास खाली समय हो तो जिन लोगोंका मानसिकताकी ओर झुकाव होता है वे स्वभावतः इसे पढ़नेमें या किसी प्रकारके स्वाध्यायमें लगायेंगे।

*

जो लोग ध्यान और काम दोनों कर सकते हैं उनके लिये इस योगमें ये दोनों ही सहायक होते हैं। स्वाध्यायको भी सहायक बनाया जा सकता है।

*

दिनमें आधे घण्टेका ध्यान करना सम्भव होना चाहिये — यदि चेतनामें ऐसी एकाग्र होनेकी आदत लानी हो जो पहले तो कर्मके समय कम बहिर्मुख होनेमें और, दूसरे, उस ग्रहणशील प्रवृत्तिको विकसित करनेमें सहायक होगी जो कर्ममें अपने परिणाम भी उत्पन्न कर सकती है।

*

हां, साधनाके अंगरूपमें मानसिक विकासके लिये स्वाध्याय किया जा सकता है।

*

साधनाके प्रारम्भमें तुम जो भागवत सत्ताके किसी रूपपर श्रद्धा, भक्ति और सत्यनिष्ठाके साथ 'एकाग्रता' की बात कहते हो उससे अधिक कुछ करनेकी तुम्हें जरूरत नहीं — यदि तुम चाहो तो इसमें प्रार्थना और नाम जप भी जोड़ सकते हो।

मनकी प्रारम्भिक अवस्थामें अच्छी पुस्तकोंका अध्ययन सहायक हो सकता है — वे मनको तैयार करती हैं, उसे सही वातावरणमें ले आती हैं, यदि कोई बहुत संवेदनशील हो तो उसके सामने मानसिक भूमिकापर साक्षात्कारकी कुछ झलकियां भी ला सकती हैं। बादमें जाकर उसकी उपयोगिता कम हो जाती है — तब तुम्हें प्रत्येक प्रकारका ज्ञान एवं अनुभव अपने अन्दर ही खोजना होता है।

*

यह एक बिलकुल सर्व-साधारण क्रिया है। इन पुस्तकोंके अध्ययनके समय तुम इनके पीछे स्थित शक्तिके संस्पर्शमें आ जाते हो और यह संस्पर्श ही तुम्हें बलात् ध्यानकी और उसके अनुरूप अनुभवकी अवस्थामें पहुँचा

देता है।

*

हां, यदि व्यक्तिनें किसी एक प्रकारकी उपलब्धिके विषयमें बहुत विचार किया हो और उसके विचारको उसने गम्भीरतासे पचा लिया हो — तो यह बिलकुल स्वाभाविक है कि उस उपलब्धिका आध्यात्मिक अनुभव आगे आनेवाले प्रारम्भिक अनुभवोंमेंसे एक होगा।

*

भाषाओंको विशेषकर फ्रेंच सीखनेके सम्बन्धमें तुम्हारी आपत्ति यह थी कि यह कार्य शान्ति और नीरवताका विरोधी है क्योंकि उसका आशय मनकी सक्रियता है। मन जब ध्यानमें या पूर्ण नीरवतामें व्यापृत नहीं होता तो सदैव किसी-न-किसी वस्तुके साथ व्यस्त होता है — अपने विचारों या कामनाओं, या अन्य लोगोंमें या वस्तुओंमें या बातचीत इत्यादिमें। इनमेंसे किसी भी वस्तुमें भाषा सीखनेकी अपेक्षा कोई कम सक्रियता नहीं है अब तुम अपनी युक्तिका आधार बदलकर कहते कि आपत्तिका कारण यह है कि भाषाओंके अध्ययनसे हमें ध्यान करनेका समय नहीं मिलता। यह बेकारकी बात है क्यों-कि यदि लोग ध्यान करना चाहें तो उसके लिये वे अपने अध्ययनके समयकी कुछ और व्यवस्था कर लेंगे; यदि वे ध्यान नहीं करना चाहते तो इसका कारण अध्ययनके सिवाय कोई और होगा और यदि वे अध्ययन नहीं करते तो वे 'छोटी-छोटी बातों'के सम्बन्धमें विचारते रहेंगे। उनके ध्यान न करनेका कारण न तो समयका अभाव है और न अध्ययनका दबाव ही।

*

अध्ययन और आन्तरिक नीरवता अच्छी चीजें हैं किन्तु वे सत्ताके केवल एक ही भागको विकसित करती हैं — आन्तरिक नीरवता भी विशालतर कर्म और जीवनको सहारा दे सकती है।

*

यह (अध्ययन) व्यक्तिको यथार्थ भावमें अन्तर्मुख नहीं करता — यह केवल व्यक्तिको बाह्य चेतनाके अधिक भौतिक भागसे अधिक मानसिक भागकी ओर ले जाता है।

*

एक ऐसा समय अवश्य आयेगा जब अध्ययन और साथ ही इसी प्रकारका अन्य कोई भी बाह्य व्यापार उच्चतर चेतनाके दबाव या उसकी क्रियामें दखल नहीं देगा।

*

अध्ययनको इस प्रकार सधाना होगा कि वह अपनेको उच्चतर चेतनाके दबावके अनुकूल बना ले अर्थात् उसे बाह्य मन द्वारा करना होगा जब कि आन्तर सत्ता एकाग्र बनी रहे।

*

यह अच्छा है। ऐसा नहीं होना चाहिये कि अध्ययन चेतनाको निगल जाय — पीछेकी ओर एक विशालतर हिस्सा होना चाहिये जो अनासक्त रहे और विशालतर रूपमें सचेतन भी।

*

अपने अध्ययनके आरम्भमें तुम भगवान्का स्मरण कर सकते हो और उसे भगवान्को अर्पित कर सकते हो और इसी प्रकार समाप्ति पर भी। चेतना-की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें इसका केवल एक ही हिस्सा अध्ययन या कर्म कर रहा होता है और पीछेकी ओर सदैव भागवत चेतना विद्यमान होती है।

*

जब अध्ययन या स्वाध्यायका आवेग मनको अधिकारमें कर लेता है

तो ऐसा ही होता है; व्यक्ति सारा समय इसी काममें लगा देना चाहता है। यह एक ऐसी शक्ति है जो अन्य शक्तियोंकी तरह अपनेको तृप्त करना चाहती है और अपने प्रयोजनके लिये चेतनाको अपने हाथमें कर लेती है। इन शक्तियों-का उपयोग इनके अधिकारमें न आते हुए ही करना होगा; इसके लिये एक ऐसी केन्द्रीय सत्ताका होना आवश्यक है जो अपने पास आनेवाली प्रकृतिकी शक्तियोंको सदा ही अपने नियन्त्रणमें रखे, जो स्वयं इस विषयमें अपनी पसन्दगी-का निर्णय करे कि वह किन वस्तुओंको स्वीकार करेगी, उनका किस प्रकार उपयोग करेगी, उनकी क्रियाको कैसे व्यवस्थित करेगी। अन्यथा प्रत्येक शक्ति व्यक्तित्वके किसी पक्षको (विद्यार्थी, सामाजिक मनुष्य, कामुक व्यक्ति और योद्धा रूपी पक्षको) अधिकारमें कर लेती है और केन्द्रीय सत्ता द्वारा नियन्त्रित और प्रयुक्त होनेके स्थानपर उसे प्रयुक्त और परिचालित करती है।

*

जिन व्यापारोंका तुम वर्णन करते हो वे तुम्हारे ही विशिष्ट व्यापार नहीं है वे तो प्राणिक मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं और अधिकतर लोगोंमें ऐसे ही स्वरूपको धारण करती हैं। साधनामें इस मनको शेष भागकी तरह ही शान्त करना होगा और उसकी ऊर्जाको नियन्त्रित, रूपान्तरित करके समुचित उद्देश्यमें लगाना होगा; किन्तु इसमें समय लगता है और यह केवल बृहत्तर चेतनाके विकासके साथ ही आता है। इसके लिये इन क्रियाओंका दबाव इतना साधारण होता है कि वह मनको अनुत्साहित करनेका पर्याप्त कारण नहीं हो सकता।

मैं नहीं समझता कि तुम्हें अध्ययन बन्द कर देना चाहिये जबतक अध्ययन स्वयं, एक व्यसनके रूपमें, मनसे झड़कर अलग न हट जाय; यह तब होता है जब चेतनाके भीतर उच्चतर कोटिकी चेतना और अनुभूतियां आरम्भ होती हैं। न ही तुम्हारे लिये यह ठीक होगा कि तुम अपनेको केवल चित्रांकनके काममें बलात् लगाये रखो। मन और प्राणको इस तरह बाध्य करना साधारण-तया या तो असफलताकी ओर ले जाता है या उन्हें अधिक चंचल कर देता है या फिर किसी प्रकारकी जड़ता या तमस्‌को उत्पन्न करनेमें सहायक होता है।

कर्म करनेके लिये बस यही अभीप्सा करो कि शक्ति तुम्हारा उपयोग करे, ऐसा करते समय अन्दरसे माताजीके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लो और अपना यह लक्ष्य बना लो कि व्यक्तिगत यश या अन्य लोगों द्वारा

स्तुति या निन्दाकी परवाह किये बिना तुम सौन्दर्यकी अभिव्यक्तिका यन्त्र बनो।

*

जबतक व्यक्ति बाह्य चेतनाके कार्यसे अलिप्त और स्वतन्त्र रहनेवाली अन्तश्चेतना द्वारा (जिस किसी भी विषयपर) लिखनेका आदी न हो जाय तबतक सामान्य विषयोंपर लिखना स्वभावतः ही व्यक्तिको बहिर्मुख किया करता है।

*

एक ही समयमें मानसिक कर्म करना और साधना करना इतना सरल नहीं है, क्योंकि साधना मनके द्वारा ही की जाती है। यदि व्यक्ति मन तथा शरीरसे भी पीछे हट जाय और आन्तरपुरुष-चेतनामें रहने लगे तो यह सम्भव हो सकता है।

*

एकमात्र उपाय है पुरुष और प्रकृतिको एक दूसरेसे पृथक् कर लेना। जब तुम अपने भीतर किसी ऐसी वस्तुका अनुभव करो जो सब मानसिक व्या-पारोंका अवलोकन कर रही हो किन्तु उनसे पृथक् हो — ठीक इसी प्रकार जैसे कि तुम बाहर गलीमें होती हुई वस्तुओंको देख सकते हो — तो यह पुरुषका मानसिक प्रकृतिसे पृथक् होना है।

*

इसका केवल यह आशय है कि तुम अपनी क्रियारत मानसिक चेतनासे अपनेको अलग नहीं कर सकते। स्वभावतः यदि तुम अपनी मानसिक चेतनाको अध्ययनसे हटा लो तो तुम यह नहीं समझ सकते कि तुम क्या पढ़ रहे हो क्योंकि व्यक्ति मानसिक चेतना द्वारा ही समझता है। तुम्हें मानसिक चेतनाको अध्ययनकी क्रियासे अलग नहीं करना है किन्तु अपनेको मानसिक चेतनासे अलग करना है। जैसा तुम अपने शरीरको काम करते या हिलते डुलते देखते हो ठीक इसी प्रकार तुम्हें निरीक्षण करनेवाला एक ऐसा साक्षी बनना होगा

जो इसे पढ़ते या लिखते या बोलते समय अवलोकन कर रहा हो।

V

मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं दीखती कि वह अपना स्वाध्याय जारी रखे,—साधनाके जीवनके लिये उसकी कोई उपयोगिता होगी या नहीं यह उस भावना पर निर्भर करेगा जिस भावनासे वह स्वाध्याय करेगा। वस्तुतः महत्वकी वस्तु है चेतनाकी एक ऐसी भूमिका विकसित करना जिसमें व्यक्ति भगवान्‌में निवास कर सके और वहांसे भौतिक जगत्‌पर कार्य कर सके। एक मानसिक प्रशिक्षण और अनुशासन, मनुष्यों और वस्तुओंका ज्ञान, संस्कारिता, उपयोगी ढंगकी क्षमताएं, ये सब ऐसी तैयारी हैं जिन्हें प्राप्त करना साधकके लिये बहुत ही अच्छा होगा — यद्यपि एकमात्र वही अनिवार्य वस्तु नहीं है। भारतमें शिक्षण इन वस्तुओंको बहुत थोड़ी मात्रामें ही विकसित करता है पर यदि कोई बाह्य रूपकी या निरी शैक्षणिक सफलताकी परवाह किये बिना अध्ययन करना जाने तो इस प्रयोजनके लिये विद्यार्थी जीवनका उपयोग किया जा सकता है।

*

इसके लिये कोई कारण नहीं कि 'क्ष' अपने अध्ययनको पूरा न करे या ऐसी कोई वस्तु न सीखे जो उसे जीवनमें कुछ कामका आदमी बनाये। निकम्मा होना योगके लिये योग्यताका सूचक नहीं।

*

इस जगत्‌की वस्तुओंके विषयमें अज्ञानी होना आध्यात्मिक ज्ञानके लिये सहायक नहीं है।

*

मैं तुम्हें कोई अधिक निश्चित जवाब नहीं दे सकता। अध्ययनका महत्व केवल तभी होता है जब तुम उसे सही ढंगसे और ज्ञान और मानसिक अनुशासनकी वृत्तिसे करो।

*

स्वाध्याय और अध्ययन केवल जानकारी प्राप्त करने और ज्ञात तथ्योंका क्षेत्र विस्तृत करनेके लिये ही उपयोगी होते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति सूक्ष्म निरीक्षण और विवेक करना, निर्णय करना और वस्तुओंके अन्दर और पीछे स्थित सत्यको देखना जानता हो तो वे बिलकुल निरर्थक हो जाते हैं।

*

नहीं, अनिवार्य रूपसे नहीं। यह (तर्कशास्त्रका अध्ययन) एक सैद्धान्तिक प्रशिक्षण है; तुम इसके द्वारा तर्कयुक्त विचारके कुछ नियमोंको ही सीखते हो। पर व्यवहारमें उनका प्रयोग तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर करता है। कोई व्यक्ति ज्ञान या कर्मके किसी क्षेत्रमें सिद्धान्तोंका अच्छा ज्ञाता होनेपर भी हो सकता है कि उन्हें क्रियात्मक रूप देनेमें निपुण न हो। यदि किसी बहुत अच्छे युद्ध विद्याके शास्त्रज्ञ और समीक्षकको सेनाके नियन्त्रणका अधिकार दे दिया जाय तो बहुत सम्भव है कि वह सिद्धान्तोंको ठीक ढंगसे मौकेके अनुकूल बनानेमें असमर्थ होनेके कारण सब लड़ाइयोंमें हार जाय। इसी प्रकार अपने शास्त्रका ज्ञाता तार्किक अपनी क्षमताओंके प्रयोगमें अन्तर्दृष्टिके, प्रत्युत्पन्न बुद्धिके या नमनीयताके अभावमें चिन्तन सम्बन्धी समस्याओंमें घपला पैदा कर सकता है। इसके सिवाय तर्क ही चिन्तनका समग्र रूप नहीं है; निरीक्षण, संबोधि, समवेदना, बहुमुखी दृष्टि अधिक महत्व पूर्ण है।

*

मुझे नहीं मालूम कि तर्कशास्त्र पढ़नेसे मनुष्य भौतिक वस्तुओंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। कुछेक बुद्धिजीवी मनोमय जीवन व्यतीत करते हैं और बहुत हदतक भौतिक आवश्यकताओंके प्रति उदासीन होते हैं, किन्तु ऐसे विरले ही होते हैं।

*

मानसिक शिक्षणमें अध्ययन, वस्तुओंके सम्बन्धमें कुछ सीखना, पूर्ण और ठीक जानकारी प्राप्त करना, अपनेको तर्कात्मक चिन्तनमें प्रशिक्षित करना, किसी भी प्रश्नके सभी पक्षोंपर निष्पक्ष भावसे विचार करना, उतावले या गलत अनुमानों और परिणामोंको अस्वीकार करना, सब वस्तुओंको स्पष्ट और

समग्र रूपसे देखना, सीखना, ये सब बाते मानसिक प्रशिक्षणके अन्तर्गत हैं।

*

प्रसंगवश यह बता देना ठीक होगा कि साधारण बुद्धि तर्कबुद्धि नहीं है (जो कि इस जगत्‌में सामान्य बुद्धिसे बहुत ही कम मेल खाती है), वह है वस्तुओंको बिना बढ़ाये या घटाये उसी रूपमें देखना जैसी कि वे हैं अर्थात् बे-लगाम कल्पनाएं न करना — या इसी प्रकार 'मैं नहीं जानता कि क्यों' —जैसी निराशाओंमें भी न डूबना।

*

सुप्रशिक्षित बुद्धि और अध्ययन, ये दो भिन्न वस्तुएं हैं — ऐसे बहुतेरे लोग होते हैं जिन्होंने बहुत अध्ययन किया होता है किन्तु उनकी बुद्धि सुप्रशिक्षित नहीं होती। तमस् किसी भी व्यक्तिमें आ सकता है यहां तक कि अत्यधिक शिक्षित व्यक्तिमें भी।

*

यह हो सकता है कि किसी मनुष्यने बहुत अध्ययन किया हो और फिर भी वह मानसिक रूपसे विकसित न हो। विचारने, समझने, अपनेसे उत्कृष्ट बुद्धिवालोंसे मानसिक प्रभावोंको ग्रहण करनेके द्वारा ही मनुष्यका मन विकसित होता है।

*

बुद्धि अध्ययनकी मात्रापर निर्भर नहीं करती, यह तो मनका गुण है। अध्ययन केवल उसे अपने काम करनेके लिये सामग्री देता है जैसे कि जीवन भी। ऐसे भी लोग हैं जिन्हें पढ़ना और लिखना नहीं आता किन्तु जो बहुतसे उच्च शिक्षाप्राप्त लोगोंसे अधिक बुद्धिमान होते हैं और जीवन तथा अन्य वस्तुओंको उनसे अधिक अच्छी तरह समझते हैं। दूसरी ओर, एक अच्छी बुद्धि अध्ययनके द्वारा अपनेको उन्नत कर सकती है क्योंकि इस प्रकार उसे काम करनेके लिये अधिक सामग्री मिलती है और वह अभ्यासके द्वारा एवं अपने

विचारके लिये अधिक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त होनेके कारण विकसित होती है। किन्तु पुस्तकीय ज्ञान अपने-आपमें कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, इसका बुद्धिके सहायकके रूपमें प्रयोग किया जाना चाहिये परन्तु यह प्रायः केवल मूर्खता और अज्ञानकी ही सहायता करता है—अज्ञानकी इसलिये कि यदि व्यक्ति तथ्योंके सच्चे आशय न देख सके तो उनका ज्ञान एक निरर्थक वस्तु हो जाता है।

*

ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि मन प्रबल और विकसित हो तो यह अधिक अच्छा है परन्तु विद्वत्ता बलशाली और विकसित मनको उत्पन्न करे ही यह आवश्यक नहीं।

*

बुद्धिजीवियोंके बारेमें उसकी मुख्य शिकायत यह है कि वह मानसिक वस्तुओंकी चर्चासे और उद्दीपनसे वंचित हो गया है और इसलिये उसकी मानसिक शक्तियां पंगु होती जा रही हैं। किन्तु मानसिक जीवन जीनेवाले व्यक्तिको अवश्य ही इसके लिये अन्य वस्तुओंपर आश्रित नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह जीवन अन्तरमें प्रतिष्ठित होता है—भीतर ऐसे स्रोत होने चाहिये जो अपनी ही शक्तिसे प्रवाहित होते हैं।

*

तुम यह कर सकते हो कि समय बितानेके लिये नहीं परन्तु अपने मनको ज्ञानसे विभूषित करनेके स्पष्ट इरादेसे पढ़ो।

*

वही कुछ पढ़ना चाहिये जो योगमें सहायक हो या कर्मके लिये उपयोगी हो या जो दिव्य प्रयोजनके लिये क्षमताओंको विकसित करे। निकम्मी वस्तुओंको या केवल जी बहलावके लिये या ऐसे शौकिया बौद्धिक कुतूहलके लिये नहीं पढ़ना चाहिये जो मानसिक रूपसे चुस्की ले लै कर पीने जैसा है। जब व्यक्ति सर्वोच्च चेतनामें प्रतिष्ठित हो गया होता है तो वह सब कुछ पढ़ सकता है

या फिर कुछ भी नहीं; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता — पर अभी यह बहुत दूरकी बात है।

*

लेखन और अध्ययन मनको तल्लीन बना देते हैं और उसे प्रतिरूपों एवं प्रभावोंसे भर देते हैं; यदि प्रतिरूप एवं प्रभाव सही ढंगके न हों तो वे स्वभावतया सच्ची चेतनासे विमुख हो जाते हैं। यदि व्यक्तिमें सच्ची चेतना पहले ही सुप्रतिष्ठित हो गई हो तभी वह सत्य चेतनाको खोये बिना या अन्य किसी प्रकारकी हानि उठाये बिना कुछ भी लिख-पढ़ सकता है।

*

बाहरके संसारके साथ इस प्रकार सम्पर्कमें रहना आवश्यक नहीं है; किन्हीं परिस्थितियोंमें और किसी प्रयोजनके लिये यह उपयोगी हो सकता है। यह बाधकके रूपमें भी कार्य कर सकता है। सब उस चेतनापर आधार रखता है जिससे यह किया जाता है।

हलके ढंगकी पुस्तकें पढ़ना मानसिक चेतनाके लिये विश्रान्तिका काम दे सकता है। प्रारम्भिक अवस्थाओंमें मनको अखण्ड आध्यात्मिक एकाग्रता एवं प्रयासमें लगाये रखना सदैव सम्भव नहीं होता और वह अन्य व्यवसायोंकी शरण लेता है, यहांतक कि अपनेको हलके फुलके कार्योंकी ओर सहज रूपसे आकृष्ट हुआ अनुभव करता है।

*

यह पढ़ी हुई वस्तुओंके स्वरूपपर निर्भर करता है कि वे सत्ताके विकासमें सहायक हैं या नहीं। कोई सर्वसामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि काव्य या नाटक पढ़ने चाहिये या नहीं — यह तो काव्य और नाटकपर आधार रखता है — इसी प्रकार बाकी चीजोंके विषयमें भी।

*

यह तो पुस्तकके स्वरूपपर आधार रखता है। दर्शन मनको किन्हीं विशेष

दिशाओंमें सूक्ष्म बनाता है—या उसे बनाना चाहिये। यह एकमात्र नुकसान यही कर सकता है कि मन सीधे अनुभवकी ओर अग्रसर होनेके स्थानपर विचारों-से चिपटा रहने लगता है।

*

हां, इन वस्तुओंको पढ़नेका सही तरीका यही है। ये दर्शन अधिकतर ऐसे मानसिक सहज बोध हैं जो बहुतसे अनुमान (अटकल) से मिश्रित होते हैं, किन्तु यदि कोई जान सके तो वह पृष्ठ भागमें उस सत्यको पकड़ सकता है जिससे वे मेल खाते हैं।

*

मैं नहीं जानता कि तुम्हारे दार्शनिक चिन्तनोंमें कोई मिथ्या बात है या नहीं। निस्सन्देह दर्शन मनकी एक सृष्टि है किन्तु इसकी त्रुटि यह नहीं है कि यह मिथ्या है, किन्तु यह कि दार्शनिक मत सत्यका केवल एक खण्ड है जिसे दार्शनिक समग्र वस्तु समझ लेता है। यदि मनुष्य अपनेको उस प्रकार सीमित न कर ले बल्कि सभी पक्षोंपर दृष्टि डाले तो दार्शनिक निरूपणमें कोई नुकसान नहीं है।

*

भागवत सत्य किसी भी मत-मजहब या पन्थ या धर्म-पुस्तक या विचार या दर्शनसे बढ़कर है—इसलिये तुम्हें इनमेंसे किसीके भी साथ अपनेको बांध नहीं लेना चाहिये।

*

मैं इस भाष्यके सम्बन्धमें नहीं जानता, पर उपनिषदोंके बहुतेरे भाष्य तर्क करने और अटकल लगानेवाली बुद्धिसे लिखे गये हैं। यह उन लोगोंके लिये उपयोगी हो सकते हैं जो बुद्धि द्वारा उपनिषदोंका अर्थ खोजनेका यत्न कर रहे हैं—पर अनुभव पानेके लिये यत्नशील साधकके रूपमें, ये तुम्हारे लिये सहायक नहीं हो सकते—बल्कि सच पूछो तो यह मनको सच्चे आधारसे

दूर हटाकर तथा इसे अनुभव एवं आध्यात्मिक ग्रहणशीलताके मार्गसे परे बौद्धिक वाद-विवादकी उलझनमें डालकर गड़बड़ा सकता है।

*

तत्व-विज्ञान वस्तुओंके चरम कारणपर और दृश्य जगत्के पीछे रहनेवाली वस्तुओंपर विचार करता है। मन और चेतनाके सम्बन्धमें वह यह पूछता है कि वे क्या हैं, वे किस प्रकार उत्पन्न हुए, उनका जड़तत्व, प्राण आदिसे क्या सम्बन्ध है। मनोविज्ञान मन और चेतनाके विषयमें विचार करता है तथा उनकी अन्तिम प्रकृति और सम्बन्धोंको उतना नहीं जितना उनके वास्तविक व्यापार एवं उन व्यापारोंके नियम-विधानोंको खोजनेकी चेष्टा करता है।

*

मैं सोचता हूँ कि भौतिक शास्त्रका थोड़ा ज्ञान तुम्हारे लिये अत्यन्त उपयोगी होगा — वह क्षेत्र यहांके रहनेवाले अधिकतर लोगोंके लिये बिलकुल कोरा है, और फिर भी आधुनिक विचार और ज्ञानका बहुत बड़ां अंश इससे प्रभावित है।

*

मैं उपन्यासके सम्बन्धमें ठीक-ठीक नहीं जानता। लोग स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंको इसमें इस लिये ले आते हैं कि उपन्यासको इस धुरीके इर्दगिर्द घुमानेकी आदत सदियोंसे चली आ रही है — सिवाय कुछ ऐसे उपन्यासोंके जो इतिहास या साहसकार्य अथवा ऐसी दूसरी वस्तुओंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। आध्यात्मिक दर्शनपर आधारित उपन्यासमें क्या स्त्री-पुरुषके विचारको पृष्ठभूमिमें हट जाना या लुप्त हो जाना नहीं चाहिये, क्योंकि आध्यात्मिक प्रेममें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती जो यौन-वृत्तिपर जरा भी आश्रित हो, वह तो एक आत्माके साथ आत्माके सम्बन्धपर आश्रित है?

*

इन चीजोंको पढ़नेमें केवल यह नुकसान है कि प्राण उसे यौन उत्तेजना-

के लिये एक बहाना बना लेता है। अन्यथा ज्ञानके लिये पढ़नेमें कोई नुकसान नहीं। जीवनके तथ्योंको जानना ही होगा, और हमें उन्हें स्वतन्त्र और निष्पक्ष मनसे सीखना चाहिये। किन्तु यदि कोई प्राणिक प्रतिक्रिया हो तो ऐसे अध्ययनसे बचना चाहिये।

*

जगत्‌में क्या हो रहा है यह जानना यौगिक जीवनके सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है — अयौगिक बात है इनमें आसक्त हो जाना, इनके बिना न रह सकना, प्रमुख महत्वकी वस्तुके रूपमें उनका विचार करना। सर्वाधिक महत्वकी वस्तु होनी चाहिये साधना, नवीन चेतनामें और नवीन जीवनमें विकसित होना। शेष बातें अनासक्तिके साथ और उनमें निमग्न हुए बिना करनी होगी। अवश्य ही यह भाव ऐसा होगा कि यदि श्रीमां तुम्हें समाचार पत्र कभी न देखनेके लिये कहें तो यह तुम्हें क्षतिरूप नहीं लगेगा और तुम दोनों अवस्थाओंमें भेद तकका अनुभव नहीं करोगे।

*

स्पष्ट ही ऐसी बहुतसी चीजें हैं जिन्हें सबपर एक समान लागू किया जा सकता है और जिनसे इस प्रकार बचा नहीं जा सकता। यह उक्ति कि प्रत्येकका अपना-अपना मार्ग है, सत्य नहीं है; एक सर्वसाधारण मार्गका अनुसरण करनेका प्रत्येकका अपना ढंग है और यह 'अपना ढंग' प्रायः बड़ा दोषपूर्ण भी हो सकता है। निश्चय ही यह सत्य है कि सबकी प्रकृति अलग-अलग होती है और साधना या अन्य वस्तुओंके प्रति दृष्टि कोण भी। साधारणतया व्यक्ति कह सकता है कि समाचार पत्र या उपन्यास पढ़ना साधनाके लिये सहायक नहीं होता और वह कम-से-कम ऐसे प्राणके लिये तो एक रियायत ही है जो अभी साधनामें मग्न हो जानेके लिये तैयार नहीं — यह कथन तक तकके लिये ठीक है जबतक मनुष्य उस उच्चतर चेतना द्वारा ठीक ढंगसे पढ़नेमें समर्थ न हो जाय जो केवल पढ़नेके कारण "विक्षुब्ध" नहीं होती और एकाग्र योग-चेतनासे भ्रष्ट नहीं हो जाती, इतना ही नहीं बल्कि जो पठित वस्तुका आन्तर चेतना और आन्तर जीवनके दृष्टि बिन्दुसे सही उपयोग करनेमें समर्थ होती है।

*

निस्संदेह तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत तर्कोंसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता — वे तर्क प्राणकी अभीष्ट वस्तुके लिये मनके द्वारा उपस्थित किये गये बहाने मात्र हो सकते हैं। स्पष्ट ही समाचार पत्र चेतनाको निम्न बनानेवाले वातावरणसे भरे होते हैं। यह तथ्यका प्रश्न है कि क्या मनुष्य अपनेको इतना काफी अलग कर सकता कि इसके द्वारा नीचे न धकेला जाय। पढ़ते समय सामनेके या बाह्य भागोंमें चेतनाकी अवस्था निश्चय ही निम्नतर होती है। हां, केवल, यदि व्यक्तिमें पृष्ठभागमें एक ऐसी चेतना हो जो प्रभावित नहीं होती तभी वह (व्यक्ति) पढ़नेके बाद तुरन्त सामान्य उच्चतर भूमिकापर लौट आ सकता है।

*

महज बाह्य नियमोंका पालन करना ही निःसंदेह पर्याप्त नहीं हो सकता। वे आन्तरिक प्रयत्नकी केवल तबतक सहायता करते हैं जबतक आन्तर चेतना पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं हो जाती। सामान्यतया समाचार पत्रोंको साधारण ढंगसे बहुत अधिक पढ़ना व्यक्तिको वस्तु विषयक सामान्य विचार और दृष्टि-के साथ आसक्त और अनुरक्त बनाये रखता है — आन्तरिक चेतना होनेपर व्यक्ति संसारमें होनेवाली घटनाओंको ज्ञानकी एक और ही आंखसे देख सकता है और तब पढ़ना कुछ उपयोगी हो सकता है, यद्यपि उसमें प्रकाशित सामग्रीका अधिकांश खाली और बेकार होता है। यदि व्यक्तिको मनोरंजनकी जरूरत हो तो अखबार पढ़ना भी इस प्रयोजनको पूरा करता है।

*

बाह्य वस्तुओंमें दिलचस्पी लेना अपने-आपमें कोई गलत वस्तु नहीं है — यह तो इस बातपर निर्भर करता है कि व्यक्ति किस ढंगसे दिलचस्पी लेता है। यदि सत्य चेतनासे देखते हुए साधनाके एक अंगके रूपमें उनमें दिल-चस्पी ली जाय तब वे सत्ताके विकासका साधन बन जाती हैं। यही अर्थात् सच्ची चेतनाको प्राप्त करना ही महत्वकी बात है और यह तुम्हारे अन्दर तब आती है जब तुममें शान्तिका भाव होता है और उसमें शक्ति कार्य कर रही होती है। अपनेसे अशान्त या असन्तुष्ट होनेका कोई वास्तविक कारण नहीं — क्योंकि निम्न शक्तियोंके प्रतिरोधके होते हुए भी प्रगति हो रही है। जो

दबाव पेटमें भारीपनके द्वारा प्रकट हुआ है उससे तुम्हें मुक्ति पानी है — उसके कारण ही वहां अब भी मुख्य प्रतिरोध विद्यमान है। आवश्यकता है भीतर शान्तिकी और बाहर प्रफुल्लतापूर्ण विश्वास और प्रसन्नताकी — तब इस प्रकार-का स्नायविक दबाव और अस्तव्यस्तता समाप्त हो जायगी।

*

मनुष्य अंग्रेजी या फ्रेंच भाषाको साधनाके सहायकके रूपमें नहीं सीखता; वह तो मनके विकासके लिये और सत्ताके लिये नियतं किये गये कार्यके अंग-रूपमें सीखी जाती है। इस प्रयोजनके लिये फ्रेंच पढ़ना उतना ही अच्छा है जितना अंग्रेजी और यदि यह समुचित ढंगसे किया जाय तो और भी अच्छा। यदि व्यक्तिमें क्षमता हो तो उसे अपनेको एक ही भाषा तक सीमित रखनेका कोई कारण नहीं।

*

भाषाओंका ज्ञान मनकी साधनसम्पन्नताका एक अंग है।

*

यह इस बातपर निर्भर करता है कि तुम भाषासे क्या काम लेना चाहते हो। यदि इसका प्रयोजन केवल साहित्य पढ़ना है तो ठीक ढंगसे पढ़ना और उच्चारण करना सीखना तथा ठीक-ठीक समझना ही पर्याप्त है। यदि व्यक्ति भाषापर पूर्ण अधिकार चाहता हो तो उस भाषामें वार्तालाप और उसका लेखन पूरी तरह सीखना चाहिये।

*

यह कई बातोंपर निर्भर करता है; बहुतसी किताबें जल्दी-जल्दी बढ़ जानेसे भाषा विषयक स्वतन्त्रता, साहजिकता और परिचय प्राप्त होते हैं। दूसरी पद्धति ब्यौरेकी पूर्णता और यथार्थताके लिये आवश्यक है।

*

चिन्तनशील मन ही विचारोंका निर्माण करता है—बाह्य रूप देनेवाला मनोमय या भौतिक मन उन्हें शब्दरूप प्रदान करता है। बहुत करके तुमने इस अंगको पर्याप्त विकसित नहीं किया है। शाब्दिक अभिव्यक्तिकी देन अपेक्षाकृत दुर्लभ होती है। अधिकतर लोगोंकी व्यंजना या तो बेंढंगी होती है या यदि वे प्रचुरमात्रामें लिखें तो उससे समुचित क्रम विकास और शैली नहीं होंगी। किन्तु साधनामें इसका कोई तात्विक महत्व नहीं—सारी आवश्यकता इस बातकी है कि साधनाके प्रत्यक्ष बोधों और अनुभवोंको स्पष्ट रूपसे व्यक्त किया जाय।

*

मैंने यह कभी नहीं सुना कि अच्छी अभिव्यक्तिके लिये तर्कशास्त्र पढ़ना आवश्यक है। मैं जहांतक जानता हूँ ऐसे अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं जिन्होंने उस विषयको पढ़नेका कभी कष्ट उठाया हो।

*

भाव प्रकाशनकी शक्ति उस आन्तर उद्गमके स्पर्शमें आनेसे आती है जिसमेंसे ये चीज़ें उत्पन्न होती हैं। इस शक्तिके मुक्त प्रवाहके लिये स्थिर-शान्त और नीरव मन बहुत अधिक सहायक होता है पर यह अनिवार्य नहीं है, न यह स्वयं इसे लाता ही है।

*

ऊपरसे आनेवाला ज्ञान या वहांसे जो कुछ भी अवतरित होता है, अपनेको किसी भी भाषामें व्यक्त कर सकता है।

*

ज्ञान जब ऊपरसे तीव्र रूपसे नीचे आता है तो प्रायः वह अपनी भाषाको भी साथ ले आता है और उपकरणके दोष दब जाते हैं। ऐसे लोग भी हुए हैं, जिन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था किन्तु ज्ञान का प्रवाह शुरू होते ही उन्होंने अद्भुत ढंगकी चीजें लिखी—और ज्ञानका प्रवाह बन्द होनेपर उनकी भाषा

अशुद्ध और सामान्य हो गई।

*

अभिव्यक्तिकी बात और है, पर रामकृष्ण एक अशिक्षित और अ-बुद्धि-जीवी मनुष्य थे, किन्तु उनकी ज्ञानकी अभिव्यक्ति इतनी पूर्ण थी कि बड़े-से-बड़े बुद्धिवादी भीं उनकी अभिव्यक्तिके सामने झुकते थे।

*

विचार और व्यंजना सदा ही वस्तुके केवल एक ही पक्षको सामने रखते हैं; असली बात है समग्रको देखना पर व्यक्ति जबतक एक लम्बा निबन्ध ही न लिखे तो वह उसके केवल एक ही भागको व्यक्त कर सकता है। अधिकतर विचारक समग्र वस्तुको देखते तक नहीं, केवल उसके पक्षों और अंगोंको ही देखते हैं — इसीलिये दर्शनों और धर्मोंमें सदैव विरोध होता है।

*

व्यक्त की गई वस्तु पृष्ठ भागमें स्थित वस्तुका केवल एक अंश ही होता है — वह वस्तु स्वयं अप्रकट ही रहती है और अभिव्यक्तिकी भाषामें प्रकट की भी नहीं जा सकती।

*

आवाज शक्तिका एक ऐसा स्पन्दन लाती है जिसे लेखनमें प्रकट करना अधिक मुश्किल होता है। लेखन एक अधिक यन्त्रवत् साधन है — यद्यपि लिखित शब्दकी अपनी एक विशिष्ट शक्ति हो सकती है।

* * *

विभाग तीन

प्राणका रूपान्तर

प्राणका रूपान्तर

जिन दो वृत्तियोंका ऊपरी विरोध तुम्हारे मनको विभ्रांत करता है वे एक ही चेतनाके दो ओर-छोर हैं और यदि प्राण-शक्तिको अपनी अधिकाधिक पूर्ण क्रिया और चरितार्थताको प्राप्त करना है अथवा जिस रूपांतरकी हम आशा करते हैं उसे पूरा होना है तो चेतनाकी इन दो गतियोंको, जो अभी एक-दूसरीसे विच्छिन्न हैं, एक साथ युक्त होना ही होगा।

प्राण-शक्तिसे युक्त प्राण-पुरुष उनमेंसे एक छोर है; दूसरा है उच्चतर चेतनाकी अन्तर्हित क्रिया-शक्ति जिसके द्वारा भागवत सत्य कार्य कर सकता, प्राण-पुरुष और उसकी शक्तिको अधिकृत कर सकता और यहां एक महत्तर उद्देश्यके लिये इसका उपयोग कर सकता है।

प्राणमें निहित प्राण-शक्ति जड़-जगत् और भौतिक प्रकृतिके अन्दर होनेवाले भागवती शक्तिके सभी कर्मोंके लिये अनिवार्य यंत्र है। इसी कारण जब यह प्राण रूपांतरित हो जायगा और भागवती शक्तिका शुद्ध और सबल यंत्र बन जायगा केवल तभी दिव्य जीवन प्राप्त हो सकेगा। केवल तभी भौतिक प्रकृतिका सफल रूपान्तर साधित हो सकेगा अथवा बाह्य जगत्में मुक्त-पूर्ण दिव्य कर्म संसिद्ध हो सकेगा। अभी हमें जो साधन प्राप्त हैं उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य पूरा करना असम्भव है। यही कारण है कि तुम यह अनुभव करते हो कि प्राणिक वृत्ति सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करती है जिसकी हमें आवश्यकता हो सकती है, इस शक्तिके द्वारा सब कुछ करना सम्भव है और इसकी सहायतासे तुम चाहे कोई भी अनुभव, चाहे भला हो या बुरा, चाहे साधारण जीवनका हो या आध्यात्मिक जीवनका, प्राप्त कर सकते हो। और फिर यही कारण है कि जब यह शक्ति आती है तो तुम अनुभव करते हो कि सारी शरीर-चेतना और उसके जड़तत्त्वतकमें बलवीर्य व्याप्त हो गया है। तुमने जो प्राणके अन्दर श्रीमांके सम्पर्कका अनुभव किया और तुम्हें जो यह बोध हुआ कि यह एक बहुत ही सुन्दर और उत्कृष्ट अनुभव था, यह भी स्वाभाविक और सही है; क्योंकि चैत्य तथा सत्ताके प्रत्येक दूसरे भागकी ही तरह प्राणको भी भगवती माताको अनुभव करना होगा तथा अपने-आपको सम्पूर्ण रूपसे उनके हाथोंमें समर्पित कर देना होगा।

परन्तु इस बातको सर्वदा स्मरण रखना होगा कि मनुष्यकी प्राण-सत्ता

और प्राण-शक्ति भागवत ज्योतिसे पृथक् हैं और इस प्रकार पृथक् होनेके कारण वे किसी भी शक्तिके, जो उन्हें अधिकृत कर सके, चाहे वह ज्योतिपूर्ण हो या अन्धकारपूर्ण, दिव्य हो या अदिव्य, यंत्र होते हैं। सामान्यतया प्राण-शक्ति मानव-मन और मानव-प्राणकी साधारण अन्धकारपूर्ण या अर्ध-सचेतन क्रिया-ओंकी, उसकी मामूली भावनाओं, हितों, आवेगों और कामनाओंकी सेवा करती है। परन्तु प्राण-शक्तिके लिये यह सम्भव है कि वह साधारण सीमाओंसे परे वर्द्धित हो और, यदि वह इस प्रकार वर्द्धित हो तो, वह अपनी शक्तियोंका एक ऐसा संवेग, एक तीव्रता, एक उत्तेजन या उन्नयन प्राप्त कर सकती है जिसकी सहायतासे यह या तो भागवत शक्तियोंका, देवताओंकी शक्तियोंका अथवा आसुरिक शक्तियोंका यंत्र बन सकती या बननेके लिये प्रायः विवश हो सकती है। अथवा, यदि प्रकृतिमें कोई केंद्रीय सुदृढ़ संयम न हो तो उसका कार्य इन दोनों विपरीत चीजोंका अस्तव्यस्त मिश्रण हो सकता है, अथवा क्रम-हीन डांवांडोल स्थितिमें रहकर वह कभी एककी और कभी दूसरेकी सेवा कर सकती है। इसलिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि तुम्हारे अन्दर एक महान् प्राण-शक्ति कार्य करे; उसे उच्चतर चेतनाके सम्पर्कमें रखना होगा, उसे सच्चे संयमके प्रति समर्पित करना होगा, उसे भगवान्के शासनके अधीन ले आना होगा। यही कारण है कि कभी-कभी प्राण-शक्तिके कार्यके प्रति तिरस्कारका या स्वयं उसके प्रति निरादरका बोध होता है। क्योंकि उसमें ज्योति और संयम पर्याप्त नहीं हैं और वह एक अज्ञानपूर्ण अदिव्य व्यापारके साथ घनिष्ठ रूपसे युक्त है। यह भी एक कारण है कि उसे उच्चतर मूलसे आनेवाली अन्तः-प्रेरणा और शक्तिकी ओर उद्घाटित करनेकी आवश्यकता है। प्राण-शक्ति स्वयं अपने-आपमें कहीं नहीं ले जाती, नानाविध, बहुधा कष्टपूर्ण और विनाश-कारी वृत्तोंमें चक्कर काटती है, यहांतक कि पहाड़की कगारतक ले जाती है, क्योंकि इसे समुचित पथप्रदर्शन नहीं प्राप्त है; इसे उच्चतर चेतनाकी सक्रिय शक्तिके साथ तथा एक महान् और उज्ज्वल हेतुके लिये इसके द्वारा कार्य करने-वाली भागवत शक्तिके साथ संयुक्त कर देना होगा।

इस सम्पर्कको स्थापित करनेके लिये दो क्रियाएं आवश्यक हैं। पहली है ऊर्ध्वमुखी; प्राण उच्चतर चेतनाके साथ युक्त होनेके लिये ऊपर उठता है, अपनेको उच्चतर शक्तिकी ज्योति और संवेगमें डुबो देता है। दूसरी है निम्न-मुखी; प्राण नीरव, प्रशांत, विशुद्ध, सामान्य गतियोंसे शून्य, प्रतीक्षक बना रहता है जबतक कि ऊपरसे सक्रिय शक्ति उसमें नहीं उतरती, उसके सच्चे स्वरूपमें उसे बदल नहीं देती और ज्ञान तथा शक्तिके द्वारा उसकी वृत्तियोंको गठित नहीं कर देती। यही कारण है कि कभी-कभी साधक यह अनुभव करता

है कि वह एक अधिक सुखदायी और अधिक महान् चेतनामें ऊपर उठ रहा है, एक अधिक ज्योतिपूर्ण राज्य और अधिक विशुद्ध अनुभूतिमें प्रवेश कर रहा है, पर कभी-कभी, इसके विपरीत, यह अनुभव करता है कि प्राण-भागमें वापस जानेकी, वहां साधना करनेकी तथा उसके अन्दर सच्ची चेतनाको उतार लानेकी आवश्यकता है। इन दो क्रियाओंके बीच वास्तवमें कोई विरोध नहीं है; ये एक दूसरीके लिये पूरक और आवश्यक हैं, आरोहण दिव्य अवतरणको सम्भव बनाता है और अवतरण उस चीजको संसिद्ध करता है जिसके लिये आरोहण किया जाता है और जिसे आरोहण अनिवार्य बना देता है।

जब तुम प्राणके साथ उसके नीचेके स्तरोंसे ऊपर उठते हो और उसे चैत्यके साथ जोड़ देते हो तो तुम्हारा प्राण-पुरुष विशुद्ध अभीप्सा और भक्तिसे भर जाता है जो अभीप्सा और भक्ति चैत्यके लिये स्वाभाविक होती हैं। इसके साथ-ही-साथ प्राण-पुरुष इन सब भावोंको अपनी निजी प्रचुर शक्ति प्रदान करता है, वह नीचे शरीरतक सम्पूर्ण प्रकृतिके रूपान्तरके लिये तथा अन्न-तत्त्वतकमें दिव्य चेतनाको उतार लानेके लिये उन्हें सक्रिय शक्ति बना देता है। जब वह केवल चैत्य पुरुषको स्पर्श ही नहीं करता बल्कि उच्चतर मनके साथ घुलमिल जाता है तब महत्तर ज्योति और ज्ञानके सम्पर्कमें आने तथा उनका अनुसरण करनेके योग्य बन जाता है। सामान्यतया, प्राण या तो मानव-मनके द्वारा चालित होता है और उसके अधिक या कम अज्ञानपूर्ण आदेशोंद्वारा शासित होता है, अथवा वह इस मनपर जबर्दस्ती अधिकार कर लेता है और अपने निजी आवेगों, प्रेरणाओं या कामनाओंकी तुष्टिके लिये उसका उपयोग करता है। अथवा वह इन दोनों क्रियाओंको मिला-जुला देता है; क्योंकि साधारण मानव-मन इससे अच्छी क्रिया करने या पूर्ण पथ-प्रदर्शन करनेके लिये अत्यन्त अज्ञानपूर्ण होता है। परन्तु जब प्राण उच्चतर मनके सम्पर्कमें होता है तो फिर एक महत्तर प्रकाश और ज्ञानके द्वारा, एक अधिक सच्चे विवेक और दिव्य सत्य और भागवत संकल्पके किसी दिव्य सन्देशके द्वारा परिचालित होना उसके लिये सम्भव हो जाता है। इस प्रकार चैत्य पुरुष और उच्चतर मनकी आज्ञाका पालन जब प्राण करने लगता है तब यही होता है जीवनपर हमारी यौगिक चेतनाके सक्रिय कार्य करनेका प्रारम्भ।

परन्तु दिव्य जीवनके लिये यह भी पर्याप्त नहीं है। उच्चतर मानस-चेतनाके सम्पर्कमें आना ही काफी नहीं है, यह तो महज एक अनिवार्य स्थिति है। इसके लिये और भी ऊंचे तथा अधिक शक्तिशाली क्षेत्रोंसे भागवती शक्तिका अवतरण होना चाहिये। इन अभीतक अदृश्य शिखरोंसे उतरनेवाली इस दिव्य शक्तिके बिना उच्चतर चेतनाका अतिमानसिक ज्योति और शक्तिमें, प्राण और उसकी

शक्तिका भागवती शक्तिके विशुद्ध, विशाल, प्रशांत, तीव्र और शक्तिशाली यंत्रमें, स्वयं शरीरका दिव्य ज्योति, दिव्य कर्म, शक्ति, सौंदर्य और आनन्दके विग्रहमें रूपान्तरित होना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि इस योगमें भगवान्की ओर आरोहण ही, जो कि अन्य योगमार्गोंकी जैसी ही चीज है, पर्याप्त नहीं है; मन, प्राण और शरीरकी समस्त शक्तियोंका रूपांतर करनेके लिये बल्कि भगवान्का अवतरण भी अवश्य होना चाहिये।

*

सब यथार्थ सत्य एक या दूसरे रूपमें भागवत चेतनाकी ही सीधी अभिव्यक्ति है। जीवन चित्-शक्तिकी एक गतिशील अभिव्यक्ति है जब कि उसे रूपरचनाके मूर्त सामंजस्योंमें अपनेको चरितार्थ करनेके लिये बाहरकी ओर प्रक्षिप्त किया जाता है; प्रेम आनन्दमय पुरुषकी तीव्र आत्माभिव्यक्ति है, और प्रकाश वह वस्तु है जो अतिमानसिक चेतनाके संग रहती है तथा उसकी अत्यधिक सारभूत शक्ति है।

*

हां, यही है प्राणका स्वभाव। यह पूर्णता और उत्साहके साथ समर्पण कर सकता है और उसी तरह सब प्रकारके उपद्रव भी खड़ा कर सकता है। प्राणके बिना सृष्टि या अभिव्यक्तिमें कोई जीवन्त शक्ति नहीं होती; जीवनके लिये यह आत्माका एक आवश्यक यंत्र है।

*

हां, स्वयं आत्माको भी, यदि वह जड़तत्त्वमें अभिव्यक्ति चाहे, तो प्राणका उपयोग करना ही होगा। चीजोंको इसी ढंगसे व्यवस्थित किया गया है।

*

प्राण एक अनिवार्य यंत्र है—इसके बिना कोई सृष्टि या कोई प्रबल कर्म सम्भव नहीं है। बस, प्रश्न है इसपर प्रभत्व स्थापित करने और इसे यथार्थ प्राणके रूपमें परिर्वात्तित कर देनेका। यह यथार्थ प्राण ही एक

साथ प्रबल और प्रशांत और महान् तीव्र कर्ममें समर्थ और अहंसे मुक्त होता है।

*

प्राणको वशमें लाना है और उसे अपनी मर्जीके मुताबिक नहीं करने देना है। प्राण तुम्हारा नियन्त्रण नहीं करेगा किन्तु तुम्हें उसका नियन्त्रण करना होगा।

*

प्राणका परिवर्तन होनेपर—सच्चे प्राणके प्रकट होनेपर जो कि भगवान्‌का और एकमात्र भगवान्‌का ही सबल, उदार, शांत और इच्छुक यंत्र है, अन्ध प्राणशक्तिसे अवश्य मुक्ति प्राप्त होगी।

*

इस (यथार्थ प्राण-शक्ति)का अर्थ है वह जीवनी-शक्ति जो भीतरसे आती है और चैत्य पुरुषके साथ समस्वरता रखती है—यह सच्ची प्राण-सत्ताकी शक्ति है, पर साधारण अज्ञ प्राणमें यह कामनाके रूपमें विकृत हो जाती है। तुम्हें प्राणको शान्त और शुद्ध करना होगा और सच्चे प्राणको प्रकट होने देना होगा। अथवा, तुम्हें चैत्य पुरुषको सम्मुख लाना होगा और चैत्य पुरुष प्राणको शुद्ध तथा चैत्यभावापन्न बना देगा। फिर तुम्हें सच्ची प्राण-शक्ति प्राप्त हो जायगी।

*

जीवनने प्राण-रूपी पात्रमें जो कुछ रखा है वह इसे उलट देनेपर, भगवान्‌की ओर मोड़ देनेपर ही प्राप्त किया जा सकता है, न कि स्वयं अपनी ओर मोड़नेसे। उस समय तुम देखोगे कि प्राण एक उतना ही उत्तम यंत्र है जितना कि वह एक बुरा स्वामी है।

*

मानव-प्राण लगभग सर्वदा ही इस स्वभावका होता है, परन्तु यह कोई कारण नहीं जिससे मनुष्य इसे अपरिवर्तनीय तत्त्व मान ले तथा चंचल प्राणको यह छूट दे दे कि वह (प्राण) जैसे चाहे वैसे उसे (मनुष्यको) चलावे। योग-साधनाकी बात तो दूर, साधारण जीवनमें भी, केवल उन्हीं लोगोंको पूर्ण मान-वत्वका अधिकारी माना जाता है या अपने जीवनमें, अपने आदर्शों या अपने कार्योंमें उन्हींके सफल होनेकी सम्भावना होती है जो इस अशांत प्राणको अपने हाथमें लेते हैं, एकाग्र होकर इसे अपने वशमें करते तथा अनुशासनके अधीन ले आते हैं। वे अपने मानसिक संकल्पका प्रयोग करके इसे अनुशासित करते हैं, उसे बाध्य करते हैं कि यह वही न करे जो यह चाहता है, बल्कि वह करे जिसे तर्क-बुद्धि या संकल्प-शक्ति उचित या वांछनीय समझती है। योगमें मनुष्य आन्तरिक संकल्पका प्रयोग करता है और प्राणको तपस्यामें लग जानेको बाध्य करता है जिससे कि यह शान्त, शक्तिशाली और अनुगत हो जाय — अथवा, मनुष्य ऊपरसे शांतिका आवाहन करता है और प्राणको कामनाका त्याग करने और अचंचल तथा ग्रहणशील बननेके लिये विवश करता है। प्राण एक अच्छा यंत्र है पर बुरा मालिक है। यदि तुम इसे इसकी रुचि और अरुचि, इसकी मनमौज, इसकी कामना-वासना, इसके बुरे अभ्यासका अनुसरण करने दो तो यह तुम्हारा मालिक बन जायगा और सुख-शांति प्राप्त करना फिर सम्भव नहीं होगा। उस समय यह तुम्हारा यंत्र नहीं बनता और न भागवत शक्तिका ही यंत्र बनता है, बल्कि अज्ञानकी किसी शक्तिका अथवा किसी विरोधी शक्तिका-भी यंत्र बन जाता है जो इसे पकड़ सकती और इसका उपयोग कर सकती है।

*

प्रतिरोध और विरोधी सुझाव उस प्राण-प्रकृतिसे आते हैं जो मनुष्योंमें एक अन्धकारावृत भाग है और सामान्य विचारों और लक्ष्योंके साथ चिपटी रहती है तथा उस प्रकारके विचार और सुझावोंको सहज रूपसे सुन लेती है जिनका तुमने उल्लेख किया है। श्रद्धा और भक्ति अन्तरात्मासे आती हैं और व्यक्ति सचमुचमें आध्यात्मिक जीवन तभी बिता सकता है जब प्राण पूरी तरह अन्तरात्माकी आधीनता स्वीकार कर ले।

*

तुम यदि इसे अब कर सकते हो तो यह बड़ी भारी प्रगति है। प्रकाशमें और इसी तरह शांति एवं शक्तिमें जीवन धारण करनेके मार्गमें प्रमुख कठिनाई है मनुष्यकी प्राणिक प्रकृतिकी अव्यवस्थित और दूषित चंचलता। यदि उसे शान्त कर दिया जाय तो मुख्य कठिनाई समाप्त हो जाती है। उसमें भौतिक प्रकृतिकी अज्ञान या जड़ताकी बाधा तब भी रहती है—परन्तु वह कम कष्टदायक है—इसका स्वभाव विक्षोभकी अपेक्षा कहीं अधिक एक शान्त अवरोधका भी होता है जो कभी-कभी हठीला भी होता है। यदि प्राणिक चंचलताको ठीक कर दिया जाय तो निश्चय ही भौतिक अज्ञानान्धकार या नासमझी चली जायगी।

*

भोगकी चाह होना समूचे प्राणकी वृत्ति नहीं है बल्कि भौतिक प्राणकी, मानवीय सत्ताके पशु-भागकी वृत्ति है। निस्संदेह, इस भागको किसी प्रकारके मानसिक तर्कके द्वारा समझाया और प्रभावित नहीं किया जा सकता। अधिकांश मनुष्योंमें जीवनके प्रति होनेवाला यही स्वाभाविक और स्वीकृत मनोभाव होता है, बस इसपर मन और उच्चतर प्राणके विशेषाधिकारके रूपमें किसी परंपरागत नैतिकता और आदर्शवादका मुलम्मा चढ़ा होता है। कुछ थोड़ेसे लोगोंमें सत्ताका यह भाग जकड़ा हुआ तथा मन और उच्चतर प्राणके लक्ष्यके अधीन होता है, एक गौण स्थान लेनेके लिये बाध्य किया गया होता है जिसमें कि मन अपने मानसिक प्रयासों या आदर्शवादोंमें या महान् राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओंमें निरन्तर संलग्न रह सके (जैसे लेनिन, हिटलर, स्टालिन, मुस्सोलिनी)। तपस्वी और शुद्धतावादी लोग इसे अधिकांशतः या पूर्णतः संयमित करनेकी चेष्टा करते हैं। हमारे योगका सिद्धांत है कि सब कुछ आत्माका यंत्र बन जाना चाहिये और भोगके जो अंग हैं उन्हें वस्तुओंमें विद्यमान दिव्यानन्दका आस्वादन करना चाहिये न कि ऊपरी तलके पशवोचित भोगका। परन्तु आनन्द तबतक नहीं आयेगा या नहीं ठहरेगा जबतक कि यह अंग परिवर्तित नहीं हो जाता और तुष्टिके अपने तरीकेपर आग्रह करता है।

*

ऐसे बहुत आदमी हैं जो सुखके पीछे नहीं पड़ते और यह भी नहीं मानते कि यह जीवनका सच्चा लक्ष्य है। भौतिक प्राण ही सुख पानेकी चेष्टा करता

है, बृहत्तर प्राण तो अपने आवेगोंको तृप्त करनेके लिये, अधिकार, महत्वाकांक्षा और यशकी खोजमें या अन्य किसी प्रयोजनवश उसका बलिदान करनेके लिये तैयार रहता है। यदि तुम यह कहो कि इसका कारण यह है कि अधिकार, यश आदिसे सुखकी प्राप्ति होती है तो यह भी सार्वभौम सत्य नहीं है। शक्ति और चाहे जो भी दे पर साधारणतया सुख नहीं प्रदान करती, अपनी मूल प्रकृतिमें यह एक ऐसी वस्तु है जो श्रमसाध्य है और जिसे पाना, बनाये रखना और उपयोगमें लेना कठिनाइयोंसे परिपूर्ण है — निःसंदेह मैं यहां शक्तिको उसके सामान्य अर्थमें लेकर ही उसकी चर्चा कर रहा हूँ। सम्भव है व्यक्ति यह जानता हो कि उसे इस जीवनमें कभी यश नहीं मिल सकता तो भी वह मृत्युके उपरान्त यशकी आशासे या उसकी तलाशमें कार्य करता है। हो सकता है कि वह जानता हो कि अपने आवेशकी पूर्ति सुखको नहीं बल्कि उससे भिन्न दूसरी हरेक वस्तुको — कष्ट, यन्त्रणा, विनाशको — लायेगी तो भी वह अपने आवेगका ही अनुसरण करता है। इसी तरह मन और साथ ही बृहत्तर प्राण भी सुखकी खोजसे ही बँधे नहीं हैं। बल्कि वह सत्यकी प्राप्ति या अन्य किसी उद्देश्यकी सफलताके लिये चेष्टा कर सकता है। सबको एक ही प्रेयवादी उपभेदमें बांध लेना मुझे बहुत ही घटिया मनोविज्ञान लगता है। न तो वस्तुओंकी वैश्व प्रकृति, और न व्यापक आत्मा ही इस प्रकार सीमित और एकमार्गी होते हैं।

*

अधिकतर लोग कार्योंको इसलिये करते हैं कि वे उन्हें करने पड़ते हैं, इसलिये नहीं कि उन्हें उनमें सुख प्राप्त होता है। प्रकृति केवल अपने शौक और दिलचस्पीकी चीजोंमें ही किसी प्रकारके सुखका अनुभव करती है, साधारणतया काममें नहीं — निःसंदेह जबतक स्वयं काम ही व्यक्तिके शौक या दिलचस्पीकी चीज न बन जाय और जिसमें वह जब चाहे तब रस लेने लगे या उसे छोड़ दे।

*

मनुष्य-जीवन जो कुछ है और जैसा कि इसके विषयमें कल्पना की जाती है, वह है प्राणिक जीवन जिसका परिणाम होता है मृत्यु; यह "पशुओंके जीवनसे थोड़ा ऊंचा होता है", क्योंकि इसमें थोड़ी मनकी क्रीड़ा भी मिली होती

है। और फिर भी इससे अधिक किसी चीजके लिये इसमें एक अभीप्सा है, —पर धर्म इस वृत्तिको अपने हाथमें लेते और इसे जीवनकी किसी अर्थहीन वस्तुके लिये प्रयुक्त करते हैं और सारी बातें पहलेकी तरह ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं। केवल थोड़ेसे लोग ही वास्तवमें इस सीमासे परे जाते हैं।

"आखिर"* यथार्थमें केवल एक बहाना है। कोई भी मनुष्य 'मानव'से अधिक कुछ नहीं बन सकता यदि वह अपने अहंका त्याग करना अस्वीकार कर दे—क्योंकि "मानव" का अर्थ है थोड़ेसे बाहरी विचार और ज्ञानके द्वारा मानसभावापन्न बना प्राणिक-पाशविक अहंकार। जबतक कोई व्यक्ति वही बने रहनेसे संतुष्ट है तबतक वह "यहां भी" या कहीं अन्यत्र भी बस "मानव" ही बना रहेगा।

*

निस्संदेह, अधिकांश मनुष्य अपने भौतिक मन और प्राणमें निवास करते हैं, केवल थोड़ेसे साधु-संत तथा अपेक्षाकृत अधिक संख्यामें प्राप्त बौद्धिक लोग इसके अपवाद हैं। यही कारण है, जैसा कि अब लोगोंको पता चल गया है, कि मनुष्यजाति इन विगत तीन हजार वर्षोंमें थोड़ी-सी जानकारी और स्थूल साज-सामान प्राप्त करनेके अतिरिक्त बहुत कम ही प्रगति कर पायी है। संभवतः उसमें निर्दयता और बर्बरता कुछ कम हुई है, उच्च लोगोंमें बौद्धिक मननीयता थोड़ी अधिक आयी है, प्रथागत आचार-विचारमें शीघ्र परिवर्तन करनेकी आदत पड़ी है, बस।

*

यह काल वर्ड्सवर्थके समयकी अपेक्षा खराब और अच्छा दोनों ही है —एक ओर तो व्यक्ति प्रकृतिके अधम भागोंमें एकाएक पतित हो गया है और प्राणिक शक्तियोंने बलवा बोल दिया है, दूसरी ओर इसकी क्षतिपूर्तिके रूपमें किसी परेकी वस्तुके लिये विशालतर खोज और अधिक प्रकाश एवं ज्ञानसे पूर्ण जिज्ञासाका उदय हुआ है।

*

*"आखिर हम मानव हैं — हम देवता नहीं बन पाये हैं।"

मनुष्य है मनोमय पुरुष और वह प्राणसे नहीं आ सकता, यद्यपि उसका कुछ अंश प्राणलोकमें निवास कर सकता है अथवा यों कहें कि उसके सम्पर्कमें रह सकता है। सच पूछा जाय तो अधिकांश लोग बहुत अधिक प्राणमें रहते हैं और इसलिये जब वे साधना करते हैं तो सबसे पहले वे अपनेको प्राणलोकमें ही पाते हैं—जैसे, स्वप्नमें, अनुभवोंमें आदि। जब अतिमानसिक चेतना खुल जायगी तब कुछ चीज प्रत्येकके अन्दर, जब वह तैयार हो जायगा और अपने अन्दर अतिमानसिक पुरुषको गठित करेगा तब, अतिमानसलोकसे अवतरित होगी। अभी वह जो कुछ है वह, भविष्यमें वह क्या होगा, उसे सीमित नहीं कर सकता।

*

यह (भौतिक कार्य या अध्ययनमें संलग्न रहना) प्राणमें रहना नहीं है—ये तो महज भौतिक और मानसिक कार्य हैं। प्राणमें निवास करना एक आन्तरिक स्थिति है।

अधिकतर लोग प्राणमें रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे अपनी कामनाओं, संवेदनों, हृद्गत भावों, प्राणिक कल्पनाओंमें रहते हैं और उसी दृष्टिकोणसे प्रत्येक चीजको देखते, अनुभव करते और उसका विचार करते हैं। प्राण ही उन्हें चलाता है, मन प्राणकी सेवामें रहता है, उसका प्रभु नहीं होता। योगमें भी बहुतसे लोग उसी स्तरसे साधना करते हैं और उनका अनुभव प्राणिक दर्शनों, रचनाओं, सभी प्रकारके अनुभवोंसे भरा होता है, परन्तु उनमें कोई मानसिक सुस्पष्टता या सुव्यवस्था नहीं होती और न वे लोग मनसे ऊपर ही उठते हैं। मनुष्योंका एक अल्पांश ही मनमें अथवा चैत्य चेतनामें निवास करता है अथवा आध्यात्मिक स्तरमें रहनेकी चेष्टा करता है।

साधारण जीवनमें मनुष्य प्राणिक क्रियाओंको, कामना, क्रोध, लोभ, कामवासना आदि चीजोंको स्वाभाविक, स्वीकार्य और उचित चीजोंके रूपमें, मानव-स्वभावके अंगके रूपमें स्वीकार करते हैं। बस, जितने अंशमें समाज इन्हें निरुत्साहित करता है या सुनिश्चित सीमाओंके अन्दर अथवा किसी समुचित नियंत्रण या मानदडके अधीन इन्हें रखनेका आग्रह करता है, उतने अंशमें ही लोग इन्हें संयमित करनेका प्रयत्न करते हैं जिसमें कि नैतिकताके सामाजिक मानदण्ड अथवा आचार-विचारके नियमके साथ सामंजस्य बना रहे। यहां, इसके विपरीत, इन चीजोंपर विजय पाने तथा पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करनेकी मांग की जाती है जैसे कि सभी प्रकारके आध्यात्मिक जीवनमें मांग की जाती

है। यही कारण है कि संघर्षका बहुत अधिक अनुभव होता है, इस कारण अधिक अनुभव नहीं होता कि साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा साधकोंमें ये चीजें अधिक प्रबलताके साथ उठती हैं, बल्कि जो संघर्ष संयमकी मांग करनेवाले आध्यात्मिक मन तथा विद्रोह करनेवाली और प्राचीन जीवनकी तरह नवीन जीवनमें भी इन्हें बनाये रखनेकी इच्छा रखनेवाली प्राणिक गतिविधियोंके बीच उठ खड़ा होता है उसकी तीव्रताके कारण अधिक अनुभव होता है। इस भावनाका जहांतक प्रश्न है कि साधना इस प्रकारकी चीजोंको उठाती है, इसमें एकमात्र सत्य यह है कि, प्रथमतः, साधारण मनुष्यमें ऐसी बहुतसी चीजें होती हैं जिनके विषयमें वह सचेतन नहीं होता क्योंकि प्राण उन्हें मनसे छिपा रखता है और मनके यह समझे बिना कि कौनसी शक्ति कार्यका संचालन कर रही है वह उनकी तृप्ति करता है—इस तरह जो चीजें परोपकार, मानवप्रेम, सेवा इत्यादिके बहानेके साथ की जाती हैं वे अधिकांशमें अहंके द्वारा चालित होती हैं जो इन सब समर्थनोंके पीछे छिपा रहता है; योगमें गुप्त उद्देश्यको पर्देके पीछेसे खींच लाना होता है, सामने खोलकर रख देना होता है और उससे छुटकारा पाना होता है। द्वितीयतः, कुछ चीजें साधारण जीवनमें दबी रहती हैं और प्रकृतिमें प्रसुप्त रहती हैं, दबी होती हैं पर बहिष्कृत नहीं होतीं; वे किसी भी दिन उठ सकती हैं अथवा वे विभिन्न स्नायविक आकारोंमें, अथवा मन या प्राण या शरीरके अन्य व्यतिक्रमोंमें अभिव्यक्त हो सकती हैं और यह स्पष्ट नहीं मालूम हो सकता कि उनका सच्चा कारण क्या है। यह बात अभी हालमें यूरोपियन मनोवैज्ञानिकोंने ढूंढ़ निकाली है और इसपर बड़ा जोर दिया है, यहांतक कि मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) नामक नये विज्ञानमें इसे अतिरंजित भी कर दिया है। यहां फिर, साधनामें मनुष्यको इन सब दबी हुई प्रवृत्तियोंके विषयमें सचेतन होना होता और उन्हें निकाल बाहर करना पड़ता है—इसे उठना कहा जा सकता है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें क्रियामें उठाना होगा, बल्कि उन्हें केवल चेतनाके सामने उठाना होगा जिसमें कि उन्हें सत्तासे बाहर निकाल फेंका जा सके।

तुमने जो यह लिखा है कि कुछ लोग तो अपनेको संयमित करनेमें समर्थ होते हैं और कुछ लोग प्रवाहमें बह जाते हैं, इसका कारण है स्वभावमें अन्तर। कुछ लोग सात्त्विक होते हैं और वे आसानीसे, कम-से-कम कुछ हदतक, संयम कर लेते हैं; दूसरे अधिक राजसिक होते हैं और वे संयम करना कठिन और कभी-कभी असम्भव अनुभव करते हैं। कुछ लोगोंका मन और मानसिक संकल्प बड़ा शक्तिशाली होता है और दूसरे लोग प्राणिक पुरुष होते हैं जिनमें प्राणिक आवेग बहुत प्रबल और अधिक ऊपरी सतहपर होते हैं। कुछ लोग संयमको

आवश्यक नहीं समझते और अपने-आपको योंही छोड़ देते हैं। साधनामें मानसिक या नैतिक संयमके स्थानपर आध्यात्मिक प्रभुत्व ले आना होता है—उसके लिये मानसिक संयम केवल आंशिक होता है और यह संयमित तो करता है पर मुक्त नहीं करता; केवल चैत्य और आध्यात्मिक चेतना ही उस प्रभुत्वको ले आ सकती है। इस सम्बन्धमें साधारण और आध्यात्मिक जीवनमें यही प्रधान भेद है।

*

यह (अर्थात् सामान्य जीवनमें लोगोंके अन्दर स्थिरता और आत्मसंयमके होनेका कारण) है सामाजिक दबाव और उसके साथ रहनेवाली मानसिक संयमकी एक प्रकारकी आदत जो सामाजिक दबावसे उत्पन्न होती है। ये शांतिसे तो बिलकुल नहीं उत्पन्न होते। सामाजिक दबावको आंशिक रूपसे ही हटा दो और तब जैसा कि हाल ही में इंग्लैण्ड और अमेरिकामें हुआ है, लोग अपनेको संयत करनेके स्थानपर प्राणिक आवेगोंके बहावमें छोड़ देते हैं और उन्हींके अनुसार कार्य करते हैं—अवश्य ही, सिवाय कुछ लोगोंके जो भूतकालीन धार्मिक एवं नैतिक विचारोंके साथ तब भी चिपटे रहते हैं जब कि समाज इन विचारोंसे परे हट जाता है।

*

साधारण जीवनमें भी उच्चतर अंगों और निम्नतर प्राणके बीच बहुत साधारण रूपमें एक खाई होती है– योगमें इसका अधिक हो जाना स्वाभाविक ही है यदि निम्नतर प्राण परिवर्तित न हो, पर हम यदि यहां विद्यमान अधिकांश लोगोंकी दृष्टिसे विचार करें तो कहना होगा कि यह परिवर्तन अत्यन्त असाधारण रूपसे कठिन है।

II

अभी तुम्हारे अनुभव मानसिक स्तरपर चल रहे हैं, पर यही समुचित क्रिया है। बहुतसे साधक प्रगति करनेमें इस कारण असमर्थ हो जाते हैं कि वे मानसिक और चैत्य चेतनाके तैयार होनेसे पहले प्राणिक स्तरको खोल देते हैं। मानसिक स्तरपर कुछ सच्ची अनुभूतियोंके आरम्भ होनेके बाद ही असमय

प्राणिक स्तरपर अवतरण हो जाता है और फिर बहुत बड़ी गड़बड़ी और उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं। इससे बचनेकी चेष्टा करना आवश्यक है। और, यदि आध्यात्मिक वस्तुओंद्वारा मनके स्पृष्ट होनेसे पहले ही प्राणगत कामनापुरुष अनुभूतिकी ओर खुल जाय तब तो यह और भी बुरी बात है।

सर्वदा यह अभीप्सा करो कि मन और चैत्य पुरुष सत्य-चेतना और अनुभूतिसे भर जायं और तैयार हो जायं। तुम्हें विशेषकर स्थिरता, शांति, शांत-स्थिर श्रद्धा, वर्द्धमान सुदृढ़ विशालता, अधिकाधिक ज्ञानप्राप्ति तथा गंभीर और तीव्रपर प्रशान्त भक्तिके लिये अभीप्सा करनी चाहिये।

अपने परिपार्श्वों और उनके विरोधसे विक्षुब्ध मत होओ। ये अवस्थाएं प्रारम्भमें एक प्रकारकी अग्नि-परीक्षाके रूपमें बहुधा हमपर लाद दी जाती हैं। यदि तुम प्रशांत और अक्षुब्ध बने रहो और इन परिस्थितियोंमें आंतरिक रूपसे उद्विग्न हुए बिना अपनी साधना जारी रखो तो इससे तुम्हें वह शक्ति देनेमें सहायता मिलेगी जिसकी तुम्हें बहुत अधिक आवश्यकता है। योगका मार्ग सदा ही आन्तरिक और बाह्य कठिनाइयोंसे अवरुद्ध होता है और साधकको उनका सामना करनेके लिये शांत, सुदृढ़ और ठोस बलका विकास करना होता है।

*

तुम्हारी पहलेकी साधना अधिकांशमें प्राण-स्तरपर चल रही थी। प्राण-स्तरकी अनुभूतियां साधकके लिये बहुत आकर्षक होती हैं पर होती हैं मिश्रित, अशुद्ध अर्थात् वे सबकी सब उच्चतर सत्यंसे जुड़ी हुई नहीं होतीं। साधनाका एक महत्तर, शुद्धतर और दृढ़तर आधार — चैत्य आधार स्थापित करना होगा। इसीलिये पुरानी सभी अनुभूतियां बन्द हो गयी हैं। हृदयको ही केंद्र बनाना होगा और भक्ति तथा अभीप्साके द्वारा तुम्हें चैत्य पुरुषको सामने लाकर भागवत शक्तिके साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना होगा। यदि तुम ऐसा कर सको तो तुम्हारी साधना फिरसे अधिक अच्छे परिणामोंके साथ आरम्भ हो जायगी।

*

यह स्पष्ट है कि तुम्हारी साधना अबतक मनमें चलती रही है — यही कारण था कि मस्तकके ऊपरी भागपर एकाग्र होना तुम्हें आसान प्रतीत होता

था, वह केंद्र सीधे संपूर्ण मानसिक क्षेत्रपर अधिकार रखता है। मन शांत-स्थिर हुआ और साधनाके फलोंका अनुभव करके उसने प्राणिक विक्षोभको शांत कर दिया, पर प्राण-प्रकृतिको उसने परिष्कृत और परिवर्तित नहीं किया।

अब ऐसा लगता है कि साधना प्राणको स्वच्छ करने और बदलनेके लिये उसमें उतर रही है। इसका पहला परिणाम यह है कि प्राणकी कठिनाई दिखायी पड़ रही है—कुत्सित आकृतियां और डरावने स्वप्न विरोधी प्राण-स्तरसे आते हैं जो साधनाके लिये बाधक हैं। फिर वहींसे होती है हलचलकी पुनरावृत्ति, आती है साधनाके प्रति अनिच्छा और बाधा-विरोध। यह पुरानी अवस्थामें ही वापस चला जाना नहीं है, बल्कि परिवर्तनके लिये प्राणपर पड़नेवाले योगशक्तिके दबावका परिणाम है जिस दबावका प्रतिरोध हो रहा है।

प्राण-सत्ताको मुक्त करनेके लिये साधनाका जो यह अवतरण हुआ है उसीके कारण तुम हृदय-क्षेत्रमें एकाग्र होनेकी आवश्यकताको महसूस कर रहे हो; क्योंकि हृदय-क्षेत्रमें ही चैत्य-केंद्र है और नीचे, नाभि-केंद्रके पीछे, प्राण-केंद्र है। यदि इन दोनोंको जगाया जा सके और योग-शक्तिके द्वारा अधिकृत किया जा सके तो चैत्य (आंतरात्मिक) शक्ति प्राण-क्षेत्रपर शासन करने लगेगी और प्राण-प्रकृतिको शुद्ध करके उसे शान्त-स्थिर बना देगी तथा भगवान्‌की ओर मोड़ देगी। यदि तुम इच्छानुसार हृदय-क्षेत्रमें और मस्तकके सबसे ऊपरी भागमें एकाग्र हो सको तो यह सबसे उत्तम होगा, क्योंकि यही चीज साधनाको एक अधिक पूर्ण सामर्थ्य प्रदान करती है।

दूसरे अनुभव जो तुम्हें हुए हैं वे प्राणके अन्दर परिवर्तनके प्रारम्भको सूचित करते हैं, जैसे, तुम्हारे साथ और जो तुम्हें आघात पहुँचानेवाले मालूम पड़े उनके साथ शांतिका होना, समस्त सांसारिक दुश्चिताओं और कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओंसे मुक्ति और हर्षका अनुभव आदि। ये चीजें मनके शांत-स्थिर होनेपर भी आयीं, पर इन्हें केवल तभी स्थापित किया जा सकता है जब प्राण मुक्त और प्रशांत हो जाय।

जो भी कठिनाइयां या उपद्रव क्यों न उठें, बस, एक ही बात आवश्यक है कि मनुष्य भागवत शक्ति और पथप्रदर्शनमें पूरा विश्वास रखकर चुपचाप चलता रहे, साधनाकी क्रियाके प्रति तबतक अपनी समूची सत्ताको निरन्तर और अधिकाधिक खोलता रहे जबतक कि सब कुछ सचेतन और आवश्यक परिवर्तनके लिये सहमत न हो जाय।

III

यह एक प्रकारकी डांवाडोल स्थिति है और विरोधी अंगकी किसी क्रियाके कारण उत्पन्न हुई है, यह विरोधी भाग (सत्ताका सम्पूर्ण भाग नहीं) परिवर्तनकी मांगके कारण अभी भी असंतुष्ट है। जब कोई प्राणिक वृत्ति निरुत्साहित, असंतुष्ट होती है, परिवर्तनके लिये उससे मांग की जाती या उसे विवश किया जाता है पर वह अभी इच्छुक नहीं होती तो उसमें प्राणकी ओरसे कोई प्रत्युत्तर न आने देने या असहयोग करानेकी प्रवृत्ति होती है। वह शरीरको प्राणिक आवेगसे शून्य कर सुस्त या जड़ बनाकर छोड़ देती है। चैत्य पुरुषके द्वारा दबाव डालनेपर बाधाका यह शेषांश दूर हो जायगा।

*

प्राण समझ सकता है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है; उसे ऐकांतिक रूपसे शांति और रूपान्तरके लिये पुकारना होगा। ऐसा लगता है कि उसका अधिकांश भाग अपनी स्थिति बदलनेमें और अपने भावको या चीजें ग्रहण करनेके अपने तरीकेको छोड़नेमें असमर्थ है, अन्यथा ये अवसादकी स्थितियां इतनी तीव्र न होतीं। कोई कारण नहीं कि तुम्हें शांति न मिले, पर यह स्थिति बदलनी चाहिये।

*

ऐसा लगता है कि यह एक प्रकारका तमस् या जड़ता है जो तुम्हारे शरीरपर उतर रहा है। कभी-कभी इस तरहकी चीज तब होती है जब प्राण वर्तमान अवस्थाओंसे अथवा जो कुछ प्राप्त किया गया है उससे असंतुष्ट हो जाता है और एक प्रकारका असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोध आरम्भ कर देता है और कहता है, "चूंकि मैं संतुष्ट नहीं हूँ, इसलिये मैं किसी चीजमें दिलचस्पी नहीं रखूँगा अथवा कोई चीज करनेमें मैं तुम्हें सहायता नहीं दूँगा।"

सम्भवतः ऐसा इस कारण हुआ कि मैंने तुम्हें ध्यान बन्द कर देने तथा प्रतीक्षा करनेको कहा। प्राण प्रतीक्षा करना नहीं चाहता। पर मुझे तुम्हें वैसा कहना पड़ा था क्योंकि तुम्हारे चक्रोंमें जलनका अनुभव होता था, नींद और विश्राममें बाधा पड़ रही थी — ये चीजें अवश्य दूर हो जानी चाहियें, तभी तुम उचित रूपमें और सफलताके साथ ध्यान कर सकते हो? यदि इस

समय तुम थोड़ा-सा ध्यान करो तो उसे केवल स्थिरता और शान्तिके अन्दर ही करना चाहिये और उसके साथ तुम्हारे अन्दर यह खूब स्थिर अभीप्सा बनी रहनी चाहिये कि दिव्य शांति और सुस्थिरता तुम्हारे अन्दर अवतरित हों।

इसका कारण शायद निर्वाणके प्रति तुम्हारा झुकाव भी था। क्योंकि निर्वाणकी कामना बड़ी आसानीसे इस प्रकार शक्तियोंका ह्रास उत्पन्न करती है। निर्वाण मेरे योगका लक्ष्य नहीं है—परन्तु चाहे निर्वाणके लिये कहो या मेरे योगके लिये, सारी सत्तामें स्थिरता और शान्तिका होना सम्पूर्ण सिद्धिके लिये आवश्यक आधार है।

*

मैंने तुमसे बरावर ही कहा है कि तुम्हें अपना कविता लिखना तथा वैसी अन्य क्रियाओंको बन्द नहीं करना चाहिये। वैराग्यके वश अथवा तपस्याकी भावनासे वैसा करना एकदम भूल है। जब ये चीजें अपने-आप बन्द हो जायं तो तुम इन्हें बन्द कर सकते हो, क्योंकि मनुष्य अपने अनुभवसे इतना भर जाता है तथा अपने आन्तरिक जीवनमें इतना अनुरक्त हो जाता है कि बाकी चीजोंमें लगानेके लिये उसके पास शक्ति ही नहीं बचती। पर ऐसी स्थितिमें भी यह कोई नियम नहीं है कि उन्हें छोड़ ही देना चाहिये। क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं कि कवित्व आदिको साधनाका अंग न बनाया जाय। प्रशंसाका मोह, यशकी कामना, आहंकारिक प्रतिक्रिया आदि चीजोंको छोड़ना ही चाहिये, पर यह स्वयं उस कार्यको छोड़े बिना भी किया जा सकता है। तुम्हारे प्राणको किसी-न-किसी कार्यकी आवश्यकता है—अधिकांश प्राणोंको आवश्यकता होती है—और उसे अपने बहिर्गमनके मार्गसे, उस मार्गसे वंचित कर देनेसे जो उसके लिये हानिकारक नहीं बल्कि लाभदायक हो सकता है, वह मन-ही-मन कुढ़ जाता है, उदासीन और अवसन्न अथवा किसी भी क्षण विद्रोह कर देने और संघर्ष छोड़ बैठनेका रुख अख्तियार कर लेता है। प्राणकी सहमतिके बिना साधना करना कठिन है—वह असहयोग कर बैठता है, अथवा वह मौन रहनेपर भी घोर असंतोषके साथ प्रतीक्षा करता और किसी भी मुहूर्त्त संदेह और अस्वीकृतिको प्रकट करनेके लिये प्रस्तुत रहता है। अथवा वह बहुत प्रचण्ड प्रयास करता है और फिर यह कहता हुआ पीछे हट आता है, "मैंने कुछ नहीं प्राप्त किया।" मन भी स्वयं अपने-आप अधिक कुछ नहीं कर सकता, उसे भी प्राणका सहयोग मिलना ही चाहिये और उसके लिये प्राणको प्रसन्नता तथा संतोषकी स्थितिमें होना चाहिये। उसे सर्जनका आनन्द प्राप्त होता है

और आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्जनात्मक कार्यमें कुछ भी अनुचित नहीं है। भला तुम्हारे प्राणको बाह्य प्रकाशके इस आनन्दसे क्यों वंचित किया जाय ?

मैं तुम्हें पहले भी यह संकेत कर चुका हूँ कि भागवत कृपाकी प्रतीक्षा करनेमें समर्थ होना (तामसिक भावके साथ नहीं वरन् सात्त्विक निर्भरताके साथ) तुम्हारे लिये सबसे उत्तम मार्ग है। प्रार्थना ? हां — पर तुरत संसिद्धि-पर आग्रह करनेवाली प्रार्थना नहीं — बल्कि वह प्रार्थना जो स्वयं मन और हृदयका भगवान्‌के साथका एक सम्पर्क है और स्वयं अपने-आपसे ही प्रसन्न और संतुष्ट रह सकती है तथा यह विश्वास रखती है कि भगवान् स्वयं अपने समयपर सिद्धि प्रदान करेंगे। ध्यान ? हां, परन्तु तुम्हारा ध्यान गलत आसनपर चला गया है, उसका आधार बन गया है उत्सुक और घोर संघर्ष जिसके बाद आती है एक कड़वी निराशा। इस तरह उससे काम चलानेसे कोई लाभ नहीं। जबतक तुम्हें कोई नया आसन नहीं मिल जाता तबतक उसे बन्द रखना ही अधिक अच्छा है। मैं [यहां पुराने ऋषियोंकी ओर संकेत कर रहा हूँ जो एक आसन, एक स्थान और एक सुनिश्चित स्थिति स्थापित कर लेते थे जहां वे स्थिर होकर तबतक बैठे रहते थे जबतक उन्हें सिद्धि नहीं मिल जाती थी —परन्तु उस असानमें यदि अवांछित शक्तियां, जैसे असुर, अप्सरा आदि सफलता-पूर्वक व्याघात पहुँचाते तो वे (ऋषि) उसे छोड़ देते और कोई नया आसन खोजते।] इसके अतिरिक्त तुम्हारे ध्यानमें स्थिरताका अभाव है: तुम संघर्षरत मनसे ध्यान करते हो, परन्तु स्थिर मनमें, जैसा कि सभी योगियोंका मत है, अनुभव आता है — स्थिर जलमें ही ठीक-ठीक सूर्यका प्रतिबिंब पड़ता है, कटोरे-को खाली करनेपर ही आत्माका सोमरस उसमें ढाला जा सकता है। मन और हृदयको तबतक तैयार करते रहो जबतक कि सब कुछ तैयार हो जानेपर सारी चीजें एक सहज धारामें उनके अन्दर प्रवाहित होना आरम्भ नहीं कर देतीं।

*

हां, सामान्यतया नीरसता तब आती है जब प्राण — यहां निश्चय ही प्राणगत शरीर है — किसी क्रियाको या स्थितिको या अपनी कामनाओंकी अस्वीकृतिको नापसन्द करता और असहयोग आरम्भ कर देता है। परन्तु कभी-कभी इस स्थितिमेंसे गुजरना ही होता है, जैसे, अभावात्मक या नीरस अचंचलतामेंसे, जो कभी-कभी उस अवस्थामें आती है जब कि साधारण वृत्ति-प्रवृत्तिको बाहर निकाल दिया जाता है पर उसके स्थानमें अभी कुछ भी सुनिश्चित चीज (जैसे, शांति, हर्ष, उच्चतर ज्ञान या शक्ति और क्रिया) नहीं आयी

होती।

*

प्रकृतिकी साधारण ताजगी, शक्तिमत्ता और उत्साह प्राणसे दोनों तरहसे आते हैं: प्रत्यक्ष रूपमें, जब वह अपनी सहजवृत्तियों और आवेगोंको संतुष्ट करता होता है; अप्रत्यक्ष रूपमें, जब वह मानसिक, भौतिक या आध्यात्मिक क्रियाओंमें सहयोग देता है अथवा उनको अनुमति देता है। यदि प्राण नाराज होता है तो वह विद्रोह करता और युद्ध करता है। यदि प्राण अब अपने आवेगों और सहजवृत्तियोंपर आग्रह नहीं करता पर सहयोग भी नहीं देता तब या तो नीरसता उत्पन्न होती है या उदासीन स्थिति। नीरसता तब आती है जब प्राण निश्चेष्ट होता है पर निष्क्रिय रूपसे अनिच्छुक होता है, दिलचस्पी नहीं रखता; उदासीन स्थिति तब आती है जब वह न तो अनुमति देता है न अनिच्छुक होता है,—वस, मौन, निश्चेष्ट होता है। परन्तु यह उदासीन स्थिति ऊपरसे एक महत्तर अवतरण होनेपर ठोस स्थिरता और शान्तिमें घनीभूत हो सकती है। यह अवतरण प्राणको महज निश्चेष्ट ही नहीं बनाये रखता बल्कि, कम-से-कम, निष्क्रिय रूपसे, सहमत बना देता है। प्राणकी सक्रिय दिलचस्पी और सहमति होनेपर शान्ति सुखद या हर्षपूर्ण शान्ति बन जाती है अथवा ऐसी शक्तिशाली शान्ति बन जाती है जो कर्म या सक्रिय अनुभवको सहारा देती है या उनमें प्रवृत्त होती है।

*

प्राण तब बिलकुल ठीक रह सकता है जब चीजें तैरती हुई-सी आसानीसे बढ़ रही हों किन्तु जब कठिनाइयां प्रबल हो जाती हैं तो यह निराश होकर चित हो जाता है। और यह बात भी है कि यदि प्राणिक अहंकारको फुसलाया जाय तो वह उत्साही और सक्रिय हो सकता है।

*

इसका कारण यह था कि प्राण अपनी कामनाओं और ऐसी ही अन्य वस्तुओंके पंजेमें बहुत अधिक जकड़ा हुआ था, अब क्योंकि यह अकेला सक्रिय है तथा मानसिक संकल्प द्वारा नियंत्रित नहीं है इसलिये जब इसकी कामनाएं

पूरी नहीं होतीं तो यह लात मारता है, रोता-चिल्लाता है। जब मानव प्राणको मानसिक संकल्प द्वारा शासित और यथास्थान स्थापित नहीं किया गया होता तो उसकी सामान्य चेष्टा ऐसी ही होती है।

*

निःसंदेह यह निश्चल नीरवता ही थी—जरासी शुष्कता ऐसी किसी प्रतिक्रियाके रूपमें आई होगी जो भौतिक प्राणमें बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धमें 'अरुचि'के कारण पैदा हुई—क्योंकि भौतिक प्राण इस बाह्य अरुचिपर ही बहुत अधिक अवलम्बित रहता है। जब वह इस नीरवताका अधिक आदि हो जाता है तो यह शुष्कता विलीन हो जाती है।

*

स्नायु-सत्ता प्राणिक शक्तियोंके प्रभावके अधीन होती है। जब वे शक्तियां अस्वीकृत होतीं या बाहर धकेल दी जाती हैं तब यह (स्नायु-सत्ता) सुस्त हो जाती है और उन शक्तियोंको वापस बुलाना चाहती है—क्योंकि उसे प्राणिक क्रियाओंसे ही जीवनका सुख और शक्ति पानेका अभ्यास होता है, न कि ऊपरकी आध्यात्मिक या दिव्य शक्तिसे।

*

रेगिस्तान-जैसा उस समय बोध होता है जब प्राण बाधा उपस्थित करता है; वह जीवनको कामनाके द्वारा परिचालित करना चाहता है। जब उसे ऐसा नहीं करने दिया जाता तो वह जीवनको रेगिस्तान-जैसा समझता है और वही छाप मनपर भी डालता है।

हृदयमें जो दिव्य शक्ति है वह चैत्य शक्ति है।

*

निःसंदेह यह अधिक अच्छा होगा यदि प्राणको उसकी इस सच्ची क्रियाकी ओर ले आया जाय कि वह अपनी गलत क्रियाओंका त्याग कर दे तथा केवल आत्मोपलब्धिके विकास, चैत्यप्रेम और प्रकृतिके चैत्यीकरणके लिये प्रार्थना

करे। किन्तु यदि प्राण उदासीन रहे तो भी व्यक्ति ऊर्ध्व स्तरपर स्थित रहकर अवरोधके अधिक सक्रिय रूपोंसे छुटकारा पा सकता है।

IV

जो प्रमुख दोष सर्वदा ही रास्तेमें बाधक रहा है और जो अब अपनी चरम प्रधानताके साथ सबसे पृथक् दिखायी देता है वह निम्नतर प्राणसत्तामें अवस्थित है या कम-से-कम इस समय केंद्रीभूत है। यहां मेरा मतलब प्राणिक-भौतिक प्रकृतिके उस भागसे है जिसके साथ तुच्छ और हठी अहंकार जुड़ा होता है और जो बाह्य मानव व्यक्तित्वको परिचालित करता है; यह वह भाग है जो ऊपरी विचारोंको अवलम्ब देता है तथा अनुभव, चरित्र और कर्मके अभ्यासगत तरीकोंपर अधिकार रखता है। यहां मेरा सम्बन्ध सत्ताके अन्य भागोंके साथ नहीं है और मैं उच्चतर मन, चैत्य सत्ता या उच्चतर और विशालतर प्राण-प्रकृतिके अन्दरकी किसी चीजकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ। क्योंकि, जब निम्नतर प्राण ऊपर उठता है तो, ये कुछ समयके लिये ढक न भी जायं तो भी, इस निम्नतर प्राण-सत्ता तथा इस बाहरी व्यक्तित्वके द्वारा पीछेकी ओर ढकेल दिये जाते हैं। इन उच्चतर भागोंमें चाहे कुछ भी क्यों न हो, सत्यके लिये अभीप्सा, भक्ति या बाधाओं और विरोधी शक्तियोंको जीत लेनेका संकल्प क्यों न हो, वह सब सर्वांगपूर्ण नहीं बन सकता, वह मिश्रित या दूषित हुए बिना नहीं रह सकता अथवा तबतक फलप्रद नहीं बना रह सकता जबतक कि निम्नतर प्राण और बाहरी व्यक्तित्व दिव्य ज्योतिको स्वीकार नहीं कर लेते तथा परिवर्तित होनेके लिये राजी नहीं हो जाते।

यह आवश्यक था कि साधनाकी धारामें प्रकृतिके ये निम्नतर अंग सामने ले आये जायं जिसमें कि सत्ताके अन्य भागोंकी तरह ये भी निर्णायक चुनाव कर सकें तथा या तो रूपान्तरको स्वीकार करें या अस्वीकार कर दें। मेरा सारा कार्य इसी क्रियापर निर्भर करता है; यही इस योगकी निश्चयात्मिका अग्निपरीक्षा है। क्योंकि, यदि ये अंग न परिवर्तित हों तो भौतिक चेतना और पार्थिव जीवनमें रूपान्तर नहीं आ सकता। यदि यह कार्य नहीं हो जाता तो इससे पहले सम्पन्न की हुई किसी भी चीज, किसी भी आन्तरिक ज्योति, अनुभूति, आनन्दकी शक्तिका कोई भी अन्तिम मूल्य नहीं। यदि तुच्छ बाह्य व्यक्तित्व अपनी अन्ध और सीमित, अपनी तुच्छ और हीन, अपनी स्वार्थपूर्ण, मिथ्या और मूढ़ मानव-चेतनाको बनाये रखनेका हठ करे तो इसका मतलब है इस कार्य और साधनाको स्पष्ट रूपमें अस्वीकार कर देना। पुरानी विफलताके

किसी नये संस्करणको, बाहरी प्रकृतिके विधानमें कोई भी सच्चा और मौलिक परिवर्तन हुए बिना ही अन्तरमें होनेवाले किसी आंशिक और क्षणिक आध्यात्मिक उद्घाटन को अपनी अनुमति देनेका मेरा कोई उद्देश्य नहीं है। ऐसी स्थितिमें, यदि कोई साधक व्यवहारतः इस परिवर्तनको स्वीकार करनेको राजी न हो अथवा वह अपनी निम्नतर प्राण-सत्ता और अपने पुराने बाहरी व्यक्तित्वमें कोई परिवर्तन लानेकी आवश्यकताको मानना भी अस्वीकार कर दे तो मुझे इस निर्णयपर पहुँचनेका अधिकार है कि उसकी घोषणाएं चाहे जो भी क्यों न हों, उसने न तो मुझे और न मेरे योगको ही स्वीकार किया है।

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि यह परिवर्तन आसान नहीं है, इसे सिद्ध करनेका सक्रिय संकल्प तुरत नहीं आता और इसे दृढ़ बनाना कठिन है, और, बादमें भी, साधक अभ्यासकी शक्तिके विरुद्ध अपनेको बहुधा निस्सहाय अनुभव करता है। यह जाननेके कारण ही श्रीमाताजीने और स्वयं मैंने अपने चारों ओर रहनेवाले लोगोंको समय देनेमें पर्याप्त धैर्य दिखाया है और हम अब भी दिखा रहे हैं जिसमें कि साधनाका सच्चा भाव प्रकट हो, आकार ग्रहण करे और उनकी बाहरी सत्तामें सफलतापूर्वक कार्य करे। परन्तु किसी व्यक्तिके अन्दरका यह भाग यदि केवल हठी, आत्मप्रधान्य स्थापित करनेवाला या आक्रामक ही न बन जाय अपितु मन और संकल्प-शक्तिके द्वारा समर्थित और पोषित हो तथा वातावरणमें सर्वत्र फैल जानेकी चेष्टा करे तो फिर यह एक अलग और बहुत गम्भीर विषय बन जाता है।

निम्नतर प्राणसत्ताकी कठिनाई यह है कि यह अभी भी अपने पुराने स्वरूपसे गठबंधन किये हुए है और दिव्य ज्योतिके विरुद्ध विद्रोह किये हुए है। इसने केवल महत्तर सत्यके प्रति या मेरे तथा श्रीमाताजीके प्रति समर्पण का विरोध ही नहीं किया वरन् अभीतक उसमें इस प्रकारकी कोई इच्छा भी नहीं है और यह भावना भी प्रायः नहीं है कि सच्चा समर्पण क्या चीज है। जब निम्नतर प्राण यह मनोभाव ग्रहण करता है तो वह निम्नतर प्रकृतिके पुराने रूपों तथा पुराने व्यक्तित्वका निरन्तर समर्थन करता रहता है। जब-जब उन्हें निरुत्साहित किया जाता है तब-तब वह उनका पोषण करता और उन्हें वापस ले आता है तथा स्वतन्त्रताका अपना अधिकार जताता है—अपने ही अनगढ़ और अहंकारपूर्ण विचारों, कामनाओं, मन-मौजों, आवेगों या सुविधाओंका जब चाहे तब समर्थन और अनुसरण करनेकी स्वतन्त्रताका अधिकार प्रस्थापित करता है। वह चुपचाप या इतने सारे शब्दोंमें अपने स्वभावका—अपने मानवीय असंस्कृत स्वभावका अनुसरण करनेका, स्वयं जो कुछ है वही बने रहनेका—जो कुछ उसका स्वाभाविक मूल अपरिवर्तित स्वरूप है, सत्ताके

इस अंगके लिये स्वाभाविक सभी मिथ्यात्व, अज्ञान और असंगतिसे युक्त जो उसका यह स्वरूप है वही बने रहनेका अधिकार घोषित करता है। और वह इस समस्त अशुद्ध और निम्नतर पदार्थको वाणी, कर्म और चरित्रमें अभिव्यक्त करनेके अधिकारकी मांग करता है, अथवा सिद्धान्ततः तो मांग नहीं करता पर व्यवहारतः उसका दावा करता है। वह सोचने, बोलने और अनुभव करनेके पुराने अभ्यासगत तरीकोंको पुष्ट करता, विस्तारित करता, भड़कीले रंगोंसे रंगता है और अनन्त कालतक बनाये रखनेकी तथा चरित्रमें जो कुछ विकृत और विरूप हो गया है उसे अमर बना देनेकी कोशिश करता है। यह सब वह कभी-कभी तो खुले तौरपर आत्माधिकार जताकर और विद्रोह करके करता है, जो कुछ उसके विरुद्ध किया गया या कहा गया है उसपर भूल या दमन या अन्यायकी छाप लगाकर करता है और कभी-कभी आत्म-प्रतारणाके पर्देके पीछेसे या दंभका नकाब पहनकर करता है, कहता एक चीज है और करता दूसरी चीज है। वह बहुधा स्वयं अपने-आपको यह समझा लेनेकी तथा दूसरोंको यह विश्वास दिला देनेकी चेष्टा करता है कि केवल ये ही बातें उसके लिये या सबके लिये उचित समझदारीकी बातें हैं और कार्य करनेकी समुचित विधि हैं अथवा ये ही योगकी सच्ची क्रियाके अंग हैं।

जब इस निम्नतर प्राणको कार्यपर प्रभाव विस्तारित करनेकी स्वीकृति दी जाती है, जैसा कि उस समय होता है जबकि साधक किसी भी ढंगसे उसकी सूचनाओं-का उसके मतका, चाहे वह सब उससे छिपा हो या ऊपरी तलपर प्रकट हो, समर्थन करता है, तब निम्न प्राण ही उसकी वाणी और कर्मको पर्याप्त मात्रामें अनु-प्रेरित करता है और उसके विरुद्ध साधक कोई गंभीर विरोध नहीं उपस्थित करता। यदि वह अपने प्रति निश्छल हो और श्रीमाताजीके प्रति सच्चा हो तो वह मूलस्रोत तथा बाधाके स्वरूपको समझना आरम्भ कर देगा और बहुत शीघ्र इसे सुधारने और परिवर्तित करनेके सीधे मार्गपर आ जायगा। परन्तु विरोधी प्रभावके अधीन होनेपर वह ऐसा करना निरन्तर अस्वीकार करता है; वह इन सब क्रियाओंको किसी-न-किसी प्रकारके आच्छादन, अस्वीकृति, समर्थन या बहानेके द्वारा अथवा किसी दूसरी चीजकी ओटमें छिपाये रखना अधिक पसन्द करता है।

प्रकृतिके अन्दर यह विरोध कुछ विशिष्ट आकार ग्रहण करता है जो अस्तव्यस्तता और रूपान्तरकी कठिनाईको और भी बढ़ा देते हैं। इनमेंसे कुछ आकारोंकी रूप-रेखा बतलाना आवश्यक है, क्योंकि ये काफी प्रचलित हैं, कुछ लोगोंमें कम और दूसरोंमें अधिक मात्रामें विद्यमान होते हैं और इनका प्रबल तथा स्पष्ट शब्दोंमें भंडाफोड़ करनेकी आवश्यकता है।

1. एक प्रकारका मिथ्याभिमान, अहंकार और आत्म-प्राधान्य स्थापित करनेवाली उग्र राजसिक भावना — जिन लोगोंके इन अंगोंमें प्रबल शक्ति होती है उनके लिये ये चीजें प्राण-शक्ति और नेतृत्व करने तथा अधिकार जमानेकी आदतकी — उच्चतर प्राणकी कुछ विशेषताएं उन्हें यह सब चीजें प्रदान करती हैं — विकृति हैं। इनके साथ-साथ जुड़ा होता है अत्यधिक आत्माभिमान जो प्रभाव स्थापित करने, किसी भी तरह पद-प्रतिष्ठा बनाये रखने, यहांतक कि दूसरोंके सामने ढोंग करने, उन्हें प्रभावित करने, वशमें करने या "सहायता करने", एक उच्च साधककी, महत्तर ज्ञान और गुह्य शक्तियोंसे सम्पन्न साधककी भूमिकाका दावा करनेकी आवश्यकता उत्पन्न करता है। बृहत्तर प्राण-सत्ताको भी अपनी शक्तियां और क्षमताएं दिव्य शक्तिके हाथोंमें समर्पित कर देनी होती हैं जिससे कि वे शक्तियां और क्षमताएं आती हैं तथा उन्हें केवल श्रीमाताजीके यंत्रके रूपमें एवं उन्हींके निर्देशोंके अनुसार व्यवहृत करना होता है। यदि वह (बृहत्तर प्राण-सत्ता) अपने अहंके दावेके साथ हस्तक्षेप करे और अपनेआपको श्रीमाताजी और कार्यके बीचमें या श्रीमाताजी और अन्य साधकोंके बीचमें ला रखे तो उसकी स्वाभाविक शक्तियां चाहे जो भी क्यों न हों, सच्चे पथसे च्युत हो जाती है, कार्यको नष्ट कर देती है, विरोधी शक्तियों और अनुचित कार्योंको ले आती है और उन लोगोंको हानि पहुँचाती है जिनके विषयमें वह समझती है कि उन्हें सहायता कर रही है। जब ये चीजें निम्नतर प्राणिक प्रकृति और बाह्य व्यक्तित्वकी तुच्छतामें संक्रमित हो जाती हैं और निम्नतर तथा तुच्छतर रूप ले लेती हैं तब ये दिव्य सत्यके लिये और भी अधिक मिथ्या, असंगत और विकृत बन जाती हैं तथा साथ-ही-साथ बुरी तरह, यद्यपि संकीर्णतर धारामें ही, हानिकारक भी हो सकती हैं। सच पूछा जाय तो अपनी साधनाको विफल करने और विरोधी शक्तियोंके प्रभावकी ओर खोल देने अथवा यहांके सामुदायिक (आध्यात्मिक) कार्यमें उनका आवाहन करनेका इससे अच्छा दूसरा कोई पथ नहीं है। मिथ्याभिमान, अहंकार और राजसिक उग्रताके ये दोष छोटीसी मात्रामें तो अधिकांश मानव-स्वभावोंमें विद्यमान हैं और ये दूसरे रूप ग्रहण कर लेते हैं, पर उस हालतमें भी ये किसी भी सच्चे आध्यात्मिक परिवर्तनके मार्गमें बहुत बड़ी बाधा बन जाते हैं।

2. अनाज्ञाकारिता और अनुशासनहीनता। सत्ताका यह निम्नतर भाग सदा ही असंयत, मनमौजी और स्वाग्रही होता है तथा उसके ऊपर जब किसी प्रकारकी आज्ञा और अनुशासन लादे जाते हैं जो उसकी अपनी भावना या आवेगसे भिन्न होते हैं तो वह उन्हें स्वीकार करनेमें अनिच्छुक होता है। उच्चतर प्राण प्रकृतिके ऊपर जो एक सच्ची नवजन्मदात्री तपस्या लादना चाहता है

उसके मार्गमें इसके दोष प्रारम्भसे ही बाधा उत्पन्न करते हैं। आज्ञा और अनुशासनकी उपेक्षा करनेकी यह आदत इतनी प्रवल होती है कि यह आवश्यक रूपसे सर्वदा सुचिंतित नहीं होती; उसकी प्रतिक्रिया तुरत-फुरत, अदम्य और सहजात प्रतीत होती है। इस तरह श्रीमाताजीके प्रति आज्ञाकारी वने रहनेका वचन तो बार-बार दिया जाता है और उसकी घोषणा की जाती है, परन्तु जो कार्य किया जाता है अथवा जिस धाराका अनुसरण किया जाता है वह अधिकांश समय उस घोषणा या प्रतिज्ञाके एकदम विपरीत होता है। यह सतत अनुशासनहीनता साधनाकी एक प्रधान बाधा है और दूसरोंके लिये यथासम्भव सबसे बुरा उदाहरण है।

3. कपटाचार और मिथ्याभाषण। यह निम्न प्रकृतिका अत्यन्त हानिकारक अभ्यास है। जो लोग स्पष्टवादी और निष्कपट नहीं हैं वे श्रीमाताजीकी सहायता-से लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि वे स्वयं ही उसे वापस लौटा देते हैं। जबतक वे परिर्वात्तत नहीं हो जाते, वे अपनी निम्न-प्राणिक और भौतिक प्रकृतिमें अतिमानसिक ज्योति और सत्यके अवतरणकी आशा नहीं कर सकते; वे स्वयं अपने ही सृष्ट पंकमें फंसे रहते हैं और कभी प्रगति नहीं कर सकते। वहुधा साधकमें केवल यही नहीं देखा जाता कि अतिरंजन या कल्पनाका मिथ्या प्रयोग करके वह यथार्थ सत्यपर रंग चढ़ा देता है बल्कि वह तथ्योंको स्पष्ट रूपमें अस्वीकार कर देता, विकृत कर देता तथा मिथ्या रूप देकर छिपा देता है। ऐसा वह कभी तो अपनी अवज्ञा या कर्मकी गलत या संदिग्ध धाराको छिपानेके लिये करता है और कभी अपनी पद-प्रतिष्ठाको वनाये रखनेके लिये करता है, दूसरे अवसरोंपर अपने तरीकेपर चलनेके लिये या अपनी पसन्दकी आदतों और कामनाओंको प्रश्रय देनेके लिये करता है। अधिकांश समय मनुष्यमें जब इस प्रकारकी प्राणिक आदत होती है तो वह अपनी चेतनाको ही धूमिल बना देता है और जो कुछ वह कहता या करता है उसके मिथ्यापनको बिलकुल ही समझ नहीं पाता; परन्तु वह जो कुछ कहता और करता है उसमें उसे इतना थोड़ासा वहाना भी करने देनेका मौका देना बिलकुल असम्भव है।

4. निरन्तर अपना समर्थन करनेकी खतरनाक आदत। जब यह आदत साधकमें प्रवल हो उठती है तो उसे उसकी सत्ताके इस भागमें यथार्थ चेतना और क्रियाकी ओर मोड़ना असम्भव हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक पगपर उसका सम्पूर्ण कार्य ही होता है स्वय अपनी बातका समर्थन करना। उसका मन तुरत अपने ही विचारको, अपनी निजी पद-प्रतिष्ठाको या अपनी निजी कार्यधाराको बनाये रखनेके लिये दौड़ आता है। इसे वह किसी भी प्रकारका तर्क करके करनेको तैयार रहता है; कभी-कभी तो वह अत्यन्त भद्दा और मूर्खतापूर्ण

तर्क देता है अथवा एक क्षण पहले जो कुछ कहकर वह विरोध कर रहा था उससे भिन्न बातें भी कह डालता है, किसी भी प्रकारका गलत बयान दे देता या कोई भी उपाय काममें ले लेता है। यह एक प्रकारका सार्वजनीन कुव्यवहार है, पर अल्पांशमें चिंतनशील मनका कुव्यवहार है; परन्तु उसके अन्दर यह एक अतिरंजित आकार ग्रहण कर लेता है और जबतक वह उसे बनाये रखता है तबतक दिव्य सत्यको देखना या जीवनमें उतारना उसके लिये असम्भव ही होता है।

प्रकृतिकी चाहे जो भी कठिनाइयां क्यों न हों, उनके साथ जूझनेकी प्रक्रिया चाहे जितनी भी लम्बी और दुःखदायी क्यों न हो, वे दिव्य सत्यके विरुद्ध अन्ततक नहीं ठहर सकतीं, बशर्त्ते कि सत्ताके इन भागोंमें सच्ची लगन, सच्चा भाव और सच्चा प्रयास हो या आ जाय। परन्तु साधक यदि आत्माभिमान या हठके वश या तामसिक जड़ताके वश अपनी आंखें बन्द किये रखे या दिव्य ज्योतिके विरुद्ध अपने हृदयको कठोर बनाये रखे तो जबतक वह वैसा करता रहेगा कोई भी उसे मदद नहीं कर सकता। दिव्य परिवर्तनके लिये समस्त सत्ताकी अनुमति आवश्यक है, और जब यह अनुमति अपनी पूर्णताको प्राप्त कर लेती है और सम्पूर्ण मात्रामें होती है तो ही सर्वांगपूर्ण समर्पण करना सम्भव होता है। परन्तु निम्न प्राणकी यह अनुमति महज एक मानसिक स्वीकृति या कोई बाह्य भावनात्मक समर्थन नहीं होनी चाहिये; इसे एक स्थायी मनोभाव तथा एक सतत और अनुरूप क्रियामें रूपांतरित हो जाना चाहिये।

इस योगको केवल वे ही लोग अन्ततक कर सकते हैं जो इसे करनेके लिये सम्पूर्ण उद्यत हैं तथा अपने-आपको भगवान्‌के अन्दर ले जानेके लिये अपने तुच्छ मानवीय अहं और उसकी मांगोंको निश्चिह्न करनेके लिये तैयार हैं। यह हलकेपन या ढीलेपनके भावके साथ नहीं किया जा सकता; यह कार्य अत्यन्त ऊंचा और कठिन है। फिर निम्नतर प्रकृतिकी विरोधी शक्तियां कम-से-कम अनुमति या छोटे-से-छोटे उद्‌घाटनका लाभ उठानेके लिये अत्यधिक तत्पर रहती हैं। इसके लिये अत्यन्त सतत और तीव्र अभीप्सा और तपस्याकी आवश्यकता है। यदि मानव-मनके विचार धृष्टतापूर्वक अपने-आपको प्रस्थापित करनेकी चेष्टा करें या सत्ताके निम्नतम भाग अपनी मांगों, सहजवृत्तियों और स्वत्वोंकी मनमानी तुष्टि करना चाहें जिनका लोग मानव-स्वभावके नामसे सामान्यतया समर्थन किया करते हैं तो फिर यह योग नहीं किया जा सकता। यदि तुम अज्ञानकी इन निम्नतम चीजोंको दिव्य सत्यके साथ अथवा पथपर स्वीकार्य किसी निम्न कोटिके सत्यके साथ भी एकरूप माननेका हठ करो तो यह योग नहीं किया जा सकता। यदि तुम अपने पूर्व-स्वरूपसे तथा उसकी

पुरानी मानसिक, प्राणिक और भौतिक रचनाओं तथा अभ्यासोंसे चिपके रहो तो यह योग नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो मनुष्यको निरन्तर अपने पुराने स्वरूपोंको पीछे छोड़ते जाना होता है और सर्वदा उच्चसे उच्चतर सचेतन स्तरोंसे देखना, कर्म करना तथा जीवन यापन करना होता है। यदि तुम अपने मानव मन और प्राणिक अहंकारकी "स्वतन्त्रता"के लिये आग्रह करो तो यह योग नहीं किया जा सकता। जबतक मनुष्य साधारण जीवन यापन करना चाहता है तबतक, यदि वह ऐसा करना पसन्द करे तो, उसकी सत्ताके सभी अंगोंको यह अधिकार है कि वे अपने-आपको अपने निजी तरीकेसे और अपने निजी खतरों और विपत्तियोंका सामना करते हुए अभिव्यक्त करें। परन्तु योगके मार्गमें प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवालेकी बात दूसरी है। योगका सम्पूर्ण उद्देश्य है इन मानवीय चीजोंके स्थानमें किसी महत्तर सत्यके विधान और शक्तिको ला बैठाना और उसकी पद्धतिका सम्पूर्ण सार है भगवती शक्तिके प्रति आत्म-समर्पण करना। ऐसा न कर यदि वह इस तथाकथित स्वतन्त्रताकी मांग करने लगे — यह तो किन्हीं अज्ञानपूर्ण विश्व-शक्तियोंकी अधीनतासे अधिक और कुछ नहीं है,—तो इसका मतलब है कि वह आंख मूँदकर एक विपरीत जीवन बिताना चाहता है और (साधारण तथा आध्यात्मिक जीवनका मिला-जुला) एक द्विविध जीवन बितानेका अधिकार मांगता है।

और फिर, यदि कोई यह घोषित करे कि वह इस योगका साधक है, और सर्वदा अज्ञानकी उन शक्तियोंका केंद्र, यंत्र या मुखपात्र बना रहे जो इसके सिद्धांत और उद्देश्यका विरोध करती हैं, उन्हें अस्वीकार करती हैं तथा उनकी खिल्ली उड़ाती हैं, तो उसके लिये यह योग करनेकी और भी कम सम्भावना है। एक ओर तो है अतिमानसिक सिद्धि, अतिमानसिक भगवान्‌की ऊपर छायी हुई और अवतरित होती हुई शक्ति, पृथ्वीपर अबतक उपलब्ध किसी भी सत्यसे अति महान् परम सत्यकी ज्योति और शक्ति, अतएव एक ऐसी वस्तु जो उस वस्तुके परे है जिसे तुच्छ मानव-मन और उसकी तर्क-बुद्धि एकमात्र स्थायी सत्य समझती हैं और जिसके यहांपर होनेवाले विकासके स्वरूप, पथ और प्रक्रियाका अनुमान मानव-मन और बुद्धि नहीं कर सकती अथवा अपने अयोग्य उपकरणोंके द्वारा देख-समझ नहीं सकती अथवा अपने तुच्छ मानदण्डोसे विचार नहीं कर सकती; समस्त बाधा-विरोधके होते हुए भी यह अतिमानसिक शक्ति भौतिक चेतना और स्थल-भौतिक जीवनमें अभिव्यक्त होनेके लिये नीचेकी ओर दबाव डाल रही है। और दूसरी ओर है यह निम्नतर प्राणिक प्रकृति और उसका समस्त झूठा अहंकार, अज्ञान, अंधता, जड़ता या अक्षम उत्तेजना। यह प्राणिक प्रकृति अपने-आपको बनाये रखनेके लिये डटी हुई है, अवतरणको

बाधा दे रही है; यह अतिमानसिक या अतिमानवीय चेतना और सृष्टिकी किसी यथार्थ सत्यता या सच्ची सम्भावनामें विश्वास करना अस्वीकार करती है, अथवा, इससे भी कहीं अधिक बुरी बात यह है कि, वह यह मांग करती है कि, यदि अतिमानसिक शक्तिका कुछ भी अस्तित्व है तो, उसे इसीके तुच्छ मान-दण्डोंका समर्थन करना चाहिये; यह ऐसी प्रत्येक चीजको आतुरताके साथ पकड़ लेती है जो उसका खण्डन करती हुई प्रतीत होती है; यह भगवान्‌की उपस्थितिको अस्वीकार करती है—क्योंकि यह जानती है कि उस उपस्थितिके विना यह काम असम्भव है; यह चिल्ला-चिल्लाकर अपने ही विचारों, निर्णयों, कामनाओं, सहजवृत्तियों आदिको प्रस्थापित करती है और यदि इन सबका खण्डन किया जाता है तो संदेह, अस्वीकृति, निंदात्मक आलोचना, विद्रोह तथा अस्त-व्यस्तता आदिको विस्तृत रूपसे फेंककर उसका प्रतिकार करती है। आज हमारे सामने ये दो चीजें हैं जिनमेंसे प्रत्येक मनुष्यको चुनाव करना होगा।

क्योंकि, भागवत सत्यके विरुद्ध उठनेवाला यह विरोध, यह निस्सार अटकाव और घेराव सदा नहीं टिक सकता। प्रत्येक मनुष्यको अन्तमें इस ओर या उस ओर, दिव्य सत्यके पक्षमें या उसके विपक्षमें अवश्य आ जाना पड़ेगा। यह सम्भव नहीं कि निम्नतर अज्ञान एक ओर बना रहे और उसके साथ-ही-साथ अतिमानसिक सिद्धि भी बनी रहे। द्विविध प्रकृतिके अन्दर प्राप्त सतत संतुष्टिके साथ इस सिद्धिका कोई मेल नहीं बैठ सकता।

*

इस प्रकारके संघर्षका केवल एक ही "हल" हो सकता है,—इन वेदनोंके इस मूल कारणको पहचानना कि ये पुरानी प्राणिक प्रकृतिकी क्रियाएं हैं, तथा इन प्राणिक सुझावोंको, उन विरोधी शक्तियोंके सुझाव समझते हुए परित्याग करना जो तुम्हें ऋजु मार्गसे धकेल देना चाहती हैं। यदि साधकका मन इन प्राणिक क्रियाओंका अनुमोदन करे, यदि उसकी प्रकृतिका कोई हिस्सा उसका स्वीकार करे और उसे पाले-पोसे, तो जबतक वह उन्हें ऐसा करने देता है तबतक संघर्षसे मुक्त नहीं हो सकता।

ये सारे सुझाव सुपरिचित है, और उनका बाह्यरूप और मूलतत्व दोनों सदैव एक जैसे ही होते हैं। प्रतिक्रियाएं भी हमेशा वही होती हैं और स्वयं उनका स्वरूप ही अपनी उत्पत्तिके स्रोतको बतानेके लिये पर्याप्त होता है,—वह है अतृप्त कामनासे उत्पन्न निराशा, उदासी, असन्तोष, दुःख, शिकायत और अन्यायकी भावना, विद्रोह, तमस् एवं जड़तामें पतन (क्योंकि प्राणिक सत्ता

आध्यात्मिक प्रयासमें हिस्सा लेनेसे तबतक इनकार करती है जबतक इसकी अहंतापूर्ण मांगोंको मान नहीं लिया जाता), शुष्कता, नीरसता, साधनाको बीचमें ही छोड़ बैठना। यहां तक कि उन्हीं वाक्यांशोंको दुहराया जाता है —'इस जिन्दगीमें कोई जान नहीं है", "घुटन," "सीमाबन्धन," "हवाबन्द कमरा"; और इस सबका केवल यही अर्थ है कि निम्नतर प्राणिक प्रकृति — या उसका कोई हिस्सा — बगावत कर रहा है और अतिमानसिक परिवर्तनकी ओर ले जानेवाले दिव्य सत्य और तपस्यासे भिन्न किसी वस्तुकी कामना करता है। आखिर जब यह दिव्य जीवनके उपकरणके रूपमें बदलनेके लिये अपनेपर दबाव अनुभव करता है तब अहंकार, कामना, दावे और मांगका त्याग करनेसे अथवा सच्चे आत्मदान एवं समर्पणको अंगीकार करनेसे इनकार करता है। इस दबावको ही वह घुटन कहता है। अपनी कामनाओंको फैलानेकी और अपने लिये एक बड़ासा स्थान बनानेकी मनाहीको ही वह सीमा बन्धन कहता है। स्थिरता, पवित्रता, समाहित नीरवता जो अतिमानसिक परिवर्तनके लिये की जानेवाली तपस्याके आधार हैं,—इन्हींको वह "जिन्दगीका अभाव" कहकर कलंकित करता है। सत्य शासन, आत्मसंयम एवं आत्म-प्रभुत्वपर आग्रह तथा दावे और मांगपर नियंत्रणको ही वह "हवा बन्द कमरा" कहता है। और निकृष्टतम सुझाव एवं अत्यधिक खतरनाक वंचनाएं तो तब आती हैं जब मांग और कामनाकी यह भावना आध्यात्मिकताका कपटवेश धारण कर एक ऐसा रूप ग्रहण करती है जो साधकको यह प्रतीति कराता है कि यह योगका ही अंग है।

निम्नतर प्राणिक प्रकृतिके इस घेरेसे बचनेका केवल एक ही उपाय है। और यह है सब अहंमूलक प्राणिक मांग, दावे और कामनाका सम्पूर्ण त्याग और अतृप्त प्राणिक आवेगके स्थानपर चैत्य अभीप्साकी पवित्रताका पुनः स्थापन। इसका सच्चा समाधान न तो इन प्राणिक आक्रोशोंकी तृप्ति है न तापस-निवृत्ति ही, किन्तु भगवान्‌के प्रति प्राणिक सत्ताका समर्पण और उस परमसत्यके प्रति अनन्य चित्तसे आत्म-निवेदन जिसमें कामना और मांग प्रवेश नहीं कर सकतीं। क्योंकि परम सत्यकी प्रकृति है प्रकाश और आनन्द, तथा जहां कामना और मांग होती है वहां आनन्द नहीं रह सकता।

प्राणिक मांग नहीं बल्कि केवल चैत्य प्रेरणा ही प्रकृतिको अतिमानसिक रूपान्तरके समीप ला सकती है; क्योंकि एकमात्र यही मानसिक और प्राणिक सत्ताको बदल सकती है और उन्हें उनकी निजी सत्य क्रिया दिखा सकती है। किन्तु प्राणिक मांगको निरन्तर चैत्य-अभीप्सा समझा जा रहा है; और फिर भी इनका भेद स्पष्ट है। चैत्य अभीप्सामें इनमेंसे एक भी प्रतिक्रिया नहीं होती,

कोई विद्रोह नहीं होता, न विद्रोहको उचित ही ठहराया जाता है; क्योंकि चैत्य भगवान्के साथ आन्तर-मिलन और उसके प्रति समर्पण द्वारा अभीप्सा करता है। वह न कोई शंका करता है और न कोई चुनौती ही देता है, किन्तु भगवान्के संकल्पके साथ एक होकर समझनेकी चेष्टा करता है। यह क्षुद्र व्यक्तिगत तुष्टियोंकी मांग नहीं करता, किन्तु सत्ताके भीतर सत्यके विकासमें ही सन्तोष अनुभव करता है; जिसे यह खोजता और पा लेता है वह कोई प्राणिक और भौतिक मांगकी पूर्ति नहीं बल्कि है एक सच्चा सामीप्य : जिसका स्वरूप होता है हृदयके भीतर भगवान्की सतत उपस्थिति और समग्र प्रकृतिपर भगवान्का शासन। चैत्यकी हमेशा यही पुकार होती है "सत्यकी विजय हो, तेरी इच्छा पूर्ण हो, मेरी नहीं"। पर प्राणका शोरशराबा इसके विपरीत होता है, वह भगवान्से पुकार-पुकारकर कहता है "मेरी इच्छा तेरी इच्छा बनें; मेरी मांगोंको पूरा कर, मेरी कामनाओंको संतुष्ट कर केवल तभी मैं तेरी खोज करूँगा और तुझे मानूँगा, क्योंकि मैं तभी तुझमें भगवान्के दर्शन करनेको राजी होऊंगा"। यह बताना शायद ही आवश्यक हो कि सत्यकी ओर ले जानेवाला मार्ग कौनसा है या प्रकृतिमें होनेवाले किसी भी संघर्षका सच्चा समाधान क्या है।

एकमात्र जिस सृष्टिके लिये यहां कोई स्थान है वह है अतिमानसिक सृष्टि, भागवत सत्यको पृथ्वीपर केवल मन और प्राणमें ही नहीं किन्तु शरीरमें, जड़तत्वके भीतर भी उतार लाना। हमारा लक्ष्य अहंकारके प्रसारपरसे सब "सीमाओं" को हटा देना नहीं है या मानव मनके विचारोंकी अथवा अहं केंद्रित प्राण शक्तिकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये स्वतन्त्र क्षेत्र प्रदान करना और अपरिमित स्थान बनाना नहीं है। हममेंसे कोई भी आदमी यहां "अपनी इच्छानुसार कार्य करनेके लिये", या ऐसे जगत्की सृष्टि करनेके लिये नहीं आया है जिसमें अन्ततोगत्वा हम अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकें; हम यहां भगवान्के संकल्पको पूरा करने और एक ऐसे जगत्को बनानेके लिये आये हैं जिसमें भागवत संकल्प अपने सत्यको इस प्रकार प्रकट कर सके कि वह फिर मानव अज्ञान द्वारा विरूप या प्राणिक कामना द्वारा विकृत एवं मिथ्यारूपमें परिवर्तित न हो। जो काम अतिमानस योगके साधकको करना है वह उसका अपना ऐसा काम नहीं है जिसके लिये वह अपनी शर्तें निर्धारित कर सके बल्कि यह भगवान्का काम है जिसे उसे भगवान्के द्वारा निर्धारित शर्तोंके अनुसार ही करना है। हमारा योग हमारे अपने लिये नहीं है किन्तु भगवान्के लिये है। हमें अपनी व्यक्तिगत अभिव्यक्तिकी सभी सीमाओं और बन्धनोंसे मुक्त व्यक्तिगत अहंकी अभिव्यक्तिकी नहीं किन्तु भागवत अभिव्यक्तिकी खोज करनी है। हमारी

अपनी आध्यात्मिक मुक्ति, पूर्णता, समग्रता, उस अभिव्यक्तिका एक परिणाम और अंग होना चाहिये, किन्तु किसी आहंकारिक भावमे या किसी स्वार्थमय उद्देश्यके लिये नहीं। इस मुक्ति, पूर्णता और समग्रताका अनुसरण भी हमें अपने लिये नहीं किन्तु भगवान्के लिये ही करना होगा। मैं सृष्टिके इस स्व-रूपपर इसलिये बल देता हूँ कि इस सरल और केन्द्रीय सत्यका सतत विस्मरण, इसके सम्बन्धमें एक सचेतन, अर्धचेतन या पूर्णतः अज्ञानयुक्त अस्तव्यस्तता उन अधिकतर प्राणिक विद्रोहोंके मूलमें रही है जिसने यहां बहुतसी व्यक्तिगत साधना-ओंको बरबाद कर दिया है तथा सामान्य आन्तरिक कार्यकी प्रगति और आध्या-त्मिक वातावरणको विक्षुब्ध कर दिया है।

क्योंकि अतिमानसिक सृष्टिको पृथ्वीपर उत्पन्न होना है इसलिये इसे केवल एक आन्तरिक परिवर्तन ही नहीं किन्तु एक भौतिक और बाह्य अभिव्यक्ति भी होना होगा। और निश्चित रूपसे कार्यके इस भागके लिये ही जो कि सबसे अधिक मुश्किल है, समर्पणकी सर्वाधिक आवश्यकता है; यही कारण है कि जड़तत्वमें अतिमानसिक भगवान्का वास्तविक अवतरण और भागवत उपस्थिति एवं शक्तिकी क्रिया ही भौतिक और बाह्य परिवर्तनको सम्भव बना सकती है। मानवके संकल्प एवं प्रयत्नका अधिक-से-अधिक प्रबल स्व-प्रतिष्ठापन भी इसे सम्पन्न करवानेमें असमर्थ होता है; जहांतक आहंकारिक हठ और प्राणिक विद्रोहका प्रश्न है वे जबतक रहते हैं तबतक अवतरणमे अलंघ्यरूपसे बाधक होते हैं। केवल एक शान्त, पवित्र और चैत्य-अभीप्सासे भरपूर समर्पित भौतिक चेतना ही इस अवतरणका क्षेत्र बन सकती है; एकमात्र यही चेतना प्रकाश और शक्तिके प्रति स्थूल-सत्ताका सफल उद्‌घाटन करा सकती है और अतिमानसिक परिवर्तनको एक यथार्थ और क्रियात्मक वस्तु बना सकती है। इसी लिये हम यहां शरीरमें निवास करते हैं और इसीके लिये तुम और अन्य साधक इस आश्रममें हमारे समीप आये हैं। किन्तु बाह्य क्षेत्रोंमें क्षुद्र मांगों और तृप्तियोंपर या प्राणिक प्रकृति और उसके गर्व अथवा कामनाको प्रसन्न करनेवाले बाह्य सामीप्यपर आग्रह रखनेके द्वारा तुम इस क्षेत्रमें भगवान्के साथ सच्चे सम्बन्धको प्राप्त नहीं कर सकते। यदि तुम वहां कोई उपलब्धि प्राप्त करना चाहते हो तो सच्चे सामीप्यकी, अपनी भौतिक चेतनामें माताजीके अवतरण और उपस्थितिकी, स्थूल सत्ता और उसकी प्रवृत्तियोंमें उनके सतत आन्तर संस्पर्शकी, सब कार्य, विचार और गतिविधिके पीछे रहनेवाले उनके संकल्प एवं ज्ञानकी तथा सामीप्यके उस शाश्वत आनन्दकी खोज करनी होगी जो समस्त प्राणिक एवं भौतिक पार्थक्य, लालसा और वासनाको निकाल बाहर करता है। यदि तुमने उसे पा लिया हो तो तुमने वह सारा सामीप्य पा लिया

जिसकी तुम चाहना कर सकते हो और शेषको तुम माताजीके ज्ञान और संकल्प-के निर्णयपर सहर्ष छोड़ दोगे। क्योंकि अगर ये चीजें तुम्हारे अन्दर हों तो तुममें ऐसा कोई भाव नहीं हो सकता कि तुम्हें दूर हटाया जा रहा है, न तुममें खाई एवं दूरीका कोई बोध, बिछोहकी या एक शून्य शुष्कताकी तथा सामीप्यके अभावकी कोई शिकायत ही रह सकती है।

एक ऐसा समय आता है जब मानसिक और प्राणिक सत्ताकी एक लम्बी तैयारीके बाद भौतिक प्रकृतिका उद्‌घाटन भी आवश्यक हो जाता है। किन्तु जब वह होता है तो बहुधा प्राणिक उल्लास जो अपनी ही भूमिकापर होनेके कारण बहुत तीव्र हो सकता है,—दूर हट जाता है और अन्धकारमयी अवरोधक भौतिक और स्थूल जड़ चेतना अपने अनिर्मुक्त तमस्‌के साथ प्रकट हो जाती है। जड़ता, तमस्, मूर्खता, संकीर्णता एवं सीमितता, प्रगतिकी अक्षमता, संशय, नीरसता, शुष्कता, प्राप्त आध्यात्मिक अनुभवोंका सतत विस्मरण ये सब उस समय असंस्कृत भौतिक प्रकृतिके लक्षण होते हैं। तब वह प्राण द्वारा प्रेरित नहीं होती और न उसे उच्चतर मानसिक संकल्प और बुद्धिका सहारा ही मिलता है। तुम्हारे साथ कुछ समयके लिये जो हुआ वह अंशतः यही कुछ हुआ प्रतीत होता है; किन्तु इसमेंसे निकलनेका मार्ग यह है कि किसी प्राणिक विद्रोह और होहल्लेसे भौतिक सत्ताको उत्तेजित न किया जाय, अथवा अपनी इस दशाके लिये परिस्थितियों या माताजीको दोष न दिया जाय,—यह केवल स्थितिको और भी खराब कर देगी तथा तमस्, शुष्कता एवं जड़ताको बढ़ा देगी — किन्तु मार्ग है इस बातको पहचानना कि यहां तुम्हारी प्रकृतिमें वैश्व प्रकृतिका कोई तत्व प्रतिबिम्बित हुआ है जिसे तुम्हें बाहर निकालना होगा। और यह केवल अधिकाधिक समर्पण एवं अभीप्सा द्वारा और इस प्रकार प्राण और मनसे परेकी भूमिकासे दिव्य शान्ति, प्रकाश शक्ति तथा सामीप्यको भीतर लाकर ही किया जा सकता है। भौतिक प्रकृतिके रूपान्तर और उसकी पूर्णता-का यही एकमात्र उपाय है।

मैं नहीं समझता कि मैंने जो कुछ लिखा है उसके बाद तुम्हारे पत्रमें की गई उन विशिष्ट व्यक्तिगत शिकायतोंके विषयमें कोई बात जोड़नेकी आव-श्यकता है। शायद दो बातोंको स्पष्ट करनेकी जरूरत है। एक तो वह भारी श्रम जो माताजीको करना होता है उसे यदि भौतिक रूपसे जरा भी सम्भव बनाना हो तो कामकाज और बाहरी मांगोंके सम्बन्धमें, पत्र-व्यवहार और लोगोंसे "मिलने"के विषयमें जो व्यवस्थाएं की गई हैं, वर्तमान परिस्थितिमें एकमात्र वे ही शक्य है। दूसरे, निश्चय ही हम अपना काम बोलकर या लिख-कर करनेकी अपेक्षा , जो केवल गौण और हीनकोटिका हो सकता है, नीरव

अपनी आध्यात्मिक मुक्ति, पूर्णता, समग्रता, उस अभिव्यक्तिका एक परिणाम और अंग होना चाहिये, किन्तु किसी आहंकारिक भावमे या किसी स्वार्थमय उद्देश्यके लिये नहीं। इस मुक्ति, पूर्णता और समग्रताका अनुसरण भी हमें अपने लिये नहीं किन्तु भगवान्के लिये ही करना होगा। मैं सृष्टिके इस स्वरूपपर इसलिये बल देता हूँ कि इस सरल और केन्द्रीय सत्यका सतत विस्मरण, इसके सम्बन्धमें एक सचेतन, अर्धचेतन या पूर्णतः अज्ञानयुक्त अस्तव्यस्तता उन अधिकतर प्राणिक विद्रोहोंके मूलमें रही है जिसने यहां बहुतसी व्यक्तिगत साधनाओंको बरबाद कर दिया है तथा सामान्य आन्तरिक कार्यकी प्रगति और आध्यात्मिक वातावरणको विक्षुब्ध कर दिया है।

क्योंकि अतिमानसिक सृष्टिको पृथ्वीपर उत्पन्न होना है इसलिये इसे केवल एक आन्तरिक परिवर्तन ही नहीं किन्तु एक भौतिक और बाह्य अभिव्यक्ति भी होना होगा। और निश्चित रूपसे कार्यके इस भागके लिये ही जो कि सबसे अधिक मुश्किल है, समर्पणकी सर्वाधिक आवश्यकता है; यही कारण है कि जड़तत्वमें अतिमानसिक भगवान्का वास्तविक अवतरण और भागवत उपस्थिति एवं शक्तिकी क्रिया ही भौतिक और बाह्य परिवर्तनको सम्भव बना सकती है। मानवके संकल्प एवं प्रयत्नका अधिक-से-अधिक प्रबल स्व-प्रतिष्ठापन भी इसे सम्पन्न करवानेमें असमर्थ होता है; जहांतक आहंकारिक हठ और प्राणिक विद्रोहका प्रश्न है वे जबतक रहते हैं तबतक अवतरणमे अलंघ्यरूपसे बाधक होते हैं। केवल एक शान्त, पवित्र और चैत्य-अभीप्सासे भरपूर समर्पित भौतिक चेतना ही इस अवतरणका क्षेत्र बन सकती है; एकमात्र यही चेतना प्रकाश और शक्तिके प्रति स्थूल-सत्ताका सफल उद्घाटन करा सकती है और अतिमानसिक परिवर्तनको एक यथार्थ और क्रियात्मक वस्तु बना सकती है। इसी लिये हम यहां शरीरमें निवास करते हैं और इसीके लिये तुम और अन्य साधक इस आश्रममें हमारे समीप आये हैं। किन्तु बाह्य क्षेत्रोंमें क्षुद्र मांगों और तृप्तियोंपर या प्राणिक प्रकृति और उसके गर्व अथवा कामनाको प्रसन्न करनेवाले बाह्य सामीप्यपर आग्रह रखनेके द्वारा तुम इस क्षेत्रमें भगवान्के साथ सच्चे सम्बन्धको प्राप्त नहीं कर सकते। यदि तुम वहां कोई उपलब्धि प्राप्त करना चाहते हो तो सच्चे सामीप्यकी, अपनी भौतिक चेतनामें माताजीके अवतरण और उपस्थितिकी, स्थूल सत्ता और उसकी प्रवृत्तियोंमें उनके सतत आन्तर संस्पर्शकी, सब कार्य, विचार और गतिविधिके पीछे रहनेवाले उनके संकल्प एवं ज्ञानकी तथा सामीप्यके उस शाश्वत आनन्दकी खोज करनी होगी जो समस्त प्राणिक एवं भौतिक पार्थक्य, लालसा और वासनाको निकाल बाहर करता है। यदि तुमने उसे पा लिया हो तो तुमने वह सारा सामीप्य पा लिया

जिसकी तुम चाहना कर सकते हो और शेषको तुम माताजीके ज्ञान और संकल्पके निर्णयपर सहर्ष छोड़ दोगे। क्योंकि अगर ये चीजें तुम्हारे अन्दर हों तो तुममें ऐसा कोई भाव नहीं हो सकता कि तुम्हें दूर हटाया जा रहा है, न तुममें खाई एवं दूरीका कोई बोध, बिछोहकी या एक शून्य शुष्कताकी तथा सामीप्यके अभावकी कोई शिकायत ही रह सकती है।

एक ऐसा समय आता है जब मानसिक और प्राणिक सत्ताकी एक लम्बी तैयारीके बाद भौतिक प्रकृतिका उद्घाटन भी आवश्यक हो जाता है। किन्तु जब वह होता है तो बहुधा प्राणिक उल्लास जो अपनी ही भूमिकापर होनेके कारण बहुत तीव्र हो सकता है,—दूर हट जाता है और अन्धकारमयी अवरोधक भौतिक और स्थूल जड़ चेतना अपने अनिर्मुक्त तमस्‌के साथ प्रकट हो जाती है। जड़ता, तमस्, मूर्खता, संकीर्णता एवं सीमितता, प्रगतिकी अक्षमता, संशय, नीरसता, शुष्कता, प्राप्त आध्यात्मिक अनुभवोंका सतत विस्मरण ये सब उस समय असंस्कृत भौतिक प्रकृतिके लक्षण होते हैं। तब वह प्राण द्वारा प्रेरित नहीं होती और न उसे उच्चतर मानसिक संकल्प और बुद्धिका सहारा ही मिलता है। तुम्हारे साथ कुछ समयके लिये जो हुआ वह अंशतः यही कुछ हुआ प्रतीत होता है; किन्तु इसमेंसे निकलनेका मार्ग यह है कि किसी प्राणिक विद्रोह और होहल्लेसे भौतिक सत्ताको उत्तेजित न किया जाय, अथवा अपनी इस दशाके लिये परिस्थितियों या माताजीको दोष न दिया जाय,—यह केवल स्थितिको और भी खराब कर देगी तथा तमस्, शुष्कता एवं जड़ताको बढ़ा देगी — किन्तु मार्ग है इस बातको पहचानना कि यहां तुम्हारी प्रकृतिमें वैश्व प्रकृतिका कोई तत्व प्रतिबिम्बित हुआ है जिसे तुम्हें बाहर निकालना होगा। और यह केवल अधिकाधिक समर्पण एवं अभीप्सा द्वारा और इस प्रकार प्राण और मनसे परेकी भूमिकासे दिव्य शान्ति, प्रकाश शक्ति तथा सामीप्यको भीतर लाकर ही किया जा सकता है। भौतिक प्रकृतिके रूपान्तर और उसकी पूर्णताका यही एकमात्र उपाय है।

मैं नहीं समझता कि मैंने जो कुछ लिखा है उसके बाद तुम्हारे पत्रमें की गई उन विशिष्ट व्यक्तिगत शिकायतोंके विषयमें कोई बात जोड़नेकी आवश्यकता है। शायद दो बातोंको स्पष्ट करनेकी जरूरत है। एक तो वह भारी श्रम जो माताजीको करना होता है उसे यदि भौतिक रूपसे जरा भी सम्भव बनाना हो तो कामकाज और बाहरी मांगोंके सम्बन्धमें, पत्र-व्यवहार और लोगोंसे "मिलने"के विषयमें जो व्यवस्थाएं की गई हैं, वर्तमान परिस्थितिमें एकमात्र वे ही शक्य है। दूसरे, निश्चय ही हम अपना काम बोलकर या लिखकर करनेकी अपेक्षा, जो केवल गौण और हीनकोटिका हो सकता है, नीरव

अवस्थामें कार्य करनेके द्वारा कहीं अधिक श्रेष्ठ रूपमें कर सकते हैं। क्योंकि इस योगमें वे लोग सबसे अधिक सफल होंगे जो लिखित तथा कथित वचनके पालने और अनुसरण करनेका तरीका जानते हैं, परन्तु साथ ही जो निश्चल-नीरवताको झेल सकते हैं और धारण कर सकते हैं, तथा उसमें (अन्य वाणियों-को न सुनते हुए या मानसिक एवं प्राणिक सुझावों और प्रवृत्तियोंको दिव्य सत्य एवं दिव्य संकल्प माननेकी भूल न करते हुए) सहायता, अवलम्ब और मार्गनिर्देशका अनुभव तथा उसे ग्रहण कर सकते हैं।

*

अपने पत्रमें...तुम लिखते हो कि तुम बहुत थक गये हो, बेचैनी और तमस् भौतिक सत्तामें व्याप्त हो गया है, चैत्य सत्ता और स्थूल प्रकृतिमें अल्पाधिक तीव्र रूपमें लगातार संघर्ष चल रहा है। अच्छा, तो पिछले महीनोंमें जब तुम यहां थे तब भी तुम्हारी ठीक यही हालत थी। तब तुमने जाना चाहा था क्योंकि दबाव बहुत प्रबल था; क्योंकि चंचल और तामसिक भौतिक प्रकृतिके साथ संघर्ष एवं आसुरिक प्रभाव अत्यधिक कष्टदायक रूपसे सतत चल रहा था, क्योंकि तुम्हें बहुत थकानका अनुभव होता था और आराम, राहत और स्वा-स्थ्य लाभके लिये तुम्हें बाहर जानेकी आवश्यकता थी।

तो तुम इन्हीं अवस्थाओंमें लौटकर कैसे आ सकते हो? दबाव तो पहलेसे भी अधिक प्रबल होगा, संघर्ष सतत चलेगा; बहुत संभव है तुम पहले से भी अधिक क्लान्त और खिन्न हो जाओ। और तुम्हारे लिये इसे सहन करना अधिक कठिन होगा क्योंकि तुम्हारी व्यक्तिगत स्थिति पूर्णतया बदल जायगी। तुम्हारा कोई विशेष स्थान नहीं होगा, तुम्हें कोई अधिकार नहीं दिया जायगा, कोई काम नहीं सौंपा जायगा; तुम माताजीके पास नहीं किन्तु उनसे दूर दूसरे लोगोंके बीचमें रहोगे। तुम्हारे भीतरकी उस आसुरिक प्रवृत्तिको किसी प्रकार प्रश्रय नहीं दिया जायगा जो तुम्हारे कामके लिये एक असह्य बाधा बन गई थी और तुम्हारे एवं अन्य लोगोंके लिये संकटरूप हो गई थी। यह स्पष्ट है कि जबतक तुमने बीचके समयमें आधारभूत परिवर्तनको सहन न कर लिया हो तबतक तुम्हें यहां परिस्थितियां असह्य ही लगेंगी। तुम्हें यहां आनेके लिये तबतक मांग नही करनी चाहिये जबतक तुम अपने भीतर और बाह्य वातावरण-में स्थिर अचंचलता एवं शान्तिको न प्राप्त कर लो।

तुम जहां भी रहो, हम हमेशा तुम्हारी चैत्य सत्ताके पास रहेंगे और उसे विजय प्राप्त करनेमें सहायता देनेके लिये तैयार रहेगे। जैसी स्थिति तुम्हारी

अब है उसमें हमारी मदद उस समयकी अपेक्षा दूरसे अधिक अच्छा कार्य कर सकेगी जब तुम हमारे समीप थे और प्रतिक्षण उस मददको अपनी गलत भीतरी क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं और अपने गलत वचनों और कर्मों द्वारा दूर ठेलते रहते थे। किन्तु हमारी सहायतासे लाभान्वित होनेके लिये तुम्हें कमसे कम अपनी बाह्य सत्तामें, वह करना होगा जिसे तुमने अभीतक वस्तुतः कभी किया ही नहीं। तुम्हें स्वयं अपनी भौतिक प्रकृतिमें दृढ़ निश्चयके साथ असुरसे और उसके कार्य करनेके तरीकोंसे मुँह मोड़ लेना होगा और उसे किसी भी बहाने ऐसे किसी विचार, भाव, वाणी या क्रियामें प्रश्रय देनेसे इनकार कर देना होगा जो अब भी उसे तुम्हारे करणोंपर अपना अधिकार जमाये रखनेमें तथा तुम्हारी मनोवृत्ति एवं कार्योंको निर्धारित या प्रभावित करनेमें मदद करें। अचंचल हो जाना और शान्ति और सरलतासे इस अटल और धीर परित्यागको हमारी सहायतासे, बिना राजसिक संघर्षके, सचाईके साथ, केवल इच्छा और विचारमें ही नहीं बल्कि सचमुचमें एवं प्रत्येक ब्यौरेमें बनाये रखना, ये हैं वे बातें जिन्हें करनेकी जरूरत है। दो भागोंमें विभक्त रहना, अपनी सत्ताके एक हिस्सेमें अभीप्सा करना, दूसरे हिस्सेमें गलत क्रियाओंको प्रश्रय देना, उन्हें उचित ठहराना और पालना-पोसना व्यक्तिको सिवाय अनन्त संघर्ष और थकानके अन्य किसी वस्तुकी ओर नहीं ले जा सकता। केवल इस प्रकार विमुखता और परिवर्तनसे ही संघर्ष और थकान जाती रहेगी और पवित्रता आ जायगी।

*

अब लगभग एक महीना हो गया जब कि तुमने अपने पत्रमें यह लिखा था कि तुम्हारी साधनाने एक नया अनुकूल मोड़ लिया है। तुम्हें यह देखनेके लिये समय देना होगा कि आया वह मोड़ असंदिग्ध है या नहीं और वह कहां-तक पूर्णताकी ओर अग्रसर हो चुका है। इसकी कसौटी यह होगी कि तुम्हारी बाहरी सत्तामें भी वह आसुरिक भावसे मूलतः मुक्त हुआ है या नहीं। समस्त महत्त्वाकांक्षा, अभिमान और आडम्बर तुम्हारे विचारों और हृद्गत भावोंसे एकदम विलीन हो जाने चाहियें। इस समय या भविष्यमें तुम्हारे अन्दर स्थान, पद या प्रतिष्ठाकी कोई चाह नहीं रहनी चाहिये, वरिष्ठ लोगोंके बीच उच्च स्थान पानेकी कोई शर्त्त, श्रीमाताजीके साथ किसी विशेष घनिष्ठ सम्बन्धकी मांग, किसी अधिकारकी मांग या आग्रह, श्रीमाताजी तथा दूसरोंके बीच हस्त-क्षेप करनेकी कोई चेष्टा, जो कुछ वह दूसरोंको दे रही हों उसको रोकने या उसमें हिस्सा बंटानेका कोई प्रयास तथा उनके ऊपर या अन्य साधकोंके

ऊपर अपनेको थोपनेकी कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये। समस्त मिथ्या-पनको अपने वचन, विचार और कर्मसे निकाल बाहर करना चाहिये तथा समस्त दांभिकता, उद्धतता और धृष्टतासे मुक्त हो जाना चाहिये। दिव्य सत्यके लिये सरल, शान्त और निश्छल अभीप्सा रखना और मात्र उसीके लिये, न कि उससे मिलनेवाले किसी लाभके लिये, उसे ग्रहण करना, श्रीमांकी इच्छाको, चाहे वह जो भी हो, सच्चे हृदयसे स्वीकार करना, सभी प्रकारके छल-छद्मों और बहानोंको पूर्णतः त्याग देना, सम्पूर्ण रूपमें और विना कुछ बचाये आज्ञा माननेके लियें तैयार रहना तथा जो कुछ भी स्थान दिया जाय और जो कोई अनुशासन माननेको कहा जाय उसे स्वीकार करना — यही एकमात्र शर्त्त है जिसके होनेपर तुम्हारे अन्दर दिव्य परिवर्तन साधित किया जा सकता है। बस, इसीके लिये तुम्हें प्रयास करना चाहिये।

जहांतक हमारा प्रश्न है, हम भौतिक स्तरपर एक विशेष विजयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं जो अभीतक प्राप्त नहीं हुई है। उसके आनेके बाद ही हम तुम्हें वापस आनेके लिये कह सकते हैं। स्वयं तुमने भी एक बार ऐसा देखा था कि जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक तुम्हारा यहां रहना तुम्हारे लिये लाभ-दायक नहीं हो सकता। जब तुम अपनी आन्तरिक स्थितिमें तैयार हो जाओगे और यहां भी चीजें तैयार हो जायंगी तब श्रीमाताजी तुम्हें बुला लेंगी।

*

अगर तुम परिवर्तित होना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले दृढ़तापूर्वक अपनी प्राण-सत्ताके दोषोंसे मुक्त होना होगा, इसके लिये नियमित रूपसे प्रयास करना होगा चाहे यह काम जितना भी कठिन क्यों न हो अथवा यह चाहे जितना भी लम्बा समय क्यों न ले, सर्वदा भगवान्‌की सहायताके लिये पुकार करनी होगी तथा अपनेको सदा सम्पूर्ण रूपसे सच्चा रहनेके लिये विवश करना होगा।

योग्यता और अयोग्यताका जहांतक प्रश्न है, कोई भी मनुष्य इस योगके लिये पूर्णतः योग्य नहीं है; मनुष्यको अभीप्सा, अभ्यास, सच्चाई और समर्पणकी सहायतासे योग्य बनना पड़ता है। यदि तुमने बराबर आध्यात्मिक जीवनकी कामनाकी है तो सच पूछो तो तुम्हारा चैत्य भाग ही वह चीज है जिसने यह कामना की है, पर तुम्हारा प्राण सर्वदा ही मार्गमें बाधा डालता रहा है। प्राणमें सच्चा संकल्प स्थापित करो; अपनी साधनाके साथ व्यक्तिगत कामनाओं और मांगोंको, स्वार्थपरता और मिथ्यात्वको मत मिलने दो; केवल तभी तुम्हारा

प्राण साधनाके योग्य बन सकेगा।

यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारा प्रयास सफल हो तो उसे सर्वदा अधिक शुद्ध, अधिक नियमित और अधिक स्थायी होते जाना चाहिये। यदि तुम सच्चाई-के साथ अभ्यास करो तो अपने लिये आवश्यक सहायता तुम प्राप्त करोगे।

*

स्पष्ट ही, जिस अवस्थामें तुम जा पड़े हो वह निम्नतर प्राण-प्रकृतिकी किसी दबी हुई वृत्तिके उभाड़के कारण उत्पन्न हुई है। इस वृत्तिको मन और उच्चतर प्राणने उन सब तुच्छ "भोगों और सुखों" को छोड़ देनेके लिये विवश कर दिया है जिनका उसे अभ्यास था, पर उसने — अथवा, कम-से-कम उसके अवचेतन भागने जो बहुधा अत्यन्त शक्तिशाली होता है — उसे पूरे विश्वासके बिना किया, सम्भवतः कुछ 'बचाकर' और अपने 'बचाव'का उपाय रखकर किया; अपनी क्षति-पूर्त्तिकी, जो कुछ वह खो रहा था उसके स्थानमें दूसरे बड़े भोगों और सुखोंको पानेकी प्रतिज्ञाके कारण बदलेमें किया। तुमने जो कुछ लिखा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। तुम्हारा अवसादके स्वरूपका वर्णन, उन चीजोंका वापस आना जिन्हें तुम अशुद्ध विचार कहते हो और जो महज अवचेतन निम्न प्राणकी कामना-ग्रंथिके अक्षांश हैं, भगवान्‌की उदारतापर किया गया सन्देह, हानियोंकी पूर्त्तिके लिये मांग, भगवान्‌के साथ मोल-तोल करने-जैसी बात, क्षतिपूर्ति करनेवाला समझौता आदि सभी बातें सुस्पष्ट हैं। अभी हालमें कई तरहकी परिस्थितियां एक साथ उत्पन्न हो गयी हैं। उन्होंने एकाएक उस वृत्तिकी अभिव्यक्तिके पुराने मार्गोंको और भी अधिक कम कर दिया है और उसका आक्रमण उसका असहयोग या प्रतिवाद करनेका एक तरीका है। उसके साथ व्यवहार करनेका केवल एक ही मार्ग है,—समस्त वस्तुओंको दूर फेंक देना, अवसाद, मांग, संशय, कामवासनाविषयक विचार, समस्त अवांछनीय भार दूर फेंक देना, और उसके स्थानमें एकमात्र सत्य क्रिया-को, भगवान्‌की चेतना और उपस्थितिकी पुकारको ला बिठाना।

हो सकता है कि अपनी तृप्तिके लिये निम्नतर प्राणकी जो यह हठीली मांग है उसके पीछे कोई चीज हो और भौतिक मनके अंधियारे कोनेमें होनेके कारण योगसम्बन्धी तुम्हारे मनोभावके अन्दर बिलकुल स्पष्ट न हो पायी हो। ऐसा मालूम होता है कि तुम इस बातको एकदम न्याय्य समझते हो कि पुरानी निम्न-प्राणिक संतुष्टियोंके स्थानमें अन्य आनन्द और सुख प्राप्त होने चाहिये। परन्तु आनन्द और सुख प्राप्त करना योगका लक्ष्य नहीं है और इस प्रकार

बदला पानेके लिये मांग या मोलतोल करना साधनाके लिये कोई उचित या स्वस्थ भाव नहीं कहा जा सकता। यदि यह भाव साधनामें हो तो निश्चय ही यह आध्यात्मिक अनुभूतिकी धाराको खंडित कर देगा। आनन्द? हां; पर (सच्चा) आनन्द और आध्यात्मिक सुख जो उससे पहले आता है (आध्यात्म सुख) ये दोनों (सांसारिक) सुखों और भोगोंसे एकदम भिन्न चीजें हैं। और साधनाका अनुसरण करनेके लिये उस आनन्दके लिये भी न तो दावा किया जा सकता है और न उसे एक शर्त्त ही बनाया जा सकता है। वह तो एक विजयमालके रूपमें, एक स्वाभाविक परिणामके रूपमें आता है और उसकी यथार्थ शर्त्त है सत्य-चेतनाकी वृद्धि, शांति, स्थिरता, ज्योति, शक्ति और समत्व जो सभी आघातोंको सहन करता और सफलता तथा विफलता दोनोंमें ही बना रहता है। ये ही चीजें हैं जो साधनाका प्रथम उद्देश्य होनी चाहियें; उच्च-से-उच्च प्रकारका कोई सुखवादी अनुभव भी साधनाका लक्ष्य नहीं होना चाहिये। क्योंकि, उसे तो भागवत सान्निध्यके फलस्वरूप स्वयं अपने-आप आना चाहिये।

इस बीच सबसे पहले तुम्हें अवसादके इस खतरनाक तत्त्वको तथा इसके साथ आनेवाली चीजोंको दूर फेंक देना चाहिये और अचंचल और सुस्पष्ट समतोलताको फिरसे प्राप्त करना चाहिये। साधनामें सफल होनेके लिये सबसे पहली शर्त्त है अचंचल मन और अचंचल प्राणका होना।

*

यह बिलकुल स्पष्ट है कि तुम अभी भी शान्ति, हर्ष और आनन्द-के सम्बन्धमें कुछ भ्रान्तियोंका पोषण करते हो। आनुषंगिक रूपसे कहें तो, शांति ठीक हर्ष नहीं है — क्योंकि जब हर्ष सुप्त भी होता है तो वहां शांति रह सकती है।) यह बात सही नहीं है कि साधकको शांति या आध्यात्मिक हर्षके लिये प्रार्थना या अभीप्सा नहीं करनी चाहिये। शांति योगमें प्राप्त सभी सिद्धियोंकी एकदम नींव है और तब भला योगकी नींव स्थापित करनेके लिये कोई प्रार्थना या अभीप्सा क्यों न करे? आध्यात्मिक हर्ष या गभीरतर आन्तरिक प्रसन्नता (जो उस समय भी विक्षुब्ध नहीं होती जब ऊपरी तलपर आंधी-तूफान या हलचलें उत्पन्न होती हैं) भगवान्‌के साथ सम्पर्क या एकत्व प्राप्त होनेपर निरन्तर साथ-साथ आती है और तब भला भगवान्‌के साथ संपर्क पानेकी प्रार्थना या अभीप्साका और साथ ही उसके साथ-साथ आनेवाले हर्षका निषेध क्यों किया जाना चाहिये? आनन्दका जहांतक प्रश्न है, मैं पहले ही

समझा चुका हूँ कि आनन्दसे मेरा मतलब है कोई ऐसी चीज जो शांति या हर्षसे अधिक महान् है, दिव्य सत्य और दिव्य ज्योतिकी तरह ऐसी चीज है जो अतिमानसिक भगवान्का एकदम स्वभाव है। वह अभी भी प्रवाह या अवतरणके रूपमें, आंशिक रूपमें या कुछ कालके लिये कभी-कभी आ सकता है, पर यह तबतक शरीरमें ठहर नहीं सकता जबतक कि शरीर इसके लिये तैयार नहीं कर लिया जाता। इस बीच शांति और प्रसन्नता स्थायी रूपसे रह सकते हैं, पर इस स्थायित्वकी शर्त्त यह है कि साधकको निरन्तर भगवान्का सम्पर्क प्राप्त होना चाहिये या भगवान्के अपने अन्दर निवास करनेका बोध होना चाहिये। यह सम्पर्क या बोध स्वभावतः ही बाहरी मन या प्राणको नहीं बल्कि अन्तरात्मा या चैत्य पुरुषको प्राप्त होता है। अतएव जो मनुष्य यह चाहता है कि उसका योग शांति या हर्षका पथ हो उसे अपने बाहरी मन और भावनात्मक प्रकृतिके बदले अपने अन्तरात्मामें निवास करनेके लिये तैयार होना चाहिये।

अपने पहलेके पत्रमें मैंने अभीप्साके विरुद्ध नहीं बल्कि मांगके विरुद्ध, योगका अनुसरण करनेके लिये शांति, हर्ष या आनन्दको एक शर्त्त बनानेके विरुद्ध आपत्ति की थी। और यह वांछनीय नहीं है, क्योंकि यदि तुम ऐसा करो तो, चैत्य पुरुष नहीं, बल्कि प्राणपुरुष नेतृत्व ले लेगा। जब प्राण नेता बन जाता है तब बेचैनी, उदासी, अप्रसन्नता बराबर आ सकते हैं, क्योंकि ये चीजें प्राणका एकदम स्वभाव ही हैं — प्राण कभी प्रसन्नता और शांतिमें लगातार नहीं बना रह सकता, क्योंकि जीवन-रूपी नाटकका अनुभव लेनेके लिये उसको इनके विरोधियोंकी आवश्यकता होती है। और, फिर भी जब बेचैनी और दुःख आते हैं तो प्राण तुरत चिल्ला उठता है, "मुझे मेरा प्राप्तव्य नहीं दिया जा रहा है, मेरे योग करनेका क्या लाभ है?" अथवा, वह अपने दुःखका एक सिद्धांत गढ़ लेता है और कहता है कि सिद्धिका मार्ग रेगिस्तानसे गुजरता हुआ एक कष्टप्रद मार्ग ही होना चाहिये। और फिर प्राणका यह प्राधान्य ही हमारे अन्दरकी ठीक वह चीज है जो रेगिस्तानके बीचसे गुजरनेको आवश्यक बना देती है। यदि चैत्य पुरुष सर्वदा सामनेकी ओर हो तो फिर रेगिस्तान-रेगिस्तान नहीं रह जायगा और अरण्य गुलाबके फूलोंसे लहलहा उठेगा।

*

जिस आनन्दका तुमने वर्णन किया है वह स्पष्ट ही आन्तर प्राणका आनन्द है जब कि वह चैत्य प्रभावसे भरपूर होता है और उससे बाहरी प्राणको भी सराबोर कर देता है। यह सच्चा आनन्द है और इसमें प्राचीन प्राणिक प्रकृतिकी

कोई चीज नहीं है। जब चैत्य पुरुष इस तरह अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये प्राणका उपयोग करता है तब इस प्रकारका तीव्र परमानन्द ही वह स्वाभाविक रूप होता है जिसे वह ग्रहण करता है। यह तीव्रता और पुरानी प्राणिक उत्तेजना ये दोनों एकदम पृथक् चीजें हैं और उन्हें एक साथ नहीं मिला देना चाहिये। जहां शुद्ध और पूर्ण, तृप्ति, संतोष और कृतज्ञताके साथ-साथ तीव्रता होती है और दावा, मांग या विषाद उत्पन्न करनेवाली प्रतिक्रियाके लिये कोई स्थान नहीं होता वही सच्ची प्राणिक प्रतिक्रिया होती है।

*

जब प्रांण-पुरुषको चैत्य पुरुषका स्पर्श प्राप्त हो जाता है तो महज प्राणिक सुखमें कोई रुचि नहीं रह जाती, और यह भी सम्भव है कि चेतनापर उसका नीचे गिरानेवाला प्रभाव होनेके कारण मनुष्य उसे एक बाधा और दु:ख अनुभव करे।

दु:ख आनन्दमें बदला जा सकता है, पर मैं नहीं समझता कि उसके लिये कोई विशेष अवस्था आवश्यक होती है।

*

जब एक बार प्राण-पुरुष आगे आ गया है और अपनी कठिनाईको दिखा चुका है—ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसमें एक-न-एक उत्कट कठिनाई न हो—तो अवश्य ही उसका सामना करना चाहिये और उसे जीतना चाहिये।

उसका सामना मनके द्वारा नहीं बल्कि सीधे अतिमानसिक शक्तिके द्वारा करना चाहिये।

मनमें शांति और ज्ञानको स्थापित करना मुख्य काम नहीं है बल्कि स्वयं प्राण-पुरुषमें (और विशेषकर उसके इस भागमें जो कि दोषपूर्ण है) शांति, श्रद्धा और स्थिर शक्ति-सामर्थ्य स्थापित करना मुख्य काम है। अपने-आपको खोलना और इन सब चीजोंको इसके अन्दर नीचे उतरने देना ही यथार्थ पथ है।

दोष उच्चतर मन या यथार्थ मनमें नहीं है; इसलिये मानसिक शांति स्थापित करनेके लिये वापस जानेसे कोई लाभ नहीं है। कठिनाई प्राण-पुरुषके उस भागमें है जो पर्याप्त रूपसे खुला हुआ और विश्वासपूर्ण नहीं है, पर्याप्त रूपसे सबल और साहसी नहीं है, और कठिनाई उस भौतिक मनमें है जो इन

चीजोंको अपना साहाय्य प्रदान करता है। तुम्हें आवश्यकता इस बातकी है कि तुम वहां नीचे अतिमानसिक ज्योति, शांति, शक्ति और तीव्रताको प्राप्त करो।

तुम्हें संसारभरका सारा मानसिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और फिर भी तुम प्राणिक कठिनाइयोंका मुंकाबला करनेमें असमर्थ हो सकते हो। सच्ची सहायता देनेवाली चीजें तो हैं साहस, श्रद्धा, ज्योतिके प्रति सच्ची निष्ठा, विपरीत सुझावों और विरोधी वाणियोंका परित्याग। उसके बाद ही ज्ञान भी कुछ प्रभावशाली हो सकता है।

सिद्धिके लिये जिस शक्तिकी मांग की जाती है वह मनका नियंत्रण नहीं है बल्कि मनसे ऊपरसे नियन्त्रणका एक प्रकारका अवतरण है। जब यह नियंत्रण अन्तमें अतिमानससे आता है तब वह स्वयं भागवती शक्तिका नियंत्रण बन जाता है।

*

यदि तुम अपनी प्राण-प्रकृतिके किन्हीं दोषोंको अधिक स्पष्ट रूपमें देखते हो और एक प्रकारके रूपान्तरकी आवश्यकता समझते हो तो स्वयं यह चीज ही इस बातका चिह्न है कि तुम्हारे अन्दर चैत्यका विकास हो रहा है। इनके कारण हतोत्साह नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये तो मानवीय प्राणके सामान्य दोष हैं, और चैत्य उद्घाटनके बढ़ जानेपर ये अपना अधिकार खो देंगे तथा अन्तमें विलीन हो जायेंगे।

अब प्राणिक क्रियाओंके ऊपर मानसिक संयमके कम हो जानेकी जो बात है, वह तो योगसाधनाके अन्दर अस्थायी रूपसे बहुत बार घटित होता है। मानसिक संयमके स्थानपर ऊपरसे एक महत्तर संयम ले आना चाहिये तथा दिव्य शक्ति और समूची प्रकृतिपर स्थापित उसके शासनकी ओर उन्मुक्त स्वयं प्राणकी स्थिरता, पवित्रता और प्रबल शांतिको स्थापित करना चाहिये।

किसी भी कठिनाईसे उद्विग्न या हतोत्साह मत होओ, बल्कि चुपचाप सरलतापूर्वक श्रीमांकी शक्तिकी ओर अपनेको खोल दो और उसे अपना परिवर्तन करने दो।

*

यह जरा भी सच नहीं कि माताजी मानसिक नियन्त्रण हटा देती हैं—

यह उन बहुतसी मूर्खतापूर्ण व्याख्याओंमें एक व्याख्या है जो कुछ साधक साधनाके विषयमें किया करते हैं। सच यह है — और तुम जो अनुभव करते हो उसका कारण भी यही है — कि तुम जब अपनी प्राणगत अभ्यस्त क्रियाओंको कभी पूर्ण रूपसे नियंन्त्रित करने और कभी उन्हें सन्तुष्ट करनेके स्थानपर उन्हें साधना द्वारा पूरी तरह नियन्त्रित करनेका यत्न करते हो तो वे उग्र प्रतिरोध करती हैं जिससे वे बढ़ती प्रतीत होती हैं। साधकको दृढ़तापूर्वक डट जाना होगा और इस उग्रतासे दबने या अनुत्साहित होनेसे इनकार कर देना होगा। साधारणतया सपनेमें ऐसी ही स्थिति होती है कि जाग्रत स्थितिमें जो वस्तु बाहर फेंक दी गई होती है वह भी बहुत लम्बे समयतक बार-बार उभरती रहती है — इसका कारण यह है कि ये सारी चीजें अवचेतनमें शान्त पड़ी रहती हैं और अवचेतन ही लोगोंके सपनोंके अधिकतर हिस्सेका सर्जन करता है। इस प्रकार यदि किसीके पास जाग्रत स्थितिमें यौन-कामनाएं और न आती हों तो भी उसे प्रायः अल्पाधिक पुनरावर्तनके साथ यौन-स्वप्न आ सकते है तथा स्वप्नदोष भी हो सकते हैं; वह स्वप्नमें ऐसे लोगोंसे भी मिल सकता है जिन्हें उसने अपने जाग्रत क्षणोंमें देखा या सुना न हो या विचार न किया हो — इत्यादि-इत्यादि। जब जाग्रत मन इनसे मुक्त नहीं होता तो ऐसे स्वप्न और भी अधिक आ सकते हैं।

*

उत्तर इस बातपर निर्भर है कि गलत या अनावश्यक क्रियासे तुम्हारा तात्पर्य क्या है। कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें 'उच्चतर चेतना'की स्थापनाके पूर्ण हो जानेसे पहले विलीन हो जाना चाहिये। दूसरी ऐसी चीजें हैं जो अनावश्यक हैं और यदि वे पूर्ण साधनाके लिये या आन्तरिक चेतनाके विकासके लिये अनुकूल न हों तो उन्हें एक ओर अलग छोड़ देना चाहिये। परन्तु ऐसी चीजोंको उस समय जारी रहने दिया जा सकता है जब कि संसिद्ध चेतना ऐसी हो कि उन्हें करने या न करनेसे कोई फर्क न पड़ता हो।

*

इस वाक्यांश ('साधनाकी गलत क्रियाएं) के अधीन लगभग ऐसी सभी बातें आ जाती हैं जो आध्यात्मिक प्रगतिके लिये हानिकारक होती हैं — शंका-संदेह, विद्रोह, आहंकारिक कामना या महत्त्वाकांक्षा, कामवासनाकी तृप्ति आदि-

की क्रियाएं अत्यन्त सामान्य हैं, परन्तु दूसरी भी बहुतसी चीजें और हैं।

*

बाहरी विद्रोहका स्वरूप है अनुशासन और आज्ञा माननेसे इन्कार कर देना — आंतरिक विद्रोह बहुत प्रकारका होता है, वह अनेक रूप ले सकता है, जैसे, श्रीमाताजीके विरुद्ध प्राणका विद्रोह, सत्यके विरुद्ध मनका विद्रोह, आध्यात्मिक जीवनका परित्याग, भगवान्‌के रूपमें अहंको सिंहासनारूढ़ करनेकी मांग या किसी ऐसी चीजकी सेवा करनेकी मांग जो प्राणिक अहंकी खुशामद करती और उसकी मांगोंका समर्थन करती है और उसे ही भगवान् कहना, अविश्वास, निराशा, आत्मविनाश या आश्रम-परित्यागके प्राणिक सुझावोंका प्रत्युत्तर — और ऐसी बहुतेरी अन्य चीजें।

*

उग्रता आती है अशुद्ध प्राणिक अहंकारसे जो ठीक वही चीज है जो रूपान्तरके मार्गमें सबसे अधिक बाधा डालती है। सत्ताके इस भागके मुकाबले अन्य चीजें अपेक्षाकृत हलकी बाधाएं हैं। यह बहुत अच्छी बात है कि श्रीमाताजीने तुम्हारे इस अंगकी बातपर विचार करना अस्वीकार कर दिया — विचार करना इस अस्वीकृतिसे भी कहीं अधिक खतरनाक परीक्षा सिद्ध हुआ होता।

*

("प्राणिक-निवेदन:") निवेदनका अर्थ है अपनेको माताजीको अर्पित करके पवित्र होना जिससे समग्र प्रकृति उनकी हो जाय और निम्नतर प्रकृतिकी न रहे।

इस (प्राणिक उत्सर्ग) का अर्थ है समस्त प्राण-प्रकृति और उसकी क्रियाओंको भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ा देना जिसमें कि प्राण शुद्ध हो जाय और भागवत संकल्पसे मेल खानेवाली सत्य-क्रियाएं ही वहां हों तथा अहंजन्य कामनाएं और आवेग-प्रवेग विलीन हो जायं।

*

कभी-कभी अभीप्साका अनुभव नाभि-केन्द्रमें होता है, पर वह बृहत्तर प्राणका अंग है। निम्न प्राण उससे नीचे होता है। निम्न प्राण अपनी छोटी-छोटी सभी क्रियाओंको शुद्धिकी अग्निमें स्वाहा कर देता है, अपने अन्दर अवतरित होनेके लिये तथा उसकी तुच्छ लालसाओं, ईर्ष्याओं, छोटी-छोटी बातोंमें होनेवाले अपने विरोधों और विद्रोहों, क्रोधों, मिथ्याभिमानों, कामुकताओं आदि-आदिसे अपनेको मुक्त कर देने और उनके स्थानमें निःस्वार्थता, पवित्रता, सभी बातोंमें भगवान्की प्रेरणाके प्रति आज्ञाकारिता आदिसे परिचालित यथार्थ क्रियाओंको ले आनेके लिये पुकारता है। यही है उसकी अभीप्सा।

*

यह स्पष्ट है कि निम्न प्राणने भागवत चेतनाको ग्रहण किया है। क्योंकि जीवनकी छोटी-छोटी क्रियाओंमें भी भगवान्के प्रति अभीप्सा विद्यमान है, मानो पथप्रदर्शनके लिये भागवत ज्योतिके प्रति आत्मार्पण है अथवा भगवान्के प्रति आत्मनिवेदनकी किसी अनुभूति या भगवान्द्वारा, परिचालित होनेका कोई संकेत है। निम्न प्राणका भावावेग, प्रवेग, इंद्रियानुभव, कर्म आदिके छोटे-छोटे ब्योरेपर अधिकार है—यही सब चीजें जब परिवर्त्तित होती हैं तब वह इन्हें रूपान्तरके लिये भागवत नियन्त्रणके सुपुर्द कर देता है।

*

यह ठीक है कि बाहरी प्राणको उसकी शुद्धिके लिये एक बाहरी अनुशासनकी आवश्यकता है, अन्यथा वह चंचल और खामख्याली और अपने निजी आवेगोंके हाथका दास बना रहेगा। इस तरह एक स्थिर और स्थायी उच्चतर चेतनाके दृढ़तापूर्वक बने रहनेके लिये वहां किसी आधारकी रचना नहीं की जा सकती। कार्यके विषयमें जो मनोभाव तुमने ग्रहण किया है वह निस्संदेह सबसे उत्तम है और उसको नियमित रूपसे जीवनमें प्रयुक्त करनेपर जिस प्रगतिको अनुभव करते हो उसका आना अनिवार्य था और उसका बढ़ते रहना सुनिश्चित है।

*

प्राणादिपर अनुशासन लादनेका अर्थ है संयमके अधीन रहना और कार्य

करना अथवा जो कुछ उचित है उसके मानदण्डके अनुसार रहना और कार्य करना — प्राण और शरीरको जो कुछ वे चाहें उसे न करने देना और मनको अपने ही ख्यालके अनुसार, सत्य और व्यवस्थाके बिना, इधर-उधर दौड़ने न देना; फिर उन लोगोंकी आज्ञा भी मानना जिसकी आज्ञा मानना उचित हो।

*

अभिभूतकारी आवेग आवश्यक रूपसे सच्चा पथप्रदर्शन करनेवाली अंत-प्रेरणा नहीं होता। ऐसे आवेगोंका सर्वदा अनुसरण करनेपर बहुत सम्भावना है कि मनुष्य ऊटपटांग मनमौजवाला जीव बन जाय। अक्षय शक्ति बड़ी सुन्दर चीज है, पर अनुशासनविहीन शक्ति नहीं।

*

संकल्पका आवेगोंपर वैसा ही प्रभुत्व होना चाहिये जैसा कि विचारोंपर। बहुतसे लोगोंको विचारको रोकनेकी अपेक्षा आवेगको नियन्त्रित करना अधिक आसान लगता है।

*

यह (जीवनमें कुछ भी सिद्ध करनेकी अयोग्यता) सामान्यतया आती है निम्न प्राणकी एक प्रकारकी अस्थिरतासे; निम्न प्राण संकल्पशक्तिको निरन्तर सहायता नहीं देता बल्कि चंचल होता है और एक उद्देश्यसे दूसरे उद्देश्यकी ओर ढलता रहता है। इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्यमें सफलता पानेकी क्षमताका अभाव है — साधारणतया जिस व्यक्तिमें यह बात होती है वह बहुत-सी दिशाओंमें सफल हो सकता है, पर यह अस्थिरता किसी भी क्षेत्रमें स्थायी सफलता पानेसे रोकती है। यह एक दोष है जिसे जीतना ही होगा और जिसे जीता जा सकता है।

*

पहली वस्तु है प्राणिक दुविधा — दूसरी है प्राणिक अस्थिरता। जो लोग

चुनाव नहीं कर सकते उनमें प्राणिक दुविधा होती है और साधारणतया वह अत्यन्त सक्रिय मनके कारण, एक ही समयमें बहुत सारी चीजें या बहुतसे पहलू देखनेके कारण होती है। दूसरी वस्तु नियन्त्रणके अभावसे और अत्यधिक आवेगसे उत्पन्न होती है।

*

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका प्राण ठोस और अडिग होता है; ऐसे ही लोग दृढ़संकल्प होते हैं — दूसरे लोग अधिक चंचल और आवेगोंद्वारा आसानीसे परिचालित होनेवाले होते हैं; ऐसे लोग ही कभी तो उत्साहसे भरे होते हैं और कभी थककर गिर जाते हैं। यह स्वभाव-स्वभावकी बात है। दूसरी ओर, चंचल लोग बहुत अधिक तीव्र लगनकी क्षमता रखते हैं और इस कारण वे यदि प्रगति करना चाहें तो अपने तरीकेसे बड़ी तेजीसे प्रगति कर सकते हैं। जो हो, इन सभी बातोंका प्रतिकार है मन और प्राणसे ऊपर विद्यमान अपने सच्चे आत्माको खोज निकालना और इस तरह अपने स्वभावसे बंधा न रहना।

*

तुम जो कड़ुवापन अनुभव करते हो वह चंचल और असंतुष्ट प्राणका कड़ुवापन है। उसे जिस चीजकी इच्छा थी वह उसे नहीं मिली, क्योंकि उसने प्रबल रूपमें और लगातार किसी चीजकी इच्छा नहीं की। अन्यथा उसने अपनी सभी कामनाओं — विवाह, मित्रता, पदप्रतिष्ठा आदि — की पूर्त्ति कर ली होती, पर एक प्रकारकी दुर्बल चंचलताके कारण वह किसी चीजपर डटा नहीं रह सका। योगमें भी उसने उसी चंचल दुर्बलताको दिखाया है, अन्यथा इस समयतक वह कोई चीज जरूर प्राप्त कर लेता, और इसके साथ-साथ उसमें कामवासना भी थी जिसे न तो वह तृप्त कर सका न छोड़ सका। तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम क्या चाहते हो और उसे अपनी पूरी इच्छाके साथ चाहना चाहिये — एकमात्र इसी पथसे इस चंचलता और असफलताका अन्त हो सकता है।

*

अगर वह अपनेको किसी दिन आध्यात्मिक जीवनके उपयुक्त बनाना चाहता है तो उसे सबसे पहले प्राणकी चंचलतासे बचना चाहिये। जो काम करना हो उसे शांत मनसे करना, उसे भगवान्‌की पूजा बना देना और अहंकार तथा प्राणिक कामनासे मुक्त होनेकी चेष्टा करना ही अपनेको तैयार करनेका सबसे उत्तम पथ है।

*

तुम्हें दुःखकी इस भावनाको प्रश्रय नहीं देना चाहिये — स्थिर बने रहो, विश्वास बनाये रखो और सभी परिस्थितियोंमें एक संकल्पशक्तिकी ओर मुड़े रहो। यही पथ है जिससे तुम इस विषयमें निस्संदिग्ध हो सकते हो कि साधना-का प्रत्येक पग समुचित परिमाणमें उठाया जायगा और अपना यथासम्भव उत्तम-से-उत्तम परिणाम उत्पन्न करेगा। अबसे 'अ' के प्रश्न और उसके साथ अपने सम्बन्धको अपनी साधनाके बाहरकी एक सामान्य और गौण वस्तु समझो। यदि तुम उसे सर्वप्रथम महत्त्वकी वस्तु मानोगे तो वह वैसा ही बन जायगा और फिर तुम्हारे रास्तेमें आ खड़ा होगा। बस, इसे भूतकालके एक प्रश्नके रूपमें देखो जिसका पक्का समाधान हो गया है और इसे इसके स्थानमें रख दो और अपनी साधनाके केंद्रीय लक्ष्यकी ओर मुड़ जाओ।

इस परिस्थितिके सिवा, अन्य बातोंका जहांतक प्रश्न है, तुम्हें अपने आंतरिक लक्ष्य और अपने संकल्पकी एकाग्रता तथा करने योग्य एकमात्र कार्य (अपनी आन्तर और बाह्य) सत्ताको केवल भगवान्‌के प्रति पूर्णतः समर्पित और उत्सर्ग कर देनेके प्रयासमें कोई भी परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि तुम दृढ़तापूर्वक समुचित आन्तर मनोभावको अपना सको तो तुम्हारे मुख्य पथप्रदर्शनके लिये दिये गये किसी बाहरी नियमकी अपेक्षा यह कहीं अधिक आसान भी होगा।

*

जो एकमात्र आवश्यक वस्तु है वह है मनमें एक सुस्थिर और सुनिश्चित चुनाव कर लेना जिसे मनुष्य बराबर ही प्राणिक चंचलताके विरोधमें खड़ा कर सकता है। प्राणमें तबतक उथल-पुथल सदा ही होती रहेगी जबतक कि वहां पूरी तरह शांतिका अवतरण नहीं हो जाता; परन्तु यदि मनमें एक स्थिर संकल्प बनाकर उसे सर्वदा सामने रखा जाय तो प्राणिक चंचलताकी तीव्रता

दूर हो सकती और मार्ग छोटा हो सकता है।

V

सच पूछो तो निम्नतर (भौतिक) प्राण ही इस प्रकार क्रिया करता है। प्रकृतिका यह अंश युक्ति-तर्कके अनुसार कार्य नहीं करता, यह चीजोंको समझ भी नहीं पाता। यह महज कामना, आवेग और आदतके अनुसार कार्य करता है। मन और हृदय तथा उच्चतर प्राणने समझ लिया है और उन्होंने प्रकृतिका रूपान्तर करनेके लिये कार्यरत दिव्य शांति और शक्तिके पक्षमें अपनेको ला रखा है। परन्तु दिव्य शांति और शक्ति इसका स्पर्श करती हैं तो यह (निम्नतर प्राण) अभी भी पुरानी शक्तियोंको ही प्रत्युत्तर देता है। इस समय बस प्रश्न यह है कि दिव्य शांति, शक्ति और ज्योतिको इस भागमें उतार लाया जाय जिसमें कि जब कभी निम्नतर प्रकृतिकी बाहरी शक्तियां स्पर्श करें तब वे वहां उस शक्तिको देखें, न कि पुराने प्रत्युत्तरको। लंबे पुराने अभ्यासके कारण ऐसा करना थोड़ा कठिन अवश्य है, पर जैसे-जैसे शक्ति शरीरमें उतरेगी और उतरकर सर्वत्र उसमें परिव्याप्त होती जायगी वैसे-वैसे यह स्थिति अधिकाधिक उत्पन्न होती जायगी।

*

प्राणका विरोध कभी तर्कसंगत नहीं होता, तब भी जब वह तर्कोंको प्रस्तुत कर रहा हो। वह अपनी प्रकृतिवश और कामनाके अभ्यासवश कार्य करता है न कि तर्कबुद्धि द्वारा।

*

सम्भवतः वहां कुछ-कुछ सभी बातें ही हैं — पर प्राणके इस भागके पास ऐसे सुनिश्चित कारण नहीं हैं जो इसका समर्थन करें। यह निराशा या कठिनाईके प्रबल बोधका कोई एक मनोभाव ग्रहण कर लेता है। सभी मानव-स्वभावोंमें विद्यमान यह एक ऐसा अवयव है जो चंचल, कामनापूर्ण, उत्सुक, अवसन्न और अस्थिर है। इससे पीछे हटकर खड़े होओ, और इसे अपने ऊपर न तो शासन करने दो न अपना संचालन। प्राणका एक यथार्थ (शुद्ध) अंश है जिसका उपयोग करना होगा — वह बड़ा उत्साही, उच्चतर वस्तुओंके

प्रति अनुभवक्षम, महान् प्रेम और भक्तिभाव रखनेमें सक्षम है। उसे ही प्रबल बनाओ और उसे चैत्य पुरुष तथा ऊपरसे आनेवाली शांति और विशालताका सहारा प्रदान करो।

*

यह शोक या हर्ष या अन्य किसी भावावेशको अनुभव करनेका प्रश्न नहीं है, ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जिसने सामान्य प्रकृतिपर विजय प्राप्त न की हो, इस प्रकारका अनुभव करता है। यह प्रकृति भावनात्मक नहीं किन्तु भावावेशमय है। भावनात्मता तब उत्पन्न होती है जब तुम वेदनामें डूब जानेमें या उन्हें प्रदर्शित करनेमें आनन्द लेने लगते हो अथवा तब जब वे अकारण या बिना पर्याप्त कारणके तुममें उत्पन्न होते हैं।

*

निम्नतर प्राण ऐसा भाग नहीं है जो युक्ति-तर्ककी बात सुने। उसके कार्यका कोई 'क्यों' नहीं है; वह एक विशेष तरीकेसे इसलिये कार्य करता है कि उसे उसी तरीकेसे कार्य करनेका अभ्यास पड़ा हुआ है, और यदि उस ढंगसे कार्य करनेके कारण दु:खदायी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न हो तो भी वह वैसे ही करता रहता है।

*

साधकोंके संदेह बहुत अधिक बार सच्चे मनकी अपेक्षा प्राणसे उठते हैं—जब प्राण गलत रास्तेपर चला जाता है या कष्टमें होता है या अवसन्न हो जाता है तब संदेह उठते हैं और एक ही रूपमें और एक ही भाषामें बार-बार आते रहते हैं, इससे कुछ भी नहीं आता-जाता कि मनको, चाहे प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे हो या बौद्धिक उत्तरोंसे हो, कितना अधिक समाधान हो गया है। मैंने लक्ष्य किया है कि प्राण सर्वदा ही अयौक्तिक होता है (उस समय भी जब कि वह अपना समर्थन करनेके लिये युक्तिका प्रयोग करता है) और युक्तिके अनुसार नहीं वरन् अपने संवेदनके अनुसार चाहे विश्वास करता है या अविश्वास।

*

प्राणका विकास आरम्भ हुआ था आवेगकी आज्ञाकारितासे, न कि युक्ति-की आज्ञाकारितासे — दांव-पेंचका जहांतक प्रश्न है, प्राण जिस दांव-पेंचको समझता है वह है केवल कुछ उपाय जिनसे वह अपनी कामनाओंकी पूर्त्ति कर सके। वह ज्ञान और विवेककी वाणीको पसन्द नहीं करता — परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि मनुष्यके अन्दर युक्ति-तर्कके द्वारा जो अपने कार्यका समर्थन करनेकी आवश्यकता विकसित हुई है उसीके कारण प्राणिक मनने अपना निजी कौशल विकसित किया है और वह है ऐसी युक्ति प्राप्त करना जिससे अपने निजी संवेदनों और आवेगोंका समर्थन करनेके लिये युक्ति-तर्क खोज निकाला जाय। जब युक्ति इतनी अधिक स्पष्ट होती है कि इस खेलमें काम आने योग्य नहीं होती तो प्राण अपने कान बन्द कर लेने और अपने रास्तेपर ही चलते रहनेके अपने जन्मजात अभ्यासकी शरण ले लेता है। इन आक्रमणोंके समय, अयोग्यताकी इस योजनाको कि "चूंकि तुम मेरे आवेगोंसे संतुष्ट नहीं हो और मैं उन्हें बदल नहीं सकता, इसलिये यह प्रकट होता है कि मैं अयोग्य हूँ, अतएव मेरा यहांसे चला जाना ही अधिक अच्छा है," वह एक प्रतिलोम दांव-पेंचके रूपमें ग्रहण करता है। परन्तु, यदि कोई उसका प्रतिकार भी करे तो जो आवेग बड़े प्रबल रूपमें आता है, जैसे कि वह विश्व-प्रकृतिसे आता है, वह स्वयं इतना पर्याप्त होता है कि उसकी सहायतासे प्राण कुछ समयतक अपनी पुरानी अंध अयुक्तिसंगत सहजप्रवृत्तिकी रक्षा कर सकता है और जो धक्का आया है उसका अनुसरण कर सकता है।

*

प्राण अपनी गतिविधियोंको सदैव उच्च प्रकाश द्वारा छिपाना अधिक पसन्द करता है।

*

तुम्हें विवेकका विकास करना चाहिये जिससे प्राणके लिये तुम्हें धोखेमें रखना असम्भव हो जाय।

*

प्राणिक गतिविधियों और रचनाओंके विषयमें सावधान रहो — जब

तुम उन्हें स्वीकृत देते हो, तो तुम एक खतरनाक ढलानपर खड़े होते हो।

*

तुम्हारे वाक्योंका सम्पूर्ण तात्पर्य यह था कि तुमने सभी आवश्यक संकल्प बनाये पर तुम उन्हें कार्यान्वित नहीं कर सके, क्योंकि दिव्य शक्तिने तुम्हें सहायता देना अस्वीकार कर दिया। यह प्राणिक मनकी सामान्य चालाकी है, जब वह कठिनाइयों या साधनामें प्रगतिकी कमीके लिये स्वयं बदनामीसे बचना चाहता है तो वह कहता है: "जो कुछ करना सम्भव है वह सब मैं कर रहा हूँ, पर शक्ति ही मुझे सहायता नहीं कर रही है।" तुम्हारे अन्य वाक्योंके लिखनेसे कोई लाभ नहीं है, क्योंकि कभी तो तुम एक बात लिखते हो और कभी दूसरी, अपने तर्कके लिये बस युक्तियां बदलते रहते हो। यदि प्राणिक मनकी इस मक्कारीसे छुटकारा पानेमें तुम्हें युक्ति-तर्क सहायता कर सके तो तुम्हारे लिये न्याय-शास्त्रका अध्ययन करना अधिक उपयोगी होगा।

*

तुमने जो यह पूछा है कि मन अपने ऊपरी उद्देश्यके विषयमें जो कुछ जानता था उसके अलावा भी कोई दूसरी चीज उस बातके पीछे थी, उसके विषयमें यह कहना है कि प्रायः ही कोई चीज पीछे रहती है जब प्राण उस विषयमें दखल देता है—और यह आत्मज्ञानका एक अंग है कि मनकी ऊपरी क्रियाओंसे पथभ्रष्ट न हुआ जाय, बल्कि पीछेकी इस चीजको ढूँढ़ निकाला जाय। कारण, प्राणकी यह आदत है कि वह अनुभव और कर्मके विषयमें मनकी व्यवस्थाओंको एक पर्दा बना लेता है जिसमें कि वह वाणी, कर्म या अनुभवके पीछे विद्यमान गुप्त उद्देश्य या शक्तियोंको कर्त्ताके आत्मनिरीक्षणसे भी छिपा रखे।

*

सबेरेका तुम्हारा पत्र एकदम उद्विग्न और घायल प्राणकी ओरसे आया था और यही कारण था कि मैंने उसका उत्तर देनेमें कोई जल्दबाजी नहीं की। मैं नहीं समझता कि तुम यह विश्वास करनेके लिये इतने तत्पर क्यों हो कि मैं और श्रीमाताजी क्रोध, झुँझलाहट या अप्रसन्नताकी सामान्य वृत्तियोंके वश

काम करते हैं। मैंने जो कुछ लिखा था उसमें इस तरहकी कोई बात नहीं थी। तुमने उच्चतर चेतनाका जो स्तर प्राप्त किया था उससे बार-बार नीचे गिर रहे थे और हमारे सुझावके बावजूद भी कि देखो कौन-सी चीज तुम्हें नीचे खींच रही है, तुम्हारा एकमात्र उत्तर यह था कि मैं कुछ भी नहीं देख पाता। हम खूब अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारे प्राणका एक भाग परिवर्तित होना नहीं चाहता था और परिवर्तित होनेकी इच्छा न होनेके कारण मनसे अपनेको छिपा रहा था। उधर स्वयं मन भी देखनेके लिये इच्छुक नहीं प्रतीत होता था,—अतएव, जब तुमने सबसे पहले 'अ' के विषयमें और दूसरे, भूतकालके अपने विचारोंके विषयमें अपनी बात लिखकर हमें एक मौका दिया तब हमने यह आवश्यक समझा कि तुम्हें स्पष्ट रूपमें और प्रबल रूपमें तुम्हारी बाधाके स्वरूपको बतला दें — एक ओर तो है तुम्हारी पुरानी भावना जो क्रोध, नाराजी और हृदयमें चोट पहुँचनेका विपरीत रूप लिये हुई है; दूसरी ओर है प्राणका आत्माभिमान रखनेका अभ्यास, दूसरोंके विषयमें दोषदर्शी मत बनाना, साधना या अन्य विषयोंमें अपनेको बड़ा समझना, दूसरोंके सामने तथा स्वयं अपने सामने भी अच्छा दिखायी देनेकी इच्छा करना आदि-आदि। ये चीजें विशेष रूपसे अन्धा बना देती हैं और स्पष्ट रूपसे अपनी परीक्षा करने तथा आध्यात्मिक प्रगतिमें हस्तक्षेप करनेवाली बाधाओंको देखनेसे रोकती हैं। यदि मन जानने और परिवर्तित होनेकी अभीप्सा करता भी है तो भी प्राणमें छिपकर कार्य करनेवाला इस प्रकारका अभ्यास मार्गमें रोड़े अटकानेके लिये और ज्ञान तथा परिवर्तन दोनोंको रोकनेके लिये बिलकुल पर्याप्त होता है। इसलिये मैं खूब सावधान था कि इस मिथ्याभिमान और साधुमन्यताकी बात स्पष्ट रूपमें कह दी जाय जिसमें कि प्राणका यह भाग न देखनेकी कोशिश न करे। श्रीमाताजी बहुत अधिक पैने और तीखे रूपमें उन लोगोंको कहती या लिखती हैं जिन्हें वह पथपर तेजीसे आगे बढ़ा देना चाहती हैं, क्योंकि उनमें ऐसा करनेकी क्षमता होती है और वे उससे नाराज या दुःखी नहीं होते बल्कि उस दबाव और स्पष्टताके कारण प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे अनुभवसे यह जानते हैं कि वह चीज उन्हें अपनी बाधाओंको देखने और परिवर्तित होनेमें सहायता करती है। यदि तुम तेजीसे प्रगति करना चाहो तो तुम्हें क्षुब्ध होने, दुःख पाने, आघात अनुभव करने, अपना समर्थन करनेके लिये तर्क-वितर्क करनेकी चेष्टा करने, मुक्त करनेके आशयसे दिये गये स्पर्शके विरुद्ध हो-हल्ला मचाने आदिकी इस प्राणिक प्रतिक्रियासे अवश्य छुटकारा पाना चाहिये — क्योंकि जबतक तुममें ये सब बातें हैं तबतक प्राणिक प्रकृतिद्वारा सृष्ट विघ्न-बाधाओंके साथ खुले रूपमें और और दृढ़ताके साथ व्यवहार करना हमारे लिये कठिन है।

अब तुम्हारे और 'अ' के बीचके भेदको लें। श्रीमाताजीने जो तुम्हें चेतावनी दी थी कि अत्यधिक वार्त्तालाप करना, हलके रूपमें बातचीत या गपशप करना तथा सामाजिक चीजोंमें अपने-आपको विच्छुरित करना अवांछनीय है वह पूर्णतः सार्थक और वैध है। जब तुम इन सब चीजोंमें संलग्न होते हो तो तुम अपने-आपको एक बड़ी ही तुच्छ और अज्ञ चेतनामें फेंक देते हो जिसमें तुम्हारे प्राणिक दोष खुलकर क्रीड़ा करते हैं। सम्भव है कि यह चीज तुम्हें उस चीजमेंसे बाहर निकाल लाये जिसे तुमने अपनी आंतरिक चेतनामें विकसित किया है। इसी कारण हमने कहा था कि यदि तुमने 'अ' के यहां जानेपर इन सब चीजोंके विरुद्ध एक प्रकारकी प्रतिक्रियाका अनुभव किया तो यह इस बातका चिह्न है कि तुम्हारे अन्दर — तुम्हारे प्राण और स्नायु-सत्तामें — तुम्हारी (चैत्य) संवेदनशीलता आ रही है, और इससे हमारा मतलब यह था कि यह सब अच्छेके लिये है। परन्तु दूसरोंसे व्यवहार करते समय, इन चीजोंसे पीछे हटते समय अपने अन्दर तुम्हें बड़प्पनकी किसी भावनाको नहीं घुसने देना चाहिये अथवा अपने तरीके या आंतरिक भावके द्वारा उनके ऊपर नापसंदगी या तिरस्कारका भाव नहीं थोपना चाहिये या उनपर बदलनेके लिये दबाव नहीं डालना चाहिये। तुम जो इन सब चीजोंसे पीछे हटते हो यह तुम्हारी व्यक्तिगत आंतरिक आवश्यकताके लिये है, और किसी चीजके लिये नहीं। उन लोगोंका जहांतक प्रश्न है, इन मामलोंमें सही या गलत जो कुछ वे करते हैं वह उनका और हमारा विषय है। उस क्षण उनके लिये जो कुछ हम आवश्यक और सम्भव देखेंगे उसके अनुसार उनके साथ व्यवहार करेंगे। इस उद्देश्यसे हम विभिन्न लोगोंके साथ केवल एकदम विभिन्न रूपोंमें ही व्यवहार नहीं करेंगे, एकको वह कार्य करनेकी अनुमति ही नहीं देंगे जिसे दूसरोंको करनेसे मना कर देंगे, बल्कि एक ही आदमीके साथ अलग-अलग समयोंपर अलग-अलग ढंगसे व्यवहार करेंगे, आज जिस बातकी अनुमति देंगे या यहांतक कि उत्साहित करेंगे उसीको दूसरे दिन मना कर देंगे। 'अ' का प्रश्न तुमसे एकदम भिन्न है, क्योंकि तुम दोनोंके स्वभावमें कोई भी समानता नहीं है। मैंने यह बात या ऐसी ही कोई बात बहुत पहले तुमसे कही थी और 'अ' के पत्रमें मैंने इस बातपर जोर दिया था कि मेरे लिये या 'ब' के लिये जो नियम हो सकता है वह उसपर लागू नहीं किया जा सकता अथवा लागू होने नहीं जा रहा है। अन्य ढंगसे उससे व्यवहार करनेका मतलब होगा उसकी साधनामें कठिनाई उत्पन्न करना, न कि उसे उसके लिये अधिक आसान या अधिक तेज बनाना। मैंने उसके पत्रमें यह भी बिलकुल स्पष्ट रूपमें बता दिया है कि दूसरोंके पास आने-जाने और मिलने-जुलनेका प्रयास — जो कि साधारण मानव-जीवनमें मेल-मिलाप

तथा अन्य संपर्कोंके द्वारा किया जाता है — योगमें चेतनाके एक अन्य स्तरपर और निम्नतर मिश्रणके बिना करना चाहिये — आध्यात्मिक और चैत्य आधारके ऊपर सबके साथ एक उच्चतर मिलनके लिये करना चाहिये। परन्तु जिस तरीकेसे, जिस समयपर और जिन सब क्रियाओंमेंसे होकर यह किया जाता है वे प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक जैसे ही हों, यह आवश्यक नहीं। यदि उसने इसे जबर्दस्ती करना चाहा तो इससे उदासी और निराशा उत्पन्न होगी तथा एक ऐसी कृत्रिम क्रियाकी सृष्टि होगी जो सफलताकी ओर जानेका सच्चा रास्ता नहीं होगी। किसी मानव-आत्मा और प्रकृतिके साथ किन्हीं मानसिक नियमोंके अनुसार बर्ताव नहीं किया जा सकता जो एक ही तरीकेसे सबके लिये लागू होने योग्य हों। यदि ऐसा होता तो फिर किसी गुरुकी आवश्यकता ही नहीं होती। प्रत्येक आदमी सैंडोके व्यायामके नियमोंकी तरह अपने सामने यौगिक नियमोंकी एक तालिका रख लेता और जबतक पूर्ण सिद्ध न हो जाता तबतक उसका अनुसरण करता रहता!

मैंने इतनी सारी बातें इसलिये कही हैं कि तुम यह समझ जाओ कि हम लोग जैसे तुम्हारे साथ व्यवहार करते हैं ठीक वैसे ही 'अ'के साथ या दूसरोंके साथ क्यों नहीं करते। लोगोंमें यह प्रवृत्ति फैली है कि जो बात मैं एक व्यक्तिके लिये निर्धारित करता हूँ उसे लेकर वे बिना सोचे-विचारे दूसरेपर भी लागू करनेकी चेष्टा करते हैं और इसी कारण इस सम्बन्धमें इतनी अधिक गलत-फहमी फैली हुई है। सच पूछो तो, एक सामान्य कथन भी, अपने-आपमें सत्य होनेपर भी सबपर एक समान नहीं प्रयुक्त किया जा सकता अथवा अभी और तुरत, अवस्था या परिस्थिति या व्यक्ति या समयका कोई भी विचार किये बिना, नहीं किया जा सकता। मैं सामान्य रूपसे यह कह सकता हूँ कि अतिमानसको उतार लाना इस योगमें मेरा उद्देश्य है अथवा उसे करनेके लिये मनुष्यको पहले मनसे बाहर निकलकर अधिमानसमें ऊपर उठ जाना चाहिये, पर इस कथनके बलपर यदि कोई व्यक्ति और सभी व्यक्ति अतिमानसको नीचे खींच लानेकी कोशिश करना आरम्भ कर दें या मनसे तुरत-फुरत बाहर निकलकर अधिमानसमें घुसनेका बलात् प्रयत्न करने लगें तो उसका फल सर्वनाश ही होगा।

इसलिये केवल अपनी उन्नतिकी ही चिंता करो और श्रीमाताजी जो पथ दिखायें उसीका अनुसरण करो। दूसरोंको भी वैसा करनेके लिये छोड़ दो। श्रीमाताजी उनकी आवश्यकता और उनकी प्रकृतिके अनुसार उन्हें पथ दिखाने तथा उन्हें सहायता देनेके लिये मौजूद हैं ही। इस बातसे कुछ भी आता-जाता नहीं कि वह जिस पथसे उसे ले जाती हैं वह उस पथसे भिन्न या विपरीत प्रतीत होता है जिससे कि वह तुम्हें ले जाती हैं। वही पथ उसके लिये ठीक

है जैसे कि यह तुम्हारे लिये ठीक है।

अब तुम उन कठिनाइयोंको देखने लगे हो जो अभी भी तुम्हारे प्राणमें मौजूद हैं। बस, उस स्पष्ट दृष्टिको बनाये रखो, उसे और भी अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित होने दो। जो कुछ तुम्हें करना है बस उसीपर ध्यान एकाग्र करो और आवश्यक कार्यों या किसी दूसरे प्रभावके कारण किसी तरह विक्षुब्ध मत होओ।

*

निश्चय ही प्रश्नोंका उत्तर देनेसे (कठिनाईके) पुनरावर्त्तनका भीतरी कारण दूर नहीं होगा। यदि उत्तरोंसे संतोष भी हो जाय तो वह केवल कुछ समयके लिये ही होगा। वे ही प्रश्न या तो यंत्रवत् पुनरावर्तनके रूपमें उठते रहेंगे — क्योंकि सच पूछा जाय तो वे वास्तवमें बुद्धिसे नहीं उठते, बल्कि प्राण-चेतनाके किसी भागसे उठते हैं जो पारिपार्श्विक वातावरणसे प्रभावित होता है — अथवा किसी दूसरे युक्ति-तर्क या कुछ बदले हुए दृष्टिकोणसे उठते रहेंगे। कठिनाई केवल तभी दूर हो सकती है जब कि तुम यह दृढ़ निश्चय बनाये रखो कि यह अवश्य दूर होगी — यदि तुम उन युक्तियोंको कोई भी मूल्य देना अस्वीकार करो जिन्हें मन इस पारिपार्श्विक प्रभावके अधीन तुम्हारी 'उदासीनता' के लिये सामने पेश करनेके लिये बाध्य है, और, जैसा कि तुमने अन्य विषयोंमें किया था, यौगिक परिवर्तन ले आने, पूर्णतः चैत्य पुरुषको जागृत करनेके अपने संकल्पपर मजबूतीसे डटे रहो, मनकी वाणियोंका अनुसरण न करो बल्कि जो कुछ श्रीमाताजी तुमसे कहती हैं, उसे मानो, चाहे वह कितना भी कठिन हो या कठिन प्रतीत हो, उसपर डटे रहो। बस, इसी तरह चैत्य पुरुष पूर्ण रूपसे जग सकता है और अपना प्रभाव स्थापित कर सकता है तुम्हारे उच्चतर प्राणपर नहीं जहां कि वह पहलेसे ही जागृत है, बल्कि तुम्हारे निम्नतर प्राणपर भी, क्योंकि तुम्हारी कठिनाई यहीं है और यहींपर प्राणिक अवसाद बार-बार उत्पन्न होता है।

*

निस्संदेह, यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुमने इतने बड़े भ्रममें अपने-आपको खो दिया है। यह भी ठीक वैसा ही भ्रम है जिसे 'अ' ने आरम्भ किया है। यह महज प्राणिक मिथ्यापनका ही एक भाव है जो नाटकीय और असंगत

है, यह बुद्धिको धूमिल बनानेवाला और सामान्य समझ और सरल सत्यको ढकनेवाला है। प्राणको शुद्ध करनेके लिये मिथ्यात्वके साथ किये गये इन सब समझौतोंसे एकदम बाहर निकल आना होगा — इसका कोई मूल्य नहीं कि कितना युक्तियुक्त तर्क वह उपस्थित करता है — और उसपर सरल सुस्पष्ट चैत्य सत्य अंकित करनेका अभ्यास डालना होगा जिसमें कि कोई चीज उसमें प्रवेश करनेका मौका न पाये। प्राणका जो भाग ऐसे समझौते करनेमें समर्थ है उसपर यदि यह शिक्षा अंकित कर दी जाय तो फिर इस गलत क्रियामेंसे भी कुछ अच्छी बात निकल आयेगी। अपनी प्राणसत्ताके दरवाजेपर अब श्रीमाता-जीकी यह नोटिस लगा दो कि "अब कोई मिथ्यापन यहां कभी प्रवेश न करे", और वहां एक संतरी बैठा दो जो यह देखता रहे कि उसके अनुसार कार्य हो रहा है।

*

'अ' के समर्थनमें जो कुछ तुमने लिखा है वह सब ठीक 'अ' के निजी विचारोंके जैसा ही लगता है और वे विचार बड़े विलक्षण हैं। यदि वे सही हों तो हमें इन निम्नांकित निष्कर्षोंपर पहुँचना होगा :

1. सिद्धिकी ओर जानेका सर्वोत्तम पथ सत्त्व नहीं है आध्यात्मिक व्यक्ति बननेके लिये रजस् ही सर्वोत्तम पथ है। अत्यन्त भयावह अहंकार और तीव्र आवेश रखनेवाला राजसिक मनुष्य ही भगवान्का सच्चा साधक है।

2. असुर ही तो सबसे अच्छा भक्त है। गीताने जो दैवी प्रकृतिको सिद्धि-की शर्त्तके रूपमें प्रतिपादित किया है और आसुरी प्रकृतिको उसका विरोधी बतलाया है वह सब बिलकुल गलत है। सत्य उससे एकदम उलटा है।

3. रावण, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल भगवान्के सबसे बड़े भक्त थे क्योंकि वे भगवान्के साथ शत्रुता करनेकी क्षमता रखते थे और इसलिये कुछ जन्मोंमें ही मुक्त हो गये — उनके मुकाबले महान् ऋषि और भक्त बहुत ही हीन आध्या-त्मिक आधार थे। मुझे रावणके सम्बन्धमें पुराणकी एक कहानी मालूम है जो प्रचलित धारणासे उलटी है। परन्तु यह बात ध्यानमें रखो कि असुरों और राक्षसोंने राम या कृष्ण या विष्णुका पूजक होनेका दिखावा नहीं किया अथवा विद्रोहके द्वारा मोक्ष पानेके लिये शिष्यके रूपमें अपनी स्थितिका उपयोग नहीं किया। मोक्ष तो उन्हें शत्रु होनेके कारण, मार डाले जानेके कारण और भगवत्तत्त्वमें आत्मसात् कर लिये जानेके कारण प्राप्त हुआ।

4. गुरुके प्रति आज्ञाकारिता, भगवान्की पूजा आदि सब बकवास हैं

और केवल भेड़-बकरीके उपयुक्त हैं, मनुष्यके नहीं। गुरु या भगवान्‌की ओरसे क्रोधके साथ मुँह फेर लेना, उन्हें गाली देना, घृणा व्यक्त करना, उनकी सच्चाई-पर संदेह करना, उनके कार्योंको गलत, मूर्खतापूर्ण या एक चाल घोषित करना — अपने-आपको बात-बातमें सही साबित करना और उनके निर्णयको गलत, पक्षपातपूर्ण, अनुचित, मिथ्या, शैतानोंका आश्रय आदि-आदि कहना भक्तिका सबसे उत्तम तरीका है तथा गुरु और शिष्यके बीच सच्चा सम्बन्ध है। आज्ञा-को न मानना ही गुरुके प्रति सबसे बड़ा आदर दिखाना है तथा क्रोध और विद्रोह ही सबसे ऊंची पूजा है जो भगवान्‌को दी जा सकती है।

5. जो व्यक्ति महाकालीकी मारको आनन्दके साथ ग्रहण करता और उसे अपने दोषोंको ढूंढ़ निकालने तथा ज्योति, शक्ति और पवित्रतामें वर्द्धित होनेका पथ मानता है वह भेड़ है और शिष्य होनेके अयोग्य है — जो परि-वर्तित होनेके लिये अत्यन्त मन्द दबावका भी प्रत्युत्तर विद्रोहके द्वारा देता है और अपनी भूलोंपर डटा रहता है वह एक शक्तिशाली व्यक्ति, महान् आधार तथा पूर्णताके पथपर चलनेवाला उच्च कोटिका शिष्य है।

इस तरह मैं लगातार निष्कर्षोंको जोड़ता चला जा सकता हूँ, पर इसके लिये मेरे पास समय नहीं है। क्या तुम वास्तवमें इन सब बातोंपर विश्वास करते हो? ये पूर्णताके पथके रूपमें 'अ' के सिद्धांत या विद्रोहके सिद्धांतके स्वाभाविक परिणाम हैं। यदि तुम इस प्रतिज्ञाको स्वीकार करो तो उसके युक्तिसंगत परिणामोंको भी तुम्हें स्वीकार करना होगा। यही चीज 'अ' ने की — केवल उसने अपनी भूलोंको सत्य कहा और मेरे दिखाये पथको मिथ्या बताया — उसके मतानुसार मेरे निर्देशकी व्याख्या केवल इसी बातके द्वारा की जा सकती है कि मैं एक "ऐसा गुरु हूँ जो अपने उच्चतर आत्माको भूल गया है।" और ये परिणाम ही उसके यहांसे चले जानेके कारण बने, हमने ऐसा नहीं चाहा था, बल्कि वह स्वयं अपनी इच्छासे गया और ऐसी परि-स्थितियोंमें गया कि उसने हमारे लिये इस बातको व्यवहारतः असम्भव बना दिया है कि जबतक उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो जाता तबतक उसे फिर वापस आने दें और भूतकालका अनुभव मुझे विश्वास नहीं दिलाता कि ऐसा विचार करना सम्भव है।

*

तुम्हारा विश्लेषण एकदम सही है — समूची चीजके ढांचेके विषयमें यह जो सुस्पष्ट ज्ञान है इसके द्वारा इन अज्ञानपूर्ण शक्तियोंसे छुटकारा पाना

अधिक आसान होना चाहिये। यह ठीक है कि ये शक्तियां सत्य या युक्ति-तर्ककी कोई परवाह नहीं करतीं और महज प्राणके अन्धबोधको ही भली प्रतीत होती हैं, पर फिर भी यदि सच्ची चेतनाकी ज्योति उनपर लगातार डाली जाय तो उससे तुम्हारे अपने प्राणको इतना प्रकाश मिल सकता है कि वह अब उन चीजोंके हाथोंमें अपने-आपको न छोड़ दे जो इसे बेचैन करनेकी चेष्टा करती हैं और भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पणके भावसे उत्पन्न शांति और प्रसन्नताकी स्थितिमें स्थापित हो जाय।

VI

जो कठिनाई तुम्हारे प्राणमें है वह तुम्हारी व्यक्तिगत कठिनाई नहीं है, बल्कि वह किसी-न-किसी मात्रा और किसी-न-किसी रूपमें प्रायः सबमें पायी जाती है। इसके निरन्तर वापस आने, यंत्रकी तरह अयौक्तिक ढंगसे वापस आने, जब कि प्रकृतिके बाकी सभी अंगोंने इसे त्याग दिया है तब भी इसके वापस आनेका कारण है पार्थिव चेतनाकी हठधर्मिता जो प्राचीन अभ्यासगत शक्तियोंके कम-से-कम स्पर्शपर भी अपनी पुरानी गतियोंको अपनी पुरानी लीकमें दुहराती रहती है। यह श्रद्धा-विश्वास, धैर्य और अध्यवसायका प्रश्न है। साधकको पार्थिव प्रकृतिसे भी अधिक हठी होना चाहिये और तबतक सतत प्रयास करते रहना चाहिये जबतक कि ज्योति और शक्ति उन अंगोंपर स्थायी अधिकार नहीं जमा लेतीं जो अभी भी उन प्राचीन गतियोंका प्रत्युत्तर देते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस अध्यवसायके रहनेपर अन्तमें दिव्य सत्य अवश्य विजयी होगा।

जब ये पुनरावृत्तियां होती हैं तब यदि तुम किन्हीं निश्चित भावनाओं तथा अवसाद या निराशाकी अभ्यासगत प्रतिक्रियाओंसे मुक्त रह सको तो इससे यह काम अधिक आसान हो जायगा। उदाहरणके लिये, अपनी प्राणिक सत्ताके परिवर्तनकी 'सम्भावना'के विषयमें आनेवाले किसी भी प्रश्नको निकाल फेंको; बल्कि तुम्हें यह जानना चाहिये यह केवल सम्भव ही नहीं वरन् सुनिश्चित है। जब ये पुनरावृत्तियां हों तब उनके कारण अवसन्न मत हो जाओ, बल्कि उनका निरीक्षण करो, उनसे पृथक् खड़े हो जाओ और उच्चतर शक्तिका इस पूर्ण विश्वासके साथ आवाहन करो कि ये यांत्रिक पुनरावृत्तियां हैं और तत्त्वतः इससे अधिक और कुछ नहीं हैं — भले ही ऊपरसे देखनेमें ये जितनी भी प्रबल क्यों न प्रतीत हों। यांत्रिक पुनरावर्तनका तत्त्व पार्थिव प्रकृतिमें बहुत प्रबल है, इतना प्रबल है कि मनुष्य सहज ही यह समझने लगता है कि इसे सुधारा

नहीं जा सकता। परन्तु यह इस पार्थिव अज्ञानकी शक्तियोंकी महज एक चालाकी है; इसी धारणाको उत्पन्न करके वे बने रहनेकी चेष्टा करती हैं। यदि, इसके विपरीत, तुम दृढ़ बने रहो, अवसन्न या हताश होना अस्वीकार कर दो और, उनके आक्रमणके क्षणमें भी, अन्तिम विजयकी सुनिश्चिततापर दृढ़ विश्वास बनाये रखो तो विजय बहुत अधिक आसानीसे और बहुत शीघ्र अपने-आप ही आयेगी।

*

जब प्राण किसी चीजको पकड़ लेता है तब बहुधा ऐसा ही होता है — वह तबतक उसे मनपर लगातार स्थापित करता रहता है जबतक कि वह संतुष्ट नहीं हो जाता या उसकी पकड़ ही रद्द नहीं कर दी जाती।

*

तुम्हें निम्न-प्राणिक प्रकृतिकी किसी भी क्रियाके बने रहनेके कारण निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। कुछ क्रियाएं ऐसी होती हैं जो तबतक सर्वदा बनी रहती और वापस आती रहती हैं जबतक कि अत्यन्त स्थूल चेतनाका रूपान्तर हो जानेके कारण सम्पूर्ण भौतिक प्रकृति ही नहीं परिवर्तित हो जाती। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक उनका दबाव यांत्रिक अभ्यासके रूपमें बार-बार आता रहता है — कभी-कभी तो अपनी पुनरुज्जीवित शक्तिके साथ और कभी-कभी अधिक धीमें रूपमें आता रहता है। उन्हें कोई भी मानसिक या प्राणिक अनुमति देना अस्वीकार करके उनमेंसे समस्त जीवनीशक्ति निकाल लो; तब यांत्रिक अभ्यास इतना शक्तिहीन हो जायगा कि वह विचारों और कर्मोंपर प्रभाव नहीं डाल सकेगा और अन्तमें बंद हो जायगा।

*

बहुत बार ऐसा होता है कि जब मनुष्य यह सोचता है कि कोई विशेष बाधा दूर हो गयी है और अब प्राणमें नहीं है तब वह फिर उभड़ आती है।

*

किसी विशेष प्राणिक वृत्तिका उत्तेजित हो उठना योगकी एक पूर्णतः परिचित क्रिया है और इसका मतलब यह नहीं है कि साधकका पतन हो गया है, बल्कि इसका महज इतना ही मतलब है कि पार्थिव प्राण-प्रकृतिकी मौलिक वृत्तियोंके साथ सुखद प्रणाम-बंदगीकी जगह उसकी गहरी मुठभेड़ हो गयी है। आध्यात्मिक विकासके एक विशेष स्तरमें स्वयं मुझे भी इस प्रकारके उभाड़का अनुभव हुआ था और उसमें वह ऊंचाई थी जो इससे पूर्व मुश्किलसे रही हो और विशुद्ध यौगिक जीवनमें वह एकदम अनुपस्थित प्रतीत होती थी। ये चीजें इसी तरह उभड़ती हैं क्योंकि वे अपने अस्तित्वके लिये लड़ रही हैं— वे वास्तवमें तुम्हारी व्यक्तिगत चीजें नहीं हैं और उनके आक्रमणकी प्रचण्डता-का कारण तुम्हारे व्यक्तिगत स्वभावकी कोई "बुराई" नहीं है। मेरा विश्वास है कि दसमें सात साधकोंको इस तरहका अनुभव होता है। पीछे जब वे चीजें अपने उद्देश्यको सफल नहीं कर पातीं अर्थात् साधकको उसकी साधनासे दूर नहीं भगा पातीं तो समूची चीज ही भूमिसात् हो जाती है और उसके बाद फिर कोई तीव्र कठिनाई नहीं रह जाती। मैं फिर दुहरा दूँ कि इस विषयमें एकमात्र गम्भीर बात है तुम्हारे अन्दर उत्पन्न अवसाद और यह भावना कि योग करनेकी योग्यता तुममें नहीं है। ये अनुभव जब अपना कार्य करते हैं तब वे इसी बातकी छाप मनपर डालनेकी चेष्टा करते हैं। यदि तुम इससे छुटकारा पा सको तो प्राणिक आक्रमणकी तीव्रता एक स्तरकी क्रियामात्र रह जाती है और अन्तमें इससे कुछ भी आता जाता नहीं।

*

ये सभी चीजें मानव-स्वभावमें हैं, ये अभ्यासगत क्रियाएं हैं; जब उच्चतर चेतनाकी ज्योति इनपर डाली जाती है केवल तभी ये अपने असली स्वरूपको प्रकट करती हैं। जब इनका परित्याग कर दिया जाता है तब भी बाहरसे आनेवाले ऐसे सुझावोंका प्रत्युत्तर देनेकी सम्भावना निम्नतर प्राण या प्राणिक-भौतिक अंग या अवचेतनके कणमें विद्यमान रहती है।

*

तुम्हारा प्राण "संतुलन खो बैठता है" और उन्हें (अर्थात् अहं, मांग और कामनाको) स्वीकार कर लेता है, इस तथ्यका आशय यह है कि तुम अपनेको उनके प्रति खुला छोड़ देते हो। इन वस्तुओंको और अधिक अन्दर घुसने नहीं दिया गया है, इसका चिह्न यह है कि तब आन्तरिक प्राण उनका इस प्रकार

परित्याग करता है कि वे सिवाय सुझावके और कुछ नहीं रह जाते। सम्भव है वहां सुझावोंकी तरंगें या सामान्य प्रकृतिकी लहरें उमड़ आयें पर उन्हें प्रवेश नहीं मिल पाता। और तभी एक ऐसा संकल्प कायम किया जा सकता है जिसमें व्यक्ति सामान्य वातावरणसे अस्पृष्ट रहता है।

*

ऐसा हुआ होगा कि उस मौकेपर चेतना नीचे गिर गयी और कोई प्राणिक लहर वातावरणसे भीतर आ गयी और उसने चंचल प्राणके पुराने स्पन्दनोंको फिरसे जगा दिया जो शांत-स्थिर हो गये थे। तुम्हें अपनेको उनसे पृथक् कर लेना होगा और फिरसे अचंचल स्थितिको प्राप्त करना होगा। उन्हें अब मन या हृदयमें कोई सच्चा आधार नहीं प्राप्त है, वे महज पुनरावर्तनकी शक्तिपर निर्भर करते हैं जो अवचेतनासे आती है और एक बार प्रारम्भ हो जानेपर बार-बार आनेवाले इन पुराने विचारों और भावोंको बनाये रखनेकी चेष्टा करती है जिसमें कि वह चेतनाको अचंचलतामें स्थापित होनेसे रोक सके। परन्तु जो आन्तरिक स्थिति एक बार प्राप्त हो चुकी है वह बनी हुई है और महज आच्छादित हो गयी है और इन मेघाच्छन्न अवस्थाओंमेंसे उसे फिरसे अधिकृत करना होगा। जब ये आक्रमण आते हैं तब तुम्हें अपने अन्दर किसी स्थानमें अचंचलता बनाये रखनेकी, अपने भीतर किसी ऐसी चीजको बनाये रखनेकी आदत डालनी चाहिये जो इन सुझावोंको मान लेना अथवा उन्हें अपना निजी विचार और अनुभवके रूपमें स्वीकार करना अस्वीकार कर देती है।

जो हो, तुम्हें सहायता देनेके लिये दिव्य शक्ति नियोजित की जायगी; उसे ग्रहण करो और वह सब चला जायगा।

*

स्पष्ट ही यह किसी ऐसी चीजका कार्य नहीं था जो अभी भी भीतर जड़ जमाये बैठी हो, बल्कि यह एक पुरानी क्रिया है जो बाहरसे (विश्व-प्रकृतिसे) वापस आती है जिसे प्राणके अन्दरकी कोई चीज अभ्यासकी शक्तिके वश, अभ्यस्त पुनरावर्तनकी शक्तिके वश प्रत्युत्तर देती है। यह इस बातसे स्पष्ट हो जाता है कि तुमने उस समय कुछ अनुभव नहीं किया — केवल बादमें ही किया। फिर इस बातसे भी स्पष्ट होता है कि दिव्य शक्तिको पुकारनेके बाद कभी

स्थिरता आयी और कभी चंचलता, मानों कोई चीज अपना अधिकार खो रही हो और फिर उसे वापस पाने और उसे अभी भी बनाये रखनेका प्रयास कर रही हो। बाहर फेंकी हुई चीजें बराबर ही प्रकृतिके उपादनमें विद्यमान प्रत्युत्तर देनेकी पुरानी आदत, पुराने प्रकम्पनपर आश्रित होनेके कारण उस तरह वापस आती हैं। जब कभी ऐसी चीज आये तब उसे फेंक देनेपर अंतमें वह प्रत्युत्तर देनेवाला भाग यह समझना आरम्भ कर देता है कि उसे ऐसा नहीं करना चाहिये और धीरे-धीरे या शीघ्रतासे उस आदतसे छुटकारा पा जाता है।

*

यह स्वाभाविक है कि जब किसी प्राणिक क्रियाके ऊपर विशेष प्रकारका दबाव डाला जाता है तब चाहे स्वयं प्राणमें (यहां प्राणिक-शारीरिक स्तरमें) या अवचेतनामें एक प्रकारकी बाधा प्रकट होती है। यह कभी-कभी यथार्थ बाधा होती है और कभी-कभी महज प्रवृत्ति होती है जो पवित्रीकरणके लिये प्रकट होती है।

*

प्राणिक क्रियाओंसे छुटकारा पानेका केवल एक ही पथ है और वह है आक्रमणकारी शक्तियोंके साथ जिस प्रकार व्यवहार करनेकी बात वह लिखता है वैसे ही लगातार करते रहना, अर्थात् उसे सदा जाग्रत रहना, सर्वदा प्रतिक्षण सचेतन बने रहनेकी कोशिश करना, इन चीजोंका बराबर त्याग करना, उनमें सुख माननेसे इन्कार करना, श्रीमांको पुकारना और दिव्य ज्योतिका अवतरण कराना। यदि वे क्रियाएं बार-बार वापस आती हों तो उसे निरुत्साहित नहीं होना चाहिये, प्रकृतिको तुरत-फुरत बदल देना सम्भव नहीं है, इसमें बहुत लंबा समय लग जाता है। परन्तु, वह यदि चैत्य चेतनाको सामने रख सके तो फिर वैसा करना बहुत अधिक आसान हो जायगा और फिर परिवर्तनमें बहुत कम कठिनाई और कष्ट होगा। सतत अभीप्सा और अभ्यासके द्वारा चैत्य चेतनाको सामने रखना सम्भव हो सकता है।

*

अधिकांश मनुष्योंमें निम्नतर प्राण गंभीर दोषों और ऐसी वृत्तियोंसे भरा होता है जो विरोधी शक्तियोंका प्रत्युत्तर देती हैं। सतत चैत्य उद्घाटन, इन प्रभावोंका लगातार परित्याग, अपने-आपको समस्त विरोधी सुझावोंसे पृथक् कर लेना तथा श्रीमांकी शक्तिकी स्थिरता, ज्योति; शांति पवित्रता आदि चीजें अन्तमें इस किलेबंदीसे आधारको मुक्त कर देंगी।

आवश्यकता इस बातकी है कि अचंचल रहा जाय, ये जो प्रभाव भीतर घुस आये हैं उन्हें अपनी चीजके रूपमें न देखा जाय, उनसे अपनेको अलग कर लिया जाय और उन्हें अस्वीकार किया जाय तथा भागवत शक्तिपर स्थिर विश्वास बनाये रखा जाय। यदि तुम्हारा चैत्य पुरुष भगवान्‌को चाहे और तुम्हारा मन सच्चा हो तथा निम्न प्रकृति एवं समस्त विरोधी शक्तियोंसे मुक्त होना चाहे और यदि तुम अपने हृदयमें श्रीमाताजीकी शक्तिका आवाहन कर सको तथा अपनी निजी शक्तिसे कहीं अधिक उसपर भरोसा कर सको तो यह किलाबंदी अन्तमें तुमसे दूर हट जायगी और उसके स्थानमें शक्ति और शांति आ जायेंगी।

*

शान्ति रखना सदा ही अच्छा होता है। जहांतक प्राणका प्रश्न है, उसमें सदैव ऐसी कोई वस्तु होती है जो प्रतिरोध करती है और गतिको मन्द करनेकी चेष्टा करती है, किन्तु यदि आन्तर सत्ता पर्याप्त खुल जाय और तुम आन्तर सत्तामें निवास कर सको तो शांति अवतरित हो सकती है और अपनेको वहां इस प्रकार प्रतिष्ठित कर सकती है कि उपरितलकी प्राणिक क्रियाएं भले वहां रहें पर वे आन्तर शान्तिको भंग नहीं कर सकेंगी।

*

एक चीज जिससे तुम्हें बचना है, वह है धैर्य खोना; क्योंकि वह प्राणिक कठिनाईको केवल बढ़ाती ही है। यदि प्राणका (आमूल) परिवर्तन करना हो तो यह सदा इसी तरह लगातार तबतक कष्ट देता रहेगा जबतक मनुष्य आन्तर चेतनाकी शांतिमें अपनेको दृढ़ता पूर्वक प्रतिष्ठित नहीं कर लेता और सतहपर प्राणिक व्यापारोंको निश्चल नहीं रखता।

*

तुम ऐसा मानते ही क्यों हो कि यह व्यर्थ है? प्राणिक सत्ताके शोधनमें वहुत अधिक समय लगता है क्योंकि जवतक सव हिस्से मुक्त नहीं हो जाते तवतक कोई भी पूरी तरहसे मुक्त नहीं होता और इसलिये भी कि वे अंग ऐसी अगणित क्रियाओंका प्रयोग करते हैं जिन्हें परिवर्तित या आलोकित करना है,— और इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि प्रकृतिके अभ्यस्त व्यापारोंमें चिपटे रहने और प्रतिरोध करनेकी वहुत प्रवल आदत होती है। इसलिये मनुष्य सहज ही सोचने लगता है कि उसने कोई प्रगति नहीं की —किन्तु शोधनके सव सच्चे और निरन्तर जारी रखे गये प्रयत्नका अपना परिणाम होता अवश्य है और कुछ समय वाद साधित उन्नति प्रत्यक्ष हो जाती है।

*

तुम्हारा मन और प्राण दोनों एकमत हो गये हैं और यही कारण है कि आक्रमण वड़ा प्रवल है और तुम्हें असामान्य लगता है। पहले चूँकि तुम कभी-कभी वशवर्त्ती हो जाते थे इसलिये जो भाग चाहता है वह तीव्र रूपमें आग्रह नहीं करता था, और जव वह दवाव डालता था तव वह शेष प्राण-प्रकृतिके द्वारा उतने तीव्र रूपमें अनुभूत नहीं होता था। तुम्हारी मानसिक, चैत्य और उच्चतर प्राणिक सत्ताएं ही अभी उससे पूर्णतः अलग हुई हैं। तुम्हारा भौतिक प्राण अभी भी कामनाओंका पोषण करता है और कभी-कभी कामनाको सक्रिय करनेके लिये विरोधी शक्तियोंद्वारा प्रेरित होता है। फिर यह कामना ही थी जिसने शारीरिक उपद्रव उत्पन्न किया था जिसके कारण कुछ दिन पहले तुमने कष्ट भोगा था। तुम्हें निम्नतर प्राणकी इस कामनासे एकदम मुक्त हो जाना होगा।

*

सच पूछो तो वह मन नहीं था वल्कि चैत्य पुरुष था जिसने मनके द्वारा सुझाव दिया था। मनका एक भाग ऐसा है जो सत्यके प्रभावके अधीन है और चैत्य पुरुषके ज्ञान और अनुभवका माध्यम वन सकता है। फिर एक दूसरा भाग है जो प्राणको प्रत्युत्तर देता है और प्रकृतिमें विद्यमान कठिनाइयों और विरोधोंको प्रकट करता तथा सहारा देता है। यदि समूचा मन प्राणको उत्तर देना या उसके सुझावोंको स्वीकार करना या समर्थन करना अस्वीकार

कर दे तो प्राणिक आक्रमणकी बहुतसी शक्ति विलीन हो जाती है और साधक प्राणपर दबाव डालनेमें समर्थ होता है तथा उसे चैत्य पुरुषकी बात सुनने और परिवर्त्तित होनेके लिये भी बाध्य करता है।

तुम्हारे विषयमें यह घटित हुआ कि समूची प्राणिक कठिनाई — सबसे प्रमुख परिवारसम्बन्धी कठिनाई — एक साथ पुंजीभूत हो गयी और उठ खड़ी हुई। जब इस प्रकारका कोई आक्रमण जीत लिया जाता है तब सर्वदा ही आंतरिक वातावरणमें एक प्रकारकी सफाई हो जाती है। अब फिरसे उसे शक्ति संग्रह नहीं करने देना चाहिये — और इसके लिये मनको सर्वदा चैत्य सुझावका अनुसरण करना चाहिये तथा विरोधी सुझावोंको आश्रय देनेसे तुरत इनकार करते रहना चाहिये। इसके साथ-साथ उसे श्रीमांकी ओर खुले रहना चाहिये जिसमें कि उनकी शक्ति उसमें उतर आये, उसे अधिकृत कर ले और वहां कार्य करे।

*

साधारणतया होता यह है कि कोई चीज प्राणको छू देती है, बहुधा मनुष्यके अनजानमें ही, और पुरानी सामान्य या बाह्य चेतनाको इस तरह ऊपर ले आती है कि आंतर मन आच्छन्न हो जाता है तथा पुराने सभी विचार और अनुभव कुछ समयके लिये वापस आ जाते हैं। उस समय भौतिक मन सक्रिय हो जाता है और अपनी अनुमति प्रदान करता है। यदि समूचा मन स्थिर और अनासक्त बना रहे और प्राणिक क्रियाको देखे पर उसे अनुमति न दे तो उसका त्याग करना आसान हो जाता है। यदि मनकी यह स्थिरता और अनासक्ति स्थापित हो जाय तो यह बराबर ही साधनामें एक महान् प्रगति-का चिह्न माना जाता है।

*

प्राणकी जो ये सब अन्धकाराच्छन्न और निरुपयोगी क्रियाएं तुम्हें सताती हैं, ये सब जो गलत विचार, सूचनाएं, अस्पष्टताएं, अयोग्यताएं आदि हैं इन सबके विषयमें तुम क्या करना चाहते हो? तुम यह लिखते हुए प्रतीत होते हो मानों तुम यह समझते हो कि इन्हें रखना और बदलना चाहिये। परन्तु क्यों रखना चाहिये और कैसे बदलना चाहिये? इससे भला क्या लाभ होगा? बल्कि ठीक बात जो तुम्हें करनी चाहिये वह है "उन्हें बाहर छोड़ देना,"

उनका त्याग कर देना, उन्हें रखना अस्वीकार कर देना, उन्हें अपनाना अस्वीकार कर देना। यह बिलकुल दूसरे रूपमें देखना है, सच्चे रूपमें देखना है कि दिव्य शक्ति तुम्हारे ऊपर दबाव डाल रही है। यदि तुम इन अन्य भ्रांत वस्तुओंको एकदम भूल सको तो यह तुम्हारे लिये निस्संदेह एक आशीर्वाद सिद्ध होगा। फिर, जिन्हें तुम स्वयं "भ्रांत चीजें" कहते हो उन्हें रखना और बदलना क्यों चाहते हो? यदि तुम्हें कोई बीमारी हो तो क्या तुम पीड़ा, रुग्णता और उसकी बाकी चीजोंको रखना और बदलना चाहते हो? उस समय तो तुम बीमारीको दूर फेंकना ही चाहते हो, शरीरके लिये उसे भूल जाना ही पसन्द करते हो, उसकी कोई छाप नहीं रखना चाहते, उसके फिरसे आ जानेकी सम्भावनातक तो खो देना चाहते हो, एकदम दूसरे ढंगसे, स्वस्थताके ढंगसे अनुभव करना और जीना चाहते हो। ठीक यही बात यहां भी लागू होती है।

*

बस, इसी भावनाके कारण तुम निस्सहाय हो, क्योंकि प्राण उसी गलत क्रियाको अनुमति दे देता है जो उसके रास्तेमें आती है। तुम्हें अपने प्राणपर अपनी आंतर इच्छा-शक्ति तथा श्रीमांकी ज्योतिको प्रयुक्त करना होगा जिसमें कि वह परिवर्तित हो; वह जो कुछ चाहे वही करनेके लिये उसे छोड़ मत दो। यदि कोई "निस्सहाय" हो जाय और यांत्रिक सत्ताके किसी भी भागद्वारा परिचालित हो तो परिवर्तन लाना कैसे सम्भव होगा? श्रीमांकी शक्ति अथवा चैत्य पुरुष कार्य कर सकता है, पर इस शर्त्तपर कि सत्ताकी अनुमति हो। यदि प्राणको वह जो चाहे वह करनेके लिये छोड़ दिया जाय तो वह सर्वदा अपनी पुरानी आदतोंका अनुसरण करेगा। उसे यह अनुभव कराना होगा कि उसे परिवर्त्तित होना चाहिये।

*

यदि तुम अपने श्रद्धा-विश्वासको फिरसे पाना चाहते हो और उसे बनाये रखना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले अपने मनको स्थिर करना होगा तथा उसे श्रीमांकी शक्तिकी ओर उद्घाटित करना और उसका आज्ञाकारी बनाये रखना होगा। यदि तुम्हारा मन उत्तेजित हो और प्रत्येक प्रभाव और आवेगका दास हो तो तुम संघर्षशील और विपरीत शक्तियोंका क्षेत्र बने रहोगे और

उन्नति नहीं कर सकोगे। तब तुम श्रीमांकी ज्ञानकी बात सुननेके स्थानमें अपने निजी अज्ञानकी बात सुनना आरम्भ करोगे, तुम्हारा श्रद्धा-विश्वास स्वभावतः ही विलीन हो जायगा और तुम एक गलत स्थितिमें जा पड़ोगे और गलत भाव बना लोगे।

तुम्हारी बीमारी स्पष्ट ही अपने मूल रूपमें स्नायुओंकी बीमारी है और यह सामान्य शारीरिक रोग नहीं है। ये व्याधियां विरोधी शक्तियोंके दबावकी सृष्टि होती हैं; यदि तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज इन्हें अनुमति दे और इन्हें स्वीकार करे तो ये बढ़ती हैं, और जितना ही अधिक मन उन्हें महत्त्व देता है और उनके विषयमें सोचता-विचारता रहता है उतना ही अधिक वे बढ़ती हैं। एकमात्र पथ है शांत-स्थिर बने रहना, उनसे अपनेको विच्छिन्न कर लेना और उन्हें स्वीकार करने या उन्हें अधिक महत्त्व देनेसे इनकार कर देना, जिस स्थिरता और शक्तिको श्रीमाताजी तुम्हारे चारों ओर स्थापित कर रही हैं उन्हें अपने मनमें प्रवेश करने देना तथा अपने स्नायु-मंडलभरमें परिव्याप्त होने देना। इससे भिन्न कुछ करनेका मतलब है अपनेको विरोधी शक्तियोंके पक्षमें ला रखना जो कि तुम्हें पीड़ित कर रही हैं। इसके निराकरणमें दीर्घ काल लग सकता है, क्योंकि तुम्हारा स्नायु-तंत्र बहुत दिनोंसे इन प्रभावोंके अधीन है और, जब ये निष्कासित कर दिये जाते हैं तो ये अपने अधिकारको पुनः स्थापित करनेके लिये बड़े वेगसे वापस आ जाते हैं; यदि तुम धैर्य, सहनशीलता और इन चीजोंके सम्बन्धमें समुचित चेतना और यथार्थ मनोभाव प्राप्त कर सको और बनाये रख सको तो उन्हें जो अधिकार प्राप्त है वह धीरे-धीरे विलीन हो जायगा।

तुम्हारी प्राण-प्रकृतिमें कुछ ऐसे दोष हैं जो स्थायी आध्यात्मिक प्रगतिके आनेमें रोड़े अटकाते हैं, पर वे दूर किये जा सकते हैं यदि, "पाप" और अयोग्यता-की समस्त अतिरंजित भावनाओंको दूर फेंककर, तुम उनकी ओर चुपचाप ताको, उन्हें पहचानो और त्याग दो। अपने अन्दरकी अत्यन्त आतुर सभी मांगों और कामनाओंको, समस्त उत्तेजना और विरोधी भावों तथा आवेगोंके अतिरंजनको शांत कर दो, सबसे पहले भक्तिकी तीव्रताको चाहो, पर साथ ही स्थिरता, शक्ति, पवित्रता और शांतिको चाहो। अपने अन्दर प्रगति करनेकी एक अचंचल और सुस्थिर इच्छा-शक्तिको स्थापित होने दो; जो कुछ श्रीमाताजी तुम्हारे अन्दर डाल रही हैं उसे चुपचाप, अनवरत और पूर्णतः आत्मसात् करनेकी आदत डालो। यही आगे बढ़नेका यथार्थ पथ है।

*

इन सुझावोंके वशमें होना बिलकुल ठीक नहीं होगा। ये स्पष्ट ही एक ऐसी शक्तिके सुझाव हैं जो प्राणकी बेचैनी और निराशाको उपयोगमें लाना चाहती है जिससे कि वह तुम्हारी साधनाको भंग कर देनेके लिये तुम्हें खींच ले जाय। ये सब बड़े सामान्य सुझाव हैं जो प्राणिक स्थितिके दवावके वश सबके पास आते हैं: "मैं इस साधनाके योग्य नहीं हूँ। मुझे अवश्य चला जाना चाहिये, मैं यहां नहीं रह सकता। श्रीमाताजी मुझे प्यार नहीं करतीं। मैंने सब कुछ छोड़ दिया है और कुछ भी नहीं पाया। यह संघर्ष मुझे बहुत दुःखी बना देता है; मुझे जाना ही चाहिये।" सच पूछा जाय तो इन सुझावोंके लिये कोई यथार्थ आधार नहीं है। चूँकि एक तीव्र संघर्ष आ उपस्थित हुआ है, इसलिये यह निष्कर्ष निकालना कि तुम साधनाके लिये अयोग्य हो और इतनी दूर जानेके वाद इसे छोड़ देना मूर्खतापूर्ण होगा। चूँकि तुमने अपनी भौतिक-प्राणिक सत्तासे उसकी किन्हीं प्यारी आसक्तियों और अभ्यासोंको छोड़नेके लिये कहा है इसी कारण वह इस स्थितिमें आ गयी है; विरोध करनेमें एकदम अक्षम, वंचित होनेके कारण संतप्त हो जानेके कारण वह इन सुझावोंको स्वीकार करती है और जो दवाव तुमने उसपर डाला है उससे बचनेका इसे एक बहाना बनाती है। संघर्षकी तीव्रताका कारण है आक्रमणकी प्रचण्डता, बल्कि उससे भी अधिक उसका कारण है इस प्राणका या इसके एक भागका इन सुझावोंके प्रति प्रत्युत्तर देना; अन्यथा एक कम उपद्रववाली, भले ही वह धीमी हो, क्रियाका होना बिलकुल सम्भव है। श्रीमाताजी किसी भी तरह तुम्हारे प्रति बदली नहीं हैं और न तुम्हारे विषयमें निराश ही हुई हैं— वह सुझाव तुमने स्वयं अपने मनकी अवस्थासे आहरण किया है और उसको निराशा और अयोग्यताका गलत अर्थ देनेका आरोप श्रीमाताजीपर लगाया है। उनके बदलने या निराश होनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह बराबर ही तुम्हारे अन्दरकी प्राणिक बाधाओंको जानती रही हैं और फिर भी उन्होंने आशा की और कर रही हैं कि तुम उनपर विजयी होगे। स्वभावके कण-कणमें विद्यमान प्रतीत होनेवाली कुछ चीजोंको परिवर्त्तित करनेकी मांग सर्वोत्तम साधकोंके लिये भी कठिन साबित हो रही है, परन्तु कठिनाईका होना असमर्थताका कोई प्रमाण नहीं है। ठीक चले जानेके इस आवेगको ही तुम्हें स्वीकार करनेसे इनकार करना होगा— क्योंकि जबतक ये शक्तियां यह समझती हैं कि वे इसे करा सकती हैं तबतक ये यथासम्भव इसी बातपर दबाव डालेंगी। फिर तुम्हें अपने उस भागमें श्रीमाताजीकी शक्तिकी ओर भी अपनेको खोलना होगा और इसके लिये यह आवश्यक है कि श्रीमाताजीकी निराशा या उनके प्रेमके अभावके विषयमें आनेवाले इन सुझावोंसे मुक्त हुआ जाय, क्योंकि यही चीज

प्रणामके समय प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। हमारी सहायता, अवलम्ब, प्रेम सर्वदा ही पूर्ववत् हैं—उनकी ओर अपनेको खोले रखो और उनकी सहायतासे इन सुझावोंको दूर भगाओ।

VII

विषादमात्र बुरा होता है क्योंकि वह चेतनाको नीचे ले आता है, उसकी ऊर्जाको खर्च कर देता है तथा उसे विरोधी शक्तियोंकी ओर खोल देता है।

*

प्राणिक अवसादकी किसी क्रियाको स्वीकार मत करो, विषण्ण अवस्था-को तो और भी कम प्रश्रय दो। बाह्य सत्ताका जहांतक प्रश्न है, वह सदा ही, केवल तुममें ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्तिमें, एक ऐसा पशु होती है जिसे चलाना कठिन होता है। उसके साथ बड़े धैर्य और शांत-प्रसन्न लगनके साथ व्यवहार करना होगा। उसकी बाधाओंके कारण कभी असवन्न मत होओ, क्योंकि उसीके कारण वह असहिष्णु, दु:खी और कठोर बन जाती है अथवा निरुत्साहित हो जाती है। बल्कि उसे प्रकाश पानेका उत्साह दो और शांत दबाव डालो, फिर एक दिन तुम देखोगे कि वह भगवत्कृपाकी ओर पूर्ण रूपसे खुल रही है।

*

बाह्य सत्ता साधनाकी तबतक परवाह नहीं करती जबतक उसे इसके द्वारा ऐसी कोई वस्तु न मिल जाय जो उसे प्रीतिकर या तृप्तिकर या संतोष दायक लगे—इसलिये अवसाद उसके पास सहज ही आ जाता है।

*

स्वभावत: ही यदि प्राण शान्त हो और वह मनको वस्तुओंको ठीक तरह देखने दे, तो उसमें इस प्रकारका विषाद नहीं उत्पन्न होगा!

*

निराशाकी ये भावनाएं तथा अपनेको हेय और निस्सहाय समझनेका यह अतिरंजित बोध विरोधी शक्तियोंके दिये हुए सुझाव हैं और इन्हें कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये। जिन दोषोंकी चर्चा तुम करते हो वे सभी मानव-स्वभावोंमें पाये जाते हैं और प्रत्येक साधककी बाह्य सत्ता उनसे भरी हुई है। उनके विषयमें सज्ञान होना रूपान्तरके लिये आवश्यक है, पर इसे करना होगा शान्त-अचंचल मनसे और भगवान्के प्रति श्रद्धा और समर्पण-भाव तथा उच्चतर चेतनाके लिये सुनिश्चित अभीप्सा रखकर — ये चीजें चैत्य पुरुषके लिये स्वाभाविक हैं। बाह्य सत्ताका रूपान्तर करना योगका अत्यन्त कठिन अंग है और इसके लिये आवश्यकता होती है श्रद्धा, धैर्य, अचंचलता तथा सुदृढ़ संकल्पकी। बस, इसी भावनाके साथ तुम्हें उदासीकी इन भावनाओंको एक ओर फेंक देना होगा और योगमार्गपर मजबूत कदमोंसे आगे बढ़ना होगा।

*

मुझे हालमें, दो तीन सप्ताहोंके बीच तुम्हारा कोई पत्र नहीं मिला। यदि तुम्हें अपनी दशा दयनीय लगती हो तो इसका कारण निश्चय ही यह नहीं कि हम तुमसे नाराज हैं। मैंने तुमसे कहा है कि हम सदा तुम्हारे साथ हैं और यह सच है, किन्तु इसे अनुभव करनेके लिये तुम्हें अपने प्राणसे पीछे हट जाना होगा और अपनी आन्तर सत्तामें एकाग्र होनेमें समर्थ होना होगा। यदि तुम यह ईमानदारी और सचाईसे करो तो कुछ समय बाद तुम हमारे साथ सम्बन्ध और घनिष्टताका अनुभव करोगे।

तुमने जिस वाक्यांशकी चर्चा की है उसका अर्थ यह है कि साधारणतया प्राण परिवर्तनकी पुकारका प्रतिरोध करनेकी चेष्टा करता है। विद्रोह या विरोधका अभिप्राय यही है। यदि आन्तर संकल्प दृढ़ रहे और विद्रोह या विरोधको उठने न दे तो प्राणिक अनिच्छा प्रायः ही उस भौतिक मनके प्रतिरोधके सहयोगसे अवसाद और निराशाका रूप धारण कर सकती है जो पुराने विचारों, आदतों, गतियों या क्रियाओंके पुनरावर्तनको बढ़ावा देता है, जब कि शरीर-चेतना प्रार्थित परिवर्तनकी आशंका या भयसे, इस परिवर्तनके प्रति विमुख होनेसे या ऐसी जड़तासे ग्रस्त होती है जो पुकारको ग्रहण नहीं करती।

इन चीजोंसे तुम्हें पीछा छुड़ाना होगा। पर दुःखमयी या निराशापूर्ण चित्तवृत्ति ऐसा करनेके लिये अनुकूल अवस्था नहीं है। तुम्हें कष्ट, वेदना और भय-आशंकाकी अनुभूतिसे अलग होकर पीछेकी ओर स्थित होना होगा और

इस सबका अस्वीकार करके प्रतिरोधको शान्तभावसे देखना होगा इसके साथ ही परिवर्तनके अपने संकल्पको सदैव अपने ऊपर लागू करना होगा एवं इस बातका आग्रह रखना होगा कि यह पूरा होगा ही और भगवान्की सहायतासे यह देर या सवेर पूरा हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि भगवान्की सहायता साथमें है। तभी तुममें ऐसा बल आ सकता है जो सब कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त करेगा।

*

जिस भावनाके साथ रुलाई आनेकी बात तुमने लिखी है वह चैत्य शोक-का चिह्न है—क्योंकि वह रुलाई चैत्य पुरुषकी एक अभीप्साको रूपान्तरित करती है। परन्तु अवसाद और निराशाको नहीं आना चाहिये। तुम्हें बल्कि इस विश्वासके साथ चिपके रहना चाहिये कि चूँकि तुम्हारे अन्दर सच्ची अभीप्सा है इसलिये उसका संसिद्ध होना सुनिश्चित है, बाहरी प्रकृतिकी चाहे जो भी कठिनाइयां क्यों न हों। उस विश्वासके साथ-साथ तुम्हें आंतरिक शांति और अचंचलताको फिरसे प्राप्त करना चाहिये और जो कुछ करना उचित है उसका स्पष्ट अन्तर्दर्शन तथा आंतर और बाह्य परिवर्तनके लिये सतत अभीप्सा बनाये रखनी चाहिये।

*

मुझे नहीं मालूम कि उदासीमें (प्राणकी शुष्कताका) उपचार करनेकी शक्ति है या नहीं। स्वयं मैंने गीता द्वारा प्रतिपादित समताके मार्गका अनुसरण किया है—किन्तु कुछ लोगोंके लिये चैत्य उदासी जरूरी हो सकती है। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह उपचारकी अपेक्षा भूलकी द्योतक अधिक है।

*

योगमें नियम यह है कि अवसादसे अपनेको अवसन्न मत होने दो, उससे पीछे हट जाओ, उसके कारणको देखो और कारणको दूर करो; क्योंकि कारण सर्वदा स्वयं अपने अन्दर होता है, कहीं कोई प्राणिक दोष, प्रश्रय प्राप्त कोई अनुचित क्रिया या कोई तुच्छ कामना होती है जो कभी तो अपनी तृप्ति और कभी अपनी व्यर्थताके कारण विरक्ति उत्पन्न करती है। योगमें बहुत बार एक

तृप्त कामना, खेलनेकी छूट पायी हुई एक मिथ्या गति निराश कामनाकी अपेक्षा कहीं अधिक कड़ी विरक्ति पैदा करती है।

तुम्हारे लिये जो आवश्यक है वह है भीतर अधिक गहराईमें निवास करना, बाहरी प्राण और मानसिक भागमें कम निवास करना जो इन स्पर्शोंके प्रति खुला होता है। अन्तरतम चैत्य पुरुष इनके द्वारा पीड़ित नहीं होता; वह भगवान्‌के साथ प्राप्त सामीप्यमें बना रहता है और तुच्छ ऊपरितलीय क्रियाओंको सच्ची सत्ताके लिये विदेशी-जैसी ऊपरी चीजोंके रूपमें देखता है।

*

निस्संदेह, यह अच्छा है कि चैत्यने हस्तक्षेप किया और मनको भ्रांत दिशा ग्रहण करनेसे रोक दिया। यह सम्भव नहीं है कि आत्मशुद्धि और परिवर्तनके कार्यमें स्खलन और असफलताएं आदि हों ही नहीं; पर उनके कारण घबड़ा जाना या अनुताप करना सहायक होनेकी अपेक्षा हानिकारक ही होता है। उनके कारण आसानीसे अवसाद आ जाता है और अवसाद मनको आच्छादित कर देता और दुर्बल बना देता है। शांत भावसे गलत क्रिया और उसके स्वरूपको देखना (यहांपर जीभ दोषी थी और जीभ सदा ही आसानीसे भूल करती है) और भीतरसे उसे ठीक कर देना सर्वदा सबसे उत्तम तरीका होता है। स्थिरता, विशेषकर जब वह आत्माकी सच्ची आध्यात्मिक स्थिरता हो, एक ऐसी चीज है जिसे हमेशा सुरक्षित रखना चाहिये; उसकी सहायतासे अन्य सभी चीजें यथासमय और कम-से-कम तकलीफके साथ की जा सकती हैं।

*

तामसिक उदासीनता एक बात है और दुःखका अभाव दूसरी। मनुष्यको अवलोकन करना होगा कि क्या गलत है और उसे यथाशक्ति ठीक करनेके लिये कुछ करना होगा। स्वयं उदासीमें गलत चीजको सुधारनेकी शक्ति नहीं है, यह शक्ति दृढ़, शांत और अडिग संकल्पमें है।

*

रसोईके काममें सहायता करनेमें कोई बात गलत नहीं थी। परन्तु उसमें यदि कोई गलत क्रिया हो भी तो अवसन्न होकर उसका सामना करना उचित

नहीं — क्योंकि स्वयं अवसाद अपने-आपमें एक अनुचित या भ्रांत क्रिया है; और भला कोई एक भूल दूसरी भूलके द्वारा कैसे सुधारी जा सकती है? किसी भ्रांत क्रियाके साथ व्यवहार करनेका समुचित तरीका है उसकी ओर शांतिके साथ देखना और ठीक उसी बिन्दुपर चेतनाको प्रयुक्त करना।

फिर शांतिको कठोरता समझना भी एक भूल है। लोग कुछ कहते या करते हैं उससे यदि तुम अब उद्विग्न न होओ तो यह एक महान् प्रगति है। यदि तुममें श्रीमाताजीके प्रति कोई क्षोभ न हो तो निश्चय ही वह भी बहुत वांछनीय है। क्षोभ, अशांति आदि जीवनके चिह्न हो सकते हैं पर वे आंतरिक जीवनके नहीं बल्कि प्राणिक जीवनके चिह्न हैं। उन्हें अवश्य शांत होना चाहिये और आंतरिक जीवनके लिये स्थान खाली कर देना चाहिये। आरम्भमें इसका फल निष्क्रिय शांति हो सकता है, परन्तु मनुष्यको एक अधिक भावात्मक चेतनामें पहुँचनेके लिये बहुत बार उसमेंसे पहले गुजरना पड़ता है। जब मन इस तरह शांत-स्थिर हो जाता है तो भूतकालके विचार, सब प्रकारके पुनरावर्तनकारी या यंत्रवत् चलनेवाले विचार उठना आरम्भ कर देते हैं— ये भौतिक मन या अवचेतनासे आते हैं। उन्हें अस्वीकार करना और गुजर जाने देना होता है और पूर्ण मानसिक शांतिके लिये अभीप्सा करनी होती है जिसके अन्दर नवीन चेतना धीरे-धीरे प्रकाशित हो सके। अपने अन्दर यथार्थ संकल्प रखकर दृढ़ और शांत बने रहो और दिव्य शक्तिको अपना काम करने दो। वह संकल्प, सम्भव है कि, तुरत कोई सुस्पष्ट फल न उत्पन्न करे, पर उससे चिपके रहो और फल अवश्य उत्पन्न होगा।

*

प्राणिक मन जब यह देखता है कि उसने कोई भूल की है तो अनुताप, पश्चात्ताप करना उसकी स्वाभाविक क्रिया होती है। निश्चय ही यह उदासीनता-से अधिक अच्छा है। इससे हानि यह होती है कि यह प्राणके मूलतत्त्वको ही अस्तव्यस्त कर देता है और कभी-कभी अवसाद या निराशाको ले आता है। इसी कारण साधारणतया साधकको यह राय दी जाती है कि वह अपनी भूलको शान्तिके साथ स्वीकार करे, इस बातकी सच्ची अभीप्सा और संकल्प रखे कि वह भूल दुहरायी न जाय अथवा कम-से-कम वैसी भूलें करनेकी आदत शीघ्र दूर हो जाय। विकासके उच्चतर स्तरमें जब आंतरिक स्थिरता स्थापित हो जाती है तब साधक प्रकृतिके दोषोंका महज इस प्रकार निरीक्षण करता है मानो किसी मशीनके दोषोंको देखता हो जिन्हें उसे सुधारना है और उनका संशोधन

करनेके लिये दिव्य ज्योति और शक्तिका आवाहन करता है। परन्तु आरम्भमें पश्चात्तापकी क्रिया सहायक भी होती है बशर्ते कि उसके कारण निरुत्साह या अवसाद उत्पन्न न हो।

*

(निराशाके लिये) बाह्य तर्क मनके द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं और मन ही उनका प्रत्युत्तर कभी देता है कभी नहीं भी देता। बाहरकी कोई वस्तु तबतक प्रभाव नहीं डाल सकती जबतक मन (साधारणतया प्राणिक मन) उन्हें अपने सामने एक विशेष ढंगसे प्रस्तुत न करे तथा उन्हें अपना निजी उत्तर न दे।

*

यदि मन निराशाके लिये सुझाये गये किन्हीं तर्कोंका प्रत्युत्तर नहीं देता, तो सचमुच ही यह एक महान् मुक्ति है।

*

प्राणिक मन प्राणसत्ताका एक अंग है। यदि मन (मानसिक मन, प्राणिक-मन, भौतिक मन और अवचेतन मन) बाह्य चीजोंका प्रत्युत्तर न दे तो उदासीका आना असम्भव है। एक छोरपर आत्माको और दूसरे छोरपर पत्थरको कभी उदासी नहीं आती और इन दोनोंके बीचमें स्थित सच्ची मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतनाको भी कभी अवसाद नहीं होता क्योंकि वे असवाद उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंको प्रत्युत्तर नहीं देती।

*

तुम 'क्ष' पर, उसके अनुभवोंपर तथा अनुभव सम्बन्धी उसके विचारोंपर बहुत अधिक भरोसा करते प्रतीत होते हो। 'क्ष'के अनुभवसे कुछ सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह बिलकुल अज्ञानी है। उसका अवसाद बाहरसे आता है और उसके कुछ अपने कारण हैं, हां, केवल उसका प्राणिक मन कारणोंका लेखा-जोखा नहीं रखता न उन्हें समझता ही है इसपर भी वह उन्हें प्रत्युत्तर देता

रहता है। क्योंकि प्राणिक मनने भूतकालमें अवसादको हमेशा ही इन कारणोंके साथ जोड़ा है और वह संस्कार प्राणिक उपादानमें पड़ा हुआ है सो यह उनके स्पर्शका प्राणिक मन द्वारा उसे सिखाई गई सामान्य प्रतिक्रियाके साथ प्रत्युत्तर देता है। 'क्ष' जैसे अज्ञानी और अप्रशिक्षित मनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी चेतनाकी गतिविधियोंकी गुप्त यन्त्र-रचनाको समझ ले।

*

तुम्हारे यहांसे चले जानेके बाद ऐसा लगता है कि जिन प्राणिक कठिनाइयोंमेंसे तुम यहां बाहर निकल रहे थे वे उस वातावरणमें तुम्हारे वापस जानेके साथ-ही-साथ फिरसे आ गयीं। तुम्हारे ऊपर जो तीव्र अवसादका भाव तथा अस्वस्थताका आक्रमण हुआ उसका कारण यही था। फिर अवसादका होना ही वह कारण था जिससे सभी बातें बिगड़ गयीं और जो व्यवस्था की गयी थी वह भंग हो गयी अथवा उसने गलत रूप ले लिया। क्योंकि अवसाद दिव्य शक्तिके प्रवाहको रोकता है, विरोधी शक्तियोंको अन्दर बुलाता है तथा जो सहायक रचनाएं निर्मित की गयी होती हैं उन्हें नष्ट कर देनेका उन्हें (विरोधी शक्तियोंको) अवसर प्रदान करता है। यदि तुम अवसन्न होनेकी इस प्रवृत्तिको एकदम झाड़ फैंको तो तुम्हें जितने भी कष्ट और कठिनाइयां हैं वे सब-की-सब विलीन हो जायंगी।

*

अवसाद किसी तरह या कहींसे भी आया हो, उसके साथ केवल एक ही तरह बरतना चाहिये और वह है उसे बाहर फैंक देना!

*

अपने अन्दरकी जिस कठिनाईकी तुम चर्चा करते हो वह है, जैसा कि इन क्रियाओंका बार-बार होते रहना सूचित करता है, परन्तु वह हृदयमें नहीं है—तुम्हारा हृदय बिलकुल ठीक है—बल्कि वह निम्नतर प्राण-प्रकृतिमें है। तुम्हारी सभी कठिनाइयां वहीं हैं; तुम्हारी शेष सत्ता आध्यात्मिक जीवनके लिये एकदम पर्याप्त मात्रामें सबल है। परन्तु निम्नतर प्राणकी यह अयोग्यता कोई तुम्हारी ही विलक्षणता नहीं है, यह करीब-करीब हरेक मनुष्यमें पायी

जाती है। अयुक्तिसंगत उदासी, निराशा, और इन कल्पनाओंकी, भय और विकृत तर्ककी यह प्रवृत्ति, सदा बार-बार होनेवाली प्रवृत्ति,—यदि तुम सावधानीके साथ देखो तो तुम उन्हीं क्रियाओं, भावों और भावनाओंको और यहांतक कि मशीनकी तरह उसी भाषा और वाक्यांशोंको सदा देखोगे — निम्नतर प्राण-प्रकृतिकी एक विशिष्ट क्रिया है। इससे छुटकारा पानेका एकमात्र पथ यह है कि इससे भिड़ने, इसका त्याग करने और इसे जीतनेके उच्चतर प्राण, मन और चैत्य पुरुषके सुदृढ़ संकल्पके साथ इसका सामना किया जाय। जिस तरह तुमने काम-वासना और जिह्वाकी वासनाको जीतनेका संकल्प किया था उसी तरह तुम्हें अवसाद तथा निम्नतर प्राण-प्रकृतिकी इस "अयुक्तिसंगत ग्रंथि" को जीतनेका संकल्प भी करना होगा। यदि तुम इसे प्रश्रय दोगे और इसे अपनी सत्ताका स्वाभाविक अंग समझोगे जिसके बने रहनेके समुचित कारण हैं अथवा जब यह आता है तब इसके किसी-न-किसी औचित्यको ढूँढ़ निकालनेमें व्यस्त रहोगे तो फिर कोई कारण नहीं कि यह तुम्हारे ऊपरसे अपनी दुःखदायी पकड़को छूट जाने दे। यहांपर दृढ़ बने रहो और साहस बनाये रखो, जैसा कि तुमने अपने निम्नतर प्राणकी अन्य गतियोंके संबंधमें करना सीखा है; तब तुम अपने ध्यान और साधारण साधनाके अन्दर कम कठिनाईका अनुभव करोगे।

*

यह प्राणिक निर्बलता है जो उन्हें (अतृप्ति और कामनाकी शक्तियोंको) अपना आक्रमण बहाल रखनेका सामर्थ्य प्रदान करती है। निर्बलताको अन्दर आने देनेके स्थानपर अपने संकल्प और अपनी अभीप्साको फिरसे जगा दो और उन्हें इस अहंतामय अन्धकारको बाहर फैंकने दो।...

साथ ही मानव प्राणकी किसी मांगको भी अहंतापूर्ण विद्रोहकी चीख-पुकारके साथ न उठने दो या यदि कोई उठे भी तो इस बातका ख्याल रखो कि तुम या तुम्हारा कोई भी भाग उसके साथ अपनेको एक न कर ले।

*

भूतकालके अनुभव और गतिविधियां रातके समय नींदमें सर्वदा वापस आती हैं। जब वह चेतना जिसने उन्हें उत्पन्न किया था, जागृत अवस्थामें परिवर्तित और परिष्कृत हो जाती है केवल तभी बादमें मनुष्य उन्हें नींदमें

भी निकाल बाहर कर सकता है।

तुम "योग्य नहीं हो" आदि-आदि बाहरी चेतनाके सुझावोंकी ओर बहुत अधिक कान देते हो। जब तुमने कुछ समयके लिये थोड़ासा खुलना आरम्भ किया था तो यह सूचित करता है कि तुम योग्य हो। तुम्हें अपने अन्दरकी उसी क्रियाकी ओर वापस जाना होगा; उसके लिये तुम्हें इस बाहरी प्राणको मनाना होगा कि वह इस तरह बराबर दुहराता न रहे कि "मैं योग्य नहीं हूँ, मेरे प्रयास सफल नहीं होंगे, मैं बहुत अधिक कुटिल हूँ" आदि-आदि; अथवा यदि वह दुहराता रहे तो तुम्हें उसकी बात सुननी नहीं चाहिये। जो संभावना तुम्हें दिखायी गयी थी उसे स्वीकार करो और उसीपर एकाग्र होओ, काल्पनिक असाध्यतापर नहीं।

*

यह स्पष्ट है कि शक्ति और शान्ति अवतरित हो रही हैं और तुम्हारे अन्दर जम जानेके लिये अधिकाधिक क्रिया कर रही हैं।

अन्य भावनाएं, उदासीन होनेकी चाह, प्रसन्न होनेसे भय, अक्षमता या अयोग्यताका सुझाव आदि प्राणिक सृष्टिकी सामान्य क्रियाएं हैं। ये चीजें तुम्हारी अपनी नहीं हैं और ये तुम्हारे अन्दर होनेवाले परिवर्तनको रोकनेकी चेष्टा करनेके लिये ऊपर आती हैं। तुम्हें बस इन सुझावोंको स्वीकार करनेसे इनकार कर देना चाहिये और अपने अन्दर विद्यमान दिव्य सत्यके पक्षमें अपनेको लगातार बनाये रखना चाहिये। वही चीज तुम्हें मुक्त और प्रसन्न बनायेगी, और फिर सब कुछ अच्छा ही होगा।

*

कौन व्यक्ति अपने अन्दर कहीं-न-कहीं अस्तव्यस्तता या अज्ञानको तबतक अनुभव नहीं करता जबतक कि पूर्ण ज्योति और सत्य-शक्ति नहीं आ जातीं? तुम्हारी भूल यह है कि तुम अस्तव्यस्तताके विषयमें ही सर्वदा सोचते रहते और उससे जूझते रहते हो, उसीपर ध्यान जमाये रहते हो, उसीके विषयमें सोचकर उसे अतिरंजित करते रहते हो, इस तरह उसका प्रतिपादन करते हो मानों वही एकमात्र यथार्थ और सत्य वस्तु हो। जब तुम शक्तिको अनुभव करते हो तब शक्तिकी ओर ही मुड़ो और उसे कार्य करने दो — एकमात्र यह शक्ति ही तुम्हें इस अस्तव्यस्तता और अन्धकारसे मुक्त कर सकती है, न कि

तुम या तुम्हारा मनन-चिंतन और संघर्ष। यह जांच करनेसे क्या लाभ कि तुम्हारी श्रद्धा और विश्वास "सच्चे" हैं या नहीं? शक्तिको अनुभव करना, शान्त-स्थिर बने रहना और उस शक्तिको कार्य करने देना ही बस आवश्यक है।

*

यह अच्छा है कि तुम इस संघर्षसे पीछे हटकर उस स्थिर आधारकी ओर जाओ जो उद्घाटित होनेमें सहायता करता है। यह सब संघर्ष और अस्तव्यस्तता और दुःखदायी आत्मावमूल्यन आगे बढ़नेका पुराना गलत तरीका है; यह मानसिक और प्राणिक तरीका है और सफल नहीं हो सकता; बस, आवश्यकता इस बातकी है कि उद्घाटन स्थिर मनके अन्दर हो। तब तुम्हारे अन्दरका अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष आगे आना आरम्भ कर देगा। अन्तरात्मा सत्यको जानता और देखता है; मन और प्राण नहीं जानते और देखते — जबतक कि वे अन्तरात्माके ज्ञानसे आलोकित नहीं हो जाते।

*

यह बात सत्य नहीं है कि तुम ठीक नहीं हो सकते या कभी नहीं होगे। ऐसा तुम्हें उस समय प्रतीत होता है जब तुम्हारा निम्नतर प्राण चंचल होता है अथवा तुम्हारा भौतिक मन ही सबसे ऊपर आ जाता है। बस, सत्य बात यह है कि यदि तुम अपनेको अपने उस भागमें बनाये रखो जिसे सम्पर्क प्राप्त है तो बात बहुत जल्दी और कम कठिनाई तथा कष्टके साथ पूरी हो जायगी।

*

यदि तुम्हारे अन्दर यह अचेतनता है तो तुम्हें अपने सभी कर्मोंमें सचेतन होना सीखना होगा जिसमें कि प्राणिक क्रियाएं तुम्हें अब धोखा न दे सकें या कोई आड़ न ले सकें। तुम्हें इन प्राणिक क्रियाओंको देखनेके लिये और वे जैसी हैं वैसी ही देखनेके लिये अपनी सत्ताके एक बिंदुको पूर्ण सच्चा बनाना चाहिये।

यदि एक बार तुम अपनी चैत्य सत्तामें उद्घाटित हो जाओ और उसे उद्घाटित रखो तो स्वयं तुम्हारे अन्दरसे ही निरन्तर एक प्रकारका बोध आता रहेगा जो तुम्हें पग-पगपर यथार्थ सत्यको दिखायेगा और तुम्हें किसी प्रकारके

धोखेसे सावधान करता रहेगा। यदि निरन्तर अभीप्सा करते रहो और अपने अपने अन्दर शान्तिको बढ़ते रहने और शक्तिको कार्य करते रहने दो तो यह उदघाटन हो जायगा।

VIII

मैंने यह कभी नहीं कहा है कि संदेहको जीतना आसान है; उसे जीतना कठिन है क्योंकि मानवीय भौतिक मनके भीतरकी किसी चीजका यह स्वभाव ही है कि वह स्वयं संदेहके लिये ही सन्देहसे चिपकी रहती है। उदासी, अवसाद, दुःख और यंत्रणाको अतिक्रम करना आसान नहीं है, क्योंकि मानवीय प्राण-प्रकृतिकी कोई चीज़ उससे चिपकी रहती है और जीवन-रूपी नाटकके अंगके रूपमें प्रायः उसकी आवश्यकता महसूस करती है। ठीक उसी तरह मैंने यह भी कभी नहीं कहा है कि कामवासना, क्रोध, ईर्ष्या आदिको जीतना आसान है। मैंने कहा था कि उन्हें जीतना कठिन है क्योंकि मानवप्राणमें उनकी जड़ जमी हुई है और जब उन्हें बाहर फेंक दिया जाता है तो भी या तो स्वयं अपने अभ्यासवश या सामान्य प्रकृतिके आक्रमणके कारण और अपने पुराने प्रत्युत्तरके पुनः प्रकट हो जानेके कारण वे सर्वदा प्राणमें वापस आ जाते हैं।...... बाह्य चेतना — मनुष्यका स्थूल मन और चेतना — अपने निजी यंत्रणासे घृणा करती है और यदि उसे अकेला छोड़ दिया जाय तो वह दूसरोंको कष्ट भोग करते हुए देखना नापसन्द करती है। परन्तु, तुमने जो जीवनरूपी नाटकको पसन्द करने अथवा उसकी ओर मुड़नेकी बातको स्वीकार किया है, जिससे बहुत थोड़ेसे मनुष्य ही बच पाते हैं, उसके रहस्यको खोज निकालनेकी कोशिश करो, और, काफी गहराईमें जाकर देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि प्राणके अन्दर कोई ऐसी चीज है जो नाटकके लिये ही दुःख यंत्रणाको पसन्द करती और उससे चिपकी रहती है। यह चीज ऊपरी सतहसे नीचे होती है, पर यह प्रबल होती है, मानवीय प्रकृतिके अन्दर प्रायः विश्वव्यापी चीज होती है और जबतक कोई इसे पहचानकर आंतरिक रूपसे इससे अपनेको पृथक् नहीं कर लेता तबतक इसे निकाल फेंकना कठिन होता है। मनुष्यका मन और शरीर दुःख-कष्टको पसन्द नहीं करते, क्योंकि, यदि वे पसन्द करते तो वह फिर दुःख-कष्ट नहीं रह जाता, पर प्राणके अन्दरकी यह चीज जीवनको मसालेदार बनानेके लिये उसे पसन्द करती है। यही कारण है कि निरन्तर अवसादका भाव वापस आता रहता है और जब मन इससे छुट्टी पाना चाहता है तो भी आता रहता है, क्योंकि प्राणके अन्दरकी यह चीज, जैसे ही उसे आयी हुई पा लेती है, उसे

ग्रामोफोनके रेकर्डकी तरह बार-बार चलाती रहती है और उसी दुहराये हुए रेकर्डको पूरा-पूरा चलाते रहनेका हठ करती है। सच पूछा जाय तो यह उन युक्तियोंपर नहीं निर्भर करती जिन्हें प्राण इस चक्करको चलाते रहनेके लिये देता है। ये युक्तियां अधिकतर बड़ी ही सामान्य ढंगकी होती हैं और उस क्रियाका समर्थन करनेके लिये पूर्णतः अपर्याप्त होती हैं। मानव-प्रकृतिकी इस अत्यन्त कष्टप्रद और विपत्तिजनक प्रवृत्तिसे अन्तमें छुटकारा पाना केवल तभी सम्भव है जब कि मनुष्यमें उसका समर्थन करनेका नहीं, बल्कि उससे अपनेको पृथक् कर लेनेका, उसका स्वागत करनेका नहीं, बल्कि उसका परित्याग करनेका प्रबल संकल्प हो। इसलिये जब हम प्राणके सुखांत नाटककी बात कहते हैं तब हम एक मनोवैज्ञानिक ज्ञानके साथ बात करते हैं जो महज ऊपरी चीजोंतक आकर ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि इन प्रच्छन्न गतियों और क्रियाओंको भी देखता है। यदि हम केवल उत्तलीय चेतनासे ही अपनेको सीमित कर दें तो फिर योगके उद्देश्यसे वस्तुओंके साथ व्यवहार करना असम्भव हो जायगा। और यह भी इन प्रतिक्रियाओंके नियमके अनुसार ही घटित हुआ है कि जब तुम अपनी भक्ति और अपनी आन्तर सत्ताके प्रति समर्पण करनेके संकल्पमें काफी प्रगति कर चुके हो तब तुरत ही तुम्हारे अन्दर अवसाद उत्पन्न हो गया है। यह अवसाद अन्धकारकी भावनाके कारण आता है जो, जब कभी सम्भव होता है तब, साधकपर आक्रमण करती है। यह भावना सभी प्रकारकी उपलब्ध प्रगतिसे बुरी तरह नाराज हो जाती है और प्रगतिके विचारको ही घृणाकी दृष्टिसे देखती है। उसकी सारी नीति ही है अपने आक्रमणो और सुझावोंके द्वारा साधकको यह विश्वास दिला देना कि उसने कोई प्रगति नहीं की है अथवा जो प्रगति उसने की है वह आखिरकार बेकार और अनिश्चित है...।

यह संसार अभी जैसा है उसके नियम अज्ञानके नियम हैं और भगवान् तबतक उन्हें संसारमें बनाये रखते हैं जबतक कि अज्ञान विद्यमान रहता है। यदि वह ऐसा न करते तो विश्व चूरचूर होकर भूमिसात् हो जाता —'उत्सिदेयुरिमे लोकाः,' जैसा कि गीता कहती है। अति स्वाभाविक रूपमें ऐसी शर्त्तें भी हैं जब कि मनुष्य अज्ञानसे निकलकर ज्योतिमें जा सकता है। उनमेंसे एक यह है कि साधकके मनको सत्यके साथ सहयोग करना चाहिये और उसके संकल्पको भागवत शक्तिके साथ सहयोग करना चाहिये जो शक्ति कि, भले ही उसका कार्य प्राण और भौतिक मनको धीमा प्रतीत हो, प्रकृतिको ज्योतिकी ओर ऊपर उठा रही है। जब यह सहयोग पूर्ण बन जाता है तब प्रगति भी पर्याप्त रूपसे तेज हो जा सकती है। इसलिये मानव-प्रकृतिकी अन्धता और दुर्बलताके लिये इस सहयोगको पूर्णतः सम्भव और फलप्रद बनानेकी दृष्टिसे जितने समय और

श्रमकी आवश्यकता हो उसके लिये साधकको शिकायत नहीं करनी चाहिये।

तुम्हारे अन्दर जो श्रद्धा, सच्चाई, आत्मसमर्पण आदिके लिये यह सब पुकार उठती है वह उस सहयोगको अधिक आसानीसे सम्भव बनानेके लिये महज एक आवाहन है। भौतिक मन जिन चीजोंको नहीं जानता या जो उसके परे हैं उन सबके साथ-साथ सभी चीजोंके विषयमें, आत्माकी गभीरतर चीजोंकी तरह ही, यदि अपना विचार निश्चित करना बन्द कर दे तो दिव्य ज्योतिको ग्रहण करना तथा जिन चीजोंको अभी वह नहीं जानता उन्हें अन्तःप्रकाश और अनुभवके द्वारा जानना उसके लिये अधिक आसान हो जायगा। यदि मन और प्राण बिना कुछ बचाये अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें सौंप दें तो भागवत शक्तिके लिये कार्य करना और ठोस फल उत्पन्न करना अधिक आसान हो जायगा। यदि कहींपर विरोध हो तो यह स्वाभाविक है कि इसमें अधिक समय लगना चाहिये और कार्यको भीतर अथवा, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि, अन्तस्तलमें होना चाहिये जिससे कि प्रकृतिको तैयार किया जा सके और विरोधको निर्मूल किया जा सके।

*

तुम्हारे अन्दरकी जो चीज दुःख-कष्टका उपभोग करती है और उसे चाहती है वह है मानवीय प्राणका अंग — ये ही सब चीजें हैं जिन्हें हम कुटिलता और प्राणकी विकृत प्रवृत्ति कहते हैं; प्राणका यह अंग शोक और क्लेशके विरुद्ध चिल्लाता है और भगवान्, जीवन तथा अन्य प्रत्येकके विरुद्ध ही यह शिकायत करता है कि वे उसे सताते हैं, परन्तु अधिकांशमें देखा जाय तो शोक और क्लेश इस कारण आते और बने रहते हैं कि प्राणके भीतरकी कोई विकृत वस्तु उन्हें चाहती है! प्राणके अन्दर विद्यमान उस वस्तुसे हमें एकदम छुटकारा पाना ही होगा।

*

हां, बात ऐसी ही है। यहांतक कि प्राण-चेतनामें एक चीज ऐसी है जो जीवनमें कोई दुःख-कष्ट न होनेपर चैन ही नहीं अनुभव करेगी। सच पूछा जाय तो भौतिक (शरीर) चेतना दुःख-कष्टसे डरती और उससे घृणा करती है, पर प्राण उसे जीवन-क्रीड़ाका एक अंग समझता है।

*

सच तो यह है कि अन्तरात्मा नहीं बल्कि प्राण या यों कहें कि प्राणके अन्दरकी कोई चीज कराहने और रोनेमें और यथार्थतः सब प्रकारके शोक-संतापमें सुख मानती है।

*

उत्तलीय प्रकृति नहीं बल्कि भीतरकी कोई चीज "हास्य और क्रन्दन" की लीलाका, हर्ष और शोक, सुख और दुःख एक शब्दमें अज्ञानकी क्रीड़ाका उपभोग करती है। कुछ लोगोंमें यह चीज कुछ हदतक ऊपरी तलपर आ जाती है। बहुतेरे ऐसे लोग होते हैं जिनके सामने यदि तुम यह प्रस्ताव रखो कि जीवनसे यंत्रणाको निकाल बाहर करना चाहिये तो वे तुम्हारी ओर तिरछी निगाहोंसे ताकेंगे और यह अनुभव करेंगे कि हर्ष, आनन्द और शान्तिके सिवा और कुछ न पाना भयानक भूल होगी — बहुतोंने तो ऐसा कहा भी है।

*

असन्तुष्ट प्राणिक कामना दुःख-कष्ट अवश्य उत्पन्न करती है। दुःख और दुर्गति उस अज्ञानके आवश्यक परिणाम हैं जिसमें हम रहते हैं; मनुष्य सब प्रकारके अनुभवोंद्वारा, जैसे दुःख और यन्त्रणाके द्वारा, वैसे ही उनके विपरीत, हर्ष और सुख और आनन्दके द्वारा वर्धित होते हैं। अगर मनुष्य समुचित ढंगसे उनके ग्रहण करे तो वह उनसे शक्ति प्राप्त कर सकता है। बहुतसे लोग उस कष्ट और पीड़ामें आनन्द उपभोग करते हैं जो संघर्ष या प्रयास या दुःसाहसिकताके साथ जुड़ा होता है, पर उस समय उस आनन्दका कारण अधिकांशमें उस संघर्षका उल्लास और उत्तेजन होता है, स्वयं दुःख-कष्ट नहीं होता। परन्तु प्राणके अन्दर एक ऐसी चीज है जो समूचे जीवनमें, उसके अन्धकारपूर्ण पक्षोंमें और प्रकाशमय पक्षोंमें भी, सुख अनुभव करती है, फिर प्राणमें एक विकृत चीज भी है जो स्वयं अपनी ही दुर्दशा और आपदामें, यहांतक कि अधःपतन या बीमारीमें भी, एक प्रकारका नाटकीय सुख अनुभव करती है।

मैं नहीं समझता कि महज संदेह करनेसे कोई लाभ हो सकता है; मानसिक शंकाएं केवल तभी लाभ पहुँचा सकती हैं जब कि वे सत्यकी खोजके लिये हों, पर महज संशयात्मक तर्कके लिये या विशुद्ध खण्डनात्मक भावनासे प्रश्न उपस्थापित करनेपर, जब कि वह आत्माके सत्यके विरुद्ध उपस्थापित किया

जाता है, केवल भूल-भ्रांति उत्पन्न होती है या स्थायी अनिश्चयता। यदि मैं दिव्य ज्योतिके आनेपर सर्वदा संदेह करूँ और जो सत्य वह देती हो उसे अस्वीकार करूँ तो ज्योति मेरे अन्दर नहीं ठहर सकती, प्रतिष्ठित नहीं हो सकती; अन्तमें, अपना स्वागत न देख और मनमें कोई आधार न पा, वह वापस चली जायगी। साधकको सर्वदा ज्योतिमें प्रवेश करनेके लिये जोर लगाते रहना चाहिये, बराबर अन्धकारमें ही वापस नहीं लौटना चाहिये और इस भ्रममें अन्धकारसे ही नहीं चिपके रहना चाहिये कि यही सच्ची ज्योति है। मनुष्य दुःख-दर्द या शंका-संदेहमें जो कुछ परिपूर्णता अनुभव करता है वह अज्ञानकी चीज है; सच्ची परिपूर्णता तो दिव्य आनन्द और भागवत सत्य तथा उसकी निश्चयतामें प्राप्त होती है। इसी परिपूर्णताके लिये योगी प्रयास करते हैं। संघर्षकी स्थितिमें योगीको शंका-संदेहमेंसे गुजरना पड़ सकता है, पर वह स्वयं इसका चुनाव या संकल्प नहीं करता बल्कि इसलिये उसे इसमेंसे गुजरना पड़ता है कि अभी उसके ज्ञानमें अपूर्णता होती है।

*

तुमने विक्षोभके विषयमें जो देखा है वह सच है। तुम्हारे भीतर अब दो चेतनाएं हैं, नई जो विकसित हो रही है और पुरानीका अवशेष। पुरानी चेतनामें ऐसी कोई वस्तु है जो मानव प्राणिक सत्ताकी अभ्यासगत वस्तु है,—दुःख, क्रोध, खीज आदिके जरासे भी अंशको या किसी प्रकारके भावप्रधान, प्राणिक या मानसिक विक्षोभको कायम रखनेकी प्रवृत्ति, उसे बढ़ा-चढा देना, चिरकाल तक बनाये रखना, विदा करनेकी इच्छा न करना, जब कि विक्षोभको कारण समाप्त हो गया हो या भुलाया जा सकता हो तब भी बार-बार उसकी ओर लौटना और सदा उसका स्मरण करते रहना और सम्भव होनेपर उसे सदा उभारते रहना। यह मानव प्रकृतिका सामान्य लक्षण और बहुत प्रचलित क्रिया है। इसके विपरीत नवीन चेतना इन वस्तुओंको नहीं चाहती और जब ये आती हैं तो जल्दी-से-जल्दी उन्हें दूर फेंक देती है। नवीन चेतनाके पूरी तरह विकसित और प्रतिष्ठित हो जानेपर विक्षोभ पूर्णतया निर्वासित हो जायंगे। यहांतक कि यदि उन्हें उत्पन्न करनेवाले कारण वहां विद्यमान हो तो भी प्रकृतिमें दुःख, क्रोध, नाराजगी इत्यादिके रूपमें कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलेगा।

*

उदासी और अन्य कठिनाइयां निम्नतर प्राण और भौतिक चेतनाके तमस्-के विरोधके कारण आती हैं। तुम्हें तमस्से मुक्त होनेका प्रयास करके अपनी चेतनाको तैयार करना चाहिये। इस योगके लिये सात्त्विक प्रसन्नता, स्थिरता और विश्वासका होना ही समुचित मनोभाव है। उदासी, अवसन्नता और रुलाईको प्रश्रय नहीं देना चाहिये, क्योंकि ये उद्घाटनके मार्गमें बाधक होती हैं — हां, यदि आंसू मुक्ति या आराधना या विगलित प्रेम और भक्तिका चैत्य रुदन हो तो दूसरी बात है। कामवासना तथा निम्न प्राणकी अन्य राजसिक वृत्तियोंपर संयम करनेमें जो प्रगति हुई है वह एक अच्छी तैयारी, है, पर पर्याप्त नहीं है; स्वयं अपने-आपमें यह केवल अभावात्मक पक्ष है, यद्यपि है अनिवार्य। शक्ति, ज्योति, शान्ति, आदिके प्रति भावात्मक सात्त्विक उद्घाटनके लिये अभीप्सा करो और यदि प्रगति आरम्भमें धीमी हो तो उसके लिये दुश्चिंता या शोक मत करो और योगमें तेजीसे आगे बढ़नेकी क्षमता आनेसे पहले आवश्यक तैयारी करनेमें जो समय और श्रम लगे उससे विमुख न होओ।

*

जो परिवर्तन 'क्ष'के देखनेमें आया है वह प्रत्यक्ष रूपसे प्राणिक और भौतिक सत्ताकी महान् प्रगतिको सूचित करता है। प्रसन्न और प्रफुल्ल रहनेमें आध्यात्मिक दृष्टिसे कोई खराबी नहीं; इसके विपरीत यह एक अच्छी चीज है। जहां तक संघर्षों और अभीप्साओंका प्रश्न है, संघर्ष वस्तुतः प्रगतिके लिये अनिवार्य नहीं है और ऐसे भी लोग हैं जो संघर्षकी वृत्तिके इतने आदी जाते हैं कि वे सारे समय संघर्ष ही करते रहते हैं और अन्य बातें बहुत कम। यह वस्तु वांछनीय नहीं। जैसे एक सूर्यालोकित पथ है वैसे ही एक अन्धकारावृत पथ भी है और इन दोनोंमें वह अधिक श्रेष्ठ है जिसमें व्यक्ति माताजीपर पूरा भरोसा रखकर किसीसे डरे बिना, किसी वस्तुके लिये शोक किये बिना आगे बढ़ता चलता है। अभीप्साकी आवश्यकता है किन्तु एक ऐसी सूर्यालोकित अभीप्सा भी हो सकती है जो प्रकाश, श्रद्धा, विश्वास और हर्षसे परिपूर्ण होती है। यदि कठिनाई आये तो उसका भी मुस्कराते हुए मुकाबला किया जा सकता है।

*

यह एक ऐसी क्रिया है जो तुम्हारे जन्मदिन या दर्शनके दिन घुसनेकी

चेष्टा करती है और स्पष्ट ही यह ऐसी शक्तियोंका सुझाव है जो तुम्हें विचलित करना चाहती हैं और तुम्हारे जन्मदिन या दर्शन-दिवसको खराब कर देती हैं। तुम्हें इस विचारसे मुक्त हो जाना होगा कि ये किसी भी रूपमें साधनाके लिये सहायक है, उदाहरणके लिये यह तुम्हें भगवान्‌की याद दिलाती है इत्यादि —यदि यह ऐसा करती है तो यह भगवान्‌को गलत ढंगसे याद दिलाती है और साथ ही निर्वलता और अवसाद एवं आत्म-अविश्वास आदि-आदिको भी पोषित करती है। प्रफुल्लताका क्या लाभ है? यह तुम्हें ऐसी सही स्थितिमें ला देती है जिससे चैत्य अपना कार्य कर सके और यह जाने बिना ही तुममें आध्यात्मिक वृत्तिके लिये बिलकुल सही प्रत्यक्ष बोध और सही भाव विकसित होते जाते हैं। तुम्हारे विकासको मैं अब इधर काफी लम्बे अरसेसे देखता आ रहा हूँ और प्रफुल्लताभरी अवस्थाओंमें ही यह अत्यन्त सक्रिय होता है। जप और भगवान्‌का चिन्तन सब ठीक है, किन्तु यह इस पूर्वोक्त आधारपर काम-काज और मानसिक प्रवृत्तिके संग-संग ही होना चाहिये, क्योंकि तब आधार स्वस्थ दशामें रहता है। पर यदि तुम सिवाय जपके और कुछ भी न करनेके लिये अधीरता पूर्वक उत्सुक रहो तथा भगवान् और अपनी साधित या असाधित "प्रगति"के सिवाय अन्य किसी बातकी चिन्ता न करो ('क्ष' कहता है कि तुम्हें "प्रगति"के विषयमें कभी नहीं सोचना चाहिये, उसके अनुसार यह अहंकी क्रिया है),—तो सब गड़बड़ हो जायगा—क्योंकि आधार अभी भगीरथ प्रयत्नके लिये तैयार नहीं है और वह विचलित होने लगता है तथा यह सोचने लगता है कि वह अयोग्य है एवं कभी योग्य नहीं बनेगा। इसलिये उत्तम हंस-मुख कार्यकर्ता बनो और शक्तिभर सब प्रकारसे भगवान्‌को अपनी भक्ति अर्पित करो किन्तु अपने अन्दर वस्तुओंके चरितार्थ करनेके लिये उनपर आधार रखो।

*

बस, आवश्यकता है अपने आविष्कारसे लाभ उठानेकी और बाधासे छुटकारा पानेकी। श्रीमाताजीने न केवल बाधाकी ओर संकेत किया बल्कि उन्होंने बड़े स्पष्ट रूपमें यह भी दिखा दिया कि उससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और उस समय तुमने उनकी बात समझ ली, यद्यपि अब (जिस समय तुम मुझे यह पत्र लिख रहे थे) वह ज्योति, जिसे तुमने देखा था, मेघाच्छन्न हो गयी प्रतीत होती है। सम्भवतः तुम्हारा प्राण उदासीनता-रूपी खेलमें अधिकाधिक व्यस्त होता गया और उसीके कारण वह ज्योति आच्छादित हो गयी। परन्तु यह एकदम स्वाभाविक था, क्योंकि यही वह परिणाम है जिसे उदासी

सर्वदा ले आती है। यही कारण है कि मैं शोकके सिद्धांत और ऐसी किसी साधनाके विरुद्ध आपत्ति करता हूँ जो शोकको (क्षोभ, विद्रोह, विरह आदिको) अपना एक प्रधान आश्रय बनाती है। सच पूछो तो शोक-दुःख, जैसा कि स्पिनो-जाने इंगित किया है, एक महत्तर पूर्णताकी ओर जानेका, सिद्धि प्राप्त करनेका कोई पथ नहीं है; वह नहीं हो सकता, क्योंकि वह मनको विभ्रांत करता, दुर्बल बनाता और दूर हटा देता है, प्राणिक शक्तियोंको अवसन्न कर देता है, आत्माको अन्धकाराच्छन्न कर देता है। हर्ष और प्राणिक स्फूर्त्ति और आनन्दसे शोक-संताप, अपने ऊपर अविश्वास, हतोत्साह और दुर्बलतामें आ गिरना एक महत्तर चेतनासे एक निम्नतर चेतनामें वापस आ जाना है। ऐसी मनोवृत्तियोंका आभास यह सूचित करता है कि प्राणके अन्दर कोई ऐसी चीज है जो अधिक तुच्छ, अधिक मलिन, अन्धकारपूर्ण और दुर्दशापन्न किसी क्रियासे चिपकी हुई है जिससे कि बाहर निकलना ही योगका लक्ष्य है।

अतएव यह कहना बिलकुल गलत है कि श्रीमाताजीने तुमसे गलत चाभी ले ली जिससे तुम परियोंका महल खोलनेकी चेष्टा कर रहे थे और तुम्हें कोई दूसरी चाभी नहीं दी। क्योंकि उन्होंने न केवल सही चाभी तुम्हें दिखा दी बल्कि दे भी दी। उन्होंने तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये महज अस्पष्ट प्रोत्साहन ही नहीं दिया वरन् ठीक-ठीक उस स्थितिका वर्णन भी किया जो उचित ढंगके ध्यानसे अनुभूत होती है — वह है आन्तरिक विश्रांतिकी स्थिति, जोर-जबर्दस्तीके साथ खींचनेकी नहीं, बल्कि शान्तिके साथ खुले रहनेकी स्थिति, उत्सुकताके साथ या निराश होकर खींचनेकी नहीं, बल्कि भागवत शक्तिको कार्य करने देनेके लिये उसके हाथोंमें सुसमंजस ढंगसे अपनेको सौंप देनेकी स्थिति, और उस स्थितिमें शक्तिके कार्य करनेका बोध और प्रशान्त विश्वासका बने रहना तथा बिना किसी चंचलतापूर्ण हस्तक्षेपके शक्तिको कार्य करने देना। और उन्होंने तुमसे पूछा कि आया तुमने कभी उस स्थितिका अनुभव किया है या नहीं और तुमने कहा कि तुमने किया है और तुम उसे भलीभांति जानते हो। अब, वह स्थिति है चैत्य उद्घाटन, और यदि वह तुम्हें हो चुका है तो, तुम जानते ही हो कि चैत्य उद्घाटन क्या चीज है। निःसंदेह, ऐसी बहुतसी चीजें हैं जो पीछे आती हैं, पर यह वह मौलिक स्थिति है जिसमें वे बहुत आसानी-से आ सकती हैं। सच पूछो तो तुम्हें करना यह चाहिये था कि श्रीमाताजीने जो चाभी तुम्हें दी उसे तुम अपनी चेतनामें बनाये रखते और उसका प्रयोग करते — पीछे न हटते, उदासीको आने न देते और भूतकालकी झल्लानेवाली वृत्तिको अपने ऊपर छा न जाने देते। इस स्थितिमें, जिसे तुम यथार्थ या चैत्य भाव कहते हो, पुकार, प्रार्थना, अभीप्सा हो सकती है; तीव्रता और एकाग्रता

अपने-आप आयेंगी, कठोर परिश्रमके द्वारा या प्रकृतिपर कड़ा दबाव डालनेसे नहीं। अशुद्ध क्रियाओंका त्याग, निःसंकोच दोषोंको स्वीकार करना आदि न केवल इसके साथ बेमेल ही नहीं हैं बल्कि इसके लिये सहायक भी हैं, परन्तु यह मनोभाव त्यागको, स्वीकृतिको आसान, सहज-स्वाभाविक, एकदम पूर्ण, सच्चा और फलदायी बना देता है। यही उन सब लोगोंका अनुभव है जिन्होंने यह मनोभाव ग्रहण करना स्वीकार किया है।

मैं आनुषंगिक रूपमें यह भी कहता चलूँ कि चेतना और ग्रहणशीलता एक ही चीज नहीं हैं; कोई मनुष्य ग्रहणशील तो हो सकता है फिर भी बाह्यतः इस विषयमें अनजान रह सकता है कि क्या चीज हो रही है और कैसे हो रही है। दिव्य शक्ति पर्देके पीछे कार्य करती है जैसा कि मैं बार-बार लिख चुका हूँ। उसके परिणाम पीछेकी ओर संचित रहते हैं और पीछे बाहर प्रकट होते हैं, बहुधा धीरे-धीरे, थोड़े-थोड़े, जबतक कि इतना अधिक दबाव नहीं पड़ता कि वे किसी तरह फूट निकलें और बाहरी प्रकृतिपर जबर्दस्ती हावी हो जायं। मानसिक और प्राणिक श्रम और खींच-तान तथा स्वाभाविक चैत्य उद्घाटनमें अन्तर है और इस अन्तरकी बात मैं एकदम पहली बार नहीं कह रहा हूँ। श्रीमाताजीने और मैंने इसके बारेमें अनगिनत बार लिखा और कहा है और हमने खींच-तान* और श्रम करनेकी मनाही की है तथा चैत्य उद्-घाटनके भावका अनुमोदन किया है। सच पूछा जाय तो यह सही या गलत चाभीका प्रश्न नहीं है बल्कि चाभीको ठीक या गलत तरीकेसे तालेमें लगानेका प्रश्न है; या तो तुम, किसी कठिनाईके कारण चाभीको इस या उस ओर घुमाकर जबर्दस्ती तालेको खोल डालनेकी चेष्टा करते हो या शान्तिपूर्वक और विश्वासके साथ उसे समुचित ढंगसे घुमा देते हो और दरवाजा खुल जाता है।

यह बात नहीं कि खींचने, बहुत जोर लगाने और जोश दिखानेसे कोई काम नहीं हो सकता; अन्तमें ये चीजें कोई-न-कोई फल ले ही आती हैं पर लाती हैं कठिनाईके साथ, देरसे, संघर्ष करके और सभी चीजोंके बावजूद शक्ति-योंकी एक बहुत बड़ी उथल-पुथल मच जाती है। स्वयं रामकृष्णने खींचने और जोर लगानेसे ही आरम्भ किया था और परिणाम भी पाया था, पर उन्हें एक भीषण और खतरनाक गड़बड़ीके रूपमें मूल्य चुकाना पड़ा था; पीछे उन्होंने जब कोई फल पाना चाहा तब शांत चैत्य-पथ ग्रहण किया और आसानी-

*शक्तिको दृढ़ताके साथ खींचना सम्भव है जो ठीक वही चीज नहीं है जिसे मैं 'खींच-तान करना' कहता हूँ—शक्तिको खींचना बिलकुल सुपरिचित और सहायक क्रिया है।

से तथा कम-से-कम समयमें उसे पाया। तुम कहते हो कि तुम्हारे लिये या तुम्हारे जैसे लोगोंके लिये यह मार्ग अत्यन्त कठिन है और मेरे तथा श्रीमाताजी जैसे केवल "अवतार" ही इसे कर सकते हैं। यह एक विचित्र भ्रांति है। क्योंकि, इसके विपरीत, यह अत्यन्त आसान और सरल तथा सीधा मार्ग है और इसे कोई भी कर सकता है यदि वह अपने मन और प्राणको अचंचल बना ले......जिन लोगोंमें तुमसे दशांश भी क्षमता है वे इसे कर सकते हैं। बल्कि दूसरा पथ जो उत्तेजना, खींच-तान और कठिन श्रमका मार्ग है वह कठिन है और उसके लिये तपस्याकी एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होती है। जहांतक श्रीमाताजीका और मेरा प्रश्न है, हम लोगोंको सभी मार्गोंसे प्रयास करना पड़ा, सभी पद्धतियोंका अनुसरण करना पड़ा, कठिनाइयोंके पहाड़ोंको पार करना पड़ा, तुमसे या आश्रमके अथवा बाहरके किसी भी व्यक्तिकी अपेक्षा कहीं अधिक बोझ वहन करना पड़ा, बहुत अधिक कठिन परिस्थितियोंसे लड़ना पड़ा, लड़ाइयोंमें जूझना पड़ा, घावोंको सहना पड़ा, अगम्य दलदल, रेगिस्तान और जंगलके बीचसे रास्ता काटना पड़ा, विरोधी शक्तियोंके झुँडोंको जीतना पड़ा — ऐसा काम करना पड़ा जैसा, मुझे विश्वास है कि, हमसे पहले किसी दूसरेको नहीं करना पड़ा। क्योंकि हमारे कार्यके जैसे कार्यमें मार्गके नेताको केवल भगवान्को ही नीचे नहीं उतार लाना होता या उनका प्रतिनिधित्व और उनको मूर्तिमान करना नहीं होता बल्कि साथ ही मनुष्यतामें विद्यमान आरोहणशील तत्त्वका प्रतिनिधित्व भी करना पड़ता है; उसे मनुष्यताका पूरा-पूरा बोझ वहन करना पड़ता है तथा, महज लीलाके रूपमें नहीं वरन् कठोर यथार्थताके साथ, सभी बाधाओं, कठिनाइयों, विरोधोंका तथा अवरुद्ध, बाधा-प्राप्त और केवल धीरे-धीरे विजयी होनेवाले प्रयत्नका अनुभव करना होता है जिनका पथपर आना सम्भव है। परन्तु यह न तो आवश्यक है और न अनुमोदनीय ही कि अन्य लोगोंके अनुभवमें भी ये सारी चीजें पूरे रूपमें बार-बार दुहरायी जायं। चूंकि हमें पूर्ण अनुभव प्राप्त है इसलिये हम दूसरोंको अधिक सीधा और अधिक आसान मार्ग दिखा सकते हैं — यदि वे महज उसे ग्रहण करनेके लिये सहमत हों। चूंकि हमने एक महान् मूल्य चुकाकर अनुभव अर्जन किया है इसलिये हम तुमसे और दूसरोंसे जोर देकर कह सकते हैं कि "चैत्य भाव ग्रहण करो; सीधे आलोकित पथका अनुसरण करो, खुले तौरपर या गुप्त रूपसे भगवान्की देखरेखमें रहते हुए — यदि गुप्त रूपसे उनकी देखरेख हो तो भी वह ठीक समयपर अपनेको प्रकट करेंगे, — दुरूह, अवरुद्ध, चक्करदार और कठिन यात्राके लिये आग्रह मत करो।"

तुम कहते हो कि तुम्हें इस बातका संकेत पहले कभी नहीं दिया गया।

परन्तु हम इसी बातको बहुत लंबे समयसे मौके-बेमौके प्रत्येक आदमीसे कहते आ रहे हैं। परन्तु इसे उपयुक्त माननेकी प्रवृत्ति तुममें नहीं थी अथवा कम-से-कम तुम इसका प्रयोग ध्यानके क्षेत्रमें करनेके लिये तैयार नहीं थे, क्योंकि तुम्हारी चेतना परंपरावश, पुराने जीवन तथा अन्य कारणोंसे, पुरानी विपरीत धारणाओंसे चिपकी हुई थी। तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज वैष्णव साधनाको वापस बुला रही थी और वह अपनी दुःखदायी भावनामें अभिमानके तत्त्व, विद्रोह, यंत्रणा, भगवान्के छिपने (मैं सदा खोजता हूँ पर वह कभी सामने प्रकट नहीं होते), कभी-कभी विरल अवसरोंपर प्रकट होने और मिलने आदिको ले आनेमें प्रवृत्त हुई। फिर तुम्हारे अन्दरकी किसी दूसरी चीजको यह देखनेकी प्रवृत्ति हुई कि कोई कठोर, भीषण, वैराग्यपूर्ण आदर्श, शून्य निराकार ब्रह्म ही केवल दूसरा विकल्प हो सकता है और उसने सोचा कि अतिमानसिक बस वही होगा। प्राणके अन्दरकी किसी चीजने देखा कि भ्रांत क्रियाओंको जीतना कठिन, निराशा-पूर्ण तपस्या है, वह भगवान्की पवित्रता और हर्षमें प्रवेश करनेका मार्ग नहीं है। अभी भी ऐसा लगता है कि तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज चैत्य भावको एक असामान्य, कठिन, अमानवीय और असम्भव वस्तुके रूपमें देखनेका आग्रह कर रही है। मन* और प्राणकी ये तथा अन्यान्य हिचकिचाहटें ही मौजूद थीं; इन्हें तुम्हें उखाड़ फेंकना होगा और सरल तथा सीधी दृष्टिसे दिव्य सत्यकी सरलताको देखना होगा।

यह बात नहीं कि इन कठिनाइयोंका जहांतक प्रश्न है तुम्हारे अन्दर कोई विलक्षण बात है; इस पथमें प्रवेश करनेवाले प्रत्येक साधकको इस प्रकारकी बाधाओंको पार करना होता है। मुझे सच्चा मार्ग पानेके लिये चार वर्षोंतक आंतरिक प्रयास करना पड़ा, यद्यपि भगवान्की सहायता सब समय मेरे साथ थी और इसपर भी, ऐसा लगा कि वह मुझे एक संयोगवश ही प्राप्त हुआ। फिर उस पथकी रूपरेखा तैयार करनेके लिये मुझे सर्वोच्च आंतरिक पथप्रदर्शनके अधीन प्रायः दस वर्षोंतक कठोर योगसाधना करनी पड़ी। इस सबका कारण

*शून्यतासे रसेल-जैसे लोगोंका भय। सक्रिय मन निश्चल-नीरवताको यही आकार प्रदान करता है। फिर भी, जिसे तुम 'खालीपन' या शून्य कहते हो उस नीरवतापर ही हमारा सारा योग स्थापित था और सच पूछो तो पीछे इसीके द्वारा आयी एक महत्तर ज्ञान, संकल्प और हर्षकी सम्पूर्ण अक्षय्य सपदा, उच्चतर मन, चैत्य और प्राण क्षेत्रोंकी, अधिमानसतक और उसके परेके सभी स्तरोंकी समस्त अनुभूतियां। बहुधा प्यालेको पहले खाली करना होता है और उसके बाद ही वह नये सिरेसे भरा जा सकता है। योगीको, साधकको खालीपन या नीरवतासे डरना उचित नहीं।

यह था कि मुझे अपने अतीत तथा जगत्के अतीतको आत्मसात् करना और अतिक्रम करना था और उसके बाद ही मैं भावीको पा सकता था और मैंने पाया भी।

परन्तु तुम्हारे लिये हम जो उपाय बताते हैं, जो चाभी हम तुम्हें दे रहे हैं, उसका उपयोग करना कठिन नहीं होना चाहिये जैसा कि तुम कल्पना करते हो। आखिरकार वह उपाय यह है कि जिस उपायको तुम इतनी सफलता-के साथ संगीत और काव्यमें व्यवहृत कर रहे हो बस उसे ही "ध्यान" में भी करो। कविता लिखनेका एक तरीका है जोर लगाकर और खींच-तान करके, माथा-पच्ची करके, कठोर और दुःखदायी प्रयास करके लिखना — बहुधा रास्ता बंद हुआ रहता है, और कुछ नहीं आता अथवा एक प्रकारकी बौद्धिक तपस्याके बदलेमें ही कुछ आता है। फिर एक दूसरा तरीका है जिसमें मनुष्य स्थिर और एक शक्तिके प्रति खुला होता है जो पीछे विद्यमान रहती और अन्तःप्रेरणाके लिये प्रतीक्षा करती है; शक्ति भीतर बरस पड़ती है और उसके साथ-ही-साथ बरस पड़ती है अन्तःप्रेरणा, ज्योतिका प्रकाश, आनन्द, सब कुछ एक आन्तरिक शक्तिके द्वारा सम्पन्न होता है। बाढ़ निकल जाती है, पर मनुष्य दूसरी बाढ़के लिये स्थिर बना रहता है और अपने समयपर वह अवश्य आती है। ठीक वही पद्धति है जिसे श्रीमाताजीने तुम्हारे ध्यानके लिये — यदि उसे ध्यान ही कहा जाय — तुम्हें सुझाया था — वह था मानसिक क्रियाओंका अतिश्रम नहीं बल्कि उस शक्तिकी ओर विश्रान्तिपूर्ण उद्घाटन जो सब समय तुम्हारे ऊपर और चारों ओर विद्यमान है जिससे कि वह खुले तौरपर तुम्हारे अन्दर प्रवाहित हो सके और शान्ति, ज्योति और आनन्दके अन्दर अपना कार्य कर सके। रास्ता तुम्हें दिखा दिया गया है, स्वयं तुम्हें भी समय-समयपर सच्ची स्थिति प्राप्त हुई है; बस, तुम्हें सीखना यह है कि उसे कैसे जारी रखा जाय या कैसे पुनः प्राप्त किया जाय और फिर तुम्हें उस शक्तिको अपना कार्य अपने निजी ढंगसे करने देना होगा। इसे पूर्ण रूपमें अधिकृत करने, दूसरा अभ्यास डालने और इसे सामान्य बनानेमें थोड़ा समय लग सकता है; परन्तु तुम्हें यह निर्णय करके आरम्भ नहीं करना चाहिये कि यह असम्भव है। यह असाधारण रूपमें सम्भव है तथा यह एक ऐसी चीज है जिसे प्रत्येक व्यक्तिको, देरसे हो या शीघ्र, करना ही होगा; क्योंकि निश्चित रूपमें प्रवेश करनेका दरवाजा यही है। कठिनाई, संघर्ष आदि महज तैयारीके कालके लिये थे जो चेतनामें विद्यमान बाधाओंसे परी-महलके चारों ओरके कांटेदार बाड़ेसे मुक्त होनेके लिये या उन्हें समाप्त करनेके लिये आवश्यक थे।

*

'अ' के विषयमें तुम जो कुछ लिखते हो वह विलकुल ठीक है। योग करनेके लिये सर्वदा मुँह गंभीर बनाये रखना या चुप रहना आवश्यक नहीं है, पर यह आवश्यक है कि योगको गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया जाय और योगमें नीरवता तथा अन्तर्मुखी एकाग्रताका बड़ा ऊंचा स्थान है। यदि मनुष्यका लक्ष्य अन्तरमें पैठना और वहां भगवान्‌से मिलना हो तो वह अपनेको सर्वदा बाहरकी ओर फेंकता नहीं रह सकता। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्यको सर्वदा गंभीर और उदास, अथवा अधिकांश समय उदास बने रहना होगा, और मैं नहीं समझता कि यहांपर उस तरहके साधक हैं। यह 'अ' का अपनी कठिनाईको अलंकारपूर्ण ढंगसे रखनेका तरीका है — वह प्राणकी कठिनाई है जो सर्वदा कर्म और सृजनमें अपनेको बाहरकी ओर फेंकना चाहता है, जब कि दूसरा भाग परिणामसे असंतुष्ट रहता है और यह अनुभव करता है कि उसकी अपनी क्रिया व्यर्थ हो गयी है। उसमें दो व्यक्ति हैं, एक तो प्राणिक प्रसारका जीवन चाहता है और दूसरा आंतरिक जीवन चाहता है। पहला इसलिये चंचल हो उठता है कि आंतरिक जीवन बाहरकी ओर प्रसारित होनेका जीवन नहीं है; दूसरा इस कारण संतप्त होता है कि उसका लक्ष्य संसिद्ध नहीं होता है। इस योगमें इन दोनोंमेंसे किसी व्यक्तित्वको निकाल बाहर करना नहीं है; परन्तु बाह्य प्राण-पुरुषको यह मौका देना होगा कि आंतरिक जीवन स्थापित हो; आन्तरिक जीवनको उसे पहला स्थान देना होगा और एकमात्र अन्तरात्माका यंत्र बनना स्वीकार करना होगा तथा आंतरिक जीवनका विधान मानकर चलना होगा। यही बात है जिसे 'अ' का मन अभी भी स्वीकार नहीं चाहता; वह समझता है कि या तो मनुष्यको पूर्ण उदास और ठंडा और गम्भीर बने रहना चाहिये या नहीं तो अपने आन्तरिक जीवनमें प्राणिक बुलबुले और उबाल ले आना चाहिये। वह अभी यह कल्पना करनेमें समर्थ नहीं है कि एक स्थिति ऐसी भी है जिसमें प्राण आन्तरिक जीवनके शान्त-स्थिर, प्रसन्न और हर्षपूर्ण संयमके अधीन रह सकता है।

*

कोई भी गंभीरता जो आवश्यक है, अन्दरसे ही आनी चाहिये। नियमके रूपमें बाहरसे गंभीर रहना आवश्यक नहीं है।

*

मर्जी होनेपर लोग भला गंभीर क्यों न रहें? जिन्दगीं एक मजाक हो सकती है — यद्यपि सबको वह ऐसी नहीं लगती — किन्तु व्यक्ति सब समय उसकी हंसी उड़ाता नही रह सकता। इसके पीछे यह भाव प्रतीत होता है कि व्यक्ति तबतक गंभीर नहीं हो सकता जबतक या तो वह (1) गुस्सेमें हो, (2) असन्तुष्ट हो, या (3) दुःखी हो या विपत्तिमें पड़ा हो। किन्तु व्यक्ति निश्चय ही तब तो गंभीर हो सकता है जब वह विचार रहा हो, या जब किन्हीं गंभीर वस्तुओंका अवलोकन कर रहा हो या केवल जब वह बस हंस न रहा हो। और कोई भी २४ घण्टे लगातार हंस नहीं हकता — पेटकी मांसपेशियां इसे सहन नहीं करेंगी एवं हंसनेका कीर्तिमान बनानेवाले अमेरिकन लोग भी ऐसी परीक्षासे भड़क उठेंगे।

*

प्रफुल्लता साधनाका सर्वोत्तम रस-तत्व है। यह उदासीसे तो हजारों गुना अधिक अच्छा है।

*

आन्तरिक हर्ष एवं प्रफुल्लता ही सहायक होती है किन्तु यह केवल उपरितलपर प्राणकी बुदबुदाहट ही है। सामान्य जीवनके लिये यह बिलकुल ठीक है, किन्तु योगमें यह प्राणिक शक्तिको मुफ्तमें ही खर्च करती है।

*

प्रफुल्लता प्राणिक वस्तु है। मैं यह नहीं कहता कि यह नहीं होनी चाहिये, किन्तु एक गंभीर प्रफुल्लता, एक आन्तरिक "सुख-हास्य" भी है जो प्रफुल्लता-की आध्यात्मिक स्थिति है।

*

ध्यान करनेकी जिस पद्धतिकी बात मैंने कही थी उसके स्वाभाविक अंग हैं अभीप्सा, प्रार्थना, एकाग्रता और प्रबल आवेग। जो लोग इस पद्धतिको अपनाते हैं वे जब एक बार इसमें दृढ़तापूर्वक जम जाते हैं तब बड़ी आसानी,

निर्विघ्नता और तेजीके साथ आगे बढ़ते और अपनी साधनाको विकसित करते हैं — अवसादकी प्रतिक्रियाओंके साथ दुःखपूर्ण, संदिग्ध और उत्सुक प्रयास करनेसे तथा आशा और प्रयत्नसे मुँह मोड़ लेनेसे वैसा नहीं हो सकता। हमने भगवान्‌की ओर सतत उद्घाटित रहनेकी बात कही थी जिससे शक्ति प्रवाहित होती रहे और आधारमें अपना काम करती रहे, एक ऐसे संतुलित उद्घाटनकी बात कही थी जिसमें मन स्थिर हो और हृदय निर्भरता तथा विश्वासके आलोकसे भरा हो। यह तुमने कहां पाया कि हमने कहा कि निस्सहाय स्थितिमें प्रतीक्षा करना ही तुम्हारा कार्य क्रम होना चाहिये ?

*

खुशदिली और लापरवाहीका जहांतक प्रश्न है — हल्का 'कोई परवाह नहीं' मनोभाव वह अन्तिम वस्तु है जिसकी सलाह हम किसीको देंगे। श्रीमाताजी-प्रफुल्लताकी बात कही थी; यदि उन्होंने 'लाइट-हार्टेड' (खुशदिल) शब्दका व्यवहार किया था तो वह किसी हलके या छिछोरे ढंगसे खुश और लापरवाह होनेके अर्थमें तो नहीं था। यद्यपि एक प्रकारकी गभीरतर और उत्कृष्टतर प्रसन्नचित्तताको यौगिक स्वभावके एक अंगके रूपमें स्थान प्राप्त हो सकता है। श्रीमाताजीके कहनेका तात्पर्य था कठिनाइयोंके सामने भी एक प्रकारकी हर्षयुक्त समता बनाये रखना और इसमें कोई चीज ऐसी नहीं जो यौगिक शिक्षा या स्वयं उनके अपने अभ्यासके विरुद्ध हो। प्राणिक प्रकृति अपने ऊपरी तलपर (सच्चे प्राणके गभीरतर भाग दूसरे प्रकारके होते हैं) एक ओर तो ऊपरी आमोद-प्रमोद और भोगविलाससे आसक्त होती है और दूसरी ओर दुःख-शोक, निराशा, उदासीनता तथा दारुण विपत्तिसे,—क्योंकि उसके लिये ये ही चीजें जीवनकी परम प्रिय प्रकाश और छाया हैं; परन्तु उज्जवल या विशाल और मुक्त शान्ति या आनन्दमय प्रगाढ़ भाव या, सबसे उत्तम, दोनोंका एक साथ घुलमिल जाना ही योगमें अन्तरात्मा और मन दोनोंका — और सच्चे प्राण-पुरुषका भी — यथार्थ भाव है। ऐसे मनोभावको प्राप्त करना नितांत मानव साधकके लिये भी पूर्णतः सम्भव है, इसे प्राप्त करनेसे पहले दिव्य बन जाना आवश्यक नहीं है।

यह बलिकुल ठीक है कि सामान्य मानव चेतनामें रहनेकी अपेक्षा एक उच्चतर चेतनामें ऊपर उठ जाना रूपान्तर प्राप्त करनेके लिये यथार्थ पथ है। महज साधारण निम्नतर चेतनामें बने रहने और वहांसे भ्रांत वृत्तियोंका परित्याग करनेकी चेष्टा करनेसे कोई स्थायी या पूर्ण फल नहीं उत्पन्न हो सकता। परन्तु

यहां कई ऐसी बातें हैं जिनपर तुम्हें ध्यान देना चाहिये अन्यथा इस ज्ञानके साथ एक भूल भी जुड़ सकती है:

1. जैसा कि तुमने स्वयं बादमें देखा है, जो सब अंग और व्यक्तित्व सत्ताका निर्माण करते हैं उन सबको उच्चतर चेतनामें भाग लेना चाहिये, अन्यथा प्राचीन वृत्तियां विभिन्न बहानोंके साथ बनी रहेंगी।

2. तुम निम्नतर प्राणका त्याग करनेको कहते हो, परन्तु केवल असंस्कृत निम्नतर प्राणिक क्रियाओंसे ही छुटकारा पाया जा सकता है; तुम स्वयं निम्नतर प्राणसे छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि यह उच्चतर प्राण या मनकी तरह ही अभिव्यक्त प्रकृतिका एक आवश्यक अंग है। इसे उच्चतर चेतनाकी शक्तिमें रूपान्तरित करना होगा, इसे जैसाका तैसा न तो छोड़ना होगा और न अपनी सत्तासे दूर ही करना होगा।

3. यदि तुम इसे इस भांति परिवर्तित नहीं करते, यदि महज आन्तरिक रूपसे चैत्य सत्ता या अन्य उच्चतर चेतनामें निवास करके ही संतुष्ट बने रहते हो तो तुम उन लोगोंका पथ पकड़नेका खतरा मोल लेते हो जो अनुभूतियां और एक प्रकारकी आन्तरिक शान्ति या आनन्द पाकर ही संतुष्ट रहते हैं, पर बाहरी प्रकृति और ऊपरी सक्रिय वृत्तियोंको अपरिवर्तित छोड़ देते हैं, या तो उन्हें वे महत्त्वहीन समझते हैं या यह दलील देकर उनका समर्थन करते हैं कि उनके पीछे चैत्य या आध्यात्मिक चेतना विद्यमान है।

*

सामान्य अर्थमें प्रसन्नता प्राणकी एक सूर्यालोकित अवस्था है चाहे वह सकारण हो या अकारण। सन्तोष प्रसन्नतासे निम्नकोटिकी स्थिति है — शान्तिका हर्ष या कठिनाईसे छुटकारा वस्तुतः हर्षपूर्ण 'शान्ति'की स्थिति है। प्रसन्नता-आत्म-सन्तोष या जड़ताकी स्थिति हो, यह उचित नहीं और ऐसा होना आवश्यक भी नहीं क्योंकि व्यक्ति प्रसन्नता और अभीप्सा दोनोंको मिला सकता है। निःसन्देह एक सुखद जड़ताकी अवस्था हो सकती है, किन्तु अधिकतर लोग उससे अधिक देरतक सन्तुष्ट नहीं रहते, वे दूसरी किसी चीजकी कामना करने लगते हैं। ऐसे बहुत योगी हैं जो सुखद, शान्त निश्चलतासे सन्तुष्ट रहते हैं, किन्तु वह इसलिये कि प्रसन्नता आनन्दका एक रूप है और निश्चलतामें वे आत्माका अनुभव करते हैं तथा इससे अधिक अन्य किसी वस्तुकी कामना नहीं करते।

*

हर्षके बाद शोक अनिवार्य रूपसे आये ही इसका कोई यथार्थ कारण नहीं —सिवाय इसके कि प्राणकी ऐसी आदत ही हो। पर उस आदतपर विजय पाई जा सकती है।

IX

तीन बाधाएं हैं जिन्हें प्राणके अन्दर जीतना होता है और जिन्हें जीतना बड़ा कठिन है; वे हैं: कामवासना, क्रोध और राजसिक अहंकार। राजसिक अहंकार बाकी दोनोंकी आधार-भूमि है।

*

बिलकुल स्पष्ट है कि, यदि निर्वाण ही उद्देश्य न हो तो, तुच्छ अहंकी ओर ध्यान देना ही होगा — उसे प्रश्रय नहीं देना होगा बल्कि भीतरसे रूपांतरित करना होगा।

*

अहंका रूप विसर्जित करना होगा, इसके स्थानपर कोई अधिक बड़ा अहं या दूसरे प्रकारका अहं नहीं बैठाना होगा। उसके स्थानमें ले आना होगा यथार्थ सत्ताको जो अपनेको, व्यक्तिगत होनेपर भी, सबके साथ और भगवान्‌के साथ एक अनुभव करती है।

*

चैत्य सत्तामें व्यष्टिभाव है किन्तु अहंभाव नहीं। अहंभाव तब चला जाता है जब व्यक्ति अपनेको भगवान्‌से संयुक्त कर लेता है या वह भगवान्‌के प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाता है।

*

उच्चतर आध्यात्मिक भूमिकाओंमें अहंकार नहीं रहता, क्योंकि वहां भगवान्‌के साथ एकत्वकी अनुभूति होती है, किन्तु वहां व्यक्तिमें सच्चे व्यक्तित्व

या व्यष्टिभावका बोध रह सकता है,—जो अहं नहीं, पर भगवान्‌का एक अंश होता है।

*

यद्यपि आध्यात्मिक भूमिकामें अहंकार नहीं होता, तो भी वह आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा निम्न भूमिकाओंमें विद्यमान अहंभावके और अनुभूतिको गलत ग्रहण करनेके कारण बढ़ा-चढ़ा रूप धारण कर सकता है। और व्यक्ति विशालतर मानसिक एवं प्राणिक भूमिकाओंमें प्रवेश करके भी अहंकारको विराट बनाकर दिखा सकता है। ये बातें तबतक सदा ही हो सकती है जब तक सत्तामें उच्चतर एवं निम्नतर चेतना संवादयुक्त नहीं हो जातीं तथा निम्नतर चेतना उच्चतर चेतनाकी प्रकृतिमें रूपान्तरित नहीं हो जाती।

*

यदि उच्चतर भागोंमें जहां सब वस्तुओंकी एकता उपलब्ध हो गई होती है, अहंकी चेतना न हो तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि निम्नतर भागोंमें अहंका विलय हो गया है। इसके विपरीत वह बड़ा प्रबल हो सकता है और हमारा कर्म तब भी बड़ा अहंकार पूर्ण हो सकता है जब मन यह सोच रहा हो कि "मैं अहंकारसे मुक्त हो गया हूँ।"

*

अहंसे छुटकारा पाना इतना आसान नहीं है। यह कर्मके बावजूद ही नहीं, बल्कि ज्ञान या भक्तिके बावजूद भी बना रहता है। अहंके विलयका अर्थ है पूर्ण मुक्ति। जो योगी यह अनुभव करता है कि उसकी पृथक् सत्ता विश्वचेतनामें या किसी प्रकारकी परात्परा चेतनामें घुलमिल गयी है वह भी जब बाहरी क्रिया और प्रतिक्रियामें आता है तो देखता है कि बाह्य अहं अभी भी मौजूद है। यही कारण है कि संन्यासीको कर्मसे बड़ा भय लगता है और वह कहता है कि अहंके बिना कर्म नहीं किया जा सकता। किया जा सकता है, पर वह पूर्ण रूपसे केवल तभी किया जा सकता है जब कि ये अत्यन्त बाहरी चीजें पूर्णतः और अपनी पूरी सत्तामें उच्चतर चेतनाके द्वारा ग्रहण कर ली जायं।

*

समताका अर्थ अहंका अभाव नहीं किन्तु कामना और आसक्तिका अभाव है। अहंभाव विलीन हो सकता है या सूक्ष्म होकर या सघन रूपमें रह सकता है — यह व्यक्तिपर निर्भर करता है।

*

घमंड अहंकारका केवल एक रूप है — उसके दस हजार रूप और हैं। मनुष्यका प्रत्येक कार्य ही अहंकारसे भरा होता है — अच्छे भी और बुरे भी, उसकी विनम्रता भी और घमंड भी, उसके पुण्य भी और उसके पाप भी।

अहंको मनुष्य-प्रकृतिसे बाहर निकाल देना इतना आसान नहीं है। अगर कोई अहंसे मुक्त है, वह अपने सम्बन्धमें या खुद अपने लिये कुछ नहीं करता वल्कि केवल भगवान्के लिये करता है और उसके सभी विचार और भाव भगवान्के लिये होते हैं, तो वह जीवन्मुक्त और सिद्ध योगी है।

*

पर सव मनुष्योंके साथ ऐसी ही बात होती है। समस्त कर्म, क्रियाएं, वेदन, छोटी-वड़ी और भली-बुरी प्रत्येक वस्तु अहंसे आरपार विंधी हुई है यहां तक कि अधिकतर लोगोंमें नम्रता और जिसे परोपकार कहा जाता है वह भी केवल अहंकारका ही एक रूप होता है। यह किसी ऐसी वस्तुपर निर्भर नहीं करता जिसपर गर्व किया जा सके।

*

ऐसा सभीके साथ होता है। मानव-प्रकृति अपने सारे उपादनमें अहंकारके धागेसे भरी हुई है; जब कोई उससे दूर हटनेकी कोशिश करता है तो भी वह सामने मौजूद होता है अथवा सभी विचारों और क्रियाओंके पीछे छायाकी तरह विद्यमान रह सकता है। यह देखना पहला पग है, अहंवृत्तियोंके मिथ्यात्व और अनौचित्यको समझना दूसरा पग है, पग-पगपर उसे निरुत्साहित करना और अस्वीकार करना तीसरा पग है,—पर यह पूर्ण रूपसे केवल तभी जाता है जब मनुष्य प्रत्येक वस्तुमें और सर्वत्र एक समान विद्यमान एकमेवाद्वितीयको देखता, अनुभव करता और उसमें निवास करता है।

*

ऐसा हरेकके साथ होता क्योंकि मानव चेतनाके सारे भूतकालीन विचार अहंकारके इस तत्वसे ओतप्रोत हैं। केवल एक सतत निश्चल जागरूकता और बढ़ती हुई चेतना द्वारा ही इसमेंसे बाहर निकला जा सकता है — क्योंकि यदि खुलकर खेलने न दिया जाय तो यह अहंकार अपनेको छिपा देता है और सूक्ष्म और प्रच्छन्न रूप धारण कर लेता है।

*

मन और प्राण शरीरकी अपेक्षा बहुत अधिक अहंकारसे भरे हुए हैं।

*

अहंकारसे युद्ध करना भौतिक प्रकृतिके साथ होनेवाले युद्धका एक अंग है, क्योंकि भौतिक चेतनाका यह बाहरी अहंकार ही जो तर्कविरुद्ध और साहजिक है, हटनेसे इनकार करता है।

*

मनुष्य स्वभावतः ही अहंकारी और अहं-केन्द्रित होता है — वह जो कुछ करता, सोचता, अनुभव करता है उस सबपर अहंकी मुहर लगी होती है और तबतक इससे भिन्न अवस्था नहीं आ सकती जबतक कि वह अहंको नहीं वरन् भगवान्‌को अपनी सत्ताका केंद्र बनाना नहीं सीख लेता और केवल भगवान्‌के लिये ही सोचने, कार्य करने और अनुभव करने नहीं लगता — अथवा जबतक वह उच्चतर या दिव्य चेतनामें प्रवेश नहीं कर जाता अथवा दिव्य चेतना उसमें प्रवेश नहीं कर जाती — क्योंकि भागवत चेतनामें कोई अहंभाव नहीं है।

*

अहं-केन्द्रित मनुष्य चीजोंको उसी रूपमें ग्रहण करता और अनुभव करता है जिस रूपमें वे उसको प्रभावित करती हैं। वह देखता है कि यह चीज मुझे प्रसन्नता देती है या अप्रसन्नता, हर्ष देती है या दर्द, मेरे गर्व, मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षाको बढ़ाती है या कुंठित करती है, मेरी कामनाओंको संतुष्ट करती

है या व्यर्थ आदि-आदि। परन्तु निरहंकारी मनुष्य चीजोंकी ओर इस तरह दृष्टि नहीं डालता। वह यह देखनेके लिये उनकी ओर दृष्टि निक्षेप करता है कि वे चीजें अपने-आपमें क्या हैं और जब वह वहां नहीं होगा तो वे कैसी होंगी, आखिर उनका अर्थ क्या है, वे वस्तुओंकी व्यवस्थामें कहांतक ठीक बैठती हैं — अथवा, वह शान्त-स्थिर और सम बना रहता है, प्रत्येक वस्तु भगवान्के सम्पर्कमें रखकर देखता है, अथवा, यदि वह कर्मी होता है तो यह देखता है कि जो कार्य उसे करना है उसमें या जगत्के जीवनमें या जिस उद्देश्यकी पूर्त्ति वह करना चाहता है उसमें वे कहांतक सहायक हैं। ऐसे बहुतसे दृष्टिकोण हैं जो अहं-केंद्रित नहीं हैं।

स्पष्ट ही इस सबको हटना ही होगा — यह मानव सत्ताका पुरातन प्राणिक अहंभाव है जो हमेशा अपने अन्दर डूबा रहता है, इस कारण सत्ता अपनेको भगवान्की आराधनाके लिये आसानीसे और बिना ननुनचके अर्पित नहीं कर सकती।

*

घबरानेकी कोई बात नहीं। बल्कि तुम्हें अपनेको बधाई देनी चाहिये कि तुम अपनी अहं-केंद्रितताके विषयमें सचेतन हो गये। आश्रममें ऐसे लोग विरले ही हैं जो इस विषयमें सचेतन हैं। वे सब अहंकेंद्रित हैं और अपनी अहंकेन्द्रितताको समझते नहीं। अपनी साधनामें भी उनका "मैं" हमेशा विद्यमान रहता है,—'मेरी' साधना, 'मेरी' प्रगति, 'मेरा' सबकुछ। इसका उपाय है भगवान्का सतत चिन्तन न कि अपना, क्रिया, चेष्टा, साधना सब भगवान्के लिये करना; इस बातका विचार न करना कि यह या वह व्यक्तिगत रूपसे "मुझे" किस प्रकार प्रभावित करता है, किसी वस्तुपर दावा न करना, सब वस्तुएं निर्णयके लिये भगवान्के सामने प्रस्तुत कर देना। इसे सचाईके साथ और पूरी तरह करनेमें समय लगेगा, पर सही रास्ता तो यही है।

*

यह अहंकार ही है जो अपना असली रूप प्रकट कर रहा है। पहले यह

साधनामें सहयोग दे रहा था क्योंकि या तो इसे कोई एक अपनी अभीष्ट वस्तु मिल रही थी या उसे कुछ महान् आशाएं थीं। अब क्योंकि ये वस्तुएं रोक दी गईं हैं और उससे सही वृत्ति धारण करनेकी मांग की गई है इसलिये वह प्रतिरोध या असहयोग कर रहा है और कहता है "ऐसी साधनाका कोई मूल्य नहीं"। यहां सब साधकोंमें अहंकार (अपने भौतिक या प्राणिक-भौतिक मूलमें) बाधक बनकर खड़ा है। जबतक यह नहीं बदल जाता तब तक रूपान्तर संभव नहीं है।

*

लगभग सभी मनुष्योंकी तरह तुम्हारी प्रकृति भी अधिकांशमें अहं-केंद्रित रही है और साधनाकी प्राथमिक अवस्थाएं प्रायः सभी मनुष्योंमें अहं-केंद्रित होती हैं। इस स्थितिमें सदा ही मुख्य भावना होती है स्वयं अपनी साधना, स्वयं अपना प्रयास, स्वयं अपना विकास, पूर्णता और सिद्धि। यह अधिकांश व्यक्तियोंके लिये अनिवार्य है, क्योंकि उस व्यक्तिगत प्रयत्नके बिना आरंभिक आवश्यक परिवर्तन ले आनेके लिये मनुष्यमें पर्याप्त संकल्प-शक्ति या प्रयत्न नहीं रहेगा। परन्तु इनमेंसे कोई चीज — विकास, पूर्णता या सिद्धि — वास्तवमें अपनी पूर्णताकी किसी मात्रामें या विशुद्ध अन्तिमावस्थामें तवतक नहीं आ सकती जबतक कि यह अहं-केंद्रित मनोभाव भगवत्-केंद्रित भावमें नहीं बदल जाता, जबतक कि यह भागवत चेतना, इसके संकल्प और इस शरीरमें क्रिया-शील इसके साधनोंका विकास, पूर्णता और सिद्धि नहीं बन जाता, और ऐसा केवल तभी हो सकता है जब ये चीजें गौण हो जायं तथा भगवान्के लिये भक्ति, भगवान्के लिये प्रेम, चेतना, संकल्प, हृदय और शरीरमें भगवान्के साथ एकत्व एकमात्र लक्ष्य वन जायं — फिर उसके बाद तो केवल भागवत शक्तिद्वारा भागवत संकल्पकी सिद्धि बाकी रह जाती है। यह भाव ग्रहण करना चैत्य पुरुषके लिये कठिन कभी नहीं होता, यह तो उसकी स्वाभाविक स्थिति और स्वाभाविक भाव है, और जब कभी तुम्हारा चैत्य पुरुष सामने था, तभी तुम्हारी केंद्रीय चेतनामें यह भाव था। परन्तु साथ-ही-साथ वहां विद्यमान थे बाह्य मन, प्राण और शरीर जिन्होंने इसके साथ अपनी कामना और अहंको मिला दिया। जबतक ये तीनों मुक्त नहीं हुए तबतक जीवन और कर्ममें भी फलदायी मुक्ति नहीं आ सकी। चिंतनशील मन और उच्चतर मन बिना अधिक कठिनाईके इसे स्वीकार कर सकते हैं, पर कठिनाई होती है निम्नतर प्राण और शरीरके साथ और विशेषकर उनके अत्यन्त बाहरी अंगोंके साथ व्यवहार करनेमें।

क्योंकि ये पूर्णतः अभ्यास, पुनरावर्तनशील वृत्ति, एक ही वृत्तिको सर्वदा हठ-पूर्वक दुहराते रहनेकी प्रवृत्तिकी कठपुतली होते हैं। यह अभ्यास इतना अन्धा, हठी और अटल होता है कि करीब-करीब अजेय प्रतीत होता है, विशेषकर उस समय जब कि अज्ञानकी शक्तियां ऐसे संकट-कालमें अपने अन्तिम आश्रय या आक्रमणके लक्ष्यके रूपमें इसका उपयोग करती हैं। परन्तु ऊपरसे दीखने-वाली यह अजेयता सच्ची नहीं होती। जब चैत्य तत्त्व बाहरी प्रकृतिमें प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसकी सहायतासे अत्यन्त अहंकेंद्रित भाव भी बदल सकता है और बदलता ही है। यह परिवर्तन केवल भागवत कृपा और शक्तिके द्वारा संपन्न किया जा सकता है—यह बात ठीक है (यह बात सभी आध्यात्मिक परिवर्तनोंके लिये ठीक है) —परन्तु इसके साथ सत्ताकी पूरी-पूरी अनुमति भी होनी चाहिये। जैसे यह आन्तरिक सत्तामें किया गया था वैसे ही यह बाह्य सत्तामें भी किया जा सकता है; बस, अपने पूरे संकल्प और विश्वासका सह-योग प्रदान करो और, कठिनाई चाहे जो भी क्यों न हो, यह परिवर्तन अवश्य आयेगा।

*

स्वयं अपने लिये जीवन यापन करने और सब कुछ करनेके विषयमें जो तुमने लिखा है वह ठीक ही है, पर वहीं है मनुष्यका स्वभाव, वह अपने अहंमें ही केन्द्रित, अहंकेन्द्रित है और सब कुछ अपने अहंके लिये ही करता है; यहां-तक कि उसका प्रेम और पसन्दगी भी अधिकतर अहंपर ही आधारित होती हैं। इस सबको परिवर्तित होना होगा और सबको भगवान्‌में केंद्रित होना होगा, भगवती माताके लिये सम्पन्न होना होगा। साधनाका यही काम है कि इस चीजको कर लिया जाय। निश्चल-नीरवता, चैत्य चेतनाका विकास और बाकी सब कुछ इसे ही करनेके लिये अभिप्रेत है—पर यह एकदम तुरत-फुरत नहीं किया जा सकता। जब चेतना तैयार हो जाती है तब चैत्य प्रेम, आत्मदानका प्रवेग हृदयमें जगना प्रारम्भ करता है और फिर परिवर्तन आता है—अधि-काधिक आता है जबतक कि पूर्ण आत्मदान सिद्ध नहीं हो जाता।

*

यदि तुम समझते हो कि तुम्हारे अन्दर कोई अहं या कामना नहीं है, केवल शुद्ध भक्ति है तो यह महान् अचेतनताको ही सूचित करता है। अहं

और कामनासे मुक्त होना एक ऐसी स्थिति है जो योगमें बड़ी ऊंची सिद्धि होनेपर आती है — महान् आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त किये हुए बहुतसे योगी भी इससे मुक्त नहीं होते। विकासकी तुम्हारी स्थितिमें रहनेवाले साधकके लिये यह सोचना कि वह अहंकार और कामनासे मुक्त हो गया है अपने-आपको अन्धा बनाना है और अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंको स्पष्ट रूपमें देखनेमें, जो कि आध्यात्मिक पूर्णता-प्राप्तिकी ओर प्रगति करनेके लिये आवश्यक है, बाधा उत्पन्न करना है।

तुम्हारे अन्दर क्या है यह देखनेके लिये श्रीमाताजीके सामने तुम्हारी लिखी हुई बातें हों — इसकी उन्हें कोई जरूरत नहीं।

यदि तुम्हारी लिखी बातें अहंकार और कामनाको प्रदर्शित करती हैं, और वे निश्चय ही करती हैं, तो इसका कारण यह है कि तुम्हारे देखे बिना भी वे तुम्हारे अन्दर हैं और तुम्हारी इच्छा न होनेपर भी अभिव्यक्त हो जाती हैं। ऊपरी मन जो कुछ समझता और चाहता है वह एक चीज है और जो कुछ विचारों और कर्मोंके पीछे विद्यमान रहता है वह दूसरी चीज है। मनुष्य-का ऊपरी मन स्वयं अपने और अपने स्वभावके विषयमें एक नितान्त आत्म-ज्ञानके अन्दर अपना निजी विचार गढ़ लेता है। मनुष्यको सबसे पहले इस अज्ञानसे छुटकारा पानेके लिये बाहरी मनसे पीछे हट आना होता है और चैत्य पुरुषके सम्पर्कमें आ जाना होता है — चैत्य पुरुष ऐसी भ्रांतियोंको नहीं आने देता और मनुष्यको उसकी क्रियाओंके सत्यको स्पष्ट रूपमें दिखा देता है।

*

किन्तु जबतक अहंकार उनका (सब चीजोंका) मालिक बनकर अपने निजी उद्देश्योंके लिये उन्हें प्रयोगमें लाता है तबतक वे भगवान्की किस रूपमें हैं? वस्तुतः आत्म-दानका अर्थ है चेतनाके केन्द्रको बदलकर, इसे अहंसे हटाकर भगवान्में केन्द्रित करना; साथ ही इसका अर्थ है ऐसा आत्मदान जो चेतनाको उसके समग्र आधारके परिवर्तनकी ओर ले जाता है।

*

हां — वस्तुओंकी ओर अहंके दृष्टिकोणसे देखनेके कारण ही सब प्रकार-की अस्तव्यस्तता और कष्ट और अज्ञान आते हैं। मनुष्यको भगवान्का चिंतन करना चाहिये, स्थिर होना चाहिये और भागवत चेतनाको अपने अन्दर आने

देना और अहंकारपूर्ण मानव-चेतनाके स्थानमें स्थापित होने देना चाहिये — तब वह सब दूर हो जाता है।

*

हां, प्रत्येक व्यक्तिमें अहंकार ही कठिनाईका कारण है।

*

अहंकारकी क्रीड़ाके विना घात-प्रतिघात न पैदा होते और यदि प्राणमें नाटकीय प्रवृत्ति न होती तो जीवनमें कोई नाटकीय घटनाएं ही न होतीं।

*

हां, यह ठीक है — निरन्तर स्मरण करना चाहिये और शान्ति तथा अचंचलतामें निवास करना चाहिये जिसमें कि भागवती शक्ति कार्य करे और दिव्य ज्योति अवतरित हो। दैनिक जीवनकी छोटी-छोटी चीजें ऊपरी चेतनामें तबतक चलती रहनी चाहियें — अवश्य ही उन्हें उसका अत्यन्त बड़ा हिस्सा नहीं घेर रखना चाहिये, — जबतक कि दिव्य शक्ति और ज्योति अपना अधिकार नहीं जमा लेतीं और इन चीजोंपर सीधे अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित कर पातीं। सच पूछो तो अहंकार ही उन्हें अत्यन्त बड़ा स्थान देता है — अहंकारको अवश्य निरुत्साहित करना चाहिये — "स्वयं अपने लिये नहीं वरन् भगवान्के लिये" — बस यही भाव बढ़ते-बढ़ते समस्त चेतना और चिंतन और कर्मका विधान बन जाना चाहिये। यह भाव पूर्ण रूपसे एकदम तुरत नहीं लाया जा सकता, पर जितना शीघ्र सम्भव हो, वही मनका बार-बार बजनेवाला सुर बन जाना चाहिये।

*

भला यह (भगवान्पर एकाग्र होना) स्वार्थपरता क्यों है? स्वार्थ-परताका अर्थ है स्वयं अपने लिये जीना, अपनेसे महत्तर किसी चीजके लिये नहीं। सब समय भगवान्के ऊपर एकाग्र होनेका मतलब है अपनी व्यक्तिगत सत्ता और उसके लक्ष्योंसे बाहर निकलकर किसी महत्तर सत्तामें चले जाना

और उसी महत्तर सत्ताके उद्देश्योंकी सेवा करना। सर्वदा दूसरोंके लिये जीना जितनी बड़ी स्वार्थपरता हो सकता है उससे बड़ी स्वार्थपरता यह नहीं है।

*

स्पष्ट ही व्यक्तिको इस विषयमें अहंकार नहीं करना चाहिये; किन्तु बाह्य या निम्नतर चेतनासे हटकर आन्तर चेतनामें रहना अपने-आपमें कोई अहंकारयुक्त क्रिया नहीं है। यदि ऐसा होता तो सारी साधना ही एक अहंकारात्मक वस्तु होती और सर्वदा सामाजिक और सतह पर बने रहना ही एकमात्र वांछनीय वस्तु होती।

*

अहंकी स्वार्थपरता कोई ऐसा कारण नहीं जिससे कि उस उच्चतर (दिव्य) चेतनाको नीचे न पुकारा जाय जिसका कि मानो सम्मुख भाग या आधार शान्ति और शक्ति है। तुम भला स्वार्थपर अहंकारसे कैसे छुटकारा पा सकते हो यदि तुम उच्चतर चेतनाको, जिसे कि अहंकी कोई आवश्यकता नहीं, नीचे न पुकारो ?

*

यहां निम्नतर चेतनाके विकासके लिये अहं और स्वार्थपरताकी एक आवश्यकता थी। जबतक मनके ऊपरसे उच्चतर चेतना नहीं अवतरित होती तबतक भगवान् या मुक्तिके लिये अभीप्सा करनेके लिये भी अहंकी आवश्यकता होती है, भले ही वह सात्त्विक अहंकार बन जाय। एकमात्र उच्चतर चेतनामें ही अहंका विलय हो सकता है, वह चाहे वहां ऊपर उठनेसे हो या नीचेकी चेतनामें उसके (उच्चतर चेतनाके) अवतरित होनेसे हो।

*

मैं समझता हूँ कि अहंकार पहले-पहल तो बाह्य चेतनाके उपकरणके रूपमें आया जब कि वह चेतना प्रकृतिके प्रवाहमें व्यक्तिरूप ले रही थी और, दूसरे वह अहंकार, तामसिक पाशविक मानवसे कुछ काम करने और करवानेके

लिये एक प्रोत्साहकके रूपमें प्रकट हुआ। अन्यथा मनुष्य केवल आहार और निद्रासे ही अपनेको सन्तुष्ट रखता और अन्य कुछ न करता। अहंकारके इस प्रोत्साहन (स्वामित्व, मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षा, अधिकारलिप्सा आदि-आदि) को लेकर वह ऐसी सब चीजें करने लगा जिन्हें अन्यथा वह कभी न कर पाता। पर अब क्योंकि उसे और अधिक ऊपर उठना है इसलिये यह अहं-कार उसके मार्गमें अत्यधिक बाधक बन रहा है।

*

परन्तु यह अहं क्या चीज है जिसकी तुम चर्चा करते हो? प्रत्येक व्यक्ति-में अहंभाव है और इससे एकदम छुटकारा पाना, सिवा इन दो चीजोंकी सहायता-के, असम्भव ही है। पहली चीज है अपने अन्दर चैत्य चेतनाका उद्घाटन तथा दूसरी चीज है ऊपरसे एक विशालतर अहंमुक्त चेतनाका अवतरण। चैत्य चेतनाके उद्घाटित होनेसे तुरत अहंसे मुक्ति नहीं मिल जाती पर यह उद्-घाटन इसे शुद्ध करता और इसे तथा समस्त क्रियाओंको भगवान्के चरणोंमें अर्पित कर देता है जिससे कि मनुष्य आत्मदान और आत्मसमर्पणके द्वारा अनहंकारी बन जाता है। इसके साथ-ही-साथ प्रकृति ऊपरकी ओर खुलती है, विस्तृततर अहंमुक्त चेतना नीचे उतरती है, अहंकार विलीन हो जाता है और चैत्य चेतनाकी शक्तिके द्वारा तुम अपनी सत्ताको जान जाते हो जो कि श्रीमां-का अंश है। यही चीज है जिसे घटित होना है, पर यह इतने थोड़े समयमें घटित नहीं हो सकती। सर्वदा प्राणिक क्रियाओं और अहंकारके विषयमें ही सोचते मत रहो—तुमने उन्हें देख लिया है और यह जानते हो कि वे हैं, बस इतना काफी है। बल्कि अपने हृदयमें वहां उद्घाटन लानेके लिये एकाग्र होओ; लगातार एकाग्र होते रहो और लगातार अभीप्सा करते रहो और इसमें यदि समय लगे तो इसकी परवाह मत करो। यदि तुम अभी गभीर रूपमें पुकार न सको तो भी किसी भी प्रकार पुकारो—फिर गभीरतर पुकार भी होने लगेगी।

*

मैं समझता हूँ तुम अभी भी अहंकारको अतिरंजित महत्त्व देते और उसपर अत्यधिक ध्यान देते हो तथा उन अन्य तत्त्वोंको भी देते हो जो मनुष्य-जातिकी प्रकृतिमें घुलमिल गये हैं और जिनसे तभी पूर्णतः मुक्ति मिल सकती

है जब कि एक नयी चेतना आयेगी और उनके स्थानमें उच्चतर क्रियाओंको स्थापित करेगी। यदि कोई प्रधानतया और पूरी सच्चाईके साथ अहंकार और रजस्का त्याग करे तो उनकी जड़ ढीली पड़ जाती है और सत्त्व प्रकृतिके अन्दर प्रबल हो सकता है, परन्तु यहां इच्छा-शक्ति और उसके प्रयासके द्वारा सम्पूर्ण अहंकार और रजस्को दूर नहीं किया जा सकता। अतएव तैयारीकी एक विशेष अवस्थाके वाद साधकको परित्यागके अभावात्मक पक्षकी अपेक्षा साधनाके भावात्मक पक्षपर अधिक जोर देना चाहिये यद्यपि इस (अभावात्मक पक्ष) को भी दूसरेकी सहायता करनेके लिये अवश्य बने रहना चाहिये। फिर भी सवसे महत्त्वपूर्ण वात है अपने भीतर चैत्यको विकसित करना और ऊपरसे उच्चतर चेतनाको नीचे उतार लाना। चैत्य, जैसे-जैसे वढ़ता और अभिव्यक्त होता है, सभी गलत क्रियाओंको या तत्त्वोंको तुरत पहचान जाता है और साथ-ही-साथ अत्यन्त सहज-स्वाभाविक रूपमें यथार्थ तत्त्व और क्रिया प्रदान करता है जो उनका (गलत क्रियाओं आदिका) स्थान ले लेते हैं — यह प्रक्रिया शुद्धीकरणकी किसी भी कठोर तपस्याकी अपेक्षा वहुत अधिक आसान और अधिक फलदायी है। अवतरित होती हुई उच्चतर चेतना सभी आन्तरिक भागोंमें शान्ति और पवित्रता ले आती है; आन्तरिक सत्ता अपूर्ण वाह्य चेतनासे अपनेको पृथक् कर लेती है और साथ ही शान्ति आती है और अपने अन्दर एक ऐसी शक्ति वहन करती है जो शान्ति और पवित्रताकी विरोधिनी चीजको वाहर फेंक सकती है। तव अहं धीरे-धीरे या शीघ्रतासे पर सुनिश्चित रूपमें विलीन हो सकता है — रजस् और तमस् अपने दिव्य प्रतिरूपोंमें परिवर्तित हो सकते हैं।

*

(शक्तिकी क्रियाके द्वारा अहंसे मुक्ति पाना) सम्भव है यदि तुम्हारी चेतना उसकी क्रियाको सहयोग दे; अपनेको शक्तिकी क्रियाके साथ संयुक्त कर दे; तव कम-से-कम व्यक्ति अहंकी प्रमुख क्रियासे मुक्त हो सकता है और केवल उसके छोटे-मोटे चिह्न ही वाकी रह जाते हैं। तथापि अहंकारसे पूर्ण मुक्ति साधारणतया तभी मिलती है जव उच्च चेतना ऊपरसे उतरती है और निश्चय ही प्रकृतिमें चैत्य शासनकी सहायतासे संपूर्ण सत्ताको अपने अधिकारमें कर लेती है।

*

अहंभावके सम्बन्धमें, वह चाहे जितना भी हठी क्यों न हो, साधकको उसपर अपनी आंख लगाये रखनी होगी और उसके सभी सुझावोंके लिये 'ना' कहना होगा जिसमें कि वह जो भी पैंतरा क्यों न ले, हर बार वह उसके लिये एक निष्फल चाल साबित हो। इस प्रकार उससे व्यवहार करनेपर वह उस क्षणके लिये ऐसा तैयार हो जाता है जब चैत्य पुरुषको महज एक हलका-सा धक्का दे देना होता है और वह अपने प्रत्येक कार्य-क्षेत्रमें अपनी ढीली जड़ोंसे अलग होकर गिर पड़ता है। अपनी वर्तमान क्रियावलीपर दृढ़ता पूर्वक जमे रहो और वह फलदायी होनेमें असफल नहीं होगी।

*

अहंभाव आत्मा या पुरुषके अहंभावमें विलीन हो सकता है परन्तु वह स्वयं प्रकृतिगत पुरानी आहंकारिक प्रतिक्रियाओंको मिटाता नहीं, पुरुषको सतत परित्याग और पुनर्गठनके द्वारा ही मुक्ति पानी होगी। पुनर्गठनका अर्थ है निवेदनरूपमें मातृचरणोंमें प्रत्येक वस्तुको उत्सर्ग कर देना और अपने-आपकी, अपनी कामनाओंकी, सम्मतियोंकी इस रूपमें चिन्ता किये बिना कि मानो वे ही पूरी करने योग्य चीज है, सब कुछको उन्हींके लिये करना। यदि चैत्य सत्ता पूरी जाग जाय तो यह बहुत ही आसानीसे किया जा सकता है।

*

दृढ़ अस्वीकृतिके बिना यह (अहंसे छुटकारा) प्राप्त नहीं हो सकता। ऊपर आत्मामें निवास करनेसे उच्चतर भाग मुक्त हो जाते हैं, किन्तु निम्न भागोंमें अहंकार बना रहता है। इस मुक्तिके लिये सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति है दृढ़ अस्वीकृतिके साथ-साथ चैत्य-नियन्त्रण।

*

अहंकी क्रियाओंसे एकबारगी मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। सतत सचेतनता और परित्याग द्वारा उन्हें प्रकृतिमेंसे निकाल बाहर करना होता है। केन्द्रीय अहंके चले जानेके बाद भी अभ्यस्त क्रियाएं लम्बे समयतक चिपटी रहती हैं।

*

चैत्य पुरुषकी मुक्ति और सच्चे आत्माकी-उपलब्धिके विना अहं नहीं जा सकता, दोनों ही चीजें आवश्यक हैं। यदि व्यक्तिमें आत्माकी चेतना न हो तो अहं कैसे विलीन हो सकता है? प्रेम और भक्तिके द्वारा चैत्य पुरुषको मुक्त किया जा सकता है, किन्तु मैं एक ऐसे व्यक्तिकी चर्चा कर रहा था जिसमें चैत्य पुरुष उतना मुक्त नहीं हुआ है और आत्माकी उपलब्धि अधिक सुगम प्रतीत होती है।

*

हां। यदि तुम अपने अन्दर पैंठते तो चैत्य विकास अधिक आसान हो गया होता और अहंपर विजय भी — वैसे ही चेतनाका अधिक विशाल होना भी।

*

अहंसे मुक्त होनेके लिये उच्चतर चेतनाकी अपेक्षा विशालतर चेतना कहीं अधिक जरूरी है — ऊपरकी ओर जाना निःसंदेह आवश्यक है पर वह अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है।

*

यदि अहंकार चला जाय और व्यक्तिमें पूर्ण समर्पणका भाव विद्यमान रहे तो कोई अवरोध नहीं रहने चाहिये। तो भी यदि प्राणका रजोगुण बिलकुल चुप पड़ा रहे तो उसकी चुप्पी अपने स्थानपर तमको उभार सकती है, और यह वस्तु बाधारूप होगी।

*

एकबार वैश्वभाव स्थापित हो जानेके बाद प्रकृतिमें प्राणिक अहंभावके लिये कोई सुरक्षित दुर्ग नहीं रह जाता — क्योंकि उसकी भित्तियां टूट चुकी होती हैं। वे (अहंभावयुक्त प्राणिक क्रियाएं) फिर भी बाहरसे आक्रमण कर सकती हैं, किन्तु अब साधकमें इतना सामर्थ्य होता है कि वह उन्हें अपने अन्दर और कोई स्थिर रचना न बनाने दे।

*

केवल प्राणकी स्थिरता शायद ही पर्याप्त हो। कोई ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो प्राणमेंसे अहंकारको निकालकर फैंक दे।

*

अहंकार इसलिये उभरता है कि उभरना उसका स्वभाव है; वह सत्ता-को अपने कब्जेमें कर लेना चाहता है जिसे वह अपनी संपत्ति और अपने-अनुभवका क्षेत्र मानता है।

*

नि:संदेह, वे (अहंकार और प्राणिक सत्ता) हमेशा उस दबावका विरोध करते हैं जो उनसे छुटकारा पानेके लिये डाला जाता है—यदि कोई व्यक्ति मुक्तिके लिये कोई अवधि निश्चित कर ले, तो वे इस आशासे उसका और भी अधिक विरोध करते हैं कि वे इस नियत अवधिमें इस कार्यमें उसे असफल बनाकर उसमें निराशा एवं अनुत्साह पैदा कर देंगे।

*

ये चीजें (निम्नतर प्राणके नानाविध क्षुद्र अहंकार) या तो सतत अस्वी-कृति द्वारा धीरे-धीरे तब लुप्त हो जाते हैं या फिर झड़ जाते हैं जब उच्चतर चेतना निम्न प्राणमें स्थिर गतिसे उतरती है और, मानों उसे लील जाती है। उनका सहसा विलय भी शायद सम्भव है—कम-से-कम इसके दृष्टांतोंका उल्लेख मिलता है—किन्तु साधारणतया वे रहते देरतक हैं और जीर्ण वस्तुकी तरह उनकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है और वे धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं।

*

बीच-बीचमें तुम्हारा अहंकार तुम्हारे अनजाने ही उभर आता है। यह तुम्हारे उच्च भागोंमें नहीं किन्तु तुम्हारे भौतिक मन एवं भौतिक चेतनामें उभरता है और तुम सोचते हो, क्योंकि तुम्हारे उच्चतर अंग निर्मल हैं इसलिये यह भी निर्मल है।

*

निःसन्देह इन सुझावोंका इरादा है अहंकारको जाग्रत करना। मैं समझता हूँ कि वे इसलिये चिपटे रहते हैं कि उनको अब भी अहंकारको जाग्रत करनेकी आशा होती है। जब कोई बिलकुल मुक्त होता है तब भी सब तरहके सुझाव आ सकते हैं। व्यक्ति या तो उनपर ध्यान नहीं देता या फिर उनकी ओर यह देखनेके लिये नजर डालता है कि अहंकारका कोई टुकड़ा अब भी कहीं दुबका तो नहीं बैठा।

*

ये तामसिक अहंकारके वेदन हैं अर्थात् राजसिक अहंारमें निराशासे होने-वाली प्रतिक्रिया। सही वृत्ति और अनुभवसे मिश्रित या उसके साथ-साथ समाना-न्तर दौड़ती हुई यह उस प्राणकी मांग थी जो कहता था, "मेरे पास जो कुछ भी हैं वह हमेशा रहना चाहिये, अन्यथा मैं साधना नहीं कर सकता; यदि यह मेरे पाससे खो जाय तो मैं कहींका न रहूँ" — जब कि सही वृत्ति यह है, "यदि यह कुछ समयके लिये खो भी जाय तो इसका कारण यह होगा कि मेरे अन्दर किसी वस्तुको इस उद्देश्यसे बदलना है कि मेरे भीतर माताजीकी चेतना केवल आत्मामें ही नहीं किन्तु प्रत्येक अंगमें चरितार्थ हो"। निम्न शक्ति-योंने मर्म स्थानपर ही आक्रमण किया, प्राण द्वारा मांगें पेश की, और जड़ताकी एक ऐसी अवस्था उत्पन्न की जिसमें वे वस्तुएं परदेके पीछे चली गईं जिनसे तुम चिपटे हुए थे पर जो तुम्हें खो गई प्रतीत होती थी। सो अहंकारकी ताम-सिक प्रतिक्रिया इस रूपमें आई, "जीनेका क्या लाभ है, इससे अच्छा तो यह है कि मैं मर जाऊं"। स्पष्ट ही इस बातको तुम्हारी समग्र सत्ता नहीं किन्तु निराश प्राणिक सत्ताका या तामसिक भौतिक सत्ताका कोई भाग ही कहता है। सक्रिय मांगोंको छिन्न-भिन्न करके हटा दिया जाय इतना पर्याप्त नहीं है; क्योंकि यह भी मांगका ही निष्क्रिय ढंग है, "मेरी मांगे पूरी नहीं हो सकती अच्छी बात है, मैं यहांसे चला जाता हूँ, मैं जीना ही नहीं चाहता"। इस बातको तो खत्म ही करना होगा।

*

तामसिक अहंकार वह है जो निराशा, जड़ता, आत्म-निन्दा, कर्म करनेकी, जानने या खुलनेकी अनिच्छा, थकान, सुस्ती, निठल्लापन, इन सबको अंगीकार करता है और इन्हें सहारा देता है। राजसिक अहंकारके विपरीत वह कहता

है, "मैं इतना कमज़ोर इतना अज्ञानी, इतना दुःखी, इतना सताया हुआ और अनुपयोगी हूँ कि मेरे लिये अब कोई आशा नहीं, कोई सफलता नहीं, मुझे कोई पूछता नहीं, कोई सहारा देता नहीं, मैं यह कैसे करूँ, वह कैसे करूँ, यह करनेकी मुझमें शक्ति ही नहीं, सामर्थ्य ही नहीं, मैं निरुपाय हूँ, मुझे मरने दो; बस मुझे चुपचाप पड़े रहकर रो लेने दो" आदि-आदि। सम्भवतः यह सब एक साथ या प्रत्येक व्यक्तिके दृष्टांतमें नहीं होता; किन्तु मैं इस बातका सामान्य स्वरूप ही सामने रख रहा हूँ।

*

तमस् और तामसिक अहंकार एक दूसरेको उपलक्षित करते हैं। जब कोई तमस्को समर्पण करता है तो वह तामसिक अहंकारको भी अनुमति देता है।

*

जब तुम्हारे अन्दर समर्पणका भाव पूर्णरूपसे मौजूद था तबतक तो राजसिक अहंकार बाहरके सुझावोंका, अवचेतनके उफानोंका ही रूप धारण कर सका। वह प्राणमें दबा पड़ा था। जब जड़ता उभरी और संकल्पकी शक्ति घट गई तो वह फिर अन्दर आनेकी चेष्टा करने लगा।

*

तुम्हारा कहनेका क्या यह मतलब है कि तुम्हारे अन्दर कोई राजसिक तत्व नहीं था? ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसके अन्दर यह न हो जबतक कि वह अपने प्राणमें दिव्य न बन चुका हो। वे सारे सुझाव जो तुम्हारे पास इतने आग्रहपूर्वक लगातार आ रहे थे वे राजसिक अहंकारके पुनरावर्तन न थे तो और क्या थे? जब तुमने यौनवृत्ति, ईर्ष्या, मिथ्याभिमान आदिको बाहर फैंका तो तुम राजसिक अहंकारके सिवाय और किस चीजको बाहर फैंक रहे थे? प्रणाम-के समय की गई मांग या वहा उत्पन्न हुई हलचल राजसिक अहंकी क्रियाके अतिरिक्त और क्या थी? इनमेंसे कुछ चीजोंको तो तुमने सफलतापूर्वक बाहर फैंक दिया — दूसरी फिर भी प्रत्युत्तर देती रहीं।

*

परन्तु इसका क्या कारण है कि तुम्हारा कोई भाग सुझावोंको महत्व देता है? यदि कोई भी भाग उन्हें तनिक भी महत्व न देता हो तो निश्चय ही तुम्हें वे इतने हास्यास्पद और घृणित लगने चाहिये कि उनमें तुमसे विद्रोह करवानेके लिये कोई प्रभावशाली सामर्थ्य या बल रह ही नहीं सकता।

यदि तुम सुझावोंको कोई महत्व नहीं देते तो सम्भव है वहां जड़ता तो हो, किन्तु इस तरहका विद्रोह नहीं।

*

'क्ष' का अहंकार क्षुद्र है न कि विशाल—'य' के अहंकार जैसा, उग्र और लड़ाका नहीं है पर नाटा और अटल आग्रही—न पूरी तरह मोटा न पतला किन्तु छोटा, गोल तथा मटमैले रंगका।

*

नाटा और मोटा = ऊचाईमें छोटा किन्तु चौड़ा और मजबूत, इसलिये उससे मुक्ति दुःसाध्य! ऊंचा और प्रमुख नहीं या स्वपूर्णतामें समृद्धतया प्रतिष्ठित।

गोलमटोल = अधिकांशमें वैसा ही।

मटमैला = तामसिक वृत्तिकां, इसलिये लड़ाका नहीं, पर अड़े रहनेका आग्रही। किन्तु ये प्रतीक नहीं हैं, ये अहंकारके स्वभावके रूप हैं।

*

सच्चे आध्यात्मिक अनुभवको अहंकी मांगसे मुक्त होना चाहिये। परन्तु अहं इतना तो कर ही सकता है कि वह अनुभव प्राप्त करनेके लिये गर्व अनुभव करे और सोचे: "कितना महान् आदमी हूं मैं?" अथवा वह यह सोचे, "मैं आत्मा हूं, भगवान् हूं। अतएव मैं अब चलूं और जो चाहूं वह करूं, क्योंकि अब तो भगवान् ही हमारे अन्दर इच्छा करते हैं।" सच पूछो तो जब आत्माका अनुभव अन्य भागोंपर निश्चल-नीरवता लाद देता है और चैत्य पुरुषको मुक्त कर देता है केवल तभी अहं विलीन होता है। यदि स्वयं अहं न भी हो तो अहं-प्रवृत्तिके अनेक छोटे-छोटे टुकड़े और पुरानी बची-खुची चीजें बनी रह सकती हैं और उन्हें दूर करना होगा।

*

यह स्वप्न माताजीके साथ प्राणिक भूमिकापर मिलन था। इन स्वप्नोंमें बहुतसे ब्यौरे प्रतीकात्मक है, पर किसी विशेष प्रतीकका क्या अर्थ हैं यह बताना हमेशा आसान नहीं होता, जैसे यहां हाथकी मुद्राका। किन्तु स्वप्नका पिछला हिस्सा काफी स्पष्ट है। उसमें मनुष्य मानव-प्रकृतिकी उस आहंकारिक वृत्ति-का प्रतीक है जो किसी साक्षात्कारके होनेपर मनुष्यको यह सोचनेके लिये प्रेरित करता है कि यह कितनी महान् उपलब्धि है और मैं कितना महान् साधक हूँ और साथ ही अन्य लोगोंको उसे देखने एवं उसकी प्रशंसा करनेके लिये बुलानेको भी उकसाता है—शायद वह स्वप्नके आदमीकी तरह यह समझता है, "मैंने भगवान्का दर्शन कर लिया, मैं सचमुच अनुभव करता हूँ कि मैं भगवान्के साथ एक हो गया हूँ,—यह देखनेके लिये मैं सबको बुलाऊंगा"। यह ऐसी वृत्ति है जिसने बहुतेरोंकी साधनाको हानि पहुँचाई है और कभी-कभी तो साधना-को बिलकुल ही बरबाद कर दिया है। जिन विचारोंका तुमने वर्णन किया है उनमें तुम्हें अपने अन्दर एक ऐसी चीज देखनेमें आई जो थोड़ी बहुत सभी मनुष्योंमें विद्यमान है, अन्य लोगों द्वारा भला समझे जानेकी, उनके आदर या प्रेम भावमें उच्च स्थान प्राप्त करनेकी, सम्मान, पद और प्रशंसा पानेकी आकांक्षा। जब कोई व्यक्ति इस अनुभूतिको साधनाके विचारके साथ जोड़ लेता है तब केवल उसीके लिये न कि विशुद्ध रूपसे केवल भगवान्के लिये साधना करनेकी प्रवृत्ति अन्दर घुस आती है और स्वयं साधनामें कोई विक्षोभ या फिर कोई अवरोध अवश्य उत्पन्न होता है या इसपर भी यदि आध्यात्मिक अनुभव आता है तो स्वप्नके मनुष्यकी तरह उसमें अपने अहंकारको विराट् रूप देनेके लिये अनुभवका दुरुपयोग करनेका खतरा रहता ही है। ये सब स्वप्न तुम्हें इन मानव दोषोंका सुस्पष्ट और ठोस ज्ञान एवं अनुभव प्रदान करनेके लिये आ रहे हैं जिससे तुम्हारे लिये उन्हें बाहर फैंकना, जाग्रत अवस्थामें उनके आनेपर उन्हें पहचानना और उन्हें अन्दर घुसनेसे रोकना अधिक आसान हो जाय। ये चीजें केवल तुम्हारेमें ही नहीं हैं किन्तु सारी-की-सारी मानव प्रकृतिमें हैं; ये ऐसी चीजें हैं जिनसे व्यक्तिको छुटकारा पाना होगा या उनसे अपनी रक्षा करनी होगी, ताकि भगवान्के प्रति तुम्हारा आत्म निवेदन पूर्ण, निःस्वार्थ, सच्चा और पवित्र हो जाय।

*

अधिक प्रबल अनुभूतियोंके साथ स्वभावतः ही सत्तामें एक प्रकारका तीव्र उल्लास आता है और उसके साथ-ही-साथ चमत्कार या अलौकिकताका बोध

भी आ सकता है, परन्तु उस उल्लासके अन्दर कोई अहंकारपूर्ण भावना नहीं रहनी चीहिये।

*

हां, यह ऐसी वस्तु है जो बहुतोंमें आती है। अतिरंजित करनेपर और प्राणिक वृत्तिका मुख्य अग बनानेपर, यह ऐसे अनेक लोगोंकी निष्फलता और यहांसे चले जानेका कारण बनी है जो अपनेको महान् साधक समझते है—उन्होंने इसके बहाने प्राणिक अहंकारको प्रश्रय दिया और उसे बढ़ा-चढा दिया। क्योंकि तुम जानेते हो कि यह हास्यास्पद है इसलिये इससे छुटकारा पानेमें तुम्हें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। इसमें सचाई केवल यही है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपनेको इस प्रकार उद्घाटित करता है कि शक्ति भौतिक सत्ताको परिर्वातित करनेके लिये उसे भेदती हुई उसमें प्रविष्ट हो सके, उस उद्घाटन-के द्वारा उच्च शक्तिकी विजयमें योगदान कर रहा होता है—पर यह बात सबके साथ लागू होती है किसी एक व्यक्तिके साथ नहीं।

*

तुम अपने अन्दरके जिस अहंभावकी बात करते हो वह दो मनुष्योंके पारस्परिक सम्बन्धकी चीज है और प्रायः सभी स्त्री पुरुषोंमें सामान्य रूपसे पाया जाता है,—इससे मुक्ति पाना अत्यन्त ही कठिन है, किन्तु यदि कोई इसे स्पष्ट रूपसे देखे और उसे दूर रखनेका निश्चय कर ले, तो इसे पहले नियन्त्रण-में लाकर प्रकृतिमेंसे बहिष्कृत किया जा सकता है। किन्तु वह अहंभाव और तरहका है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे कहीं अधिक खतरनाक है जिसने लोगोंको अपनी साधना विषयक गर्व और अपने अनुभवोंकी कल्पित महत्ताके साथ आसक्तिके कारण यहांसे जानेको विवश किया है। तुम्हारे अन्दर यह नहीं है और मैं नहीं समझता कि इस्के तुम्हारे अन्दर आनेका कभी खतरा ही है।

माताजीके संग होने और उनसे बात करनेका अनुभव ऐसी चीज है जो तब आसानीसे हो सकती है जब व्यक्ति माताजीको पत्र लिख रहा होता है और यह सच भी है क्योंकि जब व्यक्ति अपने अनुभव लिखता है तो सत्ताका कोई भाग माताजीसे वस्तुतः भेंट करता है और अपनेको उनके प्रति उद्घाटित करता है।

*

हां, यदि कोई ठोस अनुभव हो तो अहंभावकी आदत बहुत कम हो जाती है, परन्तु यह पूरी तरह चलीं नहीं जाती। यह इस बोधकी शरण लेती है कि 'मैं एक यन्त्र हूँ' और — यदि चैत्यकी ओर रुझान न हो तो — यह ऐसी किसी शक्तिका साधन आसानीसे बनना अधिक पसन्द कर सकती है जो अहंकी तुष्टि और तृप्ति करती है। ऐसे दृष्टांतोंमें अहंकार फिर भी प्रबल रह सकता है यद्यपि यह अपनेको उपकरणके रूपमें ही अनुभव करता है, न कि मुख्य कर्ताके रूपमें।

*

भगवान्का यंत्र होनेका अभिमान आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उतना ही खतरनाक हो सकता है जितना कि कर्त्ता होनेका अहंकार, बल्कि उससे कहीं अधिक खतरनाक हो सकता है। अहं-भाव आध्यात्मिक सिद्धिका विरोधी भाव है, तब भला किसी प्रकारका अहं ऐसी चीज कैसे हो सकता है जिसे प्रोत्साहन दिया जाय? परिवर्द्धित अहंकारका जहांतक प्रश्न है, वह मुक्ति और पूर्णताके लिये एक अत्यन्त विपज्जनक बाधा है। साधकमें कोई भी बड़ा 'मैं' यहांतक कि कोई छोटा 'मैं' भी नहीं होना चाहिये।

परिवर्द्धित अहंकारका मतलब यह है कि जब साधारण मन और प्राणकी सीमाएं टूट जाती हैं तो मनुष्य एक बहुत अधिक विशाल और बहुत अधिक शक्तिशाली चेतनाका तथा असीम सम्भावनाओंका अनुभव करता है, परन्तु जब कोई उन सब चीजोंको अपने निजी अहंकी पूंछमें बांध देता है तब वह साधारण मनुष्यकी अपेक्षा हजार-गुना अधिक अहंकारी हो जाता है। भगवान्की महत्ता अपनी निजी महानताके लिये एक बहाना और सहारा बन जाती है और बड़ा 'मैं' फूलकर केवल पृथ्वीभरमें ही नहीं बल्कि स्वर्गतकमें फैल जाता है। अहंका यह अतिरंजन एक ऐसी चीज है जिससे बचनेकी चेष्टा खूब सतर्कताके साथ करनी चाहिये।

*

हां, ये यन्त्र होनेके अहंकारके छोटे-मोटे चिह्न हैं या क्षुद्र रूप हैं — ये बहुत गम्भीर नहीं हैं, पर प्रायः अधिकतर चिपटनेवाले होते हैं। एक और भी अधिक बड़े प्रकारका अहंभाव होता है जो इतना सर्वसामान्य नहीं, और उभरकर एक प्रकारके महत्वोन्मादका रूप ले सकता है, "मैं हूँ एक विशेष

उपकरण — कितना महान् यन्त्र हूँ मैं — सबकुछ मेरे ही द्वारा किया जायगा", —ऐसे तीन या चार व्यक्ति हैं जिनमें वह उग्र क्लेशदायक रूपमें गुप्त या प्रकट ढंगसे उत्पन्न हुआ — प्रायः इसका अन्त इस रूपमें होता है कि वे बड़े-बड़े काम करनेके लिये बाहर चले जाते हैं — ऐसे बड़े काम जो किसी कारणवश पूरे नहीं होते।

*

निर्व्यक्तिकता अपने-आपमें दिव्य वस्तु नहीं है। ये सब ऐसी गलतियां हो सकती हैं और ऐसे अनेक लोगों द्वारा की भी गई हैं जो निर्व्यक्तिक वनी चेतनामें रहनेका दावा करते हैं। कोई शक्ति वैश्व होनेपर भी गलत शक्ति हो सकती है: अनेक लोग समझते हैं कि वे निर्व्यक्तिक हैं और अहंकारसे मुक्त हैं क्योंकि वे किसी शक्तिका या उनके अपने व्यक्तित्वसे अधिक महान् किसी वस्तुके आदेशका पालन कर रहे हैं — परन्तु वह शक्ति या वह वस्तु भगवान्से बिलकुल भिन्न भी हो सकती है और हो सकता है कि यह उनके व्यक्तित्व या अहंकारमें विद्यमान किसी वस्तुके द्वारा उन्हें अपने अधिकारमें रखे।

*

कर्म तो प्रकृति ही करती है; भगवान् मनुष्योंको कोई कार्य करनेके लिये बाधित नहीं करते। भगवान्की उपस्थिति या उनके सहारेके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति भगवान्की शक्ति है और यही वस्तुओंको क्रियान्वित करती है, किन्तु यह प्रत्येक व्यक्तिकी अज्ञानपूर्ण प्रकृतिके अनुसार और उसके अज्ञानपूर्ण संकल्पके द्वारा या उसकी सहायतासे ही उन्हें क्रियान्वित करती है — यह कार्य तब तक चलता रहता है जबतक मनुष्य भगवान्की ओर मुड़ न जाये और उनके विषयमें सचेतन एवं उनके साथ एक न हो जाये। केवल तभी यह कहा जा सकता है कि उसमें सब क्रियाएं भगवान्के सीधे संकल्प द्वारा होने लगी है।

*

महत्त्वाकांक्षा और मिथ्याभिमान मानवीय चेतनाके लिये इतनी स्वा-

भाविक चीजें हैं — साधारण जीवनमें इनका उपयोग भी है — कि यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वे आरम्भमें साधनामें भी घुस आयें और परित्यक्त होनेपर भी कहीं-न-कहीं बने रहें। परन्तु साधन-पथपर बहुत दूर आगे बढ़नेसे पहले उन्हें निकाल बाहर करना होगा — अन्यथा वे बहुत खतरनाक अनुचर होते हैं और अभीप्सा तथा सिद्धि दोनोंको ही विकृत कर सकते हैं।

*

महत्त्वाकांक्षा सदा ही प्राणकी एक शक्ति होती है।

*

महत्त्वाकांक्षाके सुझाव आदि सर्वदा प्राणिक मनमें, अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्राणके मनमें उत्पन्न होते हैं और वहांसे दौड़कर चिंतनशील मनमें पहुँच जाते और उसकी अनुमति और मानसिक इच्छा-शक्तिकी स्वीकृति-की मांग करते हैं। जब उनके आक्रमणसे चिंतनशील मन आच्छादित हो जाता है तब वह विवश हो जाता और अपनी अनुमति दे देता है। चिंतनशील मन (बुद्धि) को सदा ऊपरमें अविचलित बने रहना चाहिये और प्राणकी पकड़में आये बिना तथा विवश हुए बिना यह निर्णय करना चाहिये कि क्या चीज सही है।

*

भीतर आध्यात्मिक विनम्रताका होना बड़ा आवश्यक है। पर मैं नहीं समझता कि बाहरी विनम्रता अनुमोदनीय है (निःसंदेह, दूसरोंके साथ बाहरसे व्यवहार करते समय अभिमान या गर्व या दिखावेका न होना अनिवार्य है) —यह बहुत बार अभिमान पैदा करता है, औपचारिक बन जाता है या कुछ समय बाद निष्प्रभाव हो जाता है। मैंने लोगोंको अपना अभिमान दूर करनेके लिये इसे करते हुए देखा है, पर मैंने इसे स्थायी फल पैदा करते हुए नहीं देखा है।

*

यह (हरेकको नमस्कार करना) एक ऐसा भाव है जो ऐसे कुछ लोगोंमें होता है जो या तो नम्रताका गुण विकसित करना चाहते हैं ('क्ष' ऐसा किया करता था पर मुझे कभी नहीं लगा कि इस क्रियाने उसके सहज आत्म-बहुमानसे उसे छुटकारा दिलाया हो) या जिन्होंने वैष्णव-भावके साथ सबमें नारायणको प्रत्यक्ष कर लिया है अथवा प्रत्यक्ष करनेका यत्न कर रहे हैं। सबके अन्दर उस एकमेवका अनुभव करना ठीक है, किन्तु ऐसे व्यक्तिको नमन करना जो अब भी अपने अहंकारमें निवास करता है, न तो उसके लिये अच्छा है न नमन करनेवालेके लिये ही। विशेष कर इस योगमें यह उस वस्तुको बिखेर देनेकी प्रवृत्ति रखता है जिसे उस विश्वात्मबोधसे अधिक ऊंचे साक्षात्कारपर केन्द्रित और उसकी ओर उन्मुख होना चाहिये जो मार्गका एक कदममात्र है।

*

सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि इस (आध्यात्मिक विनम्रता)का अर्थ है जो कुछ अभी भी करना है उसके मुकाबले जो कुछ किया गया है उसकी सापेक्षताके विषयमें सज्ञान होना—और इस विषयमें भी सचेतन होना कि मनुष्यकी सत्ता भागवत कृपाके विना कुछ भी नहीं है।

*

बड़प्पनकी भावनाका जहांतक प्रश्न है, जब चेतनाके सामने महत्तर क्षितिज खुल जाते हैं तब बड़प्पनकी भावनासे बचना थोड़ा कठिन होता है, जबतक कि मनुष्यको संत-जैसा और विनम्रतापूर्ण स्वभाव ही न प्राप्त हो चुका हो। कुछ लोग नाग महाशय (श्रीरामकृष्णके शिष्योंमेंसे) के जैसे होते हैं जिनमें आध्यात्मिक अनुभव अधिकाधिक नम्रता उत्पन्न करता है; फिर दूसरे लोग विवेकानन्दके जैसे होते हैं जिनमें वह शक्तिशालिता और बड़प्पनकी महान् महान् भावना उत्पन्न करता है—यूँरोपियन आलोचकोंने उनपर इसके लिये कठोर रूपसे दोषारोपण किया है; कुछ दूसरे लोग ऐसे होते हैं जिनमें वह मनुष्योंके सामने बड़प्पनकी भावना और भगवान्‌के सामने विनम्रताकी भावना जगाता है। प्रत्येक स्थितिका अपना-अपना मूल्य है। उदाहरणके लिये, विवेकानन्दके उस प्रसिद्ध उत्तरको लो जिसे उन्होंने मद्रासी पंडितको उस समय दिया था जब कि उसने उनके एक अधिकारपूर्ण कथनके विरुद्ध आपत्ति करते हुए यह कहा था: "पर शंकर ऐसा नहीं कहते।" विवेकानन्दने झट उसे उत्तर

दिया था: "नहीं, पर मैं, विवेकानन्द, ऐसा कहता हूँ।" और यह सुनकर वह पंडित मौन हो गया था। वह "मैं, विवेकानन्द" साधारण आंखोंके सामने आत्मविश्वासपूर्ण अहंभावके एक हिमालयकी तरह खड़ा हो जाता है। परन्तु विवेकानन्दके आध्यात्मिक अनुभवमें कोई चीज मिथ्या या दोषपूर्ण नहीं थी। यह महज उनका अहंभाव नहीं था, बल्कि जिस वस्तुके वे प्रतिनिधि थे उसका बोध था और साथ ही उस योद्धाका भाव था जो किसी बड़ी महान् वस्तुका प्रतिनिधि होनेके नाते अपनेको पराभूत या अपमानित करनेका अवसर नहीं दे सकता था। परन्तु इसका मतलब अनहंकारिता और आध्यात्मिक विनम्रताकी आवश्यकताको अस्वीकार करना नहीं है अपितु यह दिखलाना है कि यह प्रश्न इतना आसान नहीं है जितना कि यह प्रथम दृष्टिमें दिखायी देता है। क्योंकि, यदि मुझे अपने आध्यात्मिक अनुभवोंको प्रकट करना है तो उसे मुझे सच्चाईके साथ करना होगा—मुझे उन्हें लिपिबद्ध करना होगा, उनके भावों, उनके विचारों, संप्रतीतियों, उनके साथ संलग्न चेतनाके विस्तारों आदिको बताना होगा। भला मुझे उस अनुभूतिके साथ क्या करना चाहिये जिसमें मनुष्य समस्त जगत्को अपने अन्दर अनुभव करता है या भगवान्की शक्तिको अपनी सत्ता और प्रकृतिमें प्रवाहित होते अनुभव करता है या सभी संदेहों और संदेह-कर्ताओंके विरुद्ध अपने श्रद्धा-विश्वासकी निश्चितताको या भगवान्के साथ अपने एकत्वको अथवा इस महत्तर ज्ञान और जीवनके मुकाबले मानवीय विचार और जीवनकी तुच्छताको अनुभव करता है? और मुझे 'मैं' शब्दका प्रयोग करना ही होगा—मैं इस कथनका आश्रय नहीं ले सकता कि "यह शरीर" या "यह बाह्य रूप" विशेषकर जब कि मैं मायावादी नहीं हूँ। अतएव, क्या मुझे ऐसी व्यंजना-शैलीमें नहीं जा पड़ना चाहिये जिसके कारण 'अ' मेरे कथन-को अभिमान और अहंकारसे भरा हुआ मानकर अपना मस्तक हिलाने लगे? मैं समझता हूँ इससे बच निकलना कठिन होगा।

दूसरी चीज: मुझे लगता है कि तुम श्रद्धाको बहुत अधिक मानसिक विश्वासके साथ मिला-जुला देते हो, परन्तु सच्ची श्रद्धा एक आध्यात्मिक वस्तु है, अन्तरात्माका एक प्रकारका ज्ञान है। तुमने अपने पत्रमें जो बातें लिखी हैं वे मानसिक विश्वासके कठोर कथन हैं और अन्तमें मानसिक मतवाद और लक्ष्यके अत्यन्त उग्र कथनकी ओर ले जानेवाले हैं, क्योंकि वे अपने हैं और इसलिये उन्हें दूसरोंके कथनोंसे अधिक महान् होना ही चाहिये—यह एक ऐसा मनोभाव है जो मनुष्य-स्वभावमें सर्वत्र पाया जाता है। और तो और, नास्तिक लोग भी सहिष्णु नहीं होते, वरन् प्रकृति और जड़तत्त्वके अपने सिद्धांत-को ही एकमात्र सत्य घोषित करते हैं और जो लोग उसपर अविश्वास करते हैं

या अन्य चीजोंमें विश्वास रखते हैं उन सभी लोगोंपर घृणा वर्षण करते हैं और उन्हें असभ्य नीच व्यक्ति तथा अन्धविश्वासपूर्ण मूढ़ समझते हैं। ऐसा समझे जानेके कारण मैं उनसे विद्वेष नहीं करता, पर मैं देख रहा हूँ कि यह मनोभाव धार्मिक विश्वासतक ही सीमित नहीं है बल्कि उन लोगोंके लिये भी एक समान स्वाभाविक है जो धार्मिक विश्वाससे रहित हैं और देवताओं या गुरुओंमें विश्वास नहीं रखते। मैं आशा करता हूँ कि प्रश्नके दूसरे पक्षको रखनेपर तुम कुछ ख्याल नहीं करोगे; मैं संकेत करना चाहता हूँ कि इसका दूसरा पक्ष भी है, प्रथम दृष्टिको जो कुछ दिखायी देता है उससे बहुत अधिक बातें कहने योग्य हैं।

*

समुचित मनोभाव है यह देखना कि पृथक् सत्ताके रूपमें, एक 'अहं'के रूपमें, मनुष्यका कुछ भी महत्त्व नहीं है और अपनी निजी कामनाओं, स्वाभिमान, पद-प्रतिष्ठा आदिपर आग्रह करना अज्ञान है, पर मनुष्यका महत्त्व है केवल एक आत्माके रूपमें, भगवान्के एक अंशके रूपमें, दूसरोंसे अधिक नहीं बल्कि उतना ही महत्त्व है जितना कि सभी आत्माओंका मूल्य सबके परम आत्माके लिये है।

*

हां, आगे बढ़े हुए साधकोंके विषयमें चर्चा करना एक ऐसी बात है जिसे मैंने हमेशा ही अनुत्साहित किया है — किन्तु लोग चर्चा करते रहते हैं क्योंकि ऐसा करना प्राणिक अहंकारको आकृष्ट करता है।

*

उच्चता और नीचताकी भावनाओंका बहुत अधिक उपयोग या सत्यता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने-जैसा एक ही है, उसकी अपनी सम्भावनाएं हैं और उनकी कोई सीमा हो यह आवश्यक नहीं — सिवाय संकल्प, विकास और कालके। प्रत्येक प्रकृतिकी अपनी निजी धाराएं हैं और विभिन्न विषयोंमें वे अधिक या कम विकसित हैं, पर मानदंड इस दृष्टिसे स्थापित करना चाहिये कि मनुष्य अपने-आपमें क्या होना चाहता है। दूसरोंके साथ तुलना करनेपर

मूल्य निर्णयका गलत मानदंड आ घुसता है।

*

साधकोंमें एक वहुत प्रसिद्ध बीमारी फैल गयी है — ईर्ष्या और द्वेषके साथ एक-दूसरेकी तुलना करना — कुछ लोगोंमें तो यह विद्रोह और आत्म-प्राधान्य स्थापित करनेकी प्रवृत्ति ग्रहण कर लेती है और कुछ लोगोंमें आत्महीनता और अवसन्नताकी प्रवृत्ति। स्वभावतः ही इन भावनाओंके लिये कोई स्थान नहीं और इस तरह उत्पन्न निर्णय सत्यसे कोसों दूर हैं। प्रत्येक साधककी एक अपनी गति-विधि है, भगवान्के साथ अपना निजी संबंध है, काममें या सामूहिक साधनामें अपना निजी स्थान है और दूसरोंके साथ तुलना करनेपर तुरत एक अशुद्ध मानदंड आ जाता है। सच पूछो तो उसे अपनी आंतरिक मनोवृत्तिके सत्यपर — स्वधर्मपर ही अपना आधार स्थापित करना होगा।

*

आत्मसम्मान और बड़प्पनका बोध — ये दो अलग-अलग चीजें हैं। आत्मसम्मान ठीक उसी तरह निश्चित रूपमें अहंकारका चिह्न नहीं है जैसे कि उसका अभाव अहंकारसे मुक्तिका चिह्न है। आत्मसम्मानका अर्थ है आचरण-सम्वन्धी किसी विशेष मानदंडका पालन करना जो मनुष्यत्वके उस स्तरके अनुकूल हो जिस स्तरका वह मनुष्य हो — उदाहरणार्थ, मैं आत्मसम्मानकी दृष्टिसे कोई मिथ्या वक्तव्य नहीं दे सकता, भले ही वैसा करना लाभ-दायी हो और अधिकांश व्यक्ति परिस्थितियोंके वश वैसा कर सकते हैं। 'आत्मा-भिमान' एक अलग चीज है और सात्त्विक अहंकार दूसरी। जब मनुष्य अहंसे मुक्त नहीं होता तब 'आत्माभिमान' और आत्मसम्मान भी (क्योंकि वह अहंके साथ या अहंके बिना रह सकता है) मनुष्यके व्यक्तित्वको उसके अपने यथार्थ स्तरपर बनाये रखनेके लिये आवश्यक अवलम्ब हैं।

घृणा बहुत अनाध्यात्मिक होनेके कारण इस उद्देश्यसे सहायकके रूपमें ग्रहण करने योग्य नहीं है।

*

बहुतसे साधकोंके लिये एक प्रारंभिक स्थिति होती है जो मन या उच्चतर

प्राणसे संचालित होती है और जिसमें वे बहुत अच्छी तरह अग्रसर होते हैं, क्योंकि मन और उच्चतर प्राणमें ऐसे तत्त्व हैं जो प्राथमिक अनुभूतियोंके आनेके समय या प्राथमिक प्रगति होते समय सत्ताके बाकी अंगोंको संयमित करनेके लिये पर्याप्त प्रबल होते हैं। परन्तु एक समय आता है जब साधकको सत्ताके निम्नतर अंगोंके साथ निपटना पड़ता है और तब सभी प्राणिक कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं। यदि आरंभिक प्रगति या अनुभूतियोंने गर्व या अहंकार उत्पन्न कर दिया है अथवा कहींपर कोई गम्भीर दोष है तो वह (साधक) तबतक इन कठिनाइयोंसे निपटनेमें असमर्थ होता है जबतक कि अहंकार भंग नहीं हो जाता या दूर नहीं हो जाता अथवा दोष सुधार नहीं लिया जाता। 'अ' को अपनी साधुताका गर्व हो गया और वह उसके रास्तेमें एकदम बाधक हुआ; उसमें एक दोष यह भी है कि उसका मन संकीर्ण और हठी है और अपने ही विचारोंसे चिपका रहता है मानो केवल वे ही सत्य हों — उसके चरित्रके जो उदाहरण तुम दे रहे हो वे इस दोषको स्पष्ट दरशा रहे हैं। यही कारण है कि वह यहां प्रत्येक व्यक्तिसे झगड़ता है और समझता है कि वह तो ठीक है और वे लोग बहुत बुरे और दुष्ट हैं, वह अपने दोषों और भूलोंको नहीं देख सकता और जब श्रीमाताजी या मैं उसकी बातपर कान नहीं देते तो वह आघात पाता और रुष्ट होता है क्योंकि हम उसे पीड़ा पहुँचानेवाले दुष्टोंके विरुद्ध उसकी साधुता और सच्चाईका समर्थन नहीं करते। वह एक अच्छा और कुशल कार्यकर्ता है पर वह तबतक साधनामें उन्नति नहीं कर सकता जबतक कि वह इस अनमनीयता और अहंकारको बनाये रखेगा।

*

तुममें क्षमताएं हैं और यौगिक विशेषताएं हैं, पर उनके साथ-ही-साथ बना हुआ है एक बहुत प्रबल आत्माभिमान और धर्माभिमानका भाव जो पूर्णताके पथमें अड़ा हुआ है और एक बहुत गंभीर बाधाकी सृष्टि करता है। जबतक साधकमें यह चीज है तबतक अपने अन्दर दिव्य सत्यको अभिव्यक्त करनेका उसका प्रयास सर्वदा व्यर्थ होगा क्योंकि वह उसे मानसिक और प्राणिक रचनाओंमें बदल देगा जो उसे विकृत करतीं, निष्फल अर्द्ध-सत्यमें बदल देतीं अथवा यहांतक कि सत्यको भूल-भ्रांतिका मूल-स्रोत बना देती हैं।

*

हां, आत्मसमर्थन भूलकी वृत्तिको बने रहने देता है क्योंकि वह उसे मानसिक आश्रय प्रदान करता है। आत्मसमर्थन सदा ही अहंकार और अज्ञानका चिह्न होता है। जब मनुष्यको एक विशालतर चेतना प्राप्त हो जाती है तो वह जानता है कि प्रत्येक मनुष्यका वस्तुओंको देखनेका एक अपना निजी तरीका है और वह उस तरीकेसे अपना समर्थन पाता है और इस कारण किसी झगड़ेमें दोनों दल यह विश्वास करते हैं कि वे सत्यके पक्षमें हैं। जब मनुष्य अहंकारसे रहित एक चेतनामें जाकर ऊपरसे देखता है केवल तभी वह किसी चीजके सभी पक्षोंको तथा उनके यथार्थ सत्यको भी देखता है।

*

परन्तु वह (अपने दोषोंको स्वीकार न करना) एक बहुत प्रचलित मानव-दुर्बलता है, यद्यपि किसी ऐसे साधकमें उसे नहीं रहना चाहिये जिसकी उन्नति विशेषकर इस बातपर निर्भर है कि वह अपने अन्दरकी उन चीजोंको स्वीकार करे जिन्हें परिवर्तित करना है। यह बात नहीं कि स्वयं स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त है, पर वह एक आवश्यक तत्त्व है। निस्संदेह, एक प्रकारका घमंड और मिथ्याभिमान ही उसे शक्ति और पद-प्रतिष्ठाके लिये आवश्यक समझता है। ऐसे लोग महज दूसरोंके सामने अपने दोषोंको अस्वीकार ही नहीं करते, बल्कि उन्हें स्वयं अपने-आपसे भी छिपाते हैं अथवा यदि वे एक आंखसे उन्हें देखनेके लिये विवश भी होते हैं तो दूसरी आंख उससे फेर लेते हैं। अथवा वे शब्दों और बहानों और औचित्योंका एक जाल बुन लेते हैं और उन्हें वे जो कुछ वास्तवमें हैं उनसे भिन्न कोई चीज बना देनेकी चेष्टा करते हैं। 'अ' का यह कथन कि "यदि मुझे अपने दोष स्वीकार करने पड़ें तो मैं मर जाना अधिक पसन्द करूँगा", उसके स्वभावका बड़ा सूचक है — योगमार्गमें यही चीज उसकी मुख्य बाधा रही है।

*

प्रकृतिका केवल यही अभ्यास — अपने विषयमें चिंता करते रहना और अपनी त्रुटियोंका ही राग अलापते रहना — तुमको शांत होनेसे रोकता है। यदि तुम उसे बाहर फेंक देते तो शान्त होना आसान हो जाता। नम्रता आवश्यक है, पर निरन्तर आत्महीनताका भाव रखना सहायता नहीं करता; अत्यधिक आत्माभिमान और आत्मावमूल्यन दोनों ही अनुचित मनोभाव हैं। बिना बढ़ाये-चढ़ाये अपने दोषोंको स्वीकार करना उपयोगी है, पर, एक बार स्वीकार कर

लेनेके बाद, सदा उन्हींके विषयमें सोचते-विचारते रहना अच्छा नहीं। तुम्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि भागवत शक्ति सब कुछ बदल सकती है और तुम्हें बस उस शक्तिको कार्य करने देना चाहिये।

*

यह (प्राणिक संवेदनशीलता) न अच्छी है न बुरी। यह विकासके क्रममें इसी प्रकार आती है। कुछ लोग सचेतन या प्रत्यक्षरूपसे अन्य लोगोंके प्रति खुलनेमें असमर्थ होते हैं क्योंकि वे असंवेदनशील होते हैं। दूसरी ओर बहुत अधिक खुल जाना भी दुःखदायी होता है।

*

यह अहंकारके स्वभावपर निर्भर करता है। कुछ अहंकारी लोग बड़े कठोर चमड़ीवाले होते हैं और बिलकुल ही संवेदनशील नहीं होते, पर दूसरे अत्यधिक संवेदनशील होते हैं।

*

अत्यधिक संवेदनशील होना अहंकारका परिणाम या चिह्न है।

*

संवेदनशीलता (झट किसी भी बातसे क्षुब्ध हो उठना) बहुतसे साधकोंके लिये एक अत्यन्त प्रबल बाधा रही है। इसे दूर करनेके दो उपाय हैं — श्रीमाताजीमें चैत्य पुरुषका विश्वास और उसके साथ-साथ आनेवाला समर्पणका भाव, अर्थात्, "जो कुछ वह चाहती हैं वही मेरे लिये उत्तम है", और यह विशालता जिसे तुम अब अनुभव करते हो; —यह सच्चे आत्माकी, सच्चे मानसिक, प्राणिक और भौतिक पुरुषकी भी विशालता है, जिससे ऐसी चीजें धूलकी तरह झड़ जाती हैं, क्योंकि उसके लिये इनका कोई भी मूल्य नहीं होता।

बस, यही एकमात्र करणीय कार्य है, इस विशालता, शांति और निश्चल-नीरवतामें स्थायी रूपसे पैठ जाना और अहंको उसमें विलीन हो जाने देना तथा आसक्तियोंको दूर हो जाने देना।

*

असंवेदनशील चेतनामें सत्ताका किसी प्रकारका रूपान्तर नहीं हो सकता।

*

मनुष्यको अपनी संवेदनशीलताको दूर नहीं करना है, बल्कि ऐसी भ्रम-निवृत्तियोंको कूदनेका एक तख्ता बनाकर उच्चतर चेतनामें ऊपर उठ जानेकी केवल एक शक्ति प्राप्त करनी है। एकमात्र पथ यह नहीं है कि दूसरोंसे, वे दूसरे कौन हैं इससे कुछ आता-जाता नहीं, निष्कपट व्यवहारकी आशा की जाय। और इसके अतिरिक्त, यह अच्छा है कि कुछ लोगोंके सच्चे स्वभावके ऐसे अनुभव हो जायं जिनके प्रति उदार स्वभावका व्यक्ति प्रायः ही अन्धा होता है; क्योंकि उससे अपनी चेतनाके विकासमें सहायता मिलती है। जिस आघातसे तुम हिचकिचाते हो वह तुम्हें इतना कठोर इस कारण प्रतीत होता है कि वह एक ऐसा आघात है जिसे तुम्हारी मानसिक रचनाके जगत्‌ने प्राप्त किया है। ऐसा जगत् बहुधा हमारी सत्ताका एक अंग बन जाता है। परिणाम यह होता है कि उस जगत्‌पर किया गया आघात लगभग शारीरिक पीड़ा प्रदान करता है। इसकी सबसे बड़ी क्षतिपूर्ति यह है कि वह तुम्हें अपनी कल्पना-जगत्‌के विपरीत,—वह कल्पनाका जगत् ऐसा होता है जैसा कि तुम चाहते हो कि सच्चे जगत्‌को होना चाहिये,—सच्चे जगतमें अधिकाधिक रहनेके लिये प्रवृत्त करता है। परन्तु तुम जानते ही हो, सच्चा जगत्‌की ही वह सब कुछ नहीं है जिसकी कामना की जाय, और यही कारण है कि इसपर भागवत चेतनाकी क्रिया होनी चाहिये और इसे रूपान्तरित होना चाहिये। परन्तु इसके लिये दिव्य सद्वस्तुका ज्ञान होना, वह चाहे जितना भी अरुचिकर क्यों न हो, प्रायः सबसे पहली आवश्यक वस्तु है। और बहुत बार यह ज्ञान सबसे उत्तम रूपमें हमारे पास आता है प्रहारों और घावोंके द्वारा। यह ठीक है कि आदर्शवादी लोग, संवेदनशील लोग, सुसंस्कृत स्वभाववाले लोग भी कठोर चमड़ीवाले अन्य लोगोंकी तरह ही ऐसी भ्रमनिवृत्तियोंसे पीड़ा अनुभव करते हैं, पर यह कोई कारण नहीं जिससे कि सूक्ष्म भावनाओंकी निंदा की जाय और सूक्ष्म संवेदन-शीलताकी तेज धार कुंठित कर दी जाय। सीखनेकी चीज यह है कि किसी भी ऐसे अनुभवसे अपनेको पृथक् कर लिया जाय और दूसरोंकी ऐसी विकृतियों-की ओर एक ऐसी ऊंचाईसे देखना सीखा जाय जहांसे इन अभिव्यक्तियोंको समुचित दृष्टिकोणसे — निर्व्यक्तिक दृष्टिकोणसे देखना सम्भव हो। तब हमारी कठिनाइयां वास्तवमें और अक्षरशः सुअवसर बन जायंगी। क्योंकि ज्ञान जब हमारी कठिनाइयोंकी जड़तकमें पहुँच जाता है तब वह स्वयं मानो एक अद्भुत

रोग-निवारक शक्ति बन जाता है। जैसे ही तुम कठिनाईके मर्मस्थलको छूते हो, जैसे ही तुम, अधिकाधिक गहराईमें डुबकी लगाते हुए, उस चीजतक पहुँच जाते हो जो सचमुच तुम्हें पीड़ा पहुँचाती है तो मानों जादूकी तरह पीड़ा विलीन हो जाती है। अतएव सच्चे ज्ञानतक पहुँचनेका अटूट साहस योगका एकदम सार-तत्त्व है। सच्चे ज्ञानके ठोस आधारके बिना कोई भी स्थायी अट्टालिका नहीं निर्मित हो सकती। पैर पहले अपनी आधार-भूमिके विषयमें निश्चित होने चाहियें, उसके बाद ही हमारा मस्तक आकाश चूमनेकी आशा कर सकता है।

*

'अ' के आचरणपर तुम्हारा आश्चर्य करना यह सूचित करता है कि तुम अभीतक यह नहीं जानते कि सामान्य मानव-प्रकृति किस प्रकारकी चीज है। क्या तुमने विद्यासागरका वह उत्तर कभी नहीं सुना? एक बार किसीने उनसे कहा — "अमुक आदमी आपको गालियां दे रहा था।" उन्होंने कहा — "क्यों? वह मुझे क्यों गाली दे रहा था'? मैंने तो कभी उसका कोई उपकार नहीं किया!" अनगढ़ प्राण किसी लाभके लिये कृतज्ञ नहीं होता, वह एहसान मानना नापसन्द करता है। जबतक लाभ होता रहता है तबतक वह भावमें बहा करता है और मीठी-मीठी बातें करता है, पर जैसे ही अब और किसी चीजकी आशा उसे नहीं रहती वैसे ही वह मुँह मोड़ लेता है और जिस हाथने उसे खिलाया था उसे ही काट लेता है। कभी-कभी वह पहले भी ऐसा करता है जब कि वह समझता है कि वह ऐसा करे तो भी उसका उपकार करनेवाला निंदा, छिद्रान्वेषण या गाली-गलौजके मूलस्रोतका पता नहीं पा सकेगा। तुम्हारे प्रति किये गये इन सारे व्यवहारोंमें कोई भी चीज विलक्षण नहीं है, कोई भी चीज, जैसा कि तुम समझते हो, अद्भुत नहीं है। अधिकांश मनुष्योंको ऐसा अनुभव होता है, बहुत थोड़ेसे लोग ही एकदम बच पाते हैं। अवश्य ही, जिन लोगोंमें चैत्य तत्त्व विकसित होता है वे स्वभावसे ही कृतज्ञ होते हैं और इस ढंगसे व्यवहार नहीं करते।

X

अधिकांश मनुष्य, पशुओंकी तरह, प्रकृतिकी शक्तियोंके द्वारा चालित होते हैं; जो भी कामनाएं होती हैं उन्हें चरितार्थ करते हैं, जो भी हृद्गत

आवेग आते हैं उन्हें क्रीड़ा करने देते हैं, जो भी भौतिक इच्छाएं होती हैं उन्हें पूरी करनेकी चेष्टा करते हैं। तब हम कहते हैं कि मनुष्योंके कार्य और अनुभव प्रकृतिद्वारा, और अधिकांशतः प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके द्वारा नियंत्रित होते हैं। शरीर प्रकृतिका यंत्र होता है — वह अपनी प्रकृतिकी आज्ञा मानकर चलता है अथवा कामना, आवेग आदिकी प्राणिक शक्तियोंकी आज्ञा मानकर चलता है।

परन्तु मनुष्यमें मन भी है और, जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वह अपनी बुद्धि और संकल्पशक्तिके द्वारा अपनी प्राणिक और भौतिक प्रकृतिको संयमित करना सीखता है। यह संयम बहुत आंशिक होता है; क्योंकि बुद्धि बहुधा प्राणिक कामनाओं और शारीरिक अज्ञानके द्वारा विभ्रांत हो जाती है और वह उनके पक्षमें आकर अपने विचारों, तर्कों या युक्तियोंके द्वारा उनकी भूलों और भ्रांत क्रियाओंका समर्थन करनेकी चेष्टा करती है। यदि बुद्धि स्वतन्त्र भी होती है और प्राण या शरीरसे यह कहती है कि "इसे मत करो", तो भी प्राण और शरीर बहुत बार उसके मना करनेपर भी स्वयं अपनी गति-विधिका ही अनुसरण करते हैं — मनुष्यकी मानसिक संकल्पशक्ति उन्हें बाध्य करनेके लिये पर्याप्त शक्तिशाली नहीं होती।

जब लोग साधना करते हैं तो उनमें एक ऐसी उच्चतर प्रकृति होती है जो भीतर कार्य करती है, वह चैत्य और आध्यात्मिक प्रकृति होती है और साधकको अपनी प्रकृति चैत्य पुरुष और उच्चतर आत्मा या भगवान्के प्रभावके अधीन छोड़ देनी होती है। केवल प्राण और शरीरको ही नहीं वरन् मनको भी भागवत सत्यको जानना होता है और दिव्य विधानका पालन करना होता है। परन्तु निम्न प्रकृति और अपने ऊपर उसके सतत शासनके कारण आरम्भमें और बहुत दिनोंतक वे अपनी प्रकृतिको पुराने तरीकोंका अनुसरण करनेसे रोकनेमें असमर्थ होते हैं — उस समय भी असमर्थ होते हैं जब भीतरसे वे यह जान जाते हैं या उन्हें बतां दिया जाता है कि क्या करना चाहिये या क्या नहीं करना चाहिये। एकमात्र सतत साधनाके द्वारा, उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक प्रकृतिमें पहुँच जानेपर ही यह कठिनाई अतिक्रांत की जा सकती है; परन्तु अत्यन्त शक्तिशाली और सर्वोत्कृष्ट साधकोंको भी इसे करनेमें दीर्घकाल लग जाता है।

*

भगवान्के लिये या भगवान्की भक्तिके लिये स्पृहा करता एकमात्र ऐसी

कामना है जो व्यक्तिको अन्य सब कामनाओंसे मुक्त कर सकती है — तत्वत: यह कामना नहीं किन्तु एक अभीप्सा है; अन्तरात्माकी एक आवश्यकता, अन्तरतम सत्ताके जीवनका श्वास-प्रश्वास है और ऐसा होनेके कारण इसें कामनाओंमें नहीं गिना जा सकता।

*

"सीधे मार्ग" में कामनाओंको तृप्त करनेके लिये क्या कोई नियत अवधि होती है? यदि कामनाओंपर प्रभुत्व न पा लिया जाय तो सीधी राहपर सीधा कैसे चला जा सकता है?

*

अपनी स्वाभाविक सहज-वृत्तियों और कामनाओंको खुलकर खेलने देना योग नहीं कहलाता। योगकी मांग है प्रकृतिपर प्रभुत्व स्थापित करना, प्रकृतिकी अधीनता स्वीकार करना नहीं।

*

कामना-वासनाओंका योगमें कोई हिस्सा नहीं है, वे उसकी सहायक नहीं हो सकतीं, वे तो महज बाधाएं ही हो सकती हैं। जबतक कामना और अहंकार बने रहते हैं तबतक भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण नहीं हो सकता और न योगमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है। वे प्राणकी क्रियाएं हैं और इससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकतीं।

अहंकार रहित शक्ति एक ऐसी शक्ति है जो स्वार्थके प्रयोजनसे या प्राणिक कामनाओंके लिये अथवा व्यक्तिके अपने मनके विचारोंको क्रियात्मक रूप देनेके लिये कार्य नहीं करती, किन्तु केवल भगवान्की सेवाके लिये और भगवान् के उपकरणके रूपमें ही उसका अस्तित्व है।

*

दावा करना और कामना करना ये दोनों एक ही वस्तुके केवल दो भिन्न-भिन्न रूप हैं — और यह भी आवश्यक नहीं कि कामना होनेके लिये हमारा

भाव विक्षुब्ध या चंचल हो; बल्कि इसके विपरीत वह शान्तिपूर्वक स्थापित और सुदृढ़ हो सकता है अथवा निरन्तर दुहराता रह सकता है। मांग या कामना मनसे या प्राणसे आती है, पर चैत्य या आध्यात्मिक आवश्यकता एक अलग ही वस्तु है। चैत्य पुरुष दावा नहीं करता या कामना नहीं करता — वह अभीप्सा करता है; वह अपने समर्पणके लिये कोई शर्त्त नहीं रखता अथवा अपनी अभीप्सा तुरत तृप्त न होनेपर उसे वापस नहीं ले लेता — क्योंकि चैत्य पुरुषको भगवान् या गुरुपर पूरा भरोसा होता है और वह समुचित समय या भागवत कृपाके क्षणके लिये प्रतीक्षा कर सकता है। चैत्यमें अपना निजी ढंगका आग्रह होता है, पर वह अपना दबाव भगवान्‌पर नहीं डालता, बल्कि प्रकृतिपर डालता है, अपनी ज्योतिकी अंगुलि उन सभी दोषोंपर रखता है जो सिद्धिके मार्गमें बाधक होते हैं, योगके अनुभव या साधनाकी क्रियाओंमें जो कुछ मिला-जुला, अज्ञानपूर्ण या अपूर्ण होता है उसे छांट लेता है और जबतक प्रकृतिको भगवान्‌की ओर पूर्णतः खोल नहीं देता, अहंकारके सभी रूपोंसे मुक्त, सर्मपित, उसके मनोभाव तथा सभी क्रियाओंमें सरल और सही नहीं बना देता तबतक अपनेसे या प्रकृतिसे कभी संतुष्ट नहीं होता। यही चीज है जिसे पूर्ण रूपसे मन, प्राण और भौतिक चेतनामें स्थापित करना होगा और उसके बाद ही समूची प्रकृतिका अतिमानसभावापन्न होना सम्भव होगा। नहीं तो तबतक जो कुछ मनुष्य पाता है वे मानसिक, प्राणिक और भौतिक स्तरोंपर प्राप्त कम या अधिक चमकदार, अर्धालोकित, अर्धमेघाच्छन्न दीप्तियां और अनुभूतियां होती हैं जो या तो किसी वृहत्तर मन या वृहत्तर प्राणसे अनुप्रेरित होती हैं या अधिक-से-अधिक मानवसे ऊपरकी किन्हीं उन मानसिक ऊंचाइयोंसे आती हैं जो बुद्धि और अधिमानसके बीच अवस्थित हैं। कुछ हदतक ये चीजें बहुत उत्तेजक और संतोषप्रद हो सकती हैं और उन लोगोंके लिये अच्छी हैं जो इन स्तरोंपर कुछ आध्यात्मिक उपलब्धि करना चाहते हैं। परन्तु अतिमानसिक सिद्धि इससे बहुत अधिक कठिन चीज है और अपनी शर्त्तोंमें बड़ी कठोर है और सबसे अधिक कठिन है उसे भौतिक स्तरपर उतार लाना।

*

परमात्मामें निवास करनेकी हमेशा दो ही विधियां हैं। एक है पदार्थोंसे चेतनाके सहयोगको पूरी तरह खींच लेना और इतना अधिक अन्दर चले जाना कि व्यक्ति अपनेको जीवनसे पृथक् करके उसके सम्पर्कमें निवास करने लगे जो इस चेतनासे परे है। दूसरी है अपनेको बाह्य रूपोंमें ग्रस्त और लिप्त न

होने देते हुए उस वस्तुको प्राप्त करना जो सब पदार्थोंका सच्चा सार है। कामना, आसक्ति, बाह्य संवेदनोंके आकर्षणोंकी दासता, ये हैं इस क्रियाकी मुख्य बाधाएं। सो इन दोनोंमेंसे किसी भी उपायसे इनसे छुटकारा पाना है। किन्तु बाह्य संवेदनका आकर्षण हट जानेसे पहले भी परमपुरुषका दर्शन हो सकता है—हां, यदि कामना एवं बाह्य आसक्ति रहे तो व्यक्ति उसमें निरापद रूपसे निवास नहीं कर सकता क्योंकि वह व्यक्तिको आन्तर सन्तुलनसे हमेशा दूर हटाती रहती है।

*

सभी साधारण प्राणिक वृत्तियां सच्ची सत्ताके लिये विदेशी चीजें होती हैं और बाहरसे आती हैं; न तो अन्तरात्मासे उनका कोई सम्बन्ध होता है और न वे उसमें पैदा होती हैं, बल्कि वे साधारण प्रकृतिसे आनेवाली लहरें होती हैं।

कामनाएं भी बाहरसे आती हैं, अवचेतन प्राणमें प्रवेश करती और फिर ऊपरी तलपर आ जाती हैं। जब वे ऊपरी तलपर प्रकट होती हैं और मन उनके विषयमें सज्ञान होता है केवल तभी हम कामनाके विषयमें सचेतन होते हैं। वह हमारी अपनी चीज इसलिये प्रतीत होती है कि हम उसे इस प्रकार प्राणसे मनमें उठती हुई अनुभव करते हैं और यह नहीं जानते कि वह बाहरसे आयी थी। जो चीज प्राणकी, हमारी सत्ताकी होती है, जो चीज उसे उत्तरदायी बनाती है वह स्वयं कामना नहीं होती, बल्कि वह है उन लहरों या सुझावोंकी धाराको प्रत्युत्तर देनेकी आदत जो उस (प्राण या सत्ता) में वैश्व प्रकृतिसे आती हैं।

*

कामनाका परित्याग मूलतः लालसाके तत्त्वका ही परित्याग है। उसे स्वयं चेतनासे बाहर इस प्रकार निकाल दिया जाता है मानो वह कोई ऐसा विदेशी तत्त्व हो जिसका सच्चे आत्मा और आन्तरिक प्रकृतिके साथ कोई नाता नहीं। परन्तु कामनाके सुझावोंको प्रश्रय देना अस्वीकार करना भी त्याग-का ही एक अंग है; सुझाये गये कर्मसे विरत रहना भी, यदि वह समुचित कर्म न हो तो, यौगिक अनुशासनमें सम्मिलित होना चाहिये। इसे जब गलत तरीकेसे, मानसिक संयमके सिद्धांतके द्वारा अथवा कठोर नैतिक नियमके द्वारा

किया जाता है केवल तभी इसे दमन कहा जा सकता है। दमन और आन्तरिक अपरिहार्य त्यागके बीच वही भेद है जो भेद मानसिक या नैतिक संयम और आध्यात्मिक शुद्धीकरणमें है।

जब मनुष्य सत्य-चेतनामें निवास करता है तो वह कामनाओंको अपनेसे बाहर, बाहरसे, वैश्व निम्न प्रकृतिसे आकर मन और प्राण-भागमें प्रवेश करते हुए अनुभव करता है। सामान्य मनुष्यकी स्थितिमें यह ऐसा अनुभूत नहीं होता; मनुष्य कामनाके विषयमें केवल तभी सचेतन होता है जब वह वहां विद्यमान होती है, जब वह भीतर आ चुकती है और एक स्थान बना लेती है अथवा अभ्यासजन्य प्राप्त स्थान पा जाती है और इस कारण वे समझते हैं कि वह उनकी अपनी चीज है और उनका ही एक अंग है। कामनासे मुक्ति पानेकी इसलिये पहली शर्त्त यह है कि सच्ची चेतनाद्वारा सचेतन हुआ जाय; क्योंकि तब उसे बरखास्त कर देना उस अवस्थाकी अपेक्षा बहुत अधिक आसान हो जाता है जब मनुष्यको उससे संघर्ष करना पड़ता है मानों वह उसीके स्वरूपका एक ऐसा अंग हो जिसे सत्तासे बाहर निकाल फेंकना है। जिसे हम अपने ही स्वरूपका अंश अनुभव करते हैं उसे काट फेंकनेकी अपेक्षा किसी बाहरसे आकर जुड़ी हुई चीजको दूर फेंक देना अधिक आसान होता है।

जब चैत्य पुरुष सामने होता है तब भी कामनासे छुटकारा पाना आसान हो जाता है; क्योंकि स्वयं चैत्य पुरुषमें कोई कामना नहीं होती; उसमें केवल भगवान्‌के लिये और उन सभी चीजोंके लिये जो भगवान्‌की होतीं या भगवान्‌की ओर ले जाती है, अभीप्सा और खोज और प्रेम होता है। चैत्य पुरुषका निरन्तर प्रमुख बना रहना अपने-आप सत्य-चेतनाको प्रकट करनेकी तथा प्रायः अपने-आप प्रकृतिकी क्रियाओंको ठीक कर देनेकी प्रवृत्ति रखता है।

*

कामनासे पूरी तरह छुटकारा पानेमें बहुत समय लगता है। परन्तु एक बार यदि तुम इसे प्रकृतिसे बाहर निकाल सको और यह अनुभव कर सको कि यह बाहरसे आनेवाली एक शक्ति है और प्राणिक तथा भौतिक सत्तामें अपने पंजे गड़ा देती है तो इस आक्रामकसे मुक्त होना अधिक आसान हो जायगा। तुम्हें इसे अपनी सत्ताका एक अंग या अपने अन्दर जड़ जमाया हुआ अनुभव करनेका बहुत अधिक अभ्यास हो गया है—इसके कारण इसकी क्रियाओंको साथ निपटना और अपने ऊपर स्थापित इसके पुराने नियंत्रणको दूर हटाना तुम्हारे लिये अधिक कठिन हो गया है।

तुम्हें अकेले किसी दूसरी चीजपर, चाहे वह जितनी भी सहायक क्यों न प्रतीत हो, निर्भर नहीं करना चाहिये, बल्कि मुख्यतया, प्रथमतया और मूलतया श्रीमाताजीकी शक्तिपर निर्भर करना चाहिये। सूर्य और ज्योति सहायक हो सकते हैं और होंगे यदि वे सच्ची ज्योति और सच्चा सूर्य हों, पर वे श्रीमाताजीकी शक्तिका स्थान नहीं ले सकते।

*

यह अच्छा ही है। कोई भी व्यक्ति कामनाओंसे आसानीसे मुक्त नहीं हो सकता। सबसे पहले तुम्हें यह करना है कि तुम उन्हें अपनेसे बाहरकी वस्तु बना दो, उन्हें बाहर, सतहपर धकेल दो और आन्तर अंगोंको शान्त और निर्मल बना लो। बादमें जाकर उन्हें बाहर फैंका जा सकता है और उनके स्थानपर सच्ची वस्तुको, भगवान्के संकल्पके साथ एकाकार हुए प्रसन्न एवं प्रकाशमय संकल्पको स्थापित किया जा सकता है।

*

साधककी आवश्यकताएं यथासंभव कम ही होनी चाहियें, क्योंकि ऐसी चीजें बहुत कम ही होती हैं जिनकी जीवनमें सचमुच आवश्यकता पड़ती हो। बाकी चीजें या तो उपयोगिताके कारण काममें लाई जाती हैं या जीवनको सजानेके लिये या विलासिताके लिये व्यवहृत होती हैं। योगीको इन चीजोंको रखने या भोग करनेका अधिकार केवल नीचे लिखी हुई दो अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थामें होता है :-

1. अगर वह अपने साधनाकालमें इनका व्यवहार एकमात्र इस उद्देश्यसे करता है कि उसे आसक्ति और कामनासे रहित होकर चीजोंको अधिकृत करनेका अभ्यास हो और वह यह सीख सके कि किस तरह यथार्थ रूपमें, भागवत संकल्पके साथ सामंजस्य रखकर, समुचित व्यवहार करते हुए तथा यथार्थ संगठन, शृंखला और परिमाणमें चीजोंका उपयोग किया जाता है।

अथवा 2. अगर वह कामना और आसक्तिसे वास्तवमें मुक्ति पा चुका हो और इन चीजोंकी हानिसे, उनके न मिलनेसे या उनसे वंचित हो जानेसे किसी भी तरह जरा भी विचलित या विक्षुब्ध न हो। अगर उसे किसी प्रकारका लोभ होता हो, कोई कामना होती हो, किसी चीजकी वह मांग करता हो, किसी अधिकार या भोगके लिये दावा करता हो, कोई चीज न मिलनेपर या

किसी चीजसे वंचित हो जानेपर उसे चिंता, शोक, क्रोध अथवा बेचैनी होती हो तो इसका मतलब है कि उसकी चेतना मुक्त नहीं हुई है और जो चीजें उसके अधिकारमें हैं उनका उपयोग करना उसके लिये साधनाके विपरीत है। और, अगर उसकी चेतना मुक्त भी हो गई हो तो भी, वह तबतक चीजोंको रखनेका अधिकारी नहीं हो सकता जबतक कि वह यह न सीख जाय कि किस तरह चीजोंको अपने लिये नहीं, बल्कि भागवत संकल्पके अनुसार, उसके एक यंत्रके रूपमें, व्यवहारसम्बन्धी ठीक-ठीक ज्ञान और क्रियाको जानते हुए उपयोग किया जाता है, किस तरह उस जीवनको समुचित साधनोंसे सम्पन्न किया जाता है जो अपने लिये नहीं, बल्कि भगवान्‌के लिये और भगवान्‌में यापन किया जाता है।

*

यदि अपनी कामनाओंका अनुसरण करना ही एकमात्र करने योग्य कार्य होता तो निश्चय ही यह बड़ा आसान होता; परन्तु अपनी कामनाओंके द्वारा शासित होनेको योग नहीं कहते।

आवश्यकता और आकांक्षा एक चीज नहीं हैं। वे लोग जो उसके बिना उतने दिनों अपना काम चला सके यह तथ्य सूचित करता है कि वह उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी।

*

कामना एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है, और यह अपनेको "सच्ची आवश्यकता" के साथ तथा अन्य ऐसी वस्तुओंके साथ जोड़ सकती है जो वस्तुतः सच्ची आवश्यकताएं न हों। व्यक्तिको सच्ची आवश्यकताओंके पास भी कामना रहित भावसे ही जाना होगा। यदि उसे वे आवश्यक वस्तुएं न मिलें तो भी उसे कुछ महसूस नहीं करना चाहिये।

*

जहांतक असुविधाओंका प्रश्न है, तुम्हें उन्हें समताकी साधनाके रूपमें लेना चाहिये। यदि व्यक्ति योगके सच्चे हार्दमें प्रवेश करना चाहता हो तो उसके लिये असुविधाओंको झेल सकना एक अत्यन्त प्रारम्भिक आवश्यकता है।

*

चाहे संन्यासी हो या अ-संन्यासी, योगीको, साधकको प्राणिक कामनासे अवश्य मुक्त होना चाहिये और आध्यात्मिक रूपमें अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रभु होना चाहिये—और उसके लिये उसे अहंकार, कामना और द्वन्द्वोंसे मुक्त होना चाहिये। मैं बराबर यह बिलकुल स्पष्ट शब्दोंमें कहता रहा हूँ कि कामनाको प्रश्रय देना जैसे संन्यासका कोई अंग नहीं है वैसे ही इस योगका भी कोई अंग नहीं है। साधकको भौतिक वस्तुओं और भौतिक जीवनको संभालना और उपयोगमें लाना चाहिये, पर लाना चाहिये आध्यात्मिक चेतनासे, न कि प्राणिक अहंके स्तरसे।

*

सबकुछ भगवान्‌का है—कोई अहंभाव या कामना नहीं होनी चाहिये—होने चाहियें केवल भगवान् और उनकी ज्योति, ज्ञान, शक्ति, आनन्द और कार्य। परन्तु यह सब ऊपरसे आना चाहिये, मिश्रित निम्नतर वैश्व शक्तियोंसे नहीं।

*

सभी वस्तुएं भगवद् रूप हैं क्योंकि भगवान् उनमें विद्यमान हैं, किन्तु प्रच्छन्न रूपमें न कि प्रकट रूपमें ; जब मन वस्तुओंकी ओर गति करता है तो इस भावसे नहीं कि उनमें भगवान् विद्यमान हैं किन्तु केवल उन बाह्य रूपोंके लिये जो भगवान्‌को छिपाये रहते हैं। इसलिये साधकके रूपमें तुम्हारे लिये यह आवश्यक है कि तुम उन माताजीके प्रति पूरी तरहसे अभिमुख हो जाओ जिनमें भगवान् प्रकट हुए हैं और ऐसे बाह्य रूपोंके पीछे न दौडते रहो जिनकी कामना करना या जिनमें अभिरुचि रखना तुम्हें भगवान्‌के साथ मिलनेसे रोकता हो। एक बार सत्ताके निवेदित हो जानेपर मन भगवान्‌को, सर्वत्र देख सकता है और तब यह बिना किसी पृथक् व्यक्तिगत रुचि या कामनाके सब वस्तुओंको एक ही चेतनामें समाविष्ट कर सकता है।

*

साक्षात्कारके बाद उच्चतर संकल्प जो कुछ भी मांग करता है वह सब उत्तम ही होता है—किन्तु सबसे पहला नियम है अनासक्ति। साधना और

विकासके बिना मुक्ति प्राप्त करना विरलोंके भाग्यमें ही होता है।

*

यह ठीक है कि महज दमन या कामनाको नीचे दबा रखना पर्याप्त नहीं है, स्वयं अपने-आपमें यह वास्तवमें फलदायक भी नहीं है, परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कामनाओंको तृप्त करना चाहिये; इसका अर्थ यह है कि कामनाओंका महज दमन ही नहीं करना है, बल्कि प्रकृतिमेंसे परित्याग कर देना है। कामनाके स्थानमें भगवान्‌के प्रति अनन्य अभीप्सा होनी चाहिये।

प्रेमका जहांतक प्रश्न है, प्रेम एकमात्र भगवान्‌की ओर ही मुड़ना चाहिये। मनुष्य जिस चीजको इस नामसे पुकारते हैं वह होती है कामनाकी, प्राणिक आवेग या भौतिक सुखकी पारस्परिक तृप्तिके लिये प्राणिक आदान-प्रदान। साधकोंके बीच इस प्रकारके आदान-प्रदानका कुछ भी अंश नहीं आना चाहिये; क्योंकि इसकी चाह या इस प्रकारके आवेगकी तृप्ति महज साधनासे बाहर निकाल ले जाती है।

*

तुम्हारा सिद्धांत गलत है। प्राणिक आवेगको खुलकर प्रकट होने देनेपर कुछ समयतक प्राणको शान्ति मिल सकती है, परन्तु उसके साथ-ही-साथ उस आवेगको लगातार वापस आते रहनेका अधिकार भी मिल जाता है। वह कम बिलकुल नहीं होता। सूक्ष्म रूपमें आन्तरिक तृप्तिके द्वारा दमन करना उसका कोई प्रतिकार नहीं है, पर बाहरी भोगमें उसे व्यक्त होने देना उससे भी कम ही प्रतिकार है। यदि कोई पूर्ण संयम प्राप्त करनेके लिये दृढ़संकल्प हो और संयम महज दमन न हो बल्कि आन्तरिक और बाह्य परित्याग हो तो आवेगके व्यक्त हुए बिना अग्रसर होते रहना पूर्णतः सम्भव है।

*

ऐसा लगता है कि प्राणिक कामनाके स्वभावके विषयमें तुम्हें सही धारणा नहीं है। प्राणिक कामना प्रश्रय देनेपर बढ़ती है, वह तृप्त नहीं हो जाती। यदि तुम्हारी कामनाको प्रश्रय दिया जाय तो वह अधिकाधिक बढ़ना आरम्भ कर देगी और अधिकाधिक मांगेगी। साधकोंके साथ हमारा निरन्तर यह अनुभव

रहा है और कामनाके विषयमें जो कुछ सर्वदा ज्ञात होता रहा है उसीकी यह पुष्टि करता है। कामना और ईर्ष्याको चेतनासे बाहर निकाल फेंकना होगा —उनके साथ व्यवहार करनेका दूसरा कोई तरीका नहीं है।

*

यदि (कामनाको) भोजन देनेकी अस्वीकृतिके साथ-साथ सत्ताके अधिकांश भागमें अनासक्ति भी बनी रहे तो उसे अवश्य ही निग्रह या दमन नहीं कहा जा सकता। निग्रह और आत्मसंयममें यही अन्तर है कि एक कहता है कि "मैं कामना करना तो नहीं बन्द कर सकता पर मैं अपनी कामनाको तृप्त नहीं करूँगा", जब कि दूसरा कहता है कि '"मैं कामना करना और साथ ही कामना-को तृप्त करना दोनों अस्वीकार करता हूँ।"

*

निग्रहका अर्थ है क्रियाका निरोध, किन्तु केवल रोकी हुई क्रिया महज महज स्थगित ही की गई होती है—अपनेको इस क्रियासे विलग करके उसे अस्वीकृत या बहिष्कृत कर देना अधिक अच्छा है।

*

प्राण जिस चीजके लिये लालायित होता है वही उसके लिये वांछनीय होती है—पर कामनाका त्याग करना ही होगा। "मैं कामना नहीं करूँगा", यह कहना बिलकुल उचित बात है, भले ही अभी प्राणके लिये यह कहना सम्भव न हो कि "मैं कामना नहीं करता।" फिर सत्तामें एक चीज ऐसी है जो यह भी कह सकती है कि "मैं कामना नहीं करती," और प्राणिक कामनाको सच्ची सत्ताके अंगके रूपमें मानना अस्वीकार कर सकती है। यही वह चेतना है जिसे शान्ति और शक्ति ले आती हैं और जिसे सच्चा 'मैं' मानना होगा और सम्मुख भागमें स्थायी बनाना होगा।

*

प्राण-पुरुषको सर्वदा ऐसी चीजें खोज निकालनेकी आदत होती है जिनसे

कि वह मनको समझाता और अपनी कामनाओंका समर्थन करता है। और फिर परिस्थितियां भी सामान्यतया ऐसा रूप ले लेती हैं कि वे और भी अधिक उसका समर्थन करती हैं। क्योंकि हमारे भीतर जो कुछ होता है वह हमारे बाहर परिस्थितियां उत्पन्न करता है। बस, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुम्हें भविष्यमें आन्तरिक रूपसे एक भिन्न मनोभाव ग्रहण करना चाहिये।

*

निःसंदेह — प्राण दुष्तृप्त्य है। केवल दो वस्तुएं हैं जो उसे बाधा देती हैं —शरीरकी सीमाएं तथा मनकी असम्मति — परन्तु इनमेंसे दूसरी चीज बराबर नहीं रहती। अवश्य ही चैत्य पुरुषके हस्तक्षेप करनेकी सम्भावना भी रहती है, पर उसके प्रति प्राण केवल एक विशेष स्तरपर ही खुला होता है। अतएव शरीर ही ऐसा होता है जो अधिक मनुष्योंके लिये एकमात्र प्रतिबन्ध होता है।

*

कामनाओंसे एकदम तुरत छुट्टी पा जाना कठिन है — यदि उचित कामनाओंका प्राबल्य हो तब तो उससे अन्तिम विजय पहले ही सुनिश्चित हो जाती है। इसलिये इसके कारण संतप्त मत होओ। ये चीजें धीरे-धीरे परिवर्तनके मार्गका अनुसरण करती हैं — और, यदि प्रगति आरम्भ हो गयी है तब साधनाके परिणामके विषयमें निश्चयताका एक मौलिक बोध हो सकता है तथा इस बातका शान्त दर्शन हो सकता है कि क्या करना चाहिये, क्योंकि उसका होना सुनिश्चित है।

*

तुम्हें जो सूक्ष्म दर्शन हुआ है उसका अर्थ केवल यह है कि जब तुम किसी वस्तुको कसकर पकड़ लेते हो और अधिकारमें लानेके आहंकारिक भावके साथ उसे अपना बनानेकी चेष्टा करते हो, तो वह चाहे कितनी ही रमणीय और अद्भुत क्यों न हो, अपना मूल्य गंवा बैठती है और मामूली चीज बन जाती है।

*

बहुधा यह अनुभव होता है कि जब मनुष्य किसी चीजके लिये अपनी कामनाका हठ छोड़ देता है तो स्वयं वह चीज आ उपस्थित होती है। समुचित मनोभाव है भागवत इच्छाके लिये प्रतीक्षा करना और केवल उसे ही चाहना —कामना बराबर ही विक्षोभ उत्पन्न करती है और उसकी तृप्ति भी संतोष नहीं प्रदान करती। अभीप्सा एक दूसरी ही चीज है। दो अवस्थाओंके बीच झूलनेकी जो बात तुमने लिखी है वह भौतिक चेतनामें होनेवाले संघर्षका चिह्न है—वहांपर दिव्य शान्ति और शक्तिको स्थापित कर उनके द्वारा इसका अन्त कर देना चाहिये, तब दूसरी चीज भी विलीन हो जायगी।

*

तुम्हारे सामने यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिये कि दो विपरीत चीजें क्या हैं, वे दो चीजें क्या हैं जिनका सामना प्रत्येक साधकको करना पड़ता है। एक तो है पार्थिव अहंजन्य कामनाकी उग्रता जो केवल अस्तव्यस्तता और और दुःख-दैन्य ले आती है और दूसरी है शान्ति, शक्ति, हर्ष, ज्ञानकी ज्योति जो तुम्हारे अन्दर विद्यमान दिव्य वस्तु है और जिसे तुम्हारे अन्दर स्थापित करनेका प्रयास हम कर रहे हैं। जब तुम अपनेको उचित पक्षमें ले आते हो तो सारी बातें आसान हो जाती हैं; जब तुम हिचकिचाते हो और विभक्त रहते हो तब द्विविध स्थिति उत्पन्न हो जाती है; जब तुम्हारे अन्दर कोई चीज कामनाओंको ग्रहण करती और उनसे चिपक जाती है तब सब कुछ बिगड़ जाता है। तुम्हें सर्वदा अपनी पसन्दका झुकाव समुचित दिशामें रखना सीखना चाहिये। निश्चय ही मैं गलत इच्छाको बदल देने और उसके स्थानमें सही इच्छाको रख देनेके लिये सब कुछ करूँगा—जो कुछ बाधा या कठिनाई है उसे बराबर दूर करूँगा।

*

भय फिर भौतिक चेतनाका या उसमें विद्यमान प्राणिक अंशका भय है —वह डरता है कि वह यदि कामनाको छोड़ देगा तो सब कुछ—अथवा जो कुछ वह चाहता है—खो देगा और फिर बदलेमें वह कुछ नहीं अथवा कम-से-कम जो कुछ वह चाहता है वह कुछ भी नहीं पायेगा। वह यह नहीं अनुभव करता कि वह इस क्षुब्ध कामना और इसके संदिग्ध तथा अनिष्टकर फलोंके बदले कोई बहुत बड़ी, अधिक शक्तिशाली और सुखकर वस्तु पायेगा

—क्योंकि वह कामनाको ही जीवनका एकमात्र सम्भव हेतु माननेका अभ्यासी रहा है। वह यह नहीं जानता कि भागवत शक्ति बहुत अधिक महान् चीजें और अधिक सुखी जीवन ले आनेवाली अपनी ज्योति, शक्ति और आनन्दके साथ यहां अवतरित होनेके लिये प्रतीक्षा कर रही है। जब यह भाग आलोकित किया जा सकेगा तथा सच्चाईके साथ परिवर्तनकी इच्छा करनेके लिये राजी कर लिया जायगा तब एक महान् कठिनाई, निःसंदेह केंद्रीय कठिनाई, दूर हो जायगी।

*

पुरानी प्राणिक प्रकृति ही जो यह अनुभव करती है कि उसकी मानवीय सांसारिक कामनाएं तृप्त नहीं होंगी, इस चीजको इस रूपमें ले रही है। इस सबमें रस नहीं लेना चाहिये किन्तु इसे अस्वीकार करना और झाड़-बुहारकर बाहर फैंक देना चाहिये। इसके स्थानपर लाना होगा एक ऐसी विशालताको जिसमें एक स्वयंभू शान्ति और तृप्ति होती है और उस शान्ति और विशालतामें माताजीकी महत्तर शान्ति, शक्ति, प्रकाश, ज्ञान और आनन्द अवश्य आयेंगे।

*

तुम्हारे अपने आध्यात्मिक विकासकी एक नई भूमिका तुम्हारे सामने खुली थी और अब भी खुली है। यह उपलब्धिको सिद्ध कर सके, इसके लिये तुम्हें पहले दो दिशाओमें आगे बढ़ना होगा। पहलीके लिये हम पहले ही तुम्हें बलपूर्वक कह चुके हैं अर्थात् उन प्राणिक वासनाओंपर विजय प्राप्त करना जो तुम्हें निम्न क्रियाओंसे जोड़े हुए थी और तुम्हारे निम्नतर प्राण एवं तुम्हारे शरीरपर विरोधी शक्तिके दबावको आमन्त्रित करती थी, और अपने प्राण और शरीरका केवल उस एकमेवके प्रति समर्पण। दूसरी दिशा है, इन भागोंमें पूर्ण स्थिरता, सामर्थ्य और समताका अवतरण जिससे तुम जीवन और उसकी कठिनाइयोंको जीत सको और भगवान्के लिये कार्य कर सको। यह स्थिरता और सामर्थ्य तुम्हारे मन और उच्चतर प्राणमें अनेक बार अवतरित हुई, पर ये भाग तबतक बहुत अधिक निर्बलता आसक्ति और भोग-विलासके प्रति खुले थे। यदि कोई आध्यात्मिक कर्मका नेता और स्वामी होना चाहता हो तो इन सबको हटना होगा। अपने पहले जीवनमें तुमने इन चीजोंको बहुत अधिक आश्रय दिया और बराबर बना रहने दिया; अपने वर्तमान जीवनमें

तुम्हें भगवान्‌की शक्तिके साथ एकाकी रहनेका और अन्तरात्माके आन्तरिक सामर्थ्य द्वारा जीवनका मुकाबला करनेका तथा परिस्थितियोंका स्वामी बननेका एक अवसर प्राप्त हुआ है। बाह्य कठिनाइयों या असुविधाओंको तुम्हें ऐसा करने देना नहीं चाहिये कि वे तुम्हें भयभीत या उदास कर दें। आन्तर कठिनाइयोंका भी अनासक्ति, शान्ति, समता और विजयके अविचल संकल्पके साथ मुकाबला करना चाहिये।

शेष बातोंके विषयमें तुमने यह ठीक ही कहा है कि "यदि मिथ्यात्व या अन्य कोई कष्ट या कठिनाई मेरा सामना करे तो मुझे अपनी समचित्तता और भगवान्‌के पथप्रदर्शनमें श्रद्धा बनाये रखनी होगी"। जिस त्रुटिने शारीरिक और अन्य कष्टोंके लिये मार्ग खोल दिया, यह थी —— प्राणको जीतने और सरल एवं उच्च मार्गका अनुसरण करनेके लिये दृढ़ संकल्प करनेमें तुम्हारा डांवाडोल होना और इस दोषके परिणाम स्वरूप यह उत्कट निराशा उत्पन्न हुई जो अपने पीछे अवसाद लाई। इन्हें बिलकुल समाप्त हो जाने दो और फिर इस तरह उभरने न दो। आध्यात्मिक स्थिरता एवं सामर्थ्य तथा अपनी सारी शक्तियोंका भगवान्‌के प्रति निवेदन ही तुम्हारे लिये निरापद मार्ग है और तुम्हें अब उसका ही अटल रूपसे अनुसरण करना होगा।

*

यह फिर वही पुरानी थोथी कल्पना है जो प्राणिक प्रकृतिकी नेतृप्त वासनाओंके उभरनेसे उद्दीप्त हुई है। स्पष्ट ही वासनाकी अशुद्धवृत्ति अपने लिये मौका खोज रही थी और उसने पुराने प्राणको उभरने और अपने अभ्यास-गत व्यापारोंमें लग जानेका मौका भी दिया। यह भी स्पष्ट है कि नीचेसे उठनेवाली वासनाके दबावने ही आनन्दको हटा दिया। चैत्य आनन्द और शोरशराबा एवं शिकायत करनेवाले प्राणकी कामना साथ-साथ नहीं रह सकते। यदि कामना उभरती है तो आनन्द पीछे हटनेको बाध्य हो जाता है —— ऐसा तभी होता है यदि तुम ठीक समयपर, कामनाका परित्याग न कर दो और उसके साथ कोई भी समझौता करना अस्वीकार न कर दो। विशेषकर जब माताजी तुम्हें विशालता, शान्ति और तीव्र आनन्द प्रदान कर रही थी, तब यह अत्यधिक अयुक्तियुक्त बात थी कि तुम किसी बाह्य कामनाको स्थान दो और इसके लिये सब कुछ बलिदान कर दो।

*

जब परिस्थिति बिगड़ जाती है तब अवसादके वशीभूत हो जाना कठिनाईका सामना करनेका सबसे बुरा तरीका है। तुम्हारे अन्दर कहीं कोई कामना या मांग, चेतन या अवचेतन, अवश्य होगी जो तृप्ति न पानेके कारण उत्तेजित होती और विद्रोह करती है। सबसे उत्तम पथ है उसके विषयमें सचेतन होना, शान्तिके साथ उसका मुकाबला करना और दृढ़तापूर्वक उसे निकाल फेंकना।

यदि निम्नतर प्राण (केवल मन ही नहीं) स्थायी रूपसे ऐसा निश्चय कर ले कि सब प्रकारकी कामनाएं और मांगें दिव्य सत्यकी विरोधिनी हैं और उनकी कभी इच्छा न करे तो ये चीजें बहुत शीघ्र वापस आनेकी अपनी शक्ति खो देंगी।

*

अपने मन और प्राणको दिव्य सत्यसे सराबोर कर दो और अचंचल तथा स्थिर बने रहो। असंतुष्ट कामनासे ही सारे कष्ट उद्भूत होते हैं; कामना-विरहित शान्तिपर अपना आसन जमाओ। जब वह (शान्ति) आ जायगी तब भागवत सत्य, प्रेम और आनन्दकी बाकी सभी चीजें आ सकतीं और उसपर सुरक्षित रूपसे स्थापित हो सकती हैं।

*

तुमने उन सब बातोंके विषयमें ठीक ही किया है। ये छोटी-छोटी कामनाएं बाहरी चेतनाके परिवर्तनमें बहुत बड़ी बाधाएं खड़ी करती हैं और यदि वहां रूपान्तरके कार्यमें रुकावट नहीं आने देनी है तो सत्ताको उनसे मुक्त होना ही होगा।

*

सच पूछो तो प्राणिक-भौतिक सत्ता इन सुझावोंको ग्रहण करती और इन कामनाओंकी अनुगत होती है। तुम्हारा इस समय कर्तव्य है यथार्थ प्राणके समूचे क्षेत्रमें चेतनाको नीचे उतार लाना जिसमें कि केवल मन ही नहीं बल्कि स्वयं प्राण भी इन कामनाओंका त्याग कर दे। उस अवस्थामें प्राणिक-भौतिक कामनाएं अपनी आधी शक्ति खो देंगी।

*

यदि शान्ति और शक्ति जो सिरके ऊपर और वक्षस्थलमें काम कर रही थी, नाभि और उसके नीचे उतर आई है तो यह इस बातका संकेत है कि वे अब केवल मन और भावना-प्रधान सत्तापर ही काम नहीं कर रही किन्तु पूरी तरह प्राणपर भी।—यह एक बड़ी प्रगति है।

वे कामनाएं जिनका तुम निर्देश कर रहे हो, सूक्ष्म भौतिक चेतनामें स्थिर प्राणमय भौतिक स्तरकी कामनाएं है—वार्तालापकी प्रबल प्रवृत्ति, अनिवार्य भूख, प्यास आदि। पूर्ण प्राणमय भौतिक और सूक्ष्म भौतिक सत्तामें यहांतक कि निम्नतम स्तरोंमें भी पूर्ण शान्ति और नीरवता उस समग्र परिवर्तन-के लिये आवश्यक है जो हमें करना है। तुम जिस तापकी बात कहते हो वह प्राणमय भौतिक कामनाके इस सूक्ष्म तत्वका ताप है जिसका अस्तित्व अपने लिये है, न कि शरीरकी यथार्थ आवश्यकताओंके लिये—इसीलिये भौतिक तृप्ति इसे क्षीण नहीं कर पाती।

निम्न-प्राण-सत्ताकी ये छोटी-छोटी आदतें ही वे चीजें हैं जो सुधारका विरोध करनेके लिये सारी शक्ति संग्रह करती हैं और चेतनाको अधिकृत कर लेनेका प्रयास करती हैं। जब वे आती हैं तब तुम्हें उनसे अपनी चेतनाको पूरी तरह पृथक् कर लेना सीख लेना चाहिये जिसमें कि वे जब प्रबलताके साथ आयें तो भी वे चेतनापर अधिकार जमानेमें समर्थ न हों या कोई अनुमति न प्राप्त कर सकें।

*

शरीरस्थ प्राण, यदि मौका पाता है तो, बड़ी आसानीसे अपनी पुरानी तुच्छ आदतोंमें जा गिरता है। वहीं ये आदतें चिपकी रहती हैं। ये पूर्ण रूपसे केवल तभी दूर होती हैं जब वह भाग समत्व प्राप्त कर लेता तथा सरल-स्वाभाविक रूपमें सभी कामनाओंसे मुक्त हो जाता है।

*

भौतिक प्राणकी ये आदतें अपनी क्रियामें प्रायः स्वतःचालित होतीं हैं और इस स्वतःचालित, लगभग पुनरावर्तनशील क्रियासे बाहर निकलनेके लिये या तो बहुत प्रबल संकल्पशक्तिकी आवश्यकता होती है या आत्मानुशासनके एक सतत प्रयासकी। इसलिये तुम्हें इस कठिनाईसे हतोत्साह नहीं होना चाहिये,

बल्कि आवश्यक धैर्यके साथ इसके विलुप्त हो जानेके लिये अपनी संकल्पशक्तिका दबाव डालते रहना चाहिये।

XI

क्रोध इतने वेगसे जो आता है यह तथ्य ही यह सूचित करनेके लिये पर्याप्त है कि वास्तवमें क्रोध तुम्हारे अन्दर नहीं है बल्कि वह बाहरसे आता है। क्रोध विश्व-प्रकृतिसे आनेवाला शक्तिका एक तीव्र प्रवाह है जो व्यक्तिको अपने अधिकारमें कर लेनेकी कोशिश करता है और उस व्यक्तिसे उसके अन्दर विद्यमान अन्तरात्माकी इच्छाके अनुसार नहीं बल्कि इस बाहरी शक्तिकी इच्छा-के अनुसार कार्य करानेकी चेष्टा करता है। ये सब चीजें साधनाके क्रममें आती हैं क्योंकि साधक अपनेको निम्न प्रकृतिसे मुक्त कर रहा है तथा श्रीमाता-जीकी ओर मुड़ने और उनकी दिव्य चेतना और उच्चतर प्रकृतिमें निवास करनेका प्रयास कर रहा है। निम्न प्रकृतिकी शक्तियां इसे नहीं चाहतीं और इसलिये वे अपने शासनको पुनः प्राप्त करनेके लिये इन सब प्रवाहोंको प्रेषित करती हैं। जब वे आते हैं तब यह आवश्यक है कि तुम भीतर स्थिर-अचंचल बने रहो, श्रीमाताजीको याद करो, उन्हें पुकारो और क्रोध या जो कुछ भी दूसरी चीज आये उसका त्याग करो, चाहे जब भी वे आयें या चाहे बार-बार ही क्यों न आयें। यदि ऐसा किया जाय तो ये शक्तियां आक्रमण करनेकी अपनी शक्ति खोना आरम्भ करने लगती हैं। यदि कोई स्पष्ट रूपमें उन्हें अपनेसे बाहरी और विदेशी शक्तियां अनुभव करे तो फिर वैसा करना अधिक आसान हो जाता है। परन्तु तुम यदि वैसा अभी अनुभव न कर सको तो भी जब वे प्रवेश करें तब मनको यह भावना अवश्य बनाये रखनी चाहिये और उन्हें अपने स्वभावका अब अंग मानना अस्वीकार कर देना चाहिये। श्रीमाताजीके कठोर होनेकी भावना निःसंदेह एक सुझाव थी, वह सुझाव आक्रमणकारी शक्तिके साथ आया था जिसमें कि वह (सुझाव) उसे प्रवेश करनेमें सहायता कर सके। ऐसे सुझाव बहुतसे साधकोंके पास आते हैं......और उनके लिये बहुत अधिक अशान्तिके कारण होते हैं। ऐसे सुझावोंको तुरत बड़ी दृढ़ताके साथ त्याग देना चाहिये।

*

वास्तवमें देखा जाय तो ये अज्ञानपूर्ण प्राणिक क्रियाएं बाहर, अज्ञ विश्व-

प्रकृतिमें उद्भूत होती हैं; मनुष्य अपनी सत्ताके मन, प्राण और शरीरके ऊपरी भागोंमें बाहरसे आनेवाली इन लहरोंको कुछ प्रत्युत्तर देनेकी आदत बना लेता है। बस, इन प्रत्युत्तरोंको ही वह अपना निजी स्वभाव (क्रोध, कामना, काम-वासना आदि) मान लेता है और समझता है कि वह अन्यथा नहीं हो सकता। परन्तु बात ऐसी नहीं है; वह बदल सकता है। उसके भीतर अधिक गहराईमें एक दूसरी चेतना है, उसकी सच्ची आन्तर सत्ता है, जो उसका यथार्थ स्वरूप है, पर है बाह्य प्रकृतिके द्वारा ऊपरसे आच्छादित। इसे साधारण मनुष्य नहीं जानता, पर योगी जैसे-जैसे अपनी साधनामें प्रगति करता है, इसके विषयमें सचेतन होता है। साधनाद्वारा जैसे-जैसे यह आन्तर-सत्ता-विषयक चेतना बढ़ती है वैसे-वैसे ऊपरतलीय प्रकृति और उसके प्रत्युत्तर बाहर फेंक दिये जाते हैं और उनसे पूर्ण मुक्ति मिल सकती है। परन्तु अज्ञ विश्वप्रकृति उन्हें जाने देना नहीं चाहती और पुरानी वृत्तियोंको साधकके ऊपर फेंकती तथा फिरसे उन्हें भीतर पहुँचानेकी कोशिश करती है; अभ्यासके वश बाहरी प्रकृति पुराने प्रत्युत्तर दे देती है। यदि मनुष्यको यह पक्का ज्ञान प्राप्त हो सके कि ये चीजें बाहरसे आती हैं और स्वयं उनका कोई यथार्थ अंग नहीं हैं तो ऐसे वापस आनेवाली चीजोंको निकाल फेंकना उसके लिये अधिक आसान हो जाता है, अथवा यदि वे अधिकार जमा चुकी हों तो वह उनसे बहुत शीघ्र मुक्ति पा सकता है। यही कारण है कि मैं बार-बार यह कहता हूँ कि ये चीजें तुम्हारे अन्दर नहीं उठतीं, बल्कि बाहरसे आती हैं।

*

मैं समझता हूँ तुम्हारी बराबर ही यह भावना रही है कि किसी आवेग या वृत्तिको प्रकट होने देना ही उससे छुट्टी पानेका उत्तम या यहांतक कि एकमात्र तरीका है। परन्तु यह एक गलत भावना है। यदि तुम क्रोधको प्रकट होने देते हो तो तुम क्रोधके बार-बार आनेकी आदतको दीर्घजीवी बनाते हो या उसे अनुमति देते हो; तुम न तो उस आदतको कम करते हो और न उससे मुक्त होते हो। प्रकृतिमें विद्यमान क्रोधकी शक्तिको दुर्बल बनाने और बादमें उससे एकदम छुटकारा पानेका एकदम प्रथम पग है उसकी सब प्रकारकी अभिव्यक्तिको, वह चाहे कार्यमें हो या वाणीमें, अस्वीकार करना। उसके बाद मनुष्य अपने विचार और भावमेंसे भी उसे निकाल फेंकनेकी सफलताकी कहीं अधिक सम्भावनाके साथ अपनी साधनामें अग्रसर हो सकता है। और यही बात अन्य सभी अनुचित वृत्तियोंके सम्बन्धमें लागू होती है।

ये सभी वृत्तियां बाहरसे, विश्वव्यापी निम्न प्रकृतिसे आती हैं, या ये विरोधी — तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नतिकी विरोधिनी — शक्तियोंके सुझाव होती हैं या उनके द्वारा तुम्हारे ऊपर फेंकी जाती हैं। उन्हें अपनी चीजके रूपमें ग्रहण करनेका तुम्हारा तरीका फिर एक गलत तरीका है; क्योंकि वैसा करके तुम उनके बार-बार आने और अपने ऊपर हावी होनेकी उनकी शक्ति बढ़ाते हो। यदि तुम उन्हें अपना समझकर अपनाते हो तो उससे उन्हें वहां बने रहनेका एक प्रकारका अधिकार प्राप्त हो जाता है। यदि तुम उन्हें अपना नहीं अनुभव करते तो उन्हें कोई अधिकार नहीं रह जाता और तुम्हारी संकल्प-शक्ति उन्हें बाहर निकाल देनेकी अधिक सामर्थ्य विकसित कर सकती है। जो चीज तुम्हारी अपनी है और जिसे तुम्हें अपनी चीजके रूपमें अनुभव करना चाहिये वह यह संकल्प-शक्ति है, किसी अनुचित वृत्तिको अनुमति देना अस्वीकार करने, उसे आने देना अस्वीकार करनेकी यह शक्ति है। अथवा, यदि वह भीतर आती है तो उसे बिना प्रकट किये बाहर निकाल देनेकी यह शक्ति तुम्हारी अपनी है।

निस्सन्देह, सबसे उत्तम तरीका तो वह होगा यदि तुम श्रीमाताजीके और उनकी ज्योति और शक्तिके साथ अधिक सम्पर्क बनाये रख सको तथा उस उच्चतर शक्तिसे जो कुछ आये केवल उसे ग्रहण और स्वीकार करो तथा उसीका अनुसरण करो।

*

यह वास्तवमें प्रकृतिकी पुरानी आदतका महज बार-बार आते रहना है। इसकी ओर दृष्टि डालो और देखो कितनी छोटी-छोटी बातें उसके उठने और फूट पड़नेका — यह अधिकाधिक निष्कारण बनता जाता है — और स्वयं ऐसी वृत्तियोंकी असंगतिका अवसर बन जाती हैं। वास्तवमें इससे छुटकारा पाना कठिन नहीं होगा यदि तुम इसके आनेपर इसकी ओर शान्त-स्थिर होकर ताको — क्योंकि सत्ताके एक भागमें पीछे हटकर खड़ा हो जाना पूर्णतः सम्भव है, ऊपरी सतहपर क्रोध उठता भी हो तो भी अनासक्त समत्वके साथ उसका निरीक्षण करो — इस तरह निरीक्षण करो मानो तुम्हारी सत्ताके अन्दर कोई दूसरा व्यक्ति है जिसे क्रोध आ रहा है। कठिनाई यह है कि तुम भयभीत हो जाते और घबड़ा जाते हो और इस कारण वह आसानीसे तुम्हें वशमें कर लेती है जैसा कि नहीं होना चाहिये।

सहायता हम लोग तुम्हें दे रहे हैं — पीछे हटकर खड़े होओ जिससे

कि तुम इन ऊपरी वृत्तियोंके इस आवेशको नहीं बल्कि हमारी सहायताको अनुभव कर सको।

*

जब क्रोध या अन्य कोई चीज उठे तब बराबर ऐसा ही होना चाहिये, यही ठीक चीज है। चैत्य उत्तरका आना अभ्यास बन जाना चाहिये जो यह सूचित करता है कि क्रोध न तो उचित चीज है और न सहायक और फिर इन बाहरी चीजोंसे सत्ता पीछे हट आनी चाहिये और अपने आंतर स्वरूपमें स्थित हो जानी चाहिये, इन सभी चीजों और लोगोंसे विच्छिन्न हो जानी चाहिये। यह विच्छिन्नता ही वह पहली चीज है जिसे साधकको प्राप्त करना चाहिये —उसे इन बाहरी चीजोंमें निवास करना बन्द कर देना चाहिये और अपनी आन्तर सत्तामें निवास करना चाहिये। जितना ही अधिक इसे किया जायगा उतना ही अधिक मुक्ति और शान्ति प्राप्त होगी। पीछे जब साधक इस आन्तर सत्तामें निरापद रहने लगता है तब क्या करना उचित है, मनुष्यों और वस्तुओंसे व्यवहार करनेका समुचित ढंग क्या है यह सब अपने-आप ही आने लगता है।

*

सत्ताके सारे व्यापारोंपर जब चैत्यका ही शासन होता है, तब यह (क्रोध) पूरी तरह लुप्त हो जाता है और तब भी जब उच्चतर चेतनाकी समचित्तता निम्नतर प्राणपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है। तबतक व्यक्ति उसपर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है, उसे धीमा कर सकता है, और उसे कम करते-करते ऐसे स्पर्शमें बदल सकता है जिसका कोई बाह्य प्रभाव न हो, या उसे एक ऐसी लहर बना दे सकता है जो जीवनमें अभिव्यक्त हुए बिना गुजर जाती है।

*

हां, अवश्य। अनन्त शान्ति, वैश्व प्रेम क्रोधको हटा सकते हैं यदि वे पूर्ण और स्थायी हों।

*

यह सच है कि क्रोध और कलह मानव प्राण-सत्ताके स्वभावमें ही हैं और वे आसानीसे नहीं जाते; परन्तु महत्त्वपूर्ण चीज है परिवर्त्तनका संकल्प और स्पष्ट रूपमें यह बोध कि ये चीजें अवश्य चली जायेंगी। यदि यह संकल्प और बोध विद्यमान हों तो अन्तमें ये चीजें अवश्य चली जायंगी। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण सहायता यह है कि, यहां भी, चैत्य पुरुषका अन्तरमें विकास हो— क्योंकि, यह विकास सबके प्रति एक प्रकारकी दयालुता, धैर्य, उदारताका भाव ले आता है और फिर हम हर चीजको अपने निजी अहं और उसके सुख या दुःख, उसकी पसन्द या नापसन्दके दृष्टिकोणसे नहीं देखते।

दूसरी सहायता है आन्तरिक शान्तिका विकास जिसे बाहरकी चीजें विक्षुब्ध नहीं कर सकतीं। शान्तिके साथ आती है एक स्थिर विशालता जिसमें हम सबको एक आत्माके रूपमें, सब प्राणियोंको श्रीमांके संतानके रूपमें, और स्वयं अपने अन्दर तथा सबके अन्दर श्रीमांको निवास करते हुए देखते हैं। इसी ओर तुम्हारी साधना चलेगी, क्योंकि ये चीजें चैत्य और आध्यात्मिक चेतनाके वर्द्धित होनेपर ही आती हैं। तब बाह्य चीजोंके प्रति ये अशान्त प्रति-क्रियाएं फिर नहीं आयेंगी।

*

निस्संदेह, जब ऊपरसे स्थिरता अवतरित होती है या चैत्य पुरुषसे प्रवाहित होती है तो प्राण शान्तिसे या दयालुता और सदाशयतासे भर उठता है। यही कारण है कि सबसे पहले आन्तर चैत्य स्थिरता और उसके बाद ऊपरसे आने-वाली शान्तिको समूची सत्तामें छा जाना चाहिये। अन्यथा प्राणमें अवस्थित क्रोध-जैसी चीजें संयमित तो की जा सकती हैं परन्तु आन्तरिक स्थिरता और उच्चतर शान्तिके इस आधिपत्यके बिना उनसे पूर्णतया मुक्त होना कठिन हैं। तुम्हें साधनाके लिये श्रीमाताजीपर ही निर्भर करना चाहिये—यही सर्वोत्तम मनोभाव है, क्योंकि वास्तवमें उनकी शक्ति ही वह चीज है जो तुम्हारे अन्दर साधना करती है।

*

ये चीजें, वाणीके कठोर रूप, क्रोध आदि प्राणिक-भौतिक चेतनाद्वारा निर्मित अभ्यास हैं और, चूंकि वे अवचेतनाद्वारा पोषित होते हैं इसलिये इन्हें बदलना बहुत कठिन है। यदि कोई संकल्पशक्तिके द्वारा या मानसिक या आध्या-

त्मिक संयमके द्वारा उन्हें जीत सके या परिवर्तित कर सके तो यह बहुत ही अच्छा है। परन्तु इसे यदि कोई तुरन्त न कर सके तो उसे घबड़ा नहीं जाना चाहिये या अपनेको अयोग्य नहीं समझना चाहिये । अधिकांश लोगोंके लिये भगवान्‌को प्राप्त कर लेना या चैत्य चेतनामें प्रवेश कर जाना बहुत आसान होता है परन्तु प्रकृतिके इस भागको बदलना बहुत कठिन होता है। परन्तु जैसे ही एक बार चैत्य चेतना शासन करने लगती है और उच्चतर चेतना अवतरित हो जाती है वैसे ही इन चीजोंका विलीन होना अधिक आसान हो जाता है। इसलिये तुम्हें उनके इस प्रकार बार-बार आते रहने या लगातार बने रहनेसे हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिये, बल्कि आन्तरिक स्थिरतामें पीछे हट जानेका निरन्तर प्रयास करना चाहिये । यदि वे आती हैं तो उन्हें प्रकाश-मेंसे गुजरते हुए बादलोंकी तरह गुजर जाने दो। समय आनेपर दिव्य शक्ति इनके साथ अन्तिम रूपसे निपटारा कर लेगी।

*

निस्संदेह, यह एक बड़ा अच्छा लक्षण है कि जब क्रोध आता है तब वह क्षणस्थायी होता और संयमित हो जाता है तथा अब बाहरमें अभि-व्यक्त नहीं होता — क्योंकि जिस चीजको प्रकृति नहीं चाहती उसका जब परित्याग कर दिया जाता है तो उस परित्यागकी एक सुस्पष्ट स्थिति सर्वदा यही होती है। क्रोध फिर भी आता है पर उसमें वह पुरानी शक्ति, अवधि, तीव्रता और पूर्णता आदि नहीं होती। बाहरी अवस्था बहुधा यह दिखाने या परीक्षण करनेके लिये व्यवहृत होती है कि स्वयं बाहरी प्रकृतिमें कितनी प्रगति हो सकी है, क्योंकि जब मनुष्य पूर्ण रूपसे अन्तरमें निवास करता है तब ये बाहरी क्रियाएं शान्त-स्थिर बनी रहती हैं, अतएव वे किस हदतक परिवर्तित हुई हैं इसे आसानीसे नहीं समझा जा सकता। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि भीतरमें पैठना ही प्रकृतिको मुक्त करनेमें सबसे अधिक सहायक होता है।

*

क्रोध न आनेका कारण अवश्य ही यह होगा कि आक्रमणका प्राणिक बल मन्द पड़ रहा है और यह अधिकतर स्थूल मन और बाह्य (भौतिक) प्राणमें ही अपनी क्रिया कर रहा है। तुममें काम करनेकी क्षमता बहुत है; जहांतक आन्तरिक विकास एवं साधनाकी क्रियाका सम्बन्ध है, उसके लिये

भी तुममें चैत्य और प्राणकी क्षमता विद्यमान है,—केवल बाह्य सत्ता ही अपने मार्गमें इन कठिनाइयोंको पाती है और अस्थायी रूपसे उनसे पराभूत या प्रभावित होती है। जब व्यक्ति साधनामें प्रगति करना चाहता है तो ऐसी बाधाएं रास्तेमें सदा ही आती है, किन्तु अन्तमें यदि व्यक्तिकी अभीप्सा सच्ची हो तो ये कष्ट सभी विरोधी वस्तुओंपर अन्तरात्माकी विजयकी तैयारीमें सहायक ही होते हैं।

आन्तर संकल्प कभी प्रबल होता है, कभी कुछ समयके लिये नहीं भी होता। यह बिलकुल सामान्य बात है। यह ऐसी किन्हीं अवस्थाओंपर निर्भर करता है जिन्हें स्थूल मन नहीं देखता। जैसे-जैसे मनुष्यका ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वह इन अगोचर अवस्थाओंके विषयमें सचेतन होता जाता है और घटनाओंको अधिक अच्छी तरह समझने लगता है।

अग्नि हमेशा ही शुद्धीकरणकी अग्नि होती है—यह तब बहुत लाल होती है जब प्राणपर क्रिया कर रही होती है; जब प्राण चैत्यको और अधिक नहीं ढकता तो चैत्यका गुलाबी रंग अधिकाधिक निखरने लगता है।

तुमने जो घर देखा वह प्रकृतिका नया भवन है, विशेषकर प्राणमें, जो साधना द्वारा तैयार किया जा रहा है।

*

तुम्हारे अन्दर जो अभीतक स्थिरता स्थापित नहीं हुई और क्रोध बार-बार वापस आता है इसका कारण यह है कि तुम अपने भौतिक मनको कार्य करने देते हो। साधनाके सम्बन्धमें वह बराबर सोचा करता है कि तुममें यह दोष है, वह दोष है और इसलिये साधना तुरत फलदायी और पूर्ण नहीं बनती। इसके कारण तुम्हारा प्राण चंचल या उदास बन जाता है और उस उदासीमें एक प्रकारकी चिड़-चिड़ाहटकी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। उसके साथ-ही साथ 'ग' के विषयमें, भी, जैसा कि अभी वह कर रहा है, सोचने-विचारने लगता है अथवा उसके कार्योंका विचार और समालोचना करना आरम्भ कर देता है और इस कारण भी चंचलता और चिड़चिड़ाहट पैदा होती है। ये सब चीजें उस पुराने मनकी हैं जिसे तुम छोड़नेका प्रयत्न कर रहे हो और इसीलिये वे एकाग्रता और स्थिरतामें बाधक होती हैं। भौतिक मनके सुझाव जैसे ही आना आरम्भ करें वैसे ही उनका परित्याग करके इन चीजोंको उनके मूलमें ही बन्द कर देना चाहिये। एक नयी चेतना आ रही है जिसका आधार है आन्तरिक निश्चल-नीरवता और स्थिरता। तुम्हें शान्तिके साथ प्रतीक्षा करनी

चाहिये और उसे वर्द्धित होने देना चाहिये। उसी नवीन नीरव चेतनामें सच्चा ज्ञान तथा लोगों और चीजोंके विषयमें सच्ची दृष्टि प्राप्त होगी। लोगों और चीजोंके विषयमें मनकी दृष्टि अनिवार्यतः या तो सीमित होगी या दोषपूर्ण या भूलसे भरी हुई — उसके द्वारा विचार करते रहना अब समय नष्ट करना है। प्रतीक्षा करो और नयी चेतनाको विकसित होने तथा उसे ही नयी और सत्य ज्योतिमें सब कुछ दिखाने दो। तब इस मनसे जो क्रोध उठता है और जो मन और प्राणद्वारा नापसन्द वस्तुओंके प्रति प्रयुक्त एक प्रकारका तीव्र अधैर्य है, उसकी प्रवृत्तिके उठनेके लिये एकदम कोई कारण नहीं रह जायगा —अथवा, यदि वह बिना कारण उठेगी तो उसे आसानीसे त्याग दिया जायगा। साधनाके लिये श्रीमाताजीकी कृपा और उनकी शक्तिपर निर्भर करो, तुम स्वयं सर्वदा दो वस्तुओंको बनाये रखनेकी बात याद रखो — वे हैं निश्चलता और विश्वास। वस्तुओं और लोगोंका जहांतक प्रश्न है, उन्हें श्रीमाताजीके लिये ही छोड़ दो; जैसे तुम्हारी प्रकृतिमें कठिनाइयां हैं वैसे ही उनकी प्रकृतिमें भी हैं; परन्तु उनके साथ व्यवहार करनेके लिये अन्तर्दृष्टि, सहानुभूति और धैर्यकी आवश्यकता है।

वस्तुओंके प्रति आसक्तिके विषयमें यह कहना है कि स्थूल रूपमें उनका त्याग करना उनसे मुक्त होनेका सर्वोत्तम पथ नहीं है। जो कुछ तुम्हें दिया जाता है उसे स्वीकार करो, जो आवश्यक हो उसे मांगो और उसके विषयमें फिर कोई बात मत सोचो — उन्हें कोई महत्त्व मत दो; जब हों तब उनका व्यवहार करो, जब न हों तो जरा भी उद्विग्न मत होओ। आसक्तिसे छुटकारा पानेकी यही सबसे उत्तम पद्धति है।

*

यदि तुम ध्यानपूर्वक निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि ये सब चीजें —एकका दुर्व्यवहार, दूसरेका क्रोध — अत्यन्त हलकी हैं और उन्हें उदासीनताके साथ ग्रहण करना चाहिये। उनके कारण तुम अपनेको इतना अधिक विक्षुब्ध मत हो जाने दो। चरम महत्त्वकी एकमात्र वस्तु है तुम्हारी साधना और तुम्हारा आध्यात्मिक विकास। बस, किसी चीजको उसे छूने या बिगाड़ने मत दो।

*

"गीता-प्रबन्ध" सामान्य कर्मयोगकी व्याख्या करता है जैसा कि उसे

गीतामें विकसित किया गया है। उस कर्मयोगमें जो कर्म किया जाता है वह मानवजीवनका सामान्य कर्म होता है, वह केवल एक आन्तरिक परिवर्तनके साथ किया जाता है। वहां भी जिस हिंसाका प्रयोग किया जाता है वह आहंकारिक हेतुओंसे की गयी व्यक्तिगत हिंसा नहीं होती, बल्कि सामाजिक जीवनकी सुव्यवस्थित पद्धतिका अंग होती है। कोई भी चीज आध्यात्मिक दृष्टिसे उस व्यक्तिगत हिंसाको उचित नहीं सिद्ध कर सकती जो क्रोधमें या आवेशवश या किसी प्राणिक उद्देश्यसे की जाती है। हमारे योगमें हमारा उद्देश्य है मनुष्योंके सामान्य जीवनसे ऊपर उठना और उसमें हिंसाको एकदम अलग छोड़ देना होगा।

*

आन्तर चैत्य या आध्यात्मिक परिवर्तन हिंसाके द्वारा नहीं सिद्ध होता। वह कोई आचरणका परिवर्तन नहीं है जिसे साधकोंमें ले आना है, बल्कि वह अन्तरात्मा और आत्माका परिवर्तन है जो मन और प्राणद्वारा शासित होनेके बदले मन, प्राण और शरीरपर अपना शासन स्थापित करेगा। हिंसा तो उसका तीव्र खण्डन है; वह तो मानसिक अहंकार और प्राणिक आवेग और प्रकोपको अथवा क्रूरताको शासक बना देती है। सामान्य प्रकृतिमें हिंसाका होना आध्यात्मिक कार्यमें भी उसके होनेका औचित्य सिद्ध नहीं करता।

*

सभी विषयोंमें विचार और वाणीपर संयम अवश्य होना चाहिये। परन्तु, एक ओर राजसिक हिंसाके वर्जित होनेपर भी जहां कठोरता आवश्यक होती है वहां, विचार और वाणीकी शान्तिपूर्ण शक्तिशाली कठोरता कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक होती है।

XII

यदि तुम योग करना चाहते हो, तो तुम्हें भयसे छुटकारा पाना होगा। योग और भय दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते।

*

यह ठीक है कि जिस चीजसे मनुष्य डरता है वह तबतक आते रहनेकी प्रवृत्ति रखती है जबतक कि मनुष्य सीधे उसके सामने ताकनेकी और अपनी झिझक जीतनेकी क्षमता नहीं प्राप्त कर लेता। मनुष्यको अपना आधार भगवान्पर रखना सीखना चाहिये और भयको जीतना चाहिये। उसे यह भरोसा बनाये रखना चाहिये कि भगवान्की सहायता उसे सभी चीजोंके भीतरसे, यहांतक कि दुःखदायी और विरोधी चीजोंके भीतरसे भी निकाल ले जायगी। एक ऐसी दिव्य शक्ति है जो उनके द्वारा भी साधकके लिये कार्य करती है और उसे लक्ष्यकी ओर ले जाती है।

*

हां, भय काल्पनिक आतंककी सृष्टि करता है—यदि सच्चा खतरा हो भी तो भय कोई सहायता नहीं करता; वह बुद्धिको मेघाच्छन्न कर देता है, प्रत्युत्पन्न-मतित्वको छीन लेता है और करने योग्य उचित कार्यको देखनेसे रोकता है।

कार्य करनेवाली दिव्य शक्तिको तबतक बढ़ते रहने दो जबतक कि वह मिश्रित चेतनाको पूरी तरह साफ नहीं कर देती।

*

यह समझना भूल है कि भय करने या दुःखी होनेसे तुम उन्नति कर सकते हो। भय सदा ही एक ऐसा संवेग होता है जिसका त्याग करना चाहिये, क्योंकि जिस चीजसे तुम डरते हो ठीक उसी चीजके तुम्हारे पास आनेकी सम्भावना रहती है। भयके विषयको ही भय आकर्षित करता है। अप्रसन्नता शक्तिको दुर्बल बनाती है और मनुष्यको अप्रसन्नताके कारणोंकी ओर और भी अधिक खोल देती है।

मनुष्य शान्त, सुखी और प्रसन्न हो सकता है और यह आवश्यक नहीं कि वह यह सब हलके या छिछले रूपमें हो—और यह भी जरूरी नहीं कि सुख कोई प्राणिक प्रतिक्रिया ही उत्पन्न करे। बस, तुम्हें जो कुछ करनेकी आवश्यकता है वह है निरीक्षण करना और सतर्क रहना,—इस विषयमें सावधान रहना कि कहीं तुम अशुद्ध क्रियाओंको या पुरानी भावनाओं, अन्धकार, अस्तव्यस्तता आदिके वापस आनेके लिये अपनी अनुमति न दे दो। यदि तुम जाग्रत रहो तो तुम्हें सहारा देनेवाली दिव्य शक्ति वर्द्धित होगी और उसके

साथ-ही-साथ आत्मसंयमकी शक्ति भी आयेगी, जब अनुचित प्रवृत्ति या अशुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी तो उसे देखने और त्याग देनेकी शक्ति भी आयेगी। भय और अप्रसन्नता तुम्हें वह चीज नहीं दे सकते। एकमात्र यह सजगता ही उसे ला सकती है—यह सजगता जिसके साथ जुड़ा होगा साहाय्यकारी तथा पथप्रदर्शक दिव्य शक्तिके प्रति उद्घाटन। सच पूछो तो जिस चीजका वर्णन तुमने इस प्रकार किया है कि वह यथार्थ वस्तुका चुनाव करनेकी क्षमता है तथा उस शक्ति या सामर्थ्यका बोध है जो अशुद्ध क्रिया और समुचित क्रियाको जैसे ही पहचानती है वैसे ही अशुद्ध क्रियाको तो बन्द कर सकती और समुचित क्रियाको ग्रहण कर सकती है, वह ठीक यही संयम और सतर्कता है। दिव्य शक्तिद्वारा पोषित इस संयम और सतर्कताके द्वारा ही तुम स्वार्थपूर्ण कामनाओं और गंदगियोंको प्रेम तथा भक्तिके साथ मिल-जुल जाने या इनका स्थान ले लेनेसे रोक सकते हो। तुम जितना ही उद्घाटित होगे उतना ही अधिक यह शक्ति तुम्हारे अन्दर बढ़ेगी।

*

तुम्हें भयको और क्रोधको भी दूर फैंक देना चाहिये और माताजीपर दृढ़ विश्वास रखते हुए शान्तिसे अपने मार्गपर बढ़ते जाना चाहिये।

*

भय दूर करनेका तरीका: निम्नतर प्राण (नाभि-केंद्रके नीचेके भाग) में शक्ति और अचंचलताको उतारकर इसे दूर किया जा सकता है। फिर जब भय आये तो संकल्प-शक्तिका प्रयोग करके और सारे शरीर-संस्थानपर अचंचलता-का भाव स्थापित करके भी दूर किया जा सकता है। उसे किसी एक तरीकेसे या एक साथ दोनों तरीकोंसे दूर भगाया जा सकता है।

*

उच्चतर प्रकृतिमें किसी प्रकारका भय नहीं है। भय प्राणिक जगत्की सृष्टि है, अज्ञानकी एक सहज-प्रवृत्ति है, खतरेका एक बोध है जिसके साथ तीव्र प्राणिक प्रतिक्रिया जुड़ी होती है जो वस्तुओंके ज्ञानका स्थान ले लेती और सामान्यतया उसे आनेसे रोक देती या उसे विकृत कर देती है। इसे

प्राय: विरोधी शक्तियोंका आविष्कार माना जा सकता है।

XIII

यदि ईर्ष्याके लिये कोई कारण न हो तो उसे नहीं रहना चाहिये, क्योंकि तब तो यह एक बेहूदी और निरर्थक वस्तु है—पर, उसके लिये सामान्य मानदंडोंके अनुसार जब कोई कारण हो भी तो भी उसे नहीं रहना चाहिये, क्योंकि वह एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसमें महद्भावका अभाव है और जो एकदम अ-यौगिक है।

लोभसे मुक्ति पानेकी बात जो है उसके लिये निश्चय ही श्रीमाताजीकी पूरी सहायता तुम्हें प्राप्त होगी।

*

यह निस्संदेह पुरानी प्रतिक्रिया है—ईर्ष्या वहां निश्चय ही है, अन्यथा तुमने इतनी तीव्र व्यथा न अनुभव की होती। यह जो अभी भी गुप्त स्थानोंमें बनी हुई है और इतनी प्रचण्डतासे ऊपर उठती है इससे यह प्रकट होता है कि तुम्हारी भौतिक चेतनामें कितनी गहराईतक इस क्रियाकी जड़ पहुँची हुई है। तुम इसे उखाड़ फेंकनेमें समर्थ नहीं हुए हो, क्योंकि जब यह आती है तब तुम पूर्ण रूपसे अपनेको इसके साथ संयुक्त कर लेते हो और अपनेको इसके चीत्कार और प्रचण्डताके हाथोंमें छोड़ देते हो। तुम्हें इससे अलग होकर अपनी प्रकृतिके उस भागमें स्थित होनेकी शक्ति होनी चाहिये जो मुक्त है—केवल तभी तुम इसे अपनेसे बाहर धकेलनेमें समर्थ होगे; और जब-जब यह उठती है तब-तब यदि यह बाहर धकेल दी जाय तो ही यह विलीन होना स्वीकार करेगी और फिर कभी वापस नहीं आयेगी। हमारी सहायता और पृष्ठ-पोषणका जहांतक प्रश्न है वह तुम्हारे साथ मौजूद हैं, पर तुम्हें उनके विषयमें सचेतन होना चाहिये—और आज सबेरेके विचारोंके जैसे किसी भ्रांत विचारको अपने अन्दर नहीं आने देना चाहिये जो श्रीमाताजीके साथके एकत्व और संस्पर्शके बोधको ही कम कर दे।

*

मैं नहीं समझता कि तुम दूसरी स्त्रियोंके कारण होनेवाले झगड़ों और

ईर्ष्या तथा अन्य आकर्षणोंके कारण; जो कामुक स्वभावके नहीं हैं, होनेवाले झगड़ों और ईर्ष्याके बीच इतना बड़ा भेद क्यों करते हो। वे दोनों एक ही मूल आवेगसे, अधिकृत करनेकी सहज-प्रवृत्तिसे निःसृत होते हैं जो कि साधारण प्राणिक प्रेमके मूलमें होता है। पिछली अवस्थामें, चूँकि अधिकांशतः कामप्रधान ईर्ष्या करना सम्भव नहीं होता, मन अन्य हेतुओंसे अपना समर्थन करता है जो उसे बिलकुल युक्तिसंगत और न्यायसंगत प्रतीत होता है—वह इस विषयमें सचेतन न भी होता हो कि वह प्राणके द्वारा चालित हो रहा है, तो भी झगड़े और मतभेदकी तीव्रता तो एक जैसे ही रहते हैं। आया तुममें इसके दोनों रूप थे या नहीं, यह बहुत प्रधान बात नहीं है और प्रसंगको अधिक अच्छा या अधिक बुरा नहीं बनाती। महत्त्वपूर्ण बात है स्वयं उस सहज-प्रवृत्तिसे छुटकारा पाना, चाहे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे देखा जाय या आध्यात्मिक परिवर्तनके दृष्टिकोणसे।

एकमात्र चीज जिसका कोई महत्त्व हो सकता है वह है यह तथ्य कि जिस पुराने व्यक्तित्वको तुम बाहर फेंक रहे थे उसने इस समयके लिये अपने-आपको फिरसे स्थापित कर लिया है जैसा कि तुम स्वयं भी देखते हो। उसने तुम्हारे मनको विभ्रांत कर दिया है, अन्यथा तुम यह प्रश्न न पूछते कि आया वह अभी भी है और तुम्हारी अभीप्सा तथा श्रीमाताजीकी ओर पूर्ण रूपसे मुड़ जानेके तुम्हारे बोधको जो मैंने सत्य और यथार्थ कहा है उसके साथ उसका कैसे मेल बैठता है। निसंदेह, वे (अभीप्सा और बोध) सत्य और यथार्थ और शुद्ध थे और अभी भी विद्यमान हैं यद्यपि कुछ समयके लिये मेघाच्छन्न हैं। इस समयतक तुमने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि पूरी सत्ता एक अखण्ड वस्तु नहीं है जिसमें एक भागके बदलते ही सभी भाग जादूकी तरह एक ही समय बदल जायं। पुरानी चीजोंमेंसे कोई चीज वहां छिपी रह सकती है और यदि उनसे छुटकारा पानेका दबाव या दृढ़ संकल्प कुछ ढीला हो जाय तो फिर ऊपर आ सकती है। मैं नहीं समझता कि जब तुम इस कथनके विषयमें कि "प्रकाश और अन्धकार, सत्य और मिथ्यापन एक साथ नहीं रह सकते", बात करते तो तब तुम किस बातकी ओर संकेत करते हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका केवल यह अर्थ हो सकता है कि आध्यात्मिक प्रयासके अन्दर मनुष्य उन्हें एक साथ नहीं रहने दे सकता,—प्रकाश, सत्यको तो अवश्य रखना चाहिये, पर अन्धकार, मिथ्यात्व या भ्रम-भ्रांतिको एकदम निकाल बाहर करना चाहिये। इसका निश्चय ही यह अर्थ नहीं था कि मनुष्यों-के अन्दर या तो केवल सब ज्योति-ही-ज्योति हो सकती है या केवल सब अंध-कार-ही-अन्धकार और जिस किसीके अन्दर कोई दोष है उसमें कोई ज्योति

नहीं, कोई सच्ची अभीप्सा नहीं और उसके स्वभावमें कोई सत्य नहीं। यदि बात ऐसी ही हो तो फिर योग करना असम्भव ही होगा। इस आश्रमके सभी साधकोंपर यह दोष लगाया जायगा कि उनमें सच्चाईका अभाव है और वे कोई सच्ची साधना नहीं करते — क्योंकि, भला ऐसा कौन है जिसमें किसी प्रकारका अन्धकार और अज्ञानकी कोई क्रिया नहीं है?

यदि तुम उस चेतनासे नीचे गिर गये हो जिसे तुमने पाया था तो इसका कारण यह है कि 'अ'के साथके झगड़ेको एक क्षणिक क्रिया समझकर मनसे निकाल देनेके बदले तुम उसीपर सोचते रहना आरम्भ करते हो और जो गलत मनोवृत्ति उसने दी उसे ही दीर्घस्थायी बनाते हो। जो भावनाएं उस झगड़ेकी बातोंसे तुम्हारे अन्दर उत्पन्न होती हैं उन्हींमें बने रहनेसे कोई लाभ नहीं। तुम्हें बस वह चीज करनी होगी जिसे बतानेका प्रयास मैं करता रहा हूँ। उनसे पीछे हट आओ और, यह देखकर कि वहां प्रकृतिमें क्या चीज है, उन्हें चुपचाप निकाल फेंको और यथार्थ चेतनाकी ओर फिरसे मुड़ जाओ, एक बार फिर उस दिव्य सत्यको ग्रहण करनेके लिये अपने-आपको खोलो जो नये रूपमें तुम्हारा निर्माण कर रहा है तथा उसे अपनी समस्त प्रकृतिमें अवतरित होने दो।

विभाग चार

भौतिक सत्ताका रूपान्तर

भौतिक सत्ताका रूपान्तर

भौतिक सत्ताको तुच्छ समझनेकी आवश्यकता नहीं — यह हमारी अभीष्ट अभिव्यक्तिका एक भाग है।

*

इसका कारण यह है कि योगसाधनाका अनुसरण करते समय तुम्हारी चेतनाका संपर्क निम्न भौतिक प्रकृतिके साथ हो गया है और तुम्हारी चेतना उसे ठीक उसी रूपमें देखती है जिस रूपमें वह उस समय दिखायी देती है जब कि वह मन, चैत्य पुरुष या आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा न तो निगृहीत और न शासित होती है। यह प्रकृति अपने-आपमें नीच और अन्ध वासनाओंसे भरी होती है; यही मानव-सत्ताका वह अंग है जो सबसे अधिक पशु-जैसा होता है। साधकको उसके सम्पर्कमें आना पड़ता है जिसमें कि वह यह जान सके कि उस भागमें क्या है और उसे रूपान्तरित कर सके। पुराने ढंगके अधिकांश साधक आध्यात्मिक अथवा चैत्य लोकोंमें ऊपर उठ जानेसे ही संतुष्ट हो जाते और इस भागको बस ज्यों-का-त्यों छोड़ देते हैं — परन्तु ऐसा करनेसे वह, जब वह अत्यन्त निस्तब्ध अवस्थामें होता है तब भी, अपरिवर्तित रहता है और उसका पूर्ण रूपान्तर संभव नहीं होता। तुम्हें बस शान्त-स्थिर और अविचलित बने रहना होगा और इस अन्धकारपूर्ण भौतिक प्रकृतिको परिवर्तित करनेके लिये उच्चतर शक्तिको कार्य करने देना होगा।

*

यह सब सिद्धान्त काफी अच्छा हो सकता है, किन्तु क्रियात्मक रूपसे यह देखा गया है कि भौतिक अपवित्रता आन्तर प्रगतिको रोकने और आन्तर अनुभूतिको किसी निष्क्रिय शान्तिमें कठोर रूपसे सीमित करनेमें पर्याप्त समर्थ होती है।

*

इन प्रतिकूल शक्तियोंको तब मौका दिया जाता है जब साधक साधनाके अनिवार्य क्रममें मानसिक या उच्चतर प्राणिक भूमिकासे भौतिक चेतनामें उतरता है। इसके साथ-साथ सदा ही प्रारंभिक गंभीर अनुभूतियोंका ह्रास और ऐसी उदासीन अज्ञानपूर्ण जड़तामें अवतरण होता है जो वद्ध भौतिक प्रकृतिकी आधार शिला है। इसीमें, समस्त अज्ञान एवं समस्त तमस्को शाश्वत कालके लिये दूर भगाते हुए और ज्योतिर्मय ऊर्जा, पूर्ण प्रकाश और निर्विकार परम सुखको प्रतिष्ठित करते हुए भगवान्के प्रकाश, बल और आनन्दको उतारना है और वस्तुको रूपान्तरित करना है। सम्पूर्ण कठिनाई इसीमें है न कि मन या उच्चतर प्राणमें, किन्तु वहां भी विजय प्राप्त करनी होगी और नये जगत्की नींव डालनी होगी। मैं इस महान् और बड़े भारी परिवर्तनकी कठिनाई या इस सम्भावनाको तुमसे छिपाना नहीं चाहता कि तुम्हारे सामने एक लम्बा और कठिन काम आ सकता है, किन्तु क्या वस्तुतः तुममें इस कठिनाईका मुकाबला करनेकी और इस महान् कार्यमें अपना योगदान देनेकी इच्छा नहीं है? क्या तुम इस प्रयासकी महत्ताका इसलिये त्याग कर दोगे कि तुम इस घड़ी या इस क्षणके किसी अधिक उत्तेजक कार्यकी ओर किसी उन्मादपूर्ण और विवेकहीन ऐसे आवेगका अनुसरण कर सको जिसके लिये तुम्हारी प्रकृतिके किसी भागमें कोई सच्ची पुकार नहीं?

निराशाके लिये कोई कारण नहीं, जो कुछ हुआ है उसमें मुझे इसके लिये कोई उपयुक्त आधार नहीं मिला। जिन कठिनाइयोंका तुम अनुभव करते हो वे उन कठिनाइयोंके सामने कुछ भी नहीं हैं जिन्हें दूसरोंने अनुभव किया है और फिर भी उन्हें जीता है, और वे लोग तुमसे अधिक शक्तिशाली नहीं थे। जो कुछ घटित हुआ है वह यह है कि स्थूल चेतनामें इस अवतरणके होनेके कारण सामान्य बाह्य मानव-प्रकृति अपनी मूलगत त्रुटियों और अवचेतन अतृप्त आवेगोंके साथ सामने उठ आयी हैं और इन्हींको विरोधी शक्ति आकर्षित कर रही है। मन और उच्चतर प्राणने उन विचार और भ्रांतियोंको अपनेसे दूर कर दिया जिन्होंने इन चीजोंकी तृप्तिके लिये अनुमति प्रदान की और इनके उचित और श्रेष्ठ होनेकी भी भ्रांति पैदा की। किन्तु उनका मूल, तृप्तिके लिये उनका सहज विवेकहीन दबाव अभी हटा नहीं है — उदाहरणके लिये यहीं उन यौन-क्रियाओंका कारण है जिनका तुमने अपनी स्वप्न या जाग्रत अवस्थामें अनुभव किया है। यह अनिवार्य था। आवश्यकता सारी यह है कि तुम्हारा चैत्य पुरुष आगे आ जाय और तुम्हें मेरे और श्रीमांके सीधे, वास्तविक, सतत और आंतर सम्पर्ककी ओर खोल दे। अब तक तुम्हारा अन्तरात्मा प्रकट हुआ है मन और उसके आदर्शों तथा पसन्दोंके द्वारा या प्राण और उसके उच्चतर सुखों और

अभीप्साओंके द्वारा; किन्तु यह भौतिक कठिनाईको जीतने तथा 'जड़तत्वको प्रदीप्त और रूपान्तरित करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। स्वयं तुम्हारे अन्तरात्माको, तुम्हारे चैत्य पुरुषको आगे आना होगा, पूरी तरह जाग्रत होना होगा और भौतिक परिवर्तन ले आना होगा। चैत्य पुरुष को बौद्धिक विचारों या बाहरी चिह्नों तथा सहायताओंके सहारेकी आवश्यकता नहीं होगी। केवल चैत्य पुरुष ही तुम्हें भगवान्का सीधा अनुभव, उनका सतत सामीप्य, आन्तरिक अवलम्ब और सहायता दे सकता है। तब तुम श्रीमांको दूर अनुभव नहीं करोगे, न सिद्धिके बारेमें और सन्देह ही करोगे, क्योंकि मन सोचता है, प्राण लालसा करता है पर अन्तरात्मा भगवान्को अनुभव करता और जानता है।

शंकाकी, अवसादकी इन क्रियाओंको और अन्य उन सब वस्तुओंको अपनेसे दूर हटा दो जो तुम्हारी सच्ची और उच्चतर प्रकृतिकी अंग नहीं हैं। अक्षमता, अयोग्यता और किसी बाहरी शक्तिकी इन सब विवेकहीन क्रियाओंके सुझावोंका परित्याग करो। अपनी अन्तरात्माके प्रकाशके प्रति वफादार रहो, तब भी जब वह बादलोंसे आच्छादित हो। मेरी सहायता एवं माताजीका संकल्प पीछे रह कर उन क्षणोंमें भी कार्य करता रहेगा जब तुम उसे अनुभव नहीं कर पाते। तुम्हारे लिये और सबके लिये एकमात्र आवश्यकता है, स्थूल चेतनाकी अज्ञानावृत शक्तियोंके अन्धकारमें भी अपनी अन्तरात्माके तथा भागवत पुकारके स्मरणके प्रति अडिग रूपसे निष्ठावान् रहनेकी। निष्ठावान् बनो, तुम्हारी विजय होगी।

*

जब मैंने अन्तरात्माके प्रकाश और भागवत पुकारके प्रति सच्चे बने रहनेकी बात कही थी तो मैं किसी भूतकालीन वस्तुकी ओर या तुम्हारी ओरसे हुई किसी त्रुटिके प्रति संकेत नहीं कर रहा था। मैं केवल सब संकटों और आक्रमणोंमें जिस अत्यावश्यक वस्तुपर दृढ़तापूर्वक बल दे रहा था, वह है किन्हीं सुझावों, आवेशों, प्रलोभनोंपर कान देनेसे इन्कार करना और इन सब वस्तुओंके विरोधमें सत्यकी पुकार एवं प्रकाशके अलंघ्य संकेतको प्रस्तुत करना। सब शंका और अवसादके समय हमें यह कहना चाहिये, "मैं भगवान्का हूँ, मैं असफल नहीं हो सकता," मलिनता और अयोग्यताके सभी सुझावोंको यह जवाब देना चाहिये "मैं भगवान्के द्वारा चुना गया अमरताका पुत्र हूँ मुझे केवल अपने और भगवान्के प्रति ही सच्चा रेहना है—विजय निश्चित है; यदि मैं गिरा तो भी फिर उठ खड़ा होऊंगा," यहांसे चले जानेके और किसी क्षुद्रतर आदेशकी सेवाके लिये उठनेवाले आवेगोंको हमें यह उत्तर देना चाहिये

"यही वह सबसे महान् वस्तु है, यही वह सत्य है जो एकमात्र मेरे भीतर स्थित अन्तरात्माको संतुष्ट कर सकता है; मैं सब कसौटियों और कष्टोंको इस दिव्य यात्राके ठेठ अन्ततक झेलूँगा।" प्रकाश और पुकारके प्रति सच्चे रहनेसे मेरा यही मतलब है।

*

ये ऐसी वस्तुएं है जो लगभग अनिवार्य रूपसे कुछ न कुछ मात्रामें किसी विशेष संकटकी घड़ीमें आती ही हैं जिनमें होकर प्रायः प्रत्येक व्यक्तिको गुजरना होता है और जो साधारणतया लम्बे एवं दूभर समयतक रहती है किन्तु वे निर्णायक और निश्चयात्मक हों ही यह जरा भी आवश्यक नहीं। साधारणतया यदि व्यक्ति धैर्यपूर्वक लगा रहे तो यह उषासे पहले रात्रिका अधिकतम अंधकारमय ऐसा काल होता है जो प्रत्येक या लगभग प्रत्येक आध्यात्मिक अभीप्सुके सामने आता ही है। यह उस छलांगके कारण आता है जो व्यक्तिको निरी भौतिक चेतनामें किसी सच्चे मानसिक प्रकाशके या जीवनमें किसी प्राणिक हर्षके सहारेके बिना लगानी होती है, क्योंकि ये प्रकाश और हर्ष परदेके पीछे चले जाते हैं, यद्यपि वे, जैसा कि प्रतीत होता है, स्थायी रूपसे लुप्त नहीं हो जाते। यह एक ऐसा काल है जब शंका, निषेध, शुष्कता, मनहूसपन और इसी प्रकार अन्य चीजें प्रबल शक्तिके साथ उभर आती हैं और कुछ समयके लिये प्रायः पूरी तरह आधिपत्य जमा लेती हैं। इस अवस्थाको सफलता पूर्वक पार कर चुकनेके बाद ही सच्चा प्रकाश आना शुरू होता है, वह प्रकाश जो मनका नहीं परन्तु आत्माका होता है। आध्यात्मिक प्रकाश, निःसंदेह कुछ लोगोंको कुछ मात्रामें और बहुत थोड़े लोगोंको काफी अधिक मात्रामें प्रारंभिक अवस्थाओंमें ही प्राप्त हो जाता है, यद्यपि ऐसा सबके साथ नहीं होता, क्योंकि कुछ लोगोंको तबतक प्रतीक्षा करनी होती है जबतक कि वे मन, प्राण और भौतिक चेतनाके बाधक तत्वको साफ नहीं कर पाते, और तब तक वे किसी स्पर्शको केवल जब तब ही प्राप्त करते हैं। किन्तु अपने सर्वोत्तम रूपमें भी यह प्रारंभिक आध्यात्मिक प्रकाश तबतक कभी भी पूर्ण नहीं होता जबतक भौतिक चेतनाके अन्धकारका सामना करके उसे जीत न लिया जाय। व्यक्ति अपने दोषके कारण ही इस अवस्थामें नहीं गिरता, यह अवस्था तब भी आ सकती है जब व्यक्ति अधिक-से-अधिक अच्छे ढंगसे आगे बढ़नेकी चेष्टा कर रहा होता है। वस्तुतः यह प्रकृतिकी किसी मूलगामी अक्षमताको सूचित नहीं करता किन्तु निश्चय ही यह कठोर अग्नि परीक्षा है और व्यक्तिको इसमेंसे गुजरनेके लिये बहुत

दृढ़तापूर्वक डटे रहना होगा। इन वस्तुओंकी व्याख्या करना कठिन है क्योंकि सामान्य मानव बुद्धिके लिये मनोवैज्ञानिक आवश्यकताको समझना या स्वीकार करना कठिन होता" है।

*

हतोत्साह होनेकी कोई बात नहीं। तथ्य यह है कि इतनी देरतक मानसिक और प्राणिक भूमिकामें निवास कर चुकनेके बाद तुम भौतिक चेतनाके विषयमें सचेतन हुए हो, और भौतिक चेतना हरेकमें ऐसी ही होती है। वह जड़, रूढ़िबद्ध होती है और हिलना तथा बदलना नहीं चाहती — वह अपनी आदतोंसे (लोग जिसे अपना स्थिर-स्वभाव कहते हैं उससे) चिपटे रहती है या उसकी आदतें (अभ्यासगत क्रियाएं) उससे चिपटी रहती हैं और निरन्तर यान्त्रिक ढंगसे चलती हुई घड़ीकी तरह घूमती रहती हैं। जब तुम अपना प्राण थोड़ा बहुत स्वच्छ कर चुकते हो तो वस्तुएं, नीचे चली जाती हैं और वहां चिपट जाती हैं। तुम अवलोकन करते हो और यदि तुम आत्म-सचेतन हो चुके हो तो तुम प्रायः दबाव भी डालते हो, किन्तु स्थूल सत्ता बहुत ही धीमा प्रत्युत्तर देती है, पहले-पहल तो यह कदाचित् हिलती भी नहीं लगती। इसका इलाज है स्थिर और अपरिवर्तनीय अभीप्सा, धीरतापूर्वक कार्य, और भौतिक सत्तामें स्थित चैत्य जो इन अन्धकारमय भागोंमें प्रकाश और शक्तिको पुकार कर नीचे लें आये। प्रकाश हमें वहांकी वस्तुओंके विषयमें सचेतन बनाता है; शक्तिको उनका तबतक अनुसरण करना और उनपर कार्य करना होता है जबतक वे परिवर्तित या विलीन न हो जायें।

*

(जबतक भौतिक चेतना पूरी तरह बदल न जाय तबतक) हमेशा ही उसके सबसे प्रमुख रहनेका ही यह प्रभाव होता है कि व्यक्ति इस तरह अनुभव करता है मानों वह एक सामान्य ननुष्य जैसा या उससे भी निकृष्ट है, बिलकुल बाह्य चेतनामें स्थित है, उसकी आन्तर चेतना ढंकी हुई है, उसके अन्दर योग-शक्तिकी क्रिया प्रत्यक्षतः रुकी हुई है। ऐसा प्रारंभिक अवस्थाओंमें भी होता है किन्तु साधारणतया यह तब अपने पूर्णरूपमें नहीं होता क्योंकि प्राण या मनकी कोई वस्तु स्थूल सत्तामें तब भी सक्रिय होती है, अथवा यदि साधना पूरी तरह रुक जाय तब भी, यह देरतक नहीं टिकता इसलिये व्यक्तिका उसकी ओर अधिक

ध्यान नहीं जाता। किन्तु व्यक्ति जब योगकी मानसिक और प्राणिक भूमिकासे भौतिक सत्तामें उतर आता है तो यह अवस्था जो स्थूल चेतनाके लिये सहज है, पूरी तरह व्यक्त हो जाती है और लम्बे कालतक कायम रहती है। यह इसलिये होता है कि व्यक्तिको नीचे आना होता है और इसमें प्रवेश करके इस हिस्सेके साथ सीधे ही बरतना होता है,—क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो प्रकृतिका पूर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता। व्यक्तिको करना यह है कि उसे यह समझना चाहिये कि यह एक अवस्था मात्र है और यह श्रद्धा बनाये रखनी चाहिये कि उसपर अधिकार प्राप्त हो जायगा। यदि यह हो जाय, तो पहले परदेके पीछे और फिर सामने काम करनेवाली शक्तिके लिये योग-चेतनाको इस बाह्य अन्नमय कोषमें लाना और उसे ज्योतिर्मय और प्रत्युत्तरशील बनाना सरल हो जायगा। यदि मनुष्य अटल श्रद्धा और प्रशान्ति बनाये रखे तो यह और अधिक शीघ्रतासे किया जा सकता है—यदि लम्बी कठिनाईके कारण श्रद्धाका ह्रास हो जाय या प्रशान्ति विचलित हो जाय, तो अधिक लम्बा समय लगता है किन्तु तब भी यह पूरा तो अवश्य होगा; क्योंकि, शक्ति अनुभूत न होनेपर भी आधारमें कार्य कर ही रही होती है। यह केवल तब रोकी जा सकती है जब व्यक्ति साधनासे अपनेको अलग कर लेता है या उसे त्याग देता है क्योंकि कठिनाईके कारण वह इतना अधीर हो जाता है कि इसे साथ लिये हुए पार नहीं पहुँच पाता। यही एक ऐसी चीज है जिसे कदापि नहीं करना चाहिये।

*

इसका अर्थ यह है कि सब अंगोंके लिये केवल एक ही साधना है, कोई अलग मानसिक साधना, प्राणिक साधना या भौतिक साधना नहीं—किन्तु कभी-कभी साधनाकी क्रिया प्रत्येक अंगके साथ अलग-अलग ढंगसे लागू की जाती है, इसके विपरीत कभी-कभी यह क्रिया मानसिक और प्राणिक एक साथ, या प्राणिक और भौतिक मिलकर या तीनों सम्मिलित रूपमें होती है। किन्तु साधना तो हमेशा वही एक रहती है।

*

जब मैंने भौतिक तमस्के विषयमें व्याख्या की थी तो मेरा आशय यह था कि यह भौतिक तमस् ही सारे समय पुरानी क्रियाओंको बाहर निकालनेसे

रोकता आ रहा है और पहले जब उन्हें धक्के देकर निकाल दिया गया था तब वे इसीके कारण लौटनेमें समर्थ हुई—क्योंकि प्रतिरोधका सुदृढ़ आधार अर्ध-चेतन या अवचेतन स्थूल सत्तामें है। जब यह तमस् ऊपर आता है और अपना पृथक् अस्तित्व प्रकट करता है और प्राण द्वारा पोषित नहीं होता अपने तमस्के बलपर ही कार्य करता है और मन या प्राणकी अनुमतिसे समर्थन नहीं पाता, केवल पुराने अभ्यासके बलपर पुरानी क्रियाओंको दुहराता रहता है—तब प्रतिरोधके फूलों, फलों, शाखाओंके उत्पन्न होनेपर उन्हें काटते रहनेके स्थानपर मूल प्रतिरोधका सामना करना सम्भव होता है।

निश्चय ही हमें इस वस्तुसे छुटकारा पाना होगा जो चाहती है कि हम कोई भी काम न करें—क्योंकि इसका अर्थ है तमस्‌की शक्तिको मौन स्वीकृति दे देना। यदि तुम और कुछ न कर सको तो आत्म-पीड़न इत्यादिकी पुरानी पद्धतियां स्पष्ट ही असफल सिद्ध होंगी—तुम्हें भागवत शान्ति और शक्तिको नीचे उतरनेके लिये और उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये पुकार करते रहना चाहिये और इस क्रियाके प्रति अपनेको उद्घाटित करना चाहिये। यदि यह बाधा देनेवाली स्थूल सत्ता इस शान्ति और शक्तिको प्रवेश करने दे और इसे प्रत्युत्तर देने लगे तो समस्याकी चाबी तुम्हारे हाथमें आ जायगी।

*

मैं यह कह चुका हूँ कि तुम्हारी चेतना नीचे उतरकर उस बाह्य भौतिक प्रकृतिके सीधे सम्पर्कमें आ गई है जो सदा ही निम्नतर क्रियाओंसे भरी रहती है और जब ऐसा होता है तो तुम उसके यथार्थ रूपको देखते हो, जब कि वे मन और चैत्यके नियन्त्रणके अधीन नहीं होती। प्रत्येक व्यक्तिको इस सीधे सम्पर्कमें आना होता है—अन्यथा सत्ताके इस भागमें कोई रूपान्तर नहीं हो सकता।

*

हां, निश्चय ही इसी बातपर मैं आग्रह कर रहा हूँ अर्थात् इस जड़ भौतिक भागमें जिसने अपनेको प्रमुख बना लिया है, उपलब्धिको लाना। जब सत्ताका कोई भाग अपने सभी दोषों और न्यूनताओंको प्रकट करते हुए इस प्रकार प्रमुख बन जाता है—यहां वे दोष आदि हैं तमस् या अप्रवृत्ति, अंधकार या

अप्रकाश जो ठीक किये जानेके लिये सामने आये हैं — तो वह पहले या प्रारंभिक रूपान्तरके लिये ऊपर आया होता है। आवश्यक परिवर्तन है मनमें शान्ति और प्रकाश, हृदयमें प्रेम और सहानुभूति, प्राणमें स्थिरता और बल, भौतिक सत्तामें सुस्थिर ग्रहणशीलता और प्रत्युत्तरकी शक्तिका (प्रकाश, प्रवृत्ति) आना।

*

जैसा तुम अनुभव करते हो उसका कारण केवल यह है कि तुमने अपना तादात्म्य व्यापक रूपसे उस हिस्सेके साथ कर लिया है जिसका परिवर्तन अभी नहीं हुआ है और इसीलिये तुम कठिनाईका, यहांतक कि परिवर्तनकी असंभवताका अनुभव करते हो। किन्तु इसमें कठिनाई विद्यमान होनेपर भी असंभवताका कोई अस्तित्व नहीं। यहांतक कि यह तादात्म्य भी सहायक सिद्ध हो सकता है क्योंकि इस तरह यह परिवर्तन स्वयं इस हिस्सेमें एक प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा या मन अथवा उच्चतर प्राणके माध्यमसे उसपर किसी परोक्ष प्रभावके द्वारा आमूल हो सकता है। आराम करो और अपनी भौतिक शक्तियोंको फिरसे प्राप्त करो, अपनेको इस प्रकार उद्घाटित करो कि माताजीकी शक्ति तुमपर उन्मुक्त होकर कार्य कर सके, सब कठिनाई गुजर जाये और एक नवीन एवं अधिक शक्तिशाली क्रियाका श्रीगणेश हो जाय।

*

जिस चीजका वर्णन तुमने किया है वह है स्थूल चेतना; यह अधिकांशमें अवचेतन होती है, परन्तु इसका जो भाग चेतन होता है वह भी यंत्र-जैसा होता है और अभ्यासोंके द्वारा या निम्न प्रकृतिकी शक्तियोंके द्वारा निष्क्रिय रूपसे चलता रहता है। यह अवचेतना सदा एक ही प्रकारकी अबोध और अज्ञानपूर्ण वृत्तियोंको दुहराया करती है, जो कुछ पहलेसे है उसीकी बंधी-बंधायी धारा और सुनिश्चित नियमोंसे आसक्त रहती है, परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती, दिव्य ज्योतिको ग्रहण करना या उच्चतर शक्तिका अनुसरण करना नहीं चाहती। अथवा, अगर वह यह सब करना चाहती है तो वह उन्हें करनेमें असमर्थ होती है। अथवा, अगर वह समर्थ होती है तो दिव्य शक्ति या ज्योति उसे जो क्रिया प्रदान करती है उसे वह एक नये यंत्रवत् चालित दैनंदिन क्रियामें परिवर्तित कर देती है और इस तरह उसके समस्त प्राण और आत्माको ही निकाल फेंकती है। यह अन्धकाराच्छन्न, निर्बोध और अलस होती है तथा अज्ञान

और जड़तासे, तमस्‌के अन्धकार और सुस्तीसे भरी होती है।

इसी जड़ चेतनाके अन्दर हम सबसे पहले उच्चतर (दिव्य या आध्यात्मिक), ज्योति, शक्ति और आनन्दको, और फिर हमारे योगका जो लक्ष्य है उस अतिमानस-सत्यको ले आनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

*

मैं नहीं समझता कि तुम अपनी स्थूल चेतनाकी सिद्धिके विषयमें क्यों शंका करते हो। यदि सत्ताके शेष भागमें श्रद्धा, अचंचलता और उद्घाटन हो तो स्थूल सत्ताका उद्घाटन भी होकर रहेगा। तमस् अर्थात् जड़ता, अज्ञान, मूर्खता, क्षुद्रता, सच्ची क्रियाका अवरोध, ये स्थूल चेतनाके सार्वभौम लक्षण होते हैं, जबतक ये ऊर्ध्व स्तरसे आलोकित संस्कृत और रूपान्तरित नहीं हो जाते — ये विशेष रूपसे तुम्हारी चेतनाके ही गुण नहीं हैं। इसलिये यहां उस शंकाके लिये कोई पर्याप्त कारण या औचित्य नहीं है जिसका तुमने उल्लेख किया है।

जब अतिमानस स्थूल चेतनामें पूर्ण रूपसे नीचे उतरेगा तभी यह यहां समुचित अवस्थाओंको उत्पन्न करेगा। ऐक्यका निर्माण हो जायगा, स्थूल सत्तामें सतत सामीप्य और सम्पर्कके बोधका अनुभव होगा और जिस यथार्थ भौतिक सम्पर्ककी अपेक्षा है वह सब यहां विद्यमान होगा। जिस उदासीकी बात तुम कर रहे हो वह चैत्यकी नहीं है — क्योंकि 'विरह व्यथा' प्राणकी वस्तु है, न कि चैत्य पुरुषकी। चैत्य पुरुष कभी भी निराश-कामनासे उदासीका अनुभव नहीं करता, क्योंकि यह उसके स्वभावमें नहीं है; कभी-कभी यह दुःख अवश्य अनुभव करता है जब वह देखता है कि भगवान्‌को अस्वीकार किया जा रहा है अथवा मनुष्य या प्रकृतिका मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक भाग सत्यसे हटकर विकृति, अन्धकार, या अज्ञानका अनुसरण कर रहा है। तथापि, अतिमानसशासनके आनेके साथ ही प्राणिक बाह्य प्रकृति भी बदलनेके लिये बाध्य होगी और इसलिये इस ढंगके वेदनोंके लिये कोई गुँजाइश नहीं रहेगी।

*

जिस चेतनाके विषयमें तुम सचेतन हुए हो वह एकदम भौतिक चेतना है; वह प्रायः सभी लोगोंमें उसी तरहकी होती है। जब कोई पूर्ण रूपसे या एकमात्र उसी चेतनाके अन्दर प्रवेश कर जाता है तब उसे ऐसा मालूम होता

है कि वह कोई पशु चेतना है, वह या तो अंधकारपूर्ण और चंचल है या जड़ और निर्बोध है और दोनों अवस्थाओंमें भगवान्‌की ओर खुली हुई नहीं है। जब इसके अन्दर दिव्य शक्ति और उच्चतर चेतनाको उतारा जायगा केवल तभी इसमें मूलगत परिवर्तन हो सकता है। जब ये सब चीजें तुम्हारे सामने प्रकट हों तब तुम इनका उभार देखकर विचलित मत होओ, बल्कि यह समझो कि ये परिवर्तित होनेके लिये ऊपर आयी हैं।

अन्यान्य क्षेत्रोंकी तरह यहां भी सबसे पहले चाहिये अचंचलता — चेतनाको स्थिर बनाये रखना, उसे किसी तरह विक्षुब्ध और उद्विग्न न होने देना; उसके बाद उसी शांत अवस्थामें इस समस्त अन्धकारको दूर करने और इसे परिवर्तित करनेके लिये भागवत शक्तिका आवाहन।

*

मैं समझता हूँ कि तुम अपनी साधनामें लम्बी चुप्पीके या शून्यताके कालमें पहुँच गये हो। यह प्रायः विशेष करके तब होता है जब कि व्यक्तिको स्थूल या बाह्य चेतनामें फैंक दिया जाता है। तब स्नायविक और भौतिक अंग प्रमुख हो जाते हैं और उस योगचेतनाका तथा तुम्हारे द्वारा उल्लिखित उस छोटी और बाह्य वस्तुओंके प्रति संवेदनशीलताका लोप होनेके साथ-साथ सत्ताका मापदण्ड बनते प्रतीत होते हैं। तथापि, इस प्रकारकी अवस्था एक नवीन प्रगतिसे पहले भलीभांति अन्तरालका काम दे सकती है। तुम्हें ध्यानके लिये समय निकालनेका आग्रह रखना होगा — दिनमें किसी भी समय जब विघ्न होनेकी कम-से-कम सम्भावना हो — और ध्यानके द्वारा स्पर्शको पुनः प्राप्त करना होगा। इसमें कुछ कठिनाई आ सकती है क्योंकि स्थूल चेतना सबसे प्रमुख होती है, किन्तु एक सतत अभीप्सा इस स्पर्शको वापिस ले आयेगी। जब एक बार तुम आन्तर सत्ता और बाह्य सत्ताके बीचके सम्बन्धको पुनः स्थापित हुआ अनुभव करो तो बाह्य सत्तामें शान्ति, प्रकाश और शक्तिके उतरने-के लिये पुकार करो जिससे अत्यन्त बाह्य मन और सत्तामें सतत चेतनाके लिये एक आधारका निर्माण हो जाय जो ध्यान और एकान्त जितना ही कर्म और प्रवृत्तिके समय भी तुम्हारा साथ देगा।

*

"बाह्य शब्दोंकी और बाह्य संवेदनोंकी मर्जीके अधीन होना", "साधारण

चेतनाको अपनी इच्छाके अनुसार दूर हटानेमें असमर्थ होना", "सत्ताकी समस्त प्रवृत्तिका ही योगसे दूर हो जाना"—ये सब बातें निश्चित रूपसे भौतिक मन और भौतिक चेतनाके ऊपर लागू होती हैं जब कि वे एकदम मानों सबसे अलग हो जाते हैं और बाकी सबको पीछेकी ओर ठेलकर सामनेके भागमें आ डटते हैं। जब सत्ताका कोई भाग परिवर्तन साधित करनेके लिये सामने लाया जाता है तब प्रायः बराबर इस तरहका सब कुछ आत्मसात् करनेवाला उभार आता है, उसकी क्रिया इतनी प्रधान हो जाती है मानो उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; और दुर्भाग्यवश बराबर यही होता है कि जिस चीजको परिवर्तित करना है, जो अवांछनीय अवस्थाएं हैं, उस भागकी जो कुछ कठिनाइयां हैं, वे ही सब सबसे पहले उभड़ती, सारे क्षेत्रको दृढ़तापूर्वक अधिकृत कर लेतीं, और बार-बार घटित होती हैं। भौतिक स्तरमें जड़ता, अंधता और असमर्थता प्रकट होती हैं और प्रकट होता है इन सबका हठीलापन। इस अप्रिय अवस्थामें साधकका एकमात्र कर्तव्य यह है कि वह इस भौतिक (शारीरिक) तामसिकतासे कहीं अधिक हठी बन जाय और एक निश्चित प्रयासमें निरन्तर लगा रहे—बिना किसी अशान्त संघर्षके एक समान प्रयासमें डटा रहे—जिसमें बाधाकी इस ठोस चट्टानमें भी एक विशाल और स्थायी उद्घाटन हो जाय।

*

इसका अर्थ यह है कि अवचेतन भौतिक सत्ता तुम्हारी पूरी पकड़में आ गई है। प्रतिरोध चाहे कितना ही भारी या कष्टदायी क्यों न हों, तुम्हें तबतक धैर्य रखना है जबतक तुम निम्नस्तरमें तमस्के स्थानपर शान्ति, ज्ञान और शक्तिको न उतार लाओ।

भौतिक साधनाका लक्ष्य है देह-चेतनामें उच्चतर प्रकाश, शक्ति, शान्ति और आनन्दको उतार लाना, भौतिक सत्ताके तमस्से, भौतिक मनकी शंकाओं, सीमाओं और बाह्य प्रवृत्तियोंसे तथा प्राणिक-भौतिक (स्नायुओं) की दोषपूर्ण ऊर्जाओंसे मुक्ति पाना और उनके स्थानपर उसमें सत्य चेतना ले आना जिससे भौतिक सत्ता भागवत संकल्पका पूर्ण यन्त्र बन जाय। भोजन और शरीरकी चिन्ता उसे केवल अच्छी हालतमें रखनेके लिये ही होती है बादमें जाकर ऐसी चीजोंकी ओर ध्यान देना जरूरी नहीं रहेगा।

तुम्हें इसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। जब अन्तर्मुख होनेकी प्रवृत्ति प्रबल होती है और तब यदि शरीर जाग्रत अवस्थामें अनुभूतिमें हिस्सा

बंटानेके लिये काफी सचेतन न हो तो वह नीचे उतरती हुई शक्तियोंको निद्रा द्वारा पचानेकी चेष्टा करता है। यह सर्वसामान्य अनुभव है। पर्याप्त रूपसे पचा लेनेके बाद यह और अधिक तैयार हो जायगा।

*

भेद इस तथ्यमें है कि जो लोग साधना कर रहे हैं वे भौतिक भूमिकाका रूपान्तर करनेके लिये ही उसपर निवास करते हैं अर्थात् साधनासे उत्पन्न उस शक्तिके दबावके द्वारा जो रूपान्तरकी ओर प्रेरित करता है और जो तबतक जारी रहना चाहिये जबतक रूपान्तर साधित नहीं हो जाता। जो लोग साधना नहीं करते वे भौतिक भूमिकाको रूपान्तरित करनेके लिये नहीं बल्कि उसे ज्यों-की-त्यों बनाये रखनेके लिये ही उसमें निवास करते हैं — उसमें ऐसी कोई शक्ति या दबाव या आवश्यकता अथवा प्रेरणा नहीं होती। जो लोग साधक नहीं हैं पर जिनके मन उच्चतर चेतनाकी ओर मुड़े हुए हैं वे साधनाके लिये तैयारी कर रहे हैं और एक दिन साधना अवश्य करेंगे, चाहे वह साधना जो भी हो।

व्यक्तिके भौतिक भूमिकामें उतरनेपर भौतिक कठिनाइयोंका प्राबल्य वैसा ही होता है जैसा उसके प्राणिक भूमिकामें होनेपर प्राणिक कठिनाइयोंका। रूपान्तरका अर्थ है कठिनाइयोंका सामना करना और सत्ताके प्रत्येक भागमें उठनेवाली किसी भी वस्तुको बदलना या उसपर विजय प्राप्त करना जिससे वह भाग उच्चतर वस्तुको प्रत्युत्तर दे, किन्तु समग्र सत्ताका पूर्ण परिवर्तन तो ऊर्ध्वकी ओर आरोहण और उर्ध्वसे अवतरण द्वारा ही हो सकता है। इसका पहला कदम (साधारणतया यद्यपि हमेशा नहीं) है ऊपर स्थित आत्माकी उपब्धि और समग्र सत्तामें नीचे अत्यन्त स्थूल भूमिका तक उच्चतर शान्तिका अवतरण।

*

जहांतक यह कहा जा सकता है कि (भौतिक चेतनामें निवास) बाह्य चिह्नों द्वारा पहचाना जा सकता है वहांतक इसे मूलभूत निष्क्रियताकी एक ऐसी स्थिति भी कह सकते हैं जिसमें व्यक्ति वही होता और करता है जैसा होने और करनेके लिये भौतिक भूमिकाकी शक्तियां उसे बाध्य करती हैं। जब मनुष्य मनमें निवास करता है तब वहां एक ऐसी सक्रिय मानसिक बुद्धि एवं मानसिक संकल्प

होता है जो क्रियाको, अनुभवको, जीवनको और अन्य प्रत्येक वस्तुको नियंत्रित करने और आकार प्रदान करनेकी चेष्टा करता है। जब कोई प्राणमें रहता है तो वह ऐसी ऊर्जा, उत्साह, जोश और शक्तिसे भरा होता है जो सब अच्छे या बुरे हो सकते हैं किन्तु बहुत अधिक जीवन्त होते हैं। ये वस्तुएं भौतिक तमस्‌में या तो लुप्त हो जाती हैं या निर्बल हो जाती हैं या ऐसी शक्तियां बन जाती हैं जो आधारपर समय-समयपर क्रिया करती हैं किन्तु उसके द्वारा अभि-भूत नहीं होती। सम्भव है कि यह अवस्था चरम न हो क्योंकि व्यक्तिमें मन और प्राण भी होते हैं किन्तु यह अपना अधिकार जमा लेती है। इसमेंसे बाहर निकलनेके दो मार्ग हैं—एक है ऊपर आत्मामें उठना और वहासे स्थूल सत्ताको यन्त्रके रूपमें देखना न कि आत्माके रूपमें, दूसरा है ऊपरसे दिव्य शक्तिको नीचे ले आना और शारीरसत्ताको उस शक्तिका यन्त्र बना देना।

*

जबतक तुम्हारे पास देह है तबतक तुम स्थूल चेतनाके बिना जीवन धारण नहीं कर सकते किन्तु तुम चैत्यमें और अन्य भागोंमें अधिक केन्द्रित होकर रह सकते हो और उनके द्वारा भौतिकं सत्ताको रूपान्तरित कर सकते हो।

*

(स्थूल चेतनाके दोष) बहुतसे हैं—परन्तु मुख्य रूपमें हैं अज्ञानान्धकार, जड़ता, तमस् अशुभ शक्तियोंकी क्रीड़ाको निष्क्रिय होकर स्वीकार करना, परि-वर्तनकी अक्षमता, अपनी आदतोंके साथ लगाव, नमनीयताका अभाव, भूलनेकी आदत, उपलब्ध अनुभवों या साक्षात्कारोंको खो देना, प्रकाशको स्वीकार करने या उसका अनुसरण करनेकी अनिच्छा, (तमस् या आसक्तिके कारण या परिचित शक्तियोंके प्रति निष्क्रिय प्रतिक्रियाके कारण) उस कार्यको करनेकी असमर्थता जिसे व्यक्ति सत्य और सर्वोत्तम मानता है।

*

इस प्रकारका निषेध भौतिक प्रतिरोधकी मूल प्रकृति है और भौतिक प्रतिरोध ही जगत्‌में भगवान्‌के (अस्तित्वके) इनकारका सम्पूर्ण आधार है।

स्थूल सत्तामें सब कुछ हठीला और दुराग्रही होता है जिसका साथ निषेध और तमस्‌की अति विशाल शक्ति देती है — यदि ऐसा न होता तो साधना बहुत जल्दी ही पूरी हो जाती। तुम्हें भौतिक प्रतिरोधके इस स्वभावका सामना करके इसे जीतना होगा चाहे यह कितनी ही बार क्यों न उभरे। यही पार्थिव चेतनाके रूपान्तरकी कीमत है।

*

भौतिक पार्थिव प्रकृतिमें व्यक्तिगत कठिनाईके सिवाय सर्व साधारण कठिनाई भी है। भौतिक प्रकृति मन्द, निश्चेष्ट और परिवर्तनके लिये अनिच्छुक होतीं है; उसकी प्रवृत्ति अचल पड़े रहनेकी और थोड़ीसी प्रगतिके लिये लम्बा समय लगानेकी होती है। प्रबलसे प्रबल मनोमय या प्राणमय यहांतक कि चैत्य संकल्पके लिये भी इस जड़ताको जीतना बहुत कठिन होता है। ऊपरसे चेतना, शक्ति और प्रकाशको निरन्तर लाकर ही यह कार्य किया जा सकता है। अतएव इसके लिये और परिवर्तनके लिये सतत संकल्प और अभीप्साका होना आवश्यक है और इस संकल्पको इतना धीर और अविचल रहना होगा कि उसे स्थूल प्रकृतिका प्रबल-से-प्रबल प्रतिरोध भी न हरा सके।

*

दुराग्रह करना भौतिक मनका स्वभाव है। भौतिक प्रकृति एक ही वस्तुको सतत दुहराते रहनेपर ही अपना अस्तित्व रखती है — यह दुहराना केवल उसमें अपने विभिन्न रूपोंको लगातार प्रस्तुत करता रहता है। इसलिये यह हठीला पुनरावर्तन सक्रिय अवस्थामें उसकी प्रकृतिका एक अंग होता है; अन्यथा यह एक निष्क्रिय जड़तामें पड़ी रहती है। अतः जब हम स्थूल प्रकृतिकी पुरानी क्रियाओंसे छुटकारा पाना चाहते हैं तो ये इसप्रकार आग्रहपूर्वक बारंबार आकर प्रतिरोध करती हैं। व्यक्तिको इससे छुटकारा पानेके लिये इसके परित्यागमें अत्यन्त अडिग रहना होगा।

समस्त प्रकृतिकी तरह भौतिक प्रकृतिके भी दो पक्ष हैं — व्यक्तिगत और विश्वगत। व्यक्तिके अन्दर सभी चीजें वैश्व प्रकृतिसे आती हैं — किन्तु व्यक्तिगत भौतिक सत्ता उनमेंसे कुछको रख लेती है और अन्यको छोड़ देती है, और जिन्हें वह रखती हे उन्हें व्यक्तिगत रूप दे देती है। इसलिये कहा जा सकता है कि ये व्यक्तिगत चेतना, इसके अन्दर भी है और इसके अन्दरसे बाहर भी

आती है या इसके द्वारा उत्पन्न होती है, क्योंकि यह इन्हें एक विशेष आकार प्रदान करती है तथा ये वस्तुएं बाहर भी हैं एवं बाहरसे अन्दर भी आती हैं। किन्तु जब व्यक्ति उनसे मुक्त होना चाहता है तो वह पहले भीतरकी सब वस्तुओंको चारों ओरकी प्रकृतिमें फैंक देता है—वहांसे वैश्व प्रकृति उन्हें फिर लौटा लानेका या उनके स्थानपर अपनी नई और उन जैसी वस्तुओंको लानेका यत्न करती है। तब व्यक्तिको इस आक्रमणको लगातार पीछे हटाते रहना होगा। लगातार हटाते रहनेसे उसके बारंबार आनेकी शक्ति अन्तमें जाकर क्षीण हो जाती है और व्यक्ति मुक्त हो जाता है और उच्चतर चेतना एवं उसकी क्रियाओंको भौतिक सत्ताके भीतर लानेमें समर्थ भी।

*

पृथ्वी-चेतना परिवर्त्तित नहीं होना चाहती, अतः जो कोई भी चीज ऊपरसे इसमें अवतीर्ण होती है उसे यह अस्वीकार करती है—इसने सदा ही ऐसा किया है। इस अनिच्छाका नाश तभी हो सकता है यदि वे लोग जिन्होंने इस योगमार्गका अवलम्बन किया है अपने-आपको खोल दें तथा अपनी निम्नतर प्रकृतिको बदलनेके इच्छुक हों।

निःसंदेह, परिवर्तनमें बाधा डालनेवाली चीज है केवल प्राणिक अहंकार तथा उसका अज्ञान एवं अज्ञानाभिमान और जड़ता एवं आलस्यसे युक्त शारीरिक चेतना। जड़ताके कारण ही यह शरीर-चेतना परिवर्तनकी पुकारमात्रको बुरा मानती और उसका प्रतिरोध करती है। इसी प्रकार, आलस्यवश यह कष्ट नहीं उठाना चाहती—इसे इसमें अधिक आराम मालूम होता है कि यह सदा वही-की-वही पुरानी चेष्टाएं दुहराती हुई अपनी ही राहपर चलती रहे और, अधिक-से-अधिक, यह आशा करे कि इसके लिये प्रत्येक चीज किसी तरीकेसे किसी समय कर दी जायगी।

सबसे मुख्य बात है अन्तरकी शुद्ध वृत्ति—वह तुममें है ही। उसके बाद है अपनेको रूपान्तरित करनेका संकल्प और जो भी वस्तुएं अहंसे तथा निम्नतर प्रकृतिके तामसिक दुराग्रहसे सम्बन्ध रखती हैं उन सबको जानने और त्यागनेके लिये जागरूकता; अन्तमें, अपने आपको अपनी सत्ताके अंग-अंगमें माताजीके प्रति सदा उद्घाटित रखना ताकि रूपान्तरकी प्रक्रियामें कोई बाधा न पहुँचे।

*

शान्ति और केन्द्रीभूत शक्तिके प्रति भौतिक सत्ताके प्रतिरोधके दो पक्ष हैं —निष्क्रियता और अस्तव्यस्त छितराव। वे भौतिक प्रकृतिकी जड़ता और अस्तव्यस्त क्रियासे मिलते जुलते हैं, इसके उस पक्षसे सम्बन्ध रखते हैं जो अब कुछ वैज्ञानिकोंको यह कहनेको बाध्य करता है कि सब कुछ संयोगवश होता है और वस्तुओंमें कोई निश्चितता नहीं है परन्तु है केवल सम्भाव्यता।

*

भौतिक चेतनाकी जड़ता एक ऐसी वस्तु है जिसे बाहर निकालना हमेशा ही कठिन होता है —यही वह वस्तु है जो ज्ञान और परिवर्तनके संकल्पके होनेपर भी किसी भी प्राणिक प्रतिरोधकी अपेक्षा कहीं अधिक अज्ञानकी सभी क्रियाओंके पुनरावर्तनको जारी रखती है। पर साधकको संकल्पमें इनके समान ही अडिग होकर इस कठिनाईका सामना करके इसपर विजय पानी होगी। यह एक स्थिर ज्वाला है जिसे जलते रहना होगा, उतनी ही स्थिरताके साथ जितना कि अवरोध हठीला है। इसलिये अज्ञानके अवरोधके हठीलेपनसे निरुत्साह मत होओ। माताजीकी शक्तिके सहारे विजय प्राप्त करनेके लिये तुम्हारे संकल्पकी अटलता प्रतिरोधको समाप्त कर देगी।

*

स्थूल सत्ताका जड़ताके प्रति बहुत अधिक झुकाव होता है; उच्चतर चेतनामें निवास करनेका अभ्यास हो जानेके बाद भी कोई भाग जड़ताका दबाव अनुभव कर सकता है—साधारणतया ये बिलकुल बाह्य या अत्यन्त स्थूल भाग होते हैं। जड़ता सामान्यतया अवचेतनसे उभरती है। यह भौतिक सत्तामें स्थित उच्चतर चेतनाका नाश नहीं करती किन्तु इसकी क्रियाको मन्द कर देती है या फिर उसे ऊंचे स्तरसे उतारकर निचले स्तरपर ले आती है उदाहरणार्थ, संबोधिसे उच्चतर मनपर या अधिमानसकी उच्चतर भूमियोंसे निम्नतर प्रदेशोंपर । कुछ समय तक यह सिद्धिकी पूर्णताका विरोध करती है। जब अत्यन्त स्थूल और अवचेतन तथा पारिपार्श्विक चेतना पूरी तरह मुक्त कर दी जाती है केवल तभी आदिम जड़ताके इस मन्द या हीन करनेवाले प्रभावपर पूर्ण विजय होती है।

*

प्रत्येक वस्तुके प्रति प्रतिक्रिया की जा सकती है—अन्य वस्तुओंकी तरह जड़ता भी अपनी तरंगें फैला सकती है।

*

मन और प्राणकी अपेक्षा स्थूल सत्ता और अवचेतनके साथ व्यवहार करते समय क्रिया हमेशा ही अधिक धीमी होती है क्योंकि भौतिक उपादानका प्रतिरोध सदैव अधिक भारी, कम सुबोध एवं कम नमनीय होता है; किन्तु क्षतिपूर्तिके रूपमें, इस अधिक धीमी क्रियाके द्वारा सत्तामें किया गया कार्य अन्ततोगत्वा अधिक पूर्ण, ठोस और चिरस्थायी होता है।

*

भौतिक अवरोध (प्राणिक अवरोधकी अपेक्षा) कम धृष्ट होता है, किन्तु मैंने पाया है कि यह कम जिद्दी और कम कष्टदायक नहीं होता।

*

भौतिक प्रकृतिकी कठिनाई अनिवार्यतः साधनाके विकासके मार्गमें अवश्य ही आती है। इसके अवरोधको, इसकी जड़ताको, इसकी अभीप्सा या क्रियाके अभावको, पहले अपनेको प्रदर्शित करना होता है उसके बाद ही इनसे छुटकारा पाया जा सकता है—अन्यथा यह सदा अलक्षित, सर्वोत्तम साधनामें भी रोड़े अटकानेवाली और इसकी पूर्तिमें बाधक बनी रहेगी। स्थूल प्रकृतिका इस प्रकार उभरना परिस्थितियोंके अनुसार अधिक लम्बे या कम समयतक रहता है, किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसे इसके बीचमेंसे न गुजरना पड़े। आवश्यकता इस बातकी है कि व्यक्तिको विक्षुब्ध या चिन्तित या अधीर नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये बातें इसे केवल और लम्बे समयतक ही बनाये रखती हैं, किन्तु माताजीमें पूरा भरोसा रखना चाहिये तथा, श्रद्धा, धैर्य और पूर्ण परिवर्तनके स्थिर संकल्पके साथ शान्तिपूर्वक डटे रहना चाहिये। ऐसा होनेपर ही माताजी-की शक्ति हमारी सत्तामें अच्छे-से-अच्छा कार्य कर सकती है।

पहला उपाय है इसके (जड़ताके) आने या स्थिर हो जानेपर घबरा न जाना। दूसरा है अपनेको, अपनी ऊपरकी सत्ताके समान अपनी नीचेकी सत्ताको भी उससे अलग कर लेना, उससे तादात्म्य न कर लेना। तीसरा है

जड़ता द्वारा उभारी गई प्रत्येक वस्तुका त्याग करना तथा उसे अपना न मानना या उसे जरा भी स्वीकार न करना।

यदि तुम इन बातोंको कर सको तो तुम्हारे अन्दरकी कोई वस्तु प्रबलसे प्रबल जड़तामें पूर्णतया अविचल रहेगी। उस प्रशान्त भागके द्वारा तुम स्वयं तमस्‌में शान्ति, शक्ति, यहांतक कि प्रकाश और ज्ञानको भी नीचे ला सकते हो।

*

तमस् या अन्य किसी भी चीजको अपनेसे पृथक् अनुभव करना होगा न कि अपने उस सच्चे पुरुषके भागके रूपमें जो भगवान्‌से अभिन्न है।

*

विरोधी शक्तियां यह अनुभव करती हैं कि तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी चीज है जो तमस्‌के कायम रहनेके कारण अप्रसन्न और बेचैन है और वे आशा करती हैं कि अधिकाधिक दबाव डालनेसे वे विद्रोह उत्पन्न करेंगी। इन परिस्थितियोंमें तुम्हारे लिये महत्वकी बात है अपनी श्रद्धा, समर्पण और समताको पूर्ण बनाना। यह उतनी ही महान् और सारभूत प्रगति है जितनी कि उच्च अनुभवों आदिकी उपलब्धि।

*

यह (स्थूल सत्ताके बदलनेके लिये उग्रताका प्रयोग) कई लोगोंने किया, किन्तु मुझे इसकी उपयोगितामें विश्वास नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि स्थूल सत्ता एक हठीला अवरोध है, किन्तु इसे आलोकित करना होगा, मनाना होगा, बदलनेके लिये इसपर दबाव भी डालना होगा किन्तु इसपर न अत्याचार करना और न जबर्दस्ती इसे हांकना ही होगा। लोग मन, प्राण और शरीरपर बल प्रयोग करते हैं क्योंकि उन्हें जल्दी होती है, किन्तु मेरा हमेशा यही मन्तव्य रहा है कि यह और अधिक प्रतिक्रियाओं और विघ्न बाधाओंकी ओर ले जाता है न कि किसी यथार्थतः ठोस प्रगतिकी ओर।

*

यह (स्थूल चेतनाके अवरोधका परिणाम) व्यक्तिकी कमजोरियों और उसकी प्रगतिकी स्थितिपर निर्भर करता है। सामान्यतया अवरोध एक ऐसी जड़ता उत्पन्न करता है जो उच्चतर शक्तियोंकी क्रियामें बाधा उपस्थित करता है। प्रारंभिक स्थितिमें तो यह प्रगतिको पूरी तरह रोक सकता है। आगे जाकर यह बीच-बीचमें स्थायी जड़ता लाकर इसे धीमी करने या फिर रोकनेके लिये कार्य करता है। स्थूलचेतनाकी मुख्य कठिनाई यह है कि रूपान्तरित होनेसे पहले यह तपस्याके तनावको सहन करनेमें असमर्थ होती है—इसे परिपाचनके कालोंकी, विश्रामके लिये सामान्य चेतनामें फिरसे डूबनेकी जरूरत होती है—और जो कुछ किया जा चुका है उसका सतत विस्मरण आदि भी इसे होता रहता है।

*

यह(संकल्पकी कमजोरी) भौतिक चेतनामें नीचे उतरनेका या भौतिक चेतनाका प्रबलतासे ऊपर आनेका पहला परिणाम है—पहले तुम प्राण और मनमें अधिक निवास करते थे। भौतिक चेतना जड़तासे भरी हुई है—यह स्वयं हिलना नहीं चाहती पर किन्हीं भी शक्तियों द्वारा हिलाया जाना पसन्द करती है और यह इसकी आदत है। इस जड़ताको ऊपरसे आनेवाली शक्तियोंके संपर्कमें लाकर ठीक करना होगा। इसीलिये मैंने तुमसे उच्चतर विशालता, पवित्रता एवं शान्तिके लिये अभीप्सा करनेको कहा था जिससे वह स्थूल सत्ताको व्याप्त कर ले और इन आक्रमणकारी विचारों और आवेगोंके स्थानपर सच्ची शक्ति कार्य करने लगे।

*

साधारणतया निश्चेष्टताका काल वह होता है जब स्थूल चेतना प्रबलतम होती है क्योंकि उसकी प्रकृति है जड़ता, अर्थात् उच्चतर शक्तियों या निम्नतर शक्तियो द्वारा अथवा किन्हीं भी शक्तियों द्वारा संचालित होना, पर स्वयं न हिलना। व्यक्तिको तब भी यथाशक्ति अपना प्रयत्न करते रहना होगा पर सबसे बड़ी बात है ऊपरसे शक्तिको पुकार कर नीचे स्थूल सत्तामें ला सकना—अन्यथा पूर्ण प्रशान्त बने रहना और, अविचल रहकर इसके आनेकी प्रतीक्षा करना।

*

एक निर्विकार समता और शान्तिमें उतरती हुई अधिक सतत सक्रिय शक्तिके द्वारा ही स्थूल प्रकृतिकी सामान्य प्रवृत्तिका समूल नाश किया जा सकता है।

स्थूल प्रकृतिकी सामान्य प्रवृत्ति है जड़ बने रहना और अपनी जड़तामें केवल प्राणिक शक्तियोंको ही प्रत्युत्तर देना न कि उच्चतर शक्तियोंको। यदि मनुष्यमें पूर्ण समता और शान्ति हो तो वह जड़ताके फैलनेसे अप्रभावित रह सकता है और उसमें उसी शान्तिको उस उच्चतर चेतनाकी शक्तिके साथ धीरे-धीरे या तेजीसे नीचे ला सकता है जो इसे वदल सकती है। जब यह शान्ति उसमें विद्यमान होती है तो जड़ताकी प्रधानताके साथ-साथ आनेवाली वे कठिनाइयां और उतार-चढ़ाव जिन्हें तुम अव अनुभव कर रहे हो, और अधिक नहीं रह सकते।

*

अधिक भारी कठिनाईका कारण यह है कि साधना अब उस भौतिक भूमिकापर चल रही है जहां अभ्यासका या अभ्यस्त क्रियाका बल जो एक बार गठित हो चुका है, बहुत प्रबल होती है। जब साधना मानसिक या प्राणिक भूमिकापर हो रही होती है तो नियन्त्रण या परिवर्तन अधिक आसान होता है क्योंकि मन और प्राण भौतिक सत्तासे अधिक नमनीय हैं। किन्तु दूसरी ओर यदि स्थूल भूमिकापर कोई वस्तु निश्चित रूपसे उपलब्ध हो जाती है तो यह केवल मानसिक या प्राणिक भूमिकापर प्राप्त सिद्धिकी अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण सिद्धि होती है।

*

बहुत संभवतः १९३३ में तुम खूब तपस्या कर रहे थे और अपनेको प्रबल रूपसे संयत कर रहे थे, नहीं? जो हो कभी तुम्हारी ऐसी स्थिति थी। उसके बाद जब तुम मनोमय प्राणिक स्तरसे नीचे आये, तो तुमने बहुतसे नियन्त्रण हटा कर अपनेको ऐसे ही छोड़ दिया, परिणामतः अब तुम्हें इसे पुनः प्रतिष्ठि करनेमें कठिनाईका अनुभव होता है, इसका कारण है स्वतः चालित पुनरावर्तन-की आदत जो भौतिक प्रकृतिका लक्षण है। अब तुम्हें भिन्न ढंगसे, शान्तिके स्थापन और उसके ऊपर उच्चतर चेतनाके निर्माण द्वारा नियन्त्रण प्राप्त करना है अर्थात् मानसिक तपस्याके नियन्त्रणका स्थान आध्यात्मिक नियन्त्रणको देना

है।

*

नहीं, मानसिक नियन्त्रणको खोना जरूरी नहीं; इसके स्थानपर धीरे-धीरे चैत्य या आध्यात्मिक नियन्त्रणको स्थापित करना सर्वोत्तम है। किन्तु ऐसा बहुत लोगोंके साथ होता है कि वे दूसरे नियन्त्रणके स्थापित होनेसे पहले या उसके अभी अपूर्ण रहते ही मानसिक संयमको खो बैठते हैं और तब प्रकृतिकी शक्तियां उस भौतिक चेतनामें कार्य करती हैं जो कभी ऊपरसे उतरती हुई शान्ति या शक्ति द्वारा और कभी सामान्य प्रकृतिकी शक्तियों द्वारा अधिकृत होती हैं। हेरफेर, कम-से-कम एक अवस्थामें, प्रायः प्रत्येक व्यक्तिमें तबतक होता रहता है जबतक उच्चतर स्थिति प्रबल नहीं हो जाती।

प्राणपर पड़ी पुरानी चोटोंके विषयमें अति भावुक होकर सोचते रहना एक अस्वस्थ संवेदनशीलता है। जो वस्तु बीत चुकी है उसकी तुमपर ऐसी पकड़ नहीं रहनी चाहिये बल्कि ऐसा करना चाहिये कि वह धीमे-धीमे मिट जाय।

*

स्थूल सत्तामें पुराने संस्कारोंका प्रभाव बहुत ही अधिक होता है, क्योंकि बारंबार दुहराये गये संस्कारोंकी प्रक्रिया द्वारा ही चेतना स्थूल तत्वमें अभिव्यक्त की गई थी—और इन प्रभावोंके प्रति होनेवाली चेतनाकी उन अभ्यस्त प्रति-क्रियाओं द्वारा भी, जिन्हें, मैं समझता हूँ, मनोविज्ञानके पंडित व्यवहार कहेंगे। एक मतके अनुसार चेतना इन्हीं चीजोंकी बनी होती है—किन्तु यह प्रकृतिके समग्र स्वरूपकी व्याख्या करनेके लिये उसके केवल एक ब्यौरेको फैलाकर कहनेकी एक प्रचलित प्रथा है।

*

तुमने जो वर्णन किया है वह यही वस्तु है जो गीताके इस अनुभवका आशय है कि कर्ममात्र प्रकृति द्वारा ही किया जाता है। तुम इसे यन्त्रवत् इसलिये अनुभव करते हो क्योंकि तुम उस स्थूल चेतनामें स्थित हो जहां सब कुछ एक यान्त्रिक रचना है। मानसिक और प्राणिक भूमिकापर भी व्यक्तिको

यही अनुभव हो सकता है, किन्तु क्रियाओंके विषयमें उसे लगेगा मानों यह शक्तियोंका खेल है। तुम्हारे अन्दर इस समय जिस वस्तुका अभाव है वह है अनुभवका दूसरा पक्ष अर्थात् नीरव आत्माका या फिर उस साक्षी पुरुषका जो स्थिर, प्रशान्त, मुक्त एवं शुद्ध होता है और प्रकृतिकी लीलासे चलायमान नहीं होता। यह आनेकी चेष्टा करता है और तुम इसके भीतर जानेकी तैयारीमें ही होते हो, परंतु बहिर्मुखताकी प्रवृत्ति अब भी बहुत प्रबल है। इस प्रवृत्तिने तुम्हें तब हाथमें कर लिया जब तुम स्थूल चेतनामें उतर गये—क्योंकि सामान्य भौतिक चेतनाकी यही प्रकृति है कि वह अपनेको बाह्य व्यक्तित्वकी क्रियामें झोंक देती है। तुम्हें आन्तरिक चेतनाकी शक्तिको फिरसे प्राप्त करना है— ऊपर आत्माके रूपमें, और नीचे पुरुषके रूपमें जो पहले प्रकृतिका साक्षी और फिर उसका ईश्वर होता है।

*

ऐसा भौतिक चेतनाके प्रभावके कारण होता है। भौतिक चेतनाकी या कम-से-कम उनके अधिक बाह्य भागोंकी प्रकृति जैसा कि मैंने कहा है, जड़ होती है—वे भाग जिस किसी भी शक्तिके आदेशका पालन करनेके अभ्यस्त होते हैं, उन्हींके आदेशको मानते हैं। परन्तु अपने-आप किसी कामकी पहल नहीं करते। जब भौतिक तमस्‌का प्रभाव प्रबल होता है या जब व्यक्ति चेतनाके इस भागमें जा पड़ता है तो मन अपनेको इतना अधिक स्थूल प्रकृति जैसा अनुभव करता है कि संकल्पकी क्रिया—असम्भव हो जाती है। इसके विपरीत मानसिक और प्राणिक प्रकृति, पूरी तरहसे स्वयं संकल्प और स्वयं पहल करनेके पक्षमें होती हैं और इसलिये जब व्यक्ति मन या प्राणमें निवास करता है या उनके प्रभावके अधीन कार्य करता है तो संकल्प हमेशा अपनेको सक्रिय होनेके लिये उद्यत अनुभव करता है।

*

स्थूल चेतनाकी उदासीनता ही यह कहती है कि 'मैं तो तभी हिलती हूँ जब मुझे हिलाया जाय। देखें मुझे कौन हिला सकता है।'

*

स्थूल सत्ता उन किन्हीं शक्तियोंकी गुलाम होती है जो आदतको उत्पन्न करती हैं और आदत के यान्त्रिक बलके द्वारा इसे हांकतीं रहती हैं। जब तक मन सहमति देता है तब तक इस दासताकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जाता; लेकिन मनके इस सहमतिको खींचते ही तुम्हें इस गुलामीका बोध होता है, तुम्हें अनुभव होता है कि कोई शक्ति है जो मानसिक संकल्पके बावजूद तुम्हें धकेल रही है। यह बड़ी अड़ियल है और अपनेको बारंबार तबतक दुहराती रहती है जब तक वह आदत, वह आन्तरिक आदत जो अपनेको बाह्य क्रियामें प्रकट करती है, नष्ट नहीं हो जाती। यह एक मशीन जैसी चीज है जो एक बार चला दिये जानेपर उसी एक क्रियाको दुहराती रहती है। तुम्हें भयभीत या व्यथित होनेकी जरूरत नहीं; एक शान्त सतत अभीप्सा तुम्हें एक ऐसे स्थलपर ले आयेगी जहां आदत नष्ट हो जाती है और तुम मुक्त हो जाते हो।

*

भौतिक सत्ताकी आदत हठीली होती है और अपरिवर्तनीय प्रतीत होती है क्योंकि यह हमेशा फिर-फिर लौटती है—तब भी जब व्यक्ति समझता है कि वह चली गई। किन्तु वह वस्तुतः अपरिवर्तनीय नहीं है; यदि स्थूल मन लगाव न रखे, अलग होकर खड़ा रहे, उसे स्वीकार करनेसे इनकार कर दे, तो स्थूल सत्ताकी आदत बारंबार दुहरानेकी अपनी शक्ति खोने लगती है, कभी-कभी धीमी पड़ जाती है और कभी (किन्तु यह प्रायः कम ही होता है) अचानक रुक जाती है और उसके बाद फिर नहीं आती।

*

शर्त्त यह है कि तुम्हें अपनी साधनाको स्थूल चेतनामें लाना होगा और केवल साधना एवं भगवान्‌के लिये ही जीवन धारण करना होगा। तुम्हें उन बुरी आदतोंको निश्चित रूपसे छोड़ देना होगा जो अब भी अड़ी हुई हैं और उन आदतोंको फिर कभी नहीं अपनाना होगा जो समाप्त हो गई हैं या रोक दी गई हैं। आन्तर अनुभूतियां मन और उच्चतर प्राणके परिवर्तित होनेमें सहायक होती हैं किन्तु निम्नतर प्राण और बाह्य सत्ताके लिये आत्म-नियन्त्रणकी साधना अपरिहार्य है। बाह्य क्रियाओं और उनकी भावनाको बदलना होगा—तुम्हारे बाह्य विचार और कर्म एक मात्र भगवान्‌के लिये होने चाहिये। उसमें आत्म-संयम एवं पूरी सचाई होनी चाहिये, और तुम जो भी कार्य करते हो

उन सबमें सतत भगवान्‌का ही विचार होना चाहिये। निम्न प्राणको बदलनेका यही तरीका है। तुम्हारे सतत आत्मार्पण और आत्म-संयम द्वारा शक्तिको नीचे बाह्य सत्तामें लाया जायगा और परिवर्तन साधित किया जायगा।

II

पृथक् होनेकी शक्ति तुम्हारे चैत्य पुरुषमें विद्यमान है और तुम स्वयं उस अवस्थाका अनुभव कर चुके हो। स्वभावतः ही अभी तक यह अवस्था कभी-कभी ही आती है, क्योंकि बाह्य चेतना इसमें हिस्सा बंटानेके लिये तैयार की जा रही है और जब यह तैयार हो जायगी केवल तभी आन्तरिक चेतना अपनेको हमेशा प्रकट कर सकेगी और बाह्य सत्तामें भी आविर्भूत हो सकेगी।

तुम पूछते हो कि क्या भौतिक चेतनाकी तरह मन और प्राण भी बाधक नहीं होते। हां, किन्तु जब मैं भौतिक चेतनाका उल्लेख करता हूँ तो मेरा आशय भौतिक मन और भौतिक प्राण और साथ ही असली देह-चेतनासे भी होता है। इस स्थूल मन एवं स्थूल प्राणका सम्बन्ध जीवनकी छोटी-छोटी सामान्य क्रियाओंकेसाथ है और वे वस्तु विषयक अत्यन्त वाह्य दृष्टिऔर अभ्यस्त क्षुद्र प्रति-क्रियाओं द्वारा संचालित होते हैं तथा आन्तर चेतनाको तुरन्त ही प्रत्युत्तर नहीं देते, इसलिये नहीं कि वे इसके उसी प्रकार सक्रिय रूपसे विरोधी होते हैं जिस प्रकार प्राणिक मन और मूल प्राण हो सकते हैं, किन्तु इसलिये कि उन्हें अपनी अभ्यस्त क्रियाओंको बदलना कठिन लगता है। इस समय तुम इसी बातका अनुभव कर रहे हो और यह वस्तु तुम्हें यह विचारनेको प्रेरित करती है कि तुममें आन्तरिक अनुभवका प्रत्युत्तर देनेकी पर्याप्त शक्ति नहीं है। किन्तु यह तथ्य नहीं है; तुम्हारे मनमें एवं तुम्हारे प्राणके अधिकतर भागमें प्रत्युत्तर देनेकी पर्याप्त क्षमता है। जहां तक स्थूल चेतनाकां प्रश्न है, इसकी कठिनाई प्रत्येक व्यक्तिमें सार्वभौम रूपसे पाई जाती है और यह विशेषतः तुम्हारी ही नहीं है। यह इसलिये उभर आई है कि साधनामें जब आवश्यक परिवर्तनके लिये भौतिक चेतनापर क्रिया करनी होती है तो यह हमेशा ऊपर आ जाती है। इस क्रियाके पूरा होते ही तुम जिस कठिनाईको अनुभव करते हो वह मन्द होनेके बाद नष्ट हो जायगी।

तुम्हारे भीतर यह क्रिया चल रही है और जब तुम्हें अपने ध्यानमें श्वेत प्रकाश तथा उसके उस प्रभावका अनुभव हुआ जो आंख खोलनेके बाद भी कायम रहा, और तुम्हें लगा कि तुम्हारा सिर और आंखें शीतल और सब कुछ विस्तृत और व्यापक हो गया है तो उस समय तुम्हारे स्थूल मनमें यही

क्रिया उसे परिवर्तित करनेके लिये हो रही थी। स्थूल चेतनाका शेष भाग अभी अन्य प्रकारकी क्रियामेंसे गुजर रहा था और इसलिये उसने गरमीका अनुभव किया न कि इस मुक्तता और विशालताका। किन्तु आगे जाकर यह क्रिया पहले हृदयमें और फिर उससे भी अधिक नीचे तथा सारे देहमें उतर सकती है एवं वही मुक्ति और विशालता वहां भी आ सकती है। स्वभावतः इस समय ये परिणाम स्थायी नहीं हैं किन्तु केवल तात्कालिक हैं, वे अनुभवोंके रूपमें आते हैं न कि स्थायी उपलब्धियोंके रूपमें। किन्तु वर्तमान स्थितिमें इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। अस्थायी होने पर भी इन अनुभवोंका प्रयोजन है प्रकृतिके विभिन्न भागोंको तैयार करना और वे अवश्य ही ऐसा करते भी हैं।

मैं तुम्हें कह चुका हूँ कि 'क्ष' के भीतर दो भिन्न तत्व हैं। उसके भीतरका बाह्य मन इस विचारसे कशीदाकारी करना चाहता है कि अन्य लोग इसे कर रहे हैं और इससे माताजीकी विशेष कृपा प्राप्त होगी (जो सच नहीं है) और कहता है कि सारा काम वे ही कर रही हैं आदि। यदि हम उसे इस काममें लगे रहनेकी अनुमति प्रदान करें तो यह आध्यात्मिक दृष्टिसे इसके लिये बुरी बात होगी, विशेष करके इस समय जब कि उसकी आन्तरिक सत्ताको उसके नमन, आत्मसमर्पण द्वारा और अहंकारके बलिदानके द्वारा बलवान बनानेकी आवश्यकता है। इसीलिये हमने यह परिवर्तन करनेकी अनुमति नहीं दी। एक बार पहले जब परिवर्तन किया गया था तो उसने स्वयं पश्चाताप किया था और यह अनुभव किया था कि उसने भूल की। किन्तु स्थूल मन अपनी अभ्यस्त क्रियाओंकी ओर सतत रूपसे लौटता रहता है और उसे अनुभव द्वारा सीखनेमें समय लगता है।

तुम्हें यह पेन अपने पास रखना चाहिये और इसका उपयोग करना चाहिये। यह माताजीने तुम्हें भेंट के रूपमें दी है। इससे तुम अपने अनुभवोंको लिखो और इसे अपने अन्दर कार्य करते हुए माताजीके प्रेम और उनकी कृपाकी निशानी मानो।

*

पहले मानसिक संकल्प, उच्चतर प्राण और चैत्य सक्रिय थे; इसलिये उनकी सहमति ही निम्नतर प्राणको दबाये रखने और उसके निष्प्रभाव रहनेके लिये काफी थी। किन्तु अब तुम्हारे अन्दर स्थूल मन सक्रिय हो गया है और स्थूल मन निम्न प्राणको ऐसी महत्ता और साथ ही ऐसी शक्ति प्रदान करता

है जो उसमें पहले नहीं थी।

*

भौतिक और अवचेतन सत्ताके उद्घाटनमें सदैव देर लगती है क्योंकि यह आदतों और पुरानी क्रियाओंको सतत दुहरानेवाली एक ऐसी वस्तु है जो अन्धकारावृत अति कठोर एवं अनमनीय है तथा धीरे-धीरे वशमें आती है। भौतिक मन शेषे भागोंकी अपेक्षा अधिक सरलतासे उद्घाटित और परिवर्तित किया जा सकता है, किन्तु प्राणमय भौतिक और स्थूल भौतिक चेतना हठीली हैं। उनमें पुरानी चीजें बिना किसी कारणके एवं अभ्यासके बलपर ही बार-बार लौटती रहती हैं। प्राणमय भौतिक चेतनाका बहुतसा और स्थूल चेतनाका अधिकतम हिस्सा अवचेतनमें हैं या उसपर निर्भर करते हैं। वहां प्रगति करनेके लिये एक प्रबल और अविराम क्रिया करनेकी आवश्यकता होती है।

*

जब तक वे (स्थूल और अवचेतन सत्ताएं) अभीप्सा नहीं करती या कम-से-कम उच्चतर सत्ताकी अभीप्सा और संकल्पको पूरी तरह सहमति नहीं देती, तब तक उनमें कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता।

*

नहीं, (स्थूल मन और प्राणमय भौतिक सत्ताके) प्रतिरोधकी भी एक सीमा है। बहरहाल एक ऐसा समय आता है जब आधारभूत प्रतिरोध सदाके लिये छिन्न भिन्न हो जाता है और केवल उसके छोटे-मोटे व्यौरोंके साथ ही निबटना बाकी रहता है जो कष्टदायक नहीं होता।

*

देह-चेतनाका बहुतसा हिस्सा अवचेतन होता है और देह-चेतना एवं अवचेतन परस्पर घनिष्टतासे बंधे हुए हैं।

शरीर और स्थूल सत्ता एक नहीं है—देह चेतना समग्र भौतिक चेतनाका एक अंगमात्र है।

*

वे (स्थूलमन और प्राणमय भौतिक सत्ता) इस (निश्चेतना) के बहुत निकट हैं—स्थूल मनके उस हिस्सेके सिवाय जिसे भौतिक पदार्थों और मामलों-के साथ बरतनेके लिये सधाया गया है। किन्तु वह अपनी सीमाओंमें ही स्फूर्ति-मान, सक्रिय एवं कार्यक्षम होता है। जब उसका अतिभौतिक वस्तुओंके साथ वास्ता पड़ता है तो यह असमर्थ, प्राय: अल्प बुद्धि किन्तु तो भी अपने अज्ञानमें निश्चयात्मक, उद्धत और कट्टर हो जाता है। स्थूल चेतनाका शेष भाग निश्चेतन सत्ताके निकट है। यहां भी यदि यह सहज भावसे कार्य कर सके तो अपने क्षेत्रमें उसे सही प्रत्यक्षबोध और सहज प्रेरणा हो सकते हैं; परन्तु साधारण-तया मानव सत्तामें तो उसे ऐसा नहीं करने दिया जाता, क्योंकि मन और प्राण बीचमें हस्तक्षेप करते हैं। प्राणमय भौतिक सत्ताकी क्रिया बिलकुल तर्कहीन होती है—जब यह सही होती है तब भी अपने तर्कके औचित्यकी व्याख्या नहीं कर सकती क्योंकि यह अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वयंचालित या अभ्यस्त सहज प्रेरणाओं आवेगों, संवेदनों और बोधोंकी बनी है। मन ही अपनी क्रियाओं, युक्तियों और उचित व्याख्याओंको प्रस्तुत करता है और यदि मन पीछे हटकर निर्णय और प्रश्न करे तो प्राणमय भौतिक तत्व केवल यही जवाब दे सकता है "मैं चाहता हूँ", "मुझे पसन्द है", "मुझे नापसन्द है", "मुझे ऐसा लगता है"।

*

शान्तिपूर्वक डटे रहो और अपनेको किसी वस्तुसे अनुत्साहित न होने दो। यदि शान्ति एवं प्रफुल्लता अभी सतत रूपसे स्थिर न हुई हों तो ऐसी तो आशा थी ही; जब स्थूल चेतना और उसके अवरोधोंपर कार्य चल रहा होता है तो पहले-पहल हमेशा ऐसा ही होता है। यदि तुम लगे रहो तो वे उत्तरोत्तर अधिक बार आने लगेंगी और अधिक लंबे समय तबतक टिकेंगी जबतक कि तुम्हें सुख और शान्तिका आधार प्राप्त न हो जाय और चाहे कितने ही विक्षोभ सतहपर क्यों न आयें, वे इस आधारमें प्रवेश नहीं कर सकेंगे या इसे विचलित नहीं कर सकेंगे अथवा कुछेक क्षणोंके सिवाय इसे आच्छादित भी नहीं कर सकेंगे।

मनोदशाका निरन्तर बदलते रहना भी प्राय: सर्वसामान्य बात है क्योंकि इसके साथ ही भौतिक प्राणके ऊपर भी कार्य किया जा रहा है तथा यह परि-वर्तनशीलता अन्नमय प्राण-प्रकृतिका एक लक्षण है। इससे अपने-आपको हताश न होने दो,—आधारके अधिक दृढ़ होनेके साथ ही यह मन्द हो जायगा और

प्राण अधिक स्थिर और सम हो जायेगा।

*

तुम जो अस्थिरताकी बात कहते हो वह मानवके स्थूलमनका स्वभाव है — प्राय प्रत्येक व्यक्तिमें यह होती है क्योंकि भौतिकमन सब प्रकारकी बाह्य वस्तुओंके पीछे दौड़ता फिरता है। चेतनाको अन्तर्मुख बनाये रखना, और इसे एकमात्र भगवान्‌पर एकाग्र बनाये रखना, यह सबके लिये बहुत कठिन बात है, इसके कारण ही साधना ऐसी वस्तु हो जाती है जिसके लिये लम्बा काल और चेतनाका धीमा विकास साधारणतया आवश्यक है, कम-से-कम आरम्भमें। इसलिये इससे तुम्हें हतोत्साह होनेकी आवश्यकता नहीं। तुम्हारे आन्तरिक प्राणमें सबल संकल्प पर्याप्त रूपसे है और तुम्हारे चैत्य पुरुषके अन्दर, बहुत गहराईमें सच्ची अभीप्सा और प्रेम हैं जो चैत्य पुरुषके सक्रिय होनेपर ऊपर आते हैं और अन्तमें सारी प्रकृतिको अधिकारमें कर लेंगे।

*

यह बिलकुल स्वाभाविक है कि स्थूल मनकी अस्थिरता पूर्ण एवं सतत अचंचलता एवं श्रद्धाके स्थिर होनेमें बाधा उपस्थित करे — प्रत्येक व्यक्तिके साथ ऐसा ही होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अचंचलता और श्रद्धा प्रकृतिमें स्थिर नहीं होंगें या स्थिर नहीं हो सकते। मेरे कहनेका सारा आशय यह था कि तुम्हें उस अचंचलताके लिये सतत संकल्प बनाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे जब भी चंचलता या अस्थिरता सामने आये तो तुम्हारा शान्त रहनेका संकल्प इसका मुकाबला कर सके या तुरन्त फिरसे प्रकट होकर विक्षोभको दूर भगा सके। यह वस्तु चंचलता और अधीरताके निर्वासनको अधिक आसान बना देगी; किन्तु चाहे जो भी हो माताजीकी शक्ति उपरितलीय चेतनाके उलटफेरोंके पीछे कार्य कर रही है और यह तुम्हें उसमेंसे पार करा देगी।

तुम्हें जो अनुभव हुए थे वे उस चैत्य क्रियाकी नवीन और नये सिरेसे हुई झांकीरूप थे जो क्रिया तब भी बराबर चलती रहती है जब सतहपर उसका कोई चिह्न नहीं होता। सुनहरी तलवार सत्यकी वह तलवार थी जो कठिनाइयों-को नष्ट कर देती है।

*

स्थूल मनकी ये छोटी-छोटी बातें ऐसी हैं जो हरेक व्यक्तिमें होती हैं और वे तब झड़ जायेंगी जब अधिक सच्ची और विशाल चेतना बाहर प्रकट हो जायेगी। तुम अपने मनमें तो इसे समझते हो पर ये चीजें इसलिये अड़ी रहती हैं क्योंकि ये उनका सम्बन्ध वस्तुतः क्षुद्रतर प्राणिक भागसे है और इस भागके विशाल हो जानेपर ये चीजें फिर और अधिक नहीं लौट सकेंगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष विचारोंको अपने मनमें स्थान देकर उन्हें निरुत्साहित कर सकता है, उदाहरणार्थ यह कि वे सब वस्तुएं जो तुम्हें तंग करती हैं, प्रकृतिकी ही हैं और प्रकृतिके परिवर्तन करनेसे ही जा सकती हैं, और यह कि व्यक्तिको स्वयं अच्छी तरह काम करना चाहिये परन्तु उस काममें अन्य लोगोंके दोषोंसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये एवं यह कि वे ठीक काम करें इसके लिये प्रशान्त आन्तरिक संकल्प करना उनकी कमियोंसे चिढ़ने और विक्षुब्ध हो जानेकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। परन्तु मूलतः अपने मन, प्राण और शरीरमें विशाल बनी हुई चेतना द्वारा ही तुम इन तुच्छ प्रतिक्रियाओंसे पूरी तरह मुक्त हो जाओगे। अपने अन्दर कार्य करनेवाली माताजीकी शक्तिके साथ तुम्हें अपनी साधना जारी रखनी है और आगे चलकर ये चीजें अपने-आप सीधी हो जायेंगी।

*

इन छोटी-छोटी क्रियाओं (व्यर्थकी बातचीत आदि) को बदलना सबसे अधिक कठिन होता है कारण एक तो ये बहुत छोटी-छोटी होती हैं और दूसरे इन्हें जीवनकी स्वाभाविक एवं तुच्छ दैनिक क्रियाएं समझकर व्यक्तिको उनमें बारंबार लगे रहनेकी आदत होती है। इसके लिये करने योग्य सबसे उत्तम बात यह है कि मनमें और उच्चतर प्राणमें शक्ति, प्रकाश और शान्तिको तबतक संचित किया जाय जबतक वे स्थूल मनको भी अधिकारमें लानेमें समर्थ न हो जायें—और तब भौतिकमन द्वारा, जो साधारणतया अल्पाधिक रूपमें इन क्रियाओंका समर्थन करता है, उनपर अधिक सफलता पूर्वक कार्य किया जा सकता है।

III

असहायताकी भावना, बाधाके निराकरणकी असम्भावना, अंधताकी भांति स्थूल चेतनाका, जो जड़ और यांत्रिक है और किसी भी शक्ति द्वारा जो उसपर अधिकार कर ले जड़तासे परिचालित होनेकी अभ्यस्त है, एक विशेष गुण है।

लेकिन असहायता और असम्भावनाकी यह भावना झूठी है और इसके सामने न झुकना, इसे स्वीकार न करना, इसे दूर करना बिलकुल सम्भव है तथा शारीरिक वाधा पर, जो अन्यथा प्रगतिमें बहुत देर कर देगी, जय पानेके लिये ऐसा करना बहुत आवश्यक है।

*

हां, वह भी स्थूल चेतनाका दोष है। वह निरन्तर इस विचारसे घिरी रहती है कि "जो है" उसे रहना ही होगा, अर्थात् वस्तुओंके स्वभावको बदला नहीं जा सकता। इस अवश्यंभाविताको वह उस वस्तुपर ही लागू नहीं करती जो है किन्तु उस वस्तुपर भी जिसके विषयमें यह महज सोचती है कि वह एक तथ्य है—यह निष्क्रिय होकर अपनेको प्रत्येक सुझाव या सम्भावनाके प्रति खुला रहने देती है तो वस्तुओंके स्वभावके कारण उचित प्रतीत होती है। स्थूल रूपान्तरकी यह प्रमुख बाधा है।

*

तुम्हारा यह सुझाव कि मैं प्रोत्साहित करनेके लिये ही ऐसी मिथ्या बातें कर रहा हूँ, भौतिक मनकी सर्वसामान्य मूर्खता है—यदि ऐसा होता तो योगके लिये अयोग्य तुम न होते बल्कि मैं ही दिव्य सत्यके खोजने और किसीका पथ प्रदर्शक बननेके लिये अयोग्य होता। क्योंकि व्यक्ति अल्पतर सत्यसे महत्तर सत्यकी ओर ले जा सकता है, किन्तु मिथ्यात्वसे सत्यकी ओर नहीं। जहांतक तुम्हारी योगके लिये योग्यता या अयोग्यताकी बात है, यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं जिसका निर्णय तुम्हारा भौतिक मन कर सके— वह वस्तुओंके तात्कालिक बाह्य रूप द्वारा निर्णय करता है और उसे उन नियमोंका ज्ञान नहीं है जो चेतनापर शासन करते हैं, न उन शक्तियोंका जो योगमें कार्य करती हैं। वस्तुतः यह प्रश्न योग्यता या अयोग्यताका नहीं किन्तु भागवत कृपाको अंगीकार करनेका है। ऐसी कोई मानव सत्ता नहीं जिसकी भौतिक बाह्य चेतना — तुम्हारी वह मांग जिसमें तुम इस समय निवास कर रहे हो — योगके लिये लायक हो। भगवत्कृपा और ऊपरके प्रकाशके द्वारा ही वह योग्य बन सकती है और इसके लिये आवश्यकता है धैर्य पूर्वक लगे रहनेकी और इसे प्रकाशके प्रति खोलनेकी। स्थूल चेतनामें प्रवेश करनेपर प्रत्येक व्यक्तिके सामने यही कठिनाई आती है और वह ऐसा अनुभव करता है कि मानों वह अयोग्य

हो और जबसे उसने योग शुरू किया तबसे उसकी कुछ उन्नति नहीं हुई, उसके अन्दर कोई वस्तु बदली नहीं; स्वभावतः ही वह सब कुछ भूल जा सकता है जो पहले हो चुका है या यह अनुभव कर सकता है कि मानों उसने इसे खो दिया या मानों यह सभी कुछ अयथार्थ और असत्य था।

मैं समझता हूँ तुमने मेरे 'तुम बहुत आगे बढ़ चुके हो', इस वाक्यांशपर इसीलिये आपत्ति की। मेरा मतलब यह था कि तुम्हारे चिन्तनशील मन, हृदय तथा उच्चतर प्राणमें अनेक उद्घाटन और बहुतसे अनुभव भी हुए थे और तुमने अपनी सत्ता और प्रकृतिकी स्थितिको अत्यन्त विशद रूपसे देख लिया था एवं तुम इतनी दूर पहुँच गये थे कि ये भाग आध्यात्मिक परिवर्तनके लिये तैयार थे—शेष रहती है स्थूल और बाह्य चेतना जिसे परिवर्तनकी आवश्यकताको स्वीकार करनेके लिये बाधित करना है। निःसंदेह यह उस कार्यका सबसे अधिक कठिन भाग है जो हमें करना है, किन्तु यह वह भाग भी है जो एक बार पूरा हो जानेपर सत्ता और प्रकृतिके सम्पूर्ण परिवर्तनको सम्भव बनाता है। इसलिये मैंने कहा था कि इतनी दूर पहुँचनेके बाद, क्योंकि यह अब प्रतिरोध करती है इसलिये इससे पीठ फेर लेना और इसे छोड़ बैठना मूर्खता होगी। यह प्रत्येक व्यक्तिमें और साथ ही बहुत हठधर्मिताके साथ प्रतिरोध करती है। किन्तु यह प्रयत्नको छोड़ देनेके लिये कोई कारण नहीं।

तुम्हारे पत्रमें इसी चेतनाने अपनेको व्यक्त किया है—या इसके उस अंधकारावृत भागने जो अपनी पुरानी प्रवृत्तिसे चिपटा हुआ है। यह साधनाको तबतक पूरा नहीं होने देना चाहती जब तक यह उससे अपनी वांछित वस्तुएं पानेमें समर्थ नहीं हो जाती। यह चाहती है अपने अहंकारकी तुष्टि, "अपनी इच्छाओंकी पूर्ति", अपनी सराहना, अपनी कामनाओंके लिये अनुमति। यह अपने ऊपर बरसाये गये बाहरी पक्षपातों द्वारा भागवत प्रेमको नापती है और यह जाननेके लिये ईर्ष्यापूर्वक देखती है कि कौन मुझसे अधिक इन अनुग्रहोंका पात्र बनता है, फिर वह कहती है कि भगवान्‌को उससे कोई प्रेम नहीं और ऐसे-ऐसे तर्क जोड़ती है जो भगवान्‌के लिये अपमान जनक होते हैं या आत्म-निन्दापूर्ण और निराशाके निमित्त होते हैं जैसे तुम्हारे पत्रमें हैं। यह अंग अकेले तुममें ही इस तरह अनुभव तथा कार्य नहीं करता किन्तु लगभग सबमें ही ऐसा करता है। यदि तुममें या अन्य लोगोंमें एकमात्र यही वस्तु होती तो योग हो ही न सकता। किन्तु प्रबल होने पर भी यही सब कुछ नहीं है—एक चैत्य पुरुष भी है तथा उससे प्रभावित और आलोकित मन एवं हृदय भी जिनमें वस्तुओंकें अन्य प्रकारके बोध तथा अन्य अन्तर्दर्शन तथा साधनाका लक्ष्य होते हैं। ये इस समय तुम्हारे अन्दर उस भागके उभरनेसे ढक गये है जिसे बदलना

है। यह तामसिक है और बदलना नहीं चाहता, तब तक विश्वास नहीं करना चाहता जब तक इसे प्राणिक अहंको आश्वस्त करनेके द्वारा विश्वास नहीं दिलाया जाता। किन्तु इस सबमें कोई नई चीज नहीं — यह मानव-प्रकृतिका एक हिस्सा है और हमेशा साधनाको रोकता और सीमित करता हुआ सदासे वहां चला आ रहा है इसका अस्तित्व निराशाके लिये कोई कारण नहीं — हरेकमें यह होता है और इसके होने पर भी, इसके द्वारा लाये गये मिश्रणके बावजूद साधना तबतक करनी होती है जबतक ऐसा समय न आ जाय जब इसका निश्चित रूपसे बहिष्कार नहीं कर दिया जाता। इसे करना कठिन तो है किन्तु है पूरी तरह सम्भव। इन चीजोंको मैं जानता हूँ और उन्हें अनुभव द्वारा समझता भी हूँ और इसीलिये मैं धैर्यपूर्वक लगे रहनेके लिये आग्रह करता हूँ और तुम्हें बढ़ते रहनेके लिये प्रोत्साहित करता हूँ; तुम्हारी स्थिति के विषयमें मेरा कथन गलत नहीं है किन्तु तुम्हारी सत्ताके इस अज्ञानमय हिस्सेने इस कथनके विषयमें जो दृष्टिबिन्दु अपनाया है वह अयुक्तियुक्त और भ्रान्तिपूर्ण है।

*

यह मिश्र अवस्था आवश्यकतासे अधिक समयतक रहती है। इसका कारण यह नहीं कि तुम सही वृत्तिको फिरसे नहीं प्राप्त कर पाते किन्तु यह है कि तुम अपने मनके एक भागमें अपनी असमर्थताके मिथ्या सुझावको स्वीकार कर लेते हो। तुम्हारी स्थूल चेतनाका एक हिस्सा पुरानी क्रियाओंकी स्मृतिको बनाये रखता है और उसे उन्हें प्रवेश करने देनेकी तथा अनिवार्य समझनेकी आदत है। तुम्हें चेतनाके अधिक स्पष्ट भागको साथ लेकर यथार्थ सत्यके लिये आग्रह बनाये रखना चाहिये, साथ ही इन सुझावों और वेदनोंको तबतक अस्वीकार करते रहना चाहिये जबतक यह तमसाच्छन्न भाग भी अपनेको खोल न दे और प्रकाशको अन्दर न आने दे।

*

यह उन तामसिक, शक्तियोंका सुझाव है जो कठिनाईपर तुली हुई हैं और उसे उत्पन्न करती हैं एवं स्थूल चेतना इसे अंगीकार कर लेती है। अभीप्सा असलमें कभी कठिन नहीं होती। सम्भव है कि परित्याग तुरन्त प्रभाव उत्पन्न न करे, किन्तु परित्याग और निषेध के संकल्पको बनाये रखना तो सदा ही सम्भव है।

*

सक्रिय साधनोंसे तुम्हारा क्या अभिप्राय है? सत्तामें निषेध और परित्याग करनेकी और जबतक परित्याग सफल न हो जाय तबतक परित्याग करते रहनेकी शक्ति सदा ही रहती है। तमस् को दी जानेवाली व्यक्तिकी अपनी मौन सहमतिको छोड़कर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो प्रशान्त अभीप्सामें बाधा डाल सके।

*

तुम्हारे पत्रमें व्यक्त हुए विचार और वेदन अवसादसे उत्पन्न हुए हैं, इसके सिवाय इनमें अपने आपमें कोई सत्य नहीं है। ऐसी बात नहीं कि तुमने यहां रहकर उस स्थानको जरा भी अधिकृत कर लिया हो जिसे कोई अधिक अच्छे साधक सम्भाल सकते। क्योंकि एक अच्छे साधकके लिये स्थान किसी-न-किसी रूपमें सदा ही विद्यमान होता है। वह अक्षमता जो तुमने अपनेमें पाई है, अभ्यस्त बाह्य और भौतिक प्रकृतिका प्रतिरोध मात्र है, यह प्रत्येक व्यक्तिमें होती है और इसे कोई भी, चाहे कितना ही अच्छा साधक क्यों न हो, आमूल बदलनेमें समर्थ नहीं हुआ है क्योंकि यह वस्तु सबसे अन्तमें बदलती है और इसका प्रतिरोध इस समय तीव्र इसलिये है कि इसके विरोधमें ही साधनाकी शक्ति दबाव डाल रही है ताकि यह परिवर्तन साधित हो सके। जब यह हिस्सा अपनेको सामने लाता है तो यह हमेशा ऐसा दिखलानेका प्रयत्न करता है कि वह एक अपरिवर्तनीय चीज है जिसका रूपान्तर नहीं हो सकता और जिसमें साधना प्रवेश नहीं पा सकती। किन्तु यह सचमुच ऐसा नहीं होता और व्यक्तिको इस प्रतीतिसे धोखा नहीं खाना चाहिये। जहांतक पागल होनेके भयका प्रश्न है, यह केवल एक स्नायवीय प्रभाव है जो तुम्हें दूर कर देना चाहिये। इस प्रकारकी उथल-पुथलका कारण प्राणिक निर्बलता नहीं बल्कि स्थूल मनका अज्ञान और उसकी निर्बलता ही है जो अतिरंजित प्राणिक प्रकृतिकी ऐसी क्रियाओं (उदाहरणार्थ अतिरंजित आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा) से मिली होती है जो इतनी प्रबल होती हैं कि मन उन्हें नहीं सह सकता। तुम्हारे मामलेमें ऐसा नहीं है। तुम्हें आन्तर शान्ति, विशालता, आनन्द, भगवान्‌के प्रति उन्मुख आन्तर जीवनका लम्बा अनुभव रहा है और उसे पानेवाले व्यक्तिको सर्व-साधारण अक्षमताकी बात नहीं करनी चाहिये, चाहे उसके सामने बाह्य प्रकृतिकी कोई भी कठिनाइयां क्यों न हों — जो कठिनाइयां किसी न किसी रूपमें सभीके सामने आती हैं।

*

मुझे जरा भी संदेह नहीं है कि तुम यदि लगे रहो तो साधना कर सकते हो — निश्चय ही बिना किसी सहायताके अपनी शक्तिसे नहीं, क्योंकि कोई भी ऐसा नहीं कर सकता, बल्कि तुम्हारे अन्दर जो चैत्य पुरुष है उसके संकल्प द्वारा भगवान्‌की कृपाकी सहायतासे। प्रत्येक मानव सत्ताकी स्थूल और प्राणिक चेतनामें एक ऐसा हिस्सा है जिसमें ऐसा करनेकी इच्छा नहीं होती, जो यह करनेकी क्षमताका अनुभव नहीं करता, आध्यात्मिक भविष्य और आश्वासनके सम्बन्धमें अविश्वास करता है और इस प्रकारकी किसी भी वस्तुसे उदासीन और तटस्थ रहता है। साधना करते हुए एक ऐसा काल आता है जब यह वस्तु उभर आती है और व्यक्ति अपनेको उसके साथ एकाकार हुआ अनुभव करता है। यही बात तुम्हारे साथ हुई है, किन्तु ऐसे बीमारीके आक्रमण और स्नायवीय अस्वस्थताके साथ जिसने इस मार्गको अन्धकारमय भौतिक सत्ताके द्वारा एक अंधेरे और तीव्र कष्टमें बदल दिया है। पर्याप्त निद्रा लेने और स्नायुओंको शान्त करने तथा भौतिक ऊर्जाके लौट आनेसे इन सब चीजोंको समाप्त हो जाना चाहिये और तब इन अन्धकारमय भागोंमें प्रकाश एवं चेतनाको नीचे उतार लाना सम्भव हो जायगा। संघर्ष उत्पन्न करनेवाली तीव्र एकाग्रताकी आवश्यकता नहीं है किन्तु आवश्यकता है आत्म-उद्‌घाटनकी, अत्यधिक शान्त वृत्तिकी। इस समय साधना करनेका यत्न नहीं, किन्तु प्रकृतिके उद्‌घाटनको फिरसे स्थापित करनेके लिये शान्ति और सुख-चैनको फिरसे प्राप्त करनेकी जरूरत है।

*

निश्चय ही इसका कारण यह नहीं था कि तुम्हारे साथ माताजीका व्यवहार अन्य दिनोंसे भिन्न था या उन्होंने तुम्हें दूर ठेल दिया, परन्तु क्योंकि तुम अपनी स्थूल सत्ताके उस भागमें बन्द थे जो अब भी प्रकाशसे कतरा रहा है। यही वह भाग है जो सदैव मूलतः तुम्हारे सब बुरे भागों और कष्टदायी क्रियाओंके लिये तब भी जवाबदार था जब कि सीधी कठिनाई अधिक प्रबल रूपमें विद्यमान थी। इसकी प्रकृति है पुरानी अभ्यस्त क्रियाओंके साथ चिपटे रहना, यौगिक चेतना से कतराना और दी जानेवाली सहायताके विरोधमें अपने दरवाजे और खिड़कियोंको बन्द कर देना तथा अपनेको आहत अनुभव करनेपर अंधेरेमें रोते-धोते रहना। यह एक ऐसी वस्तु है जिससे प्रगति चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको मुक्त होना होगा। इस हिस्सेके साथ अपना तादात्म्य न करते रहो और इसे अपना सच्चा स्व न कहते रहो। अपनी आन्तर सत्तामें पीछे

लौट जाओ और इसे प्रकृतिके एक छोटे .किन्तु ऐसे हठीले अंगके रूपमें देखो जिसे हमें बदलना है। क्योंकि इसकी हठधर्मिताके सिवाय ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे तुम्हारे रास्तेको रेगिस्तानमेंसे गुजरना पड़े। इसे मुक्तिकी विशालतामें प्रवेश करना चाहिये — उस स्थिरता, शान्ति, शक्ति और प्रकाशमें अर्थात् एक ऐसी चेतनामें उद्घाटित होना चाहिये जो व्यक्तिगत चेतनाकी अपेक्षा अधिक विशाल है और जिसमें अहंकार सुख पूर्वक विलीन हो सकता है।

*

जहांतक तुम्हारी साधनामें हुई घटनाका प्रश्न है वह यह है कि तुमने अपनेको स्थूल मन और बाह्य प्राणिक प्रकृतिकी लीकमें धंसने दिया है और तुम उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों और वेदनोंके हठीले या लगातार लौटते रहनेवाले प्रत्यावर्तनमें जकड़े गये हो — ये वेदन अपने और अपने आध्यात्मिक भविष्यके सम्बन्धमें स्थायी निराशा, अनुत्साह, और दुःखवाद तथा विचार — या, यदि मुझे कहने दो तो धारणाएं हैं — जो इन भावोंको सहारा देनेके लिये आती हैं और उन्हें थामे रहती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि तुम उस संपर्क, आध्यात्मिक प्रभाव और सहायताके विरोधमें अपनेको बन्द कर लेते हो जिसे तुम कभी हमारी ओरसे आता अनुभव करते थे या करने लगे थे। यह तुम्हारे अपने गभीरतर आत्माके विरुद्ध भी तुम्हें बन्द कर देता है और तुम्हारे व्यक्तिगत प्रयत्नोंको भी निष्फल बना देता है। आध्यात्मिक साधनाके मार्गमें इस प्रकारकी दुर्घटना पर्याप्त साधारण चीज है, और पहली वस्तु जो तुम्हें इसके प्रभावोंसे मुक्त होनेके लिये करनी चाहिये वह है उन हठीले विचारों और बोधोंको दृढ़तापूर्वक दूर कर देना जो तुम्हें इस लीकमें फंसाये रखते हैं। मुझे मालूम नहीं कि तुम अपनी पहलेकी स्थितिमें लौट सकते हो या नहीं, क्योंकि व्यक्ति भूतकालीन स्थितिमें फिरसे कदाचित् ही लौट सकता है; किन्तु जो वस्तु तुमने उस समय उपलब्ध की थी और जो अब भी तुम्हारी अन्तःसत्तामें परिपक्वावस्थामें विद्यमान है उसे गतिमान् करनेके लिये शक्तिको पुनः प्राप्त करके तुम सदैव आगे बढ़ सकते हो। यदि तुम योगके किसी अगका अपने सक्रिय प्रयत्नों और अभीप्सा द्वारा जारी रखना चाहते हो तो इसका कोई कारण नहीं कि तुम उस क्षमताको फिरसे न प्राप्त कर लो; परन्तु काम जो तुम्हें करना है वह है तुम्हारी सब आशा और श्रद्धाको पंगु बनानेवाले इन विचारों और बोधोंका — दो या तीन दिनके लिये नहीं किन्तु हमेशाके लिये, जबतक वे अड़े रहें या लौटते रहें — परित्याग करना, उन्हें स्वीकार न करना,

उनका समर्थन न करना, अपनी मौन सम्मति द्वारा उन्हें हमेशा अपनी निराशा, अक्षमता और असफलताके एक ही रागको आलापनेका अधिकार न देना। मैं फिर दुहराता हूँ कि जिन विचारोंके द्वारा तुम उन्हें उचित ठहराते हो वे —केवल भौतिक मनकी धारणाएं हैं, कोई सच्ची वस्तुएं नहीं, उदाहरणार्थ यह धारणा कि तुम किसी विचारविशेषको समझनेमें 'असमर्थ' हो (तुम उसे बौद्धिक रूपसे स्वीकार करते हो या नहीं, यह अलग बात है); यह बिलकुल निश्चित है कि तुम्हारी चिन्तनशील बुद्धि अपने सामने रखी गई किसी भी वस्तुको समझनेके लिये प्रायः पर्याप्त प्रशिक्षित है। यह केवल भौतिक मन ही है जो अत्यन्त बुद्धिशाली व्यक्तिमें भी सीमित होता है और अनभ्यस्त विचारों या सम्भावित अनुभव की नई दिशाके सामने, या मनकी आदतोंके लिये विजातीय या प्राणिक सत्ताके किसी भागके लिये अरुचिकर किसी वस्तुके समक्ष मूर्खताके आवेशोंको या कम-से-कम शून्य बोधहीनताके अधिक छोटे-बड़े व्यवधानोंको खोल देता है। मैं समझता हूँ कि हम सबको अपनी प्रकृतिके इस अक्षम तत्वका अनुभव हुआ है, और यदि कोई व्यक्ति अपने-आपको इसमें स्थिर कर ले तो इसके कारण सामान्य रूपसे सरल वस्तुएं भी हमें कठिन प्रतीत होने लगती हैं और कठिन वस्तुएं हमें असम्भव लगने लगती हैं। किन्तु चिन्तनके लिये प्रशिक्षित मनको अपने ऊपर अपने इस तुच्छतर हिस्सेको क्यों हावी होने देना चाहिये? यही बात अन्य धारणाओंके सम्बन्धमें भी है। यदि तुम्हारे अन्दर कार्य करनेका दृढ़ संकल्प हो तो ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे योगमार्गमें कोई अन्य व्यक्ति कर सके और तुम न कर सको। भूतकालीन प्रशिक्षण, आदतों, और मानसिक संस्कारोंके कारण किन्हीं वस्तुओंको करनेमें अधिक लम्बा समय लग सकता है किन्तु ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो असम्भव एवं अतीव कठिन हो तथा ऐसी कोई बाधा नहीं जो स्वभावसे ही अलंघ्य हो।

*

बाह्य सत्ताका सहज प्रेरित संकल्प ही अन्धा होता है (मानसिक संकल्प नहीं) —आन्तरिक मन जानता और समझता है तथा जब यह सामने आता है तो शेष सबको आलोकित कर देता है जिससे सब स्पष्ट हो जाता है। किन्तु बाह्य सत्ता प्राणकी गलत क्रियाके द्वारा या अज्ञानमय भौतिक चेतनाके तमस्‌की निष्क्रिय स्वीकृति द्वारा अन्धकार और अस्तव्यस्तताको फिरसे अन्दर ले आती है और ज्ञान अन्धकारसे घिर जाता है। परन्तु यह (ज्ञान) वहां होता अवश्य है और उसे केवल फिरसे बाहर लाना होता है। स्थूल चेतना अपनी रचनाके

कारण ही अज्ञानमय होती है—इसे समझाया जा सकता है लेकिन यह तबतक भूलती रहती है और यह अनुभव करती रहती है कि मानों उसने कभी कुछ जाना ही नहीं—जब तक शक्ति एवं प्रकाश अन्ततोगत्वा उसपर अधिकार नहीं कर लेते, और उसके बाद वह और अधिक नहीं भूलती।

IV

तुम उस स्थूल चेतनामें और अधिक अन्दर घुसनेका यत्न करते आ रहे हो जिसमें उच्चतर चेतनाकी शान्ति एवं प्रकाशको उतार लाना है। पहले-पहल यह प्राय: अनुभवकी तीव्रतामें कुछ शिथिलताको, और पुरानी क्रियाओंकी उस अस्तव्यस्तता या पुनरावर्तनको ले आता है जिन्हें अन्य स्तरोंसे बाहर धकेल दिया गया था, किन्तु व्यक्तिको उसके कारण हतोत्साह नहीं होना होगा। इसका उपाय है इस प्रदेशमें उच्चतर शक्तियों (शान्ति आदि) को नीचे उतार लानेपर अधिक आग्रह रखना।

*

बहिर्मुख होनेके दबावको सदैव अस्वीकार करना होगा—यह भौतिक चेतनाका साधनाकी संकेंद्रित स्थितिसे बच निकलनेका तरीका है। जब परिवर्तनका कार्य विशेषत: स्थूल चेतनाकी दिशामें हो रहा होता है, तो आन्तर चेतनाको अन्दर बनाये रखना और वहांसे बाह्य सत्तापर कार्य करते रहना बहुत आवश्यक है जबतक वह भी तैयार न हो जाय।

*

चन्द्रालोकित "मैदान" है वह आध्यात्मिक चेतना जिसके द्वारोंपर मानों तुम खड़े हो और उसकी शान्ति और सुख-चैनका अनुभव कर रहे हो।

तुम बन्धनकी जिस बाधा या दीवारका अनुभव करते हो वह केवल सामान्य भौतिक चेतनाकी आदतोंकी ही दीवार है। ऐसा सबके साथ होता है,—अपने अहंकार, कामना, आवेशों और विक्षोभोंके साथ साधारण प्राणिक प्रकृति और अपनी प्रबल आदतों एवं बहिर्मुखताके साथ साधारण स्थूल प्रकृति, ये हैं वे प्रमुख बाधाएं जिनपर हमें विजय प्राप्त करनी है। जब वे शान्त हो जाती हैं तब सच्ची चेतनामें प्रविष्ट होना और माताजीके साथ संयुक्त होना

अधिक आसान होता है। परन्तु वे शान्त रहनेकी आदी नहीं होतीं और इसका (अचंचलताका) अनुभव होते ही वे बाहर निकल आना और अपनी साधारण क्रियाओंको फिरसे चालू कर देना चाहती हैं। किन्तु ये वस्तु तब हट जायगी जब आन्तर चेतना बाह्य चेतनापर पर्याप्त अधिकार जमा लेगी। तुम ज्यों-ज्यों आन्तर मार्गको विकसित होता हुआ अनुभव करते हो त्यों-त्यों आन्तरिक वस्तुएं अधिकाधिक तबतक बढ़ती और बाहर आती जायेंगी जबतक वे बाह्य आचरण-पर शासन करनेके लिये पर्याप्त शक्तिशाली न हो जायें। पुरानी वस्तुओंका उभरना और बेचैनी का बारंबार आना आदि जिन बाधाओंका तुम अनुभव करते हो वे स्थूल प्रकृतिकी इस प्रबल आदतके कारण ही आती हैं——यह स्थूल प्रकृति हमेशा उन एक ही वस्तुओं और एक ही क्रियाओंको बारंबार दुहरानेके बलपर ही जीती है जिनकी वे भूतकालमें आदी रही है। बाहर आने-पर आन्तर प्रभाव इसके लिये विचार, वेदन और क्रियाकी नई आदतोंको अधिकाधिक उत्पन्न करेगा और तब वह (स्थूल प्रकृति) इन वस्तुओंमें स्थिर होकर निवास करेगी न कि पुरानी प्रकृतिकी वस्तुओंमें।

*

तुम जिस संकीर्णता आदिकी शिकायत करते हो वे स्थूल प्रकृतिके लिये सामान्य वस्तु हैं। यह भिन्न ढंगसे कार्य करनेवाली वही वस्तु है जो 'क्ष' को उसकी भूलें बतानेपर परामर्शके प्रति विद्रोही, चिड़चिड़ा तथा बदमिजाज बना देती है। दूसरोंसे व्यवहार करते समय लगभग प्रत्येक व्यक्तिकी स्थूल प्रकृति इसी तरह असहिष्णु, तुनुकमिजाज और अधीर हो जाती है। किन्तु चैत्य प्रकृति इस स्थूल प्रकृतिका स्थान ले सकती है और इसे बदल सकती है। चैत्य प्रकृति क्या है और वह किस तरह काम करती है इस बातका अनुभव तुम्हें हो चुका है। इसलिये तुम्हें मालूम है कि तुम्हारे अन्दर कौनसा परिवर्तन होनेवाला है तथा तुम यह भी जानते हो कि यह नवीन प्रकृति बाहर आनेकी तैयारी करती हुई तुममें पहलेसे ही विद्यमान है। इसलिये यह श्रद्धा रखो कि यह अवश्य आयेगी ——और जब स्थूल चेतना आकर इन सबको अपनी पुरानी क्रियाओंसे आच्छादित कर लेती है तो उसे याद करनेकी चेष्टा करो और स्थूल मनको याद दिलाओ कि तुममें और सबमें इस परिवर्तनके द्वारा ही चीजें बदल सकती हैं। इस समय इस बातकी जरूरत है कि प्रत्येक व्यक्ति चैत्य परि-वर्तनको अपना मुख्य लक्ष्य बना ले। यदि कुछ व्यक्ति इसे विकसित करते हैं तो यह शेष लोगोंमें अधिक तेजीसे विस्तृत हो जायगा। केवल इसी तरह,

अहं और संघर्षसे पूर्ण भौतिक चेतनाकी वर्तमान स्थिति जैसी बननी चाहिये वैसी ही बन सकती है।

*

बात यह हुई है कि तुम्हारे अन्दरका चैत्य पुरुष जो कि पहले मन और प्राणमें सतत क्रिया कर रहा था, कुछ समयके लिये स्थूल चेतनाके अज्ञानसे धूमिल या आवृत हो गया है। चैत्य पुरुष ही श्रीमांके साथ तुम्हारा सम्बन्ध जोड़ता है और तुम्हारी सत्ताकी सारी गतियोंको उनकी ओर मोड़ता है। चैत्यने ही इन गतियोंको श्रीमासे खींचा है या उनके साथ इन्हें संयुक्त किया है तथा इन्हें उनपर आधारित किया है। ऐसा उसने तुम्हारे सारे मन और प्राणसत्ता तथा उनकी गतियोंके साथ किया था और उसने तुम्हें यह दिखलाते हुए कि क्या सच है और क्या मिथ्या, तुम्हें मन तथा प्राणके सभी गलत सुझावों और आक्रमणोंसे बचाया था। अब यही चैत्य पुरुष फिर तुम्हारी स्थूल चेतनामें भी प्रकट हुआ है। तुम्हें बस चैत्यमें ही निवास करना होगा और तुम्हारी सारी सत्ता श्रीमांकी ओर मुड़ जायगी; उनके साथ एक होकर रहेगी, भूल और मिथ्या सुझावोंसे सुरक्षित रहेगी—और, जैसा कि तुमने पहले किया था, साधनाकी पूर्ण सिद्धिकी ओर तुम एक बार फिर प्रगति कर सकते हो।

*

यह सब बहुत अच्छा है—यह चैत्य अवस्था है जो कि वर्द्धित हो रही है। शान्ति और स्वतःस्फूर्त्त ज्ञान चैत्य पुरुषमें हैं और वहांसे वे मन, प्राण और स्थूल सत्तामें प्रसारित होते हैं, बाह्य स्थूल चेतनामें ही कठिनाई-अभी भी अड़ी रहनेका प्रयत्न कर रही है और वह कभी स्थूल मनमें, कभी स्नायुओंमें बेचैनी लाती है, कभी शरीरमें शारीरिक व्याधिके रूपमें आती है। किन्तु ये सारी चीजें चली जा सकती हैं और अवश्य जायेंगी। स्नायुओंमें और शारीरिक कोषोंमें शान्ति और शक्तिके बढ़नेसे बीमारियां भी—पेटका दर्द, आंखोंकी दुर्बलता तथा दूसरी प्रत्येक चीज—चली जा सकती हैं।

*

इन संवेदनोंके लौट आनेकी आदत स्थूल चेतनासे सम्बन्ध रखती है और

अपनी स्थूल चेतनामें मनुष्य सदा दुर्बल होता है तथा उसकी अभ्यस्त गतियोंसे छुटकारा पाने या उनका विरोध करनेमें असमर्थ होता है। उसे ऐसा करनेमें तीन चीजें सहायता करती हैं (उसके मनके अतिरिक्त, जो कि यह कर सकनेके लिये सदैव पूर्ण सबल नहीं होता)। पहली है चैत्य पुरुष; कुछ दिनोंतक तुम्हारा चैत्य पुरुष अति सक्रिय था और ये गतियां जब-जब आनेकी कोशिश करती थी उन्हें दूर धकेल देता या जब वे अन्दर घुस आती थीं तो उन्हें तुरत बाहर फेंक देता था। चैत्य पुरुषकी यह क्रियाशीलता वापस आयगी और अन्तमें स्वयं स्थूल चेतनामें भी उतर आयगी; तब कठिनाई बहुत कम हो जायगी। दूसरी है आन्तरिक चेतनाका सदैव जाग्रत रहना। अभी यह कठिन है, क्योंकि आन्तरिक चेतनाको सदा जाग्रत केवल तभी रखा जा सकता है जब कि तुमने अपने-आपको इतना गभीर बना लिया हो कि आन्तर और बाह्यके बीचका जो पर्दा केवल एकाग्रताकी स्थितिमें हटता है वह सामान्य एकाग्रतारहित अवस्थामें भी विद्यमान न रहे। इस गभीरताके आनेके लिये ही अन्तरकी ओर जानेकी प्रबल प्रवृत्ति तुममें आ रही है। अन्तिम है श्रीमांकी शक्तिका सदा विद्यमान रहना और उसका स्थूल चेतनासे तुरत प्रत्युत्तर प्राप्त करते रहना। ये तीनों चीजें एक साथ कुछ भी कर सकती हैं। इन तीनोंको एक साथ सतत क्रियाशील बनानेमें समय लगता है, किन्तु ऐसा होना निश्चित है और ऐसा होनेपर ये आन्तरिक कठिनाइयां विलुप्त हो जायेंगी।

*

यह अनिवार्य है कि साधनाकालमें वे सब प्रकारकी अवस्थाएं आयें जिनके बीचमेंसे व्यक्तिको सत्यचेतनाकी पूर्णताकी ओर ले जाया जाता है। इस समय तुम अधिकतर व्यक्तियोंके समान स्थूल चेतनामें निवास कर रहे हो और इसकी प्रधान कठिनाई है बहिर्मुखता और सक्रिय अनुभवका इस प्रकार आच्छादित हो जाना कि व्यक्ति यह नहीं जानता कि अन्दर क्या हो रहा है या यह अनुभव करता है मानो कुछ भी नहीं हो रहा। जब ऐसा हो तो इसका अर्थ यह है कि कोई ऐसी वस्तु, स्थूल सत्ताका कोई ऐसा हिस्सा या स्तर ऊपर आ गया है जिसपर कार्य करनेकी आवश्यकता है और, जब वह किया जा चुकता है—इसमें अधिक लम्बा या कम समय लग सकता है,—तो सचेतन सक्रिय आन्तरिक अनुभव फिर प्रारम्भ हो जाता है। मनकी मूकता अपने-आपमें कोई बुरी चीज नहीं, यह क्रियाके होनेके लिये एक वांछनीय अवस्था है। सिरमें होती हुई जिस चीजका तुम वर्णन करते हो वह अवश्य ही वहां होनेवाली शक्तिकी क्रिया

ही होनी चाहिये,—इससे कभी-कभी सिरदर्द जैसा भी लगता है। किसी कठिनाईसे छुटकारा पाने या फिर ऊपरसे आनेवाली वस्तुको अन्दर लानेके लिये स्थूल मनको अधिक अच्छी तरह तैयार करनेके लिये उसके अन्दर अवश्य ही कोई क्रिया चल रही है।

महान् धैर्यकी आवश्यकता है— जिससे व्यक्ति इन अवस्थाओंमेंसे गुजर जाय और भयभीत एवं व्याकुल न हो— और इस श्रद्धाकी जरूरत है कि सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हो जायगी।

*

ऐसी बात नहीं कि तुम्हारे अन्दर कोई वस्तु हमेशा ही 'गलत' होती है किन्तु यह कि तुम्हारी अवचेतन स्थूल सत्तामें एक ऐसा हिस्सा अब भी विद्यमान है जो इन विचारों और वेदनोंके स्पन्दनोंको बहुत प्रबल रूपसे उत्तर देनेका आदी था और अब भी प्रत्युत्तर दे सकता है। साधारणतः तुम विचार या वेदनके रूपमें उन्हें जरा भी ऊपर न आने देते— यह केवल शरीरके अवसाद या थकानके रूपमें ही व्यक्त होता या, यदि यह आता तो तुम उसपर तुरन्त अधिकार कर लेते और स्पन्दन नीचे डूबकर विलीन हो जाते। किन्तु साधारण चेतनाके इस आक्रमणके प्रभावसे अत्यधिक ओतप्रोत वातावरणमें भौतिक चेतनाकी नमनीयता कम हो गई है और इसलिये वे उभरनेमें समर्थ हुए। यह एक अतीव सर्वसामान्य अनुभव है। व्यक्तिको इन हिस्सोंसे अपनेको अलग रखना है जो अभी तक निर्बल हैं और उन्हें ऐसी मशीनके कलपुर्जोंके रूपमें लेना चाहिये जिसे ठीक करना है। तुम्हारे दृष्टांतमें भी तुम्हारी स्नायवीय (प्राणमय भौतिक) सत्ता अत्यन्त सचेतन और संवेदनशील है तथा उसे वातावरणकी कोई खराबी अन्य अधिकतर लोगोंकी अपेक्षा अधिक प्रभावित करती है।

*

तुमने अपने वक्षमें जिस वस्तुका अनुभव किया वह प्राणिक चंचलता, अवसाद एवं अस्तव्यस्तताको लौटा लानेके लिये पुराने अज्ञानका भौतिक आक्रमणके द्वारा किया गया प्रयत्न था— क्योंकि ये सब चीजें अब प्रकाश और शक्तिको आनेसे रोकनेके लिये तथा उनकी क्रियाको छिपाने और अस्तव्यस्तताको उत्पन्न करने एवं शान्तिको नष्ट करनेके लिये भौतिक सत्ताकी तमसाच्छन्न करनेकी शक्तिपर ही आधार रखती हैं। यह जब भी आनेका प्रयत्न करे

तुम इसका उसी प्रकार परित्याग करो जैसे तुमने इस बार किया है।

*

यह बहुत अच्छा हुआ कि ये सब चीजें इस तरह चली गईं तथा सत्य चेतनाने भौतिक सत्तामें अपने शासनको दृढ़तया स्थापित कर लिया। ये वस्तुएं वस्तुतः वे आक्रमण हैं जो आन्तरिक भागोंकी तरह भौतिक सत्तामें भी स्थापित होते हुए नियन्त्रणको रोकनेके इरादेसे किये गये हैं। स्थूल चेतना जहां भी उद्घाटित होती है, वहां शक्ति गड़बड़ कर सकनेवाली सब वस्तुओंको झाड़कर बाहर निकाल सकती है। कभी-कभी प्रतिरोधपर विजय प्राप्त करनेमें थोड़ा समय लगता है, किन्तु अन्तमें इस नियन्त्रणके सामने सब विलीन हो जाता है।

*

निःसन्देह यह देहचेतना अभी भी कठिनाइयां उपस्थित कर रही है—परन्तु चंचलता और अस्तव्यस्तताके आते ही तुम्हें तुरन्त इन्हें समर्पित कर देना होगा और प्रतिरोध करनेवाले हिस्सेके उद्घाटनके लिये पुकार करनी होगी। इस प्रकार एक ऐसी स्थिति स्थापित करना सम्भव होता है जिसमें कठिनाईके आनेके साथ-साथ प्रतीकार करनेवाली शक्ति भी आ जाती है। उसके बाद ऐसी कोई कठिनाई नहीं रह सकेगी जो देर तक बनी रहे।

*

तुम्हारी साधनाके लिये यह आवश्यक है कि पहले स्थूल सत्ताका संपूर्ण उद्घाटन साधित किया जाय और शान्ति, शक्ति, पवित्रता तथा आनन्दके अवतरणको उसके अन्दर स्थायी बनाया जाय, साथ ही यह भाव भी बना रहे कि तुम्हारे अन्दर श्रीमांकी शक्ति विद्यमान है और कार्य कर रही है। इसी सुदृढ़ आधारपर कर्मके लिये संपूर्णतः शक्तिशाली यंत्र बना जा सकता है। यह हो जानेपर भी यांत्रिक सत्ताका क्रियात्मक रूपान्तर सिद्ध करना फिर भी बाकी रह जाता है और यह निर्भर करता है मन, प्राण और शरीरके अन्दर चेतनाकी अधिकाधिक उच्चतर शक्तिका अवतरण होनेपर—'उच्चतर'से अभिप्राय है अतिमानसिक ज्योति और शक्तिके अधिकाधिक निकटकी शक्तिसे। किन्तु मैंने अभी जिस आधारकी बात कही है केवल उसी आधारपर ऐसा

किया जा सकता है और यदि चैत्य पुरुष सतत सम्मुख भागमें रहे तथा यन्त्ररूप मन, प्राण और शरीर एव सत्ताके इन उच्चतर लोकोंके बीच माध्यमका कार्य करता रहे। अतः इस मौलिक स्थायी आधारको पहले स्थापित करना होगा।

*

हां, यह समय है जब तुम्हें आन्तर चेतनामें पूर्ण रूपसे स्थिर होनेतक डटे रहना है और नीरवता तथा शान्तिका जमे रहना इस बातकी सम्भावनाका संकेत है। जब कोई इस प्रकारकी नीरवता, शान्ति और विस्तारका अनुभव करता है तो उसे विश्वास होना चाहिये कि ये सब वास्तविक सत्ता या सत्य पुरुषसे उद्भूत हैं और मन एवं प्राणमें तथा (यदि ये पूर्ण हैं तो) शायद स्थूल चेतनामें भी प्रवेश कर रहे हैं। शारीरिक अशान्तिका कारण शायद यह है कि शान्ति और नीरवताने शरीरको छुआ तो है परन्तु अभी भौतिक या शारीर चेतनामें प्रवेश नहीं कर पायी हैं। पुरानी अशान्ति शरीरमें डटे रहनेके लिये संघर्ष कर रही है यद्यपि वह मन या प्राण या साधारणतया सम्पूर्ण स्थूल चेतनापर भी आक्रमण नहीं कर सकती। यदि वह शान्ति अवतरित होगी तो अशान्ति लुप्त हो जायगी।

यौन-संवेदन जाग्रत अवचेतनसे उभरता है। जब वह जाग्रत चेतनामें, अभिव्यक्त होनेमें असमर्थ हो जाता है तो अवचेतनसे निद्रामें उभर आता है। मनको अपने-आपको कभी उद्वेलित नहीं होने देना है—और चीजोंके साथ-साथ यह भी दूर हो जायगा।

*

भौतिक सत्ताका प्रतिरोध आसानीसे और प्रायः इसी रूपको धारण करता है तब व्यक्ति स्नायवीय संस्थानमें असुविधासे होनेवाली बेचैनीको अनुभव करता है। जब यह (प्रतिरोध) पैरोंमें होता है, तो इसका अर्थ है कि कष्टका मूल स्थान चेतनाका अत्यन्त स्थूल भाग है। यदि यह ऊपर आ ही जाय तो इसे हमेशाके लिये बाहर फैंक देना चाहिये। बहुत करके यह भाग इतना सचेतन हो गया है कि माताजीके नीचे आनेपर अत्यधिक दबावका अनुभव करता है, किन्तु इतना सचेतन नहीं कि वह उस दबावको ग्रहण और आत्मसात् कर सके, इसीलिये बेचैनी और प्रतिरोध होते हैं। यदि ऐसी ही बात हो तो उस भागमें थोड़ा और अधिक उद्घाटनके होनेपर इसे अपने-आप ही चला जाना चाहिये।

*

तुमने जो सुस्ती, बेचैनी, निर्बलता, जरा-जीर्णता या बीमारीके अनुभवका वर्णन किया है, वे सब ऐसी प्रतिक्रियाएं हैं जो तब उत्पन्न होती हैं जब स्थूल प्रकृतिकी जड़ता प्रकाशका विरोध कर रही होती है—प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मानकी (अहंकी) अनुभूतिके वेदनसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य बातें प्राणकी प्रतिक्रियाएं हैं। दोनोंको स्वीकृति देनेसे इनकार कर देना होगा। हमें केवल एक ही लक्ष्यका अनुसरण करना है वह है शान्तिकी, प्रकाशकी, शक्तिकी और सत्तामें नवीन चेतनाकी वृद्धि। इस नवीन चेतनाके साथ सच्चा ज्ञान, समझ, सामर्थ्य और बोध विद्रोह एवं संघर्षके स्थानपर सामंजस्यको और भागवत चेतना तथा संकल्पके साथ ऐक्यको उत्पन्न करते हुए आयेंगे।

*

एक विशेष प्रकारका तमस्, निद्राकी प्रवृत्ति, आलस्य, देरतक काम करते या आध्यात्मिक प्रयासके लिये बलशाली बननेकी अनिच्छा या असमर्थता, यह है मानव स्थूल चेतनाका स्वभाव। जब व्यक्ति स्थूल चेतनाको बदलनेके लिये उसमें नीचे उतरता है (लम्बे समयसे यहांकी सामान्य अवस्था यही रही है) तो यह (स्वभाव) बढ़ने लगता है। यहांतक कि कभी-कभी जब स्थूल सत्तामें साधनाका दबाव बढ़ता है या जब किसीको बहुत अन्दर जाना होता है तो यह अस्थायी रूपसे बढ़ जाता है—शरीर या तो अधिक आराम करना चाह रहा होता है या अपनी अन्तर्मुख क्रियाओंको निद्राकी प्रवृत्ति या आरामकी ओर मोड़ रहा होता है। तथापि तुम्हें उसके विषयमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। कुछ समयके बाद यह अपनेको ठीक कर लेता है; स्थूल चेतना कोषाणु-ओंमें सच्ची शान्ति और स्थिरता प्राप्त करती है और काममें पूरी तरह व्यस्त रहते समय या अत्यधिक एकाग्र अवस्थामें भी आराम अनुभव करती है और उसकी यह तमस्की प्रवृत्ति प्रकृतिसे बाहर चली जाती है।

*

तमस्को उभरनेका मौका हमेशा रातके समय अधिक मिलता है क्योंकि निद्रामें अवचेतन अधिक हिस्सा लेता है—किन्तु इसके अतिरिक्त तमस्के उभरनेके विरुद्ध एक (आन्तरिक) प्रतिक्रिया भी होनी चाहिये। शरीरके कोषाणुओंमें अचंचलता, यहांतक कि अचलताका भाव (जिसके कारण शरीर स्वयं चलनेकी अपेक्षा दूसरेसे चलाया जाता प्रतीत होता है) एक अलग चीज

है और उसे सहज ही तमस्से भिन्न रूपमें पहचाना जा सकता है। साधारणतया शान्तिका अधोमुख प्रवाह स्थाणु ब्रह्मके अधिकांशको चेतनामें नीचे स्थूलतक ले आता है जिससे व्यक्तिको उपनिषद्के "तदेजति तन्नैजति" का अनुभव होता है।

*

इस (तमस्) से मुक्त होनेके किसी प्रभावशाली बाहरी उपायको मैं नहीं जानता। कुछ लोग उन घड़ियोंमें जब कि वे साधना नहीं कर सकते, अपना समय दूसरे व्यापारोंमें—पढ़ने, लिखने या काम करनेमें—लगाते हैं और एकाग्र होनेकी जरा भी चेष्टा नहीं करते। पर मुझे प्रतीत होता है कि तुम्हें जिस वस्तुकी अधिक आवश्यकता है वह है शारीरिक शक्ति।

*

यह बिलकुल सच है कि तमस्को दूर हटानेके लिये शारीरिक व्यायाम बहुत आवश्यक है। मुझे प्रसन्नता हुई कि तुमने यह शुरू कर दी है और मुझे विश्वास है तुम यह करते रहोगे।

भौतिक तमस्को जड़मूलसे केवल अवतरण और रूपान्तरके द्वारा ही उखाड़ा जा सकता है, किन्तु शारीरिक व्यायाम और नियमित शारीरिक प्रवृत्ति शरीरमें किसी तामसिक अवस्थाको प्रबल होने से हमेशा ही रोक सकती है।

*

साधनामें एक बलशाली मन, शरीर और प्राण शक्तिकी आवश्यकता होती है। विशेष कर प्रकृतिके ढांचेमेंसे तमस्को बाहर निकालने और उसमें क्षमता और शक्तिको लानेके लिये कदम उठाने चाहिये।

योग पद्धति होनी चाहिये एक जीवन्त वस्तु, न कि कोई मानसिक सिद्धान्त या ऐसी कोई नियत पद्धति जिसके साथ व्यक्ति सभी आवश्यक परिवर्तनोंके विरुद्ध चिपटा रहे।

हमें शरीरकी दुर्बलताको ठीक करना है, उसकी उपेक्षा नहीं करनी।

दुर्बलताको केवल ऊर्ध्वसे सामर्थ्य उतारनेके द्वारा ही ठीक किया जा सकता है न कि शरीरपर बल प्रयोगके द्वारा।

*

अधिक खींचतान करनेसे जड़ता बढ़ती ही है—मानसिक और प्राणिक संकल्प शरीरपर दबाव डाल सकता है, किन्तु शरीर अधिकाधिक तनाव अनुभव करता है और अन्तमें अपना अधिकार स्थापित कर लेता है। यदि शरीर स्वयं काम करनेके लिये किसी संकल्प और शक्तिका अनुभव करे तभी वह कार्य कर सकता है।

*

पहला नियम है—पर्याप्त निद्रा और आराम लेना होगा, उसमें न अति होनी चाहिये न ही बहुत कमी।

शरीरको काम करना सिखाना होगा, किन्तु उसकी उच्चतम क्षमतासे अधिक उसके साथ खींचतान नहीं करनी होगी।

बाह्य उपाय आन्तरिक उपायके बिना प्रभावशाली नहीं होता। शरीरको 'प्रगतिशील' प्रशिक्षण द्वारा एक विशेष बिन्दु तक कार्य करनेके लिये अधिक समर्थ बनाया जा सकता है। परन्तु महत्वपूर्ण वस्तु है कर्म करनेके लिये शक्ति तथा कर्मके रसको नीचे ले आना। तब शरीर बिना कोई अनिच्छा या थकान अनुभव किये उस कार्यको करेगा जिसकी उससे मांग की जाती है।

ऐसा होनेपर भी अर्थात् शक्ति और रसके रहते भी व्यक्तिको अपनी मर्यादाके बोधको बनाये रखना होगा।

कर्म भगवान्‌के प्रति आत्मोत्सर्गका एक साधन है, किन्तु इसे उस आवश्यक आन्तर चेतनाके साथ करना होगा जिसमें बाह्य प्राणिक और भौतिक चेतना भी हिस्सा बंटाती हो।

निश्चय ही आलसी शरीर योगके लिये उपयुक्त यन्त्र नहीं है—इसे आलसी कतई नहीं रहना होगा। परन्तु एक श्रान्त और अनिच्छुक शरीर भी सही ढंगसे ग्रहण नहीं कर सकता या अच्छा यन्त्र नहीं बन सकता। सही वस्तु है दोनों अतियोंसे बचना।

*

यदि तुम्हारा शरीर काम करनेके बाद दुखता है तो सम्भव है कि तुम अपनी भौतिक शक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक काम कर रहे हो और शरीरमें ज्यादा जोर डाल रहे हो। जब तुम काम करते हो तो शक्ति तुम्हारे अन्दर उतरती है, प्राणिक ऊर्जाका रूप धारण करती है और तुम्हारे शरीरको इस तरह सहारा देती है कि "तत्काल" तो उसे थकान अनुभव नहीं होती; किन्तु जब तुम काम बन्द करते हो तो शरीर अपनी सामान्य स्थितिमें लौट जाता है और उसके प्रभावोंको अनुभव करता है — वह अभी तक इतना नहीं खुला कि शक्तिको अपने अन्दर बनाये रखे। तुम्हें यह देखना होगा कि यह (दर्दका प्रभाव) कायम रहता है या नहीं; यदि वह चला जाता है तो सब ठीक है अन्यथा तुम्हें सावधानी बरतनी होगी और अत्यधिक काम करके अपनेको बहुत थकाना नहीं होगा।

*

इस समय तुम्हारे भीतर उत्तम चैत्य स्थितिके कारण ही यह हल्कापन और काम करनेकी शक्ति आई है; क्योंकि तब तुम माताजीकी शक्तिके प्रति खुले होते हो और यही तुममें काम करती है, इसी कारण तुम्हें थकान नहीं होती। पहले तुम काम समाप्त होनेके 'बाद' ही थकानका अनुभव करते थे क्योंकि तुम्हारा प्राण खुला हुआ था और प्राणिक ऊर्जा कार्यका उपकरण बनी हुई थी किन्तु देह चेतना पर्याप्त खुली नहीं थी और कुछ दबाव अनुभव करती थी। इस बार भौतिक सत्ता भी खुल गई प्रतीत होती है।

*

पीड़ा, जलन, बेचैनी, रोना और काम करनेकी असमर्थता जिनका तुम अनुभव करते हो, तब आती हैं जब तुम्हारी प्रकृतिके किसी भागमें कोई कठिनाई या प्रतिरोध होता है। इसके आनेपर माताजीको पुकारो और इन वस्तुओंका परित्याग करो; शान्ति और अचंचलताको अपने मनमें लौटा लाने और हृदयमें स्थिर करनेके लिये उसके प्रति अभिमुख बनो, जिससे इन अन्य वस्तुओंके लिये वहां कोई स्थान न रहे।

V

आहारके लिये आसक्तिका होना, उसके लिये लोभ और बेचैनीका होना, जीवनमें उसे आवश्यकतासे अधिक महत्त्वकी चीज बना देना — यही सब यौगिक भावके विपरीत है। इस बातका ज्ञान होना कोई बुरी बात नहीं है कि अमुक चीज रसनेंद्रियके लिये सुखदायी है; केवल उस वस्तुके लिये न तो कामना होनी चाहिये न बेचैनी, न तो उसके प्राप्त होनेपर उल्लास होना चाहिये न उसके न मिलनेपर अप्रसन्नता या खेद। जब आहार स्वादिष्ट न हो अथवा प्रचुर मात्रामें प्राप्त न हो तो उससे विक्षुब्ध या असंतुष्ट न हो, साधकको सम और स्थिर बने रहना चाहिये — जितनी आवश्यकता हो बस उतनी ही निश्चित मात्रामें भोजन करना चाहिये, उससे न तो कम न अधिक। भोजनके लिये न तो उत्सुकता ही होनी चाहिये और न अरुचि।

भोजनके विषयमें ही बराबर सोचते रहना और इस तरह मनको कष्ट देते रहना भोजनकी आसक्तिसे छुटकारा पानेका एकदम गलत रास्ता है। भोजन-के प्रश्नको, बस जीवनमें उसका जो उचित स्थान है वहां ही, एक छोटेसे कोनेमें, रख दो और उसके ऊपर मनको एकाग्र न कर अन्य विषयोंपर एकाग्र करो।

*

जिह्वा-रसके आग्रहसे इतना उद्विग्न होना निश्चय ही यौगिक वृत्ति नहीं। मैं देख रहा हूं कि ये क्षुद्र वासनाएं, जिन्हें ऐसे बहुतसे लोग जो जरा भी योगी नहीं, न योग करनेके अभिलाषी ही हैं, यथोचित् स्थानमें रखना जानते हैं, यहां-के साधकोंकी — निःसंदेह सबकी नहीं, किन्तु बहुतोंकी-चेतनामें अत्यधिक महत्व-का स्थान ले रही प्रतीत होती हैं। इसमें, इसी प्रकार अन्य बहुतसे मामलोंमें वे इस बातको अनुभव करते नहीं प्रतीत होते कि यदि तुम योग करना चाहते हो तो तुम्हें छोटे-बड़े सभी मामलोंमें यौगिक वृत्ति अधिकाधिक धारण करनी चाहिये। हमारे मार्गमें यह वृत्ति बलात् निग्रह करनेकी नहीं किन्तु कामनाके विषयोंके प्रति अनासक्ति और समता रखनेकी है। बलात् निग्रह* उसी स्तरकी चीज है जिस स्तरकी मुक्त भोग; दोनोंमें ही कामना रहती है, एकमें तो यह भोग द्वारा संतुष्ट की जाती है, दूसरेमें वह प्रसुप्त रहती है और निग्रहके कारण

*उपवास इसी श्रेणीमें आता है; यह इस उद्देश्यके लिये अनेपयोगी है। इस विचारको एकदम छोड़ दो।

भड़क उठती है। व्यक्ति जब पीछे हटकर स्थित होता है और निम्नतर प्राणकी कामनाओं और शोर-शराबोंको अपना माननेसे इनकार करते हुए उनसे अलग हो जाता है तथा चेतनामें उनके सम्बन्धमें पूर्ण समता और समचित्तता विकसित करता है तभी निम्नतर प्राण क्रमशः शुद्ध और स्वयं ही स्थिर एवं सम भी हो जाता है। तुम्हें कामनाकी प्रत्येक लहरको उसके आनेपर इतने शान्त भावसे और इतनी अधिक अचल अनासक्ति पूर्वक देखना होगा जैसे तुम अपनेसे बाहर होती हुई किसी वस्तुको देख रहे हो, उसे गुजर जाने देना होगा, चेतनामेंसे उसका बहिष्कार करना होगा तथा उसके स्थानमें सच्ची क्रियाको, सच्ची चेतनाको स्थिरता पूर्वक स्थापित करना होगा।

काश लोग यह याद रखते कि वे यहां योग करनेके लिये आये हैं और इसे वे अपने जीवनका रस और स्वाद बना लेते और रसनाकी समताको पा लेते। मेरा अनुभव यह है कि यदि वे यह करें तो सब गड़बड़ियां समाप्त हो जायं और रसोईघरकी कठिनाइयां और रसोई पकानेके दोष भी गायब हो जायं।

*

आहारके प्रश्नको लेकर अपने मनको व्यग्र मत करो। उचित मात्रामें (न बहुत अधिक न बहुत कम) आहार ग्रहण करो; उसके लिये न तो लोभ हो न घृणा; बस, शरीरकी रक्षाके लिये श्रीमांके दिये हुए एक साधनके रूपमें, उचित भावके साथ, अपने अन्दर विद्यमान भगवान्‌को समर्पित करते हुए उसे ग्रहण करो; फिर उससे तामसिकता नहीं उत्पन्न होगी।

*

आवश्यक यह है कि पर्याप्त भोजन लो और उसके सम्बन्धमें और अधिक विचार न करो, साथ ही इसे देह यन्त्रके भरण-पोषणके लिये एक साधनके रूपमें ही ग्रहण करो। किन्तु जैसे व्यक्ति को आवश्यकतासे अधिक नहीं खाना चाहिये, वैसे ही उसे अत्यधिक कम भी नहीं करना चाहिये — यह ऐसी प्रति-क्रिया उत्पन्न करता है जो हमारे लक्ष्यको व्यर्थ बना देती है — क्योंकि हमारा लक्ष्य है आध्यात्मिक अनुभूति और प्रगतिपर एकाग्र होनेमें न तो भोजनकी लालचको या न ही देहके उस भारी तमस्‌को हस्तक्षेप करने देना जो अत्यधिक भोजनका परिणाम है। यदि शरीरको पर्याप्त पोषण न मिले तो वह पोषण

मिलनेकी स्थितिकी अपेक्षा भोजनके विषयमें अधिक सोचेगा।

*

ये चीजें तुम्हारे अन्दर अब भी इसलिये उठती हैं क्योंकि वे इतने लम्बे समयतक प्रमुख कठिनाइयां रही हैं और जहांतक पहली चीजका सम्बन्ध है, वह इसलिये उठती है कि तुमने किसी समय उसका मनके द्वारा बहुत समर्थन किया था। किन्तु यदि आन्तरिक चेतना उस तरह बढ़ रही है तो वे अवश्य ही चली जायेंगी। इतनी बात है कि यदि वे उठें, तो उन्हें आश्रय मत दो। शायद भोजनकी लालचके सम्बन्धमें तुम्हारी वृत्ति बिलकुल सही नहीं रही है। भोजनकी लालचपर विजय प्राप्त करनी है किन्तु इसपर बहुत अधिक विचार नहीं करना है। भोजनके सम्बन्धमें सही वृत्ति है एक विशेष समता। भोजन शरीरके भरण-पोषणके लिये है और व्यक्तिको उसके लिये भोजन पर्याप्त लेना चाहिये — जितना शरीरके लिये आवश्यक है; यदि व्यक्ति शरीरको कम खाना देता है तो शरीर अभावका अनुभव करता है और उसके लिये लालायित रहता है; यदि तुम उसे ज्यादा खुराक देते हो, तो यह प्राणको प्रश्रय देना है। जहांतक उन विशेष व्यंजनोंका प्रश्न है जिन्हें जिह्वा पसन्द करती है, उसके लिये मन और प्राणकी यह वृत्ति होनी चाहिये, "यदि मुझे मिले, तो मैं खा लूँगा; यदि न मिलें, तो मैं परवाह नहीं करूँगा।" मनुष्यको भोजनके विषयमें उसके आनन्द या अनावश्यक रूपसे उसका दमन करनेके लिये बहुत अधिक सोच-विचार नहीं करना चाहिये — यही सर्वोत्तम वृत्ति है।

*

बहुत अधिक खाना शरीरको भारी और स्थूल बना देता है, बहुत थोड़ा खाना उसे दुर्बल और संक्षोभ्य बना देता है। मनुष्यको शारीरिक आवश्यकता और भोजनकी मात्राके बीच सच्ची समस्वरता और संतुलन प्राप्त करना होगा।

*

यह इसपर निर्भर करता है कि तुम कितना पचा सकते हो। यदि तुम पचा सकते हो तो ज्यादा खानेमें कोई हर्ज नहीं, क्योंकि तुम्हें भूख लगती है। ये सारी बातें इस चीजपर निर्भर करती हैं कि शरीरकी सच्ची आवश्यकता

क्या है और यह मनुष्यके शरीरकी गठन, तथा जितना काम या व्यायाम वह करता है उसके अनुसार विभिन्न मनुष्योंमें भिन्न-भिन्न हो सकती है। शायद तुमने अपना भोजन बहुत कम कर दिया है, अतः अधिक खानेकी चेष्टा कर सकते हो।

*

परन्तु यह बिलकुल स्वाभाविक है। हमेशा यह समझा जाता है कि व्यायाम करनेसे भूख बढ़ती है क्योंकि शरीरको प्रयुक्त की गई शक्तिके अतिरिक्त व्ययको फिरसे पूरा करनेके लिये भोजनकी अधिक आवश्यकता होती है। साधारणतः शरीरको जितना अधिक काम करना होता है उतने ही अधिक भोजनकी जरूरत होती है। दूसरी ओर मानसिक कामके लिये भोजनको बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं — यह बात परीक्षण द्वारा वैज्ञानिक रूपसे निर्धारित कर ली गई है। भूख अन्य कारणोंसे बढ़ सकती है, किन्तु जब यह श्रान्त करनेवाले अत्यन्त कठोर प्रकारके खेल या शारीरिक व्यायाम करनेके कारण उत्पन्न होती है तो यह उसकी व्याख्या करनेके लिये पर्याप्त कारण है।

*

यह सच है कि बड़ी उम्रमें पहुँचनेपर व्यक्तिके लिये कम भोजन वांछनीय हो सकता है।

*

प्रकृतिकी इस वृत्ति (आहार-लिप्सा) की न तो उपेक्षा करो न इसे बहुत अधिक महत्त्व ही दो; इसका भी समुचित समाधान करना है, इसे शुद्ध करना है और इसपर प्रभुत्व स्थापित करना है, पर यह सब करना है इसे अत्यधिक महत्त्व दिये बिना ही। इसपर विजय प्राप्त करनेके दो मार्ग हैं— एक है अनासक्तिका मार्ग, भोजनको केवल शरीरकी एक आवश्यकताके रूपमें देखने और उदर तथा रसनेंद्रियकी प्राणमयी तृप्तिको कोई महत्त्वपूर्ण बात न समझनेका अभ्यास करना; दूसरा मार्ग है किसी प्रकारका आग्रह या आकांक्षा न रख जो कुछ भी खानेको मिल जाय उसे ग्रहण करने और उसीमें (चाहे दूसरे लोग उसे अच्छा कहें या बुरा) एक समान रस लेनेमें समर्थ होना—

वह रस केवल भोजनके लिये भोजनका नहीं होता, बल्कि विश्वव्यापी दिव्य आनन्दका होता है।

*

दोनों पक्षोंमेंसे किसी पर भी बनाये गये सामान्य सिद्धान्त अधिक मूल्यवान् नहीं है। भोजनकी लालसासे मुक्त होनेके लिये भोजनसे घृणा करनेकी आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर किन्हीं वस्तुओंके लिये अरुचि पैदा कर लेना उनके परित्यागमें सहायक हो सकता है — किन्तु वह भी हमेशा इसका इलाज नहीं होता, क्योंकि अरुचिके होते हुए भी वे बनी रह सकती हैं।

*

शरीरकी अवहेलना करना और उसे नष्ट होने देना भूल है। शरीर ही साधनाका आधार है और उसे अच्छी अवस्थामें रखना ही चाहिये। उसके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिये, पर साथ ही अपनी प्रकृतिके इस जड़ भागके प्रति घृणा या उपेक्षाका भाव भी नहीं होना चाहिये।

इस योगका लक्ष्य उच्चतर चेतनाके साथ केवल ऐक्य प्राप्त करना नहीं है बल्कि उस चेतनाकी शक्तिके द्वारा निम्नतर प्रकृतिका — भौतिक प्रकृतिका रूपान्तर साधित करना है।

भोजन करनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि भोजनकी वासना या लालसा हो ही। योगी वासनासे प्रेरित होकर भोजन नहीं करता, बल्कि शरीरको बनाये रखनेके लिये करता है।

*

अच्छे भोजनके प्रति आसक्तिको छोड़ना होगा इसी तरह पद और नौकरीकी व्यक्तिगत आसक्तिको भी; किन्तु इस उद्देश्यके लिये तपस्वियों जैसा भोजन करना या पैसा और नौकरी जैसे कर्मके साधनोंको छोड़ देना अनिवार्य रूपसे आवश्यक नहीं है। योगीको 'निःस्व' इन अर्थोंमें होना है: कि वह यह अनुभव करता है कि कोई भी वस्तु उसकी नहीं किन्तु सब भगवान्‌की है और उसे किसी भी समय सबकुछ भगवान्‌के प्रति उत्सर्ग करनेके लिये तैयार रहना होगा। परन्तु बाह्य रूपसे 'निःस्व' होनेके लिये बिना किसी अनिवार्य कारणके

प्रत्येक वस्तुको फैंक देनेका कोई अर्थ नहीं है।

*

मैं समझता हूँ कि तुम प्राणमय भौतिक सत्तामें स्थित भूखके तत्वके विषयमें सचेतन हो गये हो। वस्तुतः यह तृप्त करनेसे या बलात् रोकनेसे नहीं जायेगी —इसे बदलनेके लिये इसपर संकल्पका दबाव डालने और उच्चतर चेतनाको नीचे लानेके द्वारा ही यह परिवर्तित हो सकती है।

*

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार भूखको दबाना अच्छा नहीं है, यह बहुधा गड़बड़ियां पैदा करता है। मुझे इस बातमें सन्देह है कि एक स्वस्थ ढंगकी स्थूलता या कृशता भोजनकी मात्रापर निर्भर करती है—ऐसे बहुतसे व्यक्ति हैं जो खूब खानेपर भी पतले ही रहते हैं और अन्य ऐसे भी हैं जो दिनमें केवल एक ही समय भोजन खानेपर भी स्थूल रहते हैं। अपर्याप्त भोजनसे (शरीरको जितने भोजनकी आवश्यकता है उससे कम लेनेसे) कोई व्यक्ति पतला हो सकता है किन्तु यह स्वस्थ अवस्था नहीं है। चिकित्सकोंका कहना है कि अधिकतर यह किन्हीं ग्रन्थियोंकी क्रियापर निर्भर करता है। जो हो, इस समय महत्वकी बात है स्नायवीय सामर्थ्यको फिरसे पा लेना।

जहांतक जिगरका प्रश्न है, उसमें भी कम खानेसे कोई मदद नहीं मिलती, बहुधा अल्प भोजन जिगरको सुस्त बना देता है जिससे यह बहुत कम काम करता है। जिगरकी गड़बड़ीके लिये स्निग्ध भोजन और अधिक मिठाई खानेसे बचनेकी सलाह दी जाती है और यह चर्बी कम करनेका भी एक उपाय है। किन्तु बहुधा कम खाना ठीक नहीं होता—पेटकी या कांतोंकी किसी बीमारीमें यह आवश्यक हो सकता है, पर जिगरकी सामान्य गड़बड़ीमें नहीं।

*

जहांतक सन्यासियोंका और भोजनका प्रश्न है, सन्यासी लोग इसमें तथा अन्य मामलोंमें इन कामनाओंपर जोर जबर्दस्ती करते हैं—वे रूखा-सूखा भोजन एक नियमके रूपमें खाते हैं; किन्तु यह भोजनकी लालसाको अनिवार्य रूपसे नष्ट नहीं करता, वह दबी रहती है और दबाव एवं नियमको हटा लेनेपर

पहलेसे भी अधिक प्रबल रूपसे उभर सकती है—क्योंकि इन वस्तुओंको हटाये बिना उन्हें दबा देना प्रायः इनको नष्ट करनेके स्थानपर इनके बलको बढ़ाता ही है।

*

मैंने हमेशा पाया है कि जब (खानेकी इच्छाका) इस प्रकार दमन किया जाता है तो व्यक्तिके शरीरमें कुछ समयके लिये खानेके लिये एक प्रबल उत्सुकता या आवश्यकता उत्पन्न होती है, मानों शरीर अपनी पिछली कमी पूरी कर रहा हो!

*

जब लोग खाना या सोना नहीं चाहते तो पहली बात जो मैं उनसे कहता हूँ वह यह है कि बिना उचित आहार और निद्राके कोई योग नहीं हो सकता। (इस विषयपर गीताको देखो)। उपवास और अनिद्रा स्नायुओंको रुग्ण और उत्तेजित और मस्तिष्कको दुर्बल कर देते हैं तथा भ्रम और स्वैर-कल्पना पैदा कर देते हैं। गीता कहती है कि योग उसके लिये नहीं है जो बहुत अधिक खाता या बहुत अधिक सोता है, उसके लिये भी नहीं है जो न खाता है और न सोता है, परन्तु यदि कोई उचित रूपसे खाता और सोता है, युक्ताहार और युक्त-निद्र है, तो वह सर्वोत्तम रूपसे योगकी साधना कर सकता है। दूसरी हर वस्तुके साथ यही बात है। कितनी बार मैंने कहा है कि मैं एकांतकी अधिकता-पर सन्देह करता हूँ और केवल ध्यान करनेको एकांगी और इसी लिये अस्वस्थ साधना समझता हूँ।

*

आहारका त्याग करनेका विचार एक गलत प्रेरणा है। तुम थोड़ी मात्रामें भोजन करके रह सकते हो, पर एकदम भोजन किये बिना नहीं रह सकते —ऐसा तो केवल थोड़े समयतक ही किया जा सकता है। याद रखो गीताकी बात—"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। —योग उसके लिये नहीं है जो बहुत अधिक भोजन करता है और न उसके लिये है जो एकदम कुछ खाता नहीं ।" प्राणशक्ति एक और ही चीज है—बिना भोजन किये

भी उसको प्रचुर मात्रामें अपने अन्दर खींचा जा सकता है और बहुधा उपवासके समय उसकी वृद्धि ही होती है; परन्तु भौतिक तत्त्व, जिसके बिना जीवनका, प्राणका अवलम्ब ही नष्ट हो जाता है, एक दूसरी ही चीज है।

*

मनुष्य सामर्थ्यको नीचे ला सकता है, परन्तु यह देखना भी आवश्यक है कि शरीरको पर्याप्त भोजन, निद्रा और आराम मिले—इन वस्तुओंका अभाव स्नायु मण्डलमें तनाव उत्पन्न करता है और स्नायुमण्डलमें तनाव होनेपर शरीरको थकानका अनुभव होता है, वह कमजोर हो जाता है।

*

भोजनकी लालसासे छुटकारा पानेके उपायके रूपमें भोजन करना ही छोड़ देना वैरागियोंका मार्ग है। हमारा मार्ग है समत्व और आसक्तिहीनता।

*

यह बात ठीक है कि उपवास करनेपर, अगर उपवास करनेवालेका मन और स्नायु सुदृढ़ हों अथवा इच्छाशक्ति सतेज हो तो, वह कुछ समयके लिये आन्तर शक्तिमत्ता और ग्रहणशीलता की एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त कर सकता है जो मनके लिये बहुत लुभावनी होती है और उपवासकी साधारण प्रतिक्रियाओंसे , भूख, दुर्बलता, अंतड़ियोंकी गड़बड़ी आदिसे, सर्वथा बचा भी रह सकता है। परन्तु शरीर क्षीण होता है और जितनी प्राणशक्तिको स्नायुमंडल आत्मसात् करने या सम्भाल रखनेमें समर्थ होता है उससे कहीं अधिक प्राणशक्तिके भीतर घुस आनेसे प्राणमें अस्वस्थता और अत्यधिक थकावटकी अवस्था सहज ही उत्पन्न हो जा सकती है। जिसकी स्नायुएं दुर्बल हों, ऐसे मनुष्यको उपवास करनेके लोभसे बचना चाहिये; ऐसे मनुष्योंमें उपवासके समय या उसके बाद प्रायः ही मानसिक भ्रांति उत्पन्न होती है या मानसिक समताका ह्रास होता है। विशेषकर यदि भूख-हड़ताल करनेका उद्देश्य हो या आ जाय तो फिर उपवास करना बड़ा खतरनाक हो जाता है, क्योंकि उस अवस्थामें एक ऐसी प्राणगत वृत्तिको प्रश्रय मिल जाता है जो सहज ही एक ऐसी आदतमें परिणत हो जा सकती है जो साधनाके लिये हानिकारक और घातक होती

है। अगर इन सब प्रतिक्रियाओंसे बचा भी जा सके तो भी उपवासकी कोई पर्याप्त उपयोगिता नहीं है, क्योंकि उच्चतर शक्तिमत्ता और ग्रहणशीलता किसी कृत्रिम या भौतिक उपायसे नहीं आनी चाहिये, बल्कि चेतनाकी तीव्रता और साधनाके दृढ़ संकल्पके द्वारा आनी चाहिये।

*

मैंने इस विषयमें कभी सुना नहीं; परन्तु यह (लम्बा उपवास करना) गलत उपलब्धिका एक तरीका भर ही है, (यदि नस-नाडियां जवाब न दे दें तो) वे उत्तेजित तनावकी स्थितिमें आ जाती हैं और नई-नई उपलब्धियोंका आविष्कार करती हैं या गलत शक्तिके प्रति खुल जाती हैं। कम-से-कम ऐसा प्रायः होता है।

*

मैं समझता हूँ कि उपवास करनेके सुझावको अन्दर आने देना निरापद नहीं है — कभी-कभी यह आहार-विरोधी शक्तिके मनपर अधिकार करनेके लिये द्वार खोल देता है और वहां गड़बड़ होने लगती है। यह सुझाव सहज ही घुस आता है क्योंकि आन्तर सत्ताको निश्चय ही भोजनकी आवश्यकता नहीं होती और इस अनावश्यकताको किन्हीं शक्तियों द्वारा शरीर पर भी थोपने-का प्रयत्न किया जाता है जो इस आरामदेह नियमके अधीन नहीं है। इस (एकाग्रता और शान्ति)की अवस्थाकी सघनताको तबतक बढ़ने देना अधिक अच्छा है जबतक कि यह भोजन करते हुए और उसके बाद भी रहनेमें समर्थ न हो जाय। मैं समझता हूँ कि वस्तुतः विक्षोभ पैदा करनेवाली चीज भोजन नहीं किन्तु भोजनके समय बाह्य चेतनामें आ जाना है। यह एक ऐसी वस्तु है जिससे खानेके समय बचना कुछ कठिन होता है; परन्तु उसपर भी समय आनेपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

*

तुम्हें इस (भोजन घटानेकी) क्रियाको हृदयसे अधिक बढ़ने देना नहीं होगा। यह साधनाके खतरोंमेंसे एक है, क्योंकि भूतकालमें योगका तपस्याकी ओर झुकाव होनेके कारण ही अनुभवोंके आनेके साथ-साथ यह सुझाव आता

है कि भोजन या निद्रा आदिकी आवश्यकता नहीं है और शरीरमें भी न खाने या न सोनेकी प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो परिणाम प्रायः खतरनाक होते हैं। स्वयं जड़ताकी भांति इसे भी अंगीकार नहीं करना होगा।

*

यदि अंगोंमें दर्द बहुत अधिक हो तो तुम एक या दो दिन तबतक काम छोड़ सकते हो जबतक वे कम न हो जायं। अवश्य ही यदि तुम यह अनुभव करते हो कि तुम प्रवाही भोजनसे भिन्न किसी अन्य वस्तुसे कष्ट पाते हो तो इससे प्रश्नका समाधान हो जाता है। तुम केवल भोजन ले सकते हो और यदि तुम प्रवाही भोजन ही लो तो काम करनेके लिये पर्याप्त सबल नहीं होगे। लेकिन साधारणतया इन वस्तुओंके निर्णय करनेमें विचार अधिक हिस्सा लेता है। मनपर यह संस्कार पड़ा हुआ है कि कोई भी ठोस भोजन नुकसान करेगा और शरीर उसका अनुसरण करता है—इसलिये स्वभावतया ही—परिणाम रूपमें कोई भी ठोस भोजन अवश्य नुकसान करने लगता है।

*

मानसिक या प्राणिक बल-वीर्य भोजनपर निर्भर नहीं करता या उसे निर्भर करनेकी आवश्यकता नहीं—स्थूल सत्ता ही थोड़े समयके बाद पर्याप्त पोषण न मिलनेपर श्रान्त होने लगती है।

*

जिस रूपान्तरको सिद्ध करनेकी अभीप्सा हम करते हैं वह इतना विशाल और जटिल है कि उसे एक साथ ही पूरा-पूरा नहीं प्राप्त किया जा सकता; उसे क्रमशः एक-एक स्तर पार करते हुए ही प्राप्त करना होगा। भौतिक परिवर्तन इनमेंसे सबसे अन्तिम स्तर है और यह स्वयं भी एक प्रकारकी क्रमोन्नति-की प्रक्रियाके द्वारा प्राप्त होता है।

आन्तरिक रूपान्तर किसी भी भौतिक उपायसे—चाहे वह भाव-मूलक हो या अभावमूलक—नहीं सिद्ध किया जा सकता। बल्कि, इसके विपरीत, स्वयं भौतिक परिवर्तन भी केवल तभी साधित हो सकेगा जब महत्तर

अतिमानसिक चेतना शरीरके कोषोंमें अवतरित होगी। जबतक ऐसा नहीं होता कम-से-कम तबतक भोजन, निद्रा आदि साधारण उपायोंसे आंशिक रूपमें शरीर तथा शरीरको सहारा देनेवाली शक्तियोंका भरण-पोषण करना होगा। यथोचित मनोभाव और समुचित चेतनाके साथ आहार ग्रहण करना होगा; निद्राको धीरे-धीरे यौगिक विश्राममें परिवर्तित करना होगा। असामयिक और अत्यधिक शारीरिक तपस्या आधारके विभिन्न भागोंकी शक्तियोंमें हलचल और अस्वाभाविकता उत्पन्न करके साधनाकी प्रक्रियामें बाधा पहुँचा सकती है। उससे मनोमय और प्राणमय भागोंमें एक विपुल शक्तिप्रवाह प्रवेश कर सकता है, परन्तु उससे स्नायुमंडल और शरीर अत्यन्त क्लांत हो जा सकते तथा उन उच्चतर शक्तियोंकी क्रियाको धारण करनेकी शक्ति खो सकते हैं। यही कारण है कि यहांपर किसी भी आत्यंतिक शारीर तपस्याको साधनाके प्रधान अंगके रूपमें नहीं स्वीकार किया गया है।

कभी-कभी एक या दो दिन उपवास करने या आहारकी मात्राको इस प्रकार कम कर देनेमें कि वह बहुत कम तो हो पर शरीरके लिये पर्याप्त हो, कोई हानि नहीं है; परन्तु दीर्घकालतक एकदम निराहार रहना उचित नहीं।

*

मैं समझता हूँ कि आध्यात्मिक दृष्टि-बिन्दुसे सात्विक भोजनकी महत्ताको बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया है। भोजन स्वास्थ्य-विज्ञानका प्रश्न है और प्राचीन धर्मोंमें विहित बहुतसे विधि-निषेधोंका उद्देश्य आध्यात्मिककी अपेक्षा कहीं अधिक स्वास्थ्य विषयक था। गीताकी परिभाषायें भी उसी दिशाकी ओर निर्देश करती दीखती हैं—वह यह कहती प्रतीत होती है कि तामसिक भोजन वह है जो सत्वहीन होनेके साथ बासी या सड़ा-गला भी हो, राजसिक भोजन वह है जो तीखा, चटपटा आदि हो और खूनको गर्म करने एवं स्वास्थ्यको बिगाड़नेवाला हो, सात्विक भोजन वह है जो प्रीतिकर और स्वास्थ्य बढ़ानेवाला हो इत्यादि। यह बखूबी हो सकता है कि विभिन्न प्रकारका भोजन विभिन्न गुणोंकी क्रियाको बढ़ाये और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूपसे अपनी स्थूल क्रियासे स्वतन्त्र रहकर लाभदायक या हानिकर हो सकते हैं। किन्तु व्यक्ति विश्वासपूर्वक इतनी हदतक ही जा सकता है। कौनसे खाद्य सात्विक है या नहीं यह दूसरा प्रश्न है और इसका निश्चय करना अधिक कठिन है। आध्यात्मिक रूपसे मुझे कहना चाहिये कि भोजनका असर स्वयं भोजनके किसी तत्वकी अपेक्षा उस गुह्य वातावरण और प्रभावोंपर अधिक आधार रखता है जो भोजनके साथ-साथ

अन्दर आते हैं। शाकाहारी सिद्धान्त बिलकुल अलग प्रश्न है; यह, जैसा कि तुम कहते हो, उदर-तृप्तिके लिये जीवनके अधिक सचेतन रूपोंको हानि न पहुँचानेके एक संकल्पपर अवस्थित है।

जहांतक सब प्रकारके भोजनको समान रस पूर्वक खानेका अभ्यास करनेकी बात है, इसका अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं, न यह वस्तुतः अभ्याससे आता ही है। व्यक्तिको अपनी चेतनाके भीतर समताको प्राप्त करना होगा; इस समताके बढ़नेके साथ-साथ वह चेतनाकी प्रवृत्तिके विविध क्षेत्रोंमें इसका विस्तार कर सकता है या उसे उनपर लागू कर सकता है।

*

मैं समझता हूँ गुणकी दृष्टिसे प्याजको राजस्-तामसिक कहा जा सकता है। वह भारी और जड़ता प्रधान है और साथ ही किन्हीं तीव्र स्थूल भौतिक शक्तियोंको उत्तेजित भी करता है। यह स्पष्ट है कि यदि कोई भौतिक वासनाओंको जीतना चाहता हो और दैहिक प्रकृति एवं उसे प्रभावित करनेवाली वस्तुओंके अत्यधिक वशमें हो तो उसे प्याज खानेकी खुली छूट देनेकी सलाह देना उचित नहीं है। केवल उन्हीं लोगोंके लिये इसका जरा भी महत्व नहीं जो देह-चेतनासे ऊपर उठ चुके हैं और जिन्होंने उसपर प्रभुत्व पा लिया है तथा जो इन वस्तुओंसे प्रभावित नहीं होते; उनके लिये इस या उस भोजनके खाने या उसकी कामनासे कोई फर्क नहीं पड़ता। साथ ही मुझे यह कहना होगा कि स्वयं राजसिक या तामसिक खाद्योंसे परहेज उनकी सहायतासे उत्तेजित होनेवाली वस्तुओंसे मुक्ति दिलानेका आश्वासन नहीं देता। उदाहरणार्थ, शाकाहारी भी उतने ही कामी और क्रोधी हो सकते हैं जितने मांसाहारी; यह हो सकता है कि कोई प्याजसे परहेज रखे और फिर भी इन मामलोंमें, उसकी स्थिति पहलेसे जरा भी अच्छी न हो, प्रभावशाली तो चेतनाका परिवर्तन ही होता है और इस प्रकारका परहेज केवल उतनी हदतक ही सहायक होता है जितनी हदतक उसका कम स्थूल और अधिक संस्कृत और नमनीय भौतिक चेतनाको उत्पन्न करनेकी ओर रुझान होता है ताकि उच्चतर संकल्प उसपर कार्य कर सके। यह थोड़ी बहुत प्राप्ति है किन्तु यही सब-कुछ नहीं; चेतनाका परिवर्तन परहेज न रखनेपर भी हो सकता है। क्योंकि साधकोंकी रसना भोजनको स्वादिष्ट बनानेके लिये किसी वस्तुकी मांग करती है इसलिये यहां आश्रममें प्याजके लिये अनुमति दी गई है। हम इन ब्यौरोंपर आग्रह नहीं रखते, या कोई अत्यन्त कठोर नियम नहीं बनाते क्योंकि यहां आन्तरिक परिवर्तन पर ही

अधिक बल दिया जाता है और बाह्य परिवर्तन उसके परिणाम स्वरूप आता है। यहां केवल उतने पर ही आग्रह रखा जाता है जितना संगठनके लिये और आन्तरिक एवं बाह्य अनुशासनके लिये तथा एक अनिवार्य आत्म नियन्त्रणके मार्गका निर्देश करनेके लिये अत्यावश्यक है। सब पर इस बातके लिये जोर डाला जाता है कि जिह्वाकी लालचको जीतना है, किन्तु आखिर तो यह विजय निम्न प्रकृतिके अन्य आवेगों और कामनाओंके समान अन्दरसे ही प्राप्त करनी है।

*

स्वादको, रसको एकदम दबा देना इस योगका कोई अंग नहीं है। जिस चीजसे छुटकारा पाना है वह है प्राणकी वासना और आसक्ति, आहारकी लालसा, अपनी पसन्दके अनुसार भोजन मिलनेपर खुशीसे फूल जाना और उसके न मिलनेपर दुःखित और असंतुष्ट होना, भोजनको अनुचित महत्त्व प्रदान करना। अन्य बहुतसी बातोंकी तरह इस विषयमें भी समता ही हमारी कसौटी है।

*

नहीं, आसक्ति न होनेपर यह (स्वाद) बन्धन नहीं होता। स्वाद स्वाभाविक चीज है और तबतक ग्राह्य है जबतक व्यक्ति स्वादका गुलाम नहीं होता। स्वादके आनन्दको अवश्य ही भगवान्को अर्पित किया जा सकता है। मुझे नहीं मालूम कि गीताके वचनके आशयके अनुसार भोजनका कोई फल होता है या नहीं।

*

दर्शन या श्रवणकी अपेक्षा स्वाद अधिक दोषपूर्ण वस्तु बिलकुल भी नहीं। हमें उस कामनाको ही बाहर फैंकना है जिसे यह जगाता है।

चैतन्यकी तरह स्वादसे मुक्त होना सम्भव है, क्योंकि यह एक ऐसी चीज है जो चेतनापर आधार रखती है और इसलिये इसका विरोध सम्भव है। सम्मोहनके परीक्षणोंमें यह पाया गया है कि सूचन मीठी वस्तुको कड़वी और कड़वी वस्तुको मीठी बना सकता है। बर्कले और शरीर क्रिया विज्ञान दोनों ही ठीक कहते हैं। स्वादकी चेतना और भोजनके 'गुण'के बीच साधारणतया

कुछ बना बनाया सम्बन्ध है, किन्तु चेतना यदि चाहे या उसका पूरी तरह निरोध करे तो इस सम्बन्धको बदल भी सकती है। ऐसे योगी भी हैं जो अपनेको पीड़ाके प्रति वेदनाशून्य बना देते हैं और यह सम्मोहन द्वारा भी किया जा सकता है।

दूसरी पद्धति है किसी वस्तुसे आसक्त हुए बिना सब वस्तुओंको स्वादिष्ट समझना।

*

भोजन इत्यादिके इन मामलोंमें सावधान रहना अधिक अच्छा है, क्योंकि तुम्हारी साधना जिस स्थितिमेंसे गुजर रही है उस स्थितिमें सत्ताके प्राणमय भौतिक हिस्सेमें पर्याप्त संवेदनशीलता होती है और यह हिस्सा किसी गलत आघात या अधिक भोजन जैसी गलत क्रियासे आसानीसे विक्षुब्ध हो सकता है।

*

भौतिक चेतनाके संवेदनशील हो जानेके बाद उसके लिये अत्यधिक या भारी भोजन हानिकारक होता है।

*

अवचेतन भौतिक सत्ताकी आदत ही भूतकाल द्वारा पैदा की गई बनावटी आवश्यकताको अनुभव करती है और इस बातकी परवाह नहीं करती कि वह नस-नाड़ियोंके लिये हानिकारक या विक्षोभजनक है या नहीं। सब मादक द्रव्योंका (शराब, तमाखू, कोकेन आदिका) यही गुण है, इसके हानिकर प्रभावोंके प्रत्यक्ष हो जाने और इसके वास्तविक आनन्दके, इस बनावटी (मिथ्या) आवश्यकताके कारण, समाप्त हो जानेके बाद भी लोग इसे जारी रखते हैं। संकल्पको इस अवचेतन आग्रहपर प्रभुत्व स्थापित करके इसे समाप्त कर देना होगा।

*

मादक पदार्थ (भांग आदि) व्यक्तिको उस प्राणिक जगत्‌के साथ संयुक्त कर देते हैं जिसमें (संगीत, गान आदि) जैसी वस्तुएं विद्यमान हैं।

VI

यह वैसा योग नहीं है जिसमें शारीरिक तपस्याको तपस्याके लिये करना आवश्यक होता है। निद्रा शरीरके लिये उसी तरह आवश्यक है जिस तरह भोजन। यथेष्ट नींद अवश्य लेनीं चाहिये परन्तु अत्यधिक नहीं। कितनी निद्रा यथेष्ट होगी यह शरीरकी आवश्यकतापर निर्भर करता है।

*

यदि तुम पर्याप्त नींद न लो तो देह और स्नायविक कोष निर्बल हो जायेंगे और देह तथा स्नायविक कोष ही साधनाके आधार हैं।

*

निद्राकी कमी वह कारण है जो तुम्हारे स्नायुमंडलको दुर्बलताके प्रति खुला रखता है। यथेष्ट नींद न लेना भारी भूल है। सात घंटे तो कम-से-कम सोना ही चाहिये। यदि किसी का स्नायुमंडल अत्यन्त ही सबल हो तो वह उसे घटाकर छः कर सकता है, कभी-कभी पांच भी, परन्तु यह अत्यन्त ही विरल है और आवश्यकताके बिना इसके लिये चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

*

नींदके लिये सामान्य उचित समय ७ या ८ घंटे माना गया है, सिवाय वृद्धावस्थाके जिसमें यह इससे कम कहा गया है।यदि कोई कम उदाहरणके लिये ५से ६ घंटे) नींद लेता है तो शरीर अपनेको किसी तरह उसके अनुकूल बना लेता है, किन्तु नियन्त्रण हटाते ही यह तुरन्त ही साधारण ८ घंटेके सामान्य समयकी खोई कमीको पूरा कर लेना चाहता है। बहुत बार ज़ब किसीने बहुत कम भोजन खाकर रहना चाहा, तो इसमें ढील देते ही, शरीर भोजनके विषयमें तबतक अतिशय लोलुप बना रहता है जबतक वह अपने जमा-उधारके पासोंको बराबर नहीं कर लेता। कम-से-कम ऐसा बहुधा होता है।

*

शरीरसे तुम जो करवाना चाहते हो वह एकदम नहीं करवाया जा सकता। यदि शरीरको केवल २ या ३ घंटे सोनेके लिये कहा जाय, संकल्प पर्याप्त सबल होनेपर वह उसका अनुसरण कर सकता है — किन्तु बादमें आवश्यक आरामकी कमीके कारण अत्यधिक थक सकता है और यहांतक कि हार भी सकता है। जो योगी अपनी नींद न्यूनतम कर देते हैं वे भी केवल ऐसी लम्बी तपस्याके बाद ही सफल होते हैं जिसमें वे देहका शासन करनेवाली प्रकृतिकी शक्तियोंपर नियन्त्रण करना जान जाते हैं।

*

ज्वर और मानसिक संक्षोभ दोनोंके लिये नींद बहुत सहायक होती है और उसकी कमी बहुत अवांछनीय होती है — यह एक रोगहर माध्यमको खो देना है।

*

क्रिया तो कुछ विशेष शक्तियां ही करती हैं और व्यक्तित्वके कुछ हिस्से ही उनका प्रयोग करते हैं। सामान्य चेतनामें व्यक्तित्वके ये हिस्से छिपे रहते हैं और शक्तियां बाह्य मन द्वारा सीमित होती हैं, परन्तु जब व्यक्ति परदेके पीछे चला जाता है तो वह सीमाबन्धन अदृश्य हो जाता है, शक्तियोंकी क्रिया विशाल बन जाती है और करणीय कार्यको अपने-आप ही क्रियान्वित करती है।

किन्तु फिर इनमेंसे प्रत्येक शक्ति अपने ही कार्यमें एकाग्र होती है और अन्य किसी चीजकी परवाह नहीं करती — उदाहरणके लिये इस क्रियामें वे शरीरके आराम और नींदकी आवश्यकताकी अवहेलना करते हैं, जो ठीक नहीं। केन्द्रीय चेतनाको हस्तक्षेप करके यह कहना होगा, "नहीं यह सोनेका समय है, कामका नहीं, उन्हें अपने ठीक स्थान और समयके लिये रहने दो।"

*

निद्राकी कमी ही बेचैनीके लक्षण उत्पन्न करती है। स्वयं साधनाकी क्रिया अपने आपमें इस तरहकी प्रतिक्रियाको नहीं पैदा कर सकती, ये बातें तभी होती हैं जब शरीर निद्राकी कमी, अपर्याप्त भोजन, अत्यधिक कार्यभार,

या स्नायविक उत्तेजनाके कारण श्रान्त हो जाता है। बहुत करके नींद आनेमें कठिनाईका कारण यह है कि स्नायुमण्डल दिनके समय श्रान्त हो जाता है और तुम आरामके लिये अपनेको शिथिल नहीं छोड़ते।

*

अन्दरकी बेचैनी ही तुम्हें आन्तरिक और बाह्य रूपसे नींद लेनेसे रोकती है। अच्छी नींदके लिये मन, प्राण और शरीरको भी अपनेको शिथिल छोड़ना और निश्चल बनाना सीखना होगा।

*

तुम केवल पर्याप्त आराम लेनेका ख्याल रखो। तुम्हें थकान न आये इसके लिये सतर्क रहना होगा क्योंकि वह शिथिलता और तमस् उत्पन्न कर सकती है। ठीक ढंगसे आराम करना तमस् नहीं है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं, यह शरीरकी ऊर्जाको बनाये रखनेके लिये — उग्र हठयोगीके शवासनकी तरह — सही चेतनामें किया जा सकता है।

*

स्पष्ट ही — इसने (सोनेसे पहले उपन्यासके अध्ययनने) तुम्हें तामसिक चेतनामें फैंक दिया और परिणामतः निद्रा स्थूल अवचेतनमें जाकर भारी हो गई और उसका परिणाम हुआ थकान।

*

चूँकि निद्राका आधार अवचेतना है, इसलिये यह, यदि यह सचेतन निद्रा न हो तो, प्रायः चेतनाको निम्नतर स्तरमें गिरा देती है, अतः इसका स्थायी इलाज यही है कि इसे अधिकाधिक सचेतन बनाया जाय; किन्तु जबतक यह नहीं हो जाता तबतक साधकको, जब वह जागे तब, सदा इस अधोगमनकी प्रवृत्तिके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते रहना चाहिये और रात्रिकी सुस्तीके असरको अपने अन्दर जमा नहीं होने देना चाहिये। परन्तु इन बातोंके लिये सदा एक स्थायी प्रयास और साधनाकी आवश्यकता होती है और यह समय-सापेक्ष है।

कभी-कभी तो इसमें बहुत अधिक समय लग जाता है। अतएव तात्कालिक फल यदि मिलता न दिखायी दे तो इसी कारण इस प्रयासको ही छोड़ देना उचित नहीं।

*

रातको जागते रहनेका यत्न करना ठीक मार्ग नहीं; आवश्यक निद्राका निग्रह करनेसे शरीर तामसिक हो जाता है और जाग्रत कालके समय जिस एकाग्रताकी आवश्यकता होती है उसके लिये असमर्थ हो जाता है। उचित मार्ग निद्राका निग्रह करना नहीं बल्कि उसे रूपान्तरित करना है, विशेषतः यह सीख लेना है कि निद्रा लेते हुए ही अधिकाधिक सचेतन कैसे रहा जाय। ऐसा करनेसे निद्रा चेतनाकी एक आन्तरिक अवस्थामें परिणत हो जाती है जिस अवस्थामें साधना ठीक उसी प्रकार चालू रह सकती है जैसी कि जाग्रत अवस्थामें, और साथ-ही-साथ साधक इस योग्य हो जाता है कि चेतनाके भौतिक स्तरके अतिरिक्त अन्य स्तरोंमें भी वह प्रवेश कर सके और सूचनात्मक तथा उपयोगमें आने योग्य अनुभूतियोंके एक अति विशाल क्षेत्रपर आधिपत्य स्थापित कर सके।

*

जो अनुभव उसे इस समय हो रहे हैं वें सच्चे आध्यात्मिक और चैत्य अनुभव हैं—वे प्राणिक भूमिकाके अनुभव नहीं जो प्रारम्भमें अधिकांश लोगोंको होते हैं। प्राणिक भूमिकाके अनुभव (जिनमें अतिशय कल्पना तथा मनगढंत बातें अधिक होती हैं) चेतनाको उद्‌घाटित कर देनेके लिये उपयोगी है; किन्तु उनके स्थानपर आध्यात्मिक और चैत्य चेतनाको स्थापित करनेसे ही सच्ची प्रगतिका श्रीगणेश होता है।

रातके समय चेतन बने रहनेकी कठिनाई अधिकतर लोगोंको होती है — इसका कारण यह है कि रात्रिका समय सोने और शरीरको ढीला छोड़ देनेके लिये है और उस समय अवचेतना ऊपर आती है। सच्ची चेतना पहले-पहल जाग्रत अवस्थामें या ध्यानमें आती है, यह मानसिक, प्राणिक और सचेतन भौतिक सत्ताको अधिकारमें कर लेती है किन्तु अवचेतन प्राणिक और भौतिक सत्ता अन्धकारपूर्ण ही रहती है और यह तमसाच्छन्नता तब उभरती है जब निद्रा आती है या सत्तामें एक जड़ शिथिलता होती है। जब अवचेतना

आलोकित हो जाती है और सच्ची चेतना उसमें प्रविष्ट हो जाती है तो यह विषमता लुप्त हो जाती है।

जिस पिशाचनीने प्रवेश करनेकी कोशिश की थी वह है मिथ्या प्राणिक अशुद्ध शक्ति — और जो आवाज आयी थी वह थी उसकी चैत्य सत्ताकी। यदि वह अपनी चैत्य सत्ताको जाग्रत और सामने रखे तो इस बारकी तरह वह उसे इन अन्धकारमय शक्तियोंसे सदा बचाये रखेगी।

*

तुम्हें रातके समय नींदको टालनेका यत्न नहीं करना होगा — यदि इसे करनेका आग्रह बनाये रखो तो हो सकता है कि इसके बुरे परिणाम तुरन्त न प्रकट हों, किन्तु शरीर अतीव श्रान्त हो जायेगा और एक ऐसा विच्छेद पैदा हो जायेगा जिससे वे सब वस्तुएं नष्ट हो सकती हैं जिन्हें तुमने साधनामें उपलब्ध किया है।

यदि तुम रातको सचेतन रहना चाहते हो तो नींदको सचेतन करनेके लिये — उसका ऊच्छेद नहीं किन्तु रूपान्तर करनेके लिये — अपनेको प्रशिक्षित करो।

*

निद्राका काम किसी दूसरी चीजसे नहीं लिया जा सकता, किंतु इसका परिवर्तन किया जा सकता है; कारण तुम निद्रामें भी सचेतन रह सकते हो। यदि तुम इस प्रकार सचेतन हो सको तो रात्रि उच्चतर कार्यके लिये प्रयुक्त हो सकती है — बशर्ते कि शरीरको आवश्यक आराम मिल जाय, कारण निद्राका उद्देश्य यह है कि इससे शरीरको आराम मिले और प्राण-भौतिक शक्तिका फिरसे संचार हो। शरीरको आहार और निद्रा न देना भूल है, जैसा कि कुछ लोग वैराग्य के भाव या आवेशमें आकर करना चाहते हैं — ऐसा करनेसे तो भौतिक अवलम्ब ही क्षीण होने लगता है और, यद्यपि यौगिक या प्राणमय शक्ति थके हुए या क्षीणताको प्राप्त हुए शरीरके अवयवोंको दीर्घकालतक कार्यक्षम बनाये हुए रख सकती है, फिर भी एक समय आता है जब कि इस शक्तिको अपने अन्दर खींचना इतना सहज नहीं होता, और न शायद सम्भव ही होता है। शरीरके लिये जो कुछ आवश्यक है वह उसे देना ही चाहिये जिससे कि वह अपना कार्य सुचारु रूपसे कर सके। परिमित पर यथेष्ट आहार (बिना

किसी लोभ या कामनाके), यथेष्ट निद्रा, किन्तु घोर तामसिक प्रकारकी नहीं, बस यही नियम होना चाहिये।

*

इस बातके लिये कोई भी कारण नहीं कि साधनाकी तीव्रताके कारण पर्याप्त नींद न आये।

*

साधना जाग्रत अवस्थाकी तरह स्वप्न या निद्राकी अवस्थामें भी जारी रह सकती है।

*

स्वप्न या निद्राकी समस्त चेतनाको एकदम सचेतन साधनामें नहीं बदला जा सकता। यह क्रमशः करना होगा। किन्तु यह कर सकनेसे पहले तुम्हारी सचेतन समाधिकी क्षमताको बढ़ना होगा।

*

निद्रा-चेतनाके साथ सफल रूपसे तभी बरता जा सकता है जब जाग्रत मन एक विशेष हदतक प्रगति कर चुका होता है।

*

साधारणतया यदि दिनके समय साधनाकी क्रिया अधिक चलती रहे, तो केवल तभी निद्रावस्थामें भी इसका विस्तार होता है।

*

एकबार व्यक्ति जब पूर्णतया साधनामें डूब जाता है तो निद्रावस्था भी

जाग्रत अवस्थाकी तरह उसका एक अंग बन जाती है।

*

यह सब ठीक है। यह प्रदर्शित करता है कि साधना अविच्छिन्न होती जा रही है और यह कि तुम सचेतन होते जा रहे हो तथा जाग्रत अवस्थाकी तरह स्वप्नावस्थामें भी अपने सचेतन संकल्पका प्रयोग कर रहे हो। यह साधनामें बहुत महत्वपूर्ण प्रगतिमय स्थिति है।

*

रातके समय जब व्यक्ति चेतनाकी अच्छी स्थितिमें रहनेके बाद अवचेतनामें डूब जाता है तो हम पाते हैं कि वह अच्छी स्थिति नष्ट हो गई है और उसे फिरसे प्राप्त करनेके लिये हमें परिश्रम करना होगा। दूसरी ओर यदि नींद अच्छी आई हो तो व्यक्ति जागनेके समय अच्छी स्थितिमें हो सकता है। निःसन्देह यदि व्यक्ति कर सके तो उसके लिये निद्रामें सचेतन रहना अधिक अच्छा होगा।

*

साधारण चेतनामें निद्रा और जागरण द्वारा जो व्यवधान पैदा हो जाता है वह लगभग प्रत्येक व्यक्तिमें होता है (निःसन्देह, "साधारण" चेतना प्रगतिके अनुसार भिन्न-भिन्न होती है); परन्तु निद्रामें सचेतन होनेकी इच्छा करनेका कोई लाभ नहीं; तुम्हें प्रगतिके तन्तुको यथाशीघ्र फिरसे पा लेनेका अभ्यास डालना होगा और जागनेके बाद इसके लिये थोड़ी एकाग्रता आवश्यक है।

तुम्हें (प्रातः जागनेके बाद) तुरन्त ही ध्यान करनेकी आवश्यकता नहीं —किन्तु कुछ क्षणोंके लिये एकाग्र भाव धारण करो और दिनके लिये मातजीकी उपस्थितिका आवाहन करो।

रातके समय तुम्हें एकाग्रताकी अवस्थामें ही निद्रामें चले जाना है— तुम्हें लेटे हुए, बन्द आंखोंके साथ एकाग्र होनेमें समर्थ होना होगा और एकाग्रता गहरी होते-होते नींदमें बदल जानी चाहिये—अर्थात् निद्राको बाह्य जाग्रत स्थितिसे परे एकाग्रता पूर्वक अन्दर जानेकी क्रिया बनना होगा। यदि तुम्हें थोडे समयके लिये बैठना आवश्यक लगे तो तुम ऐसा कर सकते हो, किन्तु

बादमें जबतक यह क्रिया पूरी न हो जाय, एकाग्रताको कायम रखते हुए लेट जाओ।

*

(निद्रामें सचेतन होनेके लिये:) तुम्हें सोनेसे पहले हमेशा एक विशिष्ट संकल्प या अभीप्साके साथ एकाग्रताके अभ्यास करनेसे प्रारम्भ करना होगा। संकल्प या अभीप्साको अवचेतनामें पहुँचनेमें समय लग सकता है किन्तु यदि यह सच्ची, बलशाली और स्थिर हो तो कुछ समयके बाद यह पहुँच अवश्य जाती है — जिससे स्वयंचालित चेतना और संकल्प निद्रामें ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं जो फिर आवश्यक कार्य करते हैं।

*

तुम्हारी निद्रा न तो अर्द्ध-निद्रा थी न चौथाई, न निद्राका षोड़षांश ही; यह चेतनाका अन्तःप्रवेश था जो इस अवस्थामें भी सचेतन तो रहती है पर बाह्य बातोंके लिये अपनेको बन्द किये हुए होती है और केवल अन्तः-अनुभूतिके लिये ही उद्घाटित रहती है। इन दो सर्वथा भिन्न अवस्थाओंका तुम्हें विवेक होना चाहिये, एक अवस्था है निद्रा और दूसरी है समाधि (अवश्य ही निर्विकल्प नहीं) का प्रारम्भ। इस तरहका अन्तःप्रवेश आवश्यक है, कारण मनुष्यका क्रियाशील मन प्रारम्भमें बाह्य वस्तुओंकी ओर ही बहुत अधिक मुड़ा रहता है; अन्तः सत्ता (अन्तः मन, अन्तः प्राण, अन्तः शरीर, अन्तरात्मा) में विकास करनेके लिये इसे पहले पूर्ण रूपसे अन्तःमें प्रवेश करना होता है। किन्तु अभ्यास-के द्वारा साधक एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर सकता है जिसमें वह बाह्यतः सचेत रहता है पर फिर भी अन्तःसत्तामें निवास करता है और जब चाहे तब अन्तःप्रविष्ट या बहिर्गत अवस्थाओंमें आ जा सकता है। इस अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर तुम जाग्रत अवस्थाओंमें भी उसी अवस्थाकी-सी सघन निश्चलता और महत्तर तथा विशुद्धतर चेतनाका अपने अन्दर अवतरण अनुभव कर सकते हो, जिस अवस्थाको तुम भ्रमवश निद्राके नामसे पुकार रहे हो।

*

अपनी निद्रावस्थामें तुम अपनी जाग्रत अवस्थासे अधिक सचेतन होते

हो। इसका कारण है स्थूल-चेतना जो अभी पर्याप्त उद्घाटित नहीं हुई; यह केवल अभी खुलनेकी तैयारी कर रही है। तुम्हारी निद्रावस्थामें अन्तःसत्ता सक्रिय होती है और चैत्य उसमें मन और प्राणको अधिक सक्रिय रूपसे प्रभावित कर सकता है। जब स्थूलचेतना आध्यात्मिक रूपसे जाग्रत होती है तो तुम जिस कष्ट एवं बाधाका अब अनुभव कर रहे हो उसे और अनुभव नहीं करोगे और निद्रावस्थामें भी जाग्रत अवस्थाकी तरह खुले रहोगे।

श्रद्धा रखना और कठिनाइयोंकी परवाह न करना एक सही वृत्ति है। योग मार्गमें कठिनाइयां—और गम्भीर कठिनाइयां भी—आये बिना रह नहीं सकती। क्योंकि अज्ञानमय मानव-चेतनाको एक ही बारमें बदल देना और भगवान्‌के प्रति उन्मुख आध्यात्मिक चेतना बना देना सुगम नहीं है। किन्तु श्रद्धा होनेपर व्यक्तिको कठिनाइयोंकी परवाह करनेकी जरूरत नहीं; भगवान्‌की शक्ति वहां विद्यमान है और वह उनपर विजय प्राप्त करेगी।

*

जिस निद्राका तुमने वर्णन किया है जिसमें कि ज्योतिर्मय निश्चल नीरवता होती है अथवा वह निद्रा जिसमें शरीरके कोषोंमें आनन्द भर जाता है, ये अवस्थाएं स्पष्ट रूपसे उत्तम हैं। इनके अलावा, दूसरे जो निद्राकाल होते हैं, जिनका तुम्हें ज्ञान नहीं रहता, सम्भवतः उन कालोंमें तुम गभीर निद्राके प्रभावमें रहते हो और भौतिक स्तरसे निकलकर मनोमय, प्राणमय और अन्य स्तरोंमें चले जाते हो। तुम कहते हो कि उस समय तुम अचेत थे, किन्तु यह तो केवल यही हो सकता है कि तुम्हें इस बातका स्मरण न हो कि उस समय क्या-क्या हुआ था, कारण साधारण चेतनामें लौटते समय चेतनाका एक तरहका पलटाव होता है, एक प्रकारका अवस्थांतर या विपर्यास होता है और उस समय निद्रावस्थामें जो कुछ भी अनुभव हुआ होता है उसमेंसे सम्भवतः केवल अन्तिम अनुभवको अथवा उस अनुभवको छोड़कर जो कि बहुत ही प्रभावोत्पादक होता है, बाकी सब कुछ भौतिक चेतनासे हट जाता है और मालूम होता है मानों सब कुछ शून्य हो। एक और भी शून्यावस्था होती है, वह है जड़ताकी अवस्था, जो केवल शून्य ही नहीं प्रत्युत भाराक्रांत और स्मृतिसंज्ञाविहीन होती है; किन्तु यह अवस्था तब होती है जब कि कोई अवचेतनाके अन्दर मूढ़ताके साथ सीधे और गहराईतक पैठ जाता है; इस तरह अन्धतलमें गोता लगाना अत्यन्त अवांछनीय है, इससे चेतना अन्धकाराच्छन्न और निम्नमुखी हो जाती है तथा विश्रामके स्थानमें बहुधा थकावट उत्पन्न होती है और यह ज्योतिर्मय निश्चल-

नीरवताकी अवस्थासे बिलकुल विपरीत प्रकारकी अवस्था है।

*

नींदमें मनुष्य अति सामान्य रूपमें बाहरी चेतनासे अधिक गहरी चेतनाओंमें क्रमशः बहुत दूरतक चला जाता है और अन्तमें चैत्य चेतनामें चला जाता है और वहां विश्राम करता है अथवा क्रमशः उच्चतर चेतनामें ऊपर जाता है और अन्तमें किसी निश्चल-नीरवता और शान्तिमें जाकर विश्राम करता है। इस विश्राममें मनुष्य जो कुछ मिनट बिताता है वही सच्ची निद्रा होती है जो चंगा कर देती है,—यदि कोई इसे नहीं प्राप्त करता तो उसे आधा ही विश्राम मिलता है। जब तुम विश्रामके इन दो क्षेत्रोंमेंसे किसी एकके पास पहुँचते हो तो तुम ऐसे उच्चतर प्रकारके स्वप्न देखने लगते हो।

*

हाल ही के चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तके अनुसार व्यक्ति निद्रावस्थामें अनेक स्थितियोंमेंसे गुजरता हुआ आखिर एक ऐसी स्थितिमें पहुँचता है जिसमें परमविश्राम और निश्चल-नीरवता होती है—यह स्थिति केवल दस मिनिट ही रहती है, शेष समय उस स्थिति तक पहुँचनेमें और वहांसे जाग्रत स्थितिमें लौटनेमें लगता है। मैं समझता हूँ कि यह दस मिनिटकी नींद ब्रह्म या ब्रह्म-लोककी 'सुषुप्ति' कही जा सकती है, शेष स्वप्नावस्था या अन्य लोकों (सचेतन अस्तित्वकी भूमिका या स्तरों)में आने जानेकी क्रिया है। ये दस मिनिट ही सत्ताकी ऊर्जाओंको पुनः संचित करते हैं और उसके बिना निद्रा ताजगी नहीं पैदा कर सकती।

माताजीके अनुभव और ज्ञानके अनुसार मनुष्य जाग्रत स्थितिसे स्वप्न-चेतनाकी ऐसी क्रमिक स्थितियोंमेंसे गुजरता है जो वस्तुतः बहुतसे लोकोंमें प्रवेश करने और गुजरनेकी क्रिया है और इस प्रकार व्यक्ति पूर्ण विश्राम, प्रकाश और नीरवताकी विशुद्ध सच्चिदानन्द स्थितिमें पहुँचता है—बादमें वह अपने मार्गसे पीछेकी ओर लौटकर आखिर जाग्रत स्थूल चेतनामें पहुँच जाता है। सच्चिदानन्द-स्थितिका यह काल ही निद्राको इस रूपमें पूर्ण महत्व प्रदान करता है कि इससे शक्तियां पुनः संचित हो जाती हैं। ये वैज्ञानिक और गुह्य आध्यात्मिक स्पष्टीकरण क्रियात्मक रूपसे परस्पर अभिन्न हैं किन्तु पहला स्पष्टीकरण उस तथ्यका केवल हाल ही का अन्वेषण है जिसे गुह्य-आध्यात्मिक ज्ञान

वहुत पहलेसे जानता था।

गहरी नींदके सम्बन्धमें लोगोंका ख्याल विलकुल भ्रांतिपूर्ण है। जिसे वे गहरी नींद कहते हैं वह महज बाह्य चेतनाका पूर्ण अवचेतनामें डुबकी मारना है। वे इसे स्वप्नहीन निद्रा कहते हैं; किन्तु यह केवल एक ऐसी अवस्था है जिसमें निद्रा-चेतना जो स्वयं निद्रामें अभीतक सक्रिय रहनेवाली बाह्य चेतनाका सूक्ष्म विस्तार मात्र है, स्वप्नोंका लेखा अंकित करनेमें तथा उन्हें स्थूल मनमें संचारित करनेमें असमर्थ होती है। तथ्य यह है कि सम्पूर्ण निद्रावस्था स्वप्नोंसे परिपूर्ण होती है। केवल उस परिमित कालमें ही जिसमें मनुष्य ब्रह्मलोकमें होता है, स्वप्न आने बन्द हो जाते हैं।

*

एक लम्बी अटूट नींद लेना आवश्यक है क्योंकि सम्पूर्ण निद्रामें केवल दस मिनिट ही ऐसे होते हैं जिसमें व्यक्ति सच्चे विश्राममें, एक प्रकारकी चेतनाकी सच्चिदानन्द अचलतामें प्रवेश करता है और यही शरीर संस्थानमें फिरसे ताजगी लाता है। बाकी समय तो पहले, चेतनाकी विभिन्न अवस्थामेंसे गुजरते हुए उस अवस्था तक पहुँचनेमें और फिर उसमेंसे बाहर निकल कर जाग्रत अवस्थामें लौटनेमें लगता है। सच्चे विश्रामके दस मिनटके इस तथ्यपर चिकित्सकों-का ध्यान गया है, किन्तु निःसंदेह वे सच्चिदानन्दके विषयमें कुछ नहीं जानते।

VII

निद्रा मात्र स्वप्नोंसे भरी होती है। दिन या रातकी नींदके कारण उसमें अन्तर क्यों होना चाहिये?

*

यदि निद्राके समय स्वभावतः ऊंचा उठानेवाली विशेष अनुभूतियां न हुई हों अथवा यदि उपलब्ध की गई यौगिक चेतना स्वयं शरीरमें इतनी दृढ़ न हुई हो कि वह अवचेतन तमस्के आकर्षणको व्यर्थ कर दे तो वह रातको प्रायः हमेशा ही उस उपलब्धिसे नीचेके स्तरपर ही उतरती है जिसे व्यक्ति साधना द्वारा जाग्रत चेतनामें पा चुका होता है। सामान्य निद्रामें शरीरकी चेतना अवचेतन भौतिक सत्ताकी एक ऐसी चेतना है जो मन्द पड गई होती

है और शेष सत्ताके समान जीवित-जाग्रत नहीं होती। सत्ताका बाकी हिस्सा पीछे हट जाता है और इसकी चेतनाका अंश अन्य भूमिकाओं और प्रदेशोंमें चला जाता है तथा उसे ऐसे अनुभव होते हैं जो ऐसे स्वप्नोंमें अंकित किये जाते हैं जिनका तुमने वर्णन किया है। तुम कहते हो कि तुम बहुत खराब स्थलोंपर जाते हो और ऐसे अनुभव करते हो जिनमेंसे एकका तुमने उल्लेख किया है; किन्तु यह अवश्य ही, तुम्हारे भीतरकी किसी दूषित वस्तुका चिह्न नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि तुम अन्य लोगोंके समान ही प्राणलोकमें जाते हो और प्राणलोक इस तरहके स्थानों और ऐसे अनुभवोंसे भरा हुआ है। तुम्हें करना यह है कि तुम वहां जानेसे जरा भी न कतराओ क्योंकि इससे पूरी तरह बचा नहीं जा सकता, किन्तु वहां पूरे रक्षणके साथ तबतक जाते रहो जबतक तुम अतिभौतिक प्रकृतिके इन प्रदेशोंपर प्रभुत्व न प्राप्त कर लो। यह एक कारण है जिससे तुम्हें सोनेसे पहले माताजीको याद करना और शक्तिकी ओर उद्घाटित होना चाहिये, क्योंकि तुम ऐसा करनेकी जितनी अधिक आदत डालोगे और इसे सफलताके साथ करोगे, उतना ही अधिक तुम्हें संरक्षण प्राप्त होगा।

*

जाग्रत अवस्थाके जीवनमें चिन्तन, संकल्प और शासन अल्पाधिक रूपमें जाग्रत मन ही करता है। निद्रावस्थामें वह मन वहां नहीं होता और इसलिये नियन्त्रण नहीं रहता। स्वप्न आदिको चिन्तनशील मन नहीं देखता और निद्रावस्थामें भी वह वस्तुतः असम्बद्ध रूपसे ही सचेतन होता है। साधारणतया तब वह वस्तु उभर आती है जिसे हम अवचेतना कहते हैं। यदि जाग्रत मन शरीरमें सक्रिय रहे तो मनुष्य सो ही न पाये।

*

तुम भिन्न वस्तुओंको परस्पर मिला रहे हो—इसीलिये तुम समझ नहीं सकते। मैं केवल साधक या असाधक मनुष्योंमें काम करनेवाली जाग्रतचेतना और सामान्य निद्राचेतनाके भेदको ही समझा रहा था—और इसे सच्चे पुरुष या चैत्य पुरुषके साथ कुछ लेना देना नहीं। निद्रा और जागरणका निर्णय सच्चा पुरुष या चैत्य पुरुष नहीं करता किन्तु मनकी जाग्रत अवस्था या प्रवृत्ति या निवृत्ति ही करती है—जब यह थोड़े समयके लिये रुक जाती है तो अव-

चेतना सतहपर आ जाती है और मनुष्य सो जाता है।

यह एक अलग विषय है—व्यक्ति यौगिक चेतनामें ही पैरोंके नीचे स्थित अवचेतनाके मूल स्थानका अनुभव कर सकता है, परन्तु अवचेतन सत्ताका प्रभाव वहींतक सीमित नहीं होता—वह शरीरमें भी फैला हुआ है। जाग्रत स्थिति-में इसपर सचेतन चिन्तनशील मन एवं प्राण तथा सचेतन स्थूल मन हावी हो जाते हैं, परन्तु निद्रावस्थामें यह सतहपर उभर आता है।

*

सामान्य स्वप्नोंमें अवचेतन सत्ता ही सक्रिय होती है। लेकिन ऐसे स्वप्नोंमें जिनमें व्यक्ति बाहर निकलकर मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म भौतिक जैसी अन्य भूमिकाओंमें चला जाता है, आन्तरिक सत्ताका अर्थात् मानसिक या प्राणिक या भौतिक सत्ताका एक भाग ही सामान्यतया क्रियाशील होता है।

*

ये स्वप्न निरे स्वप्न ही नहीं हैं, ये सब आकस्मिक, असंबद्ध अथवा अव-चेतन रूपसे निर्मित नहीं हैं। बहुतसे तो प्राणमय लोककी, जहां जीव निद्रावस्था-में प्रवेश करता है, अनुभूतियोंके चित्रण या प्रतिच्छाया-रूप हैं और कुछ सूक्ष्म-भौतिक स्तरके दृश्य अथवा घटनाएं हैं। वहांपर मनुष्य प्रायः इस प्रकारकी घटनाओंमेंसे गुजरता है अथवा ऐसी क्रियाएं करता है जो उसके जाग्रत कालके जीवनकी घटनाओं और क्रियाओंसे मिलती-जुलती हैं। इन घटनाओं और क्रियाओंमें वे ही परिस्थितियां और मनुष्य होते हैं जो उसके जाग्रत कालके जीवनमें थे, यद्यपि इनके क्रम और आकार-प्रकारमें कम या अधिक अन्तर रहता है। किन्तु स्वप्नमें अन्य परिस्थितियों और अन्य मनुष्योंसे भी संस्पर्श हो सकता है, जिनसे भौतिक जीवनमें परिचय ही न हुआ हो या जो भौतिक जगत्से कुछ भी सम्बन्ध न रखते हों।

जाग्रत दशामें तुम अपनी प्रकृतिके कुछ मर्यादित क्षेत्र और क्रियाके विषय-में ही सचेतन होते हो। निद्रावस्थामें तुम इस क्षेत्रके परे जो चीजें हैं उनको स्पष्ट रूपमें जान सकते हो— जाग्रत अवस्थाके पीछे रहनेवाली एक बृहत्तर मनोमय या प्राणमय प्रकृतिको अथवा एक सूक्ष्म-भौतिक या अवचेतन प्रकृतिको जान सकते हो। इसी प्रकृतिमें तुम्हारा वह अधिकांश भाग रहता है जो तुम्हारे अन्दर विद्यमान है, परन्तु जो जाग्रत अवस्थामें स्पष्टतया क्रियाशील नहीं रहता।

इन समस्त अन्धकारपूर्ण क्षेत्रोंको शुद्ध करना होगा, नहीं तो प्रकृतिका परिवर्तन होना अशक्य हो जायगा। प्राणमय या अवचेतन स्वप्नोंके दबावसे तुम्हें अपने-आपको विचलित नहीं होने देना चाहिये — कारण स्वप्नानुभूतिका अधिकांश भाग इन्हीं दोनोंसे बना हुआ होता है — प्रत्युत इन बातोंसे तथा जिन क्रियाओं-का ये निर्देश करते हैं उनसे छुटकारा पानेके लिये सचेतन होने तथा भागवत सत्यके अतिरिक्त दूसरी सभी चीजोंका त्याग करनेके लिये अभीप्सा करनी चाहिये। इस भागवत सत्यको तुम जितना ही अधिक प्राप्त करोगे और जाग्रत अवस्थामें बाकी सभी चीजोंका त्याग करते हुए, इसे ही निरन्तर पकड़े रखोगे, उतनी ही अधिक निम्न कोटिकी यह सब स्वप्न-सामग्री शुद्ध होती जायगी।

*

तुम्हारी चेतनाकी अवस्थाकी ही मैंने चर्चा की थी — तुम जितने अधिक सचेतन होगे, उतने ही अधिक पाने योग्य स्वप्नोंका अनुभव कर सकोगे।

*

यदि स्वप्न सचमुच अर्थपूर्ण न हों तो उनका अध्ययन केवल समय बरबाद करता है।

*

ऐसा प्रतीत होता है कि तुम स्वप्नोंको बहुत अधिक महत्व देते हो। अपने जाग्रत मन और प्राणको मुक्त रखो — बादमें जाकर तुम उन स्वप्नोंके साथ निबट सकते हो जो तब केवल अवचेतनसे आनेवाली स्मृति रह जायेंगे।

*

इस प्रकारके सब स्वप्न बहुत स्पष्ट रूपसे ऐसी रचनाएं हैं जैसी कि मनुष्यको प्राणमय जगत्में प्रायः मिलती हैं और कभी-कभी मनोमय जगत्में भी। कभी तो ये रचनाएं तुम्हारे अपने ही मन या प्राणकी होती हैं; कभी दूसरोंके मनकी होती हैं जो या तो ठीक उसी रूपमें या कुछ परिवर्तनके साथ तुममें चली आती हैं; और कभी ऐसी रचनाएं आ जाती हैं जो दूसरे स्तरोंकी

अमानवीय शक्तियों या सत्ताओंद्वारा रची गई होती हैं। ये बातें सत्य नहीं होतीं और इस भौतिक जगत्में इनके सत्य होनेकी कोई जरूरत भी नहीं, किन्तु फिर भी यदि इनकी रचना इसी प्रयोजन और इसी प्रवृत्तिसे हुई हो तो वे शरीरपर असर कर सकती हैं, और यदि इन्हें मौका दिया जाय तो ये आन्तर या बाह्य जीवनमें अपने उद्दिष्ट परिणामको पूरा कर सकती अथवा अपना मतलब साध सकती हैं — कारण ये स्वप्न अधिकांशत: प्रतीकात्मक या आयोजनात्मक होते हैं। हैं। इनके साथ यही उचित है कि इनका केवल निरीक्षण किया जाय तथा इनको समझा जाय और यदि ये विरोधी स्रोतसे आते हों तो इनका त्याग किया जाय या इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

*

एक और प्रकारके स्वप्न होते हैं जो उपर्युक्त ढंगके नहीं होते, बल्कि दूसरे स्तरों, दूसरे लोकोंमें, हमारी अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न अवस्थाओंके अन्तर्गत जो बातें वस्तुत: घटित होती हैं उनका निदर्शन करानेवाले या उनकी प्रतिच्छाया-रूप होते हैं। और फिर कुछ ऐसे स्वप्न होते हैं जो एकदम प्रतीकात्मक होते हैं और कुछ ऐसे जो हमारे अन्दरकी वर्तमान गतियों और प्रवृत्तियोंका दिग्दर्शन कराते हैं, भले ही हमारा जाग्रत मन इन गतियों और प्रवृत्तियोंको जानता हो या नहीं, अथवा ये स्वप्न हमारी पुरानी स्मृतियोंको अपने उपयोगमें लाते हैं या अवचेतनाकी चीजोंको, वे चाहे निष्क्रिय रूपसे पड़ी हों या अभीतक कार्यशील हों, ऊपर उठाकर ले आते हैं। इस अवचेतनामें उन विविध प्रकारकी सामग्रियों-का समूह है जिन्हें उच्च चेतनामें उठनेवाले साधकको या तो परिवर्तित कर लेना होता है या जिनसे छुटकारा ही पा लेना होता है। इन स्वप्नोंका अभि-प्राय समझ लेना यदि कोई सीख जाय तो वह इनसे हमारी प्रकृतिके तथा अन्य प्रकृतिके रहस्योंका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

*

स्वप्नकी इन रचनाओं और संकेतोंके तीन विभिन्न कारण हो सकते हैं —

1. वे सत्ताएं जिनके साथ तुम अतिभौतिकजगत्में मिलते हो और जो स्वयं तुममें रस लेती हैं।

2. प्रकृतिकी, अर्थात् मानसिक या प्राणिक प्रकृतिकी, वे शक्तियां, जो

इन मानव आकारोंको ग्रहण करती हैं और एक प्रतीकात्मक स्वप्नमें वैश्वमन और प्राणकी किसी रचनाको तुमतक पहुँचाती हैं। ये सन्देश भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके संकेतों या चेतावनियोंके रूप धारण कर सकते हैं। वह स्त्री प्रकृतिकी ऐसी ही शक्ति रही होगी, क्योंकि उसका बच्चा और सन्दूक स्पष्ट ही प्रतीकात्मक हैं—बच्चा उसके ऐसे किसी सर्जन या निर्माणका प्रतीक है जिसके विषयमें उसकी इच्छा थी कि तुम उसे स्वीकार कर लो और अपनी चेतनामें स्थान दे दो, वह सन्दूक किसी ऐसी अभ्यस्त क्रियाओंका प्रतीक है जिसके लिये यह शक्ति भी चाहती थी कि तुम उसे आश्रय दो। तुम्हारी देखभाल करनेका उसका प्रस्ताव भी यह कहनेका केवल एक ढंग ही था कि यह तुम्हें अपने अधिकारमें करना चाहती है। उन सब बातोंको खारिज कर देना ही उचित काम था।

3. स्वप्नोंके रूपमें तुम्हारे अपने मनकी वे रचनाएं, जिससे उन संकेतोंको तुम तक पहुँचाया जाय जो उसने प्राप्त किये थे या प्रकृतिकी किसी शक्तिके वे प्रत्यक्ष बोध जिनके लिये, जैसा कि अन्तिम स्वप्नमें हुआ है, इसने चाहा था कि आन्तरिक सत्ता इन्हें अस्वीकार कर दे।

*

यह सही भौतिक पूर्वज्ञानके स्वप्नका एक उदाहरण है। इस प्रकारके स्वप्न प्राप्त करनेका सामर्थ्य अपेक्षाकृत दुर्लभ चीज हैं, क्योंकि ऐसे पूर्वज्ञान सामान्यतया अन्तर्दर्शनमें ही आते हैं, निद्रामें नहीं। स्वप्नोंमें प्राणिक या मानसिक रचनाएं प्रायः आकार ग्रहण करती हैं जो कभी-कभी अपनेको सार रूपमें चरितार्थ करती हैं किन्तु विवरणकी इस विशुद्धताके साथ नहीं।

स्वप्नोंकी केवल एक विशिष्ट श्रेणी ही यह (सही भूत और भविष्यका निर्देश) करती है। अधिकांश सम्बद्ध स्वप्न ऐसे होते हैं जो या तो प्रतीकात्मक होते हैं या भौतिक भूमिकाकी अपेक्षा मानसिक और प्राणिक भूमिकाओंपर होनेवाली वस्तुओंका अधिक निर्देश करते हैं।

यह वस्तु सचेतन विचार-निर्माणकी शक्तिकी द्योतक है। विचारोंमें प्रभावको उत्पन्न करनेकी शक्ति है—जिसे वे साधारणतया वातावरण या प्रवृत्तियों द्वारा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति जब बीमार होता है तो उसके परिजनोंको अनिष्टसूचक उदासी, दुःख या भयसे परिपूर्ण विचार नहीं करने चाहिये क्योंकि यह उसके इलाजके विपरीत कार्य करता है। लेकिन सचेतन रूपसे विचार-निर्माणकी क्षमता एक विशेष और असाधारण शक्ति है। यह साधना द्वारा प्राप्त की जा सकती है या स्वयं आती है।

*

ऐसे स्वप्न अवचेतनसे आते हैं। यौगिक अनुभूति द्वारा यह जानकर अत्यधिक व्याकुलता होती है कि अवचेतन कितने अटल रूपसे उन चीजोंको अपने अन्दर रक्षित रखता है जो चेतनाकी ऊपरी सतहोंमें निपटाई या समाप्त की जा चुकी हैं और ठीक इसी कारण ये स्वप्न प्रायः एक लाभदायक संकेत भी होते हैं, क्योंकि ये इस निम्न लोकमें छिपी वस्तुओंकी जड़ोंतक पहुँचने और उन्हें उच्छिन्न या उन्मूलित करनेमें हमारी मदद करते हैं। नहीं, इसका यह मतलब नहीं कि तुम अपनी चेतनाके किसी भी क्षेत्रमें अपनी वर्तमान साधना-को सामयिक धंधेके रूपमें स्वीकार कर रहे हो वरन् सिर्फ यह कि पुरानी प्राणिक प्रवृत्तियां और क्रियाएं उस रहस्यमय और धुँधले अवचेतन यमलोकमें अभी भी मौजूद हैं और जब चेतन संकल्प शिथिल पड़ जाता है तो उनके किटकिटाते प्रेत सतहपर उठ खड़े हो सकते हैं। यदि स्वप्न तुच्छ था तो ऐसा जान पड़ेगा मानों यह प्रेत कोई नौर्वे देशकी उग्र गाथा (Revenants) का महा-दैत्य न होकर किसी तुच्छ यमलोक या परलोक का भूत था।

*

ऐसा प्रायः होता है कि जाग्रत चेतनासे बाहर फैंक दिये जानेपर भी चीजें स्वप्नमें आती हैं। यह पुनरावर्तन दो प्रकारका होता है। एक प्रकार वह है जब वस्तु समाप्त हो जाती है, परन्तु उसकी स्मृति और संस्कार अवचेतना-में बचे रहते हैं और निद्रामें स्वप्नके रूपमें आते हैं। इन अवचेतन स्वप्न-पुनरावृत्तियोंका कोई महत्व नहीं; वे यथार्थताकी अपेक्षा आभास अधिक होती हैं। दूसरा पुनरावर्तन वह है जब स्वप्न प्राणमें इस बातकी जांच करने या यह बतानेके लिये आते हैं कि आन्तर सत्ताके किसी भागमें पुरानी क्रिया कितनी हदतक शेष है या जीत ली गई है। क्योंकि निद्रामें व्यक्तिपर जाग्रत चेतना और संकल्पका नियन्त्रण नहीं होता। उसके बावजूद व्यक्ति यदि निद्रामें सचेतन रहे और जिन परिस्थितियोंने पहले पुरानी क्रियाओंको उत्पन्न किया था उनके बारंबार आनेपर भी उन क्रियाओंको अनुभव न करे या फिर उनपर विजय प्राप्त करके उन्हें बाहर फैंक दे तो यह समझ लेना होगा कि वहां भी विजय प्राप्त हो गई है। तुम्हारा वह स्वप्न जो यथार्थताओंके साथ मेल खाता प्रतीत होता है, इस ढंगका सच्चा स्वप्न था; पुरानी क्रिया आदतके कारण ही आई पर तुम तत्काल ही सचेतन हो गये और उसे त्याग दिया। यह उत्साहवर्धक चिह्न है और बहुत थोड़े समयमें ही इसके पूर्ण निवारणका आश्वासन देता है।

*

वे स्वप्न जो अवचेतन संस्कारोंके अव्यवस्थित संकलनोंसे बने हुए होते हैं — अवचेतन मन, प्राण तथा शरीरसे सम्बन्धित होते हैं — या तो निस्सार होते हैं या फिर उनका कोई ऐसा अर्थ होता है जिसका पता चलाना या तो मुश्किल है या पता चल भी जाय तो वह कोई बहुत जानने लायक चीज नहीं होती। दूसरे स्वप्न या तो केवल मन, प्राण या सूक्ष्म अन्नमय लोकोंकी घटनाएं होते हैं अथवा वृहत्तर मन, प्राण तथा सूक्ष्म शरीरके लोकोंसे आये हुए होते हैं और इनका एक अर्थ होता है जिसे स्वप्नके प्रतीक बतानेकी चेष्टा कर रहे होते हैं।

*

जब व्यक्ति भौतिक चेतनामें होता है तो निद्राकी प्रवृत्ति अवचेतन प्रकार-की अर्थात् प्रायः भारी और श्रांतिदायक होनेकी ओर होती है, स्वप्न भी अव-चेतन ढंगके, असम्बद्ध और अर्थहीन होते हैं अथवा सार्थक होनेपर भी स्वप्नके प्रतीक इतने अव्यवस्थित और धुंधले होते हैं कि उन्हें समझना सम्भव नहीं होता। श्रीमांके प्रकाशको अवचेतनामें लानेके द्वारा ही इसे बाहर निकाला जा सकता है और निद्रा विश्रांतिपूर्ण या ज्योतिर्मय और सचेतन हो जाती है।

*

ऐसे अनुभव होना तब सामान्य हो जाता है जब आन्तरिक चेतना बढ़ रही और उत्तरोत्तर सत्ताका स्वाभाविक केन्द्र बन रही होती है — इन्द्रियानुभवों और बाह्य घटनाओंपर, बाह्य मनकी साधारण निर्भरताके स्थानपर इस आन्त-रिक चेतनाका स्वतः स्फुरित सहज ज्ञान ही प्रमुख बन रहा है। वस्तुतः समग्र सत्ता ही चेतन हो जाती है — वस्तुओंके विषयमें चेतनाका उपादान ही सचेतन हो जाता है, न कि उसका बाह्य यन्त्रात्मक भाग।

निद्रावस्थामें चेतनाका एक हिस्सा बाहर सत्ताकी अन्य भूमिकाओंमें जाता है और वहांपर वस्तुओंको देखता है एवं उनका अनुभव करता है। साक्षी चेतनाके लिये इन घटनाओंका अनुसरण करना बिलकुल सम्भव है। ये घटनाएं साधारणतया अपने-आपको एक सम्बद्ध प्रतिलिपिके रूपसे चेतनाके निद्रित भागमें संक्रान्त करती हैं। चेतनाके ये भाग उन्हें ग्रहण करते हैं और वे घटनाएं अवचेतनके असम्बद्ध स्वप्नोंके प्रतिकूल स्पष्ट और अर्थगर्भित स्वप्न प्रतीत होती हैं। या फिर यह भी हो सकता है कि साक्षीचेतना यहोंकी तरह वहां

भी अपनेको घटनाओंका अवलोकन करते हुए अनुभव करे। यह चीज बहुत करके कुछ समयके बाद विकसित होगी।

*

भौतिक मन (या फिर अवचेतन मन) स्वप्नमें प्रायः हमेशा ही दखल देता है और अपनी ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। जब मानसिक या प्राणिक भूमिकापर कोई स्पष्ट अनुभव होता है केवल तभी यह दखल देनेकी चेष्टा नहीं करता।

*

वे ऐसी मानसिक और उच्चतर प्राणिक भूमिकाके स्वप्न हैं जिनमें वस्तुएं यहांकी अपेक्षा भिन्न लयतालके साथ और अधिक स्वतन्त्र शक्तियोंके साथ घटित होती हैं, किन्तु उनमेंसे कुछ स्वप्न यहांकी घटनाओं और वस्तुओंके लिये रचनात्मक होते हैं — यह नहीं कि वे ठीक भविष्यवाणीकी तरह पूरे होते हैं किन्तु वे उनकी पूर्ति करनेवाली शक्तियोंको जन्म देते हैं।

*

(जाग्रत और स्वप्नावस्थाओंके बीच) कोई ठोस संबंध नहीं होता, परन्तु कोई सूक्ष्म संबंध हो सकता है। जाग्रत स्थितिकी घटनाएं प्रायः स्वप्नजगत्पर असर डालती हैं, बशर्ते कि उनका मन या प्राणपर पर्याप्त अप्रत्यक्ष प्रभाव हुआ हो। स्वप्न भूमिकाओंकी रचनाएं और प्रवृत्तियां अपनी या अपने किसी प्रभावके अंशको जाग्रत भौतिक अवस्थामें प्रक्षिप्त कर सकती हैं, यद्यपि वे अपने आकारको यथार्थताके साथ कदाचित् ही प्रस्तुत करती हैं। यदि स्वप्न चेतना बहुत ऊंचे रूपमें विकसित हो तभी व्यक्ति साधारणतया ऐसी वस्तुओंको देख सकता है जिन्हें आगे जाकर लोगोंके विचार वाणी या कर्म अथवा स्थूलजगत्की घटनाएं पुष्ट करती हैं।

*

ये प्राणजगत्के ऐसे स्वप्न हैं जिनमें प्राणजगत् आध्यात्मिक अनुभवको

अपने हाथमें लेता है और आगे जाकर उसे शक्तिकी तथा चेतनाकी हानि एवं एक पतनका सुझाव देकर अहंके रूपोंमें बदल देनेकी कोशिश करता है। तुम्हें इन स्वप्नोंको कोई महत्व नहीं देना चाहिये सिवाय इस रूपमें कि वे निद्रावस्थाकी प्रकृतिका एक संकेत मात्र है।

*

उनके कहनेका आशय केवल यही है कि जब वे स्वप्नावस्थासे लौटके आते हैं, तो वे इस बातसे सचेतन नहीं होते कि उन्हें स्वप्न आये हैं। निद्रामें चेतना अन्य भूमिकाओंमें चली जाती है और उसे वहां अनुभव होते हैं तथा जब उसे भौतिक मन पूर्ण या अपूर्ण रूपसे अनूदित कर लेता है तो वे स्वप्न कहलाते हैं। निद्रामें सारे समय ऐसे स्वप्न आते रहते हैं, पर व्यक्तिको वे कभी याद रहते हैं और कभी बिलकुल नहीं। कभी-कभी तो मनुष्य अवचेतनमें बहुत नीचे चला जाता है और उसे वहां स्वप्न आते हैं, लेकिन वे इतने गहरे होते हैं कि जब वह बाहर निकलता है तो उसे यह चेतना भी नहीं होती कि उसे स्वप्न आये थे।

*

मौन और वाचालताका बारी-बारीसे आना तब स्वाभाविक होता है जब स्थूल-सत्तापर अन्दरसे क्रिया हो रही होती है। यों कहें कि जब निद्रा अधिक जाग्रत होती है, तो मनुष्यको सब तरहके स्वप्न आते हैं; जब वह स्वप्नोंके विषयमें सचेतन नहीं होता तो इसका कारण यह होता है कि शरीरकी निद्रा अधिक गहरी होती है,—स्वप्न वहां विद्यमान होते अवश्य हैं किन्तु शरीर-चेतनाका उसपर ध्यान नहीं जाता या उसे स्मरण नहीं होता कि ये उसे आ चुके थे।

*

यह जागरण कालमें चेतनाकी दो अवस्थाओंके सम्बन्धपर निर्भर करता है। साधारणतया चेतना इस तरह उलट जाती है कि उसमें स्वप्नावस्था थोड़े-बहुत आकस्मिक रूपसे लुप्त हो जाती है, साथ ही उस क्षणस्थायी छापको मिटा देती है जो स्वप्नोंकी घटनाओंने (बल्कि उनके प्रतिलेखने) अन्नमय कोष-

पर छोड़ी थी। यदि जागरणकी क्रिया अधिक सुव्यवस्थित (कम खण्डित) हो या, यदि वह छाप बहुत प्रबल हो तो कम-से-कम अन्तिम स्वप्नका स्मरण तो रहता ही है। अन्तिम उदाहरणमें व्यक्ति लम्बे कालतक स्वप्नको याद रख सकता है, लेकिन साधारणतया जागरणके बाद स्वप्नकी स्मृतियां क्षीण हो जाती हैं। जो लोग अपने स्वप्नोंको स्मरण करना चाहते हैं वे कभी-कभी शान्ति पूर्वक लेटे रहकर और पीछेकी ओर उन्हें खोजते हुए, एकके बाद एक स्वप्नोंको फिरसे पानेका अभ्यास करते हैं। जब स्वप्नावस्था बहुत हलकी होती है, तो व्यक्ति गहरी स्वप्नावस्थाकी अपेक्षा अधिक स्वप्नोंको याद रख सकता है।

*

(निद्राके समय) अवचेतना शरीरमें रहती है। सत्ता यथार्थतः चेतनाकी विभिन्न भूमिकाओंमें चली जाती है, पर सत्ताकी अनुभूतियां याद नहीं रहती, क्योंकि ब्यौरा रखनेवाली चेतना इतनी अधिक व्यस्त होती है कि वह जाग्रत मनको ब्यौरा नहीं पहुँचा सकती।

*

हां, निश्चय ही, स्वप्नके अनुभव बहुमूल्य हो सकते हैं और वे ऐसे सत्यों-को भी बता सकते हैं जिन्हें जाग्रत अवस्थामें पाना इतना आसान नहीं होता।

ऐसा प्रायः होता है। चेतनामें ऐसा परिवर्तन या विपर्यय होता है और स्वंप्नावस्था लुप्त होते हुए अपने दृश्यों और अनुभवोंको अपने साथ ले जाती है। कभी-कभी इसे इस प्रकार टाला जा सकता है कि हम निद्रावस्थासे एकाएक ही जाग्रत अवस्थामें न आ जायें या तेजीसे न जाग उठें, बल्कि कुछ समय यह देखनेके लिये शान्त रहें कि स्मृति विद्यमान है या फिर लौटती है या नहीं। अन्यथा स्थूल स्मरण शक्तिको याद रखना सिखाना होगा।

*

निद्रावस्थामें अधिकतर लोग प्रायः प्राणमें ही विचरण करते हैं क्योंकि यह स्थूल भूमिकाके सबसे अधिक निकट है और इसमें रहना सबसे अधिक

आसान है। मनुष्य उच्चतर भूमिकाओंमें प्रवेश अवश्य करता है किन्तु या तो यह विचरण संक्षिप्त होता है अथवा उसे इसकी याद नहीं रहती। क्योंकि जाग्रत अवस्थामें लौटते समय व्यक्ति फिरसे निम्नतर प्राण एवं सूक्ष्म भौतिक भूमिकामेंसे गुजरता है और क्योंकि ये अन्तिम स्वप्न होते हैं इसलिये वे अधिक सुगमतासे याद रहते हैं। दूसरे स्वप्न केवल तभी याद रहते हैं यदि (1) अंकित करनेवाली चेतनापर उनकी प्रबल छाप पड़ी हो, (2) उनमेंसे किसी एक स्वप्नके बाद व्यक्ति झटसे जाग जाय, (3) व्यक्तिने नींदमें सचेतन रहना सीख लिया हो, अर्थात् वह सचेतन रूपसे एकके बाद एक भूमिकाके मार्गका अनुसरण करता हो। कुछ लोग स्वप्नोंको याद रखनेके लिये अपनेको इस रूपमें प्रशिक्षित करते हैं कि वे जागते समय निश्चल रहकर स्वप्न-सूत्रका अन्त तक अनुसरण करें।

*

यह अभिव्यक्ति चैत्य भूमिकाकी थी—और संगीत उसी प्रदेशका था। बहुधा इस तरह एक सचेतन निद्रासे बाहर आकर आन्तर चेतना (जिसने संगीत सुना था) जागरणके बाद भी कुछ क्षणोंतक ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, उसके बाद वह पीछेकी ओर लौटती है तथा जाग्रत मन द्वारा पूरी तरह आच्छादित हो जाती है। उस अवस्थामें निद्रामें सुनी या देखी गई वस्तु जागनेके बाद भी उन थोड़े क्षणोंतक कायम रहती है।

*

प्राणिक भूमिकाके स्वप्नोंमें सदा ही भौतिक तथ्यके विधि -विधानसे भिन्न विधि-विधान देखनेमें आता है—कभी-कभी यह प्राणकी उन्मुक्त क्रीड़ाके कारण होता है, पर अन्य कालोंमें यह केवल स्वयं प्राणकी या उस अवचेतन मनकी रचना करनेकी अपनी मौज होती है जो स्वप्नकी घटनाओंका प्रति-लेखन करता है या कभी-कभी अपने योगदान द्वारा उन्हें बदल भी देता है।

*

स्वप्नके लोग बहुधा वास्तव जगत्के लोगोंसे भिन्न होते हैं। कभी-कभी अन्य भूमिकापर यथार्थ मनुष्य ही आता है—कभी-कभी विचार और शक्ति

आदि ही साहचर्य की किसी चालाकी अथवा अन्य किसी कारणसे उसका रूप धारण कर लेते हैं।

*

वह अन्य बहुतसे स्वप्नोंके विपरीत एक प्राणिक भूमिकाका प्रतीकात्मक स्वप्न है। किन्तु इन प्रतीकात्मक स्वप्नोंकी व्याख्या करना तब तक कठिन होता है जब तक ये अपने सुराग न दे दें — उनका रूप एक प्रकारकी दुर्बोध लिपि जैसा होता है। एकबार उनका सुराग मिल जानेपर उनमेंसे कुछ स्वप्न बहुत महत्वपूर्ण हो सकते हैं — अन्य निश्चय ही अपेक्षाकृत तुच्छ होते हैं।

*

ऐसे स्वप्नोंकी संख्या बहुत कम है जिनकी इस तरह व्याख्या (कि वे बाह्य उद्दीपनके कारणोंसे उत्पन्न होते हैं) की जा सकती है और बहुतसे दृष्टांतोंमें व्याख्या बिलकुल निरंकुश होती है या प्रमाणित नहीं की जा सकती। स्वप्नोंकी अधिक बड़ी संख्या भूतकालीन अवचेतन संस्कारोंसे बिना किसी बाह्य उद्दीपनके उत्पन्न होती है। अवचेतनासे आनेवाले ये स्वप्न उन स्वप्नोंका पुंज हैं जिन्हें अधिकतर बाह्य मनमें निवास करनेवाले लोग याद रखते हैं। ऐसे भी स्वप्न होते हैं जो प्रकृतिकी अभ्यस्त प्राणिक क्रियाओं और प्रवृत्तियोंके प्रतिरूप होते हैं और प्राणिक भूमिकाकी व्यक्तिगत रचनाएं होते हैं। लेकिन जब व्यक्ति अन्तरमें निवास करने लगता है तब स्वप्न प्रायः व्यक्तिके प्राणिक भूमिकापर हुए अनुभवोंके प्रतिलेख होते हैं और उससे परे ऐसे प्रतीकात्मक एवं अन्य स्वप्नोंका एक विशाल क्षेत्र है जिन्हें स्मृतिसे कुछ लेना देना नहीं। निःसंदेह यह सिद्ध हो चुका है कि बड़ा लम्बा और ब्यौरोसे पूर्ण स्वप्न एक या दो क्षणमें ही पूरा हो सकता है, इसलिये बर्गसनके कथनके विरुद्ध आपत्ति टिकती नहीं है। किन्तु भविष्यसूचक तथा बहुतसे अन्य स्वप्न भी होते हैं। स्मृति अनुभवोंको परस्पर बांधे रखती है परन्तु (युरोपीय लोगोंके चेतना सम्बन्धी संकुचित विचारके अनुसार भी) चेतना और स्मृतिको एक मानना मूर्खतापूर्ण है । स्मृतिका यह सिद्धान्त बर्गसनके इस आधारभूत विचारका अंग है कि काल ही सब कुछ है। जहांतक 'आध्यात्मिक' का प्रश्न है युरोपमें अधिकतर आध्यात्मिक और मानसिक या प्राणिकके बीच कोई भेद नहीं किया जाता।

*

ऐसे स्वप्न बहुत सारे लोगोंको आते हैं। निद्रावस्थामें प्राणसत्ता ही बाहर निकल कर प्राणिक जगतोंमें चारों ओर विचरण करती है तथा उसे अपने (प्राणिक) शरीरमें ही हवामें तैरनेकी अनुभूति होती है। बिजलीके रंगवाली समुद्रकी लहरें अवश्य ही क़िसी प्राणिक प्रदेशका वातावरण होंगी। मुझे कुछ साधकोंके विषयमें मालूम है कि जब वे पहले-पहल अधिक सचेतन रूपसे शरीरसे बाहर यह सोचते हुए निकलते हैं कि वे वस्तुतः हवामें उड़ने लगे हैं, तो इस क्रियाकी स्पष्टता बहुत प्रबल होती है, किन्तु बाहर केवल प्राणिक शरीर ही जाता है।

*

ये स्वप्न हैं प्राणिक भूमिकापर होनेवाले अनुभव, तुम्हारी अन्तःसत्तामें मेरे तथा माताजीके साथ हुए वास्तविक संपर्क, न कि प्रतीकात्मक संपर्क, यद्यपि उनमें प्रतीकात्मक तत्व हो सकते हैं, परन्तु तुम्हारी चेतनाके साथ हमारी चेतनाके सम्बन्धो, प्रभावों या पारस्पिरिक क्रिंयाओंके व्यक्त करनेवाले संपर्क। दूसरे स्वप्नमें प्रतीकात्मक तत्व हैं। सीढ़ी, निस्सन्देह एक स्थितिसे दूसरी स्थिति पर आरोहण करनेका प्रतीक है। सांप ऊर्जाका द्योतक है, कभी-कभी अच्छी ऊर्जाका, पर बहुधा बुरी (प्राणिक या विरोधी) ऊर्जाका। यह हो सकता है कि ऊर्जा निष्क्रिय होनेके कारण खतरनाक न हो, परन्तु तुमने यह जाननेके लिये कि यह कैसी है, इसे जगा दिया और यह पाया कि इसके साथ व्यवहार करना निरापद नहीं है। यह ऊर्जा क्या है इसे जाननेके लिये कोई स्पष्ट संकेत नहीं है। ये स्वप्नानुभव उन सामान्य स्वप्नोंकी तरह जागरणकालके विचारोंपर निर्भर नहीं करते जो केवल स्वप्न ही होते हैं, अनुभव नहीं। उनका अपना जीवन, ढांचा, व्यवस्था, अपने रूप और अर्थ होते हैं; परन्तु वे प्रायः साधनाकी आन्तरिक स्थिति एवं अनुभूतियों या क्रियाओंके साथ जुड़े होते हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि फूलवाली घटना प्रतीकात्मक थी या केवल ऐसी कोई वस्तु जो आंतर भूमिकामें हुई। तुमने जो फूल दिया था वह वस्तुतः क्या था, इस बातका संकेत दिया गया होता तो इस विषयमें कहना सम्भव होता।

ये बुरी अवस्थाएं आन्तरिक सन्तुलित अवस्थासे बाह्य चेतनामें (प्रायः बहुत मामूली कारणसे) पतन हैं। वे जब आयें तो उनसे प्रभावित न होओ, परन्तु शान्त रहो, माताजीको पुकारो और अन्तर्मुख हो जाओ।

*

जिन स्वप्नोंका तुम वर्णन करते हो वे स्पष्ट रूपसे प्रतीकात्मक स्वप्न हैं और प्राणमय स्तरके हैं। ये स्वप्न किसी भी बातके प्रतीक हो सकते हैं, जैसे, क्रीड़ा करती हुई शक्तियोंके, जिन चीजोंको कार्यमें परिणत किया गया है या जिनकी अनुभूति प्राप्त की गयी है उनके आधारभूत ढांचे या बुनावटके, वास्तविक या संभावित घटनाओंके, आन्तर या बाह्य प्रकृतिमें असली या सुझायी हुई गतियों या परिवर्तनोंके।

भीरुता, स्वप्नमें भय होना जिसका संकेत था, संभवतः सचेतन मन या उच्चतर प्राणकी कोई वस्तु नहीं थी बल्कि निम्न प्राणप्रकृतिमें होनेवाली कोई अवचेतनाकी वस्तु थी। यह भाग सदा ही अपनेको तुच्छ और अकिंचन बोध करता है और इसको यह भय लगा रहता है कि वह कहीं महत्तर चेतनाद्वारा निगल न लिया जाय — यह भय कुछ लोगोंको तो प्रथम स्पर्शके होनेपर यहां-तक होता है कि मानो कोई दहला देनेवाला आतंक या भीषण त्रास हो।

*

ये प्राणमय भूमिकाके अनुभव हैं; उनका अर्थ अवश्य होता है यदि व्यक्ति उनका अर्थ करना जाने। यह अनुभव प्राण भूमिकामें हुए प्रबल आक्रमणोंकी सम्भावनाका सूचक है, किन्तु इसके साथ ही यह संरक्षणका भी आश्वासन देता है। ये प्राणिक भूमिकाकी रचनाएं हैं, कभी-कभी ऐसी वस्तुएं जो घटित होनेकी चेष्टा तो करती हैं पर आवश्यक रूपसे सफल नहीं होती। व्यक्ति चाहे तो उन्हें देख और समझ सकता है, पर उसे उनके द्वारा मनको प्रभावित नहीं होने देना चाहिये; क्योंकि प्रायः विरोधी शक्तियां इन स्वप्नानुभवों द्वारा दिये गये सुझावसे मनको प्रभावित करनेकी कोशिश करती हैं।

मैंने यह कहा था कि यह स्वप्न प्राणमय भूमिकामें हुई वास्तविक घटना थी, न कि कोई रचना। यदि कोई व्यक्ति गलीमें तुमपर आक्रमण करे तो यह रचना नहीं है। पर यदि कोई व्यक्ति तुम्हें सम्मोहित करे और ऐसा सुझाव दे कि तुम बीमार हो — तो यह सुझाव एक ऐसी रचना है जो सम्मोहनकर्ता द्वारा उत्पन्न की गई है।

*

ये प्राणिक भूमिकाके स्वप्न हैं — बहुत करके ये किसी ऐसी वस्तुकी ओर निर्देश करते हैं जो तुम्हारे प्राणमें हो रही है, पर इन स्वप्नोंकी व्याख्या तबतक नहीं की जा सकती जबतक या तो सतहपर कोई स्पष्ट संकेत न हो

या फिर तुम स्वयं अपने अनुभवकी किसी जानी पहचानी वस्तुके साथ उसका सम्बन्ध न जोड़ सको। पानीके (ऊपरमें प्राप्त चेतना या किसी अन्य देनके) ऊपर या नीचेकी ओर प्रवाहित होनेके दृश्य प्राय: सामने आते हैं और उनका सामान्य अर्थ हमेशा एक ही होता है—किन्तु यहां इसका ठीक-ठीक अर्थ स्पष्ट नहीं हैं।

*

यह प्राणिक भूमिकाका स्वप्न है। इन स्वप्नोंमें स्थूल जीवनके आकार अन्य रूप एवं अर्थ धारण करते हैं और उनमें निवास तथा कार्य करनेवाली चेतना बाह्य भौतिक चेतना नहीं होती किन्तु सत्ताका कोई आन्तरिक प्राणमय भाग होता है और फ्रेंच सिपाहियोंकी बगावत प्राणिक भूमिकापर हुए किसी ऐसे विक्षोभका रूप है जो आकर आन्तर जीवनको प्रभावित करना चाहता है। स्वप्नका अर्थ यह है कि प्राणिक आन्तर चेतना माताजीपर भरोसा रखनेके लिये और आन्तर जीवनके सब सम्भव विक्षोभों या खतरोंके सामने आनेपर उनकी शरण लेनेके लिये तत्पर है।

*

हां, संरक्षणके सम्बन्धमें तुम्हारी अनुभूति बिलकुल सही है।

'क्ष' के विषयमें स्वप्न आना तथा माताजीके पास जाना ऐसी किसी वस्तुका अनुभव था जो प्राणिक स्तरपर हुई थी। वहां ऐसी वस्तुएं घटित होती हैं जिनका यहांकी प्रकृति एवं जीवनसे कोई सम्बन्ध होता है, परन्तु वे घटित भिन्न ढंगसे होती है क्योंकि वहां लोगोंकी भौतिक सत्ताएं नहीं किन्तु प्राणिक सत्ताएं ही परस्पर मिलती हैं। व्यक्तिकी अपनी आन्तर प्राणमय सत्ताका स्वरूप क्या है, इसे वह समझ सकता है—जो प्राय: उस स्थूल व्यक्तित्वसे बहुत भिन्न होता है जो शरीरमें आगे रहकर कार्य करता है इन स्वप्नोंमें चेतनाकी क्रियाके कारण सत्ताके आन्तरिक हिस्से अधिक सक्रिय होने और बाह्य प्रकृतिपर अधिक प्रभाव डालने लगते हैं। तुमने अपने जिन स्वप्नानुभवोंका वर्णन किया है उनसे प्रतीत होता है कि तुम्हारी आन्तरप्राणमय सत्ता बहुत शक्तिशाली, निष्ठामय, निर्मल मनवाली, दृढ़ निश्चयी, विरोधी शक्तियों और उनकी प्रवृत्तियोंसे ठीक ढंगसे बरतने और ठीक क्रिया करनेमें समर्थ है।।

किसी स्थानपर जानेके संवेदनका अर्थ है कि चेतनाका कोई हिस्सा भौतिक

भूमिकासे भिन्न किसी अन्य भूमिकामें जा रहा है। तुमने जिन व्यक्तियोंको देखा और उसके बाद तुम्हें जो अन्तर्दर्शन हुआ वह भी, इन अतिभौतिक लोकोंसे सम्बन्ध रखते थे। यह अन्तर्दर्शन ऊपरकी किसी वस्तुका प्रतीक है, परन्तु किस वस्तुका, यह विवरणसे बिलकुल स्पष्ट नहीं हुआ। सुनहरा रंग उस सत्यका रंग है जो ऊपरसे आता है।

*

भौतिक जगत् ही एकमात्र जगत् नहीं है; अन्य जगत् भी हैं जिनके विषयमें हम स्वप्नके ब्यौरोंसे सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा, प्रभावों एवं संपर्कों द्वारा, कल्पना, सहजबोध और अन्तर्दर्शन द्वारा सचेतन होते हैं। ऐसे प्राणिक जगत् भी हैं जो हमारे लोकसे अधिक विशालतर और सूक्ष्मतर जीवन वाले लोक हैं; मानसिक लोक भी हैं जिनमें मन अपने रूपों और आकारोंका निर्माण करता है, ऐसे चैत्य जगत् भी हैं जो अन्तरात्माके धाम हैं; इनसे ऊपर और लोक भी हैं जिनके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं के बराबर है। हममेंसे प्रत्येकमें चेतनाकी एक मानसिक भूमिका, एक चैत्य, एक प्राणिक, एक सूक्ष्म भौतिक इसी प्रकार एक स्थूल भौतिक और शुद्ध स्थूल भूमिका है। सार्वभौम प्रकृतिकी चेतनामें भी ये ही भूमिकाएं पुनरावर्तित हुई हैं। जब हम इन अन्य भूमिकाओंमें प्रवेश करते हैं या उनका स्पर्श करते हैं तभी हम स्थूल भूमिकासे ऊपरके जगतोंके सम्पर्कमें आते हैं। नींदमें हम स्थूल देहको छोड़ देते हैं, केवल अवचेतनके बचेखुचे अंश ही शेष रहते हैं तथा सब भूमिकाओंमें एवं सब प्रकारके जगतोंमें प्रवेश करते हैं। हरेकमें हम दृश्योंको देखते हैं, सत्ताओंसे मिलते हैं, घटनाओंमें हिस्सा लेते हैं, इन भूमिकाओंसे सम्बन्ध रखनेवाली, रचनाओं, प्रभावों और सुझावोंके सम्पर्कमें आते हैं। जागरणके कालमें भी हमारा एक हिस्सा इन भूमिकाओंमें विचरण करता है, पर उनकी क्रिया परदेके पीछे चलती रहती है; हमारे जाग्रत मन इसके सम्बन्धमें सचेतन नहीं होते। स्वप्न प्रायः हमारी अवचेतनाकी असम्बद्ध रचनामात्र होते हैं, किन्तु कुछ अन्य स्वप्न इन अतिभौतिक भूमिकाओंमें हुए अनुभवोंके (प्रायः बहुत मिश्रित और विकृत) अभिलेख या प्रतिलेख होते हैं। जब हम साधना करते हैं तो इस प्रकारका स्वप्न बहुत ही सामान्य हो जाता है; तब अवचेतन स्वप्नोंकी प्रमुखता समाप्त हो जाती है।

प्राणिक जगत्की शक्तियों एवं सत्ताओंका मनुष्योंपर बहुत प्रभाव होता है। प्राणिक जगत् एक ओर तो सौन्दर्यका जगत् है — कवि, कलाकार, संगीतज्ञ इसके निकट संपर्कमें होते हैं; यह बलों एवं आवेगोंका, वासनाओं एवं कामना-

ओंका भी जगत् है;—हमारी अपनी वासनाएं एवं कामनाएं, और आवेग तथा महत्वाकांक्षाएं प्राण जगतों, उनकी शक्तियों एवं सत्ताओंके साथ हमारा सम्बन्ध जोड़ सकती हैं। और यह अन्धकारमय, खतरनाक और बीभत्स वस्तुओंका जगत् है। 'क्ष' के जैसे दुःस्वप्न का कारण प्राणिक जगत्के इस पक्षके साथ हुए सम्पर्क हैं। इसके प्रभाव मनुष्यमें उन बहुतसी वस्तुओंका भी उद्गम होते हैं जो राक्षसी, मलिन, निष्ठुर और नीच होती हैं।

'क्ष' का यह अनुभव है प्राणिक जगत्के गलत पक्षकी किसी वस्तुके साथ सम्पर्क। देवी-देवताओं आदिके विषयमें उसके सूक्ष्मदर्शन प्राणिक जगत्के दूसरे पक्षमें हुए अनुभव हैं। यह अनुभव किसी ऐसी प्राणिक शक्तिका प्रयत्न है जो उसके भयके कारण उसपर कार्य कर रही है और किसी प्रकारका नियन्त्रण प्राप्त करना चाहती है। यदि वह भयभीत न होती, तो यह उसपर धावा न बोल सकती। यदि वह अपने जागरणके समय कामनाओं या निराशाओं एवं अवसादोंसे कष्ट पाती है तो यह भी निद्रामें उसे इन जगतोंमें प्रवेश करनेमें या उनके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें सहायक होगी। तुम्हारे विवरणके अनुसार उसके अनुभव प्राणिक भूमिकाके अच्छे पक्षमें उसके प्रवेश करनेकी अति प्रबल शक्तिको सूचित करते हैं—ये स्वप्न अनुभव दूसरे पक्षके हैं। क्योंकि ये स्वप्न हैं इसलिये वे ध्यानमें होनेवाले इसी प्रकारके अनुभवके समान खतरनाक नहीं हैं, किन्तु फिर भी ये बहुत अवांछनीय हैं।

यदि ऐसे आक्रमणका प्रयत्न हो तो यह करना चाहिये कि उससे युद्ध कर लिया जाय जैसा कि उसने किया और उसके साथ ही माताजीको पुकारा जाय। उसे यह नियम करना चाहिये कि वह सोनेसे पहले माताजीको पुकारे, उनपर एकाग्रता करे और माताजीके संरक्षणको चारों ओर अनुभव करनेका यत्न करे तथा उस संरक्षणके साथ सो जाय। स्वयं स्वप्नमें भी कठिनाई या खतरा आनेपर माताजीको पुकारनेकी आदत बनानी चाहिये; बहुतसे साधक ऐसा करते हैं चाहे स्वप्नमें, ध्यानमें या अन्य किसी भी प्रकारसे। आक्रमणको अर्थात् भगवान्की शक्तिके सिवाय किसी भी शक्ति या सत्ताके किसी भी आक्रमण-को अन्दर न घुसने देनेका अर्थ है उसे अस्वीकार करना, उसपर ध्यान देकर या दुर्बलता द्वारा उसे कभी भी सहमति न प्रदान करना। सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है, भीतरके संकल्पसे, परित्यागकी दृढ़ इच्छा द्वारा, प्राणिक भूमिकाकी वस्तुओंसे अधिक उच्च वस्तुओंपर एकाग्र होकर; और यदि उसमें प्राणिक कामनाएं या निराशा और अवसाद हों तो उनके परित्यागके द्वारा भी। उसे उच्चतर आध्यात्मिक अनुभवों, चैत्य उद्घाटन, स्थिरता, शान्ति, विशुद्धिके लिये और उच्चतर प्रकाश, सामर्थ्य आनन्द और ज्ञानके प्रति उद्घाटन-

के लिये अधिकसे अधिक अभीप्सा करने दो।

एक बात और, उसे अत्यधिक एकान्त जीवन नहीं बिताना चाहिये; भौतिक जगत्‌की ओर कुछ उद्‌घाटन होना आवश्यक है और एक स्वस्थ प्रकारकी कुछ सामान्य मानसिक प्रवृत्तियां भी।

*

ये प्राणजगत्‌से भेजे गये स्वप्न हैं। इनके सम्बन्धमें उसे तीन बातोंका अभ्यास करना होगा :

1. स्वयं स्वप्नमें ही तुरन्त माताजीको पुकारनेकी आदत डालना;

2. भयभीत न होना — यदि कोई न डरे, तो अन्य जगत्‌की ये शक्तियां असहाय हो जाती हैं;

3. ऐसी रचनाओंकी यथार्थतामें विश्वास न करना और उन्हें केवल ऐसे सुझाव मानना जिन्हें आकार प्रदान किया गया है, ठीक वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति इस या उस घटनाके विषयमें भयंकर कल्पनाएं करने लगता है, परन्तु तर्क बुद्धि जानती है कि यह केवल कल्पनाका काम है और वह उससे विचलित नहीं होती।

*

तुम्हें शरीरमें जो शान्तिका अनुभव हुआ वह बहुत अच्छा अनुभव था। जहांतक बुरे स्वप्नका प्रश्न है, यह प्राण जगत्‌से आई कोई विरोधी रचना है —स्वप्नके रूपमें एक ऐसा सुझाव जो तुम्हें विचलित करनेके इरादेसे आया। इन वस्तुओंको निकाल देना चाहिये — तुम्हें मन ही मन कहना चाहिये "यह मिथ्या है — ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती" और जैसे तुम जाग्रत अवस्थामें गलत सुझावोंको फैंक देते हो उसी तरह इसे दूर फैंक देना चाहिये।

*

ये वस्तुएं जो तुम्हें डरानेके लिये आती हैं, उन क्षुद्र प्राणिक शक्तियोंके द्वारा तुमपर फैंके गये महज ऐसे प्रभाव हैं जो (भयभीत करके) तुम्हें अपनी साधनाको आगे बढ़ानेसे रोकना चाहती हैं। वे वस्तुतः तुम्हें कुछ नहीं कर सकती, तुम्हें भयमात्रका परित्याग करना होगा। इन वस्तुओंके आनेपर

हमेशा इस विचारको बनाये रखो "माताजीकी छत्रछाया मुझपर है, कोई भी बुरी घटना नहीं घट सकती,"—क्योंकि जब चैत्य उद्घाटन होता है और व्यक्ति माताजीमें श्रद्धा रखता है, तो यह इन वस्तुओंको दूर रखनेके लिये पर्याप्त है। भय उत्पन्न करनेवाले स्वप्नोंके आनेपर बहुतसे साधक स्वयं स्वप्नमें माताजीका नाम पुकारना सीखते हैं और तब आतंक उत्पन्न करनेवाली चीजोंके लिये कोई चारा नहीं रहता या वे समाप्त हो जाती हैं। इसलिये तुम्हें संत्रस्त होनेसे इनकार करनां होगा और अवज्ञापूर्वक उनका परित्याग करना होगा। यदि कोई डरानेवाली वस्तु आये; तो माताजीके संरक्षणको नीचे आनेके लिये पुकारो।

तुमने जिस गरमीका अनुभव किया बहुतकरके उसका कारण आंखोंके बीचके उस आज्ञाचक्रके नीचे उतरती हुई शक्तिकी कठिनाई थी जहां वह अभी तक क्रिया कर रही थी। जब ऐसे संवेदन या बेचैनी जिनका तुमने एक बार अनुभव किया है, या इसी ढंगकी कोई वस्तुएं आयें तो तुम्हें भयभीत नहीं होना होगा, परन्तु शान्त रहना होगा और कठिनाईको गुजर जाने देना होगा।

इससे पहले तुम्हें जो माथेपर चांदनीका अनुभव हुआ था वह आज्ञाचक्र पर अर्थात् आन्तर मन, संकल्प और दृष्टिके केन्द्रपर हुई यही क्रिया थी। तुमने जो चांदनी देखी वह आध्यात्मिकताका प्रकाश है और यही इस केन्द्र द्वारा तुम्हारे मनमें प्रवेश कर रहा था इसका परिणाम यह हुआ कि चांदनीसे भरे आकाशकी तरह तुम्हारे हृदयमें विशालता आ गई। उसके बाद उस मनके निम्नतर भाग को जिसका केन्द्र गलेमें है, तैयार करनेका, और उसे आन्तर मनके साथ जोडने और उसे खोलनेका कुछ प्रयत्न किया गया; परन्तु उसमें कोई कठिनाई आई, जैसा कि प्रायः साधारण रूपसे होता है, जिसने यह गरमी उत्पन्न की। बहुत करके यह तपःशक्तिकी अग्नि थी जो इस केन्द्रका भाग खोलनेका यत्न कर रही थी।

आकाशमें ले जाये जानेका अनुभव बहुत सामान्य है एवं इसका अर्थ है चेतनाका प्रकाश एवं शान्तिके उच्चतर जगत्में आरोहण।

यह विचार बिलकुल ठीक है कि तुम्हें अधिकाधिक अन्तर्मुख होना होगा और पूरी तरहसे माताजीकी ओर मुड़ जाना होगा। जब बाह्य वस्तुओंकी ओर उन्हींकी खातिर कोई लगाव न हो और सबकुछ केवल माताजीके लिये ही हो तथा जीवन आन्तरिक चैत्य पुरुष द्वारा उनमें केन्द्रित हो तभी आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये सर्वोत्तम अवस्था उत्पन्न होती है।

*

यह स्वप्न ऐसा था जैसा व्यक्तिको प्रायः प्राणभूमिकामें आया करता है —जिसमें वह विषम कठिनाइयोंमें फंस जाता है और आखिर उसे एकाएक रास्ता मिल जाता है। स्वप्नका गुजरात, गुजरात नहीं था, पर केवल प्राण जगत्के एक ऐसे हिस्सेका प्रतीक था जो आध्यात्मिक जीवनका विरोधी है और ऐसी प्राणिक शक्तिओंसे परिपूर्ण है जो धोखेसे या बलात् रास्तेको रोकती हैं। ये स्वप्न प्राणिक प्रकृतिके (व्यक्तिकी अपनी प्रकृतिके नहीं किन्तु सर्व सामान्य प्राणिकप्रकृतिके) कुछ भागोंके सूचक हैं जो आध्यात्मिक सिद्धिके मार्गमें रोड़ा अटकाते हैं। व्यक्ति जब वहां जाता है और उन्हें अपने वशमें कर लेता है तब वह साधनामें प्रकृतिके इन भागोंके किसी भी हस्तक्षेपसे मुक्त हो जाता है।

*

ये स्वप्न उन प्राणिक शक्तियोंके पूरे प्रतीक हैं जो आकर तुमपर आक्रमण करती हैं। यदि तुम साहस पूर्वक उनका मुकाबला करो तो वे लाचार हो जाती हैं। मैं नहीं समझता कि जिनसे तुम मिलते हो वे तुम्हारे जरा भी पिता और भाई हैं—यद्यपि वे शक्तियां अपना आकार ग्रहण करनेके लिये उनके विरोधी भावोंके किसी अंशका लाभ उठा सकती हैं—यह भी हो सकता है कि वे तुम्हारे अन्दर सहानुभूति पैदा करनेके लिये यह करें और तुम्हें उनके विरुद्ध कार्य करनेसे रोकें। पर इसके अलावा भौतिक माता, पिता और सगे-सम्बन्धियोंके आकार बहुधा भौतिक या आनुवंशिक प्रकृतिके अथवा सामान्यतया उस सामान्य प्रकृतिके प्रतीक होते हैं जिसमें हमारा जन्म हुआ है।

*

इन स्वप्नोंमें माता, पिता या सगे-सम्बन्धियोंका अर्थ है स्थूल चेतना (पुरानी प्रकृति) की साधारण शक्तियां।

*

ये स्वप्न प्राणिक भूमिकाके हैं। घर जानेसे सम्बन्ध रखनेवाले स्वप्न प्राणके उस भागसे आते हैं जो अब भी भूतकालीन सम्बन्धोंकी स्मृतिको बनाये हुए हैं और निद्राके समय वहां जाता है। माताजीके सम्बन्धमें आये स्वप्न प्राणिक

भूमिकापर उनके साथ हुई मुलाकातोंको अंकित करते हैं। जागनेपर तुम्हें पहले स्वप्नोंको बाहर फैंक देना चाहिये और अपने प्राणको उनकी छांप नहीं रखने देनी चाहिये। वहां (माताजीके हृदयमें आने और तुमसे कहनेसे सम्बन्ध रखनेवाले) जो अनुभव तुम्हें हुए थे वे चैत्य ढंगके थे न कि प्राणिक स्वप्न जैसे।

तुम्हें साधनामें जो कठिनाई होती है, हो सकता है कि वह प्राणिक या स्थूल मनके सक्रिय होनेसे आती हो। स्थिरता और नीरवताके प्रारम्भिक अनुभवोंके बाद ऐसा प्रायः होता है। व्यक्तिको ध्यानमें इन प्रवृत्तियोंसे एक साक्षीके रूपमें अपनेको विलग करना होता है और मूलभूत स्थिरताको इन भागोंमें भी पुकारकर नीचे लाना होता है। किन्तु इसमें देर लग सकती है। यदि कोई व्यक्ति ध्यानमें चारों ओरकी वस्तुओंसे अपनेको पर्याप्त पृथक् करके अन्तर्मुख हो सके, तो अचंचलता अधिक जल्दी आती है।

*

योगका अभ्यास करनेपर, चेतना उद्घाटित होती है और तुम — विशेषकर निद्रामें — अन्य जगतोंकी (भौतिककी नहीं) वस्तुओं, दृश्यों, सत्ताओं और घटनाओंके सम्बन्धमें सचेतन होते हो तथा स्वयं निद्रामें तुम वहां जाकर कार्य करते हो। बहुधा वे वस्तुएं साधनाके लिये महत्वपूर्ण होती हैं। इसलिये तुम्हें निद्रा या ध्यानके समय इन सब वस्तुओंको देखनेपर खिन्न नहीं होना चाहिये।

पर किसी भी दशामें तुम्हें डरना तो नहीं ही चाहिये। यह बात कि तुम अपने साथ युद्ध करनेवाली सत्ताओंको (ये सत्ताएं विरोधी प्राणिक जगत्की थी) नष्ट करनेमें समर्थ हुए, बहुत अच्छी है, क्योंकि इससे पता चलता है कि तुम्हारी प्राणिक प्रकृतिमें कहींपर सामर्थ्य और साहस विद्यमान है। इसके अतिरिक्त माताजीके नामका जप करते हुए और उनके संरक्षणको प्राप्त करके तुम्हें किसी भी वस्तुसे डरना नहीं चाहिये।

*

(स्वप्नमें) भाग खड़ा होना सत्ताके उस हिस्सेकी जड़ताकी निशानी है जो शक्तियोंका सामना करके उन्हें नष्ट करनेके स्थानपर पीछे हटकर तथा मैदान हारकर उन्हें धावा बोलनेका मौका देती है।

*

स्पष्ट ही 'क्ष' का अनुभव वह था जिसे दुःस्वप्न कहा जाता है अर्थात् निद्रामें प्राण जगत्की किसी शक्ति द्वारा किया गया आक्रमण जिसके प्रति बहुत करके उसने किसी रूपमें अपनेको उद्घाटित कर लिया, हो सकता है कि इसका कारण मलीके उस आदमीको दिया गया उत्तर हो जो अपने चारों ओर निकृष्टतम प्राणिक वातावरणसे घिरा हुआ था। स्त्रीकी आकृति इस शक्तिको उसके अवचेतन मन द्वारा दिया गया रूपमात्र था। ये शक्तियां किसी विशेष कमरे या घरमें नहीं, परन्तु चारों ओर सर्वत्र विद्यमान हैं, और यदि कोई उनकी ओर द्वार खोल दे तो तुम जहां भी रहो वे आ जाती हैं। 'क्ष' ने निष्कारण ही भयभीत होकर जो स्नायविक प्रतिक्रियाकी, वह यदि न हुई होती तो इस आकृतिका कोई महत्व न होता। जो व्यक्ति साधना करना चाहता है उसे इस तरहके भयोंसे आतंकित होनेका कोई काम नहीं। यह एक ऐसी कमजोरी है जो योगकी मांगोंसे मेल नहीं खाती और, यदि कोई इसे एक ओर नहीं फैंक सकता तो योगाभ्यासके लिये यत्न न करना ही अधिक निरापद है।

*

निद्रामें तुमपर अधिकार करनेवाला अवसाद इन दो कारणोंमेंसे किसी एकसे आया होगा। हो सकता है कि यह कोई ऐसा निशान हो जो प्राणिक जगतोंके किसी बेमेल प्रदेशमें हुए अप्रीतिकर अनुभवने छोड़ा हो और उस तरहके स्थान उस प्रदेशमें बहुत बड़ी संख्यामें हैं। वहां कोई आक्रमण कदाचित ही हुआ हो, क्योंकि उसने वहां हुई किसी घटनाकी अधिक स्पष्ट छापको अवश्य छोड़ा होता, यद्यपि उसकी कोई प्रत्यक्ष स्मृति तो नहीं रही; पर यदि व्यक्ति जन्मजात योद्धा न हो और इन अग्नि परीक्षाओंका सामना करने तथा उनपर विजय प्राप्त करनेमें उत्कट संतोष न अनुभव करता हो तो महज किन्हीं प्रदेशोंमें प्रवेश करने, या वहांके निवासियोंके साथ मिलने या उनके वातावरणके सम्पर्कमें आनेका परिणाम अवसाद एवं थकान ही हो सकता है। यदि यही कारण हो, तो यह प्रश्न या तो इन प्रदेशोंसे बचनेका है, जो बचाव संकल्पके प्रयत्न द्वारा किया जा सकता है, जब व्यक्ति एक बार जान लेता है कि यही वस्तु घटित होती है, या फिर प्रश्न है उस वातावरणके स्पर्शके विरोधमें अपने चारों ओर एक विशेष संरक्षण स्थापित करनेका। दूसरा सम्भव कारण है अत्यधिक अन्धकारपूर्ण और अवचेतन निद्रामें डुबकी लगाना — इसका कभी-कभी वैसा ही प्रभाव होता है जैसा तुम वर्णन करते हो। जो भी हो, ऐसी बातें होनेपर अपने-

आपको हतोत्साह न होने दो; ये ऐसी सर्वसामान्य घटनाएं हैं जिनसे व्यक्ति, परदेके पीछे घुसना और हमारे अन्दर होनेवाली मनोवैज्ञानिक घटनाओंके गुह्य कारणोंको स्पर्श करना शुरु करते ही, भेंटे बिना नहीं रह सकता। व्यक्तिको कारणोंको समझना, कठिनाईपर ध्यान देना और उसका सामना करना एवं सदा ही प्रत्याक्रमण करना होगा.—अपनेपर फैंके गये अवसादको कदापि स्वीकार न करो, किन्तु उसका उसी प्रकार प्रतीकार करो जैसे कि तुमने पहली बार किया था। यदि हमारे चारों ओर सदैव ऐसी शक्तियां हैं जिनका काम है अवसाद और निरुत्साह पैदा करना, तो हमारे ऊपर और चारों ओर सदा ऐसी शक्तियां भी हैं जिनसे हम कुछ ले सकते हैं—जिन्हें हम अपने अन्दर खींच कर ला सकते हैं और जिससे सामर्थ्य, श्रद्धा और हर्ष तथा अडिग रहकर विजयी शक्तिको पुनः प्राप्त करके उनसे अपनेको परिपूरित कर सकें। वस्तुतः एक आदत जो व्यक्तिको डालनी है वह है इन सहायक शक्तियोंकी ओर खुलना और या तो निष्क्रिय रहकर उन्हें ग्रहण करना या सक्रिय रूपमें उनसे कुछ लेना—क्योंकि व्यक्ति दोनोंमेंसे कुछ भी कर सकता है। यह तब अधिक सुगम होता है यदि तुममें अपने ऊपर और चारों ओर उनके अस्तित्वका ख्याल हो और उन्हें ग्रहण करनेके लिये श्रद्धा एवं संकल्प हो—क्योंकि यह वस्तु उनके अनुभव एवं ठोस बोधको तथा आवश्यकता या इच्छानुसार उन्हें ग्रहण करनेकी क्षमताको उत्पन्न करती है। यह अपनी चेतनाके अन्दर इन सहायक शक्तियोंके संसर्गमें आने और उस संसर्गको बनाये रखनेके लिये अभ्यास डालनेका प्रश्न है—और उसके लिये अन्य लोगों द्वारा बलात् आरोपित किये गये निराशा, आत्म-अविश्वास, खिन्नता और इन जैसे सब विक्षोभोंको अस्वीकार करनेके लिये अपनेको अभ्यस्त बनाना होगा।

जहांतक गुह्य शक्तियों द्वारा परिस्थितिपर यथार्थ अधिकार प्राप्त करनेका प्रश्न है, यह केवल उनके प्रयोग और परीक्षणोंके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जैसे व्यक्ति अनेक प्रकारकी व्यायामों द्वारा शक्ति विकसित करता है या शक्तिके अपने कार्य क्षेत्रमें उसका कैसा विनियोग हो सकता है या किया जाना चाहिये, इस वस्तुको, क्रियात्मक उपयोगके द्वारा खोजते हुए, प्रयोगशालामें एक प्रक्रिया विकसित करता है। प्रयत्न करनेसे पहले सामर्थ्यके लिये प्रतीक्षा करनेका कोई लाभ नहीं है; बारंबार यत्न करनेसे सामर्थ्य आयेगा ही। न तो तुम्हें असफलतासे डरना होगा और न असफलतासे हतोत्साह ही होना होगा क्योंकि ये चीज सदा ही तुरन्त सफल नहीं होती। वैश्वशक्तियोंके सम्पर्कमें कैसे आया जाय, हमारे व्यक्तिगत कार्यको उनके कार्यके साथ किस तरह सम्बद्ध या समकक्ष बनाया जाय और उस प्रभु चेतनाका उपकरण कैसे बना जाय जिसे हम भगवान् कहते हैं, ये

हैं वे वस्तुएं जिन्हें मनुष्यको व्यक्तिगत अनुभवोंके द्वारा सीखना है।

तुम्हारी वृत्तिमें ऐसी कोई वस्तु है जो आवश्यकतासे थोड़ी अधिक व्यक्तिगत है। मेरा मतलब है एक निर्धारक तत्वके रूपमें व्यक्तिगत सामर्थ्य या निर्बलतापर आग्रह रखना। आखिर हमारेमें महान्से महान् इसी प्रकार छोटेसे छोटे व्यक्तिका सामर्थ्य हमारा अपना नहीं है परन्तु उस खेलके लिये हमें प्रदान किया गया सामर्थ्य है जो हमें खेलना है, उस कामके लिये जो हमें करना है। सामर्थ्यका हमारे अन्दर निर्माण किया जा सकता है, परन्तु इसके वर्तमान रूपकी रचना अन्तिम नहीं है,—न तो इसके शक्तिमय रूपकी न ही दुर्बलतामय रूपकी। रचना किसी भी क्षण बदल सकती है — किसी भी क्षण व्यक्ति, विशेषकर योगके दबावके अधीन, दुर्बलताको शक्तिमें बदलते हुए, असमर्थको समर्थ बनते हुए, यन्त्रात्मक चेतनाको सहसा या क्रमशः एक नई उच्च स्थितिमें उठते हुए या उसकी प्रसुप्त शक्तियोंको विकसित होते हुए देखता है। हमारे ऊपर, हमारे भीतर, हमारे चारों ओर वह सर्वसमर्थ विद्यमान है और हमें अपने काम, अपने विकास, अपने रूपान्तरकारी परिवर्तनके लिये उसीपर भरोसा रखना है। यदि हम कर्ममें, कर्मके लिये अपने यन्त्रभावमें हमें प्रेरित करनेवाली शक्तिमें श्रद्धा रखते हुए अग्रसर हों तो स्वयं प्रयत्नकी तथा कठिनाइयों और असफलताओंका सामना करने और उनपर विजय प्राप्त करनेकी क्रियामें भी हमें सामर्थ्य प्राप्त होगा और हम देखेंगे कि हमारी क्षमता, उस सर्वशक्तिमानकी क्षमता है, जिसके हम अधिकाधिक पूर्ण पात्र बनते जाते हैं, और हमारी क्षमताके अंदर वह सर्वशक्तिमान् उतने अंशमें विद्यमान है ही जितनेकी हमें जरूरत है।

VIII

इस योगका सारा सिद्धान्त ही है अपने-आपको पूर्ण रूपसे एकमात्र भगवान्को दे देना,—और किसी व्यक्ति, और किसी चीजको नहीं, — तथा भागवती मातृशक्तिके साथ ऐक्य स्थापित कर अपने अन्दर भगवान्के अतिमानस-स्वरूपकी विश्वातीत ज्योति, शक्ति, विशालता, शान्ति, पवित्रता, सत्य-चेतना और आनन्दको उतार लाना। अतएव इस योगमें दूसरोंके साथ किसी भी प्रकारका प्राणज सम्बन्ध स्थापित करने या आदान-प्रदान करनेकी कोई गुंजायश नहीं; ऐसा कोई भी सम्बन्ध या आदान-प्रदान तुरत ही अन्तरात्माको निम्न चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृतिके अन्दर बांध डालता है, भगवान्के साथ सच्चा और पूर्ण एकत्व स्थापित नहीं होने देता और अतिमानसिक सत्य-चेतनामें आरोहण तथा अतिमानसिक ईश्वरीय शक्तिके अवरोहण — इन दोनों

ही कार्योंमें बाधा उपस्थित करता है। और अगर यह आदान-प्रदान कहीं कामज सम्बन्धका या कामोपभोगका रूप धारण कर ले — भले ही किसी भी बाह्य क्रियासे इसे अलग रखा जाय — तो यह और भी बुरा होगा; अतएव ये सब बातें साधनामें एकदम वर्जित हैं। यह कहनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं कि ऐसी कोई भी स्थूल क्रिया करनेकी मनाही है; बल्कि यहांतक कि इसके किसी भी सूक्ष्मतर रूपको भी प्रश्रय देना निषिद्ध है। जब हम भगवान्‌के अति-मानस-स्वरूपके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते हैं केवल तभी हम भगवान्‌के अन्दर दूसरोंके साथ अपना सच्चा आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं; उस उच्चतर एकत्वमें इस प्रकारकी स्थूल निम्नतर प्राणिक क्रियाके लिये कोई स्थान नहीं।

कामावेगपर प्रभुत्व स्थापित करना होगा — कामकेंद्रको इतना अधिक वशमें कर लेना होगा कि काम-शक्ति (वीर्य) बाहर निक्षिप्त और नष्ट न हो, बल्कि ऊपरकी ओर खिंच जाय। वास्तवमें इसी उपायसे शुक्रके अन्दर निहित शक्ति अन्य सभी शक्तियोंको धारण करनेवाली मूल भौतिक शक्तिमें — रेतस् ओजस्‌में — परिवर्तित हो सकती है। परन्तु कामवासनाको और उसके किसी प्रकारके सूक्ष्म उपभोगको यदि साधनाके साथ मिला दिया जाय और उसे साधनाका एक अंग मान लिया जाय तो इससे अधिक भयंकर और कोई भूल नहीं हो सकती। यह आध्यात्मिक पतनकी ओर सरपट दौड़ पड़नेका एकदम अव्यर्थ उपाय है और इससे हमारे वातावरणमें ऐसी शक्तियां आकर फैल जाती हैं जो अतिमानसिक अवतरणका रास्ता बन्द कर देती हैं और उसके बदले हमारी सत्तामें विश्रृंखला और सर्वनाशका बीज बोनेके लिये विरोधी प्राणमय शक्तियोंका अवतरण कराती है। यदि दिव्य सत्यको नीचे उतार लाना हो और दिव्य कर्मको सम्पन्न करना हो तो इस विकृत गतिको — अगर वह हमारे अन्दर उत्पन्न होनेकी चेष्टा करे तो — एकदम निकाल बाहर करना होगा और अपनी चेतनामेंसे इसका चिह्नतक मिटा देना होगा।

यह समझना भी भूल है कि, यद्यपि स्थूल रूपसे तो कामोपभोगका त्याग करना होगा पर उसका कोई विशिष्ट आभ्यंतरीण सूक्ष्म प्रतिरूप काम-केंद्रके रूपान्तरका ही एक अंग है। प्रकृतिके अन्दर यह जो पशुसुलभ कामशक्तिकी क्रिया है वह अज्ञानमयी स्थूल सृष्टिकी विधि-व्यवस्थाके अन्दर एक विशिष्ट उद्देश्यकी सिद्धिका एक कौशल-मात्र है। परन्तु इस क्रियाके साथ-साथ एक प्राणगत उत्तेजना लगी हुई है जो वातावरणमें इस प्रकारके अत्यन्त अनुकूल अवसर और प्रकंपन उत्पन्न करती है जिससे कि ठीक वे ही सब प्राणमय शक्तियां और सत्ताएं, जिनका कि सारा कार्य ही अतिमानसिक ज्योतिके अवतरणको

रोकना है, अन्दर घुस आती हैं। इस क्रियाके साथ जो एक प्रकारका सुख लगा हुआ है वह दिव्यानन्दका विकृत रूप है, सच्चा रूप नहीं। शरीरमें प्राप्त होनेवाले सच्चे दिव्यानन्दका गुण, उसकी गति और उसका सत्त्व एकदम दूसरे ही प्रकारका होता है; वह आनन्द मूलतः स्वतःस्थित होता और उसकी अभिव्यक्ति एकमात्र भगवान्‌के साथ प्राप्त आन्तरिक मिलनके ऊपर निर्भर करती है। तुमने भागवत प्रेमकी बात लिखी है; परन्तु जब भागवत प्रेम शरीरका स्पर्श करता है तब वह स्थूल निम्नतर प्राणज प्रवृत्तियोंको नहीं जगाता; इन प्रवृत्तियोंको चरितार्थ करनेपर तो वह प्रेम दूर हट जाता है और जिस ऊंचाईसे उसे इस जड़ सृष्टिकी मलिनताके अन्दर — जिसे रूपान्तरित करनेकी शक्ति केवल उसीमें है — उतार लाना काफी कठिन काम है, वहीं वापस लौट जानेके लिये बाध्य होता है। भागवत प्रेमको एकमात्र उसी दरवाजेसे — हृत्पुरुषके दरवाजेसे — पानेकी चेष्टा करो जिससे प्रवेश करना वह स्वीकार करता है, और निम्नतर प्राणकी भूल-भ्रांतिको दूर फेंक दो।

शरीरकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कामकेंद्र और उसकी शक्तिका रूपांतर आवश्यक है; क्योंकि हमारे आधारमें जितनी भी मनोमय, प्राणमय और अन्नमय शक्तियां हैं उन सबका आधार इस शरीरमें बस वही चीज है। उसे अन्तरंग ज्योति, सृजनात्मिका शक्ति, विशुद्ध भागवत आनन्दकी राशि और गतिमें परिवर्तित कर देना होगा। जब हम अतिमानस-ज्योति, शक्ति और आनन्दको उस केंद्रके अन्दर उतार लायेंगे केवल तभीं उसका परिवर्तन साधित हो सकता है। उसके बाद उसकी क्रिया क्या होगी — इसका निर्णय तो बस अतिमानस-सत्य और भगवती माताकी सृजनात्मिका दृष्टि और संकल्पशक्ति ही करेगी। तब अवश्य ही वह सचेतन सत्यकी क्रिया होगी, उस अन्धकार और अज्ञानकी क्रिया नहीं होगी जिनके साथ कामवासना और कामोपभोग का सम्बन्ध होता है; वह होगी जीवनी-शक्तियोंका संरक्षण और उन्हें मुक्त निष्कामभावसे विकीर्ण करनेकी क्रिया न कि उन्हें बाहर फेंक देने और नष्ट कर देनेकी क्रिया। इस कल्पनाको दूर हटाओ कि अतिमानस-जीवन प्राण और शरीरकी वासनाओंकी ही केवल उच्चतर तृप्तिका जीवन होगा; मानवप्रकृतिके अन्दर पशुकी महिमाको प्रतिष्ठित करनेकी जो यह आशा है, इससे बढ़कर दूसरी कोई चीज सत्यके अवतरणके मार्गमें बाधा नहीं उपस्थित कर सकती। मन चाहता है कि अतिमानसिक अवस्था उसकी अपनी ही पोषित धारणाओं और कल्पनाओंका समर्थन करनेवाली हो; प्राण चाहता है कि वह उसकी ही निजी वासनाओंका बढ़ा-चढ़ा रूप हो; शरीर चाहता है कि वह उसके ही अपने आरामों, सुखों और अभ्यासोंके प्रचुर मात्रामें लगातार बने रहनेकी अवस्था हो। यदि उसे यही

सब होना हो तो फिर वह केवल पाश और मानव प्रकृतिकी ही एक अति-रंजित और अत्यन्त परिवर्द्धित परिणति होगी, न कि मानवतासे दिव्यतामें रूपान्तर।

तुम्हारे ऊपर "जो कुछ अवतरण करनेकी चेष्टा कर रहा है उसके विरुद्ध विवेक और आत्मरक्षाका कोई भी प्रतिबंध" न लगानेकी जो बात तुमने सोची है वह बहुत ही खतरनाक है। क्या तुमने यह सोचा है कि जो कुछ अवतरण कर रहा है वह यदि दिव्य सत्यके अनुकूल न हो, बल्कि सम्भवतः उसका विरोधी ही हो तो फिर तुम्हारे इस विचारका क्या अर्थ होगा? विरोधी शक्ति साधकके ऊपर अपना अधिकार जमानेके लिये इससे अधिक अनुकूल अवस्थाकी कामना नहीं करती। सच पूछो तो एकमात्र श्रीमांकी शक्ति और दिव्य सत्यको ही बिना बाधाके अपने अन्दर प्रवेश करने देना चाहिये। और वहां भी साधकको अपनी विवेकशक्तिको अवश्य बनाये रखना चाहिये जिसमें श्रीमांकी शक्ति और दिव्य सत्यका छद्मवेश बनाकर यदि कोई मिथ्या चीज आ जाय तो उसे वह पहचान सके, तथा साथ ही उस त्याग-शक्तिको भी बनाये रखना चाहिये जो सब प्रकारकी मिलावटको छांटकर दूर फेंक दे।

अपनी आध्यात्मिक भवितव्यतापर विश्वास रखो, भूल-भ्रांतिसे अलग हटो और अपने हृत्पुरुषको श्रीमांकी ज्योति और शक्तिके सीधे पथप्रदर्शनकी ओर और भी अधिक खोल रखो। अगर केंद्रीय संकल्प सच्चा हो तो भूलकी प्रत्येक स्वीकृति एक सत्यतर गति और उच्चतर प्रगतिकी ओर जानेका एक सोपान बन सकती है।

*

यह सच है कि यौन-केंद्र और उसकी प्रतिक्रियाओंको रूपान्तरित किया जा सकता है यह भी कि ऊपरसे आनन्द पाशविक यौन-प्रतिक्रियाका स्थान लेनेके लिये उतर सकता है। कामवेग इस आनन्दका हीन रूप है। पर भौतिक (साथ ही स्थूल प्राणिक) चेतनाके रूपान्तरसे पहले इस आनन्दको ग्रहण करना खतर-नाक हो सकता है; क्योंकि अन्य एवं निम्न वस्तुएं इसका लाभ उठा सकती हैं तथा इसमें मिश्रित हो सकती हैं और यह वस्तु सारी सत्ताको विक्षुब्ध कर देगी तथा इस संस्कारको लेकर कि ये निम्नतर बातें साधनाका अंग हैं तथा इनके लिये ऊपरसे अनुमति मिली है या केवल सच्चे अनुभव पर हावी होनेवाले निम्नतर तत्वों के कारण, गलत मार्गपर ले जा सकती है। अन्तिम अवस्थामें आनन्द लुप्त हो जायगा और यौन-केंद्रपर निम्नतर प्रतिक्रियाओंका अधिकार

हो जायगा।

*

मैंने अपने पिछले पत्रमें खूब संक्षेपमें यह बतलाया है कि कामावेग और योगके सम्बन्धमें मेरे विचार क्या हैं। यहां मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि मेरा निर्णय किसी मानसिक अभिमत या पूर्वकल्पित नैतिक धारणापर अवलम्बित नहीं है, बल्कि प्रामाणिक तथ्यों और निरीक्षण और अनुभवके ऊपर अवलम्बित है। मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि जबतक कोई साधक अपनी आन्तर अनुभूति और बाह्य चेतनाके बीच एक प्रकारका अलगाव बनाये रखता है, बाह्य चेतनाको एक निम्नतर क्रिया समझकर दबाये रखता है, पर रूपान्तरित नहीं करता, तबतक यह बिलकुल सम्भव है कि वह कामोपभोगकी क्रियाको पूर्ण रूपसे छोड़े बिना भी आध्यात्मिक अनुभूतियां प्राप्त करता रहे और साधनामें उन्नति करता रहे। ऐसी अवस्थामें मन बाह्य प्राणमय (जीवनी-शक्तिसे सम्बन्धित अंश) और भौतिक चेतनासे अपने-आपको अलग कर लेता और अपना निजी आन्तर जीवन यापन करता है। परन्तु बहुत थोड़ेसे लोग ही वास्तवमें किसी हदतक पूर्णताके साथ ऐसा कर सकते हैं और जब अनुभूतियां प्राण और शरीरके क्षेत्रतक प्रसारित होती हैं तब फिर कामवृत्तिके साथ इस प्रकारका व्यवहार नहीं किया जा सकता। तब वह किसी भी क्षण एक बाधा देनेवाली, उलट-पलट करनेवाली और विकृति उत्पन्न करनेवाली शक्ति बन सकती है। मैंने यह देखा है कि अहंकार (गर्व, दंभ, दुराकांक्षा) और राजसिक लालसाओं और वासनाओंकी तरह ही, एकदम उन्हींकी कोटिका, यह भी साधनामार्गमें होनेवाले आध्यात्मिक सर्वनाशोंका एक प्रधान कारण रहा है। इसे पूरी तरह निकाल बाहर न कर अनासक्तिके द्वारा इसके साथ समझौता करना व्यर्थ होता है; इसे उन्नीत करनेकी चेष्टा करना, जैसा कि यूरोपके बहुतेरे आधुनिक रहस्यवादियोंका मत है, अत्यन्त जल्दबाजीसे भरा हुआ और खतरनाक प्रयोग है। क्योंकि जब कामवृत्ति और आध्यात्मिकताको एक साथ मिला जुला दिया जाता है तभी सबसे बड़ा सर्वनाश उपस्थित होता है। यहांतक कि कामवृत्तिको भगवान्‌की ओर मोड़कर उसे ऊपर उठा ले जानेका प्रयत्न करनेमें भी, जैसा कि वैष्णवोंके मधुर भावमें किया गया है, बड़ा भारी खतरा है—इस बातका निदर्शन बार-बार हमें उन परिणामोंसे मिलता है जो इस पथमें थोड़ासा भी गलत कदम उठाने या कोई अपप्रयोग करनेसे उत्पन्न होते हैं। जो हो, इस योगमें, जो केवल भगवान्‌की मूल उपलब्धि ही नहीं चाहता,

बल्कि समस्त सत्ता और स्वभावको ही रूपान्तरित करना चाहता है, मैंने यह देखा है कि कामशक्तिपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करनेको अपना लक्ष्य बनाना साधनाके लिये अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा प्राणमय चेतना एक गंदीसी मिली-जुली चीज ही रह जायगी, और यह गंदगी अध्यात्मभावापन्न मनकी शुद्धताको क्षुण्ण करेगी और शरीरकी शक्तियोंकी ऊर्ध्वमुखी गतिमें भयानक बाधा उपस्थित करेगी। इस योगकी यह मांग है कि समस्त निम्नतर या साधारण चेतनाका पूर्ण ऊर्ध्वारोहण हो जिससे वह उस अध्यात्मचेतनाके साथ युक्त हो जो उसके ऊपर स्थित है, और मन, प्राण और शरीरमें, उनका रूपान्तर करनेके लिये अध्यात्मचेतनाका (अन्तमें अतिमानसका) पूर्ण अवतरण हो। जबतक काम-वासना मार्गको बन्द किये हुए है तबतक सम्पूर्ण ऊर्ध्वारोहण असम्भव है; जबतक प्राणमें कामवासनाका प्राबल्य है तबतक अवतरण खतरनाक है। कारण किसी भी क्षण यह कामवासना, जिसका उच्छेद नहीं किया गया है अथवा जो सुप्त अवस्थामें पड़ी है, ऐसा गंदलापन उत्पन्न कर सकती है जो यथार्थ अवतरणको पीछे फेंक देता है और अर्जित शक्तिको अन्य उद्देश्योंके लिये व्यवहृत करता है अथवा चेतनाकी समस्त क्रियाको मलिन और भ्रममें डालनेवाली मिथ्या अनु-भूतिकी ओर मोड़ देता है। अतएव साधकको चाहिये कि वह इस बाधाको अवश्य मार्गसे हटा दे; अन्यथा या तो वह सुरक्षित नहीं रह सकता अथवा वह साधनाकी अन्तिम सिद्धिकी ओर अबाध गतिसे नहीं जा सकता।

तुम जिस विपरीत मनकी बात कहते हो वह इस धारणाके कारण हो सकता है कि कामवृत्ति मनुष्यकी प्राण-शरीरमय समस्त सत्ताका एक स्वाभाविक अंग है, आहार और निद्राकी तरह ही एक आवश्यक चीज है और इसका पूर्ण निरोध कर देनेसे प्रकृतिकी समतोलता नष्ट हो सकती है और भयानक गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। यह ठीक है कि यदि बाह्य क्रियामें कामवृत्तिका दमन किया जाय पर अन्य उपायोंसे उसे चरितार्थ किया जाय तो उसके फलस्वरूप आधारमें उथल-पुथल मच जाती है और मस्तिष्क अस्वस्थ हो जाता है। कामोप-भोगसे अलग रहनेको जो डाक्टरी मत उत्साहित नहीं करता उसका मूल कारण बस यही है। परन्तु मैंने देखा है कि ये सब चीजें केवल तभी होती हैं जब कि स्वाभाविक कामोपभोगके स्थानमें मनुष्य विकृत ढंगसे गुप्त संभोगकी क्रियामें लिप्त होता है। अथवा कल्पनाके द्वारा एक प्रकारका सूक्ष्म-प्राणमय उपभोग करता है या किसी अदृश्य गुह्य प्राणिक आदान-प्रदानके द्वारा कामवृत्ति चरितार्थ करता है,—मैं नहीं समझता कि यदि कोई इस कामवृत्तिपर प्रभुत्व स्थापित करने और उससे उपराम होनेके लिये सच्चा आध्यात्मिक प्रयास करे तो उससे कभी कोई हानि हो सकती है। आज यूरोपमें बहुतसे डाक्टर यह मानने लगे

हैं कि कामोपभोगसे अलग रहनेसे, यदि वह ठीक-ठीक किया जाय तो, लाभ ही होता है; क्योंकि रेतस्के अन्दरका वह तत्त्व जो कामोपभोगके समय व्यय होता है उस समय अपने उस दूसरे तत्त्वमें परिणत हो जाता है जो समस्त आधारकी — मन, प्राण और शरीरकी — शक्तियोंका पोषण करता है — और यह बात भारतकी ब्रह्मचर्यसम्बन्धी भावनाका समर्थन करती है जिसमें रेतस्को ओजस्में रूपान्तरित किया जाता है और उसकी शक्तियोंको ऊपरकी ओर उठा ले जाया जाता है जिससे कि वे एक आध्यात्मिक शक्तिका रूप ग्रहण कर लें।

अब रही प्रभुत्व स्थापित करनेकी पद्धतिकी बात। यह कार्य केवल शारीरिक संयमके द्वारा नहीं किया जा सकता — यह सम्पन्न होता है अनासक्ति और त्यागकी सम्मिलित प्रक्रियाके द्वारा। चेतना कामावेगसे अलग हटकर खड़ी हो जाती है, यह अनुभव करती है कि वह वृत्ति उसकी अपनी नहीं है, बल्कि एक ऐसी विजातीय वस्तु है जिसे प्रकृति-शक्तिने उसके ऊपर फेंक दिया है और जिसे वह सम्मति देना या जिसके साथ तादात्म्य स्थापित करना अस्वीकार करती है । इस तरह जब-जब चेतना कामावेगका त्याग करती है तब-तब वह अधिकाधिक बाहरकी ओर निक्षिप्त होता है। धीरे-धीरे मन निर्लिप्त हो जाता है; फिर कुछ समयके बाद प्राणमय सत्ता भी, जो उसका प्रधान आधार है, उससे उसी प्रकार पीछे हट जाती है और अन्तमें शरीर-चेतना भी उसे अब आश्रय नहीं देती। यह प्रक्रिया तबतक चलती रहती है जबतक कि अवचेतना भी उसे स्वप्नके अन्दर जाग्रत करनेमें असमर्थ नहीं हो जाती और इस निम्न अग्निको फिरसे सुलगानेके लिये कभी कोई आवेग बाहरी प्रकृति-शक्तिसे नहीं आता। यह प्रक्रिया तभी लागू होती है जब कि कामप्रवृत्ति बुरी तरह जड़ जमाये बैठी होती है। अन्यथा कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो इसे अपनी प्रकृतिसे शीघ्र और समूल निकालकर पूर्ण रूपसे इसे दूर कर सकते हैं। पर ऐसा करने-वाले विरले ही होते हैं।

अवश्य ही यह तो कहना ही होगा कि कामप्रवृत्तिको पूर्ण रूपसे दूर करना साधनाकी सबसे कठिन चीजोंमेंसे एक है और इस कार्यमें जो समय लगता है उसे देनेके लिये साधकको तैयार रहना चाहिये। परन्तु इसका पूर्ण तिरोभाव सिद्ध किया जा चुका है और ऐसे लोग तो काफी अधिक संख्यामें मिलते हैं जिन्होंने कार्यतः इससे एक प्रकारकी मुक्ति पा ली है जो केवल कभी-कभी अवचेतनासे उठनेवाली स्वप्नकी क्रियाओंके द्वारा ही खंडित होती है।

*

खतरेके दृष्टि बिन्दुसे (गुह्य) यौनवृत्ति महत्त्वाकांक्षा आदिके साथ साधारण समान स्तरपर अवस्थित है, केवल इसकी क्रिया साधारणतया कम प्रत्यक्ष होती है—अर्थात् विरोधी शक्तियां आध्यात्मिक जीवनमें अनुसरण करने योग्य वस्तुओंके रूपमें इन्हें इतने खुले रूपमें सामने नहीं लातीं।

*

मैंने यह नहीं कहा है कि अन्य योगोंमें कामावेग पर प्रभुत्व नहीं स्थापित किया गया है। मैंने यह कहा है कि इससे पूर्णतया मुक्त होना कठिन है और साथ ही वैष्णव साधनाकी तरह इसके उदात्तीकरणमें खतरे हैं। वैष्णवोंमें प्राय: और अधिकतर जो घटनाएं घटी हैं उसके सम्बन्धमें व्यक्ति जो कुछ जानता है उस सबसे यही प्रमाणित हुआ है। परात्परता और रूपान्तर अलग वस्तु हैं। इस साधनामें रूपान्तरके जिन भेदों या भूमिकाओंको लक्षमें रखा गया है वे तीन हैं, चैत्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपान्तर। पहले दोको अन्य योगोंमें अपने ढंगसे साधित किया गया है; अन्तिम प्रकार एक नया प्रयत्न है। आध्यात्मिक सिद्धिके लिये पर्याप्त रूपान्तर पहले दो प्रकारोंसे प्राप्त किया जा सकता है; मेरी दृष्टिसे मानवजीवनको दिव्य बनानेके लिये पर्याप्त रूपान्तर अतिमानसिक परिवर्तनके बिना सम्भव नहीं है।

*

इस योगका कामवासना और कामोपभोगसे क्या सम्बन्ध है? मैंने तुम्हें बारंबार कहा है कि हमें कामवासनासे मुक्ति और उसपर विजय प्राप्त करनी है उसके बाद ही इस योगमें सिद्धि मिल सकती है।

*

रूपान्तर एक चीज है और सामान्य मानव प्रकृतिके वर्तमान स्वरूपोंका स्वीकार करना दूसरी। यौन क्रियामें रत रहनेके लिये दी गई युक्ति जरा भी अकाट्य नहीं। केवल बहुत कम लोगोंको ही कठिन यौगिक जीवनके लिये आह्वान मिलता है और ऐसे लोग सदा ही बहुत बड़ी संख्यामें होंगे जो मानव जातिके तन्तुको अविच्छिन्न रखेंगे। निःसंदेह योगीको मानव प्रकृतिसे घृणा या विरोध नहीं होता; वह इसे एवं इसकी प्रत्येक प्रवृत्तिके लिये दिये गये

स्थानको स्पष्ट और शान्त दृष्टिसे समझता है। और यदि आत्मसंयमके साथ वासनासे मुक्त होकर उच्चतर चेतनाके निर्देशनमें कोई कार्य किया जाय तो यह अधिक अच्छा तरीका है और कभी-कभी ऐसी वस्तुओंमें दिव्य संकल्पको सिद्ध करनेके लिये इसका अनुसरण किया जा सकता है जिनमें योगी अन्यथा कभी हाथ न डालता जैसे कि युद्ध और युद्धके साथ होनेवाला विनाश। किन्तु ऐसे नियमोंका बहुत आसानीसे आश्रय लेना साधारण मानव प्रकृतिको संतुष्ट करनेके लिये सहज ही एक बहानेका रूप ले सकता है।

*

इस विचारसे सम्बद्ध सचाईको माताजी तुमसे पहले ही कह चुकी हैं। यह विचार कि यौन-भूखको पूरी तरह तृप्त करनेसे वह समाप्त हो जायगी और हमेशाके लिये लुप्त हो जायगी, एक भ्रामक दावा है जो प्राणने मनके सामने अपनी वासनाओंके लिये अनुमति प्राप्त करनेको प्रस्तुत किया है; इसके अस्तित्वका कोई मूल प्रयोजन या सत्य या औचित्य नहीं है। यदि कभी-कभी की जानेवाली तृप्ति कामवासनाको खदबदाती रहेगी तो पूर्ण तृप्ति तो तुम्हें उसकी दलदलमें ही डुबा देगी। यह भूख अन्य भूखोंकी तरह क्षणिक तृप्तिसे शान्त नहीं होती। थोड़ी देर स्थगित रहनेके बाद यह फिर सिर उठाती है और फिरसे अपनेको तृप्त करना चाहती है। इसका ठीक उपचार न तो अतृप्ति है न ही अतितृप्ति। यह केवल मूलगत चैत्य परित्याग या ऐसी चेतनाके बढ़ते हुए अवतरणके साथ होनेवाले पूर्ण आध्यात्मिक उद्‌घाटनके द्वारा शान्त हो सकती है जो इसे नहीं चाहती और जिसमें अधिक सच्चा आनन्द है।

*

यह भयका प्रश्न नहीं है—यह तो दिव्य शान्ति एवं आनन्द तथा निम्न-कोटिके कामोपभोग और भगवान् एवं नारीके आकर्षणके बीचमें चुनावका प्रश्न है शरीरको सहारा देनेके लिये भोजन खाना चाहिये पर यौन तृप्ति आवश्यक नहीं हैं। जहांतक 'रस'का प्रश्न है, भोजनकी सारी लोलुपता और जिह्वाकी समस्त लालसाके समाप्त होनेपर ही आध्यात्मिक अवस्थाके साथ उसका मेल बिठाया जा सकता है। बौद्धिक या सौन्दर्य विषयक आह्लाद भी, यदि मनुष्यकी उनके साथ आसक्ति हो तो, आध्यात्मिक पूर्णताके लिये बाधक बन सकता है, यद्यपि यह स्थूल अरूपान्तरित दैहिक भूखकी अपेक्षा आध्यात्मिक चेतनाके अधिक

निकट है; तथ्य यह है कि आध्यात्मिक चेतनाका अंग बननेके लिये बौद्धिक और सौन्दर्य विषयक आह्लादको भी बदलना और कोई उच्चतर वस्तु बनना है। किन्तु उन सब वस्तुओंको जिनमें 'रस' है, कायम नहीं रखा जा सकता। दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें और उनकी हत्या करनेमें भी एक रस है जिसे पर-पीड़नका आनन्द कहते हैं; अपनेको यन्त्रणा देनेका भी एक रस है जिसे स्व-पीड़नका आनन्द कहते हैं—आधुनिक मनोविज्ञान इन दोनोंसे भरा पड़ा है। महज 'रस' होना ही वस्तुओंको आध्यात्मिक जीवनका एक अंग बनाये रखनेके लिये पर्याप्त कारण नहीं है।

*

संभोग क्रियामें कोई 'आनन्द' नहीं है, यह अनिवार्यतः और केवल क्षणिक उत्तेजना और सुखोपभोग ही हो सकता है जो शरीरके जर्जर होनेके साथ अन्तमें स्वयं भी जीर्ण हो जाता है।

*

हां, यह (यौन वातावरण आधुनिक जगत्में) सर्वत्र प्रबल रूपसे फैल गया है, विशेषकर इसलिये कि मनुष्य पुराने नैतिक प्रतिबन्धोंमें अब और अधिक विश्वास नहीं करते और उनके स्थानपर अन्य किसी वस्तुको अभी स्थापित नहीं किया गया है।

*

लौरेन्स और मिडिलटन मुरी आदि नवीन युरोपीय रहस्यवादियोंका विचार यह है कि कामोपभोग अधिपुरुष या अधःपुरुषको खोजनेके लिये निर्धारित किया मार्ग है क्योंकि वास्तवमें वह ऐसा ही प्रतीत होता है। निःसंदेह 'क्ष' अधिक अच्छी तरह जानता है। परन्तु यदि केवल व्यक्तिगत अधिपुरुष ही एकमात्र वह वस्तु है जिसकी आवश्यकता है और भगवान्‌की नहीं, तो कामोपभोग और ऐसी बहुतसी अन्य वस्तुएं जायज़ हैं। व्यक्तिको केवल यही साक्षात् करना है कि वह केवल शरीर नहीं, प्राण नहीं, मन भी नहीं, किन्तु एक अधिपुरुष है और उसके बाद अधिपुरुष उसे जो कुछ करनेके लिये कहे वही करना है।

*

मैंने व्यक्तिगत अधिपुरुषकी बात की थी जिसका अभिप्राय था हमारे अन्दर किसी ऐसी वस्तु (पुरुष) का साक्षात्कार जो प्रकृति नहीं है, मन; प्राण या शरीरकी क्रियाएं नहीं है, किन्तु एक ऐसी वस्तु है जो विचारशील है, आदि। यह पुरुष प्रकृतिकी किसी भी क्रियाको सहमति दे सकता है या उसे रोक सकता है या यह प्रकृतिको करने और न करने योग्य कामके विषयमें निर्देश दे सकता है। यह कामोपभोगकी आज्ञा दे सकता है या उससे विरत कर सकता है। यह साधारणतया मनोमय पुरुष ही होता है जिसका व्यक्ति इस प्रकार साक्षात्कार करता है, परन्तु इसके सिवाय प्राणमय पुरुष भी है। अधिपुरुष शब्दके द्वारा उनका आशय बहुत करके इसी पुरुषसे है—वे इसे एक प्रकारके व्यक्तिगत आत्माके रूपमें लेते हैं।

*

तो फिर सबके साथ ऐक्यका अर्थ होगा सबके साथ कामवासनाकी पूर्ति —यह वस्तुतः एक चौंकानेवाला सिद्धान्त होगा, यद्यपि वाममार्गी तन्त्रकी साधनामें इस जैसी कोई वस्तु है। परन्तु वाममार्गी तांत्रिक तुम्हारी अपेक्षा अधिक तर्कशील हैं—परन्तु ऐक्य यदि यौन अभिव्यक्तिको ही उचित ठहराता है तो प्रेमकी अभिव्यक्तिके केवल अधिक हलके रूपोंका ही क्यों सहारा देता है, अधिक ग्राम्य रूपोंको क्यों नहीं? परन्तु क्या वस्तुतः यौनभाव प्रेमपर आधारित है या यौन-प्रेम यौनवृत्तिपर? और क्या यौनवृत्ति सबमें स्थित उस एकमेवके आध्यात्मिक बोधकी अभिव्यक्ति है? वस्तुतः क्या यह द्वैतभावपर आश्रित नहीं है सिवाय जब वह केवल ऐसी जगह तृप्ति और सुखोपभोगकी कामना करता है जहां प्रेमका जरा भी प्रश्न नहीं? मनुष्य क्या स्त्रीके प्रति इस भावसे आकृष्ट होता है कि वह स्वयं उसकी आत्मा है या इस तथ्यके द्वारा कि वह कोई अन्य व्यक्ति है जो उसे किसी ऐसी मोहिनी या सौन्दर्यके द्वारा आकृष्ट कर रही है जिसका वह उपभोग करना चाहता है या जिसे अधिकारमें करना चाहता है या फिर केवल इस तथ्य द्वारा कि वह उससे भिन्न एक स्त्री है न कि पुरुष जिसके कारण कामवृत्तिको वहांपर खुलकर खेलना मिले।

*

इसमें सन्देह नहीं कि कामावेग प्राणिक स्तरमें सबसे बड़ी शक्ति है। यदि इसे उदात्त करके ऊपरकी ओर फेरा जा सके (ऊर्ध्वरेता बना जा सके)

तो ओज पैदा होता है जो उच्चतर चेतनाकी प्राप्तिमें अत्यधिक सहायता पहुँचाता है। परन्तु केवल निग्रह ही पर्याप्त नहीं।

*

काम-शक्ति, जिसका प्रयोग विश्वप्रकृति सन्तानोत्पत्तिके प्रयोजनके लिये करती है, अपने वास्तविक स्वरूपमें जीवनकी एक मूल शक्ति है। इसका प्रयोग प्राणिक-भावमय जीवनको ऊंचा उठानेके लिये नहीं बल्कि उसे एक विशेष प्रकारकी तीव्रता प्रदान करनेके लिये किया जा सकता है। इसे संयत करके तथा काम-प्रयोजनसे फेरकर सौन्दर्यात्मक, कलात्मक या अन्य किसी प्रकारके सर्जन एवं उत्पादनके उपयोगमें लाया जा सकता है अथवा बौद्धिक या अन्य क्षमताओंको उन्नत करनेके लिये सुरक्षित रखा जा सकता है। पूर्णतः संयत कर लेनेपर इसे अध्यात्म-शक्तिके बलमें भी परिणत किया जा सकता है। प्राचीन भारतमें यह तथ्य सुविदित था और इसे ब्रह्मचर्य द्वारा 'रेतस्' को 'ओजस्' में बदलना कहा जाता था। कामशक्तिके दुरुपयोगका परिणाम यह होता है कि जीवन-शक्ति और उसकी क्षमताएं अस्तव्यस्त एवं नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं।

*

निःसन्देह, यह (कामावेग) पूर्णतया स्वाभाविक है और सब मनुष्योंमें होता है। प्रकृतिने इसे प्रजननके प्रयोजनसे अपने कार्यके एक अंगके रूपमें रखा है, जिससे मानवजातिका सूत्र चलता रहे। पशुओंमें इसका इसी प्रयोजनके लिये प्रयोग किया गया है, परन्तु मनुष्य प्रकृतिसे दूर हो गये हैं और इसका प्रयोग वह मुख्यतः भोग विलासके लिये करते हैं—इसलिये इसने (कामावेगने) उन्हें अपने कब्जेमें कर लिया है और सारे समय उन्हें सताता रहता है।

तुम्हें स्वभावतः ही कामावेगको जीतना है, किन्तु यह पूरी तरह एक बारमें ही नहीं जीता जा सकता; इसके लिये धैर्ययुक्त अध्यवसायकी और शारीरिक या मानसिक किसी भी रूपमें इसका उपभोग न करनेके दृढ़ निश्चयकी आवश्यकता है। यह सब कर लेनेके बाद जब कोई विचार या वासना न रहे तब भी निद्रामें वीर्यपात यन्त्रवत् जारी रह सकता है, परन्तु यदि मनको मुक्त रखा जाय तो यह अन्ततोगत्वा लुप्त हो जाता है।

*

यौन-संवेदन भौतिक चेतनाके अंग 'बन' नहीं जाते — वे भौतिक प्रकृतिमें पहलेसे ही विद्यमान हैं — जहां भी कहीं सचेतन जीवन है वहां यौन शक्ति भी है ही। यह भौतिक प्रकृतिका संतानोत्पत्तिका साधन है और इसी प्रयोजनके लिये इसका यहां अस्तित्व है।

*

सांसारिक यौन-व्यापार सृजनके उद्देश्यके लिये प्रकृति द्वारा मूलभूत भौतिक शक्तिका उपयोग है। वह पुलक, जिसका कवि वर्णन करते हैं, जो अति स्थूल उत्तेजनासे पूर्ण होता है ऐसा प्रलोभन है जिसके द्वारा वह इस विधिके लिये जो अन्यथा अप्रीतिकर है, प्राणकी स्वीकृति प्राप्त करता है। ऐसे बहुतसे व्यक्ति हैं जो इस क्रियाके बाद घृणा की प्रतिक्रिया का अनुभव करते हैं और इस घृणाके कारण उन्हें अपने साथीसे अरुचि हो जाती है हालांकि इस प्रलोभनके कारण जब वह घृणा दूर हो जाती है तो, वे फिर इस क्रियामें रत हो जाते हैं।

यौन शक्ति अपने-आपमें एक महान् बल है और उसके स्थूल आधारके दो भाग हैं, एक सृजन और उसकी आवश्यक विधिके लिये; दूसरा शरीर, मन और प्राणकी साधारण शक्तियोंको तथा शरीरकी आध्यात्मिक शक्तिको भी पुष्ट करनेके लिये। प्राचीन योगी इन दो तत्त्वोंको 'रेतस्' और 'ओजस्' कहते हैं। यूरोपके वैज्ञानिकोंने साधारणतया इस विचारका मजाक उड़ाया है परन्तु अब उन्होंने स्वयं इस तथ्यको खोजना शुरू कर दिया है। जहांतक पुलकका सम्बन्ध है, जिसका कवि इतना बखान करते हैं, वह तो स्थूल आनन्दकी बहुत ही भद्दी विकृति और पतन है। यह स्थूल आनन्द योगके द्वारा अपनेको शरीरमें स्थापित कर सकता है परन्तु जबतक यौन-अभिरुचि है तबतक ऐसा नहीं हो सकता।

*

यह बात ठीक है — यदि वीर्य नष्ट न होने दिया जाय तो यह तेज और ओजमें बदल जाता है। ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण सिद्धान्तका आधार योगियोंने इसीपर रखा है। ऐसा न हो तो तेज और ओज पैदा करनेके लिये ब्रह्मचर्यकी कोई जरूरत नहीं होगी।

यह स्वतः बल-पौरुषका नहीं बल्कि भौतिक आधारका प्रश्न है — भौतिक आधारमें ब्रह्मचर्यसे उत्पन्न ओजका अत्यधिक महत्त्व है। रेतस्का ओजस्में

रूपान्तर करना भौतिक पदार्थका भौतिक (अवश्य ही प्राणिक-भौतिक शक्तिको भी पैदा करनेवाली) शक्ति में रूपान्तर करना है। स्वयं अध्यात्म-शक्ति भी, प्राणिक और मानसिक शक्तिकी भांति अकेले ही, शरीरको चला सकती है, परन्तु यदि शरीरमें भौतिक आधार न हो तो इसे चलानेमें वह इसे थका डालेगी। (निःसंदेह मैं साधारण अध्यात्म-शक्तिकी बात कर रहा हूँ, आगामी अति-मानसिक शक्तिकी नहीं, जो रेतस्को ओजस्में ही नहीं बल्कि ओजको भी किसी अधिक उदात्त वस्तुमें रूपान्तरित कर डालेगी।)

*

जहांतक वैज्ञानिकोंका सम्बन्ध है वे यौन ग्रंथियोंकी उपजको सामान्य शक्तियोंके एक महान् सहायक और पोषकके रूपमें मानते हैं (कम-से-कम मैंने ऐसा ही पढ़ा है)। यहांतक माना गया है कि यौन शक्ति कविता, कला आदिके सृजन तथा सामान्यतया प्रतिभाशाली व्यक्तिके कर्ममें बहुत भाग लेती है। अन्ततः यह एक डाक्टर ही है जिसने इस बातका पता लगाया है कि यौन-द्रव-पदार्थके दो भाग होते हैं। एक यौन कार्योंके लिये होता है, दूसरा सामान्य शक्तिका आधार है और यदि यौन व्यवहार नहीं भोगा जाता तो पहला तत्त्व दूसरे तत्त्वमें बदलने लगता है (रेतस् ओजस्में—जैसा योगियोंने पहले ही खोज लिया था)। मतवाद? इस तरह विरोधी पक्षके वक्तव्य या अनुमान हैं—एक वाद उतना ही अच्छा है जितना कि दूसरा। कुछ भी हो मैं नहीं समझता कि संयमसे यौन ग्रंथियोंका क्षय सामान्य अनुभवसे सिद्ध हो सकता है। परन्तु यदि हम अलग अलग व्यक्तियोंके परिणामोंकी चिंता न करके क्रमविकासके मार्गको लें और यह मान लें कि यह क्रमविकास पुराने क्रमविकासकी दिशा को ही ग्रहण करेगा क्योंकि यह समझा जाता है कि ये निरर्थक ग्रंथियां या तो लुप्त हो जायंगी, या नष्ट हो जायंगी, तो निःसन्देह 'क' का प्रतिपादन तर्कसम्मत है। परन्तु क्या अतिमानसिक क्रमविकास उसी पुराने मार्गको ग्रहण करेगा या अपने द्वारा निर्मित नई अवस्थाओंको पुष्ट करेगा—यह एक अनिश्चित तत्त्व है।

*

तुम समझे नहीं। मैं इस कथनका जवाब दे रहा था कि वैज्ञानिक लोग यौनग्रंथिके रस (अर्थात् वीर्य) को कोई महत्व नहीं देते और यह समझते

हैं कि यह केवल बाह्य प्रयोजनके लिये ही है। इसके विपरीत बहुतसे वैज्ञानिक इसे प्रजनन शक्तिका आधार मानते हैं; अन्य प्रयोजनोंके बीच यह कलात्मक और काव्यात्मक सर्जनमें भी हिस्सा बंटाती है। यह बात नहीं कि कलाकार और कवि तपस्वी या ब्रह्मचारी होते हैं परन्तु यह कि उनमें यौन ग्रंथिकी क्रिया शक्तिशाली होती है जिसका एक हिस्सा सर्जनात्मक कार्यकी ओर और एक हिस्सा (सफल या निष्फल) प्रजनन क्रियाकी ओर जाता है। नवीनतम सिद्धान्त और योगसिद्धान्तके अनुसार प्रजननका हिस्सा होगा रेतस् और सर्जनात्मक हिस्सा होगा ओजस् का आधार। अब यदि मान लें कि कवि या कलाकार अपने रेतस्को संचित करके इसे ओजस्में बदल देता है तो इसका परिणाम होगा सर्जनात्मक रचनाकी शक्तिका बढ़ जाना।

*

नपुंसकता सम्बन्धी विचार निश्चय ही तर्कसंगत नहीं है—नपुंसकता अति भोगसे या विकृत भोगसे (किन्हीं बिगड़ी आदतोंसे) आती है; आत्मसंयमसे नहीं आती। आत्मसंयमका आशय है केवल इसे अन्य क्षमताकी ओर मोड़ देना क्योंकि नियन्त्रित यौन-शक्ति जीवन ऊर्जाओंके लिये मनकी क्षमताओंके लिये, और आध्यात्मिक चेतनाके अधिकाधिक प्रभावशाली कार्योंके लिये एक शक्ति बन जाती है।

*

अधिकतर मनुष्योंमें यौन-आवेग प्रकृतिके आवेगोंमें सबसे अधिक प्रबल होता है।

*

कामावेग आप ही अपना कारण है—यह केवल अपनी तृप्तिके लिये कार्य करता है और अन्य किसी कारणकी मांग नहीं करता, क्योंकि यह साहजिक और तर्कशून्य होता है।

*

(कामका मोहजाल क्यों नहीं लुप्त होता:) मानवप्राणमें इसकी बहुत-सी जड़ें हैं। कामवासनामें दृढ़तासे चिपटे रहनेकी वृत्ति है। इसके सिवाय वैश्व भौतिक प्रकृतिको इसकी इतनी अधिक जरूरत है कि जब मनुष्य इसे दूर धकेल देता है तब भी वह इसे यथा सम्भव लम्बे समयतक उसके ऊपर फेंकती रहती है।

*

सभी व्यापार सामूहिक रूपसे प्रकृतिकी वैश्व शक्तियोंके व्यापार हैं, वे वैश्वप्रकृतिके व्यापार हैं। व्यक्ति उनमेंसे किसी एक अंशको, किसी वैश्व शक्तिकी एक लहर या दवावको ग्रहण करता है और उसके द्वारा संचालित होता है; वह समझता है कि यह उसकी अपनी है जो स्वयं उसमें पृथक् रूपसे उत्पन्न हुई है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, यह एक सर्वसामान्य ऐसे व्यापारका अंग है जो अन्य लोगोंमें भी ठीक इसी प्रकार कार्य करता है। उदाहरणके लिये काम सार्वभौम प्रकृतिका एक ऐसा व्यापार है जो अपनी क्रीड़ा करना चाहता है और उसके लिये इस या उस मनुष्यका उपयोग करता है — कोई मनुष्य जब किसी स्त्रीके साथ प्राणिक या शारीरिक रूपसे, 'प्रेममें' होता है तो वह केवल कामके विश्व-व्यापी व्यापारको दुहराता और तृप्त कर रहा होता है; यदि इस व्यापारमें वह स्त्री न होती, तो अन्य कोई स्त्री होती; वह तो केवल प्रकृतिकी मशीनरीमें एक यन्त्रमात्र है, यह कोई स्वतन्त्र व्यापार नहीं है। क्रोध और प्रकृतिकी अन्य प्रेरणाओंके विषयमें भी यही बात है।

*

स्वभावतः ही यौन-क्रिया अपने-आपमें एक ऐसी शक्ति है जो निर्व्यक्तिक है और किसी विशेष पदार्थपर निर्भर नहीं करती। यह एक या दूसरे व्यक्तिको केवल अपनेको मूर्त करने और अपने उपभोगका क्षेत्र बनानेके लिये ही पकड़में ले लेती है। जब इसे प्राणिक आदानप्रदानसे रोका जाता है तो यह अपने प्राणिक स्वभावको खोने लगती है और अपनी अत्यन्त स्थूल और प्राकृत क्रियाके द्वारा आक्रमण करती है। केवल प्राणिक-भौतिक और अत्यन्त भौतिक सत्तामेंसे बाहर फेंक दिये जानेपर ही इसपर विजय प्राप्त होती है।

*

कामभावका अस्तित्व अपनी तृप्तिकें लिये ही है और यह या वह व्यक्ति उसकी क्रियाके लिये या फिर इस व्यापारको जगानेके लिये एक माध्यम, एक बहाना या निमित्त मात्र होता है। केवल भीतरसे, और ऊर्ध्वसे आनेवाली उस शान्ति और पवित्रतासे ही इसे लुप्त होना होगा जो उस भागमें आकर उसे अपने अधिकारमें कर ले।

*

यह (भौतिक रूप-लावण्य द्वारा अन्य लोगोंको आर्कषित करनेकी कामना) निम्नतर प्राणका साधारणतया पाया जानेवाला एक मिथ्या आडम्बर है, यह बहुत सर्वसामान्य वस्तु है। किसी भी मनुष्यको किसी भी स्त्रीके प्रति आकर्षण हो सकता है एवं इससे उलटा भी, जब यौन-शक्तियां सक्रिय होती हैं, परन्तु यह आकर्षण उस व्यक्तिका नहीं होता, यह होता है यौन-शक्तिका खिचाव।

*

यौन-आकर्षण उस सर्वसामान्य शक्तिका आकर्षण है जो व्यक्तिका अपने उद्देश्यके लिये उपभोग करती है और यह अन्य किसी व्यक्तिकी किसी भी प्रकारकी निकटताका लाभ उठाती है।......सुरक्षा स्वयं व्यक्तिपर निर्भर करती है अर्थात् तुरन्त अपनेको परे हटा लेनेमें (अलग स्थित होने, और अपना न माननेमें) और उसका अस्वीकार करनेमें।

*

निःसन्देह कार्य तो विश्वव्यापी यौन शक्ति ही करती है, परन्तु कुछ लोग अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा इसमें अधिक ओतप्रोत होते हैं, उनमें यौन-आकर्षण होता है जैसा कि आजकल युरोपके लोग कहते हैं। इस यौन-आकर्षणका प्रयोग विशेष करके स्त्रियोंके द्वारा किसी विशेष व्यक्तिको प्रभावित करनेके लिये किसी सचेतन इरादेके बिना भी किया जाता है। वे इसे किसी विशेष व्यक्तिकी ओर सचेतन रूपसे मोड़ सकती हैं, परन्तु यह आकर्षण अपना प्रभाव ऐसे अनेक लोगोंके ऊपर भी डाल सकता है जिन्हें वे विशेषतः अपनी पकड़में लेना नहीं चाहती। सब स्त्रियोंमें यौन-आकर्षण नहीं होता, परन्तु यौन-आकर्षणकी कोई शक्ति अधिकतर स्त्रियोंमें होती है। निःसंदेह ऐसा ही आकर्षण स्त्रियोंके लिये

मनुष्योंमें भी होता है।

स्त्रीकी मुस्कराहट या कोई हावभाव, बाहरी रूप या क्रिया इन स्पन्दनोंको आरम्भ करनेवाला कारण हो सकता है। मैं नहीं मानता कि यह कोई ऐसी वस्तु है जो स्वयं मुस्कराहटके अन्दर विद्यमान होती है, पर ये सब चीजें ऐसे स्वभाव सम्बन्धी साधन (हावभाव) बन गई हैं जिनके द्वारा मनुष्योंमें काम उत्तेजित होता रहा है और स्त्री आदमीके सम्पर्कमें आनेपर उनका प्रयोग, प्रायः अनजाने और केवल अभ्यासवश करती हैं—चाहे स्त्रीका आदमीको प्रसन्न या प्रभावित करनेका इरादा हो या न हो तो भी यह एक सहज क्रियाके रूपमें ऊपर आ ही जाती है। 'क्ष' उसी ढंगकी स्त्री है जिसमें नरको प्रसन्न करनेकी यह सहज प्रवृत्ति है। परन्तु जब स्त्री बिलकुल अचानक और अपनी अभ्यस्त सहज क्रियाके बिना ही मुस्कराती है तब भी मनुष्यकी ओरसे स्त्री विषयक आकर्षणको प्रत्युत्तर देनेकी अपनी आदतके कारण यह कम्पन शुरू हो सकता है। इन वस्तुओंका आरम्भ लगभग यन्त्रवत् होता है। जैसा कि मैंने पहले लिखा है, स्थूल और प्राणिक मनका यह स्वतः चालित उत्तर (कल्पना आदि) ही इसे लम्बा खींचता है और प्रभावशाली बनाता है। अन्यथा स्पन्दन कुछ समयके बाद नष्ट हो जायें।

*

सम्भव है कि उसे (स्त्रीको) तुम्हारे प्रति यौन-भाव न हो, पर विशेष प्रकारका प्राणिक दबाव, स्पर्शके लिये (कीड़ोंकी तरह मानों) मूछोंका बाहर निकालना—मैं ठीक-ठीक नहीं जानता कि इसे कैसे व्यक्त किया जाय—जिसका प्रकृतिमें गुप्त उद्देश्य होता है मनुष्यको आकृष्ट करना, और उसके ध्यानको खींचकर स्त्रीपर स्थिर कर देना, उसे कांटेसे पकड़कर अल्पाधिक मात्रामें खींच लेना। हो सकता है कि स्त्री यह इरादा अपने मनमें जानबूझकर जरा भी न कर रही हो अर्थात् उसके मनमें यह भाव स्पष्ट या विद्यमान न भी हो,—सम्भव है कि यह महज साहजिक या अवचेतन भाव हो। स्थूल यौन इरादेका होना आवश्यक नहीं, आवश्यक है केवल सहज क्रियासे युक्त प्राणिक इरादा। प्रबल प्राणिक स्वभाववाली सभी स्त्रियोंमें (और क्ष ऐसी ही है) यह होता है—कुछमें अधिक कुछमें कम। सम्भव है इसमें कोई विशेष यौन-आवेग न हो, परन्तु फिर भी यह मनुष्यके अन्दर काम-भावको जगायेगा। स्वभावतः क्ष को मानसशास्त्र का ज्ञान नहीं है और ये चीजें उसके लिये इतनी अधिक सूक्ष्म हैं कि वह इन्हें देख या समझ नहीं सकती। हो सकता है कि वह सहज

ही यों सोचे कि वह पूर्णतया निर्दोष और स्वाभाविक ढंगसे कार्य कर रही है और अपने अन्दर प्रकृतिकी इस क्रियाके दबावका उसे जरा भी पता न चले।

*

आधुनिक समयमें जिसे "यौन आकर्षण" कहा जाता है उसकी सहायताके लिये स्त्रीने अपनी वेशभूषाका हमेशा ही प्रयोग किया है और मनुष्य हमेशा ही उससे प्रभावित होता रहा है; स्त्रीके लिये भी मनुष्यकी वेशभूषा प्रायः आकर्षणका कारण होती है (उदाहरणार्थ सैनिककी वरदी)। वेशभूषामें विशेष प्रकारकी रुचियां भी होती हैं—यह कि किसी विशेष रंगकी साड़ी आकृष्ट करे यह बहुत सामान्य बात है। आकर्षण इन्द्रिय और प्राणपर क्रिया करता है, जब कि मन मानसिक त्रुटियोंको नापसन्द करता है और उनका भेद खुल जानेपर ठंडा पड़ जाता है; लेकिन मनका यह वैराग्य अधिक प्रबल प्राणिक आकर्षणके सामने टिक नहीं सकता।

*

कामभावके साथ (स्पर्शका) सम्बन्ध प्राणिक-भौतिक होता है—अन्यथा स्पर्श और यौनभावना द्वारा प्रेमकी अभिव्यक्तके बीचमें किसी सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं। असाधारण दृष्टान्तोंके सिवाय, जब माता और पुत्र या बहन और भाई आलिंगन करते हैं तो उनमें यौन-भाव नहीं होता। यह एक प्रकार का ऐसा अभ्यासगत परिवर्तन है जो भावप्रधान सत्तासे स्थूल सत्ताके बीचके मार्गमें सम्पन्न होता है और महज एक आदत होनेके कारण प्रबल होनेपर भी बदला जा सकता है।

*

यह (स्पर्श) प्राणिक-भौतिक वस्तु है। सब यौन-क्रियामें एक प्राणिक तत्व होता है, परन्तु निरी प्राणिक क्रिया स्पर्शमें या कामापभोगमें सीधी रुचि नहीं रखती। यह भावनाओंकी क्रीड़ामें, प्रभुत्व और अधीनतामें, रुठने-मनानेमें, प्राणिक शक्तिओंके आदान प्रदान इत्यादिमें अधिक रस लेती है। स्पर्श, आलिंगन, कामोपभोग इत्यादिको प्राणिक-भौतिक चेतना ही इतना अधिक महत्व देती

है।

*

जब तक किसी भी ओरसे स्पर्शको यौन प्रत्युत्तर मिलता है तबतक स्पर्श-से बचना ही सबसे अच्छा है। अधिक ऊंची स्थितिमें व्यक्ति स्पर्श या अस्पर्शके सम्बन्धमें उदासीन होता है। अतिमानसकी परमोच्च स्थितिमें इसका क्या रूप होगा इसका निश्चय अतिमानसको ही करने दो।

स्पर्श प्रभावहीन हो सकता है या उसमें शक्तिओंका आदान-प्रदान भी शामिल हो सकता है। जब आध्यात्मिक या अध्यात्मभावापन्न शक्तियोंमें आदान-प्रदान होता है तब उसका कोई अर्थ होता है और केवल वही अतिमानसिक साक्षात्कारमें इसके औचित्यको प्रदर्शित करेगा। परन्तु तब तक, सतर्क रहना अधिक अच्छा है।

*

साधारण समाजमें लोग अल्पाधिक स्वतन्त्रता पूर्वक समाजके शिष्टाचारोंके अनुसार एक दूसरेका स्पर्श करते हैं। वह बिलकुल भिन्न बात है क्योंकि वहांपर किन्हीं अल्पाधिक विशाल या संकीर्ण सीमाओंतक काम-प्रवृत्तिके लिये अनुमति दी गई है और यहांतक कि गुप्त भोग भी सर्वसामान्य है, यद्यपि व्यक्ति इस भेदके खुलनेसे बचनेकी कोशिश करते हैं। बंगालमें जहां परदा है वहां पुरुष और स्त्रियोंमें परस्पर स्पर्श परिवारतक ही सीमित है, युरोपमें ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है बशर्ते कि मेलजोल या अश्लीलताका अतिरेक न हो; परन्तु युरोपमें अब काम-व्यापार व्यावहारिक रूपसे मुक्त हो गया है। यहांपर आश्रम-में) अन्दर या बाहरके सभी कामोपभोग साधनाके अवरोधके रूपमें—जैसे कि यह प्रत्यक्षतः है ही—अवांछनीय माने गये हैं। इस कारण पुरुष और स्त्रीमें परस्पर स्पर्शकी घनिष्टताके किसी अतिरेकसे बचना चाहिये, चुम्बन जैसी किसी वस्तुसे भी, क्योंकि यह काम-वृत्तिको यहांतक कि प्रबल कामावेगको भी उत्पन्न करता है या इसमें उत्पन्न करनेकी वृत्ति होती है। यदि आकस्मिक स्पर्श कामावेगको वस्तुतः ही उत्पन्न करता हो तो इससे भी बचना चाहिये। यदि इस स्थापनाको मान लें कि यौन-वृत्तिको कोई प्रश्रय नहीं दिया जाना चाहिये तो ये सामान्य समझके नियम हैं।

*

स्थूल जगत्में प्रकृतिने अपना कार्य प्रजननके अपने उद्देश्यके लिये भौतिक यौन-आकर्षणसे प्रारम्भ किया और वह यौन-आकर्षणके आधारपर प्रेमको बीचमें ले आई, जिसके कारण एकमें दूसरेको जगानेकी प्रवृत्ति है। केवल प्रबल अनुशासन या प्रबल संकल्प या चेतनाके परिवर्तनके द्वारा ही व्यक्ति इस आकर्षण-को दूर हटा सकता है।

*

ऐसी बात नहीं कि प्रेमको शुद्ध (काम-वासनासे मुक्त) रखना सम्भव नहीं; किन्तु ये दोनों चीजें एक-दूसरीके इतने निकट हैं तथा जातिके पशुत्वके आरम्भसे ही आपसमें इतनी गुँथी हुई हैं कि इन्हें एकदम पृथक् रखना आसान नहीं है। विशुद्ध चैत्य प्रेममें कामवासनाका कोई चिह्नतक नहीं होता; किन्तु साधारणतया चैत्य प्रेमके साथ प्राणिक स्नेह बहुत घनिष्ठ रूपसे मिलजुल जाता है और तब चैत्य प्रेममें कामवासनाके न होनेपर भी वह शुद्ध नहीं रहता; किंतु प्राणिक स्नेह और प्राणिक-शारीरिक कामभाव एक-दूसरेके अति समीप होते हैं और इसलिये किसी भी क्षण या किसी भी अवस्थामें एक-दूसरेको जगा सकते हैं। जब किसी व्यक्तिमें कामशक्ति सबल होती है, जैसा कि प्राणिक रूपमें अत्यन्त शक्तिशाली लोगोंमें होती है, तब यह चीज बहुत प्रबल होती है। इस कठिनाईका सच्चा इलाज है चैत्यकी शक्तिको सर्वदा वर्द्धित करते रहना, कामा-वेगको संयमित करना और उसे ओजस्में बदलना तथा प्रेमको भगवान्‌की ओर मोड़ना। जो वीर्यशक्ति कामोपभोगमें नहीं खर्च होती उसे सदा ओजस्में बदला जा सकता है।

*

जब चैत्य पुरुष अपना प्रभाव प्राणपर डालता है तो जिस पहली चीजसे बचनेकी तुम्हें सावधानी बरतनी चाहिये वह है चैत्य क्रियाके साथ किसी भी गलत प्राणिक क्रियाका जरा भी मिश्रण न होने देना। कामवासना एक ऐसी विकृति या पतन है जो प्रेमको अपना राज्य स्थापित करनेसे रोकता है। अतएव, जब हृदयमें चैत्य प्रेमकी क्रिया हो तो कामवासना या प्राणिक कामना वह चीज है जिसे बिलकुल ही अन्दर नहीं आने देना चाहिये — ठीक जिस तरह कि जब ऊपरसे शक्ति उतरती है तब व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और मिथ्याभिमानको उससे बहुत दूर ही रखना चाहिये; क्योंकि विकृतिका कोई भी

मिश्रण चैत्य या आध्यात्मिक क्रियाको भ्रष्ट कर देगा और सच्ची सिद्धिको रोक देगा।

*

यह कैसा विचार है कि स्त्रीको प्यार करनेकी हृदयकी क्षुधातुर कामना काम-वासना नहीं है? वह और भौतिक कामुकता दोनों काम-वासनाके ही रूप हैं।

यदि यह प्राणिक लालसा है तो इसके लिये क्यों लालायित होते हो? यह यौन-वृत्तिका ही एक रूप है जो साधारणतया भौतिक कामनाको और अधिक उभाडता है।

*

पुरुषको घेरने एवं आक्रान्त करने तथा उसपर अधिकार जमाने और उससे अधिकृत होनेके आवेगके समान ही यौन-आवेग भी केवल मैथुनकी ओर ही प्रवृत्त होनेवाला आवेग नहीं है जैसा शायद क्ष समझता है। ऐसा विशेषकर स्त्रियोंके साथ होता है, क्योंकि काम-क्रीड़ा बहुधा मनुष्योंकी अपेक्षा उन्हें कम आकर्षक लगती है; परन्तु निश्चय ही हमेशा प्राणिक-भौतिक भावके एक विशेष बिन्दु पर पहुँचनेपर स्थूल यौन-क्रियाको उसका अनुसरण करनेकी प्रवृत्ति होती हैं।

*

यौनसंवेदन कहींसे भी शुरू हो सकता है। प्राणिक प्रेमके रूपमें यह प्राणिक केन्द्र, हृदय या नाभिमें शुरू होता है — बहुतसे भावप्रधान लड़कोंमें यह होता है और यौन सम्बन्धके विषयमें उनके किसी बातको जाननेसे पहले ही यह उनमें प्रेम व्यापारको (प्रायः १० या कभी-कभी ८ वर्षकी उम्रमें भी) शुरू कर देता है। अन्य लोगोंमें यह नाड़ी-तंत्र या नाड़ी तंत्र एवं जननेन्द्रियकी परिपक्वताके साथ शुरू होते हैं। अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें यह होता ही नहीं। बहुतसी लड़कियोंमें तो यह जीवन भर न हो यदि उन्हें बताया न जाय या मनुष्योंके द्वारा उत्तेजित न किया जाय। इसपर भी कुछ इससे घृणा करती हैं और उसे केवल एक प्रकारके सामाजिक दबावके वश या पुत्र प्राप्तिके लिये

ही सहन करती हैं।

*

ऐसी बहुतसी नारियां हैं जो मन, चैत्य, प्राण (हृदय) से प्रेम कर सकती हैं परन्तु वे शरीर-स्पर्शसे सकुचाती हैं और उसके हट जानेपर भी उन्हें शारीरिक कर्मसे घृणा बनी रहती है। दबावके कारण वे आत्म-समर्पण कर सकती हैं परन्तु इससे वे उस कर्मको, जो उन्हें सदा पाशविक और निम्न जान पडता है, पसन्द नहीं कर सकतीं। नारियां इस बातको जानती हैं परन्तु पुरुष इसपर कठिनतासे विश्वास करते हैं। परन्तु यह पूर्ण सत्य है।

'असाधारण' एक ऐसा शब्द है जिसको तुम किसी वस्तुके साथ जो बिलकुल सस्ती और साधारण नहीं है, जोड़ सकते हो। इस प्रकार प्रतिभा असाधारण है, ऐसे ही आध्यात्मिकता है, ऐसे ही उच्च आदर्शोंके अनुसार जीनेका प्रयत्न है। नारियोंमें शारीरिक पवित्रताकी प्रवृत्ति असाधारण नहीं है। यह काफी सामान्य है और इन नारियोंमें अत्युच्च नारी-प्रकृति भी सम्मिलित है।

मन विचार और बोधका स्थान है, हृदय प्रेमका और प्राण कामनाका परन्तु यह तथ्य मानसिक प्रेमके अस्तित्वको कैसे रोक सकता है? जैसे मनपर प्राण या भाविक केंद्रके अनुभवोंका आक्रमण हो सकता है इसी प्रकार हृदयपर भी मनका प्रभुत्व हो सकता है और मानसिक शक्तियां उसका संचालन कर सकती हैं।

एक प्राणमय प्रेम है, एक स्थूल प्रेम। अनेक प्राणिक कारणोंसे प्राणके लिये बिना प्रेमके भी नारीकी कामना करना सम्भव है। वे कारण हैं प्रभुत्व या अधिकारकी प्रवृत्तिको संतुष्ट करना, अपने प्राणको पुष्ट करनेके लिये नारीकी प्राणशक्तियोंको खींचना, प्राण-शक्तियोंका विनिमय, मिथ्याहंकारको संतुष्ट करना, शिकारीकी पीछा करनेकी प्रवृत्ति आदि-आदि (यह पुरुषका दृष्टिकोण है परन्तु नारीके अपने प्राणमय उद्देश्य हैं)। इन्हें भी बहुधा प्रेम कहा जाता है परन्तु यह सब केवल प्राणमय कामना है, एक प्रकारकी इन्द्रियासक्ति। कुछ भी हो यदि हृदयकी भावनाए जगा दी जाती हैं तो वह प्राणमय प्रेम बन जाता है, किसी एक या तमाम प्राणात्मक उद्देश्योंके साथ एक मिलाजुला व्यापार, सुदृढ़ परन्तु अभी भी प्राणमय प्रेम।

यहां स्थूल प्रेम, सौन्दर्यका आकर्षण, स्थूल यौन आकर्षण या इस प्रकारका और कुछ, जो हृदयकी भावनाओंको जगानेवाला हो, भी हो सकता है। अगर ऐसा नहीं होता तब स्थूल आवश्यकता ही सब कुछ है और वह निपट इन्द्रियांसक्ति

है, इससे अधिक कुछ नहीं। परन्तु स्थूल प्रेम सम्भव है।

इसी प्रकार मानसिक प्रेम हो सकता है। यह अपने आदर्शको दूसरेमें पानेके प्रयत्नसे या प्रशंसा और विस्मयके किसी तीव्र मानसिक भावसे या मनके द्वारा साथी, प्रकृतिको पूर्ण करनेवाले और परिपूरक, सहधर्मी, मार्गप्रदर्शक और सहायक, नेता और स्वामीकी खोजसे या दूसरे सैंकड़ों मानसिक उद्देश्योंसे उत्पन्न होता है। अपने-आपमें यह प्रेम नहीं कहा जा सकता यद्यपि यह बहुधा इतना उत्कट होता है कि इसमें और प्रेममें कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। यहांतक कि यह व्यक्तिको जीवनके बलिदान, पूर्ण समर्पण आदि-आदि तकके लिये प्रस्तुत कर देता है। परन्तु जब यह हृदयकी भावनाओंको उत्तेजित कर देता है तब यह, जो मूलमें तथा प्रधान स्वभावमें अभीतक मानसिक है, उस परम शक्तिशाली प्रेमतक पहुँच सकता है। तथापि साधारणतया मन और प्राण एक साथ मिले होते हैं परन्तु यह मिश्रण तब भी रह सकता है जब स्थूल कर्म और उसकी सहवृत्तियोंके प्रति निश्चित घृणा या अरुचि हो। निःसन्देह यदि पुरुष बलप्रयोग करे तो नारी दब सकती है; परन्तु जैसा कहते हैं, यह उसके हृदयके — उसके भावों और उनकी गहनतम वृत्तियोंके — विरुद्ध होगा।

यह एक अज्ञानपूर्ण मनोविज्ञान है जो प्रत्येक वस्तुको यौन-प्रेरक और यौन-आवेग बना देता है।

*

चिकित्सक लोग विवाहकी सलाह इसलिये देते हैं कि वे समझते हैं काम-वृत्तिकी तुष्टि स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है और इसका दमन देह-तन्त्रमें गड़-बड़ियां पैदा करता है। यह बात केवल तभी सत्य होती है जब कामोपभोगको यथार्थ रूपसे नहीं त्याग दिया जाता परन्तु केवल उसके उपभोगके ढंगमें ही परिवर्तन कर दिया जाता है। इन दिनों एक नया सिद्धान्त प्रकाशमें आया है जो ब्रह्मचर्यके भारतीय सिद्धान्तको पुष्ट करता है, अर्थात् यह कि ब्रह्मचर्य द्वारा रेतस्‌को ओजस्‌में बदला जा सकता है और सत्ताकी शक्ति और सामर्थ्यको असाधारण रूपसे बढ़ाया जा सकता है।

तुम प्राणिक आदान-प्रदानके प्रोत्साहनके विषयमें जो कहते हो वह प्राण-मय जीवनके सम्बन्धमें ठीक है। मनुष्य निरन्तर प्राणिक ऊर्जाका व्यय कर रहे हैं और उन्हें उसके पुनः संचयकी आवश्यकता होती है; इसे करनेका एक तरीका है प्राणिक आदान-प्रदानमें अन्य लोगोंसे इसे खींचना। तो भी यह आवश्यक नहीं है यदि व्यक्ति वैश्व प्रकृतिसे अथवा भगवान्‌से, अर्थात् ऊपरसे

इसे खींचना जाने। इसके सिवाय जब चैत्य सक्रिय होता है — तो इसमें प्राणिक आदान प्रदानके द्वारा लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

*

पहले तो कुंवारेपनका अर्थ है "विवाह न करना" — इसे बढ़ाकर यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी स्त्रीके साथ यौन (भौतिक) सम्बन्धोंको न रखना यद्यपि यह इसका ठीक-ठीक अर्थ नहीं है। यह ब्रह्मचर्यका समानार्थक नही है। ब्रह्मचर्य भक्तिमार्ग या कर्मयोगके लिये अनिवार्य नहीं है, किन्तु यह वैरागीके ज्ञानयोग इसी प्रकार राजयोग एवं हठयोगके लिये आवश्यक है। इसकी मांग गृहस्थ योगियोंसे भी नहीं की जाती। इस योगमें स्थिति यह है कि मनुष्यको कामपर विजय प्राप्त करनी ही होगी अन्यथा निम्नतर प्राण और भौतिक प्रकृतिका रूपान्तर नहीं हो सकता। सब स्थूल यौनसम्बन्ध बन्द हो जाने चाहिये, अन्यथा मनुष्य अपनेको गम्भीर खतरोंकी ओर खोल देता है। कामवेगको भी जीत लेना होगा लेकिन यह तथ्य नहीं है कि इसके पूरी तरह जीते जानेसे पहले साधना या अनुभूति हो ही नहीं सकती; बात केवल इतनी है कि उस विजयके बिना मनुष्य अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता और इसे स्पष्टरूपसे अधिक गंभीर अवरोधोंमेंसे एक मानना होगा और इसके उपभोगको काफी बड़े विक्षोभका कारण।

*

कौमार्य एक चीज है और कामावेगोंसे मुक्त होना दूसरी। इनपर विजय प्राप्त करनी है और इनसे मुक्त होना है, परन्तु यदि प्रगतिके लिये उनसे मुक्त होनेको योग्यताकी कसौटी बनाया जाय, तो मुझे इसमें सन्देह है कि कितने व्यक्ति मेरे योगके लिये योग्य घोषित किये जा सकें। इसे जीतनेका संकल्प अवश्य बनाये रखना होगा, परन्तु कामवेगको बाहर निकाल देना मानव प्रकृतिके लिये एक सबसे अधिक कठिन वस्तु है, और यदि उसमें समय लगे, तो यह बिलकुल स्वाभाविक है।

*

सामान्यतया जहांतक विवाहका प्रश्न है, हम उस व्यक्तिके लिये इसे

परामर्शयोग्य नहीं मानते जो आध्यात्मिक जीवनको अपनाना चाहता है। साधारणतया विवाहका अर्थ होता है बहुतसी अशान्ति, भारी बोझ, सांसारिक जीवनकी गुलामी और एकाग्र मनसे किये जानेवाले आध्यात्मिक प्रयासके मार्गमें महान् कठिनाइयां। यदि यौन-प्रवृत्तिको जीतना असम्भव हो तो इसका एकमात्र स्वाभाविक प्रयोजन होगा इसे एक सीमित और नियन्त्रित तृप्ति प्रदान करना। मुझे समझ नहीं आता कि यह तुम्हें मनको संयत और वशमें रखनेमें किस प्रकार सहायता दे सकता है; चंचल मन केवल अन्दरसे ही शान्त किया जा सकता है।

जहांतक तुम्हारी एकाग्रताकी बात है उसमें यदि तुम्हें भौंहोंके बीचमें एकाग्र होनेकी आदत हो और इससे तुम्हें सहायता मिलती हो, तो तुम उसे साधारण रूपसे जारी रख सकते हो, परन्तु समय समयपर हृदय केन्द्रमें (वक्षके मध्य भागमें) एकाग्र होनेकी चेष्टा करो और देखो कि इसमें तुम्हें सफलता मिलती है या नहीं।

*

एकबार जब तुम भगवान्‌की ओर उन्मुख हो गये तो किसी प्रकारकी निराशाको अपने ऊपर अधिकार करने देना ठीक नहीं। चाहे जो भी कठिनाई या विक्षोभ आयें, तुम्हें यह आस्था बनाये रखनी होगी कि भगवान्‌पर भरोसा रखनेपर वे तुम्हें पार उतारेंगे। अब मैं उन प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ जो तुमने अपने पत्रमें मुझसे किये हैं।

1. यदि तुम्हारा आध्यात्मिक पक्षका अनुसरण करनेका दृढ़ निश्चय हो तो विवाह और पारिवारिक जीवन केवल उसमें बाधक ही बनेंगे। विवाह करना तभी उचित होगा जब कामावेग इतना प्रबल हो कि इसपर विजय पानेकी आशा न रहे सिवाय इसके कि कुछ समयके लिये उसको संयत और उसका तर्कसंगत उपभोग किया जाय जब कि यह धीरे-धीरे संकल्पके अधीन किया जा सके। किन्तु तुम कहते हो कि इसकी पकड़ ढीली होती जा रही है इसलिये यह अनिवार्य नहीं प्रतीत होता।

2. जहांतक सबकुछ छोड़कर वहांसे चले आनेकी बात है वह तभी होना चाहिये जब तुम्हारे अन्तरमें एक स्पष्ट और स्थिर निश्चय हो जाय। आवेगमें आकर ऐसा करनेसे तुम यहां आनेपर पुरानी चीजोंके समस्त आकर्षणको अनुभव करोगे और साधनामें प्रबल क्षोभ और संघर्षको साथ लगाये रखोगे। जब दूसरी चीजें झड़ जायें या तुमसे कटकर अलग हो जायें तब ऐसा निश्चय किया

जा सकता है। अपनी अभीप्सामें लगे रहो, इस बातका आग्रह रखो कि प्राण श्रद्धा रखे और अधिक शान्त हो जाय। यह निश्चय आपसे-आप होगा।

*

तुम्हारा अनुभव ठीक है कि संरक्षण और कृपा सदैव विद्यमान हैं और यह कि सब अधिक-से-अधिक भलेके लिये ही हुआ है। तुम्हारी पत्नीकी स्थितिमें यही सर्वोत्तम था कि वह शरीर बदलती और इस बातको वह मनकी ऐसी अवस्थामें करनेमें समर्थ हुई जो उसे मृत्युके बाद और जिस आध्यात्मिक विकासके लिये उसने अभीप्सा करना प्रारम्भ किया था उसे दूसरे जन्ममें, फिरसे आगे चलानेके लिये अधिक-से-अधिक सुखद अवस्थाओंको प्रदान करेगी। यह भी अच्छा है कि तुम इस घटनामें संतुलन और आत्माके स्वातन्त्र्यको कायम रख सके।

पुनश्च, फिरसे विवाह न करनेका जो तुमने निश्चय किया है वह बिलकुल ठीक है; जो भी हो ऐसा (विवाह) करना तुम्हारे योगके पथके अनुसरणमें गम्भीर और बहुत करके अलंघ्य कठिनाइयोंको आमंत्रित करना होगा, और, क्योंकि इस योग पथमें यौन-वासनाको दूर रखना आवश्यक है इसलिये विवाह केवल निरर्थक ही नहीं होता परन्तु तुम्हारे आध्यात्मिक जीवनके नितान्त विरुद्ध भी होगा। तुम अपने इस निश्चयमें हमारे पूर्ण समर्थन और संरक्षणकी आशा रख सकते हो और, यदि तुम इस मामलेमें सच्चे संकल्प और दृढ़ निश्चय-को बनाये रखो तो तुम आश्वस्त रह सकते हो कि भगवान्‌की कृपा तुम्हारा त्याग नहीं करेगी।

*

यदि वह विवाहके लिये मान जाय तो यह सबसे अच्छी बात होगी। ये सब प्राणिक गड़बड़ियां दबी हुई यौन सहज प्रेरणासे — जो दबी होती हैं परन्तु त्यागी या जीती गई नहीं होती — उत्पन्न होती है।

साधनाके लिये मानसिक स्वीकृति या उत्साह न तो पर्याप्त आश्वासन है न लोगोंको, विशेषकर युवकोंको इसे शुरू करनेके लिये बुलानेका पर्याप्त आधार ही। बादमें जाकर ये प्राणिक सहज वृत्तियां उभर आती हैं और कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जो उन्हें सन्तुलित रख सके या उनका प्रबलतासे विरोध कर सके,—किन्तु केवल ऐसे मानसिक विचार ही होते हैं जो सहज प्रेरणाओंको

पराजित नहीं करते, परन्तु दूसरी ओर तृप्तिके स्वाभाविक सामाजिक उपायोंमें बाधक भी बनते हैं। यदि वह अब विवाह कर ले और मानव प्राणिक जीवनका अनुभव ले ले तो इसके बाद कोई ऐसा अवसर आ सकता है जब कि साधनाके लिये उसकी मानसिक अभीप्सा यथार्थ वस्तुमें परिणत हो जाय।

*

मैं नहीं समझता कि निग्रह अपने-आपमें स्थायी सफल नहीं होता, क्योंकि बीज हमेशा रहेगा जबतक उसे कामावेगके रूपान्तरके द्वारा हटा न दिया जाय; पर निग्रह रूपान्तरकी दिशामें मदद कर सकता है। युरोपमें अब चिकित्सक समझ गये हैं—जो पहले कहा करते थे कि कामका दमन शरीरमें उपद्रवोंका खतरा उठाकर ही किया जा सकता है—कि इसके विपरीत वीर्यशक्तिका एक ऐसा हिस्सा है जिसका उपयोग स्वास्थ्य, बल-सामर्थ्य, यौवन आदिके लिये होता है (योगियोंके अथनानुसार जो 'ओजस्‌में, बदल जाता है), दूसरा हिस्सा यौनप्रयोजनके उपयोगमें आता है,—यदि कोई व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचारी हो तो इनमेंसे दूसरा हिस्सा पहलेमें अधिकाधिक बदलता जाता है। यदि मन यौन विचारोंमें या प्राण अथवा शरीरकी अतृप्त कामवासना या कामसंवेदनमें रत रहे तो अवश्य ही बाह्य दमन इस परिवर्तनमें सहायक सिद्ध नहीं होता। किन्तु यदि इन सबको रोक दिया जाय तो निग्रह लाभ दायक होता है।

जहांतक दूसरी बातका सवाल है, उसमें सही वृत्ति है न तो हमेशा काम सम्बन्धी दुर्बलतासे उद्विग्न रहना और इसकी महत्तासे अभिभूत रहना जिससे इसके लिये निरन्तर संघर्ष चलता रहे और निराशा बनी रहे, न ही इतना लापरवाह रहना जिससे यह बढ़ने लग जाय। इससे पूर्णतया मुक्त होना ही सबसे अधिक कठिन है; व्यक्तिको शान्तिपूर्वक इसकी महत्ता और इसकी कठिनाईको मानना होगा तथा शान्ति एवं धीरतापूर्वक इसके नियन्त्रणके लिये उद्योग करना होगा। यदि छोटी-मोटी कुछ प्रतिक्रियाएं बची रहें तो इस बातसे विचलित होनेकी जरूरत नहीं—केवल इसे इस रूपमें नहीं बढ़ने देना होगा कि वह साधनामें गड़बड़ी पैदा करे और इतनी प्रबल हो जाय कि मानसिक एवं उच्चतर प्राणिक संकल्प उसे काबूमें न कर सके।

*

कामके दबानेके सम्बन्धमें बहुत सोचते रहना स्थितिको और अधिक

खराब कर देता है। तुम्हें रचनात्मक अनुभवकी ओर अधिक खुलना है। सारे समय निम्नतर प्राणके साथ संघर्ष करते रहनेकी विधि बड़ी धीमी है।

*

अब कामावेगकी बातपर आवें। तुम उसे कोई ऐसी वस्तु मत समझो जो पापमय और भयंकर हो और साथ ही आकर्षक भी; बल्कि उसे निम्न प्रकृतिकी एक भूल और भ्रान्त गति समझो। उसका पूर्ण रूपसे त्याग करो, पर उसके साथ संघर्ष करके नहीं, बल्कि उससे पीछे हटकर, अनासक्त होकर और उसे अपनी सम्मति देना अस्वीकार करके, उसकी ओर इस प्रकार देखो मानों वह चीज़ तुम्हारी अपनी नहीं है, बल्कि तुमसे बाहर रहनेवाली प्रकृतिकी एक शक्तिने उसे तुम्हारे ऊपर लाद दिया है। इस लादनेकी क्रियाको सम्मति देना एकदम अस्वीकार करो। अगर तुम्हारी प्राणसत्ताका कोई अंश उसे स्वीकार करे तो तुम अपने उस भागपर अपनी सम्मति हटा लेनेके लिये जोर डालो। इस प्रकार अपने-आपको पीछे हटाने और अस्वीकार करनेके कार्यमें सहायता देनेके लिये तुम भागवत शक्तिको पुकारो। अगर तुम इसे शान्तिके साथ और दृढ़ता तथा धैर्यपूर्वक कर सको तो अन्तमें बाह्य प्रकृतिकी इस आदतके ऊपर तुम्हारे आन्तर संकल्पकी विजय अवश्य होगी।

*

तुमने जिन छोटी-छोटी राजस-प्राणिक प्रवृत्तियोंको गिनाया है वे बहुत कम महत्वकी हैं। उन्हें इन अर्थोंमें हटाना है कि इन वस्तुओंके प्रति आसक्ति हट जाय; सत्ताके प्राणिक भागको उनके चले जानेके सम्बन्धमें स्वीकृति देनेके लिये शान्ति एवं तटस्थताके साथ तैयार रहना होगा साथ ही उन्हें केवल तभी ग्रहण करना होगा जब उन्हें भगवान् (तुम्हारी) किसी मांग, या दावे या लगावके बिना ही स्वेच्छा पूर्वक दें, परन्तु वैसे इनके सम्बन्धमें बहुत गम्भीर कोई बात नहीं।

इनमें एक ही गंभीर चीज है, यौनप्रवृत्ति। उसपर विजय प्राप्त करनी ही होगी। पर यदि इसकी उपस्थितिसे उद्विग्न होनेके स्थानपर तुम आन्तर-सत्ताको इससे पृथक् करके इससे ऊपर उठ जाओ और इसे निम्न प्रकृतिकी कमजोरीके रूपमें देखो तो इसपर सुगमतासे विजय प्राप्त होगी। यदि तुम आन्तर सत्तामें पूर्ण उदासीन रहते हुए अपनेको इससे जुदा कर सको तो यह

तुम्हें अधिकाधिक ऐसी कोई वस्तु लगने लगेगी जो तुम्हारे लिये विजातीय है, जिसे प्रकृतिकी बाहरी शक्तियोंने तुमपर थोपा है। तब इसे हटाना अधिक आसान हो जायगा।

*

कामावेगका यह कष्ट दूर होनेके लिये बाध्य है अगर तुम इससे छुटकारा पानेके लिये वास्तवमें उत्सुक होओ। कठिनाई यह है कि तुम्हारी प्रकृतिका वह भाग (विशेषकर, निम्नप्राण और अवचेतना जो नींदमें सक्रिय रहती है) उन वृत्तियोंकी स्मृतिको बनाये रखता है और उनसे आसक्त रहता है और तुम उन सब भागोंको खोलते नहीं और उनकी शुद्धिके लिये श्रीमांकी ज्योति और शक्तिको स्वीकार करनेके लिये उन्हें बाध्य नहीं करते। अगर तुम ऐसा कर पाते और शोक-संताप करना, परेशान होना और इन चीजोंसे छुटकारा पानेकी असमर्थताके विचारके साथ चिपके रहना छोड़कर अगर तुम स्थिर विश्वास और धीर संकल्पके साथ यह आग्रह करते कि वे दूर हो जायं, उनसे तुम अपने-आपको अलग कर लेते, उन्हें स्वीकार करना इन्कार कर देते या बिलकुल ही उन्हें अपना कोई भाग नहीं समझते तो वे कुछ समयके बाद अपनी शक्ति खो बैठते और नष्ट हो जाते।

*

अपनी प्रकृतिके इस मूल दोषसे छुटकारा पानेमें जो तुम कठिनाई अनुभव करते हो वह तबतक बनी रहेगी जबतक तुम एकमात्र या प्रधानतया अपने मन और मानसिक संकल्पके बलके द्वारा ही और अधिक-से-अधिक एक अनिर्दिष्ट और नैर्व्यक्तिक भागवत शक्तिको अपनी सहायताके लिये पुकारकर अपने प्राणमय भागको परिवर्तित करनेका प्रयास करते हो। यह एक पुरानी कठिनाई है जिसे स्वयं जीवनमें कभी पूर्ण रूपसे हल नहीं किया गया है, क्योंकि कभी ठीक तरीकेसे इसका सामना नहीं किया गया। बहुतसे योग-मार्गोंमें इससे बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वहां रूपान्तरित जीवन प्राप्त करना नहीं, बल्कि जीवनसे दूर भागना ही लक्ष्य है। जब किसी प्रयासका उद्देश्य यही है तब इतना ही पर्याप्त हो सकता है कि किसी मानसिक और नैतिक दबावके द्वारा प्राणको नीचे दबाये रखा जाय अथवा उसे शान्त कर दिया जाय और एक प्रकारकी नींद और निस्तब्धताके अन्दर पड़ा रहने दिया जाय। कुछ

लोग ऐसे भी होते हैं जो इस वृत्तिको बेलगाम दौड़ने और अगर यह खतम हो सके तो इसे खतम हो जाने देते हैं और वे स्वयं ऐसा मानते हैं कि वे इससे निर्लिप्त और बेलाग रहते हैं; क्योंकि उनके मतानुसार केवल पुरानी प्रकृति ही एक अतीत प्रेरणावश दौड़ रही होती है और वह भी शरीरपात होनेपर बन्द हो जायगी। जब इनमेंसे कोई भी समाधान कार्यतः सिद्ध नहीं होता तब साधक कभी-कभी महज द्विधा-विभक्त आन्तरिक जीवन बिताने लगता है, उसका जीवन अन्ततक एक ओर उसकी आध्यात्मिक अनुभूतिमें और दूसरी ओर उसकी प्राणगत दुर्बलताओंमें बंटा रहता है और वह अपने उत्तम भागका अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है और बाहरी सत्ताका जहांतक सम्भव होता है, कम-से-कम उपयोग करता है। परन्तु इनमेंसे कोई भी पद्धति हमारे उद्देश्यके लिये पर्याप्त नहीं है। अगर तुम अपनी प्राणगत वृत्तियोंपर सच्चा प्रभुत्व प्राप्त करना चाहते हो और उन्हें रूपान्तरित करना चाहते हो तो वह तभी किया जा सकता है जब तुम अपने हृत्पुरुषको, अपने अंतरात्माको पूर्ण रूपसे जागने दो, उसे अपना राज्य स्थापित करने दो और सबको भागवत शक्तिके स्थायी स्पर्शकी ओर खोलकर उस (हृत्पुरुषको) अपनी स्वाभाविक विशुद्ध भक्ति, अनन्य अभीप्सा और भागवत वस्तुओंके प्रति होनेवाले अपने अखण्ड एकनिष्ठ आवेगको अपने मन, हृदय और प्राण-प्रकृतिपर स्थापित करने दो। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ नहीं है और किसी अधिक सुगम मार्गके लिये छटपटानेसे कोई लाभ नहीं। नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

*

यही कारण है कि प्राणिक यौन कठिनाईसे छुटकारा पाना सबसे अधिक कठिन है—यहांतक कि जो लोग सचाईके साथ इसके अधिक स्थूल रूपको छोड़ चुके हैं वे भी इस आवेगके प्राणिक रूपके वशमें हो सकते हैं। परन्तु यह हानिकारक है क्योंकि यह ऐसी शक्तियोंकी सूक्ष्म घुसपैठके लिये अनुमति देता है जो साधनाके मार्गमें बाधक होती हैं। यदि प्राणको पूर्णतया पवित्र और दिव्य प्रेम और आनन्दको धारण करनेमें समर्थ होना हो तो व्यक्तिको इनसे छुटकारा पाना ही होगा।

*

मन और उच्चतर प्राणके इससे विमुख होनेके बाद भी "प्रत्युत्तर" प्राणमय

स्थूल चेतनामें चिरकाल तक बना रहता है। यह वस्तु मैंने उन मनुष्योंमें पायी है जो मानसिक और भावुक रूपसे बिलकुल सच्चे थे। बहुत थोड़े लोग ही इससे आसानीसे मुक्त होते हैं परन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम है। पर 'इसमें क्या नुकसान है' के आधारपर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता— मन और उच्चतर प्राणको फंसाये रखनेके लिये निम्न प्राणका यह एक प्रयास है। जब तक यौन प्रत्युत्तरको केवल तुममेंसे ही नहीं, किन्तु 'दोनों' मेंसे बाहर नहीं निकाल दिया जाता तबतक नुकसानकी सदा ही गुँजाइश रहेगी।

*

यौन-प्रेरणा एक ऐसी वस्तु है जो पूरी तरह कब्जा जमानेंकी चेष्टा करती है और निरोध या नियन्त्रणके लिये कोई अवकाश नहीं रहने देती। इसमें अस्थायी अधिकार जमा लेनेकी एक ऐसी शक्ति है जो किसी अन्य आवेग या प्राण प्रवृत्तिमें उतनी मात्रामें नहीं है, यहातक कि उस क्रोधसे भी अधिक, जिसका नम्बर इसके बाद आता है। यही कारण है कि इससे छुटकारा पाना इतना कठिन है—क्योंकि जब मन या उच्चतर प्राण इससे इनकार कर देता है तब भी प्राणमय भौतिक सत्ता इंस अधिकार जमानेवाली शक्तिको अनुभव करती है और उसमें इसकी प्रेरणाके प्रति निष्क्रिय रहनेकी एक गहरी वृत्ति होती है।

*

(काम-भावके) अन्दर आनेका अर्थ है तुम्हें अधिकारमें कर लेना जिससे तृप्तिकी ओर धकेला जा सके। बाहरका दबाव, चाहे कितनी ही तीव्रतासे अनुभव क्यों न हो रहा हो, इसका नाम अन्दर आना नहीं है।

*

कामवृत्तिका उपद्रव केवल तभीतक जटिल होता है जबतक उसे मन और प्राण-संकल्पकी स्वीकृति प्राप्त होती है। अगर मनसे उसे निकाल दिया जाय, अर्थात् अगर मन स्वीकृति देना इन्कार करे, पर प्राण-भाग उससे प्रभावित हो तो यह प्राणमय वासनाकी एक विशाल लहरके रूपमें आती है और मनको जबर्दस्ती अपने साथ बहा ले जानेकी कोशिश करती है। अगर इसे उच्चतर

प्राणसे, हृदयसे और क्रियाशील स्वत्वकामी जीवनी-शक्तिसे भी निकाल दिया जाय तो यह निम्न प्राणके अन्दर आश्रय लेती है और वहां छोटी-छोटी सूचनाओं और वेगोंके रूपमें प्रकट होती है। फिर निम्न प्राणके स्तरसे भगा देनेपर वह और भी नीचे अन्धकारमय और जड़वत् पुनरावर्तनशील शरीर-भागमें चली जाती है और उसकी क्रियाके फलस्वरूप कामकेंद्रमें स्पन्दनका अनुभव होता है तथा कामसम्बन्धी सूचनाओंका प्रत्युत्तर यन्त्रवत् चला करता है। फिर वहांसे भी निकाल देनेपर यह और भी नीचे अवचेतनामें चली जाती है और स्वंप्नके रूपमें या स्वप्नके विना भी स्वप्नदोषके रूपमें ऊपर आती है। परन्तु चाहे जहां कहीं वह क्यों न हट जाय, वह फिर भी कुछ समयतक उसी स्थानको अपना आधार या आश्रय बनाकर दुःख पहुँचाने और उच्चतर भागोंकी स्वीकृति पुनः अधिकृत करनेकी चेष्टा करती है और उसकी यह चेष्टा तबतक चलती रहती है जबतक उसपर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त हो जाती और वह अपने चारों ओरकी या आसपासकी उस चेतनासे भी नहीं निकाल दी जाती जो साधारण या विश्व-प्रकृतिके अन्दर हमारा अपना ही प्रसारित रूप है।

*

क्या शरीर यौन-विचारों और कामनाओंको स्वीकार नहीं करता? यदि ऐसा है तो तुम्हें इन्हें बाहरी अथवा अधिक-से-अधिक अवचेतनमें स्थित समझकर अस्वीकार करनेका अधिकार है। क्योंकि केवल वही चीज अब भी हमारी कही जा सकती है जिसे हमारी सत्ताका कोई भाग स्वीकार करता है, सहायता देता है, जिसमें वह रस लेता है या जिसे वह अब भी यंत्रवत् उत्तर देता है। अगर हमारा कोई भी भाग ऐसा नहीं है तो वह चीज सामान्य प्रकृतिसे सम्बन्ध रखती है हमसे नहीं। निःसन्देह वह लौटती है और अपने खोये हुए प्रदेशपर अधिकार करनेका प्रयत्न करती है परन्तु यह बाहरका आक्रमण है। इन वस्तुओंका नियम यह है कि इन्हें वैयक्तिक चेतनासे बाहर भगाना होगा। मन और उच्चतर प्राण द्वारा अस्वीकृत होनेपर भी वे निम्न प्राण और देहसे चिपके रहनेका प्रयत्न करती हैं। निम्न प्राण जब उन्हें अस्वीकृत कर देता है तो वे स्थूल इच्छाके सहारे अब भी शरीरमें डटी रहती हैं। शरीरसे अस्वीकृत होनेपर वे पारिपार्श्विक चेतनामें चली जाती हैं (कभी-कभी अवचेतनमें भी चली जाती हैं और स्वप्नोंके रूपमें उठती हैं) और वहांसे हमला करनेका प्रयत्न करती हैं। पारिपार्श्विकसे मेरा मतलब एक तरहके चारों तरफके वाता-वरणसे है जिसे हम अपने साथ रखते हैं और जिसके द्वारा हम विश्वकी शक्तियों-

के साथ व्यवहार करते हैं। वहांसे अस्वीकृत होनेपर अन्तमें वे इतनी दुर्बल हो जाती हैं कि बाह्य प्रेरणामात्र रह जाती हैं। फिर वह स्थिति भी नहीं रहती और वे समाप्त हो जाती हैं और तिरोहित हो जाती हैं।

*

तुम्हारे मार्गमें कामावेग ही मुख्य कठिनाई है। यदि यह अड़ा हुआ है तो इसका कारण यह है कि तुम्हारी सत्ताका कोई हिस्सा अब भी उससे चिपटा हुआ है तथा तुम्हारा मन और संकल्प दुविधामें पड़े हुए हैं और उन्होंने इसे जारी रखनेके लिये थोड़ा बहुत किसी तरहका समर्थन खोज निकाला है। मन और उच्चतर प्राणके लिये भी पहली चीज है अपनी स्वीकृति बिलकुल खींच लेना, यदि ऐसा हो जाय तो यह कामावेग बाहरसे भौतिक सत्तापर केवल यन्त्र-वत् ही लौटता रहता है और अन्ततोगत्वा एक ऐसी सक्रिय स्मृति मात्र रह जाता है जो किसी भी भागमें किसी प्रकारका स्वागत पानेमें समर्थ न होनेपर विलीन हो जायगी।

*

यदि सारी चेतना जाग्रत होकर अपनी गुप्त क्रियाओंके विषयमें सचेतन हो जाय तभी इस प्रकारकी यौन-प्रतिक्रियाओंसे बचा जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि तुम अन्य लोगोंसे अधिक खराब हो किन्तु यह कि यौन-तत्व सब मनुष्योंमें सक्रिय या प्रसुप्त, सन्तुष्ट या अवरुद्ध रूपमें विद्यमान है। यह केवल प्रकृतिके "सभी" भागोंमें आध्यात्मिक जागरण द्वारा ही जीता जा सकता है।

*

कामावेगने अवचेतन सत्तामें गहरी जड़ें जमाई हुई हैं और उससे छुटकारा पाना कठिन है। केवल भौतिक चेतनाका पूर्ण रूपान्तर ही इसे सम्पन्न कर सकता है—सिवाय उन थोड़ेसे लोगोंके जो इसके साथ दृढ़तासे नहीं बंधे हैं।

*

निःसन्देह भौतिक सत्ताको ही यौन सुझावोंका अत्यन्त स्थूल ढंगसे तुरन्त

प्रत्युत्तर देनेकी आदत होती है। तुम जो कर रहे हो वह ठीक है। क्योंकि तुम इन्हें जाग्रत अवस्थामें नियन्त्रित कर रहे हो इसलिये ये रातको बाहर निकल आते हैं। इनसे भी छुटकारा पाना है।

*

हृदयमें एकाग्र होने और अवरोधोंसे विचलित न होनेके लिये आग्रह बनाये रखो। सुझावोंको "कभी नहीं" स्वीकार करना चाहिये—क्योंकि स्वीकृति द्वारा उन्हें लौटने या जारी रहनेका अधिकार मिल जाता है। यदि मन एवं प्राणमें कामभावको कोई प्रत्युत्तर न मिले और सत्तामें जननकेन्द्रके संवेदनको अलग-अलग और आश्रयहीन कर दिया जाय तो इसे पृथक् रूपसे जीता जा सकता है। इसलिये, उसके लिये मानसिक स्वीकृति या प्राणिक प्रत्युत्तर नहीं देना होगा—यह पहला आवश्यक कदम है।

*

कामभाव भौतिक केन्द्रके साथ दृढ़तासे जुड़ा हुआ है किन्तु निम्नतर प्राणके साथ भी—निम्नतर प्राण ही इसे इसकी अधिकांश तीव्रता और उत्तेजना प्रदान करता है। इसे निम्नतर प्राणसे काटकर अलग किया जा सकता है और तब यह शुद्ध रूपसे यांत्रिक ढंगकी एक ऐसी भौतिक क्रिया बन जाता है जिसमें यांत्रिक स्वभाववाले लोगोंको छोड़कर और किसीके लिये कोई प्रबल आकर्षण नहीं रह जाता। यदि भौतिक केन्द्र भी मुक्त हो जाय तो कामावेग समाप्त हो जाता है।

*

निःसन्देह प्राण ही इस (कामक्रीड़ा) को उसकी तीव्रता और चेतनाको पकड़े रखनेकी ताकत प्रदान करता है।

*

यह भौतिक केन्द्र है—काम व्यापार केवल उसकी एक क्रिया है। स्व-भावतः यदि काम (सौन्दर्य और आनन्दको जगह देनेके स्थानपर) स्वयं सक्रिय

हो जाय एवं निम्नतर क्रियाएं क्रियाशील हो जायें तो यह (काम भाव) उच्चतर चेतनाके प्रतिष्ठित होनेमें बाधा उपस्थित करता है। किन्तु यदि आधारमें जरा भी उद्घाटन हो तो उच्चतर चेतना निम्नतर क्रियाओंके निश्चित रूपसे चले जानेसे पहले भी नीचे उतर सकती है—तब इसे उन क्रियाओंको उनके स्थानसे हटानेका काम पूरा करना होता है।

*

प्राणायाम और आसन-जैसे दूसरे शारीरिक अभ्यासोंके द्वारा काम-वासना निर्मूल हो ही जाती हो ऐसी बात नहीं—कभी-कभी तो इन क्रियाओंके कारण शरीरमें प्राणशक्ति अत्यन्त अधिक मात्रामें बढ़ जाती है और उसके कारण उस काम-प्रवृत्तिकी शक्ति भी आश्चर्यजनक ढंगसे बढ़ जाती है जिसपर, शरीरगत जीवनके मूलमें होनेके कारण, विजय पाना बराबर ही कठिन होता है। बस, करनेकी बात यही है कि प्रवृत्तियोंसे अपने-आपको अलग कर लिया जाय, अपने आन्तर आत्माको खोज निकाला जाय और उसीमें निवास किया जाय; फिर ऐसा कभी नहीं मालूम होगा कि ये सब वृत्तियां अपनी हैं, बल्कि ऐसा मालूम होगा कि बाहरी प्रकृतिने आन्तर आत्मा या पुरुषके ऊपर इन्हें ऊपर-ही-ऊपर आरोपित कर दिया है। उस समय बड़ी आसानीसे उनका त्याग किया जा सकता है या उन्हें नष्ट किया जा सकता है।

*

शरीरको कष्ट पहुँचाना कामप्रवृत्तिको दूर करनेका कोई इलाज नहीं है, यद्यपि इससे कुछ दिनोंके लिये वह अलग हो सकती है। वास्तवमें प्राण और विशेषकर प्राणमय शरीर ही इन्द्रियानुभवको सुख या दुःखके रूपमें ग्रहण करता है।

आहार कम कर देनेसे साधारणतः कोई स्थायी फल नहीं होता। इससे शरीर या प्राणमय शरीरकी पवित्रताका एक महत्तर भाव आ सकता है, यह आधारको हलका बना सकता है और कुछ विशिष्ट प्रकारके तमस्को कम कर सकता है। परन्तु कामप्रवृत्ति अल्पाहारको भी बहुत अच्छी तरह अपने अनुकूल बना सकती है। वास्तवमें किसी स्थूल उपायके द्वारा नहीं, बल्कि चेतनामें परिवर्तन साधित करके ही इन सब चीजोंको पार किया जा सकता है।

*

सबसे उत्तम यह लगता है कि ऊपर उठनेकी क्रियाको पूरा कर लिया जाय और यदि तुम उसमें विशालता, शान्ति, स्थिरता, नीरवता अनुभव कर सको और वह सब चक्रों द्वारा शरीरमें नीचे उतर सके तथा भौतिक सत्ता-की उस अवस्थामें शक्तिकी क्रिया हो सके तो प्राणमय भौतिक कठिनाईका सामना किया जा सकता है। व्यक्तिगत तपस्या द्वारा इसे करनेका यत्न मनुष्यको कुछ हदतक ही आगे ले जा सकता है, यह काम आदिको बाहर निकाल सकता है, पर अधिकतर लोगोंमें आक्रमणके द्वारा बारंबार आगमनको तबतक नहीं रोक सकता — जबतक तपस्याकी शक्ति इतनी महान् और अविच्छिन्न न हो कि इन शक्तियोंको अवसर ही न मिले। परन्तु, मैं समझता हूँ कि, इन चीजोंको उच्चतर चेतनाके अवतरण द्वारा ही बाहर निकाला जा सकता है — जो इसमें स्वयंसिद्ध स्थिरता एवं विशालता, देहके सभी भागोंको उसके कोषाणुओं तक ओतप्रोत करनेवाली उच्चतर शक्ति और आनन्दको लाती है। यह बिलकुल निश्चित है कि इन तीनोंके एक साथ रहनेपर शरीरमें कामवासनाके लिये कोई स्थान नहीं रह सकता — यदि काम-वासना आये तो भी उसका तुरन्त ऐसा काया पलट हो जायेगा कि वह काम-वासना ही नहीं रहेगी।

*

यदि यह (शान्ति और नीरवता) सर्वत्र स्थापित हो जाय, तो यह पवित्रता-को लाती है और पवित्रता यौन सुझावोंको दूर फैंक देती है।

*

पवित्रताकी एक शक्ति है, नीतिवादीकी पवित्रता नहीं, किन्तु सत्ताके मूल उपादानमें रहनेवाली आत्माकी एक तात्विक पवित्रता। जब वह प्राप्त होती है, तो यौनलहरें या तो पास ही नहीं फटकती अथवा बिना कोई आवेग उत्पन्न किये, बिना किसी जगहका स्पर्श किये गुजर जाती हैं।

*

अवश्य, तुम्हें इस विकृत आदतको छोड़ देना होगा जो तुम्हारी निराशा, प्राणिक कमजोरी आदिके मुख्य कारणोंमेंसे एक है। ऐसी एक भी चीज नहीं है जिसमें आधारको उलट-पुलट करने और कमजोर बनानेके लिये इससे अधिक

शक्ति हो। यदि केवल मनमें ही नहीं किन्तु अपने प्राणमें भी इसे छोड़ देनेका तुमने दृढ़ निश्चय किया होता तो यह बहुत पहले ही अदृश्य हो जाती।

*

इस विकृत आदतसे छुटकारा पा सकनेके लिये केवल एक ही मार्ग है —एक प्रबल मानसिक नियन्त्रणको स्थापित करना और इस प्रकार गलत क्रियासे छुटकारा पाना। यह सत्य नहीं है कि इसे जीता नहीं जा सकता; इसके विपरीत, तुम इसे कुछ समयके लिये रोके रख सके, यह तथ्य बताता है कि तुम इसे जीत सकते हो। यह वापिस इसलिये आई है कि ये चीजें किन्हीं वैश्व प्राण-शक्तियोंकी एक क्रिया है जो व्यक्तिगत आधारमें अभ्यस्त गलत उत्तरके लिये एकबार अनुमति दिये जानेपर उस रूपमें जारी रहनेकी प्रवृत्ति रखती हैं, और यदि उन्हें निकाल दिया जाय तो भी बार-बार लौटनेकी कोशिश करती हैं। तुम्हारे मनने उनका परित्याग कर दिया है, परन्तु तुम्हारी प्राणिक प्रकृतिमें कोई चीज — वह हिस्सा जो कि सीधा वैश्व प्राण-शक्तिको प्रत्युत्तर देता है — अब भी इसमें रस लेती है और उसने गलत प्रत्युत्तरकी सामर्थ्य और कामनाको कायम रखा है। संकल्पका एक निश्चयात्मक और आग्रहपूर्ण यत्न अन्ततः कामनाके परित्यागको और आखिरकार प्रकृतिके इस भागपर भी क्रियाकी किसी यांत्रिक आदतके परित्यागको बलात् लागू कर सकता है। तुम्हें केवल बारंबार पतनोंसे हतोत्साह नहीं होना चाहिये, तुम्हारे संकल्पको इस आदतसे अधिक दृढ़ बने रहना होगा और तबतक अडे रहना होगा जबतक पूर्ण विजय न प्राप्त हो जाय।

*

यौन और प्राणिक आकर्षणोंका सम्पूर्ण आन्तरिक परित्याग ही आवश्यक है अर्थात् समग्र निम्नतर प्राण मात्रके द्वारा परित्याग — बाह्य परित्याग केवल तभी प्रभाव उत्पन्न कर सकता है जब यह आन्तरिक परित्याग उसे सुदृढ़ करनेके लिये आगे आता है। साधारणतया लोग बाह्य परित्यागके लिये ही यत्न करते हैं क्योंकि अन्यथा (यदि इन वस्तुओंको प्रश्रय दिया जाय तो) बहुत करके आन्तरिक परित्याग न आये, कारण प्राणिक प्रवृत्ति सदा ही बाह्य क्रिया द्वारा पुष्ट होती रहती है — किन्तु यदि बाह्यको अस्वीकार कर दियां जाय तो संघर्ष आन्तरिक कामना तक ही सीमित रहता है और उसका फैसला

वहीं हो जाता है। स्वभावतः बाह्य त्याग अपने-आपमें मुक्त नहीं करता।

*

अवश्य ही व्यक्तिको काम-विषयक अनुभव या विचारके बिना ही स्त्रियोंके सम्पर्कमें आनेमें समर्थ होना चाहिये; किन्तु सम्पर्क और परीक्षाके लिये अवसर ढूँढ़ना कोई तरीका नहीं, यदि प्रभुत्व पूर्ण न हो तो यह बड़ी आसानीसे दूसरी ओर मुड़ जाता है। वेदन और विजय अवश्य ही एक आन्तर प्रक्रिया होनी चाहिये —यहां तान्त्रिक बाह्य पद्धतिका निर्देश नहीं किया गया।

*

यह सब इसलिये होता है कि समीप जानेमें प्राण कामभावके प्रति सचेतन हो जाता है और तुरन्त ही "नर नारी"की वृत्ति धारण कर लेता है। उससे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य स्त्रीको केवल एक मानव सत्ताके रूपमें देख सके और अनुभव कर सके। यह कठिन है और इसके लिये एक विशेष प्रशिक्षणकी आवश्यकता है; क्योंकि यदि मन इस स्थितिको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाय तो भी, प्राणपर भरोसा नहीं रखा जा सकता और व्यक्तिको इस विषयमें चौकन्ना रहना होगा कि यह सहसा या लुक-छिपकर कामोपभोगके प्रति अपने पक्ष-पातके साथ स्त्री-पुरुषके उस सम्बन्धके अन्दर न आ घुसे।

*

अच्छा होता कि तुम इसके प्रभावसे मुक्त हो जाते। किसी स्त्री या स्त्रीके चित्रको यौनसंवेदनका अनुभव किये बिना न देख सकनेसे काम नहीं चलेगा —तुम्हें उससे मुक्त होना होगा।

*

यदि व्यक्ति बिना कामनाके केवल स्त्रियोंकी ही नहीं, किन्तु सब सुन्दर वस्तुओंकी प्रशंसा करे — तो इससे कोई नुकसान नहीं होगा। परन्तु विशेषकर स्त्रियोंके साथ इसे लागू करनेपर यह यौनआकर्षण एक अवशेष होता है।

*

अन्य लोगोंके साथ विशेषकर स्त्रियोंके साथ, मिलनेके लिये निम्नतर प्राणमें बल एवं पवित्रता तथा हृदयमें विशालता होना सर्वोत्तम अवस्था है, और यदि यह वहां सदैव विद्यमान रहे तो काम-भाव शायद ही अन्दर झांक सके।

*

ऐसा प्रायः होता है कि जब प्राणकी (काममें) वास्तविक रतिको (बाह्य आदान-प्रदान, स्पर्श या संपर्कको) त्याग दिया जाता है, तब भी उसकी कल्पना जारी रहती है। यदि इसे जीता जा सके तो सब चीजें जीती जाती हैं। दूसरी ओर बाह्य सम्भोग इस प्रक्रियाको जीवन्त रखता है। बाह्य परित्यागका यही उद्देश्य है। यदि परित्यागकी आवश्यकताके बिना किसी वस्तुसे छुटकारा मिल सके तो और भी अच्छा।

*

इस बातका ख्याल रखना चाहिये कि यौन या कामोद्दीपक कल्पना अपनेको आध्यात्मिक सत्यके रूपमें प्रस्तुत करते हुए चेतनापर अधिकार न कर लें।

*

संभोग छोड़ देनेपर यह (काम-भाव) दो रूपोंमें बदला जा सकता है —स्वप्न और कल्पनामें। स्वप्नका कोई अधिक महत्व नहीं जबतक यह जाग्रत मनको प्रभावित न करे, ऐसा करनेकी उसे जरा भी आवश्यकता नहीं; इसके सिवाय इसे निरुत्साहित किया जा सकता है, यदि इसे तृप्त न किया जाय तो अन्तमें यह मुरझा कर नष्ट हो जाता है। संकल्पकी तपस्या द्वारा ही कल्पनाओंसे छुटकारा मिल सकता है, कल्पनाओंको घोड़े नहीं दौड़ाने देना चाहिये, उनके उत्पन्न होते ही उन्हें काट कर फैंक देना चाहिये। वे तब अत्यधिक सुगमतासे आती हैं जब जागनेके बाद व्यक्ति बिस्तरेमें तामसिक स्थितिमें लेटा होता है। व्यक्तिको उन्हें या तो जड़ताको झाड़ फैंकने या मनको विचार रहित करके फिरसे सो जानेके द्वारा छिन्न-भिन्न कर देना चाहिये। दूसरे अवसरोंपर हमें मनको दूसरे विषयमें मोड़कर रोकनेमें समर्थ होना चाहिये।

*

काम सम्बन्धी बातोंके लिये ये सबसे अधिक खतरनाक घड़ी होती है जब जागनेके तुरन्त बाद मनुष्य बिस्तरेमें पड़ा रहता है; या तो उसे, समय हो तो, फिरसे सो जाना चाहिये या फिर स्वस्थ वस्तुओंपर मन लगाना चाहिये।

*

यह परिवर्तन ठीक है। कामुक कल्पनाके आनेके लिये इससे अधिक खतरनाक कोई अवस्था नहीं है कि मनुष्य इस प्रकार किसी प्रवृत्ति या अनुभवमें व्यस्त रहे बिना अर्द्धजाग्रत या फिर शिथिल होकर तामसिक अवस्थामें बिस्तरेमें पड़ा रहे।

*

निठल्लापन एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें कामभाव आसानीसे उभर आता है।

*

यही कठिनाई है। कल्पनाका अर्थ है स्थूल या फिर प्राणिक मनकी सहमति। अन्यथा (काम) संवेदन प्रायः भौतिक कारणोंसे ही उत्पन्न होता है और यदि मनके किसी हिस्सेकी इस स्वतःचालित स्वीकृति द्वारा इसे समर्थन न मिलता तो इनकी बारंबार लौटनेकी आदत बहुत पहले ही क्षीण हो जाती।

*

उदास या हतोत्साह होनेका कोई कारण नहीं। तुम प्रकृतिकी जिन त्रुटियोंकी बात कहते हो वे निम्नतर प्राण और बाह्य सत्ताकी आदतें हैं; यदि तुम उन्हें पूरी तरह और साफ-साफ पहचान लो तथा उन्हें ढूंढ़ निकालो और जब कभी वे तुमपर कार्य करें या करनेकी चेष्टा करें तो उन्हें अस्वीकार कर दो, तो वे समय आनेपर लुप्त हो जायेंगी। यौनकामनाएं यह प्रदर्शित करती हैं कि अवचेतनमें अब भी पुराने संस्कार, क्रियाएं, आवेग विद्यमान हैं; सत्ताके सचेतन भागोंको पूर्णतया स्वतन्त्र बनाओ और अवचेतनमें उच्चतर चेतनाके पूर्ण अव-तरणके लिये अभीप्सा और संकल्प करो जिससे निद्रा और स्वप्नमें भी तुम्हारे

भीतरकी कोई वस्तु सचेतन एवं सावधान रहे और जब ये वस्तुएं कोई आकार ग्रहण करनेकी कोशिश करें, उस समय इनका परित्याग कर दे।

*

स्वभावतः ही यदि तुम इन (काम सम्बन्धी) वस्तुओंको पढ़ो तो वे मनमें प्रविष्ट होकर अवचेतनमें चली जाती हैं जहां वे अपना संस्कार छोड़ देती हैं। यदि चेतना कामावेगसे मुक्त न हो तो यह संस्कार अवचेतनसे उभर कर मनमें क्रिया कर सकता है।

*

मैंने तुमसे पहले ही कह दिया है कि इन स्वप्नों और निद्राकी दुर्घटनाओंसे उद्विग्न न हो। ये सब (तुम्हारे अन्दरसे नहीं पर) बाहरसे आते हैं और कोई चीज उस अवचेतनामेंसे प्रत्युत्तर देती है जो उन वस्तुओंको लम्बे समयतक रखे रखती है जिन्हें सचेतन सत्ता तज देती है। यह अवचेतन हिस्सा केवल योगकी परवर्ती अवस्थाओंमें ही सचेतन और मुक्त किया जा सकता है। जाग्रत चेतनाको ही तुम्हें यौनक्रियाओं और सुझावोंसे मुक्त रखना होगा। यदि तुम ऐसा करो तो आगे जाकर अवचेतन हिस्सा भी आसानीसे मुक्त किया जा सकता है।

*

स्वप्न-दोष अवचेतनासे आये यौन-संस्कारोंके अनिच्छापूर्वक हुए उफान हैं; अधिकतर लोगोंको समय-समयपर ये तब भी होते हैं जब वे कामोपभोग नहीं कर रहे होते यद्यपि इसके होनेका समय भिन्न-भिन्न अर्थात् एक सप्ताह, एक पक्ष, एक महीनेसे लेकर तीन या चार महीनेतक या उससे कुछ कभी भी हो सकता है। इसका प्रायः बारबार होना या तो ऐसी यौन कल्पनाओंमें डूबे रहनेको सूचित करता है जो जननेन्द्रियको उत्तेजित करती हैं या फिर भूत-कालके अतिभोगके कारण उस अंगमें हुई स्नायविक निर्बलताको। कुछ लोगोंको रातके समय सोनेसे पहले अपने शरीरपर ऐसे संकल्प बलका प्रयोग करनेसे, जिससे ये स्वप्न न आयें — लाभ हुआ है — यद्यपि हो सकता है कि इससे प्रारम्भमें सफलता न मिले, तो भी यह कुछ समयके बाद उस अवचेतन पर

जहांसे स्वप्न उत्पन्न होते हैं, किसी निरोधक शक्तिको स्थिर करनेके द्वारा अधिकांश दृष्टांतोंमें अपना प्रभाव दिखाता ही है। जहांतक बालकोंके भोगलिप्त होनेका प्रश्न है, यह आनुवंशिक वस्तु नहीं है किन्तु कोई ऐसी वस्तु है जो वह कुसंगसे सीखता है और ये बालक कभी-कभी बहुत छोटी उम्रमें ही इस तरह बिगड़ जाते हैं।

*

स्वप्नमें वीर्यपातको इतना अधिक महत्व देना भूल है—ऐसा हरेकके साथ होता है। अवचेतनकी एक अपनी निजी क्रिया होती है और उसमें नियन्त्रणका अभाव एक ऐसी चीज है जिससे व्यक्ति तभी छुटकारा पा सकता है जब उसमें पूरा प्रकाश नीचेतक उतरता है। अधिक-से-अधिक व्यक्ति अवचेतनमें (कामकेन्द्रमें या स्वयं जननेन्द्रियमें) संकल्प बलका प्रयोग करके इस प्रमुख वस्तुसे निबट सकता है, जिससे निद्राके समय अवचेतनमें भी कोई ऐसी वस्तु हो जो प्रतिक्रिया करे। इस उपाय द्वारा बहुतसे लोग इसकी पुनरावृत्तिको कम करनेमें और इससे लगभग मुक्त होनेमें समर्थ हुए हैं किन्तु, अन्य लोगोंको कुछ कम सफलता मिली है। एक व्यक्तिके दृष्टांतमें तो यह प्रति पन्द्रहवें दिन होता था और वह संकल्प लगानेपर भी बना रहा।...जहांतक जागरणके समयकी कठिनाईका प्रश्न है उसे बहुत अधिक महत्व न दो। साक्षात्कारके लिये की जानेवाली साधना के भावात्मक पक्षपर अधिक बल दो—उच्चतर चेतनाके काम-केन्द्रमें नीचे आनेपर ये चीजें क्षीण होकर विलीन हो जायेंगी। इसी बीच पहले इसे नियन्त्रित करके इससे यथासम्भव अधिक से अधिक मुक्त होना है।

*

इतना अधिक उदास हो जाने अथवा योगमें विफल होनेकी इस तरह कल्पनाएं करनेका कोई कारण नहीं। यह इस बातका बिलकुल चिह्न नहीं कि तुम योगके लिये अयोग्य हो। इसका मतलब बस इतना ही है कि सचेतन भागोंसे त्यक्त होकर कामावेगने अवचेतनाके अन्दर आश्रय ग्रहण किया है, सम्भवतः निम्नतर प्राणमय-भौतिक चेतना और नितान्त भौतिक चेतनाके अन्दर कहींपर आश्रय ग्रहण किया है जहां कुछ ऐसे स्थान हैं जो अभीतक अभीप्सा और ज्योतिकी ओर खुले नहीं हैं। जाग्रत चेतनामेंसे निकाल दी हुई चीजें

स्वप्नमें बार-बार आती हैं और यह साधन-कालमें होनेवाली एक बिलकुल साधारण बात है।

इसका इलाज है — (१) उच्चतर चेतनाको प्राप्त करना, उसकी ज्योति और उसकी शक्तिकी क्रियाओंको प्रकृतिके अन्धकारमय भागोंमें उतार लाना; (२) निद्राके समय उत्तरोत्तर अधिक सचेतन होना, उस आन्तर चेतनाको प्राप्त करना जो साधनासम्बन्धी क्रियाके विषयमें नींदमें भी उतना ही सचेतन रहती है जितना जगे रहनेपर रहती है; (३) जाग्रत अवस्थाके संकल्प और अभीप्साके द्वारा नींदमें भी शरीरको प्रभावित करना।

अन्तिम चीजको करनेका एक उपाय यह है कि सोनेसे पहले शरीरके अन्दर खूब सबल और सचेतन रूपसे यह भाव भर दिया जाय कि यह चीज नहीं होनी चाहिये। यह भाव जितना ही ठोस और स्थूल होगा और जितने ही सीधे तौरपर काम-केन्द्रके ऊपर निबद्ध किया जायगा उतना ही अच्छा होगा। सम्भव है कि एकदम आरम्भमें इसका तुरत कोई फल न हो अथवा सदा एक-जैसा न हो; पर प्रायः इस तरहका भाव, अगर तुम्हें मालूम हो कि उसे किस प्रकार बनाया जाता है तो, अन्तमें विजयी होता है; अगर वह स्वप्नको बन्द न भी कर सके तो भी वह अक्सर हमारे भीतर एक ऐसी चेतना जाग्रत कर देता है जो यथासमय विपरीत परिणामको नहीं होने देती।

बार-बार असफल होनेपर भी साधनामें अपने-आपको उदास होने देना भूल है। साधकको शान्त होना चाहिये, अपने प्रयासपर डटे रहना चाहिये और प्रतिरोधसे भी कहीं अधिक हठी — अधिक दृढ़ होना चाहिये।

*

जब जाग्रत चेतना लैंगिक कामनाओं और प्रवृत्तियोंमें रमण करना छोड़ चुकती है तब ये अवचेतनमें संस्कारों, स्मृतियों तथा अवदमित कामनाओंके रूपमें जा छिपती हैं और निद्रामें स्वप्नों तथा अनैच्छिक स्वप्नदोष (या निद्रामें होनेवाले वीर्यपात) के रूपमें प्रकट होती हैं। यदि स्वयं जाग्रत चेतना भी निर्मल न हो, अर्थात् यदि कोई स्थूल उपभोग न होते हुए भी मनमें कल्पनाएं अथवा प्राण या शरीरमें वासनाएं हों तो ये स्वप्न तथा वीर्यपात बार-बार हो सकते हैं। चाहे जाग्रत चेतना निर्मल हो तो भी अवचेतन संस्कार कुछ समयतक पुनः एकाएक उभर सकते हैं पर समय आनेपर वे क्षीण हो जाते हैं। कुछ लोग सोने से पहले अवचेतनपर या कामकेंद्रपर प्रबल निषेधक संकल्प या बलका प्रयोग करके इससे छुटकारा पानेमें समर्थ होते हैं; किन्तु हर कोई

इसमें सफल नहीं होता। मुख्य बात यह है कि जाग्रत चेतनामें ब्रह्मचर्यकी वर्द्धमान शक्ति प्राप्त करके कामुक चिन्तन, बातचीत, स्थूल लंपटता या आवेग पूर्ण रूपसे बहिष्कृत कर दिया जाय। अवचेतन अवशेष बादमें, जब कि मनुष्य उच्चतर चेतनाको यहां उतार लानेमें समर्थ होगा, नष्ट हो जायंगे या बाहर निकल जायंगे।

*

स्वप्नदोषोंको कम या समाप्त करनेके लिये सर्वप्रथम यह जरूरी है कि ब्रह्मचर्य "कायमनोवाक्येन" धारण किया जाय अर्थात् कामभावको शारीरिक क्रियाओंमेंसे ही नहीं किन्तु कामकी प्रवृत्तिको प्राणिक और शारीरिक चेतनामेंसे तथा यौन-विचारोंको मानसिक विचारों और कल्पनाओंमें एवं वाणीमेंसे बाहर निकाल दिया जाय और कामसम्बन्धकी चीजोंके विषयमें बात ही न की जाय। स्वप्न उस अवचेतनमेंसे उत्पन्न होते हैं जहां सब संस्कार और सहजप्रेरणाएं भरी हुई हैं और इनमेंसे कोई भी चीज अवचेतनको उत्तेजित करके उसका भंडार ऐसी चीजोंसे परिपूर्ण कर देती है जो स्वप्नमें उभर आती हैं। यदि व्यक्ति जाग्रत चेतनाको सर्वथा शुद्ध कर ले तो अवचेतनपर (विशेषकर सोनेसे पहले) संकल्प या दबाव डालनेसे कुछ समयके बाद यौन स्वप्न और वीर्य-पातको समाप्त किया जा सकता है।

*

यौन-विचारों और कल्पनाओं और कर्मोंके उस संपूर्ण त्यागके अलावा जो अवचेतन तक भी प्रयुक्त किया जाता है, मैं यौन-स्वप्नोंके लिये एक ही उपचार जानता हूँ। वह यह कि जितनी हो सके उतनी वास्तविक शक्तिका यौन केंद्र और अवयव पर प्रयोग करना। यह सोनेके समय किया जा सकता है तथा हर बार जब-जब मनुष्य जागे और फिर सोये तो बार-बार करे। परन्तु इसका प्रयोग करना सबके बसकी बात नहीं क्योंकि वे एक वास्तविक शक्तिके स्थानपर मानसिक संकल्पका प्रयोग करते हैं। (मानसिक संकल्प प्रभावोत्पादक हो सकता पर हमेशा नहीं)। इसके अतिरिक्त इस पद्धतिका प्रभाव तात्कालिक है, यह रोकती है परन्तु विरल अवस्थाओंको छोड़कर यह स्थायी उपचार नहीं करती। यह अवचेतनके यौन संस्कारोंको दूर नहीं कर सकती और निःसन्देह इसका अर्थ यौन-व्यापारका चिन्तन है यद्यपि है केवल नकारात्मक रूपमें ।

मैंने यह कहे जाते सुना है कि बहुत आगे बढ़े हुए योगी भी कम-से-कम छः महीनेमें एक बार ऐसे स्वप्न देखते हैं। मैं नहीं जानता यह कहांतक सत्य है या स्वयं योगी इस बारेमें क्या कहते हैं। परन्तु हृदयमें अंकित यौन संस्कार जीवनके अन्तसे बहुत पहले दूर किये जा सकते हैं और यहांतक कि अवचेतनकी बीजावस्था भी जो स्वप्नोंमें आती है, यद्यपि वह काफी चिपटनेवाली है, बिलकुल ऐसी नहीं है कि दूर न हो सके।

कुछ भी हो इस प्रकारके स्वप्न, यदि वे जल्दी नहीं आते, इतनी चिन्ताका कारण नहीं हैं—जितनी जाग्रतावस्था है उसे परिश्रमके साथ शुद्ध किया जाना चाहिये। यदि ऐसा किया जाता है तो कभी कभी वर्जन का स्वभाव स्वतः ही अवचेतनतक पहुँच जाता है जिससे जब स्वप्न आ रहा होता है तो स्वचालित निषेध उसे रोक देता है। मैं समझता हूँ इस प्रकारके शासनमें यौन-आवेग यदि नष्ट नहीं होगा तो वह बीजावस्थामें स्थायी रूपसे शान्त अवश्य हो जायगा और इस प्रकार व्यवहार क्षेत्रमें लुप्त हो जायगा।

*

ऐसे मामलोंमें सबसे पहली जरूरी चीज है पूर्णतया स्थिर रहना और इन कठिनाइयोंसे घबरा जानेसे इनकार कर देना। यदि ये उभरें तो मनुष्य-को इन्हें इस रूपमें ग्रहण करना चाहिये कि ये इसलिये उभर आती है कि इनसे निबट लिया जाय। यदि जागरण कालमें कोई वस्तु यौन-कठिनाइयोंको प्रोत्साहित नहीं करती तो ये स्वप्न या बिना स्वप्नके ही वीर्यस्राव अवचेतनमें सोये हुए संस्कारोंके उभरनेके कारण उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे उफान प्रायः तभी आते हैं जब शक्ति अवचेतनकी सफाईके लिये उसमें क्रिया कर रही होती है। यह भी सम्भव है कि वीर्यस्राव, विशेषकर जब स्वप्न न आये तब, विशुद्ध रूपसे स्थूल कारणोंसे हो, उदाहरणार्थ पेशाब रोकनेसे, मूत्राशयके पास टट्टीके दबावसे। किन्तु जो भी हो मूल बात है घबरा न जाना और इन वस्तुओंको बन्द करनेके लिये कामकेन्द्र या जननेन्द्रियपर शक्ति या संकल्प लगाना। यह ठीक सोनेसे पहले किया जा सकता है। यदि नियमित रूपसे किया जाय तो साधारणतया कुछ समय बाद इसका प्रभाव होता है। स्थूल अवचेतनापर संकल्प या शक्तिका एक स्थिर सामान्य दबाव डालना चाहिये। अवचेतना निरन्तर डटे रहनेके लिये प्रायः जिद कर सकती है, पर यह अपनेको जल्दी या धीरे सचेतन संकल्पके अनुकूल बना सकती है और बना भी लेती है।

*

तुम्हारे स्वप्न अधिकतर प्राणिक-भौतिक भूमिकापर आये थे। वहां यदि कोई यौन और अन्य प्रकारका स्थूल सम्पर्क हो जो कामकेन्द्रपर या ऐन्द्रिय-स्पर्शपर प्रबलतासे क्रिया करता हो तो यह किसी कामुकताको उभारे बिना ही विशुद्ध भौतिक (प्राणमय भौतिक भी नहीं) प्रकारकी यन्त्रवत् अन्धी और अचेतन क्रिया द्वारा वीर्यस्राव करवा सकता है। यौन-केन्द्रके बलवान बन जानेपर ही यह असम्भव बन जाता है।

*

यदि यह (वीर्यपात) सामान्य होता तो आधारको इतना अधिक उदास और दुर्बल क्यों बनाता? लोग हमेशा इस शक्ति हरणकी शिकायत करते हैं और यदि यह प्रायः होता हो तो गंभीर रूपसे उदास और तामसिक बन जाते हैं। निःसंदेह यह जरूरी नहीं कि ऐसा ही हो, क्योंकि व्यक्ति प्रतिक्रिया करनेपर उदासी या दुर्बलताको रोक सकता है, परन्तु अधिकतर मनुष्य इस अवसर या दुर्बलताको अनुभव करते हैं। अवश्य ही यह इस अर्थमें सामान्य है कि यह तब होता है जब व्यक्ति यौन-कल्पना या आवेगसे मुक्त हुए बिना ही यौन-क्रियाको बन्द कर देता है या बादमें भी जब व्यक्ति यौनभावसे विक्षुब्ध नहीं होता तब यह अवचेतनमें समूल नष्ट न हुए संस्कारोंके द्वारा जारी रह सकता है। यह कभी-कभी वीर्यकी अतिरिक्त मात्रासे छुटकारा दिला सकता है, परन्तु दुर्बलताका परिणाम बहुधा आवश्यक बल-तत्वकी हानिका निर्देश करता प्रतीत होता है। वीर्यकी अधिकतासे निबटनेका सही रास्ता है अतिरिक्त मात्राको शुद्ध ऊर्जा तत्वमें अर्थात् रेतस्को ओजस्में बदल देना।

*

यह स्पष्ट ही एक ऐसा आक्रमण है जो अवचेतना द्वारा तुम्हारे स्नायु-तंत्रपर आ पड़ता है। यह निद्राके समय इसलिये आता है कि जाग्रत चेतनामें तुम अपने रक्षणमें अधिक तत्पर होते हो और आक्रमणोंके विरोधमें प्रतिक्रिया कर सकते हो। साधारणतया इस प्रकारके स्वप्न और स्वप्नदोष तब होते हैं जब कि स्थूलचेतना थकान या तनाव या अन्य किसी कारणवश, एक तामसिक अवस्थामें गाढ़ निद्रामें पड़ी होती है या जड़ताके भारके नीचे दबी होती है।

सबसे पहले तुम्हें बादमें होनेवाले परिणामोंको अस्वीकार कर देना चाहिये जैसे कि तुमने इस बार किया है—क्योंकि तुम कहते हो कि तुम किसी कम-

जोरीका अनुभव नहीं करते, बल्कि ऐसा, मानों कुछ हुआ ही नहीं। यह जरा भी अनिवार्य नहीं कि व्यक्ति इस प्रकारके स्वप्न या स्वप्नदोषके बाद कमजोरी अनुभव करे; केवल स्थूल मनके अभ्यस्त साहचर्यके कारण ही ये शक्तियां स्नायविक दुर्बलताकी इन प्रक्रियाओंको ला सकती हैं।

जहांतक स्वप्न दोषको रोकनेका प्रश्न है, यह निद्रामें अधिक सचेतन बननेसे हो सकता है। तुम स्वप्नमें हुई सब घटनाओंके विषयमें सचेतन थे किन्तु इसके सिवाय तुम्हें उस सचेतन संकल्प शक्तिको भी विकसित करना होगा जो आगे आनेवाली घटनाको देख लेती है और उसे रोकनेके लिये या तो ठीक समयपर जाग जाने या स्वप्नको बन्द करने अथवा स्रावके निवारणं द्वारा हस्तक्षेप करती है। यह पूरी तरह सम्भव है, यह अभ्यासका और थोड़ा डटे रहनेका मामला है।

प्राय: यह उपाय भी बहुत सफल पाया गया है कि सोनेसे पहले शरीर चेतनापर एक संकल्प या शक्ति लगाई जाय कि यह नहीं होगा — विशेषकर जब तुम भारीपन और जड़ताकी अवस्थाकी ओर पहलेसे ही झुकावका अनुभव करो तब यह करना चाहिये। यह संकल्प सदा ही तुरन्त सफल नहीं होता; किंतु कुछ समय बाद अवचेतनको उसपर इस प्रकार लगाये गये संकल्प या शक्तिको प्रत्युत्तर देनेकी आदत पड़ जाती है और यह परेशानी घटते-घटते अन्तमें बिलकुल समाप्त हो जाती है।

*

नींदके समय इस प्रकारका कामका आक्रमण आहार या बाहरकी किसी दूसरी चीजपर बहुत अधिक निर्भर नहीं करता। यह तो अवचेतनाका यंत्रवत् चलनेवाला एक अभ्यास है; जब कामवृत्तिको जाग्रत अवस्थाके विचारों और अनुभवोंमेंसे बाहर निकाल दिया जाता है या उसे भीतर नहीं आने दिया जाता तब यह उस रूपमें नींदके समय आती है; क्योंकि उस समय केवल अवचेतना ही सक्रिय होती है और कोई सचेतन नियन्त्रण नहीं होता। यह इस बातका सूचक है कि कामवासनाको जाग्रत मन और प्राणमें दबा दिया गया है, पर भौतिक चेतनाके उपादानमेंसे उसे दूर नहीं किया गया है।

इसे दूर करनेके लिये सबसे पहले साधकको इस विषयमें सतर्क होना चाहिये कि जाग्रत अवस्थामें कामविषयक किसी कल्पना या अनुभवको प्रश्रय न दिया जाय; फिर उसके बाद, शरीरके ऊपर और विशेषकर कामकेंद्रके ऊपर एक ऐसा दृढ़ संकल्प प्रयुक्त किया जाय कि इस तरहकी कोई बात नींदमें

नहीं हो सकती। यह एकदम तुरत सफल न भी हो, पर यदि बहुत दिनोंतक लगातार ऐसा किया जाय तो प्रायः ही इसका असर होता है; अवचेतना आज्ञा मानना आरम्भ कर देती है।

*

यौन-प्रवृत्ति या कल्पनाके स्वप्नको लानेवाला गुर्दे या आंतोंका दबाव कामवासनाका अन्तिम और सबसे अधिक स्थूल रूप है—यह तब भी रहता है जब अन्य समाप्त हो जाते हैं। जड़ शरीर और अर्धजाग्रत मन ही वस्तुतः इसके लिये अवसर प्रदान करते हैं। परन्तु यदि यह केवल थोड़े समय ही रहे और अपने पीछे कोई प्रभाव न छोड़ जाय, तो प्रवृत्ति थोड़े समय बाद लुप्त हो जानी चाहिये।

*

(यौन शक्तियोंके) आक्रमण दिनके प्रकाशमें या रातके समय भी हो सकते हैं इसी प्रकार वे बिजलीके प्रकाशमें भी आ सकते हैं। एकमात्र आन्तर प्रकाश ही आक्रमणोंको आनेसे रोकता है यद्यपि यह सम्भव है कि वह तबतक पूरी तरह न रोक सके जबतक शक्ति भी वहां विद्यमान न हो।

*

हां, निश्चय ही, चर्म-रोगोंका यौन वासनाओंके साथ बहुत सम्बन्ध होता है—अवश्य ही हमेशा नहीं, पर प्रायः।

*

मैं समझता हूँ कि यह (चेहरेके मुँहासे) प्रायः उस दबी कामवासनाका परिणाम है जो क्रिया रूपमें दब गई है पर आन्तरिक रूपसे अब भी सक्रिय है। ये चीजें सबके साथ एक ही ढंगसे नहीं होती, सम्भव है यह रक्तपर क्रिया करे, अन्योंमें न भी करे या फिर उसी ढंगसे न करे। इसके अतिरिक्त मैं ऐसा नहीं मानता कि चेहरेके मुहोंसोंका एकमात्र कारण कामवासना ही है—और भी ऐसी चीजें हो सकती हैं जिनसे ये उत्पन्न हो सकते हैं।

IX

भौतिक परिवर्तनके लिये वाणीका संयम बहुत आवश्यक है।

*

मौन बहुत कम ही लाभदायक होता है। इसके समाप्त होते ही बकझक फिर पहलेकी तरह शुरू हो जाती है। वाणीका परिवर्तन स्वयं वाक्शक्तिमें ही करना होगा।

*

यह कोई ढंग नहीं। बिलकुल चुप्पी और बे-लगाम बोलना ये दो अन्तिम छोर है, इनमेंसे कोई भी हितकर नहीं। मैंने मौनव्रत रखनेवाले बहुतसे लोग देखे हैं, परन्तु बादमें वे पहले जितने ही बातूनी हो जाते हैं। तुम्हें अपने ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करना होगा।

*

कुल मिलाकर तुम ठीक हो। व्यर्थके ऐसे वार्तालापसे बचना अधिक अच्छा है जो चेतनाको नीचे निम्न दिशामें ले जाता है या पुरानी चेतनाकी किसी वस्तुको लौटा लाता है। साधनाके विषयमें बातचीत जब बाहरी ढंगकी मानसिक चर्चा मात्र हो; तो वह भी इसी श्रेणीमें आता है।

*

कोई अत्यन्त बाहरी वस्तु ही हलके ढंगकी बातोंमें रस लेती है, और जब निम्नतर प्राणिक प्रकृतिमें अचंचलता तथा उसके साथ एक विशेष प्रकारका सहज आत्म-नियन्त्रण स्थापित हो जाता है तभी यह प्रवृत्ति इस वस्तुसे ग्रस्त हुए लोगोंमें अर्थात् अधिकतर लोगोंमें पूरी तरह जीती जा सकती है।

इन सब चीजोंको यथा समय हल किया जायगा। मुख्य वस्तु है सारी सत्तामें अचंचलताको और उसके साथ ही उस ऊर्जाकी सच्ची शक्तिको नीचे तक उतार लाना जिसकी तुमने ऊपर चर्चा की है।

*

बात करते समय व्यक्तिका झुकाव निम्नतर और अधिक बाह्य चेतनामें उतर आनेकी ओर होता है क्योंकि बातें बाह्य मनसे आती हैं। किन्तु इससे पूरी तरह बचना असम्भव है। तुम्हें तुरन्त आन्तरिक चेतनामें लौट जाना सीखना होगा — यह तब तक करना होगा जब तक तुम सदैव आन्तरसत्ता सत्तामें या कम-से-कम कर्मको सहारा देनेवाली आन्तरिक सत्ता द्वारा बोलनेमें समर्थ न बनो।

*

वार्तालाप लेखनकी अपेक्षा अधिक बाह्य होता है, यह भौतिक सत्ता और उसकी अवस्थापर अधिक आधार रखता है। इसीलिये अधिकतर व्यक्तियोंमें इसे बाह्य मनके चंगुलसे छुडाना अधिक कठिन होता है।

*

साधारण प्रकारकी बातचीत आन्तरिक स्थितिको अवश्य ही बहुत आसानी-से बिखेर देती है या नीचे ले आती है क्योंकि यह साधारणतया केवल निम्न-तर प्राण और स्थूल मनमेंसे आती है और चेतनाके उसी हिस्सेको व्यक्त करती है — इसमें सत्ताको बहिर्मुख करनेकी प्रवत्ति होती है। निःसन्देह इसी कारण बहुतेरे योगी मौनकी शरण लेते हैं।

*

ऐसे लोग भी हैं जो स्वभावसे ही धाराप्रवाह बोलते हैं और बहुत प्राणप्रधान होते हैं, वे उसके बिना रह नहीं सकते। परन्तु पिछली स्थिति (अर्थात् इसके बिना न रह सकना) आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दुसे स्पष्ट ही एक अक्षमता है। साधनामें ऐसी अवस्थाएं भी आती हैं जब व्यक्तिको अन्तर्मुख होना होता है और उस समय नीरवता बहुत आवश्यक होती है जब कि अनावश्यक बातचीत ऊर्जाओंको बिखेर देती है या चेतनाको बहिर्मुख कर देती हे। विशेषकर बातके लिये बात करनेकी प्रवृत्तिको जीतना होगा।

*

इस प्रकारकी बातचीतका प्रभाव वस्तुतः तब बहुत थकानेवाला होता है जब व्यक्ति पूरी तरह सच्चे अनुभवकी धारामें मग्न हो क्योंकि बातचीत ऊर्जाको बेकार छितरा देती है और इसके स्थानपर कि मानसिक क्रिया किसी वस्तुको ग्रहण करनेके लिये अपने अन्दर समाहित और संतुलित हो, वह उसे धज्जी-धज्जी कर देती है।

*

जब व्यक्ति स्वयं छिछोरेपनको उसकी अपनी खातिर ही प्रश्रय देता है तो हमेशा किसी हलकी और असन्तुलित करनेवाली वस्तुके आनेका अवकाश रहता है। चेतना अपनेको अपने स्थानसे निष्कासित नहीं तो कुछ विचलित अवश्य अनुभव करती है। एक बार जब चेतना अन्दरकी ओर अच्छी तरह स्थिर हो जाती है, तो बाह्य क्रिया अन्दरसे निर्धारित की जाती है और ऐसी परेशानी नहीं रहती।

*

हां। वाणीको अन्दरसे आना होगा और अन्दरसे ही नियन्त्रित करना होगा।

*

तुम जिस कठिनाईका अनुभव करते हो उसकी सत्ता इसलिये है कि वाक् एक ऐसी रचना है जिसने अतीतमें मनुष्यके मानसिक संकल्पसे अधिक उसके प्राणको विशेष रूपसे अभिव्यक्त किया है। प्राण तथा उसकी आदतोंकी अभि-व्यक्तिके लिये ही वाणी स्फूर्त होती है। इस प्रक्रियामें वह मानसिक नियन्त्रणके लिये प्रतीक्षा करना पसन्द नहीं करती। जिह्वाको एक बेलगाम अंग कहा गया है। तुम्हारी कठिनाई इसलिये बढ़ गई है कि तुम दूसरोंके बारेमें बात करनेके अर्थात् गपशपके आदी हो, इसके प्रति तुम्हारा प्राण अत्यन्त आसक्त है; यहां तक कि इससे जो इसे मजा मिलता है उसे यह अभी भी छोड़ नहीं सकता। अतः प्राणके अन्दर यह प्रवृत्ति अब समाप्त हो जानी चाहिये। बोलनेके वेगके वशमें न होना, इसको आवश्यक न समझते हुए बिना इसके काम चलानेकी योग्यता हासिल कर लेना तथा उचित बात उचित अवसर पर ही बोलना यौगिक आत्म-

प्रभुत्वका एक अत्यावश्यक अंग है।

ऐसा अध्यवसाय, सतर्कता और दृढ़-संकल्पके द्वारा ही किया जा सकता है, परन्तु यदि इसके लिये दृढ़ निश्चय हो तो पीछे विद्यमान शक्तिकी सहायताके द्वारा यह शीघ्र ही सम्पन्न हो सकता है।

*

यह स्पष्ट है कि वह चीज जो एक लम्बे अभ्याससे आई है, तुरन्त नहीं हट सकती है। विशेषकर, वाणी एक ऐसी वस्तु है जो अधिकतर लोगोंमें बहुत हदतक स्वतःचालित होती है और उनके नियन्त्रणके आधीन नहीं होती। सतर्कता ही नियन्त्रणको स्थापित करती है, इसलिये मनुष्यको, जिस भयके विषयमें तुम कहते हो उसके, अर्थात् सतर्कतामें ढील देनेके सम्बन्धमें चौकस रहना होगा। हां इतना अवश्य है कि यह सतर्कता जितनी अधिक शान्त और विशुद्ध, किन्तु उद्वेग रहित, हो सके उतना ही अधिक अच्छा।

*

भौतिक या प्राणिक-भौतिक प्रकृतिकी आदतोंको बदलना हमेशा ही सबसे अधिक कठिन होता है, क्योंकि उनकी क्रिया स्वतःचालित होती है और मानसिक सकल्प द्वारा शासिक नहीं होती इसलिये मानसिक संकल्पके लिये उन्हें नियन्त्रित या रूपान्तरित करना कठिन होता है। तुम्हें लगे रहना चाहिये और नियन्त्रित करनेकी आदत डालनी चाहिये। यदि तुम वाणीपर प्रायः नियन्त्रण स्थापित कर सको — इसके लिये एक सतत जागरूकता की आवश्यकता होती है — तो तुम अन्तमें पाओगे कि नियन्त्रण अपनी छाप अंकित कर देता है और अन्ततोगत्वा सदैव हस्तक्षेप कर सकता है। यह तबतक करना होगा जबतक वह क्रिया पूरी तरह माताजीके प्रकाश और शक्तिके प्रति पूरी तरह उद्‌घाटित न हो जाय क्योंकि यदि वह हो जाय तो यह वस्तु अधिक जल्दी और कभी-कभी तो अत्यधिक तीव्रगतिसे की जा सकती है। फिर चैत्य पुरुषका हस्तक्षेप भी हो सकता है, — यदि चैत्य पुरुष पर्याप्त रूपसे जाग्रत और सक्रिय हो और जब-जब तुम निरर्थक बात बोलने लगो तब-तब वह हस्तक्षेप कर सके और 'ना' कह सके तो फिर परिवर्तन लाना (वाणीको संयमित करना) अधिक आसान हो जाता हैं।

*

सिरदर्द और थकान सदा ही इस बातकी निशानी होती है कि चेतना बहिर्मुख होनेवाले इस विचार एवं वाणीको अब और अधिक नहीं चाहती और इससे उसपर भौतिक रूपसे तनाव भी पड़ता है परन्तु अवचेतन अभ्यास ही इसे जारी रखना चाहता है। ज्यादातर मनुष्यकी वाणी और विचार एक विशेष लीकमें यन्त्रवत् चलते रहते हैं जो अपनेको हमेशा दुहराती रहती है और वस्तुतः मन उसे नियन्त्रित नहीं करता या उसपर हुक्म नहीं चलाता। इसीलिये सचेतन मनके अपना अनुमोदन एवं अनुमति हटा लेने तथा इससे उलटा निश्चय कर लेनेके बाद भी यह आदत कुछ समय चलती रह सकती है। पर यदि कोई डटा रहे तो यह अवचेतन यांत्रिक आदत उस मशीनकी तरह बन्द हो जाती है जिसे फिरसे चलानेके लिये चाबी न दी गई हो। फिर व्यक्ति अवचेतनमें इससे उल्टा अभ्यास डाल सकता है जिससे कि वह केवल उसी वस्तुको अपने अन्दर आने दे जिसे अन्तःपुरुष सोचने या बोलनेकी अनुमति देता है।

*

ऐसा बहुधा होता है। एक अनावश्यक ढंगकी बातचीत अन्तःपुरुषको थका देती है क्योंकि बातचीत बाह्य प्रकृतिमेंसे आती है जब कि अन्तःपुरुषको उसे ऊर्जा प्रदान करनी पड़ती है जिसके सम्बन्धमें उसे लगता है कि उसका अपव्यय हो रहा है।

जिन लोगोंका आन्तर जीवन बलशाली होता है वे भी बहुत समयके बाद ही इस जीवनके साथ बाह्यवाणी और कर्मका सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। बाह्य वाणी बाह्य रूप देनेवाले मनसे सम्बन्ध रखती है — इसीलिये इसे आन्तरिक जीवनके साथ जोड़ना इतना कठिन है।

*

हां, वाणीका पूर्णतया सच्चा होना साधकके लिये बहुत महत्वकी वस्तु है और यह चेतनामें सत्यको ले आनेमें भी बहुत सहायक होता है। इसके साथ ही वाणीको नियन्त्रित करना कठिन है; क्योंकि लोगोंको जो मनमें आये सो बोलनेकी आदत होती है न कि अपनी वाणीके निरीक्षण या नियन्त्रणकी। वाणीमें कोई यांत्रिक वस्तु होती है और उसे चेतनाके उच्चतम भागके स्तरतक ऊंचा उठाना कभी आसान नहीं होता। यह भी एक कारण है जिससे वाणीका

संयम सहायक सिद्ध होता है। यह अधिक विचारपूर्ण संयममें सहायता देता है और जिह्वाको इस बातसे रोकता है कि वह व्यक्तिको अपने साथ बहा ले जाकर अपनी मनमानी करती रहे।

पीछे हटकर खड़े होनेका अर्थ है अपने मन और वाणीका साक्षी बनना, उन्हें अपनेसे पृथक् किसी वस्तुके रूपमें देखना और उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित न करना। उनसे अलग रहकर साक्षीके रूपमें उन्हें देखते हुए व्यक्ति, वे क्या है, वे किस प्रकार कार्य करते हैं, यह जाननेमें सफल होता है और फिर उनपर रोक लगाता है तथा जिसे अच्छा नहीं समझता उसे अस्वीकार कर देता है और केवल वही बात सोचता तथा कहता है जो उसे सच्ची लगती है। निःसन्देह यह सब एक ही सांसमें नहीं किया जा सकता। इस पृथक् रहने-रहनेकी वृत्तिको स्थापित करनेमें समय लगता है और संयमको दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित करनेमें तो और भी अधिक समय। पर यह अभ्यास और लगन द्वारा किया जा सकता है।

*

इस (वाणी) का संयम तभी किया जा सकता है जब तुम बोलनेवाले अंगसे अपनेको पृथक् करके उसका अवलोकन कर सको। बोलनेका काम बाह्य मन हीं करता है—व्यक्तिको आन्तरिक साक्षी-मन द्वारा निगरानी रखकर उस-पर रोक लगानी है।

*

वस्तुतः तो आन्तर नीरवताकी आवश्यकता है—भीतरकी कोई ऐसी नीरव वस्तु जो बाहरकी बातचीत और क्रियाको देखती है पर उसे अपना निजी रूप नहीं बल्कि कोई बाहरी वस्तु अनुभव करती है और उससे बिलकुल उदासीन और अस्पृष्ट रहती है। यह वाणी और क्रियाको अवलम्बन देनेके लिये शक्तियोंको ला सकती है या उनसे अलग हटकर उन्हें रोक सकती है या उन्हें जारी रहने दे सकती है और उनमें उलझे या उनसे प्रभावित हुए बिना उनका निरीक्षण कर सकती है।

*

अवश्य ही ऐसा इसलिये होता है कि चेतना इन वस्तुओं (चर्चाओं और हंसी-ठठ्ठे) द्वारा बाहर फैंक दी जाती है और व्यक्ति आन्तरस्थितिसे बाहर निकल आता है तथा उसे उसमें फिरसे लौट जानेमें कठिनाई होती है—विशेषकर इसलिये कि उसमें प्राणिक ऊर्जा एक प्रकारसे बिखर जाती है। यदि व्यक्ति ऐसी स्थितिको प्राप्त कर ले जिसमें वह इन चीजोंको, अन्दर रहकर सतहपर होती हुई बातोंको देखते हुए पर उसमें अपने-आपको न भूलते हुए, चेतनाके उपरितलसे ही कर सके तो संतुलन नष्ट नहीं होता। परन्तु अपनेको इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त करना थोड़ा कठिन होता है—तथापि यदि आन्तरिक शान्ति और स्थिरता बहुत प्रगाढ़ और स्थायी हो जाय तो व्यक्ति उसे कुछ समयमें प्राप्त कर लेता है।

*

यदि भीतर शान्ति सुदृढ़ हो, तो बातचीत उसे आच्छादित नहीं करेगी —क्योंकि यह शान्ति जब मन और प्राणको घेर लेती है तब भी मानसिक या प्राणिक नहीं होती—या फिर यह एक ऐसा बादल होता है जो गहराई तक छुए बिना ही तेजीसे गुजर जाता है। तो भी साधारणतया इस प्रकारकी बातचीत चेतनाको बिखेर देती है और व्यक्ति बहुत कुछ गंवा सकता है। बात-चीत न करनेका केवल एक ही नुकसान है कि यह अत्यधिक मात्रामें होनेपर व्यक्तिको एकाकी बना देता है, परन्तु इन चीजों (समाचार आदि) के विषयमें बातचीत न करनेसे मनुष्य कुछ भी नहीं खोता।

*

वह (पहले हुई बातचीतके विषयमें सोच विचार करना) स्थूल मनकी आदत है जों समय पाकर झड़ जानी चाहिये। मनको इतना स्वतन्त्र होना चाहिये कि वह बातचीतके समाप्त होते ही मौन हो जाय।

*

वाणी और क्रियाकी जल्दबाजी—(अति मात्रामें, क्योंकि कुछ हदतक यह प्रत्येक व्यक्तिमें विद्यमान होती है)—स्वभावका प्रश्न है। मैं नहीं समझता कि यह तुममें यहां रहनेवाले बहुतसे अन्य लोगोंकी अपेक्षा अधिक है। निःसंदेह

इससे छुटकारा पाना है, परन्तु यह प्रकृतिकी कोई बड़ी नहीं किन्तु छोटी त्रुटियोंमेंसे एक है जिसके साथ यौगिक शक्तिको निबटना है। बहिर्मुख करनेवाले मनको ही इस तरह अनुशासित करना है जिससे यह बहुत जल्दी परिणामोंपर न कूद पड़े या तुरन्त ही विचारसे वाणी और क्रियाकी ओर न दौड़ पड़े।

*

ये वादविवाद सर्वथा निरर्थक हैं, वे केवल मनको मार्गभ्रष्ट कर देते हैं और मिथ्या वस्तुओंकी ओर द्वार खोल देते हैं।

*

इन परिस्थितियोंमें और वाद-विवादके बीच जो चैत्य आत्मसंयम वांछित होता है उसका अर्थ अन्य चीजोंके अलावा यह होता है —

1. बोलनेके आवेगको बहुत अधिक सिर न उठाने दिया जाय या कोई भी बात बिना विचारे न कही जाय, वरन् सर्वदा सज्ञान संयमके साथ बात की जाय और केवल वही बात कही जाय जो कि आवश्यक और सहायक हो।

2. सब तरहके तर्क-वितर्क, वाद-विवाद या अति-उत्तेजित आलोचना-प्रत्यालोचनासे बचा जाय और जो कुछ कहना है उसे बस कह भर दिया जाय और फिर वहीं चुप हो जाया जाय। इस बातपर भी कोई आग्रह न किया जाय कि मैं सही हूँ और दूसरा गलत, वरन् जो बात कही जाय उसे बस प्रस्तुत विषयका सत्य समझनेमें अपनी सहायताके रूपमें सामने रख दिया जाय।

3. बोलनेका ढंग और शब्द बहुत ही संयत और शान्त हों और उनमें कोई हठ न हो।

4. यदि और लोग गर्म हो जायें और झगड़ा करने लगें तो उसका बिलकुल ही कोई ख्याल न किया जाय, बल्कि शान्त-स्थिर और अक्षुब्ध बने रहा जाय और स्वयं अपने मुँहसे केवल वही बात निकाली जाय जो सारी बातको फिरसे सुधारनेमें सहायक हो।

5. यदि औरोंके बारेमें गपशप होती हो या कटु आलोचना होती हो (विशेषकर साधकोंके सम्बन्धमें) तो उसमें भाग न लिया जाय — क्योंकि उन बातोंसे किसी भी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती और वे केवल चेतनाको उसके उच्चतर स्तरसे नीचे गिरा देती हैं।

6. जो बातें दूसरोंको चोट या तकलीफ पहुँचायें उन सबसे अलग रहा जाय।

*

उग्र भाषण और प्रोत्साहन केवल मनकी ऊपरी सतहको ही छूते हैं। यदि मन उनसे सहमत हो तो वह उनसे प्रसन्न और प्रोत्साहित होता है बस इतना ही। मन यदि सहमत न हो तो उसकी आलोचना करता है या अधीर हो उठता है और मुँह फेर लेता है। यदि भाषण बहुत जोरदार हो तो यह कभी-कभी प्राणको छू सकता है तथा क्षणिक प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है।

*

वह (अर्थात् व्यक्तिमें जिस वस्तुका अभाव हो उसका दूसरोंको उपदेश उपदेश देना) दम्भ नहीं है किन्तु यह प्रकृतिके दो हिस्सोंका पारस्परिक विरोध है। व्यक्तिमें दम्भ तभी उत्पन्न होता है जब वह ऐसी चीजका उपदेश देता है जिसमें उसे विश्वास न हो या वह यथार्थमें जो नहीं है वह होनेकी या इसे लक्ष्य बनानेकी जानबूझ कर हामी भरता हो और वैसा होनेके लिये यत्न करनेका उसका कोई इरादा नहीं होता।

*

अवसाद तुम्हारे भीतर अवचेतन रूपसे आया था क्योंकि तुमने "क्ष" के साथ वाद-विवाद किया था। जब तुम लोगोंसे इस प्रकार चर्चा करते हो तो तुम किसी वस्तुको उनमें डालते हो, परन्तु कोई वस्तु उनमेंसे तुम्हारे अन्दर भी आती है। क्योंकि 'क्ष' बहुत अच्छी स्थितिमें नहीं था, यद्यपि अपने अवसादकी स्थितिमें वह जैसा हुआ करता था वैसा कुछ नहीं था, इसलिये तुमपर उसका थोड़ासा प्रभाव आसानीसे हो गया और ज्यों ही अवचेतनने अभ्यासवश इसके लिये बहाना ढूँढ़ लिया त्यों ही उसने उसे ऊपर मनके पास भेज दिया। तुम्हें इन स्वतः प्रेरित आन्तर आदान-प्रदानके विरुद्ध सदा ही आत्मरक्षा करनी चाहिये। थोड़ी सावधानी पर्याप्त है—और निरर्थक चर्चा-की कोई आवश्यकता नहीं।•

*

बोलते समय हमेशा एक प्रकारकी साहजिक बचावकी वृत्ति होनी चाहिये —सिवाय उन लोगोंके साथ जो सामान्य प्राणिक आवेगसे मुक्त हैं।

*

तुम्हारा प्राणकोश दुर्बल है—तुमने इसे ही देखा। अन्य लोगोंसे बात-चीत करते समय तुम कमजोरी अनुभव करते हो यह बात बताती है कि सारी गड़बड़ीकी जड़ दुर्बल स्नायविक शक्ति ही है। तुम्हें इसे ही बलवान् बनाना है। तुम्हें अन्य लोगोंसे अधिक बात करनेसे बचना चाहिये—जब तुम्हें लगे कि रोग लक्षण बहुत प्रबल हैं तब तुम आराम भी ले सकते हो। किन्तु श्रद्धा, अचंचलता तथा उच्चतर शक्तिके प्रति उद्घाटन, ये ही आधारभूत इलाज हैं।

*

हां, स्पष्ट ही, जीवनमें 'ना' कहनेकी शक्तिका होना अनिवार्य है और साधनामें तो और भी अधिक। यही है वाणीमें संक्रान्त निषेधकी शक्ति।

*

सब बातोंमें विचार एवं वाणीपर भी नियन्त्रण रखना होगा। परन्तु यद्यपि राजसिक उग्रता वर्जित है तो भी कठोरताकी जरूरत पड़नेपर विचार और वाणीकी शान्त-बलशाली कठोरता कभी-कभी अनिवार्य बन जाती है।

*

आलोचना करनेकी आदत—अधिकतर दूसरोंकी अज्ञानपूर्ण आलोचना —जो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे, अनुमानोंसे, अतिशयोक्तियोंसे, झूठे अर्थ लगानेसे, यहांतक कि भद्दी मनगढन्त कहानियोंसे मिश्रित होती है, सार्वभौम बीमारियोंमें एक है। यह एक प्राणकी बीमारी है जिसकी सहायता स्थूल मन करता है। यह मन अपने-आपको उस खुशीका साधन बनाता है जिसे हम प्राणके इस व्यर्थ और हानिकारक व्यापारमें पाते हैं। यदि बाह्य जीवनमें आन्तरिक अनुभवका कोई सच्चा रूपान्तरकारी प्रभाव होता हो, तो वाणीका

संयम करना तथा इस बीमारीको एवं प्राणकी बेचैनीको अस्वीकार करना बहुत आवश्यक है।

*

अन्य लोगोंके विषयमें बातचीत न करने और साधारण मनसे उनकी आलोचना न करनेके सम्बन्धमें अधिक नियमित होना भी ज्यादा अच्छा है। यह वस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाली उस गभीरतर चेतना और दृष्टिकोणको विकसित करनेके लिये आवश्यक है जो अपने अन्दर और दूसरोंमें प्रकृतिकी क्रियाओंको नीरव रहकर समझती हैं और विचलित या विक्षुब्ध नहीं होती अथवा उथले ढंगसे रस नहीं लेती, न उसकी ओर आकृष्ट ही होती।

*

इस आश्रमके साधक पूर्ण नहीं है — उनमें कमजोरियां और गलत चेष्टाएं बहुतायतसे पाई जाती हैं। उन्हें न देख सकना अन्धता है; केवल इस बातको लेकर मनुष्यको व्यक्तिओंके विषयमें आलोचनात्मक अथवा निन्दात्मक वृत्तिकी ओर नहीं प्रेरित होना चाहिये — और इसे उन शक्तियोंकी क्रीड़ा समझना चाहिये जिनपर विजय प्राप्त करनी है।

*

तुम जिस आत्मसंयमका अनुभव करते हो जो तुम्हें प्रकाश देता और मार्ग बताता है तथा जिसके कारण तुमने सत्य बोलनेका निर्णय किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुम्हारे अन्दर चैत्य पुरुष जाग्रत हो गया है।

तुम जिस चरित्र-दोषकी बात कहते हो वह सर्वसामान्य है और मानव प्रकृतिमें प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। असत्य बात कहनेका अथवा कम-से-कम किसी वस्तुको अतिरंजित करने या उसका महत्व कम करनेका अथवा सत्यको इस रूपमें तोड़ने-मरोड़नेका आवेग सभीमें पाया जाता है जिससे व्यक्ति अपना गर्व, पसन्दगियां, और इच्छाओंको तृप्त करे अथवा कोई लाभ उठाये या कोई अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर ले। यदि व्यक्तिको सचमुच ही अपनी प्रकृतिको बदलनेमें सफल होना हो तो उसे एक मात्र सत्य बोलना ही सीखना होगा।

प्रकृतिमें जो चीज बदलनी है उसके विषयमें सचेतन होना उसे बदलनेका

पहला कदम है। परन्तु मनुष्यको हताश हुए बिना या यह सोचे बिना इन चीजोंका निरीक्षण करना चाहिये कि 'यह निराशाजनक स्थिति है' या 'मैं इसे बदल नहीं सकता'। तुम्हारा यह विश्वास करना बिलकुल ठीक है कि परिवर्तन अवश्य होगा। कारण यदि चैत्य पुरुष जाग्रत हो और अपने पीछे विद्यमान और तुम्हारे अन्दर कार्य करनेवाली माताजीकी चेतना और शक्तिके द्वारा पथप्रदर्शन करता हो तो प्रकृतिमें कुछ भी करना असम्भव नहीं। इस समय यही हो रहा है। दृढ़ विश्वास रखो कि सब कुछ हो जायगा।

*

व्यर्थ हो या न हो असत्यसे तो बचना ही चाहिये।

*

यदि तुम 'क्ष' से मूल अंग्रेजीका लेख ले सको तो तुम देखोगे कि उसमें लिखी बात सर्वोच्च दृष्टि बिन्दुसे लिखी गई है। यदि तुम सत्यका उपकरण बनना चाहो तो तुम्हें सदा सत्य ही बोलना होगा न कि झूठ। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तुम्हें प्रत्येक व्यक्तिको प्रत्येक वस्तु बतानी होगी। मौन रहकर या बोलनेसे इन्कार करके सत्यको छिपानेकी अनुमति दी जा सकती है, क्योंकि जो लोग अभी सत्यके लिये तैयार नहीं हैं या उसके विरोधी हैं उन्हें उसके सम्बन्धमें गलत फहमी हो सकती है या वे उसका दुरुपयोग कर सकते हैं—इसे वे विकृत या निरा असत्य बनानेके लिये एक आरम्भ बिन्दु भी बना सकते हैं लेकिन असत्य बोलना दूसरी बात है। हंसी मजाकमें भी असत्य बोलनेसे बचना चाहिये क्योंकि इसमें चेतनाको निम्न करनेकी प्रवृत्ति होती है। जहांतक अन्तिम बातका प्रश्न है, यह भी फिर उच्चतम दृष्टि बिन्दुसे ही कही गई है—व्यक्ति मनमें जिसे सत्य मानता है वह पर्याप्त नहीं है क्योंकि मनका विचार गलत और अपर्याप्त हो सकता है—सच्ची चेतनामें सच्चे

यदि हम मिथ्यात्वको, चाहे वह छोटा ही क्यों न हो, अपने मुख या कलमसे निकलने दें तो हम अपने लिये सत्यके पूर्ण सन्देशवाहक होनेकी आशा कैसे कर सकते हैं? सत्यके पूर्ण सेवकको छोटे-से-छोटे अयथार्थता, अतिशयोक्ति या विकृतिसे बचना चाहिये।

श्रीमाताजी

ज्ञानको प्राप्त करना आवश्यक है।

*

यह भूठ क्यों होना चाहिये? व्यक्ति प्रत्येक बात प्रत्येक व्यक्तिको बताने-के लिये बाध्य नहीं है — यह आदत प्रायः हितकी अपेक्षा अहित अधिक कर सकती है। व्यक्तिको केवल उतना ही कहना चाहिये जितना जरूरी हो। निःसंदेह जो कहा जाय वह अवश्य ही सत्य होना चाहिये, असत्य नहीं तथा उसमें धोखा देनेका कोई इरादा कभी भी नहीं होना चाहिये।

*

"व्यक्तिकी इच्छानुसार" यह कदापि ऐसा सूत्र नहीं जो सत्यकी ओर प्रेरित करे, इसका अर्थ है मापदण्डके रूपमें प्राण और उसकी कामनाओंकी प्रतिष्ठा करना या मनकी पसन्दगियोंका अनुसरण करना — यह भी किसी मानसिक अनुशासनमें सत्यको खोजके सिद्धान्तके ही विपरीत माना गया है।

*

सबसे पहले तो, व्यक्ति जिसे असत्य मानता है या समझता है उसे सत्यके रूपमें कहना तथा जिसे वह हृदय से ठीक मानता है पर जो असलमें ठीक नहीं उसे सत्यके रूपमें कहना इन दोनोंके बीचमें महान् अन्तर है। पहला तो स्पष्ट ही सत्यकी आत्माके विरुद्ध है, दूसरा उसके प्रति आदर भाव दिखाता है। पहला जानबूझकर बोला गया असत्य है और दूसरा अधिक-से-अधिक बुरे रूपमें केवल एक भूल या अज्ञान है।

यह हुई सत्य बोलनेके विषयमें व्यावहारिक दृष्टिबिन्दुकी बात। उच्चतर सत्यके दृष्टिबिन्दुसे, यह नहीं भूलना होगा कि चेतनाकी प्रत्येक भूमिकाका अपना मानदण्ड होता है — जो चीज मनके लिये सत्य है, हो सकता है वह उच्चतर चेतनाके लिये आंशिक सत्य हो, किन्तु परेके और विशालतर एवं पूर्णतर सत्यतक पहुँचनेके लिये मनको आंशिक सत्यमेंसे होकर ही गुजरना होता है। इसके लिये एकमात्र आवश्यक बात है उद्घाटित और नमनीय होना, उच्चतर चेतनाके आनेपर उसे पहचाननेके लिये तैयार रहना, निजी होनेके कारण निम्नतर चेतनासे इसलिये न चिपटे रहना कि वह उसकी अपनी है,

प्राणकी कामनाओं और आवेगोंको ऐसा न करने देना कि मनको प्रकाशके प्रति अन्धा बना दे या वस्तुओंको तोड़-मरोड़कर विकृत कर दे। एक बार जब उच्चतर चेतना कार्य करना प्रारम्भ करती है तो कठिनाइयां कम हो जाती हैं और सत्यसे महत्तर सत्यकी ओर एक स्पष्ट प्रगति होने लगती है।

*

यह तथ्य नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति (इस अर्थमें कि वह असत्य नहीं बोलता) सच्चा है तो वह जो कहता है सो होता ही है। इसके लिये तो उसे दिव्य सत्यको जानना होगा—वस्तुओंके सत्यके स्पर्शमें रहना होगा, न कि सत्यको केवल उस रूपमें कहना होगा जिस रूपको उसका मन जानता है।

*

जहांतक संकोचकी बात है, यह दो प्रकारका है: एक है आहकारिक, सत्यको व्यक्त करनेमें लज्जा अनुभव करना या इसके प्रति इस ढंगसे अनुरक्ति बताना जिससे अन्य लोग न समझ सकें, दूसरा प्रकार है एक विशेष दुराव, अन्य लोगोंकी दृष्टिके सामने अपने गहरे भावोंको खोलनेकी अनिच्छा और भगवान्‌के साथ प्रेमके सम्बन्धको पवित्र और गुप्त रखनेकी इच्छा,—एक चैत्य भाव है।

X

मैं नहीं समझता कि 'क्ष' की समाधिका उसकी अस्वस्थताके साथ कोई सम्बन्ध है; मैंने ऐसा कभी नहीं देखा कि इस प्रकारकी समाधिके अभ्यासका कभी कोई ऐसा परिणाम हुआ हो; केवल बलात् तोड़ी गई समाधिका ऐसा खराब परिणाम आ सकता है, यद्यपि यह अनिवार्य नहीं कि वह विपत्ति लाये ही। परन्तु यह हो सकता है कि यदि सचेतन सत्ता अत्यधिक पूर्ण समाधिमें शरीरसे बाहर जाय, तो वह सूत्र जो इसे शरीरसे बांधे रखता है, टूट जाय या फिर किसी विरोधी शक्तिके द्वारा काट दिया जाय और वह भौतिक आधारमें फिर लौट न सके। ऐसी विधातक सम्भावनाके अतिरिक्त कोई ऐसा आघात भी हो सकता है जो अस्थायी रूपसे किसी अव्यवस्थाको पैदा कर सकता है या किसी प्रकारकी क्षति भी पहुँचा सकता है; तथापि, नियमके रूपमें इसका

एकमात्र परिणाम आघात ही होगा। सर्वसामान्य प्रश्न एक अलग ही बात है। बहुत लोगोंके मनमें ऐसा परपरागत विश्वास है कि योगाभ्यास शरीरके स्वास्थ्यके प्रतिकूल होता है और एक या दूसरे प्रकारके बुरे प्रभावको उत्पन्न करता है यहांतक कि अन्तमें अकालमें या जल्दी ही देहपातका कारण बनता है। यदि हम आध्यात्मिकतामें केशवसेनकी प्रगति और उसके शरीरको क्षति पहुँचानेवाली बीमारीके सम्बन्धमें की गई रामकृष्ण परमहसकी टिप्पणियोंसे निर्णय कर सकें तो उनका यह मत प्रतीत होता है कि मृत्यु योगाभ्यासका परिणाम और वांछनीय परिणाम था, इहलोकके जीवनसे एक छुटकारा या मुक्ति थी। ऐसा हो सकता है अथवा नहीं भी; किन्तु मुझे यह विश्वास करनेमें कठिनाई होती है कि बीमारी या शरीरका ह्रास योगाभ्यासका स्वाभाविक और सर्वसामान्य परिणाम है या यह कि इसके अभ्यासके कारण अनिवार्य रूपसे स्वास्थ्यका पतन होता है या ऐसी आखिरी बीमारियां आती हैं जो देह-त्यागका कारण बनती हैं। हम यह किस आधारपर मानें या यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि संसारी लोग जहां अस्वास्थ्यसे कष्ट पाकर प्रकृतिकी अव्यवस्थाओंके कारण मरते हैं वहां योगीजन योगके कारण मृत्युको प्राप्त होते हैं? जबतक उनकी मृत्यु और उनके योगाभ्यासके बीचमें कोई सीधा सम्बन्ध न सिद्ध किया जा सके—और यह केवल निश्चय पूर्वक तो किन्हीं विशेष दृष्टान्तोंमें ही किया जा सकता है और तब भी पूर्ण निश्चयके साथ नहीं— तबतक इस प्रकारके भेदमें विश्वास करनेके लिये कोई पर्याप्त कारण नहीं। यह निष्कर्ष निकालना अधिक तर्क संगत है कि योगी और संसारी दोनों ही बीमार पड़ते हैं और स्वाभाविक कारणसे एवं प्रकृतिके एक ही विधानके अनुसार मृत्युको प्राप्त होते हैं; क्योंकि योग-शक्ति योगिओंके अधिकारमें होती है और यदि वे चाहें तो इसका प्रयोग भी कर सकते हैं, इसलिये कोई इस दृष्टिबिन्दुको भी प्रस्तुत कर सकता है कि वह योगके कारण नहीं किन्तु उसके बावजूद बीमार पड़ता है और मृत्युको प्राप्त होता है। जो भी हो, मुझे यह विश्वास नहीं कि रामकृष्ण (या अन्य कोई योगी) अपनी समाधियोंके कारण ही बीमार हुए; समाधिके बाद वे कभी इस प्रकार बीमार पड़े, इसे प्रदर्शित करनेवाली कोई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि यह बात कहीं कही गई है या उन्होंने अपने-आप कहा है कि गलेका वह केन्सर जिनसे उनकी मृत्यु हुई, उनके शिष्योंके और उन लोगोंके पापोंको आत्मसात् करनेके कारण ही हुआ जो उनके निकट आये: यह फिर एक ऐसी बात है जो हो सकती है या नहीं भी, परन्तु यह उनका अपना विशेष मामला होगा। निःसन्देह अन्य लोगोंकी बीमारीको अपने ऊपर ले लेना सम्भव है, यहांतक कि जानबूझ करके भी, ग्रीक राजा एन्टी-

गोनस और उसके पुत्र डिमिट्रियसका दृष्टान्त इस विषयमें एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान है; योगी भी कभी-कभी ऐसा करते हैं; या फिर विरोधी शक्तियां योगीके परिजनोंको द्वार या मार्ग बनाकर अथवा लोगोंकी अशुभ इच्छाओंका सहायक शक्तिके रूपमें उपयोग करके उस (योगी) पर बीमारियोंको फैंक सकती है। परन्तु ये सब ऐसी विशेष परिस्थितियां हैं जो निःसन्देह उसके योगाभ्याससे सम्बन्ध रखती हैं; किन्तु ये इस सर्वसामान्य प्रस्थापनाको एक अन्तिम नियमके रूपमें सिद्ध नहीं करती। 'क्ष' के समान मृत्युको मुक्ति मानकर उसकी कामना करने, उसका स्वागत करने या स्वीकार करनेकी वृत्तिमें उसकी उन्नत आध्यात्मिक चेतनाके कारण कुछ बल हो सकता है किन्तु साधारण लोगोंके लिये इस वृत्तिका ऐसा बल नहीं होगा। दूसरी ओर, यौगिक चेतनाका इससे उलटा उपयोग एवं परिणाम भी हो सकता है: मनुष्य बीमारियोंको अपने शरीरमेंसे दूर हटा सकता है या उन्हें ठीक कर सकता है, यहांतक कि पुरानी या मूल-बद्ध बीमारियोंका और लम्बे समयसे चली आती शारीरिक गठनसे सम्बद्ध त्रुटियोंका इलाज कर सकता है या उन्हें मिटा सकता है और पूर्वनिर्धारित मृत्युको भी लम्बे समयके लिये दूर ठेल सकता है। कलकत्ताके एक दैवज्ञ नारायण ज्योतिषिने बहुत पहले, जब मेरा नाम अभी राजनीतिक क्षेत्रमें प्रसिद्ध नहीं हुआ था, मुझे न जानते हुए भी भविष्यवाणी की थी कि मैं म्लेच्छ शत्रुओंके साथ संघर्ष करूँगा और बादमें मुझपर तीन अभियोग लगाये जायेंगे और उन तीनोंसे मैं छूट जाऊंगा। उसने यह भी बताया था कि यद्यपि मेरी जन्मपत्रीके अनुसार मेरी मृत्यु ६३ वर्षकी अवस्थामें निश्चित है, किन्तु फिर भी मैं अपने जीवनको यौगिक शक्तिके द्वारा लम्बे समयके लिये बढ़ाकर पूर्ण प्रौढ़ उम्रको प्राप्त करूँगा। सच यह है कि मैंने योगबलसे उन अनेक जीर्णरोगोंसे मुक्ति पाई है जिन्होंने मेरे शरीरमें घर कर लिया था। परन्तु इनमेंसे पक्ष या प्रतिपक्ष किसीके भी दृष्टान्तको नियम नहीं बनाया जा सकता; मानव बुद्धि की इस प्रवृत्तिमें जो इन वस्तुओंकी सापेक्षताको निरपेक्ष नियमका रूप दे देती है, कुछ भी तथ्य नहीं। अन्तमें 'क्ष' की समाधियोंके विषय-में मैं कह सकता हूँ कि वे ऐसी सामान्य 'सविकल्प' प्रकारकी समाधि हैं जो सब प्रकारके अनुभवोंकी ओर उद्घाटित होती हैं, किन्तु योगमें विशाल चिर-स्थायी साक्षात्कार साधारणतया समाधिमें नहीं बल्कि लगकर की गई जाग्रत साधनाके द्वारा ही प्राप्त होते हैं। यही बात आसक्तियोंको हटानेके विषयमें भी कही जा सकती है; समाधिमें प्राप्त अनुभवके द्वारा इनमेंसे कुछ आसक्तियोंसे कभी छुटकारा मिल सकता है परन्तु बहुधा जाग्रत साधनामें लगकर यत्न करने-

के द्वारा ही इसे करना होगा।

*

सबसे बढ़कर इस विचारको आश्रय मत दो कि शरीर आयोग्य है—इस तरहके सब सुझाव सिद्धिके संकल्पके ऊपर किया गया एक सूक्ष्म आक्रमण है और वे विशेषकर भौतिक मामलोंमें खतरनाक होते हैं। इस योग साधनाको करनेवाले कुछ लोगोंमें यह वस्तु उत्पन्न होती रही है और पहला काम है उन्हें बोरिया-बिस्तरके साथ बाहर निकाल देंना। प्रतीतियां और तथ्य सब इसके अनुकूल हो सकते हैं, परन्तु योगीके लिये और वस्तुत: प्रत्येक व्यक्तिके लिये जो किसी महान् या असाधारण वस्तुको करना चाहता है, सफलताकी पहली शर्त यह है कि वह तथ्योंसे ऊंचा उठ जाय और प्रतीतियोंमें विश्वास न करे। रोगसे मुक्त होनेका संकल्प करो चाहे वह रोग आक्रमणोंके समय कितना ही भयानक, नानाविध या हठीला ही क्यों न हो, और सब विरोधी सुझावोंको परे हटा दो।

*

स्पष्ट ही सब बीमारियां शरीरके और भौतिक प्रकृतिके दोष-पूर्ण स्वभावके कारण ही होती हैं। शरीर तभी निरापद रह सकता है जब वह उच्चतर चेतना-के प्रति उद्घाटित हो और वह चेतना उसमें उतर सके। तबतक उसने जो लिखा है वही इसका इलाज है—यदि वह रोगको बाहर निकालनेके लिये शक्तिको भी बुलाकर अन्दर ला सके तो यह सबसे अधिक बलशाली सम्भव सहायता होगी।

*

मानव शरीरको सदैव ऐसी किन्हीं भी शक्तियोंको उत्तर देनेकी आदत रही है जो उसपर कब्जा करना पसन्द करती है और अपने तमस् और अज्ञानके लिये उसे बीमारीके रूपमें कीमत चुकानी पड़ती है। इसे अकेली शक्तिको ही प्रत्युत्तर देना सीखना है किन्तु ऐसा सीखना उसके लिये आसान नहीं है।

*

रोगोंके आक्रमण निम्न प्रकृतिके या विरोधी शक्तियोंके आक्रमण होते हैं, जो प्रकृतिमें किसी प्रकारकी दुर्बलता, उद्‌घाटन या प्रत्युत्तर देखकर उसका लाभ उठाती हैं—ऐसी अन्य सभी वस्तुओंकी तरह जो हमारे अन्दर आती हैं पर जिन्हें हमें निकाल बाहर कर देना होता है, ये रोग भी हमारे अन्दर बाहरसे ही आते हैं। जब ये आते हैं तभी यदि कोई इनका आना अनुभव कर सके और इनके शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले ही इन्हें दूर फेंक देनेकी शक्ति और अभ्यास प्राप्त कर सके तो वह रोगसे मुक्त रह सकता है। और जब यह आक्रमण अन्दरसे उठता हुआ दिखायी देता हो तब भी यही समझना चाहिये कि यह आया तो बाहरसे ही है पर अवचेतनामें प्रवेश करनेसे पहले पकड़ा नहीं जा सका; और एक बार जहां यह अवचेतनामें आ पहुँचा कि वह शक्ति जो इसे वहां लायी है, जल्दी या देरमें, इसे अवश्य उभाड़ती ही है और तब यह शरीरको आक्रान्त कर लेता है। जब तुम्हें शरीरमें घुस आनेके अनन्तर ही इसका अनुभव होता है तब यह इसलिये होता है कि, यद्यपि यह अवचेतनाके द्वारसे नहीं किंतु सीधे ही अन्दर घुसा, फिर भी जब यह अभी बाहर ही था, तभी तुम इसको नहीं पकड़ सके। बहुधा यह इसी तरहसे आया करता है, सामनेसे अथवा प्रायः पार्श्वसे तिरछी रेखामें, सीधे, सूक्ष्म-प्राणमय परिवेष्टनको, जो कि हमारे संरक्षणका प्रधान कवच है, भेदन करके बलात् अन्दर घुस आता है। परन्तु इसके भौतिक शरीरमें घुस आनेके पहले ही इसे यहीं, इस प्राणमय परिवेष्टनमें ही, रोक दिया जा सकता है। इस हालतमें यह हो सकता है कि साधकको रोगका कुछ असर हो, —ऐसा हो सकता है कि ज्वर-सा या जुकाम-सा हो जाय, परन्तु व्याधिका पूर्ण आक्रमण नहीं हो सकता। इससे भी कुछ पहले यदि इसे रोका जा सके या प्राणमय परि-वेष्टन स्वयं इसका प्रतिरोध करे और अपने-आपको दृढ़, सबल और अखण्ड बनाये रखे तो फिर रोग नहीं होगा; इस आक्रमणका न तो शरीरपर कोई असर होगा और न इसका कोई नाम-निशान ही कहीं रहेगा।

*

समस्त रोग, भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले, सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीरके ज्ञानतंतुमय या प्राणभौतिक कोशसे होकर गुजरते हैं। यदि किसीको सूक्ष्म शरीरका ज्ञान हो या वह सूक्ष्म चेतनासे सचेतन हो, तो वह रोगको रास्तेमें ही अटका सकता है और उसे स्थूल शरीरमें प्रवेश करनेसे रोक सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि जब मनुष्यका ध्यान उसकी ओर न हो या

जब वह निद्रामें हो तब वह आ जाय अथवा अवचेतनाके रास्तेसे, या जब मनुष्य आत्मरक्षाके लिये असावधान हो तब वह एकाएक आ घुसे; ऐसी अवस्थामें इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि इसने शरीरपर जो अधिकार जमा लिया है वहांसे इसको मार भगाया जाय। इन आन्तरिक साधनोंके द्वारा आत्मरक्षा इतनी सुदृढ़ हो सकती है कि शरीर क्रियात्मक रूपसे रोगमुक्त हो जाय। ऐसे अनेक योगी हैं जो रोगमुक्त हैं। फिर भी "क्रियात्मक रूपसे" का अर्थ "सर्वथा" नहीं है। सर्वथा रोगमुक्तता तो विज्ञानमय परिवर्तनसे ही होगी। कारण विज्ञानमय अवस्थाके नीचे जो यह रोगमुक्तता होती है वह आखिरकार बहुतसी शक्तियोंमेंसे एक शक्तिका ही परिणाम होती है और जो समता उसमें स्थापित हो चुकी है उसके जरा भी भंग होनेसे इस रोगमुक्तावस्था-में बाधा पड़ सकती है; किन्तु विज्ञानमय स्थितिमें तो यह प्रकृतिका स्वा-भाविक नियम होती है। विज्ञानमय तत्त्वके द्वारा दिव्यीकृत शरीरमें रोगमुक्तता अपने-आप आयेगी, यह उसकी नवीन प्रकृतिमें स्वभावतः ही निहित होगी।

मनोमय लोक तथा अन्यान्य नीचेके लोकोंमें जो यौगिक शक्ति है उसमें और विज्ञानमय प्रकृतिमें भेद है। जो वस्तु योग-शक्तिद्वारा मन और शरीर-चेतनामें प्राप्त की जाती है वह विज्ञानमय चेतनामें स्वभावतः अन्तर्निहित होती है और उसकी विद्यमानता उसको कहींसे प्राप्त किये जानेपर निर्भर नहीं करती, बल्कि स्वाभाविक होती है—वह स्वतःसिद्ध और निरपेक्ष होती है।

*

रोग इसी तरह एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिके पास आनेको चेष्टा करते हैं। ये स्नायविक सत्ता पर इस या अन्य प्रकारके सुझावों द्वारा आक्रमण करते हैं और अन्दर आनेकी कोशिश करते हैं। ऐसा प्रायः तब भी होता है जब रोग संक्रामक न हो पर संक्रामक रोगोंमें यह सुझाव अधिक आसानीसे आता है। सुझाव या स्पर्शको तुरन्त ही दूर फैंक देना चाहिये।

देहके चारों ओर एक प्रकारका संरक्षण होता है जिसे हम स्नायविक-कोश कहते हैं—यदि यह सुदृढ़ रहे और रोगशक्तिको प्रवेश करने देनेसे इनकार कर दे, तो मनुष्य प्लेग या अन्य महामारियोंके बीचमें भी ठीक रह सकता है—यदि कोशमें छिद्र हो जाय या वह कमजोर हो तो बीमारी भीतर आ सकती है।

तुम्हें जिसपर आक्रमणका अनुभव हुआ वह असलमें भौतिक शरीर नहीं था पर यही स्नायविक आवरण एवं वह स्नायविक शरीर (प्राणकोश) था

जिसका यह विस्तार या आवरण है।

*

वे (रोगकी सूक्ष्म शक्तियां) सर्व प्रथम स्नायविकआवरण अर्थात् आभा-मण्डलको दुर्बल बनाती हैं या उसे तोड़ कर उसमें घुस जाती हैं। यदि वह बलवान् और अखण्ड रहे तो करोड़ों रोगाणु भी तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेंगे। आवरणके भेदे जानेपर वे शरीरमें स्थित अवचेतन मनपर आक्रमण करती हैं, कभी-कभी प्राणमय मन या विशुद्ध मनपर भी — रोगका भय या विचार उत्पन्न करके रोगको तैयार करती हैं। चिकित्सक स्वयं कहते हैं कि सुदूर पूर्वमें इन्फ्लूएंजा या हैजा होनेपर ६० प्र०श० व्यक्ति डरके कारण बीमार होते हैं। प्रतिरोधको दूर हटानेवाली भयसे बढ़कर और कोई चीज नहीं। किंतु फिर भी अवचेतन मुख्य वस्तु है।

यदि शरीरमें प्रतीकार करनेकी शक्ति प्रबल हो तो महामारीके बीचमें रहते हुए भी मनुष्यको उसकी छूत कभी नहीं लग सकती।

*

शारीरिक कष्ट अज्ञानकी शक्तियोंके आक्रमणोंके कारण ही होते हैं। परन्तु यदि कोई व्यक्ति जानता हो तो उन्हें शोधनका साधन भी बना सकता है। तथापि शोधनके ऐसे साधन भी हैं जो अधिक अच्छे और कम कठिन हैं।

रोगके बारेमें तुम्हारा जो सिद्धान्त है, वह एक भयानक मतवाद है — कारण रोग तो एक ऐसी वस्तु है जिसे निकाल बाहर करना है, न कि उसे स्वीकार करना या उसका उपभोग करना है। सत्तामें कोई चीज ऐसी होती है जो रोगमें सुख भोगती है, बीमारीकी पीड़ाको, दूसरी किसी भी पीड़ाकी तरह, सुखके रूपमें बदल देना भी सम्भव है। क्योंकि पीड़ा और सुख ये दोनों एक ही मूल आनन्दकी विकृति हैं, अतः इन दोनोंको एक-दूसरेके रूपमें परिणत किया जा सकता है या फिर इन दोनोंको ही ऊपर उठाकर इन्हें इनके मूल तत्त्व आनन्दमें परिवर्त्तित किया जा सकता है। यह भी ठीक है कि बीमारीको स्थिरता, समता और धैर्यके साथ सहन करनेकी शक्ति साधकमें होनी ही चाहिये, और जब बीमारी आ ही जाय तब उसे स्वीकार भी इसी भावसे करना चाहिये कि "यह भी एक अनुभव है, जिसे जगत्के अनुभवोंमेंसे गुजरते हुए

मुझे प्राप्त कर लेना है।" किन्तु इसको स्वीकार करने और इसमें सुख माननेका तो यह अर्थ होगा कि इसे शरीरमें ठहरनेके लिये सहायता दी जा रही है, और ऐसा करनेसे काम नहीं चलेगा; कारण जैसे काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि प्राण-प्रकृतिके विकृत रूप हैं और भ्रांति, पक्षपात तथा मिथ्योपचार मनोमय प्रकृतिके विकृत रूप है वैसे ही रोग भौतिक प्रकृतिका विकृत रूप है। इन सबको निकाल बाहर करना होगा और इनका त्याग करना इनको मिटा देनेकी पहली शर्त्त है और इनको स्वीकार करनेसे सर्वथा विपरीत परिणाम होता है।

*

मन ही इसे नहीं चाहता था; यह प्राण (प्राणिक भौतिक सत्ता) अकेला छोड़ दिये जानेपर प्रायः रोगको पसन्द करता है, इसे वह नाटकीय लगता है, ऐसा समझता है कि उसके कारण अन्य लोगोंको इसमें दिलचस्पी होती है, वह तमस्‌को प्रश्रय देना चाहता है आदि-आदि।

*

यह (शरीरका निरन्तर निर्बल रहना) भी तमस् है। यदि तुम निर्बलता-के विचारको दूर फैंक दो तो शक्ति लौट आयेगी। किन्तु प्राणमय भौतिक सत्तामें सदा ही कोई ऐसी चीज होती है जो अधिक निर्बल और बीमार होनेसे प्रसन्न होती है जिससे यह अपनी करुणाजनक अवस्थाका अनुभव कर सके और उसके लिये रो-धो सके।

*

रोगी होनेकी इच्छा करनेसे मेरा आशय यह था कि शरीरमें ऐसी कोई चीज है जो रोगको स्वीकार करती है और उसमें कुछ ऐसी प्रतिक्रियाएं होती हैं जो इस स्वीकृतिको प्रभावशाली बनाती हैं — इसलिये इस अत्यन्त भौतिक स्वीकृतिसे मुक्ति पानेके लिये सत्ताके सचेतन अंगोंमें हमेशा एक विरोधी संकल्प अवश्य होना चाहिये।

*

मेरा तात्पर्य यह था कि शरीर-चेतना साधारण चेतनाकी पुरानी आदतोंके द्वारा रोग-शक्तिको आनेका रास्ता दे देती है और उन सभी चीजोंका अनुभव करती है जो इसके साथ सम्बद्ध होती हैं—यथा छातीमें कफका जमाव, सांस-की कठिनाई तथा दम घुटनेका अनुभव आदि। इससे छुटकारा पानेके लिये मनुष्यको शरीरमें ही एक संकल्प और चेतनाको जाग्रत करना चाहिये जो इन चीजोंको कभी प्रस्थापित न होने दे। परन्तु इसे प्राप्त करना कठिन है, पूर्ण रूपसे प्राप्त करना तो और भी कठिन है। इसकी तरफ पहला कदम है आन्तरिक चेतनाको शरीरसे पृथक् कर लेना—यह अनुभव करना कि तुम स्वयं बीमार नहीं हो वरन् यह कि शरीरमें कुछ घटित हो रहा है और वही तुम्हारी चेतनाको आक्रान्त कर रहा है। तब इस पृथक् शरीर-चेतनाको देखना—यह देखना कि यह क्या अनुभव करती है, चीजोंके प्रति इसकी क्या प्रतिक्रिया है तथा इसकी क्रियाप्रणाली क्या है—सम्भव हो जायगा। तब मनुष्य इसके ऊपर काम कर सकता है और इसे तथा इसकी प्रतिक्रियाको बदल सकता है।

*

देहचेतना शक्तिके प्रति ज्यों-ज्यों उद्घाटित होगी (इसका खुलना सदैव सबसे अधिक कठिन होता है और यह चेतना पूरी तरहसे सबसे अन्तमें ही खुलती है), त्यों-त्यों यह बीमारीका बारंबार आनेवाला दबाव क्षीण होते-होते विलीन हो जायगा।

*

सारी अस्वस्थता किसी जड़ता या कमजोरी अथवा शरीरमें किसी प्रति-रोध या गलत क्रियाके कारण होती है, केवल यह कभी तो अधिक भौतिक प्रकारकी होती है और कभी अधिक मनोवैज्ञानिक ढंगकी। औषधियां भौतिक परिणामोंको निष्फल बना सकती हैं।

*

रोग इस बातका चिह्न है कि शरीरमें कहीं कुछ अपूर्णता या दुर्बलता है अथवा भौतिक प्रकृति विरोधी शक्तियोंके स्पर्शके लिये कहीं खुली हुई है; इसके साथ ही रोगका प्रायः निम्न प्राण या भौतिक मन अथवा किसी अन्य स्थानमें विद्यमान

किसी प्रकारके अन्धकार या असामंजस्यसे सम्बन्ध रहता है।

यदि कोई श्रद्धा, योगशक्ति या भागवत शक्तिके अवतरणकी सहायतासे रोगसे पूरी तरह छुटकारा पा सके तो यह बहुत ही अच्छी बात है। परन्तु एकबारगी ऐसा करना बहुधा सम्भव नहीं होता, कारण समग्र प्रकृति शक्तिके प्रति उद्घाटित नहीं होती अथवा उसका साथ देनेमें असमर्थ होती है। सम्भव है कि मन श्रद्धालु हो और शक्तिका साथ दे, किन्तु निम्नप्राण और शरीर उसका अनुगमन न कर सकें। या, यदि मन और प्राण तैयार हों तो यह सम्भव है कि शरीर साथ न दे और यदि साथ दे भी तो केवल आंशिक रूपसे, कारण इसकी यह आदत है कि यह उन शक्तियोंकी, जो एक विशिष्ट रोगको पैदा करती हैं, पुकारका उत्तर देता है और प्रकृतिके जड़भागमें जो आदत पड़ जाती है वह एक महाहठीली शक्ति होती है—ऐसी अवस्थाओंमें भौतिक साधनोंका आश्रय लिया जा सकता है—प्रधान साधनके तौरपर नहीं, बल्कि एक सहायता-के तौरपर अथवा यह समझकर कि शक्तिकी क्रियाके लिये यह एक तरहका स्थूल सहारा होगा। अत्यन्त तीव्र और जोरदार ओषधियोंका प्रयोग नहीं, किन्तु ऐसी ओषधियोंका प्रयोग करना चाहिये जो शरीरमें किसी प्रकारकी गड़बड़ मचाये बिना ही लाभदायक हों।

*

हां, यदि व्यक्तिमें श्रद्धा और उद्घाटन हो तो दवाइयोंके बिना भी चलाया जा सकता है।

*

माताजीने उसे यह सलाह, वह आश्रममें जितने दिन रहे उतने समयके लिये ही, दी थी न कि भविष्यके लिये अन्तिम नियमके रूपमें। यदि साधक डॉक्टरी इलाजकी आवश्यकताके बिना ही अपनेको ठीक करनेके लिये शक्तिको नीचे ला सके तो यह सदा ही सबसे अच्छा होगा। किन्तु यह हमेशा तबतक सम्भव नहीं होता जबतक मानसिक, प्राणिक, भौतिकसे लेकर नीचे अत्यन्त अवचेतनतक समग्र चेतना उद्घाटित और जाग्रत न हो। ऐसे चिकित्सकसे कोई हानि नहीं जो साधक हो और अपना व्यवसाय जारी रख रहा हो एवं अपने चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञानका उपयोग कर रहा हो; परन्तु उसे भगवान्‌की कृपा एवं भगवान्‌के संकल्पपर भरोसा रखकर यह करना चाहिये; यदि वह

अपने (चिकित्सा) शास्त्रकी सहायताके लिये सच्ची अन्त:प्रेरणा प्राप्त कर सके तो और भी अधिक अच्छा। कोई चिकित्सक सब रोगियोंको ठीक नहीं कर सकता। अच्छे-से-अच्छा परिणाम लानेके लिये तुम्हें यथाशक्ति अधिक-से-अधिक यत्न करना है।

*

निस्सन्देह, रोगपर अन्दरसे क्रिया की जा सकती है और उसे आराम किया जा सकता है। परन्तु यह कार्य सदा सहज नहीं होता, कारण जड़ प्रकृति बहुत अधिक प्रतिरोध किया करती है, तमोगुणका प्रतिरोध चलता ही रहता है। अतएव एक अथक लगनकी आवश्यकता होती है; आरम्भमें यह प्रयास पूर्ण रूपसे व्यर्थ हो सकता है अथवा रोगके लक्षण बढ़ जा सकते हैं, पर क्रमशः अभ्यास करते-करते शरीर या किसी रोगविशेषपर नियन्त्रण करनेकी उसकी शक्ति बढ़ जाती है। फिर, रोगके किसी आकस्मिक आक्रमणको आन्तरिक साधनोंके द्वारा दूर कर देना अपेक्षाकृत सहज होता है, परन्तु शरीरको ऐसा बना डालना कि भविष्यमें उसमें कभी रोग हो ही न सके, अधिक कठिन है। किसी जीर्ण रोगका अन्त:क्रियाद्वारा उपचार करना और भी अधिक कठिन होता है, वह पूर्ण रूपसे लुप्त हो जानेके लिये तैयार ही नहीं होता, इसकी अपेक्षा शरीरकी सामयिक अवस्थाको दूर करना आसान होता है। जबतक शरीरपर पूर्ण नियन्त्रण नहीं हो जाता तबतक आन्तरिक शक्तिके व्यवहारमें इस तरहकी तथा अन्य अपूर्णताएं तथा कठिनाइयां बनी ही रहती हैं।

यदि तुम आन्तरिक क्रियासे रोगका बढ़नाभर भी रोक सको तो यह भी एक प्राप्ति है; उसके बाद तुम्हें अभ्यासके द्वारा अपनी शक्तिको उस समयतक बढ़ाते रहना होगा जबतक कि वह इस योग्य न हो जाय कि वह रोगको दूर कर सके। ध्यान रहे कि जबतक यह शक्ति पूर्ण रूपसे प्राप्त न हो जाय, तबतक भौतिक औषधोपचारकी सहायताका सर्वथा त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं।

*

अपनेको इस वस्तुसे अलग करना और इसे ठीक करनेके लिये माताजीकी शक्तिको नीचे बुलाना — या फिर अपने पीछे रहनेवाली माताजीकी शक्तिका सहारा लेकर रोग निवारणकी शक्तिमें श्रद्धा रखते हुए अपनी संकल्प शक्तिका प्रयोग करना, इनमेंसे किसी पद्धतिका यदि तुम प्रयोग न कर सको तो तुम्हें

औषधियोंको क्रियापर भरोसा रखना होगा।

*

जहां शरीरकी बीमारी उग्र और जीर्ण हो जाती है वहां भौतिक चिकित्सा-की सहायताके लिये बुलाना प्रायः आवश्यक होता है और तब उसका उपयोग शक्तिके सहारेके रूपमें किया जाता है। 'क्ष' अपने इलाजमें केवल दवाइयोंपर ही आधार नहीं रखता, पर उनका माताजीकी शक्तिके साधनके रूपमें ही उपयोग करता है।

*

ओषधि तो अन्तिम उपाय है, जिसका उपयोग उस समय करना होता है जब कि चेतनामें कोई ऐसी चीज होती है जो शक्तिको प्रत्युत्तर नहीं देती या दिखौआ प्रत्युत्तर देती है। बहुधा भौतिक चेतनाका कोई भाग ऐसा होता है जो ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है — या किसी समय, जब कि समग्र जाग्रत मन, प्राण शरीर भी उस मुक्तिदायक प्रभावको स्वीकार कर लेते हैं तब अव-चेतना एक ऐसी चीज होती है जो मार्गमें बाधा डालती है। यदि अवचेतना भी प्रत्युत्तर देने लगे तब तो शक्तिका साधारण-सा स्पर्श भी किसी रोग-विशेष-को न केवल आराम कर सकता है बल्कि भविष्यके लिये रोगके उस विशिष्ट प्रकार या रूपको यथार्थतः असम्भव बना सकता है।

*

यह आवश्यक नहीं है, पर यदि रोगके पीछे प्रतिरोधकी कोई प्रबल शक्ति हो या कोई वस्तु वहां छिपी हुई हो तो वह दबावके कारण बाहर निकल आ सकती है। तो भी यह कोई ऐसा नियम नहीं जिसे बदला न जा सके। प्रायः शक्तिका प्रभाव तुरन्त और प्रतिक्रिया रहित होता है या उसमें कोई उतार-चढ़ाव तो आता है परन्तु कोई प्रकोप या वृद्धि नहीं होती।

*

ऐसे सुझाव जो रोग या अस्वास्थ्यकर अवस्थाओंको उत्पन्न करते हैं, साधा-

[illegible] अवचेतनमें होकर आते हैं—भौतिक सत्ताका अधिकांश, अत्यन्त स्थूल हिस्सा अवचेतन है अर्थात् यह कहें कि इसकी अपनी ही एक अन्धकारमयी चेतना है पर वह इतनी अन्धकार भरी और अपने आपमें इतनी बन्द है कि मन भी यह नहीं जानता कि इसकी क्या गतिविधि है या उसमें क्या हो रहा है। किन्तु यह सब होते हुए भी यह एक चेतना है और बिलकुल मन और प्राणकी तरह ही बाहरकी शक्तियोंके सुझावोंको ग्रहण कर सकती है। यदि ऐसा न होता तो इसे दिव्य शक्तिके प्रति खोलना और शक्ति द्वारा ठीक करना सम्भव न होता, क्योंकि यदि इसके अन्दर यह चेतना न होती तो यह प्रत्युत्तर न दे सकती। यूरोप और अमेरिकामें अब ऐसे बहुत लोग हैं जो इस तथ्यको मानते हैं और अपनी बीमारीका इलाज शरीरको सचेतन मानसिक सुझाव देकर करते हैं जो अवचेतनमें स्थित बीमारीके अन्धकारमय गुप्त सुझावोंका प्रतीकार करते हैं। फ्रान्समें एक प्रसिद्ध चिकित्सक था जिसने हजारों लोगोंका उन्हींके द्वारा उनके शरीरपर लगातार ऐसे विरोधी सुझाव दिलाकर इलाज किया। इससे सिद्ध होता है कि बीमारीका कारण विशुद्ध रूपसे स्थूल नहीं है किन्तु शरीरमें प्रच्छन्न चेतनाकी गड़बड़ी ही इसका कारण है।

यदि मनुष्य प्राणको शान्त कर दे तो निश्चल और मौन रहकर सहन करना व्यथा रूप क्रियासे छुटकारा दिलानेमें अवश्य ही सहायक होता है; परन्तु साथ ही इसे प्राणको मातृचरणोंमें समर्पित भी करना चाहिये। क्योंकि माताजी अन्दरसे जानें यही पर्याप्त नहीं है; उनके सामने यह समर्पण और आत्मदान भी करना होगा जिससे प्रतिक्रिया समाप्त हो जाय।

*

मॉर्फिया स्थानिक या किसी और ढंगसे अवचेतनके दबावके प्रति चेतना और उसकी प्रतिक्रियाओंको संज्ञाहीन कर देता है और इस प्रकार पीड़ाको स्थगित कर देता है या मार देता है। यह भी वह हमेशा नहीं करता—'क्ष' ने एकके बाद एक मॉर्फियाके पांच इन्जेक्शन लिये परन्तु उसका जिगरकी सूजनका दर्द कम नहीं हुआ। इस घटनामें अवचेतनके ऊपर औषधिके प्रभावका क्या हुआ? 'य' के अवचेतनका शक्तिके प्रति जितना प्रतिरोध था उतना ही प्रबल प्रतिरोध यहां भी था।

यह बहुत कुछ उसी ढंगसे हुआ जैसे कि कूएकी सूचन पद्धतिने अपने बहुतसे रोगियोंको मानसिक उपायके बजाय भौतिक उपायसे ही ठीक किया। देहचेतना औषधिके सुझावका प्रत्युत्तर देती है और व्यक्ति कुछ समयके लिये

ठीक हो जाता है अथवा वह प्रत्युत्तर नहीं देती और रोग अच्छा नहीं होता। इसका क्या कारण है कि एक ही बीमारीके लिये एक ही दवाई एक ही व्यक्तिमें सफल हो जाती है और दूसरेमें नहीं होती अथवा व्यक्तिमें एकबार सफल होती है और बादमें जाकर बिलकुल नहीं होती। बीमारीका ऐसा पूर्ण इलाज कि वह फिर न लौट सके, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतनाको उस मनोवैज्ञानिक प्रत्युत्तरसे मुक्त करने पर ही निर्भर करता है जो बीमारीको लानेवाली शक्तिके प्रति दिया जाता है। कभी-कभी ऐसा ऊर्ध्वसे आनेवाले एक प्रकारके आदेशके द्वारा किया जाता है (जब कि चेतना तैयार होती है, परन्तु ऐसा हमेशा नहीं किया जा सकता)। हमारा योग सब रोगोंसे जिस पूर्ण संरक्षणकी चेष्टा कर रहा है वह तो केवल ऊर्ध्वमेंसे नीचेकी ओर आनेवाले उस पूर्ण और स्थायी ज्ञानके प्रकाश द्वारा ही आ सकता है जिसके परिणाम-स्वरूप अस्वस्थताकी मनोगत जड़ें उखड़ जाती हैं—अन्यथा किसी और ढंगसे यह नहीं किया जा सकता।

*

लोग ऐसी भविष्यवाणी क्यों करते हैं? इस प्रकारके सुझाव कभी भी नहीं देने चाहिये, मानसिक रूपसे भी नहीं—वे सूचनोंकी तरह कार्य कर सकते हैं और किन्हीं (तथाकथित) अच्छी औषधियोंकी अपेक्षा भी अधिक नुकसान कर सकते हैं।

*

इस प्रकारकी भविष्यवाणियोंको, विशेषकर माताजीके मामलेमें हलके रूपमें सोचना या कहना नहीं चाहिये—दूसरोंके मामलोंमें भी यदि सम्भावना या सम्भाव्यता हो तो उन्हें संबद्ध व्यक्तिसे तबतक गुप्त रखना चाहिये जबतक उन्हें जताना जरूरी न हो। इसका कारण यह है कि बीमारीमें चेतनाकी अवस्था और सुझाव बड़ा हिस्सा लेते हैं।

*

रोगका वेदन पहले केवल सुझावके रूपमें ही होता है: वह तथ्यरूप इसलिये धारण करता है कि तुम्हारी भौतिक चेतना उसे स्वीकार करती है।

यह मनके गलत सुझावकी तरह है—यदि मन इसे स्वीकार कर ले तो यह अन्धकारावृत और अस्तव्यस्त हो जाता है और सामंजस्य एवं स्पष्टतामें लौटनेके लिये उसे संघर्ष करना पड़ता है। देहचेतना और बीमारीके साथ भी ऐसा ही होता है। तुम्हें अपने स्थूल मनसे इसे स्वीकार नहीं बल्कि इससे इनकार करना होगा और इस तरह शरीर-चेतनाको सुझावके दूर फैंक देनेमें सहायता देनी होगी। आवश्यकता पड़नेपर इसके सामने ऐसा विरोधी सुझाव रखो "नहीं, मैं अच्छा हो जाऊंगा; मैं बिलकुल ठीक हूँ और ठीक हो भी जाऊंगा"। और जो भी हो उस सुझावको और उसके द्वारा लाये गये रोगको बाहर निकालनेके लिये माताजीकी शक्तिको पुकारो।

*

सुझावसे मेरा मतलब विचार या शब्द मात्र नहीं है। जब सम्मोहन कर्ता कहता है "सो जाओ" तो यह सुझाव होता है; पर जब वह कुछ बोलता नहीं पर नींद लानेके लिये केवल अपने नीरव संकल्पको लगाता है या चेहरेके ऊपर हाथोंसे संकेत करता है तो वह भी सुझाव होता है।

जब तुमपर कोई शक्ति या रोगका स्पन्दन फैंका जाता है तो यह इस सुझावको शरीर तक ले जाता है। शरीरमें एक लहर आती है—अपने भीतर एक विशेष स्पन्दनके अनुभवके साथ शरीरको सर्दीकी याद आती है या वह सर्दीके स्पन्दनोंको अनुभव करता है और खांसने या छींकने अथवा कंपकंपीका अनुभव करने लगता है—यह सुझाव मनके पास इस रूपमें आता है "मैं कमजोर हूँ, मेरी तबीयत अच्छी नहीं, मुझे जुकाम हो रहा है"।

यहां विरोधीका आशय है योगविरोधी। एक ऐसा बीमारी जो भौतिक कारणोंके फलस्वरूप—यद्यपि विरोधी वैश्व शक्तियां ही इसकी प्रथम कारण होती हैं तो भी—सामान्य ढंगसे आती है वह साधारण बीमारी है। आधारमें गड़बड़ी पैदा करने और उसकी प्रगतिको रोकने या अस्तव्यस्त करनेके लिये योग विरोधी शक्तियों द्वारा—बिना किसी पर्याप्त स्थूल कारणके—किया गया आक्रमण विरोधी आक्रमण है। इसका बाह्य रूप जुकाम या अन्य कोई रोग हो सकता है किन्तु जो आंख केवल बाह्य चिह्नों या परिणामोंको ही नहीं किन्तु शक्तियोंकी क्रियाको भी देखती है, उसके सामने यह भेद बिलकुल स्पष्ट होता है।

*

निर्बलताका सुझाव देह चेतनाके अवचेतन भागमें आता है और इसलिये मन प्रायः इससे अनभिज्ञ होता है। यदि स्वयं शरीर इसके सम्बन्धमें सचमुच सचेतन हो तो समय रहते सुझावोंका पता लगाया जा सकता है और उनके कार्य रूपमें परिणत होनेसे पहले ही उन्हें बाहर फेंका जा सकता है। साथ ही केन्द्रीय चेतना द्वारा अस्वीकृतिको शरीरकी सचेतन अस्वीकृतिका सहारा मिल सकता है तथा वह अधिक तेजीसे और अविलम्ब क्रिया कर सकती है।

*

सुझाव मनुष्यका अपना विचार या वेदन नहीं है, किन्तु एक ऐसा विचार या वेदन है जो बाहरसे, अन्य लोगोंसे, सार्वभौम वातावरणसे या बाह्य प्रकृतिमेंसे आता है,—यदि इसे ग्रहण किया जाय तो यह चिपट जाता है और सत्तापर क्रिया करता है तथा व्यक्तिका अपना विचार या वेदन माना जाता है। यदि उसे सुझावके रूपमें पहचान लिया जाय तो इससे अधिक आसानीसे छुटकारा पाया जा सकता है। अपने सम्बन्धमें शंका, आत्म-अविश्वास और निराश होनेका यह भाव वातावरणमें चारों ओर विचर रहा है तथा लोगोंमें घुसने और उनके द्वारा स्वीकृत होनेके लिये कोशिश कर रहा है; मैं चाहता हूँ कि तुम उसे अस्वीकार करो क्योंकि इसकी उपस्थिति केवल गड़बड़ और संकट ही नहीं पैदा करती किन्तु स्वास्थ्यके ठीक होनेके और साधनाकी आन्तरिक क्रियाकी और फिरसे प्रवृत्त होनेके मार्गमें बाधा डालती है।

जहांतक औषधोपचारका प्रश्न है यह कभी-कभी आवश्यक होता है। यदि कोई तुम्हारी तरह शक्ति द्वारा ठीक हो सके तो सबसे अच्छा — किन्तु यदि किसी कारणवश (उदाहरणार्थ शंका, क्लान्ति या अनुत्साहके कारण अथवा रोगके विरुद्ध प्रतिक्रिया करनेमें असमर्थ होनेसे) शरीर शक्तिको प्रत्युत्तर न दे सके तो औषधोपचार जरूरी हो जाता है। यह नहीं कि शक्ति कार्य करना बन्द कर देती है और सब कुछ औषधियोंपर ही छोड़ देती है,—वह चेतनाके माध्यमसे क्रिया करती रहेगी किन्तु इस इलाजका इस रूपमें सहारा लेगी जिससे वह शरीरके प्रतिरोधपर सीधे कार्य कर सके जो शरीर अपनी सामान्य चेतनामें भौतिक साधनोंको अधिक तत्परतासे जवाब देता है।

*

ये उस विरोधी शक्तिकी लहरें हैं जो ऐसे लोगोंकी परीक्षा करती हुई

आती हैं जिन्हें वे स्पर्श कर सकती हैं। जब तुम इस प्रकारके आक्रमणका अनुभव करो तो तुम्हें यह पूरी तरह समझना चाहिये कि यह तुमपर बाहरसे आ पड़ता है और तुम्हारे अन्दर किसी निर्बल स्थानका स्पर्श करता है और तुम्हें यथा-शक्ति शान्त रहना है, इसका परित्याग करना है और अपनेको खोलना है। तुम्हारे पत्रसे मैं समझता हूँ कि यह भौतिक एवं प्राणिक-भौतिक चेतना थी जिसने इसे चंचल बना दिया और विद्रोहकी ओर प्रवृत्त किया और इसने तुम्हारी समग्र चेतनाको अपने हाथमें नहीं लिया। यदि इसके आनेपर तुम इसे इस प्रकार किसी स्थानमें सीमित रख सको और मन तथा हृदयमें शान्त बने रहो एवं इसे अस्वीकार कर दो तो इसे बाहर निकालना इतना कठिन नहीं होगा। शान्ति और शक्तिको नीचे इस प्राणिक-भौतिक (स्नायविक) हिस्सेमें और समस्त देहमें तबतक बुलाना होगा जबतक तुम वातावरण और शक्तिको सदा ही तुम्हें एवं तुम्हारे अन्दर सारे शरीरमें, न कि केवल तुम्हारे ऊपर या चारों ओर, आच्छादित करते हुए अनुभव न करो। यदि फिर भी कठिनाईका अनुभव हो तो इसका कारण स्नायविक सत्तामें प्रतिक्रियाकी पुरानी आदत और वहांकी कोई विशेष कमजोरी है; पर लगे रहो, पुरानी शक्तियोंके आक्रमणको सहमति न दो। आदत कम होते-होते लुप्त हो जायगी तथा सच्ची शक्ति शरीरको अधिकारमें करके निर्बलताको हटा देगी।

*

यह असंस्कृत प्राणिक-भौतिक चेतना है जो इस तरह तुम्हारे अन्दर लौट आती है—और इसका बारंबार लौटना ही रोग, दुर्बलता और तमस्के सभी वेदनोंका कारण है जो तुम्हें अनुभव होते हैं। इस हिस्सेके अन्दर उच्चतर चेतनाके अवतरण द्वारा इसका परिशोधन तुम्हारी साधनाके लिये बहुत अधिक जरूरी है।

*

ऐसे दो स्थान हैं जिनमें यह (अपरिष्कृत प्राणिक-भौतिक चेतना) लौट सकती है—नीचे अवचेतन प्राणिक चेतनामें या चारों ओर पारिपार्श्विक चेतनामें। जब यह लौटती है तो अवचेतनकी होनेपर यह नीचेसे ऊपर उभरती है, तथा पारिपार्श्विक होनेपर बाहरसे हमारे पास आकर हमें घेर लेती है।

*

इसमें कोई रहस्य नहीं है। तुम्हारे अन्दर ये चीजें बहुत समयसे उग्र और हठीले रूपमें विद्यमान थी और तुम उनमें रम रहे थे। परिणामतः तुम्हारे परित्याग करना शुरु करनेके बाद भी उन्हें लौटनेकी इतनी अधिक शक्ति प्राप्त थी कि वे बार-बार लौटती थी, पहले तो अभ्यासके कारण, दूसरे उनके इस विश्वासके कारण कि उनका तुमपर अधिकार है, तीसरे स्वीकृतिकी और निष्क्रिय प्रत्युत्तरकी आदतके कारण अथवा उस सामर्थ्यके कारण जिसकी छाप भौतिक चेतनापर अंकित हो/गई है। यह भौतिक चेतना अभी मुक्त नहीं हुई है, इसने प्राणके समान उच्चतर शक्तिको प्रत्युत्तर देना शुरू नहीं किया है, इसलिये यह इनके आक्रमणका प्रतिरोध नहीं कर सकती। इसलिये ये शक्तियां, बाहर फैंक दिये जानेपर चारों ओरकी चेतनामें लौट जाती हैं और वहां छिपी रहती हैं तथा किसी भी अवसरपर उन्हें ग्रहण करनेके अभ्यस्त केन्द्रों (बाह्य मन और बाह्य भाव-प्रधान सत्ता) पर आक्रमण करके अन्दर घुस आती हैं। ऐसा अधिकतर साधकोंके साथ होता है—दो चीजें आवश्यक हैं—(1) भौतिक चेतनाको उच्चतर शक्तियोंके प्रति पूरी तरह खोलना, (2) और उस भूमिकापर पहुँचना जहां शक्तियां आक्रमण करें तो भी पूरी तरह अन्दर आ न सकें साथ ही आन्तरिक सत्ता शान्त और मुक्त रहे। उसके बाद यदि फिर भी सतहपर कोई सतहपर कोई कठिनाई बाकी रह जाय तो भी इस प्रकारके पराजय नहीं होंगे।

*

तुम्हारे पास आये ये सारे सुझाव निःसन्देह ही भौतिक चेतनापर हुए आक्रमणके अंग थे,—शरीरपर हुआ आक्रमण इन विचारोंको उत्पन्न करनेके लिये उपयोगमें लाया जाता है और इन विचारोंका उपयोग शरीरके स्वस्थ होनेमें अधिक कठिनाई पैदा करनेके लिये किया जाता है। एक विशेष अवस्थामें आक्रमण शरीरपर जोरसे टूट पड़ते हैं क्योंकि विरोध करनेवाली शक्तिया मन और प्राणको सीधे विचलित करनेमें पहलेकी अपेक्षा अधिक कठिनाई अनुभव करती है, इसलिये वे भौतिक सत्तापर इस आशासे टूट पड़ती हैं कि इससे काम बन जायगा क्योंकि भौतिक सत्ताका भेदन अधिक आसान है। परन्तु आक्रमणके प्रति मन या प्राणकी सूक्ष्मतर संवेदनशीलताके समान ही शरीरकी संवेदनशीलता अक्षमताका प्रमाण नहीं है—यथा समय इसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। जहां तक माताजी सम्बन्धी भावनाओं और इस बातका प्रश्न है कि उनका प्रेम कामके प्रतिफलके रूपमें या केवल उन्हें ही दिया जाता

है जो अच्छी तरह साधना कर सकते हैं, यह प्राणिक-भौतिक मनका आम बुद्धि-हीन विचार है और इसका कोई मूल्य नहीं है।

स्वास्थ्यके लिये शरीरकी देखभाल करनेमें कोई बुरी बात नहीं है, और यदि जिगर खराब हो गया हो तो बहुत मीठे अथवा स्निग्ध या भारी भोजन-से परहेज रखनेकी सहज वृत्ति सही वृत्ति है। रोगके समय परहेज रखनेसे माताजीको कोई आपत्ति नहीं है न ही उन्हें इस बातका आग्रह है कि तुम दाल खाओ। उन्हें आपत्ति केवल उस बातपर है जिसे लोग प्रायः किया करते हैं अर्थात् इस या उस भोजनके सम्बन्धमें विचार करते रहना और तब भी भोजनसे परहेज रखना जब कोई उग्र बीमारी न हो। जिगर जब बहुत अधिक खराब हो गया हो तो भोजनसे परहेज रखना प्रायः जरूरी होता है। केवल व्यक्तिको गलत विचारोंके द्वारा पेटकी स्नायविक असमर्थताको या एक लम्बे स्नायविक अजीर्णको उत्पन्न नहीं करना चाहिये। उनका कोई दूसरा आशय नहीं था।

मैं आशा करता हूँ कि तुम जल्दी ही अच्छे हो जाओगे। यदि शरीर अपने-आपको ठीक नहीं करता, तो तुम्हें मुझे समय-समयपर इसके विषयमें सूचित करते रहना चाहिये।

*

जो भौतिक कठिनाई तुम्हारे लिये भाररूप बन गई है उसके मुझे दो कारण लगते हैं। पहला तो यकृत्की खराबी जो कमजोर करती है और अभी और भी अधिक कमजोर बनायेगी यदि इसके कारण तुम अपना भोजन उससे भी अधिक घटा दो जिसकी शारीरिक प्रतिक्रियाकी पर्याप्त सामर्थ्य बनाये रखनेके लिये आवश्यकता है—और यकृत्की खराबीके साथ ही बहुत करके अनिद्रा और स्नायविक प्रवृत्ति तथा उसके सभी परिणाम भी उसके कारण हैं। दूसरा है निम्नतर प्राण और स्थूल चेतनाकी जड़ता जो इसे इस शिथिलताको फैंक देनेसे, आक्रमणोंके विरोधमें प्रतिक्रिया करनेसे और इन्हें हटानेवाली शक्ति-के प्रति स्थिरता पूर्वक उद्घाटित होनेसे रोक देती है। इस सबका कारण है तुम्हारे उस सन्तुलनका नाश जो इतने लम्बे समयतक तुम्हारे अन्दर विद्यमान था, इसे उत्पन्न करनेवाली प्राणिक गड़बड़ी और उस गड़बड़ीके कारणोंको बाहर फैंक देनेके आग्रहके विरोधमें निम्नतर प्राणकी प्रतिक्रिया। यह प्रतिक्रिया उन वस्तुओंको खो देनेके कारण हुए विक्षोभसे उत्पन्न हुई प्रतीत होती है जिन्हें वह अब भी पकड़े हुए था—इस प्रकारकी प्रतिक्रिया सदैव स्थूलचेतनाकी

निष्क्रियताको उत्पन्न करती है, जब कि इसके विपरीत, निम्नतर प्राणमें सही प्रतिक्रिया उस शान्ति, मुक्ति और अचंचलताके भावको लाती है जो निम्नतम स्थूल भागोंको उच्चतर चेतना और शक्तिके प्रति निश्चित रूपसे उद्‌घाटित करती है। यदि तुम इसे जीत सको और पुराने संतुलनको फिरसे प्राप्त कर सको तो इन सब चीजोंको लुप्त होनेको बाध्य किया जा सकता है।

शरीरके विषयमें सावधानी अवश्य ही बरतनी चाहिये, ऐसी सावधानी जो इसकी उत्तम स्थिति विश्राम, निद्रा, समुचित भोजन और पर्याप्त व्यायामके लिये आवश्यक है; यह अच्छा नहीं है कि व्यक्ति इसके विषयमें बहुत अधिक विचार और चिन्ता करता रहे, बीमारीके समय निराश हो जाय आदि-आदि, क्योंकि ये चीजें अस्वस्थता और कमजोरीको प्रोत्साहित करती हैं और उसे बढ़ाती ही हैं। यकृत् पर बीमारीके आक्रमण होने जैसी वस्तुओंके लिये आवश्यकता पड़नेपर दवाई ली जा सकती है।

किन्तु हमेशा सच्ची आन्तरिक स्थिति, आन्तर और बाह्य अचंचलता, श्रद्धा, देहचेतनाका माताजी और उनकी शक्तिके प्रति उद्‌घाटन ही स्वस्थ होनेके यथार्थ उपाय हैं——अन्य वस्तुएं केवल गौण, मदद और उपाय रूप ही हो सकती हैं।

*

'क्ष' की सारी तकलीफका कारण है उसका अपने अहंकार, विचारों, मांगों, कामनाओं और इरादोंके लिये आग्रह रखना और उन्हें प्रकट करनेमें उसका लड़ाकू स्वभाव जिसके कारण वह हरेकके साथ झगड़ पड़ता है। झगड़ा करनेका यह स्वभाव उसे प्राणिक भूमिकाकी सब प्रकारकी शक्तियों और उनके आक्रमणोंके प्रति उद्‌घाटित कर देता है। जिगर और उन पाचक अवयवोंको हुए नुकसानका भी यही कारण है——क्योंकि झगड़ालू मन और क्रोध हमेशा जिगर और इसके द्वारा पेट तथा आंतोंको बिगाड़ देते हैं। जिस प्रकार उसका झगड़ालूपन बहुत भीषण है उसी प्रकार जिगर और पाचन क्रियाको हुई हानि भी अत्यधिक हैं। यदि वह अपने स्वास्थ्यको और अपनी साधनाको फिरसे ठीक करना चाहता हो तो उसे अपने अहंकारसे, झगडालू स्वभावसे और अन्य लोगोंके प्रति बुरे भाव रखनेसे मुक्त होना होगा।

*

शरीरपर आक्रमण होनेपर यदि तुम्हें अवसादका अनुभव न हो तो यह बड़ी भारी प्राप्ति है।

तुम्हारे वर्णनके अनुसार दर्द स्वयं स्पष्ट ही स्नायुसे सम्बन्ध रखता है और, यदि तुम सत्ताके अधिक भौतिक स्तरोंमें उद्‌घाटनको विकसित करो, तो शक्तिकी क्रिया इसे सदैव हटा सकती है या तुम स्वयं शक्तिका प्रयोग करके इसे दूर धकेल सकोगे। यह देहचेतनामें उद्‌घाटन की आदत डालनेका विषय है।

चेतना या अचेतना, जैसा कि तुमने फ्रेन्च अध्ययनके मामलेमें देखा, अवस्थापर निर्भर करती है। यह बात नहीं कि तुम अचेतन हो, किन्तु यह कि भौतिकसत्ता तामसिक अवस्था (जड़ताकी अवस्था) की ओर झुकी हुई है और तब यह या तो निष्क्रिय अथवा अन्धकारमयी, मूढ़ और अचेतन हो जाती है; तमस्‌के चले जानेपर स्थिति प्रकाशपूर्ण हो जाती है और जो चीज पहले कठिन लगती थी वह स्वाभाविक और सरल बन जाती है। हमें जो कुछ प्राप्त करना है वह सब है भौतिक चेतनाको तमस् या जड़तामें फिरसे गिर पड़नेकी आदत से छुटकारा दिलाना और इसे शक्तिकी क्रियाके प्रति उद्‌-घाटित करके और उसका आदी बनाकर ही यह किया जा सकता है। शक्तिकी क्रिया सतत बन जानेपर जड़ता और अधिक नहीं रहेगी।

*

यह कोई भौतिक वस्तु नहीं है किन्तु प्राणिक अवसाद (समग्र प्राण नहीं, पर उसका कोई हिस्सा) है जो शरीरको अपनी नमनीयता फिरसे प्राप्त करनेसे रोकता है। प्राणका कोई ऐसा भाग था जो आमूलं परिवर्तनका विरोध कर रहा था और यहां तक कि तुम्हारे मनके अनजाने ही अपनी राह चलते रहनेकी कोशिश कर रहा था क्योंकि यह शरीरके शेष भागमें परिवर्तनके आवरण-के नीचे छिपा हुआ था। अब, इस अन्तिम मामलेके कारण, इसे चोट लगी है और वह अवसन्न हो गया है और जब प्राण इस तरह अवसादग्रस्त हो हो जाता है तो यह शरीरको प्रभावित करता है। तुम ठीक ही कहते हो कि यह उसके भीतर हो रहे परिवर्तन या मोड़का अंग है। किन्तु तमस् और निर्बलताके ये प्रभाव जारी नहीं रहने चाहिये; ज्यों ही प्राणिक अंग मोड़ या परिवर्तनके लिये प्रसन्नतापूर्वक मौन स्वीकृति देगा त्यों ही नमनीयता एवं ऊर्जा लौट आयेगी।

*

शारीरिक पीड़ाका उद्गम भी वहीं है जो प्राणिक प्रकृतिकी गड़बड़ीका; दोनों उस एक ही बाहरी शक्तिके आक्रमण हैं जो तुम्हें मार्गभ्रष्ट करना चाहती है या मार्गभ्रष्ट न कर सकनेपर तुम्हें परेशान और विक्षुब्ध करना चाहती है। एक बार जब तुम प्राणिक आक्रमणसे मुक्त हो सको और इसके पुनरागमनको रोक सको तो उस भौतिक कष्टसे भी मुक्ति पाना अधिक आसान हो जायगा जिसका मूल स्नायवीय (प्राणिक भौतिक) सत्तामें है; यद्यपि उसके लक्षण भौतिक बीमारी जैसे ही प्रतीत होते हैं तो भी साधारणतया यह कालविशेषके लिये स्नायविक भागपर होनेवाले आक्रमण हैं और इसे कमजोर बनाते हैं, इसी कारण तुम्हें पीड़ा होती है।

सदा शान्त बने रहो और अपनेको उद्घाटित करनेमें लगे रहो जो शक्ति तुम्हें प्राणिक कष्टोंसे छुटकारा दिलाती है वह स्नायविक भाग और भौतिक देहकी अव्यवस्थाको भी हटा सकती है।

*

पहले-पहल वे (पीड़ाएं) ऐसा ही करती हैं; जब व्यक्ति उन्हें एक स्थानसे भगाता है तो वे दूसरे स्थानपर चली जाती हैं। वे किसी स्थानपर स्थिर हो जायें इसकी अपेक्षा यह अधिक अच्छा है।

*

ये बीमारियां न तो प्राणमें न ही शरीरमें रहती हैं—बाहरकी कोई शक्ति ही इन्हें उत्पन्न करती है, और स्नायविक सत्ता (भौतिक-प्राणिक-सत्ता) एवं देह अभ्यासवश या इन्हें दूर बाहर फैंकनेमें असमर्थ होनेके कारण प्रत्युत्तर देते हैं। ऐसा न कहना सदैव अच्छा है "अब मैं और अधिक बीमार नहीं पड़ूँगा"; यह इन अहित चाहनेवाली शक्तियोंके ध्यानको आकृष्ट करता है है और वे तुरन्त ही यह बात सिद्ध करना चाहती हैं कि वे अब भी शरीरमें गड़बड़ी पैदा कर सकती हैं। बस, जब वे आयें तो उन्हें अस्वीकार कर दो।

*

तुम्हारी भौतिक चेतनापर आक्रमणके द्वारा ही पुरानी शक्तियां गलत अवस्थाको वापिस ला रही हैं। जैसे तुम्हें पहले प्राणिक क्रियासे पीछे हटकर

खड़े होनेकी और उसे एक स्थानपर सीमित करनेकी शक्ति प्राप्त हुई थी जब कि तुम्हारी शेष चेतना निरीक्षण करती थी और उससे अभिभूत न होती थी, इसी तरह तुम्हें भौतिक पीड़ा एवं बेचैनीसे पीछे हटकर खड़े होना और उसे एक स्थानपर सीमित करना सीखना होगा। यदि तुम यह कर सको और पूरी तरह करो तो पीड़ा या बेचैनी स्वयं अधिक सरलतासे और शान्तिसे हटाई जा सकेगी और तुम निर्बलताके भावसे इस प्रकार अभिभूत नहीं होगे। तुम देख सकते हो कि शक्तिमें पीड़ाएं दूर करनेकी शक्ति है; परन्तु तुम अपने-आपको घबड़ाकर अभिभूत हो जाने देते हो और इसके लिये निरन्तर सफलता पूर्वक कार्य करना कठिन हो जाता है। उस समय जो कार्य प्राणमें किया गया था वह भौतिक देहमें भी करना होगा। आक्रमणोंसे मुक्त होनेका यही एकमात्र उपाय है।

*

तुम्हें देहके इन वेदनोंसे और उसके बीमारीका अंगीकार करनेसे अपनी चेतनाको पूरीतरह पृथक् करनेके लक्ष्यको प्राप्त करना होगा तथा पृथक् हुई चेतनासे शरीरपर कार्य करना होगा। केवल इसी प्रकार इन चीजोंसे छुटकारा हो सकता है या इन्हें निष्प्रभाव किया जा सकता है।

*

यदि यह (चेतना) पृथक् हो जाय तो इसे उनसे (पीड़ाओंसे) कष्ट नहीं पाना चाहिये। पीड़ाओंके होनेपर भी, शरीर तो कष्ट पा सकता है किन्तु चेतनाको स्वयं उससे कष्ट पाने या पराभूत होनेका अनुभव नहीं होना चाहिये।

*

पीड़ाका कारण यह है कि अज्ञानमें स्थित स्थूलचेतना इतनी सीमित है कि वह अपने साथ होनेवाले स्पर्शोंको सहन नहीं कर सकती। अन्यथा, वैश्व चेतनाको अपनी पूर्ण ज्ञान और पूर्ण अनुभवकी अवस्थामें सब स्पर्शोंका अनुभव आनन्दके रूपमें होता है।

*

अत्यधिक सर्दी और गर्मीको सहनेके लिये व्यक्तिके लिये पहले कोषाणु-ओंमें शान्ति और फिर संहत शक्ति धारण करना आवश्यक है। पीड़ा और बेचैनी ऐसी भौतिक चेतनासे उत्पन्न होती है जो इतनी शक्तिशाली नहीं होती कि वस्तुओंके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओंको निर्धारित कर सके।

*

शरीर स्वभावतः ही (भौतिक पीड़ाका अनुभव करता है) —किन्तु वह उसे प्राण और मनमें संक्रान्त कर देता है। सामान्य चेतनामें होनेपर प्राण उद्विग्न और दुःखी हो जाता है और उसकी शक्तियां घट जाती हैं, मन उसके साथ एकाकार होकर अशान्त हो जाता है। मनको उससे अविचलित रहना होगा और प्राणको अप्रभावित तथा शरीरको उसे समतापूर्वक ग्रहण करना सीखना होगा जिससे उच्चतर शक्ति कार्य कर सके।

*

आत्मा किसी प्रकारकी पीड़ासे कभी भी प्रभावित नहीं होता। चैत्य उसे शान्तिपूर्वक ग्रहण करके आवश्यक क्रियाके लिये भगवान्को अर्पित कर देता है।

*

व्यक्ति स्थूल मनको भी पीड़ासे अलग करके इस प्रकार आगे बढ़ते रहनेमें समर्थ होता है मानों वहां कुछ हो ही न, किन्तु स्थूल मनको इस प्रकार अलग करना इतना आसान नहीं है।

*

मुख्य कठिनाई यह प्रतीत होती है कि तुम नस-नाड़ियोंकी उत्तेजनाके अत्यधिक वशमें हो—समग्र सत्तामें केवल अचंचलता एवं स्थिरता लानेपर ही साधनामें स्थिर प्रगतिका आश्वासन दिया जा सकता है।

स्वस्थ होनेके लिये पहली चीज यह करनी चाहिये कि स्नायुओंके आक्रमण-के वशमें मत होओ—तुम इन विचारों और वेदनोंके जितना अधिक वशमें

होते हो और उनके साथ तादात्म्य करते हो वे उतने ही अधिक बढ़ते हैं। तुम्हें अपनेको पीछे हटा लेना है और अपने अन्दर किसी ऐसी वस्तुको फिरसे खोज निकालना है जो पीड़ाओं और अवसादोंसे प्रभावित नहीं होती, उसके बाद वहां स्थित होकर तुम पीड़ाओं और अवसादोंसे मुक्ति पा सकते हो।

यदि तुम दूसरे लोगोंकी बात सुनो और उनके विचारोंकी संतुष्टिको ही अपने कार्यका आधार बनाओ तो तुम उस सही वृत्तिको कैसे स्थिर रख सकोगे जो एकमात्र तुम्हें काममें सहारा दे सकती है? तुम्हें माताजीके लिये काम करना है, उन्हें अपने अन्दर कामके द्वारा ढूँढ़नेके लिये,—न कि अन्य लोगोंकी आ-लोचनासे अपने-आपको बचानेके लिये।

*

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि कल रात तुमने विक्षोभको बाहर निकाल दिया—अब देह चेतनाकी ग्रहणशीलताको इस प्रकार कायम रखो कि वह बिलकुल भी न लौटे, या यदि वह लौटनेकी कोशिश करे तो तुरन्त ही उसे बाहर निकाल दिया जा सके। तुम्हें हमेशा अचंचल बने रहनेकी चेष्टा करनी होगी और अवसाद या विक्षोभ लानेवाले विचारों या भावोंको अपने अन्दर प्रवेश करने देना या अपने मन या वाणीका कब्जा लेने देना नहीं होगा—आन्तरिक अचंचलता और विशालता प्राप्त कर लेनेके बाद ऐसा कोई सच्चा कारण नहीं कि इसे च्युत होने और इन वस्तुओंको घुसने दिया जाय। और यदि मन अपनी अचंचलता और केवल उच्चतर शक्तियोंके प्रति अपनी ग्रहण-शीलताको बनाये रखे तो यह उन अचंचलता और ग्रहणशीलताको देह-चेतनामें और यहांतक कि देहके स्थूल कोषाणुओंमें भी आसानीसे संचारित कर सकता है।

*

यह चाहे जो भी हो—रोगकी साधनाको रोकनेकी शक्तिका अस्तित्व नहीं रहना चाहिये। यौगिक चेतना और उसकी प्रवृत्तियां अवश्य रहनी चाहिये चाहे देह स्वस्थ हो या अस्वस्थ।

*

सन्धिवातके कारण कामको बन्द करनेका कोई लाभ नहीं (जबतक वह इस ढंगका न हो कि व्यक्तिको काम करनेके अयोग्य बना दे) —यह केवल स्थितिको और भी अधिक बिगाड़ देता है।

*

तुमने अपनी चेतनाको उद्‌घाटित किया इसलिये पीड़ा विलीन हो गई। निद्राके समय इसके लौट आनेका कारण यह रहा होगा कि तुमने स्पर्श खो दिया और तुम सामान्य चेतनामें फिरसे जा पड़े। ऐसा प्रायः होता है।

*

हां, यदि तुम पर्याप्त नींद न लो तो देह-तन्त्र इन (रोगके) आक्रमणोंके प्रति अधिक उद्‌घाटित हो जाता है। यदि उसे अच्छी स्थितिमें रखा जाय, तो साधारणतया यह इन्हें स्वतः ही दूर भगा देता है और व्यक्तिको यह भी पता नहीं चलता कि कोई आक्रमण हुआ है।

*

मैंने कहा कि जब शरीर अच्छी स्थितिमें होता है तो यह वातावरणमें विद्यमान आक्रमणको स्वतः ही पीछे हटा देता है और मनको यह पता भी नहीं लगता कि आक्रमण हुआ है। यदि आक्रमण आपसे आप दूर हो जाये तो फिर उससे निबटनेकी जरूरत ही क्या है?

*

विरोधी-दबाव ही शरीरमें एक निश्चित काल या कालोंमें रोगके बार-बार लौटनेकी आदत को संगठित कर रहा है। यह नियत कालमें बार-बार लौटनेकी आदत किसी भी बीमारीको बने रहनेके लिये बहुत अधिक बल प्रदान करती है, क्योंकि देह-चेतना पुनः लौटनेकी प्रतीक्षा करती रहती है और यह प्रतीक्षा उसके लौटनेमें सहायक होती है।

*

मनकी यह प्रतीक्षा ही आक्रमणके लय-तालको बनाये रखनेमें सबसे अधिक सहायक होती है। यदि कोई इससे मुक्त हो जाय तो लय-तालका भी भंग हो सकता है।

*

मैं नहीं समझता कि हकलानेका फेंफड़ोंकी निर्बलताके साथ कोई सम्बन्ध है, न यह वाक् तन्तुओंकी विकृत रचनाके कारण ही होता है—यह सामान्यतया एक स्नायवीय (भौतिक-स्नायवीय) बाधा है जो पूरी तरहसे ठीक की जा सकती है। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इसका कोई उपाय जानता हूँ—लोगोंने इस बाधापर हावी होनेके लिये विभिन्न प्रकारके उपायोंका प्रयोग किया है, परन्तु उन सबके पीछे संकल्प-शक्ति और उच्चारणका धीरतापूर्ण अनुशासन अनिवार्य है।

*

तुम्हें अपने नेत्रोंके विषयमें सावधान रहना चाहिये। रातको (बहुत अधिक) पढ़ना वाछनीय नहीं है। सूर्य-चिकित्साके दो सुझाव ऐसे हैं जिन्हें मैंने निराधार नहीं पाया है, एक है वस्तुओंको देखते या पढ़ते समय मुक्त रूपसे पलक मारते रहना और अपनी आंखोंको या दृष्टिको किसी वस्तुपर गड़ाये न रखना। दूसरे आंखोंको हथेली द्वारा ढकनेसे बहुत लाभदायक आराम मिलता है—हथेलीसे ढकनेका अर्थ है हाथोंको (आंखोंको दबाये बिना) बन्द आंखोंपर एक दूसरेपर इस तरह आड़े रहना जिससे सारा प्रकाश बन्द हो जाय।

*

तुमने जो लिखा है वह सिरमें सर्दी पच जानेपर प्रायः होता है क्योंकि व्यक्ति साधारणतया मानसिक विचारोंके संचारके लिये मस्तिष्कके कोषाणुओंपर ही निर्भर करता है। जब मन मस्तिष्कके कोषाणुओंपर इतना आश्रित नहीं होता तो सर्दी स्पष्ट दर्शन और चिन्तनमें बाधा नहीं पहुँचाती और व्यक्ति यान्त्रिक मनमें फिरसे फैंक नहीं दिया जाता।

*

निःसन्देह ज्वर अधिकतर शरीरके अन्दर घुसी हुई अशुद्धियोंसे लड़कर उन्हें शरीरसे बाहर निकाल देनेके लिये होनेवाला संघर्ष है, किन्तु कभी-कभी इलाज यदि अधिक नहीं तो रोग जितना ही बुरा होता है। कठिनाइयोंके साथ भी ऐसा ही होता है—कभी-कभी रोगके परिणाम स्वरूप कुछ अशुद्धियां बाहर फैंक दी जाती हैं किन्तु रोग लाभकी अपेक्षा नुकसान भी अधिक कर सकता है।

*

(इन्फ्लुएन्जाके आक्रमणके बाद:) पहली चीज यह करनी चाहिये कि सर्वत्र पूर्ण अचंचलता बनाये रखो और अपने अन्दर चिन्ताकुल आतुरता या अवसादके विचारोंको न आने दो। इन्फ्लुएन्जाके इस उग्र आक्रमणके बाद यह बिलकुल स्वाभाविक है कि कमजोरी आये और स्वास्थ्यकी प्रगति डांवाडोल रहे। तुम्हें स्थिर और आश्वस्त बने रहना चाहिये और चिन्तित या बेचैन नहीं होना चाहिये—बिलकुल शान्त हो जाओ और जबतक आवश्यक हो आराम करनेके लिये तैयार रहो। चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं; आराम करो और स्वास्थ्य एवं बल पुनः प्राप्त हो जायेगा।

*

गृध्रसी (Sciatica) स्नायवीय बीमारीसे अधिक कुछ है—यह स्नायुओं द्वारा मांसपेशियोंकी क्रियाको प्रभावित करती है। तथापि यदि तुम शक्तिको उस ओर प्रेरित कर सको तो इससे तुरन्त छुटकारा पाया जा सकता है।

*

ऐसा कोई बाहरी उपाय नहीं है। गृध्रसी एक ऐसी चीज है जो केवल आन्तरिक संकेन्द्रित शक्तिके ही वशमें आती है या फिर स्वयं चली जाती और फिर चली आती है। बाह्य उपचार अधिक-से-अधिक उसका उपशमन ही कर सकते हैं।

*

शरीरमें जड़ता इसलिये है क्योंकि तुम्हारी बाह्य सत्तामें सदा ही तमस्‌की एक भारी शक्ति रही है और प्रतिरोधके द्वारा इसका ही प्रयोग किया गया है। बाह्य मनमें एक स्थिर संकल्प शक्तिकी भी कमी थी जिसके कारण शक्तिका नीचे आना ज्ञानकी अपेक्षा अधिक कठिन हो गया है। जब तुम पूरी तरह खुले होते हो तो शक्ति गृध्रसी पर कार्य कर सकती है और यह बीमारी कम हो जाती है या मिट जाती है, परन्तु जड़ता द्वारा चेतनाके अवरुद्ध हो जानेसे ये कठिनाइयां रास्तेमें बाधा पहुँचाती हैं।

*

हमने यह हमेशा पाया है कि यह (गृध्रसी) शक्तिका प्रतिरोध नहीं कर सकती यदि उसका प्रयोग शान्तभावसे और लगकर किया जाय। दूसरी बीमारियां प्रतिरोध कर सकती हैं किन्तु गृध्रसी पूर्णतया तामसिक होनेके कारण नहीं कर सकती। बहुत करके अभी तुम्हारे अन्दर शक्तिका प्रयोग सहज नहीं बन सका है, इसलिये इसके कारण एक संघर्षका बोध होता है न कि शान्त नियन्त्रण-का, उसका परिणाम होता है बेचैनी आदि।

यदि तुम आन्तरिक उपायों द्वारा गृध्रसीसे मुक्त न हो सको तो इसका शास्त्रीय इलाज यह है (इसे ठीक करनेके लिये नहीं, किन्तु यथासम्भव अधिक-से-अधिक समयतक इससे मुक्त रहनेके लिये) कि तुम अपनेको थकाओ नहीं। यह कुछ कालोंके लिये आती हैं जो सप्ताहोंतक हो सकते हैं, उसके बाद अकस्मात् मिट जाती है। यदि तुम भौतिक रूपसे शांत रहो और बहुत सक्रिय न रहो तो संभव है कि यह बहुत समयतक न आये। परन्तु निःसन्देह इसका अर्थ है एक निष्क्रिय, भौतिक रूपसे असमर्थ जीवन। गृध्रसीको,—और तमस्‌को भी अनन्तकालतक खींचते रहनेसे मेरा यही मतलब है।

*

क्षय रोग एक उग्र चैत्य-प्राणिक अवसादका परिणाम है। यौनवृत्ति क्षय रोगको सीधे नहीं उत्पन्न कर सकती यद्यपि यह प्राणिक शक्तियोंकी कमी पैदा करनेमें और क्षयरोगकी ओर प्रेरित करनेवाली सहायक शक्तियोंसे चैत्यको अलग करनेमें एक कारण हो सकती है। इसलिये प्राण शक्तिका अभाव जो आधुनिक सभ्यताके परिणाम स्वरूप आसानीसे आ जाता है, एक बहुत प्रबल सहायक कारण है। आधुनिक लोगोंका स्नायविक-तन्त्र बहुत बलवान् नहीं

होता और उनमें प्राचीन लोगोंकी तरह जीवनके प्रति स्वाभाविक (कृत्रिम और विकृत-का विरोधी) उत्साह नहीं है। परन्तु मैं सैनिकोंके विषयमें नहीं जानता — मैं समझता हूँ कि अपनी सभी विकट परिस्थिति और वातावरणवाले बीभत्स खन्दक-युद्धको सहन करना नेपोलियनके समयके खुलेमें होनेवाली कूच और लड़ाईसे कहीं अधिक कठिन है।

*

सब विवरणोंको दृष्टिमें रखते हुए युरोपमें अकाल मृत्यु बहुत कम होती है और मनुष्य कुल मिलाकर लम्बे समयतक जीते हैं। किन्तु स्वास्थ्य विज्ञानकी उन्नति होनेपर भी कुछ विशेष बीमारियां — इन्फ्लुएन्जा, राजयक्ष्मा और यौनरोग बहुत बढ़ गये हैं। नई बीमारियां भी पैदा हो रही हैं जिनका अस्तित्व पहले न के बराबर था यह स्पष्ट ही आसुरिक शक्तियोंका काम प्रतीत होता है।

*

निःसन्देह यह (कर्कट रोग अर्थात् कैन्सर) योग द्वारा ठीक किया जा सकता है पर श्रद्धा या उद्घाटन अथवा दोनों होनेपर ही। मानसिक सूचन भी कैन्सरको ठीक कर सकता है — अवश्य ही भाग्य साथ दे तो — जैसा कि उस स्त्रीके दृष्टान्तसे प्रमाणित होता है जिसपर कैन्सरका ओपरेशन पूरी सफलताके साथ नहीं हो सका किन्तु चिकित्सक झूठ बोले और उन्होंने उससे कहा कि शस्त्रक्रिया सफल हुई है। परिणाम यह हुआ कि रोगके सारे चिह्न मिट गये और उसकी मृत्यु बहुत वर्षोंके बाद बिलकुल और ही रोगसे हुई।

*

औषध-विज्ञान सही अर्थोंमें विज्ञान नहीं है। यह एक सिद्धान्त और परीक्षणात्मक रूपसे (अंधेरेमें) टटोलनेकी, (इधर-उधर) टोहनेकी और भाग्य-की बात है।

*

ऐलोपैथिक औषधशास्त्रका सिद्धान्त प्रभावशाली होता है लेकिन जब इसे लागू करनेका प्रश्न आता है तो इसके लिये इतना अधिक टटोलना और अटकल लगानी पड़ती है कि इसे एक सही विज्ञानकी श्रेणीमें नहीं रख सकते। ऐसे बहुतसे वैज्ञानिक (और अन्य लोग भी) हैं जो औषधशास्त्रको विज्ञानका नाम दिया जानेपर भुनभुनाते हैं। निःसन्देह शरीर रचना विज्ञान और शरीर क्रिया विज्ञान विज्ञान है।

*

इंजेक्शन लेना केवल एक फैशन है; सब वस्तुओंके लिये "सुई लगाओ, सुई लगाओ, और फिर सुई लगाओ"। चिकित्साशास्त्र आधुनिक कालमें तीन अवस्थाओंमेंसे गुजरा है — (प्रारम्भमें मोलिएँरके दिनोंमें) यह अवस्था "नश्तर और बस्ति" की थी — फिर "औषध एवं पथ्य" की — अब यह "लसीका" (Serum) तथा सूई लगाने," की है। भगवान्की जय बोलो! रोगोंके लिये नहीं, बल्कि चिकित्सकोंके लिये। तो भी इन सूत्रोंमेंसे प्रत्येकके पीछे आंशिक सत्य — इसके लाभों और हानियोंके साथ — विद्यमान है। जिस प्रकार सब धर्म और दर्शन परमात्माकी ओर संकेत करते हैं किन्तु प्रत्येक भिन्न दिशामें, इसी तरह सब चिकित्साशास्त्रके प्रचलित ढंग स्वस्थ करनेके उपाय है — यद्यपि वे सदैव वहांतक नहीं पहुँचते।

*

होमियोपैथी सिद्धान्तोंके विषयमें तुम जो चाहे कह सकते हो किन्तु मैंने ऐसे दृष्टान्तोंमें 'क्ष' को उन्हें ब्यौरेवार चरितार्थ करते देखा है जिनमें उसे आजादी थी, काम करनेमें कोई रुकावट न थी, रोगियोंका विश्वास प्राप्त था, एवं वे उसकी आज्ञाओंको कठोरतासे पालते थे और मैंने देखा है कि उनके परिणाम उसके कथनसे मेल खाते हैं, और उनपर आधारित आगाही पूर्ण हुई केवल अक्षरशः ही नहीं किन्तु ठीक नियत किये समयके अनुसार, क्ष द्वारा दिये गये विवरणोंके अनुसार ही नहीं किन्तु परिचर्या करनेवाले ऐलोपैथिक चिकित्सकके सुविस्तृत ब्यौरे और सही प्रतिवेदनोंके अनुसार। उसके बादसे मैं इस बातपर विश्वास करनेसे इन्कार करता हूँ, चाहे सारे ऐलोपैथी चिकित्सक मिल-कर चिल्लायें, कि होमियोपैथी सिद्धान्त या क्ष की व्याख्या और उसका प्रयोग केवल रद्दी और बेहूदी चीज है। जहांतक भूलोंकी बात है, भूलें सब चिकित्सक करते

हैं और बहुत ही भद्दी, रोगीको जैसे वे ठीक करते हैं वैसे मार भी डालते हैं। ...किसी विशेष व्यक्तिपर सिद्धान्तके विनियोगके आधारपर एक सिद्धान्तके समान ही दूसरा सिद्धान्त भी अच्छा और बुरा हो सकता है। परन्तु इसके पीछे कोई अन्य वस्तु है जो इस समस्याका निर्णय करती है।

*

मैंने इस गरमा-गरम ऐलोपैथीवादको अनुत्साहित करनेके लिये कुछ टिप्पणियां लिखी हैं। लेकिन ये सब उग्र विवाद मुझे अब अनुपयोगी प्रतीत होते हैं। मैंने (ऐलोपैथी और होमियोपैथी) दोनोंकी और अन्य पद्धतियोंकी क्रियाको देखा है और मैं किसीके भी एकमात्र सत्य होनेमें विश्वास नहीं कर सकता। उन सब पद्धतियोंमें जो कट्टर शास्त्रीय दृष्टिसे निन्दनीय हैं और उसकी पूरी तरहसे विरोधी हैं, अपना अलग सत्य है, और वे सफल भी होती हैं—और दोनों ही रुढ़िवादी और शास्त्र विरोधी पद्धतियां असफल भी होती हैं। सिद्धान्त केवल एक निर्मित विचारलिपि है जो उस प्रक्रिया-क्रमके अपूर्ण मानव निरीक्षणको प्रस्तुत करती है जिसका अनुसरण प्रकृति करती है या कर सकती है; दूसरा सिद्धान्त अन्य ऐसी प्रक्रियाओंकी एक भिन्न विचार लिपि है उसका भी वह अनुसरण करती है या कर सकती है। ऐलोपैथी, होमियो-पैथी, प्राकृतिक चिकित्सा और अस्थि चिकित्सा, आयुर्वेद चिकित्सा, यूनानी चिकित्सा सबने प्रकृतिको पकड़ लिया और उसपर कुछ प्रक्रियाएं कीं; प्रत्येक-को सफलता या असफलता मिलती है। हरेकको अपने ढंगसे काम करने दो। मुझे झगड़े और परस्पर दोषारोपणकी कोई जरूरत नहीं लगती। मेरे लिये तो सभी केवल बाह्य उपाय हैं और वस्तुतः काम करनेवाली तो पृष्ठ भागमें रहनेवाली अदृश्य शक्तियाँ ही हैं; उनकी क्रियाके अनुसार ही, बाह्य साधन सफल या असफल होते हैं—यदि कोई प्रक्रियाको सही शक्तिका एक सच्चा माध्यम बना सके तो प्रक्रिया अपनी पूरी प्राणवत्ताको प्राप्त कर लेती है—बस इतना ही।

*

औषधिका किसी रोगके लिये विशिष्ट औषधि होना ही पर्याप्त नहीं है। कुछ औषधियोंके अन्य प्रभाव या सम्भव प्रभाव भी होते हैं जिनकी उपेक्षा केवल अपने ही रोगीको ठीक करना चाहनेवाला चिकित्सक कर सकता है

किन्तु किसी पद्धति और उसकी प्रतिक्रियाकी समग्र दृष्टिसे उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वयं चिकित्साशास्त्रके मतानुसार कुनैनकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया-ओंको स्वीकार किया जाता है और युरोपके चिकित्सक कुनैनके स्थानपर किसी और दवाईकी लम्बे कालसे खोज कर रहे हैं।

*

रसौली, फिरंगी रोग आदि विशेष रोग हैं। किन्तु मैंने अपने चैत्य-भौतिक अनुभवमें पाया है कि शरीरके अधिकांश विकार आपसमें जुड़े हुए हैं यद्यपि ये वर्गीकृत होते हैं, किन्तु वर्गोंमें भी परस्पर सम्बन्ध होता है। यदि कोई उनके चैत्य-भौतिक मूलपर कुठाराधात कर सके तो वह देह विकारोंको सम्पूर्णतया जाने बिना और सम्भावनाके रूपमें लक्षणोंके द्वारा क्रिया करके ही रोग ठीक कर सकता है। अर्द्ध रहस्यवादियों द्वारा आविष्कृत कुछ दवाइयोंमें यह शक्ति है। मैं अब इस विषयपर विचार कर रहा हूँ कि होमियोपैथीका कोई चैत्य-भौतिक आधार है या नहीं। इसका संस्थापक क्या कोई अर्द्ध रहस्य-वादी था? अन्यथा 'क्ष' की दवाइयां जिस विशेष ढंगसे कार्य कर रही हैं वह हमारी समझमें नहीं आ सकता।

*

तुम समयसे बहुत पीछे हो। क्या तुम यह नहीं जानते कि बहुतसे चिकित्सक भी अब सार्वजनिक रूपसे यह मानने और लिखने लगे हैं कि औषधियां एक तत्व हैं पर केवल एक ही और मनोवैज्ञानिक तत्व उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक महत्व रखता है? मैंने यह चिकित्सकोंसे सुना है और चिकित्सा सम्बन्धी लेखोंमें पढ़ा है जिनके नीचे प्रसिद्ध चिकित्सकोंके हस्ताक्षर थे। और वे कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक तत्वोंमें एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है चिकित्सकका आशावाद और आत्मविश्वास (उसकी श्रद्धा क्या है? वह भी तो केवल आत्म-विश्वासका दूसरा नाम है) और वह विश्वास, आशा, मदद करनेवाला मानसिक वातावरण जो वह अपने रोगीमें और उसके चारों ओर संचारित कर सकता है। मैंने यह प्रामाणिक रूपसे प्रतिपादित हुए देखा है कि जो चिकित्सक ऐसा कर सकते हैं वे उन लोगोंसे कहीं अधिक सफल हुए हैं जो चिकित्साशास्त्र अधिक जाननेपर भी ऐसा नहीं कर सकते। ...मेरा मतलब यह नहीं था कि यह दवाईके बिना नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि यह दवाइयोंकी सहायतासे

करना हो तो ठीक दवाई ही सहायक हो सकती है, गलत दवाई स्पष्ट ही संकट लाती है। ...उसका ज्ञान अंतर्बोधको कैसे रोकता है? ऐलोपैथीके चिकित्सक को भी प्रायः अन्दरकी सूझसे काम लेना पड़ता है कि कौनसी दवा या कौनसा मिश्रण देना चाहिये—और जिनकी सूझ सबसे अच्छी होती है वे ही सबसे अधिक सफल होते हैं। रूढ़ विज्ञानमें भी सबकुछ नियम या पुस्तक अथवा एकमात्र अनुभव सिद्ध नियमके द्वारा नहीं किया जाता।

*

कैसी बेकार बात है। आत्म विश्वास अन्दर उत्पन्न होनेवाली वस्तु है; यह ज्ञान और अनुभव पर निर्भर नहीं करता।...ऐसा कौन कहता है? मैंने यह कभी नहीं सुना कि नेपोलियन वाटरलूमें आत्म विश्वासके अभावसे हारा। मैंने पढ़ा है कि वह इसलिये हारा कि वह निर्णय लेनेमें पहलेकी तरह तेज, आत्म विश्वासी तथा मानसिक सूझबूझमें इतना नमनीय नहीं रहा था। कृपा करके इतिहास तबतक न लिखो जबतक तुम्हारी नई व्याख्याके लिये तुम्हारे पास कोई आधार सामग्री न हो।

*

तुम्हें केवल यह स्वीकार करना है कि मन और प्राण शरीरको प्रभावित कर सकते हैं—फिर कोई कठिनाई नहीं रहेगी। मन और प्राणकी शरीरपर की जानेवाली क्रियामें श्रद्धा और आशाका अत्यधिक महत्व है। मेरा यह जरा भी आशय नहीं कि वे सर्वशक्तिमान् हैं या उनका प्रभाव अचूक है—ऐसी बात नहीं है। किन्तु वे प्रयुक्त की जा सकनेवाली किसी भी शक्तिकी क्रियाकी सहायता करते हैं यहांतक कि विशुद्ध रूपसे स्थूल प्रतीत होनेवाली शक्तिकी भी, किन्तु जब स्थूल पदार्थोंकी बात आती है तब क्रिया विशुद्ध रूपसे भौतिक हो सकती है। किन्तु ऐसी वस्तुओंमें जिनमें प्राण या मन अथवा मन-प्राण दोनों होते हैं उनमें व्यक्ति भौतिक क्रियाको उस प्रकार पृथक् नहीं कर सकता। इसके साथ हमेशा अन्य शक्तियोंकी क्रीड़ा कम-से-कम ग्रहण करनेमें और अधिकतर उसके प्रारम्भमें और संचालनमें भी मिली रहती है।

*

चमत्कार किये जा सकते हैं किन्तु इसके लिये कोई कारण नहीं कि वे सभी तत्काल ही हों फिर चाहे भगवान्‌के द्वारा हों या चिकित्सकों द्वारा।

*

ये सब चीजें प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय हैं और 'कूए'की सफलताके प्रमाण भारी संख्यामें हैं। संसारभरमें ऐसे अनेक महान् चिकित्सक (उपचारक) हुए हैं जिनकी सफलताएं अच्छी तरह प्रमाणित हुई हैं। श्रद्धा-चिकित्सा और चैत्य-चिकित्सा भी तथ्यात्मक हैं।

*

ये आत्म-सूचन — यह वस्तुतः मानसिक ढंगकी श्रद्धा है — प्रच्छन्न अन्तश्चेतना और अवचेतना दोनों पर ही कार्य करते हैं। प्रच्छन्न चेतनामें वे आन्तर सत्ताकी शक्तियोंको अर्थात् उसकी गुह्य शक्तिको सक्रिय कर देते हैं जिससे विचार, संकल्प या साधारण सचेतन शक्ति शरीरपर प्रभाव डाल सके — अवचेतनमें वे मृत्यु अथवा रोगके (व्यक्त या अव्यक्त) उन सूचनोंको शान्त कर देते हैं या रोक देते हैं जो स्वास्थ्यकी पुनः प्राप्तिमें बाधक हैं। वे मानसिक, प्राणिक और शरीरचेतनामें उन्हीं वस्तुओं (विरोधी सूचनों) से युद्ध करनेमें भी सहायता देते हैं। जहां ये सब बातें पूर्णतया अथवा थोड़ी बहुत पूर्णताके साथ की जाती हैं वहां बहुत विलक्षण प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं।

विभाग पांच

अवचेतना और निश्चेतनाका रूपान्तर

अवचेतना और निश्चेतनाका रूपान्तर

जब तक अतिमानसिक परिवर्तन नीचे अवचेतन तक; समग्रतया और पूर्ण रूपसे नहीं हो जाता तब तक निम्नतर प्रकृति सत्ताके किसी हिस्सेपर सदा ही, अपनी पकड़ जमाये रखती है।

*

इस समय अवचेतन कठिनाई ही विशेष कठिनाई है—क्योंकि सर्व सामान्य साधनाका सारा संघर्ष वहीं चल रहा है। सारा प्रतिरोध अब प्राणिक या सचेतन भौतिक सत्तामें नहीं, किन्तु अवचेतनामें एकत्रित हुआ है।

*

आन्तर सत्ता अवचेतनपर निर्भर नहीं करती परन्तु बाह्य सत्ता तो हजारों जन्मोंतक इस पर ही निर्भर रही है—इसीलिये बाह्य सत्ता और स्थूल चेतना-की अवचेतनको प्रत्युत्तर देनेकी आदत साधनाकी प्रगतिमें भीषण रूपसे बाधक हो सकती है और अधिकतर लोगोंमें ऐसी ही होती है। यह पुरानी क्रियाओंको दुहराती रहती है, चेतनाको हमेशा नीचेकी ओर खींचती रहती है तथा आरोहण-के सातत्यका विरोध करती एवं पुरानी प्रकृति या फिर तमस् (अ-प्रकाश और अ-प्रवृत्ति) को अवतरणके आड़े लाती रहती है। यदि तुम केवल आन्तर सत्तामें ही पूर्णतया एवं सक्रियरूपसे निवास करो और बाह्य सत्ताको बिलकुल उपरि-तलीय वस्तुके रूपमें अनुभव करो, तभी बाधासे मुक्त हो सकते हो या उसे तबतक न्यूनतम करते रह सकते हो जबतक बाह्य सत्ताका रूपान्तर पूर्ण न किया जा सके।

*

अवचेतन एक अन्धकार और अज्ञानसे पूर्ण प्रदेश है, इसलिये यह स्वा-भाविक है कि प्रकृतिकी अधिक अन्धकारमयी प्रवृत्तियोंकी शक्ति वहां अधिक

प्रबल हो। निम्नतर प्राणसे लेकर नीचेके प्रकृतिके सभी निम्नतर भागोंमें ऐसा ही होता है। किन्तु यह अच्छी चीजोंको भी ऊपरकी ओर अवश्य भेजता है यद्यपि बहुत ही कम। साधनाके क्रममें इसे भी आलोकमय बनाना है और स्थूलप्रकृतिमें इसे नैसर्गिक निम्नतर व्यापारोंका आधार बनानेके स्थानपर उच्चतर चेतनाका आश्रय बनाना है।

*

अवचेतनाको प्रकाशसे ओतप्रोत कर देना है और सत्यकी एक तरहकी आधार शिला तथा सच्चे संस्कारोंका, सत्यकी सही स्थूल प्रतिक्रियाओंका भंडार बना देता है। ठीक शब्दोंमें कहें तो यह अवचेतन ही नहीं रहेगा बल्कि हमारे लिये तैयार रखे गये सच्चे मूल्योंका एक प्रकारका कोष बन जायगा।

*

(अवचेतनामें साधनाका) कार्य सार्वजनीन ढंगका हैं, व्यक्तिगत ढगका नहीं, किन्तु यहांके प्रत्येक व्यक्तिपर इसका प्रभाव कुछ हदतक आवश्यक रूपसे पड़ता ही है। यदि अवचेतनके भीतर चेतना और आलोक नहीं लाया जाता तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। क्योंकि अवचेतनमें ही सब पुरानी, निम्नतर प्राणिक सहज प्रवृत्तियों और क्रियाओंके बीज निहित हैं और स्वयं निम्नतर प्राणमेंसे कितना ही साफ किये जानेपर भी वे नीचेसे फिर अंकुरित हो सकते हैं। और अवचेतना दैहिक-चेतनाका भी गुप्त आधार है। अव-चेतनको उच्चतरचेतना और सत्यज्योतिको अपने अन्दर आने देना होगा।

*

मनके नीरव होनेपर ही अवचेतना खाली हो सकती है। हमें करना यह है कि हम पुराने अज्ञानयुक्त सारे अयौगिक (वृत्तिवाले) तत्वको अवचेतनामेंसे बाहर निकल दें।

*

यदि अवचेतनको खाली कर दिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि

तुम साधारण चेतनाको अतिक्रान्त कर गये हो और स्वयं अवचेतन सत्यका उपकरण बननेके लिये तैयार हो गया है।

*

(अवचेतनमें प्रवेश करके उसे परिवर्तित करनेवाले प्रकाशके प्रथम प्रभाव ये हैं:)

1. अवचेतन अपने अन्दरकी चीजोंको अधिक आसानीसे प्रकट करने लगता है।

2. वस्तुएं चेतनाका स्पर्श कर सकें या उसे प्रभावित कर सकें इससे पहले ही मन अवचेतनमेंसे उठनेवाली वस्तुओंके विषयमें सचेतन हो जाता है।

3. अवचेतन अज्ञानमय और अन्धकारपूर्ण व्यापारोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा कहीं. अधिक उच्चतर चेतनाके प्रति स्थूल चेतनाका स्वतः संचालित प्रत्युत्तर बन जाता है।

4. यह विरोधी शक्तियोंके सुझावोंको आश्रय स्थान और प्रवेशका मार्ग कम देता है।

5. निद्रामें सचेतन रहना और उच्च प्रकारके स्वप्नानुभव होना अधिक सुगम हो जाता है। विरोधी स्वप्न—अर्थात् यौन-सुझावोंका स्वयं स्वप्नमें ही मुकाबला किया जा सकता है और उन्हें समाप्त किया जा सकता है तथा स्वप्नदोष जैसे किन्हीं परिणामोंको रोका जा सकता है।

6. सोनेसे पहले स्वप्नावस्थापर लगाया गया जाग्रत संकल्प उत्तरोत्तर प्रभावशाली बनने लगता है।

*

पहले सचेतन भागोंको, विशेष स्थलों और ब्यौरोंको छोड़कर, तैयार करना है—तब तक अवचेतनके साथ सफलतापूर्वक व्यवहार करना असम्भव है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे व्यक्तिको पहले अपने संगीतके सही सिद्धान्तको और उसके कौशलको अपने मानसिक, प्राणिक (सौन्दर्यग्राही) प्रत्यक्ष बोध और संकल्प द्वारा सीखना होता है—और अपनी उंगलियोंको उसे स्थूल रूप देना सिखाना होता है—आगे जाकर उसकी उंगलियोंमें अवचेतन भी अपने कामको सीख लेता है और स्वयं सही चीजको करता है—उदाहरणार्थ आंखोंसे अनुसरण किये बिना सही चाबियोंपर उंगली रखना।

*

क्योंकि अवचेतन सत्ता भौतिक सत्ताके ठीक नीचे है इसलिये आलोकित भौतिक सत्ता इसपर सीधे और पूरी तरह ऐसे ढंगसे कार्य कर सकती है जिस ढंगसे मन और प्राण नहीं कर सकते और इसे सीधी क्रिया द्वारा मन और प्राणको भी मुक्त होनेमें सहायता कर सकती है।

*

यह तथ्य नहीं है कि अरूप वस्तुओंमें शक्ति नहीं होती—सारी जरूरी बात यह है कि उनमें कोई शक्ति होनी चाहिये। अवचेतन शरीरको इसलिये प्रभावित करता है कि शरीरमें सब कुछ अवचेतनमेंसे ही विकसित हुआ है और अन्य स्वयं अभी केवल अर्ध सचेतन ही है और उसकी अधिकांश क्रिया अवचेतन कही जा सकती है। इसलिये यह सचेतन मन और सचेतन संकल्प यहांतक कि प्राणिक मन और प्राणिक संकल्पसे भी अधिक अवचेतन सत्ता द्वारा बहुत अधिक आसानीसे प्रभावित हो जाता है सिवाय उन वस्तुओंके जिनमें कोई सचेतन मानसिक या प्राणिक नियन्त्रण स्थापित हो चुका हो और अवचेतनने इसे स्वीकार कर लिया हो। यदि ऐसा न होता तो मनुष्यका अपनी क्रियाओं और भौतिक अवस्थाओंपर नियन्त्रण पूर्ण रूपसे होता, कोई रोग न होता अथवा यदि होता भी तो मानसिक क्रियाके द्वारा तुरन्त ठीक कर दिया जाता। परन्तु ऐसा नहीं है। इसी कारण उच्चतर चेतनाको नीचे ले आना है, शरीर और अवचेतनको उससे आलोकित करना है और उसके नियन्त्रणको पालन करनेका इसे आदी बनाना है।

*

तुमने जो लिखा वह ठीक है। यदि भौतिक चेतनाको परिवर्तित करना हो तो अवचेतनमें कार्य करना निःसन्देह अनिवार्य है, क्योंकि इसका भौतिक सत्तापर बहुत प्रभाव है जो इसपर बहुत अधिक आधार रखती है। पहले-पहल जब अवचेतनपर काम किया जा रहा होता है तो स्वभावतः चेतना लुप्त हो जाती है। तुम्हें इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि तुम इसके आदी न बन जाओ। यदि तुम इस प्रवृत्तिको बदलनेके लिये संकल्पके साथ प्रतिक्रिया करोगे (इसके लिये संघर्ष आवश्यक नहीं) तो कुछ समय बाद यह प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी।

*

यह (अवचेतन प्राणिक-भौतिक सत्ता) चैत्यके स्पर्शमें जरा भी नहीं है। यह अन्धकारपूर्ण है, चेतन नहीं है और पूर्णतया अज्ञानमय है।

*

स्थूल सत्ता अपने अधिकतम भागमें अवचेतन होती है—अपनी जाग्रत चेतनाके लिये यह सूक्ष्म भागोंपर आधार रखती है।

*

यह ठीक है। चेतनाकी रिक्तता और नीरवता व्यक्तिको अन्तरमें निवास करनेके लिये तैयार करती है, जब कि बाह्य चेतना केवल उपरितलपर निवास करनेके स्थानपर भौतिक जगत्‌के साथ सम्पर्क करने और उसपर क्रिया करनेका साधन ही होती है।

जैसे सिरके ऊपर एक अतिचेतनसत्ता (एक ऐसी वस्तु जो हमारी वर्तमान चेतनाके ऊपर स्थित है) है जिसमेंसे उच्चतर चेतना हमारे शरीरमें नीचे उतर आती है, उसी प्रकार पैरोंके नीचे एक अवचेतनसत्ता (एक ऐसी वस्तु जो हमारी चेतनाके नीचे स्थित है) भी है। जड़तत्व इस शक्तिके नियन्त्रणके अधीन है, क्योंकि इसीमेंसे उसकी उत्पत्ति हुई है—इसलिये जड़तत्व हमें बिलकुल अचेतन प्रतीत होता है। भौतिक शरीर इसी कारणसे इस शक्तिके प्रभावके बहुत अधिक अधीन है; यही बात है कि शरीरमें क्या चल रहा है, इस विषयमें हम अधिकतर सचेतन नहीं होते। जब हम सोये होते हैं तो बाह्य चेतना इस अवचेतनमें नीचे चली जाती है, और सिवाय कुछ स्वप्नोंके, हम नींदमें अपने अन्दर चल रही वस्तुओंके विषयमें अनभिज्ञ रहते हैं। इनमेंसे बहुतसे स्वप्न अवचेतनमेंसे उभरते हैं और असम्बद्ध रूपसे जुड़ी हुई पुरानी स्मृतियों, संस्कारों आदिके बने होते हैं। क्योंकि अवचेतन उन सब वस्तुओंके संस्कारोंको ग्रहण करता है जो हम अपने जीवनोंमें करते या अनुभव करते हैं और इन संस्कारोंको वह अपने अन्दर बनाये रखता है तथा प्रायः उनके टुकड़ोंको ऊपर भेजता रहता है। यह सत्ताका बहुत महत्वपूर्ण भाग है, किन्तु सचेतन संकल्प द्वारा हम इसपर बहुत प्रभाव नहीं डाल सकते। हमारे अन्दर काम करनेवाली उच्चतर शक्ति अपने स्वाभाविक क्रममें अवचेतनको अपने प्रति उद्घाटित करेगी तथा इसके अन्दर अपने नियन्त्रण एवं प्रकाशको नीचे ले आयेगी।

अबोल मनकी बात बिलकुल ठीक है। साधारणतया यह इस अवस्थामें सत्ताकी एकाग्रतामें सहायता देता है।

*

तुम्हें जो स्वप्न आया वह यथार्थमें अवचेतनसे पुरानी रचनाओं या संस्कारोंका उमड़ना मात्र था। हम जीवनमें जो कुछ कार्य, वेदन या अनुभव करते हैं वह सब एक छाप, अवचेतनमें एक प्रकारकी अपनी मूलभूत स्मृति छोड़ जाता है और यह सचेतन सत्तामें इन वेदनों, क्रियाओं या अनुभवोंके समाप्त होनेके बहुत देर बाद भी उभर सकती हैं,—तब तो और भी अधिक, जब कि वे हाल ही में आये हों और केवल अभी या थोड़ी देर पहले मन या प्राणके बाहर फैंक दिये गये हों। इस प्रकार पुराने परिचितों या सम्बन्धियोंके विषयमें सोचना छोड़ देनेके बहुत देर बाद भी उनके सम्बन्धमें इसी उद्गमसे स्वप्न ऊपर आते रहते हैं। इसी प्रकार जब काम या क्रोध सचेतन प्राणको और अधिक कष्ट नहीं देता तब भी कामके या क्रोध एवं कलहके स्वप्न आ सकते हैं। जब अवचेतनसे इनकी सफाई हो जाती है तभी वे समाप्त होते हैं; इसी बीच, यदि पुरानी क्रियाएं जाग्रत अवस्थामें लौटने या रहने न दी जायें तो इन स्वप्नोंका विशेष महत्व नहीं (बशर्ते व्यक्ति उनके स्वरूपको समझ जाय और उनसे प्रभावित न हो)।

*

यह (अवचेतन प्राणमें सचाईका अभाव) महज तभी खतरनाक हो सकता है जब जाग्रत मन उसे स्वीकार कर लेता है। तिसपर भी, जबतक यह अवचेतनमें रहता है तबतक इसकी सम्भावनाका बीज बना रहता है—इसलिये इसे बिलकुल बाहर निकाल देना चाहिये।

*

इस समय अवचेतना बहुत अधिक उभर रही है। इसमें प्रकृतिकी अभ्यासगत कठिनाइयोंके बीज या प्रबल अवशेष विद्यमान हैं। परन्तु इसका स्वभाव है व्यवस्था या स्पष्ट मानसिक या अन्य प्रकारकी व्यवस्थासे रहित अस्तव्यस्तता और तमसाच्छन्नता—यह भ्रान्तियुक्त अवसाद है, निरुत्साह एवं प्रगतिकी

अक्षमता है—एक ऐसा भाव कि हम क्या कर रहे हैं? हम यहां क्यों आये? हम आगे कैसे बढ़ें? क्या कभी कोई चीज मिलेगी? और इसके साथ-साथ पुरानी कठिनाइयां अस्तव्यस्त एवं अतर्कित परन्तु उग्र और कष्टदायक रूपमें लौट आती हैं।

तुम फिरसे "आरम्भ" नहीं कर सकते; इस गड़बड़में यह करना बहुत कठिन होगा। तुम्हें उस स्थानपर वापस जाना होगा जहांसे तुमने रास्ता बदला है। यदि तुम उस उतरती हुई शान्तिको प्राप्त कर सको और साथ ही उस पुरुष चेतनाकी मुक्तता और विशालताके लिये अभीप्सा करो जो अवचेतन प्रकृतिकी इस सारी गड़बड़से अनासक्त और पृथक् होनेके लिये आधार स्थल है, उसके बाद तुम्हें खड़े होने और आगे बढ़नेके लिये पक्का आधार मिल जायगा। किन्तु उसके लिये तुम्हें दृढ़तापूर्वक चुनाव कर लेना होगा और प्रतिक्षण घबड़ा जाने और इससे परे हटनेसे इनकार करना होगा।

*

अवचेतनामें हमेशा बहुत कुछ करनेको होता है। किन्तु यदि तुम विशेष-कर यह (अवचेतनमें सफाईकी आवश्यकताका) अनुभव करते हो तो इसका कारण यह होगा कि सफाईका समय आ गया है। यदि अन्य हिस्से खुले रहें और प्रत्युत्तर देते रहें तो इससे तुम्हें बहुत कष्ट नहीं होना चाहिये।

*

बहुत करके ये सब चीजें ऐसी हैं जो अवचेतनासे उभरती हैं—अथवा शायद आलोक और शान्तिकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये स्वयं अवचेतनपर कार्य किया जा रहा है। यह कभी सुखमयी स्थितिमें चला जाता है, कभी उदासीन स्थितिमें, कभी अकारण ही दुःख पैदा कर लेता है। अवचेतनके व्या-पार बिना किसी हेतुके, अपने-आप ही प्रकृतिमें अन्तर्हित अभ्यासके कारण उत्पन्न होते हैं, इसीलिये दुःखका कारण खोजा नहीं जा सकता। दुःखके आनेपर तुम्हें अपनेको उससे अलग करना और उसका परित्याग करना होगा, उसे तब तक अपना नहीं मानना होगा जब तक वह आना बन्द न हो जाय तथा उसके स्थानपर माताजीकी शान्ति और आनन्दको स्थापित करना होगा।

*

यह अच्छा है; तुमने जिस ढंगकी सहायताकी मांग की है वह हम देंगे। तुम्हारे मनपर जिस भावने अधिकार जमाया वह अवचेतनसे आया करता है जिसमें पुरानी प्रकृतिकी चीजें अस्वीकार कर दिये जानेपर नीचे जा बैठती हैं। जब ऐसी मनःस्थितियां उभरें तो तुम्हें शान्त रहना चाहिये और माताजी-को तबतक पुकारते रहना चाहिये जबतक ये चली न जायें। कुछ समयके बाद अवचेतनसे आनेवाली, अकारण ही यन्त्रवत् दुहरानेवाली यह शक्ति जीर्ण होकर नष्ट हो जाती है—तब इस प्रकारकी स्थितियां और अधिक नहीं आतीं।

*

शायद यह कोई ऐसी चीज है जिसने बाहरसे आकर आच्छादित कर लिया है। यह इस अवस्थामें होता है जब कि क्रिया भौतिक और अवचेतन स्तरपर हो रही होती है—क्योंकि इन भागोंका बाह्य स्तरपर निवास करनेका ही स्वभाव होता है जब कि आन्तरिक सत्ता अन्धकारके एक प्रकारके स्वा-भाविक आवरणसे ढंकी रहती है। इसलिये जब कोई इस आवरणमें छेद कर देता है तो इसमें लौटनेकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा होनेपर व्यक्तिको अविचल रहना चाहिये और शक्ति तथा प्रकाशको ऊपरसे अवरोधको हटानेके लिये नीचे बुलाना चाहिये। यह तब तक करना चाहिये जबतक उद्घाटन स्थायी और पूर्ण न हो जाय तथा आच्छादित करना सम्भव न रहे।

*

अवचेतन भौतिक सत्तामें बचे हुए संस्कारके साथ हमेशा ऐसा ही होता है। एक दिन वे धुंधली दूरकी किसी निष्प्राण वस्तुकी तरह आते हैं और दूसरे दिन ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कोई शक्ति आ गई है। यह इस बातपर आधार रखता है कि वे विश्वके किसी शक्तिप्रवाहकी पकड़में आ जाते हैं या भूतकालकी बचीखुची शक्तिके सिवाय अन्य किसी भी शक्तिके बिना अपने-आप ही उभर आते हैं।

*

ऐसा हुआ होगा कि स्थूल चेतनापर इस समय कार्य हो रहा है इसलिये

सारे भूतकालीन संस्कार (जो साधारणतया अवचेतनामें रहते हैं और समय-समय पर उभर आते हैं एवं बीच बीचमें विचार, क्रिया और वेदनको व्यक्तिके अनजाने ही प्रभावित करते हैं) एक ही साथ उभर आये और उन्होंने अपनेको चेतनापर बलात् फैंक दिया। साधारणतया यह इसलिये होता है कि साधक उन्हें देख सके और अस्वीकार कर सके तथा (अवचेतनके साथ-साथ सचेतन भागोंमें भी) शरीर सम्बन्धी अतीतसे पूरी तरहसे मुक्त हो जाय। इसी कारण तुमने बादमें छुटकारेके भावका अनुभव किया। कण्ठ बाह्यरूप देनेवाले मन (भौतिक मन)का केन्द्र है।

*

बहुत सम्भव है कि यह अवचेतनासे आया हो। जब ये स्मृतियां ऊपर उठती हैं तो उनके साथ इस आधारपर व्यवहार करना चाहिये कि वे विलीन और विसर्जित होनेके लिये ही ऊपर आई हैं, जिससे उनके निरन्तर विलीन करनेके द्वारा व्यक्ति अवचेतनके संस्कारोंके कारण भूतकालसे (जो कर्मकी कार्य प्रणाली है) न बंध जाय किन्तु आत्माके बन्धनहीन भविष्यके लिये मुक्त हो जाय।

सबसे अच्छी बात तब होती है जब तुम इस विषयके सच्चे ज्ञानको प्राप्त कर सको कि यह क्यों हुआ और इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ; तब यह आसानीसे चला जाता है।

*

भूतकालकी समीक्षा करना बड़ा अच्छा लक्षण है, क्योंकि यह साधारणतया तभी होता है जब कि भौतिक चेतना और अवचेतनके परिवर्तनके लिये तैयारी हो रही होती है। व्यक्तिको भूतकालकी भूलोंके लिये पछताना नहीं चाहिये किन्तु शान्त दृष्टिसे देखना और समझना चाहिये, क्योंकि सब कुछ,—भूलें भी उसके अन्तर्गत हैं—एक आवश्यक अनुभवके अंगके रूपमें आया है जिसके द्वारा पुरुष सीखता है और भूल-भ्रान्तिमेंसे प्रकाशकी ओर तथा वैश्व प्रकृतिकी अपूर्णताओंमेंसे दिव्य पूर्णताकी ओर आगे बढ़ता है।

*

तुम जिस चीजका वर्णन करते हो वह अपने स्वरूपमें अवचेतनका अनियन्त्रित रूपसे उभर आना प्रतीत होता है जो उन पुराने विचारों, रुचियों या कामनाओंके यन्त्रवत् लौटनेका रूप ग्रहण करता है जिनमें स्थूल मन साधारणतया लगा रहता है। यदि यही सब कुछ हो तो एकमात्र काम होगा उन्हें अस्वीकार कर देना, अपने-आपको उससे अलग कर लेना और उन्हें गुजर जाने देना, जबतक कि वे शान्त न पड़ जायें। तुम्हारे विवरणसे मैं यह समझा हूँ कि एक आक्रमण हुआ है। एक अन्धकारमयी शक्ति इन प्रत्यावर्तनोंका उपयोग मन तथा देहको घेरने और उन्हें कष्ट देनेके लिये कर रही है। यदि तुम मनमें आये विचारोंके मुख्य स्वरूपका, उनका किन वस्तुओं और भावोंसे सम्बन्ध था आदि बातोंका सही विवरण दे सकते तो इससे सहायता मिलती। परन्तु जो भी हो तुम्हें एक काम करना चाहिये कि अपने-आपको माताजीकी शक्तिके प्रति अभीप्सा द्वारा, उनके सम्बन्धमें विचार करके या अन्य किसी ढंगसे उद्घाटित करो और उसे आक्रमणको बाहर खदेड़ने दो। जब तक यह पूरा न हो जाय तब तक हम निरन्तर शक्ति भेजते रहेंगे। यह अधिक अच्छा होगा कि प्रति तीसरे या चौथे रोज तुम हमें जनाते रहो कि तुम्हारा कैसे चल रहा है क्योंकि इससे शक्तिकी क्रियाको अधिक सुनिश्चित रूप देनेमें सहायता मिलेगी।

*

ये लालसाएं और कामनाएं उस भौतिक सत्ताकी आदतें हैं जो वैश्व प्रकृतिमेंसे आई हैं जिन्हें उसने अपनी सत्ता और जीवनके अंगके रूपमें स्वीकार और ग्रहण किया है। जब इन चीजोंको जाग्रत चेतना अस्वीकार कर देती है तो वे अवचेतनामें या फिर उसमें, जिसे हम परिवेशी चेतना कह सकते हैं, शरण लेनेकी कोशिश करती है और वहांसे वे चेतनापर दबाव डालती हैं और अपना कब्जा फिरसे जमानेके लिये या केवल कुछ समयके लिये दुबारा आनेकी चेष्टा करती हैं। यदि वे अवचेतनमें हों तो वे बहुधा स्वप्नोंमें आती हैं किन्तु वे जाग्रत चेतनामें भी सिर उठा सकती हैं। यदि चारों ओरके वातावरणमेंसे आयें तो वे विचाररूप सुझावों या प्रवृत्तियों या एक अनिश्चित चंचल या विक्षोभजनक दबावका रूप धारण करती हैं। बहुत करके तुम इस पारिपार्श्विक दबावका ही अनुभव करते हो। जब देह नई चेतनासे, शांति और शक्तिसे एक साथ परिपूर्ण होता है तो इस बाह्य दबावका अनुभव होता है किन्तु यह और अधिक विक्षुब्ध नहीं कर सकता और अन्ततः दूर पीछे हट जाता है (फिर सीधे स्थूल

मन या शरीरपर और दबाव नहीं डालता) तथा या तो क्रमशः या तेजीसे विलीन हो जाता है।

परिवेशी चेतनासे मेरा मतलब उस वस्तुसे है जिसे प्रत्येक अपने चारों ओर अपनी देहके बाहर लिये हुए है तब भी जब वह उसके विषयमें सचेतन नहीं होता,—जिसके द्वारा वह दूसरों और वैश्व शक्तियोंके सम्पर्कमें रहता है। अन्य लोगोंके विचार, वेदन आदि किसी व्यक्तिमें प्रवेश करनेके लिये इसमेंसे होकर जाते हैं — इसीमेंसे वैश्व शक्तिकी लहरें अर्थात् कामना, यौन-भाव आदि आते हैं और मन प्राण या शरीरपर अधिकार कर लेते हैं।

*

ये विचार जो निद्रामें या निद्रा और जागरणके बीचकी अवस्थामें आक्रमण करते हैं, तुम्हारी सचेतन सत्ताके किसी हिस्सेसे सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु या तो अवचेतनसे आते हैं या चारों ओरके वातावरणसे अवचेतनमेंसे होते हुए आते हैं। यदि वे ऐसे विचार हों जो तुम्हारे अन्दर भूतकालमें पैदा हुए थे और जिन्हें तुमने अपने भीतरसे निकाल दिया था, तो उभरनेवाली वस्तु वे संस्कार ही होंगे जो उन्होंने अवचेतनमें छोड़े हैं — क्योंकि वे सब वस्तुएं जिनका विचार, वेदन या अनुभव किया जाता है, ऐसे संस्कार छोड़ जाती हैं जो निद्रावस्थामें सिर उठा सकते हैं। अथवा यह हो सकता है कि तुम्हारे पाससे विचार परिवेशी चेतनामें गये हों अर्थात् चेतनाका एक ऐसा परिवेश जिसे हम अपने चारों ओर लिये रहते हैं और जिसके द्वारा वैश्वप्रकृतिसे हम जुड़े हुए हैं और सम्भव है कि वहांसे वे हमारे पास लौट आनेकी चेष्टा कर रहे हों। क्योंकि जाग्रत अवस्थामें सफल होना उनके लिये कठिन होता है इसलिये वे निद्रावस्थामें सचेतन नियन्त्रणके अभावका लाभ उठा कर वहां प्रकट हो जाते हैं। यदि यह कोई ऐसी नई चीज है जो तुम्हारी नहीं है, तो यह चीज इनमेंसे कोई भी न होकर बाहरकी किसी शक्तिका आक्रमण हो सकती है।

यह आशा करनी चाहिये कि वे फिर नहीं आयेंगे क्योंकि तुमने उन्हें अस्वीकार कर दिया है, परन्तु यदि वे आयें, तो तुम्हें सोनेसे पहले एक ऐसा सचेतन संकल्प करना होगा कि वे न आयें। अवचेतनपर इस प्रकारका सुझाव प्रायः सफल होता है, यदि तुरन्त नहीं तो थोड़े समयके बाद भी; क्योंकि अवचेतन जाग्रत अवस्थामें अपनेपर डाले गये संकल्पका अनुसरण करना सीख जाता है।

*

तुम्हारे अन्दर अवचेतन विचार और क्रियाओंकी लहरें शान्त हो रही हैं और मनपर उनका दवाव पड़ रहा है, यह ठीक वही वस्तु है जो होनी चाहिये। इसका अर्थ दबाव नहीं है, न अवचेतनमें पीछे धकेल देना ही है। किन्तु यह उस सचेतन सत्तासे उसका निष्कासन है जिसमें यह उभरा है। यह सच है कि अवचेतनसे कोई और वस्तु भी उभर सकती है किन्तु यह वही होगी जो उसमें अब भी बची हुई है। इस समय जिस वस्तुका परित्याग किया गया है, यदि वह और कहीं चली जाय और नष्ट न हो जाय तो वह अवचेतनमें नहीं जायेगी किन्तु उस परिवेशी चेतनामें जायगी जिसे व्यक्ति अपने चारों ओर घेरे रहता है — एक बार वहां पहुँचनेपर यह किसी भी रूपमें व्यक्तिकी अपनी चीज नहीं रहती और यदि यह लौटनेकी चेष्टा करे तो उस विजातीय पदार्थके रूपमें ही लौटेगी जिसे व्यक्तिको और अधिक स्वीकार नहीं करना या अन्दर आने नहीं देना है। ये दो परित्यागकी अन्तिम स्थिति हैं जिनके द्वारा व्यक्ति प्रकृतिकी पुरानी आदतोंसे मुक्ति पाता है, वे नीचे अवचेतनमें चली जाती हैं वहांसे भी उनसे छुटकारा पाना है या वे बाहर परिवेशी चेतनामें चली जाती हैं और फिर हमारी नहीं रहती।

यह विचार ठीक नहीं है कि अवचेतनमेंसे उभरनेवाली वस्तुको तबतक उठने देना चाहिये और अपनेको दुहराते रहने देना चाहिये जब तक यह समाप्त न हो जाय, क्योंकि वह विक्षुब्ध अवस्थाको अनावश्यक रूपसे बढ़ाती रहेगी और इसलिये यह हानिकारक हो सकती है। इन वस्तुओंके उभरने पर इनका निरीक्षण करना चाहिये और उसके बाद उन्हें अपने अन्दर रखना नहीं बल्कि बाहर फैंक देना चाहिये।

*

श्रीअरविन्द अबतक तुम्हारे पत्रका उत्तर नहीं दे सके।... फिर भी ये उत्तर जो नीचे ब्यौरेवार दिये गये हैं, तुम्हारे पास भेजे जा रहे हैं क्योंकि वे समझते हैं कि ये तुम्हारी भावी साधनाके लिये उपयोगी हो सकते हैं:

1. "भद्दे दृश्य" आदि —

यह कोई ऐसी वस्तु होगी जो अवचेतनमेंसे उभरती है जिसमें इस प्रकारकी अनेक विचित्र चीजें हैं — या फिर ये निम्न प्राण-चेतनापर विश्व प्रकृतिकी इससे मिलती-जुलती भूमिकासे फैंकी गई रचनाएं हैं जिसमें ऐसी शक्तियां विद्यमान हैं जो मलिनता और कुरूपता और सब प्रकारकी विकृतियोंमें आनन्द लेती हैं। इनमेंसे जो भी कारण हो एक स्थिर अनासक्त परित्याग ही वह

प्रतिक्रिया है जो इसके लिये आवश्यक है।

2. इसमें कोई आपत्ति नहीं कि व्यक्ति अपने बिस्तरेका आसनके रूपमें उपयोग करे।

3. यौन कठिनाइयां —.

जब व्यक्ति काम प्रवृत्तिको रोक देता है और सचेतन मन और प्राणमें इसका परित्याग करता है तो ऐसी बात सामान्य रूपसे हुआ ही करती है। तब यह उस अवचेतन में आश्रय लेती है जहां मनका सीधा नियन्त्रण नहीं होता एवं स्वप्नके रूपमें उभर आती है जिसका परिणाम होता है स्वप्नदोष। यह तबतक बना रहता है जबतक स्वयं अवचेतन शुद्ध नहीं हो जाता। अवचेतनका यह शोधन कभी-कभी एक प्रबल संकल्पका प्रयोग करके किया जा सकता है या, यदि सम्भव हो तो इस चीजको न होने देनेके लिये सोनेसे पहले यौन-केन्द्रपर शक्तिका ठोस प्रवाह ला कर। सफलता हमेशा एकदम नहीं मिलती किन्तु यदि वह क्रिया प्रभावशाली ढंगसे की जाय तो पहले यह उसके बार-बार आनेको कम कर देती है और अन्तमें उसे बिलकुल रोक देती है।

ये सब वस्तुएं (पेशाबका जमा हो जाना, गरम उत्तेजक आहार आदि) इस ओर प्रवृत्त करनेवाले या सहायक कारण होती हैं या हो सकती हैं। इस अवचेतनके आवेगमें एक लयताल होता है जैसा कि तुमने वर्णन किया है — यह महीनेमें किसी विशेष समयपर, या फिर किसी नियत काल (सप्ताह, पक्ष, महीना, छः महीने) के बाद होता है।

4. वेदान्तमें समाधिके वर्गीकरण —

इस योगके लिये ऐसे विभाजन इतने महत्वके नहीं हैं।

5. समाधिका अनुभव —

इस भूमिकापर यह अनिवार्य नहीं है; किन्तु यदि यह स्वयं आये तो इसे बढ़ने दिया जा सकता है। किन्तु इस योगमें जाग्रत अवस्थामें अनुभव होना ही अधिक महत्वपूर्ण है। समाधि चेतनाकी आन्तरिक गहराइयोंमें पहुँचनेमें सहायक होती है। इसके द्वारा मनुष्य अन्दर, उपरितलीय सत्ताके नीचे स्थित अन्य अंतिभौतिक भूमिकाओंके साथ सीधे सम्पर्कमें आनेमें, अन्य लोकोंमें जाने और वहांसे लौटनेमें, देश और कालमें स्थित दूरकी घटनाओंके साथ संबंध बांधनेमें, और वहांसे लौटनेमें, देश और कालमें स्थित दूरकी घटनाओंके साथ बांधनेमें, अति चेतनामें क्या है यह देखने और हमारी मानसिक स्तरके लिये जो अति-चेतन है उसके अन्दर प्रवेश पानेमें अधिक आसानीसे समर्थ होता है।

6. वैश्व चेतना; चैत्य —

इन विषयोंपर पत्रके परिमित दायरेमें रहकर पर्याप्त रूपसे विचार नहीं किया जा सकता। मनुष्यकी सामान्य चेतना उसकी अपनी व्यष्टि सत्ता तक ही सीमित होती है—वह अन्य लोगोंकी और विश्वकी चेतनामें परोक्ष साधनोंसे या उथले और अधूरे बोध द्वारा, इन्द्रियानुभव, भावमय समवेदनाके सम्पर्कों; मानसिक विभावनों, अपनी क्रियाओंके साथ सादृश्य और अनुमानके द्वारा प्रवेश कर सकता है। योगमें एक विशेष बिन्दुपर जाकर यह सीमाबन्धन टूट जाता है, चेतना अपनेको विस्तृत करती है, वैश्व आत्माके विषयमें सीधी सचेतन हो जाती है और यह जान लेती है कि व्यष्टिगत आत्मा और वह एक है; वैश्व-ऊर्जाको जान लेती है और वैश्व शक्तियोंके सीधे सम्पर्कमें आती है; वैश्व मन, प्राण और जड़तत्वके विषयमें भी सचेतन हो जाती है और पहले अपने व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीरका उनके साथ सम्पर्क अनुभव करती है, उसके बाद ऐक्यका जिसमें यह अनुभव होता है कि मनुष्यकी अपनी व्यक्तिगत मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता वैश्वचेतनाकी अंग मात्र हैं, समुद्रकी एक लहर है, वैश्व शक्तियोंके ग्रहण करने और उन्हें रूप देनेवाला एक डायनेमो (शक्ति उत्पादक यंत्र) है। अन्तमें, व्यक्तिचेतना वैश्व चेतनामें विलीन हो जाती है, समग्र जगत्को व्यक्ति अपनेमें अनुभव करता है और व्यक्ति स्वयं जगत्में व्याप्त हो जाता है—यह वैश्वचेतना, मन, प्राण, स्थूल ऊर्जा ही व्यक्तिगत व्यापार द्वारा कार्य करती है। पृथक् अहकारका या तो अस्तित्व नहीं रहता अथवा केवल वैश्व आत्मा एवं इसकी क्रियाके लिये सुविधाजनक साधन ही रह जाता है। वैश्व चेतनाका यही पूर्ण और चरम उत्कर्ष है, परन्तु अपने पूर्ण स्वरूपमें यह सर्व सामान्य उपलब्धि नहीं है, इसका सम्बन्ध वस्तुतः उसके साथ है जिसे हम अधिमानस उपलब्धि कह सकते हैं; किन्तु इसका आंशिक और बढ़ता हुआ सतत अनुभव अथवा वैश्व चेतनाके साथ बढ़ता हुआ सम्पर्क योगका साधारण अंग है।

योगकी परिभाषामें चैत्यका आशय है प्रकृतिमें स्थित आन्तरात्मिक तत्व, विशुद्ध चैत्य या दिव्य केन्द्र जो मन, प्राण और शरीरके पीछे स्थित होता है (यह अहं नहीं होता) किन्तु जिसके विषयमें हमें केवल धुँधली जानकारी ही है। यह भगवान्का एक अंग है तथा जन्मजन्मान्तरमें स्थिर रहता है और अपने बाह्य उपकरणों द्वारा जीवनका अनुभव लेता रहता है। ज्यों-ज्यो यह अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों यह (अन्तरात्मा) विकसित होते हुए ऐसे चैत्य व्यक्तित्वको प्रकट करता है जो हमेशा शिव, सत्य और सुन्दरपर आग्रह रखता है, अन्तमें प्रकृतिको भगवान्की ओर मोड़नेके लिये पर्याप्त तैयार और शक्तिशाली हो जाता है। इसके बाद वह मानसिक, प्राणिक और भौतिक परदे-

को चीरकर और पूरी तरहसे सामने आकर सहज वृत्तियोंको शासित और प्रकृतिको रूपान्तरित कर सकता है। उसके बाद फिर प्रकृति अपनेको अन्तरात्मा-पर थोपती नहीं किन्तु अन्तरात्मा, पुरुष, प्रकृतिपर अपने आदेशोंको लागू करता है।

*

तुमने जो मनोविश्लेषणका अभ्यास किया वह भूल की। इसने, कम-से-कम इस समयके लिये, पवित्रीकरणकी क्रियाको अधिक जटिल बना दिया है, सुगम नहीं। फ्रायड (Freud) का मनोविश्लेषण एक ऐसा अभ्यास है जिसका योगके साथ, किसी भी हालतमें, सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। इस मनोविश्लेषण-में किसी ऐसे भागको ले लिया जाता है जो अत्यन्त अन्धकारमय, अत्यन्त खतरनाक, प्रकृतिका अत्यन्त गंदा भाग और निम्न प्राणका अवचेतन स्तर होता है, उसकी कुछ अत्यन्त गंदी क्रियाओंको अलग कर लिया जाता है और उस भागको तथा उन क्रियाओंको, उनका जो प्रकृतिमें सच्चा कार्य है उससे अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा महत्त्व दे दिया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान एक ऐसी सायंस है जो अभी शैशवावस्थामें है, अतः एकदम उतावला, अंधेरेमें टटोलनेवाला और अपरिपक्व है। जैसा कि अन्य सभी शैशवावस्थाकी सायंसोंमें होता है, यहां भी मानवी मनका सार्वजनीन अभ्यास — जिसका काम है एक आंशिक अथवा एकदेशीय सत्यको लेकर उसे अनुचित रूपसे सार्वदेशिक बना देना और फिर प्रकृतिके सम्पूर्ण क्षेत्रोंकी अपनी इसी संकुचित भाषामें व्याख्या करनेकी चेष्टा करना — अत्यधिक हो-हल्ला मचा रहा है। इसके अतिरिक्त, निगृहीत कामवासनासम्बन्धी संमिश्र क्रियाओंके महत्वको इतना अधिक अतिरंजित कर देना एक खतरनाक असत्य है और ऐसा करनेसे एक गंदा प्रभाव उत्पन्न हो सकता है और हो सकता है कि इससे मन और प्राण पहलेकी अपेक्षा भी मूलतः अधिक अपवित्र बननेमें प्रवृत्त हों, न कि कम।

यह सत्य है कि मनुष्यके अन्दर जो अन्तस्तलकी चेतना है वही उसकी प्रकृतिका सबसे बड़ा भाग है और इसके अन्दर ही उन अदृश्य शक्तियोंका रहस्य छिपा हुआ है जिनके द्वारा हमारी ऊपरी तलकी सम्पूर्ण क्रियाओंकी व्याख्या की जा सकती है। किन्तु यह निम्नतर प्राणकी अवचेतना — और ऐसा मालूम होता है कि फ्रायडका यह मनोविश्लेषण जो कुछ जानता है, वह सब यही है, बल्कि यह इसके भी केवल थोड़ेसे अर्ध-प्रकाशित अंशोंको ही जानता है — समग्र अन्तस्तलकी चेतनाके एक मर्यादित और अत्यन्त निम्न भागके अतिरिक्त और

कुछ भी नहीं है। हमारी यह अन्तस्तलीय सत्ता हमारे समग्र ऊपरी तलके व्यक्तित्वके पीछे रहती है और इसको धारण करती है; इस अन्तस्तलीय सत्तामें ऊपरी तलके मनके पीछे एक अधिक विशाल और अधिक कार्यक्षम मन है, ऊपरी तलके प्राणके पीछे एक अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली प्राण है, ऊपरी तलकी शारीरिक सत्ताके पीछे एक अधिक सूक्ष्म और अधिक स्वतन्त्र भौतिक चेतना है। और फिर यह अन्तस्तलीय सत्ता, इस मन, प्राण और शरीरसे ऊपर उच्चतर अतिचेतनाकी ओर खुलती है और साथ ही उनके नीचे निम्नतर अवचेतन क्षेत्रोंकी ओर खुलती है। यदि कोई अपनी प्रकृतिको शुद्ध और रूपान्तरित करना चाहे तो उसे इन्हीं उच्चतर क्षेत्रोंकी शक्तिके प्रति अपने-आपको खोलना होगा, अन्तस्तलीय सत्ता और ऊपरी तलकी सत्ता इन दोनोंको उन क्षेत्रोंमें ऊपर उठा ले जाना और उनकी शक्तिके द्वारा परिवर्तित करना होगा। और, यह कार्य भी सावधानीके साथ करना होगा, अपरिपक्व अवस्थामें या उतावलीके साथ नहीं, बल्कि एक उच्चतर पथप्रदर्शनका अनुसरण करते हुए और सदा उचित मनोभाव रखते हुए करना होगा; नहीं तो हो सकता है कि जिस शक्तिको नीचे उतारा जाय वह इतनी प्रबल हो कि उसको प्रकृतिका यह अन्धकारमय और दुर्बल ढांचा सहन न कर सके। किन्तु निम्नतर अवचेतनाके उद्‌घाटनसे आरम्भ करना, उसमें जो कुछ गन्दा या अन्धकारपूर्ण है उसको ऊपर ले आनेका खतरा मोल लेना तो अकारण विपित्तिको निमन्त्रण देना है। सबसे पहले साधकको अपने उच्चतर प्राण और मनको बलवान् और दृढ़ बनाना चाहिये, उनमें ऊर्ध्वसे ज्योति और शान्तिको लाकर भर देना चाहिये; उसके बाद वह अधिक सुरक्षितता तथा द्रुत और सफल परिवर्तनकी सम्भावनाके साथ अवचेतनाको खोल सकता या यहांतक कि वह उसमें गोता भी लगा सकता है।

किन्हीं बातोंका 'अनुभव लेकर' उनसे छुटकारा पानेकी पद्धति भी खतरेसे खाली नहीं है, कारण इस रास्तेपर चलनेसे साधक उनसे छुटकारा प्राप्त करनेके बदलेमें उनमें कहीं अधिक फंस जा सकता है। इस पद्धतिके पीछे दो प्रसिद्ध मनस्तात्विक उद्देश्य विद्यमान हैं। एक तो है, जान-बूझकर विषयका इस प्रयोजन-से भोग करना कि वह समाप्त हो जाय, परन्तु यह किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें ही फलदायी होता है; विशेषत: तब जब कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका साधकपर इतना प्रबल अधिकार जमा हुआ हो या उसमें इतना प्रबल आवेग हो कि विचार-के द्वारा अथवा विषयको त्याग देने तथा उसके स्थानपर सत्य क्रियाको स्थापित करनेकी प्रक्रियाद्वारा उससे पिंड न छुड़ाया जा सकता हो; जब ऐसी बात बहुत अधिक मात्रामें होती है तब साधकको कभी-कभी साधारण जीवनकी साधारण

क्रियाओंमें वापस लौट जाना पडता है, और अपने नवीन मन और सकल्पको इन क्रियाओंके पीछे रखकर इनका सच्चा अनुभव प्राप्त करना होता है और फिर यह बाधा दूर हो जाने अथवा दूर होनेके लिये तैयार हो जानेपर पुनः आध्यात्मिक जीवनमें वापस आना होता है। किन्तु जान-बूझकर विषयोंमें पड़नेका यह तरीका सदा खतरनाक होता है, यद्यपि कभी-कभी ऐसा करना अनिवार्य होता है। यह तभी सफल होता है जब कि साधककी सत्तामें आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करनेके लिये अत्यंत प्रबल संकल्प होता है; कारण उस अवस्थामें यह विषयसेवन उसमें इन विषयोंके प्रति एक तीव्र असन्तोष और प्रतिक्रिया अर्थात् वैराग्य उत्पन्न करता है, और तब सिद्धि प्राप्त करनेका जो उसका संकल्प है उसे नीचे प्रकृतिके दुराग्रही भागतकमें संक्रमित किया जा सकता है।

'अनुभव लेने' का जो दूसरा प्रयोजन होता है वह सर्वसाधारणके अधिक उपयोगमें आनेवाला होता है। जब किसीको कोई वस्तु अपनी सत्तामेंसे निकाल बाहर करनी होती है तब यह आवश्यक होता है कि वह पहले उस वस्तुको जान ले, उसकी क्रियाका स्पष्ट आन्तरिक अनुभव प्राप्त कर ले तथा प्रकृतिकी कार्यप्रणालीमें उस वस्तुका जो ठीक वास्तविक स्थान है उसका पता लगा ले। इसके बाद, यदि वह यह देखे कि वह सर्वथा मिथ्या गति है तो वह उसे दूर करनेके लिये अथवा यदि वह यह देखे कि वह एक उच्चतर और सत्य गतिका ही केवल विकृत रूप है तो उसको रूपान्तरित करनेके लिये उसपर कार्य कर सकता है। इसीको या इससे मिलती-जुलती चीजको ही मनोविश्लेषण-पद्धतिमें एक प्रारंभिक और अपूर्ण ज्ञानके ,द्वारा भद्दे और अनुचित ढंगसे करनेका प्रयास किया जाता है। निम्नतर गतियोंको, उनका ज्ञान प्राप्त करने और उनका कोई समाधान करनेके लिये, चेतनाके पूर्ण प्रकाशमें ऊपर उठा ले जानेकी प्रक्रिया अनिवार्य है; क्योंकि इसके बिना पूर्ण परिवर्तन हो ही नहीं सकता। किन्तु यह ठीक तरहसे तभी सफल हो सकती है जब कि निम्न प्रकृतिकी उस शक्तिपर जो परिवर्तित करनेके लिये ऊपर उठायी गयी है, उसपर जल्द या देरसे विजय प्राप्त करनेके निमित्त, उच्चतर ज्योति और शक्ति पर्याप्त रूपसे काम कर रही हों। बहुतसे लोग अनुभव लेनेका बहाना करके न केवल उस विरोधी प्रवृत्तिको ऊपर उठाते हैं, बल्कि उस प्रवृत्तिका त्याग करनेके बदले उसे स्वीकृति देकर उसका पोषण करते हैं, उसे जारी रखने या बार-बार दुहराते रहनेके लिये दलील खोज लेते हैं और इस प्रकार उससे खेलते हैं, उसे बार-बार वापस आनेके लिये प्रश्रय देते और उसे चिरस्थायी बनाते हैं; बादमें जब वे उससे पिंड छुड़ाना चाहते हैं, तब उनपर उसका इतना अधिकार जम चुका होता है कि अब वे उसके पंजेमें अपनेको असहाय अनुभव करते हैं और केवल एक भयानक

संघर्ष या भगवत्कृपाका हस्तक्षेप ही उन्हें उससे मुक्त कर सकता है। कुछ लोग प्राणकी एक प्रकारकी ऐंठन या विकृतिके कारण ऐसा करते हैं; दूसरे केवल अज्ञानके वश होकर करते हैं; किन्तु साधारण जीवनकी तरह ही योगमें भी प्रकृति अज्ञानको साधकके बचावके लिये कोई समुचित वहाना नहीं मानती। वैसे तो प्रकृतिके सभी अज्ञानमय भागोंके साथ अनुचित व्यवहार करनेमें यह खतरा लगा ही हुआ है; किन्तु निम्न प्राणकी अवचेतना और उसकी गतियोंसे बढ़कर अधिक अज्ञानमय, अधिक खतरनाक, अधिक कुतर्की और पुनरावर्तन करनेमें अधिक हठी और कोई भाग नहीं है। अतः इस भागको अपक्वावस्थामें ही या अनुचित रीतिसे अनुभव लेनेके लिये ऊपर उठानेका अर्थ होता है सचेतन भागोंको भी उसकी अन्धकारमय और गन्दी सामग्रीसे भर देने और इस प्रकार समग्र प्राण-प्रकृति तथा यहांतक कि मनोमय प्रकृतिको भी विषाक्त कर देनेका जोखिम उठाना। इसलिये सदा ही साधकको चाहिये कि वह भावात्मक अनुभूति द्वारा प्रारम्भ करे, न कि अभावात्मकद्वारा, अर्थात् पहले वह दिव्य प्रकृतिकी किसी वस्तु, शान्ति, ज्योति, समता, शुद्धि, दिव्य शक्तिको अपनी सचेतन सत्ताके उन भागोंमें उतार लाये जिन्हें परिवर्तित करना है, और जब यह कार्य पर्याप्त मात्रामें हो जाय और वहां एक सुदृढ़ भावात्मक नींवकी स्थापना हो जाय, तभी उन छिपे हुए अवचेतन विरोधी तत्त्वोंको इस प्रयोजनके लिये ऊपर उठा लाना निरापद होता है कि दिव्य शान्ति, ज्योति, शक्ति और ज्ञानके बलके द्वारा उनको नष्ट और बहिष्कृत कर दिया जाय। ऐसा होनेपर भी, इस निम्नतर सामग्रीका यथेष्ट अंश अपने-आप ऊपर उठता रहेगा और इन विघ्नोंसे त्राण पानेके लिये जितना अनुभव आवश्यक है उतना अनुभव तुम्हें देता रहेगा; किन्तु अन्तर यह होगा कि उस समय इनके साथ व्यवहार करनेमें तुम्हें बहुत ही कम खतरा रहेगा और यह कार्य तुम एक उच्चतर आन्तर पथप्रदर्शनकी अधीनतामें रहते हुए कर सकोगे।

*

इन मनोविश्लेषणवादियोंकी बातोंपर जरा भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना मेरे लिये उस समय कठिन हो जाता है जब ये लोग अपने दीपककी झिलमिलाती रोशनीसे आध्यात्मिक अनुभूतिकी परीक्षा करनेकी चेष्टा करते हैं— फिर भी शायद इनपर विचार करना चाहिये, कारण अर्द्ध-ज्ञान एक शक्तिशाली चीज होता है और वह वास्तविक सत्यको सामने आने देनेमें एक महान् बाधा बन सकता है। यह नवीन मनोविज्ञान मुझे तो बहुत कुछ ऐसा दिखायी देता

है जैसे कि बच्चे यथोचित रूपसे वर्णमाला भी नहीं, बल्कि उसके किसी संक्षिप्त रूपको सीख रहे हों, अवचेतना तथा रहस्यमय गुप्त अति-अहंकारके अपने 'क-ख-ग-घ' को एक साथ मिलाकर रखनेमें मग्न हो रहे हों और यह समझ रहे हों कि उनकी यह पहली किताब (आ म == आम, क म ल == कमल), जो धुँधंलासा प्रारम्भ है वास्तविक ज्ञानका एकदम सार-तत्त्व है। ये लोग नीचेसे ऊपर ताकते हैं और निम्नतर अन्धकारके द्वारा उच्चतर प्रकाशकी व्याख्या करते हैं; परन्तु इन चीजोंका मूल ऊपर है, नीचे नहीं, "उपरि बुध्न एषाम्"। वस्तुओंका वास्तविक मूल अतिचेतना है, न कि अवचेतना। कमलका अर्थ उस कीचड़के किन्हीं गुप्त रहस्योंका विश्लेषण करके नहीं जाना जा सकता जिसके अन्दरसे वह यहां इस भूमिपर पैदा होता है; उसका रहस्य तो कमलके उस स्वर्गीय आदर्श नमूनेमें मिलेगा जो ऊपर प्रकाशमें सदा-सर्वदा खिला रहता है। इसके अतिरिक्त, इन मनोविश्लेषणवादियोंने जो क्षेत्र अपने लिये चुना है वह क्षुद्र, अन्धकारमय और मर्यादित है; किसी चीजके अंशको जाननेके लिये पहले तुम्हें उस समग्र चीजका ज्ञान होना चाहिये और निम्नतमको यथार्थ रूपमें जाननेके लिये पहले उच्चतमका ज्ञान होना चाहिये। यही है उस बृहत्तर मनोविज्ञानका दान जो उदित होनेके लिये अपने समयकी प्रतीक्षा कर रहा है और जिसके समक्ष इस प्रकार अन्धेरेमें टटोलते फिरना समाप्त हो जायगा और एकदम निष्फल हो जायगा।

II

यह जो बात है कि सामान्यत: सभी साधक अपने-आपको बदलनेमें असमर्थ हैं इसका एक और कारण भी है। वही इस समय साधकोंको क्लेश दे रहा है। कारण यह है कि सभी साधक सामान्यरूपमें अब काफी समयसे अचेतनके स्तर-पर उतरे हुए हैं; शक्तिका दबाव तथा मांग प्रकृतिके उस भागको बदलनेके लिये हैं जो सीधा अचेतनपर निर्भर है, अर्थात् रूढ़ स्वभाव, स्वयंचालित चेष्टाए प्रकृतिके यान्त्रिक अभ्यास और जीवनके प्रति अनैच्छिक प्रतिक्रियाएं तथा वह सब कुछ जो मनुष्यके रूढ़ स्वभावसे सम्बद्ध प्रतीत होता है। यदि पूर्ण आध्या-त्मिक परिवर्तनकी कुछ भी सम्भावना चरितार्थ होनेको है तो इस अचेतन भागको बदलना ही होगा। शक्ति (वैयक्तिक रूपमें नहीं किन्तु सामूहिक रूपमें) इसीको सम्भव बनानेके लिये क्रिया कर रही है, उसका दबाव इसीके लिये है,—क्योंकि अन्य स्तरोंपर परिवर्तन पहले ही सम्भव बनाया जा चुका है (ध्यान रहे कि यह हरेकके लिये निश्चित रूपमें सुलभ नहीं बना दिया गया है)।

परन्तु अचेतनको प्रकाशकी ओर खोलना भगीरथ कर्म है; अन्य स्तरोंका रूपांतर कहीं अधिक सुगम होता है। अभी यह काम प्रारम्भ ही हुआ है और इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि अवस्थाओं या मनुष्योंमें कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता। परिवर्तन समय आनेपर होगा, झटपट नहीं।

जहांतक अनुभवोंकी बात है, वे तो बिलकुल ठीक है पर खेद है कि वे प्रकृतिको बदलते नहीं दीखते। वे केवल चेतनाको समृद्ध ही करते हैं—यहां तक कि मनके स्तरपर ब्रह्मका साक्षात्कार भी प्रकृतिको प्रायः वहींकी वहीं छोड़ता प्रतीत होता है जहां वह थी। इस बातके अपवाद विरले ही होंगें। इसी कारण हम इस वातपर बल देते हैं कि आन्तरात्मिक रूपान्तर सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है—क्योंकि वह प्रकृतिको अवश्यमेव बदलता है और उसका मुख्य साधन है भक्ति, समर्पण इत्यादि।

*

ज्योतिर्मय मार्गका अनुसरण केवल तभी किया जा सकता है यदि अन्तरात्मा निरन्तर या प्रायः सामने रहे अथवा यदि मनुष्यमें श्रद्धा और समर्पणकी नैसर्गिक भावना हो या उसका मुख स्वभावतः ज्योतिकी ओर मुड़ा हुआ हो अथवा यदि उसने आन्तरात्मिक परिवर्तन सम्पादित कर लिया हो। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकाशयुक्त एवं प्रफुल्लचित्त व्यक्तिके सामने कोई कठिनाइयां आती ही नहीं। उसके सामने अनेक कठिनाइयां आ सकती हैं, पर वह उन्हें दैनिक सामान्य कार्यके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है और जब किसी कठिनाईसे उसे विशेष दुःख पहुँचाता है तो भी वह साहसपूर्वक कहता है, "अच्छा, यह विचित्र घटना थी किन्तु प्रत्यक्ष ही भगवान् विचित्र भावमें हैं और यदि उनका काम करनेका यही ढंग है तो यह अवश्य ही ठीक है। स्वयं मैं, निश्चित रूपसे, और भी विचित्र व्यक्ति हूँ और, मेरी समझमें, मुझे सुधारनेका यही एकमात्र उपाय था।" परन्तु प्रत्येक व्यक्तिका स्वभाव ऐसा नहीं हो सकता। चाहे समर्पण सब कुछ ठीक कर सकता है पर, जैसा तुम कहते हो, इसे पूरी तरह करना कठिन है। यही कारण है कि हम तुरन्त पूर्ण समर्पण करनेपर जोर नहीं देते, बल्कि प्रारम्भमें थोड़ेसे ही संतोष मानते हैं और शेषको क्रमशः यथाशक्य बढ़ने देते हैं।

मैं तुम्हें खोलकर बता चुका हूँ कि क्यों बहुतेरे लोग (निश्चय ही सब-के-सब नहीं) इस प्रकार उदास, ढीले-ढाले और हताश हैं। जिस चीजने उनपर अपना अधिकार जमा लिया है वह तमस्, एवं निश्चेतनकी जड़ता है। अपि च,

वह क्षुद्र स्थूल प्राण भी है जो साधारण दैनिक और सामाजिक जीवनकी तुच्छ और निरर्थक चीजोंमें ही रस लेता है, अन्य किसी चीजमें नहीं। पहले जब साधना उच्चतर स्तरों (मन, उच्चतर प्राण आदि) पर चल रही थी तब, आश्रमके काम तथा जीवनकी छोटी-मोटी बातोंमें तथा अन्तर्जीवनमें यथेष्ट उत्साह, स्फूर्त्ति एवं रस था। स्थूल प्राण भी उसी धारामें बहा करता था। परन्तु बहुतसे लोग अब इस अवस्थासे च्युत हो गये हैं; वे असन्तुष्ट प्राणमय शरीरमें रहते हैं और उन्हें प्रत्येक चीज अत्यन्त अन्धकारमय, निरानन्द और नीरस या निष्प्रयोजन लगती है। निश्चेतनसे उद्भूत तम ने उनके अन्तर्जीवनमें एक अन्तराय या सूचिपथ की सृष्टि कर दी है और उसमेंसे बाहर निकलनेका उन्हें कोई रास्ता नहीं दीख पड़ता। यदि मनुष्य ठीक वृत्ति और भावमें रह सके, कर्ममें तीव्र रस या साधनामें तीव्र रस ले सके तो स्थूल प्राण स्तब्ध हो जाय। यह तो हुआ रोग। इसका इलाज है—ठीक वृत्ति बनाये रखो और, शनैः शनैः या यथासम्भव शीघ्रतासे, सत्ताके इस भागमें भी उच्चतर अभीप्साकी ज्योति ले आओ, ताकि यह ठीक संतुलनको स्थिर रख सके, भले ही चारों ओर-की परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो। तब ज्योतिर्मय मार्ग ऐसा असम्भव नहीं रहेगा।

*

तुम्हारी कठिनाइयोंकी अति दारुणताका कारण यह है कि योगने निश्चेतना-की मूल चट्टानपर आक्रमण कर दिया है। आत्माकी विजयमें तथा उस विजयकी प्राप्ति करानेवाले भगवत्कर्ममें आनेवाली समस्त व्यक्तिगत एव विश्वगत बाधाओं की मुख्य आधारशिला यह निश्चेतना ही है। कठिनाइयां आश्रममें तथा बाहरकी दुनियामें एक समान हैं। सन्देह, अनुत्साह, श्रद्धाका ह्रास या लोप, आदर्शके लिये प्राणिक उत्साहकी न्यूनता, भविष्यके सम्बन्धमें व्यग्रता एवं निराशा—ये सब कठिनाईके मोटे-मोटे लक्षण हैं। बाहरकी दुनिया में इनसे बहुत अधिक बुरे चिह्न उपस्थित हैं, जैसे, हृदयहीनताकी सामान्य वृद्धि, किसी भी चीजमें विश्वास करनेसे इन्कार, ईमानदारीकी कमी, अपरिमित भ्रष्टाचार, अधिक ऊंची चीजोंका सर्वथा बहिष्कार और मुख्यतः खान-पान, धन-दौलत, ऐश-आराम, सुख-भोगमें ही व्यस्तता, संसारमें बुरी-से-बुरी अवस्थाओंके घटित होनेकी सामान्य आशा। ये सब अस्थायी घटनाएं हैं, भले ही ये कैसी भी प्रबल क्यों न हों। जो लोग विश्व-शक्तिकी क्रिया-शैलियों तथा परम आत्माकी क्रिया-शैलियोंके सम्बन्धमें कुछ भी जानते हैं वे इनके लिये तैयार थे। स्वयं

मैंने यह पहलेसे ही देख लिया था कि ऐसी अत्यन्त बुरी अवस्था आयगी, उषासे पहले निशाका अन्धकार छा जायगा। इसलिये मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूँ। मुझे पता है कि अन्धकारके पीछे क्या कुछ तैयार हो रहा है और मैं उसके आनेके पूर्वचिह्न देख तथा जान सकता हूँ। जो भगवान्‌को पाना चाहते हैं उन्हें अपनी खोजमें अटल और अडिग रूपमें डटे रहना होगा। कुछ समय बाद अन्धेरा मद्धम पड़कर दूर होने लगेगा और दिव्य प्रकाश उद्भासित हो उठेगा।

*

मैं जानता हूँ कि यह तुम्हारे लिये तथा प्रत्येक व्यक्तिके लिये कष्टका समय है। यह सारे संसारके लिये ऐसा ही है। सभी जगह गड़बड़, दुःख, अराजकता तथा उलटापलटी—यही आजकी सर्वसामान्य वस्तुस्थिति है। जो अच्छी चीजें प्रकट होनेको हैं वे पर्देके पीछे तैयार या विकसित हो रही हैं तथा सभी जगह बुरी चीजोंका बोलबाला है। एकमात्र आवश्यकता इस बातकी है कि जबतक प्रकाशकी घड़ी न आ जाय तबतक हम अडिग और अटल रूपसे प्रयत्नमें लगे रहें।

*

तुम्हारे पत्रप्रेषकोंको, जो जगत्‌की वर्तमान दशाके बारेमें दुःखशोक मान रहे हैं, मैं कम-से-कम तत्कालके लिये तो विशेष आश्वासन नहीं दे सकता। दशा जरूर बुरी है, अधिक बुरी होती जा रही है और किसी भी समय अत्यन्त बुरी हो सकती है अथवा, यदि यह सम्भव हो तो, अत्यन्त बुरी से भी बुरी हो सकती है—और कोई भी बात, कैसी असम्भवसी ही वह क्यों न हो, वर्तमान विक्षुब्ध जगत्‌में सम्भव प्रतीत होती है। तुम्हारे पत्रप्रेषक यदि अनुभव कर सकें कि यह सब कुछ अनिवार्य था तो यह उनके लिये सबसे अच्छा होगा। यदि नए तथा अधिक अच्छे जगत्‌को अवश्य जन्म लेना ही था तो कई सम्भावनाओंको प्रकट होना था, और प्रकट होकर दूर होना था, और इस सबको किसी भविष्यत् कालके लिये रोके रखना ठीक न होता। यह ऐसा ही है जैसा योगमें होता है—व्यक्तित्वकी सक्रिय या प्रसुप्त वृत्तियोंका सामना तथा पराभव करनेके लिये उन्हें प्रकाशमें क्रियान्वित किया जाता है अथवा उन्हें पवित्र करनेके गहरी प्रसुप्त अवस्थामें से ऊपर लाना होता है। तुम्हारे पत्रप्रेषक यह उक्ति भी ध्यानमें रख सकते हैं कि उषासे पहलेकी निशा घोरतम काली होती है

और कि उषाका आना अवश्यंभावी है। पर उन्हें यह भी याद रखना होगा कि जिस नए जगत्के आनेकी हम कल्पना करते हैं वह उसी पुराने जगत्के ताने-बानेसे बना हुआ तथा केवल नमूनेमें ही भिन्न नहीं होगा। वह वास्तवमें दूसरे साधनों द्वारा अन्दरसे आवेगा, बाहरसे नहीं। इसलिये सबसे अच्छा यह होगा कि बाहर जो दुःखजनक घटनाएं हो रही हैं उनकी मनुष्य विशेष चिंता न करे, बल्कि वह स्वयं अपना अन्तर्विकास साधित करे जिससे वह उस नए जगत्के लिये—जो चाहे कैसे भी रूपवाला क्यों न हो—तैयार रहे।

*

अन्धकारके बीच अडिग बने रहो; उसमें प्रकाश विद्यमान है और विजय उसकी ही होगी।

विभाग छः

मार्गकी कठिनाइयां

मार्गकी कठिनाइयां

आध्यात्मिक पथपर चलनेवाले सभी व्यक्तियोंको पथकी कठिनाइयों और परीक्षाओंका सामना करना पड़ता है; इनमें कुछ तो उनकी अपनी प्रकृतिके तथा कुछ बाहरकी परिस्थितियोंके फलस्वरूप सामने आती हैं। प्रकृतिकी कठिनाइयां तबतक बार-बार आती रहेंगी जबतक तुम इनपर विजय न प्राप्त कर लोगे। इनका सामना करनेके लिये धैर्य और शक्ति दोनोंकी आवश्यकता है। पर परीक्षाओं एवं कठिनाइयोंके उत्पन्न होनेपर व्यक्तिकी प्राणिक सत्ता अवसादकी ओर झुक जाती है। यह तुम्हारे ही साथ विशेषकर नहीं हुआ है, सभी साधकोंके साथ ऐसा ही होता है। यह साधनासम्बन्धी अयोग्यताका द्योतक नहीं है न ही यह असहायताकी भावनाको उचित ठहराता है किन्तु तुम्हें इस अवसादरूपी प्रतिक्रियाको जीतनेका अभ्यास करना चाहिये और सहायताके लिये माताजीकी शक्तिका आवाहन करना चाहिये।

सभी जो इस पथपर दृढ़तासे चलते रहते हैं अपने आध्यात्मिक भविष्यके सम्बन्धमें विश्वस्त रह सकते हैं। यदि कोई लक्ष्यतक पहुँचनेमें असफल रहता है तो उसका दोमेंसे कोई एक कारण होता है। या तो वह इस मार्गको ही छोड़ देता है या किसी महत्त्वाकांक्षा, अहंकार अथवा कामनाके प्रलोभनमें पड़कर भगवान्पर अपनी सच्ची निर्भरतासे विचलित हो जाता है।

*

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि लोगोंको, विशेषकर बहुत कम उम्रके लोगोंको साधनामें खींचनेके लिये अति आतुर होना बुद्धिमत्ता नहीं है। इस योगके लिये आनेवाले साधकमें एक सच्ची पुकार होनी चाहिये और सच्ची पुकार होनेपर भी मार्ग प्रायः ही कठिन होता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति उत्साहपूर्ण प्रचारकी भावनासे लोगोंको खींचता है तो खतरा यह होता है कि नकली और अयथार्थ अग्नि ही है जलती है न कि सच्ची अग्नि, या फिर यह एक ऐसी अल्पजीवी अग्नि होती है जो देरतक नहीं जल सकती एवं प्राणिक लहरोंके उमड़नेपर दब जाती है। ऐसा प्रायः युवा लोगोंके साथ होता है जो नमनीय होते हैं तथा ऐसे विचारों एवं अन्यों द्वारा संचारित भावोंकी पकड़में

आसानीसे आ जाते हैं जो उनके अपने नहीं होते—आगे जाकर प्राण अपनी अतृप्त मांगोंके साथ उठ खड़ा होता है और वे दो विरोधी शक्तियोंके बीचमें भूलते रहते हैं अथवा तेजीसे उस सामान्य जीवन और कार्य तथा कामना-तृप्तिके प्रबल प्रवाहके अधीन हो जाते हैं जिनकी ओर युवावस्थाका स्वाभाविक रुझान होता है। या फिर अयोग्य आधार एक ऐसी पुकारके दबावमें आकर कष्ट पाता है जिसके लिये वह तैयार नहीं है, अथवा कम-से-कम अभी तैयार नहीं है। जब किसीमें एक यथार्थ वस्तु होती है तो वह सब अवस्थाओंको पार कर जाता है और अन्तमें साधनाकी सम्पूर्ण विधिको अपना लेता है। किन्तु ऐसा थोड़े लोग ही करते हैं। केवल उन लोगोंको लेना ही अधिक अच्छा है जो स्वयं आते हैं और उनमेंसे भी केवल उन्हें जिनमें स्वयं अपनी सच्ची और स्थायी पुकार हो।

*

इस दुःख-कष्टका कोई सामान्य नियम नहीं है। आत्मा इससे प्रताड़ित नहीं होती, आत्मा तो सभी वस्तुओंके प्रति शान्त एवं सम रहती है। चैत्य सत्तामें दुःखानुभूति केवल तब पैदा होती है जब प्रकृति दिव्य संकल्पका अथवा वस्तुएं एवं व्यक्ति सत्य, शिव एवं सुन्दरकी पुकारका विरोध करते हैं। इससे संबन्धित केवल प्राणमय प्रकृति एवं शरीर हैं। जब आत्मा भगवान्के प्रति आकृष्ट हो जाती है तब मनमें एक प्रतिरोध हो सकता है और उसका सामान्य रूप निषेध एवं सन्देहका होता है और इससे मानसिक एवं प्राणमय कष्टकी उत्पत्ति हो सकती है। प्रतिरोध उस प्राणमय प्रकृतिमें भी उत्पन्न हो सकता है, जिसका प्रधान स्वभाव है—वासना एवं काम्य विषयोंमें आसक्ति। इस क्षेत्रमें यदि आत्मा और प्राणमय प्रकृति तथा दिव्याकर्षण एवं अज्ञानके खिंचाव के बीच संघर्ष हो तो स्पष्टतः मन एवं प्राणमय अंगोंको काफी कष्ट उठाना पड़ता है। भौतिक चेतना भी एक प्रकारका प्रतिरोध कर सकती है जो सामान्यतया आधारभूत जड़ताका होता है तथा भौतिक तत्त्व की स्वाभाविक अन्धकारमयताका होता है। इससे अज्ञानता, उच्चतर चेतनाके प्रति अनुत्तरशीलता तथा, न चाहते हुए हुए भी, यन्त्रवत् असहाय रूपसे निम्न गतियोंमें प्रवृत्त होनेका अभ्यास पैदा होते हैं और परिणाम होता है प्राणिक तथा भौतिक दुःख-कष्ट। इसके अतिरिक्त विश्वप्रकृति भी बाधाएं उत्पन्न करती है, वह जीवको अज्ञानसे निकलकर प्रकाशमें प्रवेश करने देना नहीं चाहती। व्यक्ति की पूर्ववर्ती चेष्टाओंको जारी रखनेके तीव्र आग्रहके रूपमें यह अवरोध प्रकट होता है। इन चेष्टाओंकी लहरें मन,

प्राण एवं इन्द्रियोंपर आ आकर छा जाती हैं और पुराने विचार, संवेग, आकांक्षाएं एवं संवेदनाएं अस्वीकृत और निष्कासित होनेपर भी जारी रहती हैं। बार-बार ये आक्रामक सेनाओंके रूपमें लौट पड़ती हैं और तबतक लौटती रहती हैं जबतक कि पूर्ण प्रकृति ही भगवान्से सम्बद्ध होकर उन्हें ग्रहण करनेसे इन्कार न कर दे। यह तो वैश्व अवरोधका आन्तरिक व्यक्तिगत रूप हुआ। किन्तु यह अवरोध बाह्य रूप भी ग्रहण कर सकता है। ये रूप हैं— विरोध, मिथ्याभियोग, आक्रमण, अनुपीड़न, अनेक प्रकारके दुर्भाग्य, विरोधी अवस्थाएं एवं परिस्थितियां, पीड़ा, व्याधि, व्यक्तियों अथवा अन्य शक्तियोंके आघात। यहां भी दुःख-कष्टकी सम्भावना स्पष्ट है। इन सबका सामना करनेके दो मार्ग हैं, पहला है बृहत् आत्मभावका, जिसमें, शान्ति, समत्व होते हैं तथा भावना, संकल्प, मन, प्राण और भौतिक चेतना स्थिर रूपमें भगवान्की ओर अभिमुख रहते हैं और सन्देह, इच्छा, आसक्ति, दीनता, दुःख, पीड़ा और जड़ता आदि कोई भी इसे हिला नहीं पाते। यह तभी सम्भव है जब अन्तरात्मा जाग्रत हो जाती है और जब व्यक्ति अपनी आत्मा, अपने अन्तर्मन, अन्तःप्राण एवं अन्तःशरीरके प्रति सचेतन हो जाता है क्योंकि ये सत्ताएं दिव्य संकल्पका अनुसरण सुगमतासे कर सकती हैं और तब सत्तामें एक विभाजनसा हो जाता है जैसे कि दो सत्ताएं हो गई हों। एक तो आन्तरिक सत्ता जो शान्त, सशक्त, सम, अचंचल तथा दिव्य चेतना एवं शान्तिका स्रोत है। और दूसरी बाह्य जो अब भी निम्नतर प्रकृतिके दबावमें आ जाती है। किन्तु इस बाह्य सत्ताके उपद्रव तब केवल तलीय हो जाते हैं क्योंकि वे तब ऊपरी लहरोंके समान अधिक मूल्य नहीं रखते। अन्तमें ये भी आन्तरिक दबावसे धीमी पड़ते-पड़ते शान्त हो जाते हैं, और बाह्य सत्ता भी तब शान्त, स्थिर, अक्षोभ्य बन जाती है। एक दूसरा चैत्य मार्ग भी है जिसमें चैत्य सत्ता अपनी अन्तर्वर्ती शक्ति, अपनी प्रार्थना, भक्ति, दिव्य प्रेम, आत्म-दान एवं समर्पणको लेकर प्रकट होती है और इन्हें मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय चेतनामें प्रक्षिप्त करके उसे दिव्योन्मुख होनेको बाधित करती है। यदि चैत्य सत्ता लगातार सशक्त एवं अधिकारी बनी रहे तो आन्तरिक चेतनामूलक कष्ट होते ही नहीं या बहुत कम होते हैं और बाह्य पदार्थमूलक कष्ट आत्मा अथवा चेतनाके दूसरे अंगोंको प्रभावित कर ही नहीं पाते। सारा मार्ग ज्योतिर्मय हो जाता है और एक आनन्द और माधुर्य सम्पूर्ण साधनापर छा जाता है। जहांतक बाह्य आघातों एवं विरोधी परिस्थितियोंका प्रश्न है सब कुछ उस शक्तिपर निर्भर करता है जो सत्ताके बाह्य प्रकृतिके साथके सम्बन्धका रूपान्तर करती है। जैसे जैसे इस शक्तिकी विजय होती जाती है कठिनाइयां लुप्त होती जाती हैं। पर कितनी भी देर ये रहें, ये साधनाका अवरोध नहीं कर सकतीं,

क्योंकि उस अवस्थामें विरोधी बातें एवं घटनाएं भी साधनाकी प्रगति एवं आत्मविकासमें साधक बन जाती हैं।

*

जो कठिनाइयां बची हैं वे उनसे, जिन्हें तुम अधिकांशतः अथवा पूर्णतः ही वशमें कर चुके हो, भिन्न होते हुए भी अपने कारणों एवं अपनी मूलभूत प्रकृतिमें समान अवश्य हैं; इन्हें भी उसी प्रकार जीता जा सकता है। यह समयका एवं भागवत दबावको, जो मनुष्यको बदलता है अपने अन्दर सहमति देनेका प्रश्न है।

मानव व्यक्तिका स्वभाव एवं चरित्र जड़ जगत्‌की निश्चेतनाके अन्दर तथा उसीसे बनकर प्रकट हुआ है और वह उस निश्चेतनाके दबावसे कभी भी पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। इस जड़ जगत्‌में उत्पन्न प्राणीमें जब चेतना विकसित होती है तो वह अज्ञानका रूप धारण कर लेती है और धीरे-धीरे कठिनाईके साथ ज्ञानकी ओर बढ़ती तथा उसे स्वीकार करती है। मानवकी प्रकृति भी इसी अज्ञानसे बनती है और उसका चरित्र भी इसीके तत्त्वोंसे निर्मित होता है। जड़ प्रकृतिकी किसी भी दूसरी वस्तुकी भांति यह सत्ता बहुतांशमें यन्त्रवत् ही चलती है और बहुत कुछ अनिवार्य रूपसे किसी भी परिवर्तनका जिसकी इससे मांग की जाती है विरोध करती है, और बहुधा यह विरोध सशक्त एवं आग्रहशील होता है। चरित्र अभ्यासोंका बना होता है, यह उनसे चिपटा रहता है, उन्हें अपनी सत्ताका नियम मानने लगता है; इस सत्ताको बदलना एक बड़ा ही कठिन कार्य है, परिस्थितियोंका भारी दबाव ही इसे बदल सकता है। भौतिक अंगोंमें — शरीरमें, अन्नमय मनमें, भौतिक जीवनकी चेष्टाओंमें यह अवरोध विशेषकर होता है। वहां प्रकृतिका तामसिक तत्त्व प्रबल होता है। इसे ही गीतामें अप्रकाश — प्रकाशका अभाव — और अप्रवृत्ति ..— जड़ताकी ओर प्रवृत्ति, अक्रियता — प्रयासमें उदासीनता — कहा है। इसके फलस्वरूप जब प्रयत्न किया भी जाता है तब भी सन्देह, निराशा, विफलता, लक्ष्य और प्रयत्नसे हट जाना, उसे छोड़ देना, विनाशकी प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है। सौभाग्यसे मानव प्रकृतिमें एक सात्त्विक तत्त्व भी होता है जो प्रकाशकी ओर बढ़ता है और एक राजसिक तत्त्व जो कर्म करनेकी इच्छा करता है और जिसे परिवर्त्तनकी ही ओर नहीं, स्थायी प्रगतिकी ओर भी उन्मुख किया जा सकता है। किन्तु ये तत्त्व भी मानवके अज्ञानकी सीमाओं तथा मूलभूत निश्चेतनके अवरोधोंके कारण तुच्छता एवं विभाजनसे संत्रस्त रहते हैं, ये आध्यात्मिक प्रयासकी जहां

सहायता कर सकते हैं वहां इसका अवरोध भी कर सकते हैं। इसलिये आध्यात्मिक, परिवर्त्तनके मार्गमें, जिसे योग मानवीय प्रकृति एवं व्यक्तिगत चरित्रमें लाना चाहता है, कठिनाइयां ही कठिनाइयां हैं। कह सकते हैं कि यह समस्त मानवीय जिज्ञासाओं एवं प्रयत्नोंमें सबसे दुष्कर है। जहांतक सात्त्विक एवं राजसिक तत्त्व इसे सहायता पहुँचाते हैं इसका मार्ग सुगम बन सकता है किन्तु सात्त्विक तत्त्व भी अवरोधक बन सकता है। पूर्ववर्त्ती विचार एवं धारणाएं, मनके रुचि-विषय, एकपक्षीय निर्णय, सम्मतियां एवं तर्क उच्चतर सत्यके मार्गमें आ जाते हैं और सात्त्विक तत्त्व भी इनमें संलग्न रहता है। राजसिक तत्त्व भी अपने अहंभाव, अपनी कामनाओं, इच्छाओं, आसक्तियों, अपने दम्भ एवं आत्मगर्वसे, मांग करनेकी सतत प्रवृत्ति तथा दूसरी बहुतसी बातोंसे अवरोध का कारण बन जाता है। प्राणमय सत्ताका अवरोध दूसरे अवरोधोंसे अधिक हिंसात्मक प्रकृतिका होता है। यह अपनी हिंसा और कामना द्वारा उनकी सहायता करता है अतएव उन सारी भयंकर कठिनाइयों, विद्रोहों, उलटा-पलटी एवं अव्यवस्थाओंका मूल है जो योगके अभ्यासको बिगाड़ देते हैं। भगवान् हैं किन्तु वे प्रकृतिकी अवस्थाओं, नियमों तथा परिस्थितियोंकी उपेक्षा नहीं करते। इन्हीं अवस्थाओंमें वे अपना समस्त कार्य संसारमें, मनुष्यमें, फल-स्वरूप साधक और अभीप्सुमें, यहांतक कि भगवद्वेत्ता एवं भगवत्प्रेमीमें भी करते हैं। साधु अथवा ऋषि भी कठिनाइयां झेलता है और अपनी मानवीय प्रकृतिसे प्रतिबद्ध रहता है। पूर्ण मुक्ति, सम्पूर्णता अथवा भगवान्पर पूर्णाधिकार और भगवान्का हमपर पूर्णाधिकार सम्भव है, पर यह कार्य साधारणतः किसी आकस्मिक चमत्कार अथवा चमत्कारोंके क्रम द्वारा नहीं होता। चमत्कार हो सकता है और होता है पर तभी जब आत्मा पूर्ण आत्मसमर्पण कर दे, उसके लिये उत्कट पुकार करे और प्रकृति पूर्णरूपेण उन्मुक्त हो जाय।

फिर भी यदि आत्माकी पुकार हो, चाहे वह कुछ दबी हुई ही हो, तो कठिनाइयां कितनी ही बड़ी एवं दुस्तर क्यों न हों, स्थायी और अन्तिम विफलता नहीं हो सकती। यदि क्रम एक बार टूट भी जाय तो भी इसे फिर लेकर जोड़ दिया जाता है और लक्ष्य तक पहुँचाया जाता है। प्रकृतिमें भी अन्तः-प्रेरणाकी अनुवर्त्ती एक प्रक्रिया चलती है, चाहे कितनी ही धीमी चले पर वह परिणाम अवश्य उपस्थित करती है। किन्तु आन्तरिक स्वीकृति इसके लिये आवश्यक होती है। जिस प्रगतिको तुमने अपने अन्दर लक्षित किया है वह इसलिये घटित हुई कि आत्माके तथा प्रकृतिके एक अंगमें इसके लिये सहमति थीं। मनने परिवर्त्तनके लिये आग्रह किया और प्राणने उसकी इच्छा। मन और प्राणके एक अंशमें जो अवरोध था उसने इस प्रगतिको धीमा और थोड़ा

कठिन बनाया पर उसे रोक नहीं सका।

अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें तुमने मेरी इच्छा ज़ाननी चाही है। मैं चाहता हूँ कि तुम दृढ़ रहो, अपने अन्दर उस स्वीकृतिको अधिकाधिक दो जो तुम्हारी अबतककी प्रगतिका कारण थी जिससे यहां भी (इस प्रगतिके क्षेत्रमें) अवरोध मन्द पड़कर अन्तमें समाप्त हो ज़ाय।

साथ ही तर्कवृत्तिके प्रयोगपर, अपने व्यक्तिगत तर्ककी यथार्थतापर एवं सब विषयोंमें इसके निर्णयाधिकारपर अत्यधिक आग्रह करना छोड़ दो। तर्कका स्थान विशेषकर थोड़े भौतिक विषयों और साधारण सांसारिक प्रश्नोंतक ही सीमित है——यद्यपि वहां भी इसके निर्णय बहुधा भ्रमपूर्ण होते हैं——अथवा यह अन्तिम सत्ताविषयक परिणामों और सिद्धान्तोंको भी निर्धारित कर सकता है। पर योगके अथवा आध्यात्मिक विषयोंमें अन्तिम निर्णायक होनेका इसका दावा असम्भव है। इस क्षेत्रमें बाह्य बुद्धिका प्रयोग केवल व्यक्तिगत मान्यताओंका निर्माण करता है, सत्यकी उपलब्धिमें सहायक नहीं होता। यह बात भारत सदासे जानता है कि तर्क-बुद्धि, उसकी युक्तियां एवं उसके निर्णय हमें आत्मिक सत्योंकी अनुभूति नहीं करा सकते, वे केवल विचारोंकी बौद्धिक अभिव्यक्तिमें सहायता दे सकते हैं। उपलब्धि तो संबोधि और आन्तरिक अनुभवसे मिलती है। तर्क एवं बौद्धिकता भगवान्के दर्शन नहीं करा सकते, उन्हें तो आत्मा ही देख सकती है। परन्तु आत्माके दर्शन करानेपर मन और अन्य करण उसमें भाग ले सकते हैं, उसका स्वागत कर सकते हैं, उसमें आनन्द ले सकते हैं। किन्तु मन उसे रोक भी सकता है; कम-से-कम उपलब्धि अथवा दर्शनके मार्गमें बहुत देरतक बाधा तो बन सकता है क्योंकि उसके पक्षपात, पूर्वनिर्णीत धारणाएं एवं मानसिक रुचिभेद प्राप्तव्य आध्यात्मिक सत्यके विरोधमें तर्कोंकी एक दीवार खड़ी कर सकते हैं, और यदि सत्य उनकी कल्पनाके अनुरूप अपनेको प्रस्तुत नहीं करता तो वे उसे स्वीकार करनेसे इन्कार कर सकते हैं। इसी प्रकार मन व्यक्तिको भगवान्के पहिचाननेमें रोक सकता है यदि भगवान् अपनेको ऐसे रूपमें प्रस्तुत करें जिसे बुद्धि स्वीकार नहीं करती अथवा जो उसके पूर्वनिर्णयों एवं पक्षपातोंके विपरीत हो। कुछ विषयोंमें व्यक्ति अपनी तर्कबुद्धिपर निर्भर रह सकता है पर तभी जब वह उन्मुक्त, निष्पक्ष एवं अनुचित आवेशसे स्वतन्त्र हो और यह स्वीकार करनेको प्रस्तुत रहे कि वह सदा ही ठीक नहीं होती तथा गलती कर सकती है। किन्तु उन विषयोंमें जो इसके क्षेत्रसे बाहर हैं विशेषकर अध्यात्मदर्शन एवं योगके मामलोंमें इसपर निर्भर करना सुरक्षित नहीं क्योंकि ये ज्ञानके एक भिन्न स्तरसे सम्बन्ध रखते हैं।

*

सूर्यालोकित पथ सम्बन्धी मेरे पहले कथनोंमें और मानव प्रकृतिके ढंगसे होनेवाले अपने सामान्य विकासमें योगको जिन कठिन एवं अप्रिय मार्गोंसे गुजरना पड़ता है उनसे सम्बन्ध रखनेवाले मेरे कथनमें कोई विरोध नहीं है। सूर्यालोकित पथका ऐसे लोग ही अनुसरण कर सकते हैं जिनमें समर्पणकी साधना करनेकी क्षमता है, पहले तो केन्द्रीय समर्पणकी तथा बादमें सत्ताके सभी भागोंमें अधिक पूर्ण आत्मदानकी। यदि वे केन्द्रीय समर्पणकी वृत्तिको प्राप्त कर सकें और सुरक्षित रख सकें, यदि वे भगवान्‌पर पूरी तरह भरोसा रख सकें और भगवान्‌से आनेवाली प्रत्येक वस्तुका प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर सकें तो उनका मार्ग सूर्यालोकित हो जाता है और सीधा एवं सरल भी हो सकता है। वे लोग सब कठिनाइयोंसे बच नहीं जायेंगे; कोई भी साधक बच नहीं सकता, किन्तु बिना किसी कष्ट या निराशाके,—जैसा कि निःसन्देह, गीताके परामर्शानुसार योग करना चाहिये अर्थात् "अनिर्विण्णचेतसा",—आन्तरिक मार्गदर्शनपर विश्वास रखते हुए तथा इसका अधिकाधिक अनुभव करते हुए या गुरुके बाह्य पथ-प्रदर्शनमें विश्वास करते हुए उनका सामना कर सकेंगे। इसका अनुसरण तब भी किया जा सकता है जब मनुष्यको किसी प्रकाश या पथप्रदर्शनका अनुभव न हो, किन्तु यदि मनुष्योंमें एक ज्वलन्त स्थिर श्रद्धा और प्रसादपूर्ण भक्ति हो या उसका स्वभाव आध्यात्मिक आशावादीका-सा हो और उसमें यह दृढ़-विश्वास या यह भाव हो कि भगवान् जो कुछ करते हैं वह तब भी अधिक-से-अधिक भलेके लिये होता है जब हम उसकी क्रियाको नहीं समझ सकते। किन्तु सबका यह स्वभाव नहीं होता, अधिकतर लोग उससे बहुत दूर होते हैं और पूर्ण या केन्द्रित समर्पण भी प्राप्त करना सरल नहीं होता तथा इसे सदैव बनाये रखना हमारी मानव प्रकृतिके लिये काफी कठिन है। इन चीजोंके न होनेपर आत्माकी मुक्ति उपलब्ध नहीं होती और इसके स्थानपर हमें नियमके अधीन रहना या कठोर और कठिन अनुशासनका पालन करना पड़ता है।

वह नियम हमपर उस अविद्याने आरोपित किया है जो हमारी सत्ताके सब भागोंकी प्रकृति है; हमारी भौतिक सत्ता स्पष्ट ही अज्ञानका एक स्तूप है, प्राण अज्ञानयुक्त कामना और आवेगोंसे भरा है, मन भी अविद्याका एक ऐसा यन्त्र है जो किसी प्रकारके अपूर्ण और अधिकांश निम्न और बाह्य ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये संघर्ष कर रहा है। साधकका मार्ग इस अज्ञानमेंसे होकर जाता है; उसे एक लम्बे समयतक ठोस अनुभव या उपलब्धिका प्रकाश नहीं प्राप्त हो सकता, केवल मनकी वे आशाएं, विचार एवं विश्वास ही प्राप्त होते हैं जो सच्ची आध्यात्मिक दृष्टि नहीं प्रदान करते अथवा उसे प्रकाशकी झांकियां अथवा प्रकाशके काल मिलते हैं किन्तु प्रकाश प्रायः बुझ जाता है और प्रकाशमय

कालोंके पीछे अन्धकारके बारंबार लौटनेवाले या लम्बे काल आते हैं। सतत उतार चढ़ाव, अटल निराशा, अनगिनत पतन और निष्फलताएं आती रहती हैं। वस्तुतः तो योगका कोई भी मार्ग सरल नहीं है न इन कठिनाइयों या उतार-चढ़ावोंसे मुक्त ही हैं; भक्तिमार्ग सबसे अधिक सुगम माना जाता है; किन्तु वहां भी हम निरन्तर ऐसी शिकायतें पाते हैं कि व्यक्ति हमेशा खोजता रहता है पर पाता कभी नहीं और अच्छीसे अच्छी दशामें भी निरन्तर ज्वार-भाटा, मिलन-विरह, हर्ष-रुदन, उल्लास-निराशा आते रहते हैं। यदि व्यक्तिमें श्रद्धा हो अथवा श्रद्धाके अभावमें लक्ष्य सिद्ध करनेका संकल्प हो तो वह आगे बढ़ता जाता है और भागवत साक्षात्कारके उल्लास एवं आलोकमें प्रवेश करता है। यदि कोई सच्चे समर्पणका अभ्यास बना ले तो यह सब आवश्यक नहीं है; वह सूर्यालोकित पथमें प्रवेश कर सकता है अथवा यदि कोई उस वस्तुका सम्पर्क प्राप्त कर सके जिसे शुद्ध भक्ति कहा जाता है तो जो भी होता है वही पर्याप्त होता है, मार्ग सरल हो जाता है, या यदि नहीं होता, तो भी यह एक सन्तोषजनक प्रारम्भ होता है जो उन कष्टों या पतनोंके बिना हमें अन्ततक अवलम्ब देता रहता है जो अज्ञानी जिज्ञासुके सामने बहुधा आते हैं।

जिज्ञासुको सभी योगोंमें तीन मूलभूत लक्ष्योंका साक्षात् करना होता है: भगवान्के साथ ऐक्य या स्थायी सम्पर्क, अन्तरात्मा या पुरुषकी अथवा आत्माकी मुक्ति और चेतनाका एक विशेष परिवर्तन अर्थात् आध्यात्मिक परिवर्तन। यह परिवर्तन अन्य दो लक्ष्योंतक पहुँचनेके लिये कम-से-कम कुछ हदतक आवश्यक है, यही अधिकांश संघर्षों और कठिनाइयोंका कारण है; क्योंकि इसे सम्पादित करना सरल नहीं है, और हृदयके परिवर्तनकी, संकल्पके अभ्यासोंके परिवर्तनकी मांग की जाती है और हमारी अज्ञानमयी प्रकृति उसका दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध करती है। इस योगका लक्ष्य है प्रकृतिका पूर्ण रूपान्तर क्योंकि यही पूर्ण ऐक्यके लिये और अन्तरात्मा और आत्माकी ही नहीं किन्तु स्वयं प्रकृतिकी पूर्ण मुक्तिके लिये भी आवश्यक है। यह कर्मोंका और पूर्ण दिव्य जीवनका भी योग है; उसके लिये प्रकृतिका पूर्ण रूपान्तर स्पष्टतः ही आवश्यक है; भगवान्के साथ ऐक्यको अपने साथ दिव्य चेतना और दिव्य प्रकृतिमें पूर्ण प्रवेशको भी ले आना होगा; उसमें केवल सायुज्य या सालोक्य ही नहीं किन्तु सादृश्य या जैसे कि गीतामें कहा है, साधर्म्य भी होना चाहिये। पूर्णयोगका अर्थ है चतुर्विध पथ, मनके लिये ज्ञानयोग, हृदयके लिये भक्तियोग, संकल्पके लिये कर्मयोग तथा समग्र प्रकृतिके लिये पूर्णयोग। किन्तु सामान्यतया यदि कोई व्यक्ति सर्वात्मना इनमेंसे किसी भी पद्धतिका अनुसरण कर सके तो वह चारोंके फलको प्राप्त कर लेता है। उदाहरणके लिये भक्तिके द्वारा व्यक्ति भगवान्के समीप पहुँचता

है, उसके सम्बन्धमें प्रगाढ़ रूपसे सचेतन होकर ज्ञानको प्राप्त करता है, क्योंकि भगवान् हीं सत्य और परमार्थतत्व है; उपनिषदें कहती हैं कि उन्हें जानकर व्यक्ति सब कुछ जान जाता है। भक्तिके द्वारा ही संकल्प भी भगवान्‌के प्रति प्रेम और सेवाके कार्योंके एवं भगवान्‌के द्वारा अनुशासित प्रकृतिके शासन और उसकी क्रियाओंके पथकी ओर प्रेरित होता है, और यही कर्मयोग है। भक्तिके द्वारा भी चेतनामें आध्यात्मिक परिवर्तन होता है और प्रकृतिकी ऐसी क्रिया भी होती है जो उसके रूपान्तरका पहला कदम है। चतुर्विध पक्षकी अन्य सभी पद्धतियोंमें भी ऐसा ही होता है। किन्तु यह हो सकता है कि मन, हृदय और संकल्पपर भक्तिका अधिकार और उसके परिणाम स्वरूप भगवान्‌के साथ सम्पर्क स्थापित होनेके मार्गमें सत्ताके अन्दर बहुत सारे अवरोध आते हों। हो सकता है कि बौद्धिक मनकी अत्यधिक सक्रियता और उसके विचार सम्बन्धी अपने अहंकार, अपने पक्षपात, अपनी बँधी-बँधाई धारणाओं एवं अज्ञानपूर्ण तर्कके साथ आसक्ति आन्तरिक प्रकाशके प्रति दरवाजे बन्द कर दे और भक्तिके पूर्ण ज्वारको प्रत्येक वस्तुको आप्लावित करनेसे रोक दे; सम्भव है यह उपरितलीय मानसिक प्रवृत्तिसे चिपटी रहे और अन्तर्मुख होनेसे तथा चैत्य दृष्टिको एवं आन्तरिक हृदयके भावोंको अपना पथ प्रदर्शक बनानेसे इनकार कर दे यद्यपि इस अन्तर्दृष्टि और भावनाके द्वारा ही भक्ति विकसित होती है और विजय प्राप्त करती है। इसी प्रकार प्राणिक सत्ताके आवेग और कामनाएं तथा उसका अहं रास्तेको अवरुद्ध कर सकते हैं और भगवान्‌के प्रति मन और हृदयके आत्म-दानको रोक सकते हैं। व्यक्तिको भौतिक चेतनाका तमस्, अज्ञान और निश्चेतना, विचार तथा भाव और क्रियाकी स्थिर आदतोंके साथ इसकी आसक्ति, पुरानी लीकोंके लिये उसका आग्रह आवश्यक परिवर्तनके मार्गमें बुरी तरह बाधक बन सकते हैं। ऐसी परिस्थितियोंमें भगवान्‌को अपने समयकी प्रतीक्षा करनी पड सकती है; किन्तु यदि हृदयके अन्दर सच्ची भूख हो, तो यह सब अन्तिम सिद्धिको नहीं रोक सकता; तो भी इसे तबतक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है जबतक अवरोधोंको न हटा दिया जाय या कम-से-कम इतना अधिक न साफ कर दिया जाय कि वे उपरितलीय प्रकृतिपर भागवत शक्तिकी क्रियाको निर्बाध रूपसे होने दें। तबतक मनमें आन्तरिक सुखके और कुछ प्रकाश होनेके काल आ सकते हैं, भक्ति या शान्तिकी अनुभूतिके काल, कर्म और सेवामें आत्म-निवेदनके उल्लासके काल भी; क्योंकि इन्हें स्थायी रूपसे रहनेके लिये लम्बा समय लगेगा और बहुत अधिक संघर्ष, परेशानी और कष्ट होगा। अन्तमें भगवान्‌के कार्य दृष्टिगोचर होंगे और व्यक्ति उसके सामीप्यमें निवास करनेमें समर्थ होता है।

मैंने योगकी कठिनाइयोंका उनके अधिक-से-अधिक बुरे रूपमें वर्णन किया है जैसा कि वे उन लोगोंको भी बाधा और पीड़ा पहुँचा सकती है जिनके भाग्य-में सिद्ध होना लिखा है किन्तु जैसा कि प्रायः होता है प्रकाश और अन्धकारका, सम्भवतः प्रारम्भिक उपलब्धि और बादमें आनेवाली भारी कठिनाइयोंका, प्रगति और आक्रमण तथा गतिरोधोंका, आगे बढ़नेकी तीव्र गति और अज्ञानकी दलदलमें फंस जानेका बारी बारीसे आना या मिश्रण होता रहता है। हो सकता है कि महान् उपलब्धियां और प्रकाशकी महान् दीप्तियां एवं आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हों फिर भी लक्ष्य न मिले; क्योंकि ऋग्वेदके शब्दोंमें कहें तो "व्यक्ति जैसे-जैसे एक शिखरसे दूसरे शिखरपर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके सामने वह वस्तु बहुत कुछ स्पष्ट होती जाती है जो अभी करनी शेष है"।* किन्तु कोई ऐसी वस्तु हमेशा होती है जो या तो हमें आगे ले जाती है या बलात् आगे धकेलती है। यह वस्तु अग्र भागमें स्थित किसी ऐसी सचेतन वस्तुका, प्रभुत्व करनेवाले ऐसे आध्यात्मिक विचार, अनश्वर अभीप्सा या स्थिर श्रद्धाका रूप धारण कर सकती है जो अन्धकार या उग्र उथल-पुथलके कालोंमें कभी पूरी तरहसे आच्छादित या नष्ट हुई भी प्रतीत हो सकती है, किन्तु हमेशा ही तूफान गुजर जानेपर या रात्रिका अन्धकार मद्धिम पड़ जानेके बाद फिरसे प्रकट होती है और अपने प्रभावको फिरसे स्थापित करती है। किन्तु यह सत्ता-के सारतत्त्वमें विद्यमान कोई ऐसी वस्तु भी हो सकती है जो मनके विचार या संकल्पसे अधिक गहरी हो, हृदयकी अभीप्साकी अपेक्षा अधिक गम्भीर और स्थायी हो परन्तु व्यक्तिकी अपनी दृष्टिसे छिपी हुई हो। ऐसा व्यक्ति जो योगकी तरफ मनके किसी कुतूहलवश या जिज्ञासाके कारण आया हो, निराशा या किसी अन्य कारणसे मार्गसे विमुख हो सकता है; जो लोग योगका किसी आन्तरिक महत्वाकांक्षा या प्राणिक कामनासे अनुसरण करते हैं वे विद्रोह या कुण्ठा या बारंबार होनेवाले अवरोध और सफलतासे उत्पन्न होनेवाली निराशा द्वारा इससे भी अधिक विमुख हो सकते हैं। परन्तु यदि व्यक्तिमें यह गभीरतर वस्तु हो तो वह आध्यात्मिक प्रयासके पथको स्थायी रुरूपसे नहीं छोड़ सकता: व्यक्ति पथको छोड़नेका निश्चय कर सकता है किन्तु उसे यह करनेकी अन्तरसे अनुमति नहीं मिलती या हो सकता है कि वह इसे छोड़ दे परन्तु वह अन्तरकी किसी गुप्त आध्यात्मिक मांगके कारण इसकी ओर लौटनेको लाचार हो जाता है।

ये सब चीजें प्रत्येक योग-पथमें सामान्यरूपसे पाई जाती हैं; ये हैं वे

*यत्सानोः सानुमारुहत् भूर्यस्पस्टकर्त्वम् ।—अनुवादक

साधारण कठिनाइयां, उतार-चढ़ाव और संघर्ष जो आध्यात्मिक प्रयासके मार्गमें बाधक बनते ही हैं। किन्तु इस योगमें गुप्त शक्तिकी क्रियाओंका एक ऐसा क्रम या व्यवस्था है जो प्रत्येक साधकमें परिस्थितियोंके अनुसार बहुत ही भिन्न हो सकती है, किन्तु फिर भी सामान्य दिशाको बनाये रखती है। हमारे क्रम-विकासने सत्ताको निश्चेतन जड़तत्वमेंसे निकालकर मन, प्राण और शरीरके ऐसे अज्ञानमें डाल दिया है जो अपूर्ण ज्ञानके कारण मन्द हो गया है, और हमें आत्माके प्रकाशमें ले जानेके लिये, प्रकाशमें ऊंचा जानेके लिये एवं प्रकाशको नीचेतक हमारे अन्दर, शरीर एवं प्राणमें इसी प्रकार मन और हृदयमें लानेके लिये और हमारी समग्र सत्ताको इससे भर देनेके लिये प्रयत्न कर रहा है। यह और इसके परिणाम ही जिनमें सबसे महान् परिणाम है भगवान्‌के साथ मिलन और दिव्य चेतनामें जीवन, पूर्ण रूपान्तरका आशय है। मन ही हमारा वर्तमान सर्वोच्च करण है; हमें चिन्तनशील मन और हृदयके द्वारा ही जिनके पीछे अन्तरात्मा या चैत्यपुरुष हो, परमात्मामें विकसित होना है, क्योंकि शक्ति सबसे पहले जो चीज करवानेका प्रयत्न करती है वह है सही केन्द्रीय विचारमें, श्रद्धा या मानसिक वृत्तिमें तथा हृदयकी ठीक अभीप्सा और स्थितिमें मनको स्थिर करना और इनको इतना पर्याप्त रूपसे दृढ़ और स्थिर बनाना कि ये मन और हृदयकी उन अन्य वस्तुओंके होते हुए भी टिके रहें जो उनसे भिन्न या उनकी विरोधी हैं। इसके साथ-साथ यह शक्ति उन किन्हीं अनुभवों, साक्षात्कारों या ज्ञानके अवतरण या विकासको लाती है जिसके लिये व्यक्तिका मन उस समय तैयार होता है या उतनी ही मात्रामें चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, लाती है जितनी उसकी अगली प्रगतिके लिये आवश्यक है: कभी-कभी ये साक्षात्कार और अनुभव बहुत महान् और प्रचुर होते हैं; कभी-कभी थोड़े और छोटे या नगण्य; कुछ लोगोंमें इस प्रारम्भिक अवस्थामें इन चीजोंमेंसे कोई भी अधिक मात्रामें अनुभवमें आती प्रतीत नहीं होती या कोई वस्तु निर्णायक नहीं होती — ऐसा लगता है कि शक्ति केवल मनकी तैयारीपर ही एकाग्र है। अनेक व्यक्तियोंमें ऐसा लगता है कि प्राणमें साधना शुरू हो गई है और अनुभवोंको लेकर आगे बढ़ रही हैं, परन्तु यथार्थमें तो यह किसी मानसिक तैयारीके बिना कदाचित् ही हो सकता है; चाहे यह मनके ऐसे झुकाव या किसी प्रकारके ऐसे उद्घाटनसे अधिक कुछ न हो जो प्राणिक अनुभवोंको सम्भव बनाता है। जो भी हो प्राणिक भूमिकासे शुरू करना एक संकटपूर्ण काम है; उसमें किसी मानसिक भूमिकाकी अपेक्षा कठिनाइयां अधिक संख्यामें और अधिक उग्र रूपमें आती है और भयस्थान भी अनगिनत होते हैं। अन्तरात्माके, चैत्य सत्ताके पास पहुँचना भी कम आसान होता है क्योंकि यह सत्ता अहंकार, कामना और

वासनाके घने आवरणसे ढंकी होती है। व्यक्ति प्राणिक अनुभवोंकी, जो हमेशा विश्वसनीय नहीं होते, छोटी-छोटी सिद्धियोंकी लालचकी तथा अहंकारके प्रति अन्धकारकी शक्तियोंके अनुरोधकी भूलभुलैयामें भटक सकता है। व्यक्तिको इन बीहड़ स्थानोंमेंसे होकर पृष्ठ भागमें स्थित चैत्यके लिये संघर्ष करना पड़ता है और उसे सामने लाना होता है; केवल तभी प्राणिक भूमिकापर साधना निरापद हो सकती है।

जैसे भी हो, हमारी सत्ताकी प्राणिक भूमिकामें साधनाका अवतरण, शक्तिकी क्रियाका अवतरण कुछ समय बाद आवश्यक हो जाता है। शक्ति कोई कदम लेनेसे पहले मानसिक सत्ता और प्रकृतिमें व्यापक परिवर्तन नहीं करती, पूर्ण रूपान्तर तो और भी कम : यदि यह किया जा सके तो बाकी साधना अपेक्षाकृत सुरक्षित और सरल हो जायगी। परन्तु वहां प्राण विद्यमान होता है जो हमेशा मन और हृदयपर दबाव डालता रहता है और साधनामें विक्षोभ और खतरे पैदा करता रहता है तथा इसे लम्बे समयतक अपनेपर छोड़ा नहीं जा सकता। हमें अहंकार, प्राणकी कामनाओं, उसके विक्षोभों और उथल-पुथलसे निबटना है और यदि उन्हें तुरन्त निकाला न जाय तो कम-से-कम उनपर आधिपत्य प्राप्त करना है और यदि तीव्रतासे नहीं तो क्रमशः उन्हें संशोधन, परिवर्तन और प्रबोधनके लिये तैयार करना है। स्वयं प्राणिक भूमिकापर उतरनेके द्वारा ही यह किया जा सकता है। स्वयं प्राणिक अहंकारको अपनी त्रुटियोंके विषयमें सचेतन होना होगा और उनसे मुक्त होनेके लिये सहर्ष उद्यत रहना होगा; इसे अपने दंभों, महत्वाकांक्षाओं, लोभ और लालसाओं, अपने विद्वेषों और विद्रोहों तथा अपने अन्दरकी बाकी सब अपवित्र सामग्री और अशुद्ध क्रियाओंको फैंक देनेका निश्चय करना होगा। यह अधिक-से-अधिक बड़ी कठिनाइयों, विद्रोहों और संकटोंका काल होता है। प्राणिक अहंकार अपनी कामनाओंके विरोधको नापसन्द करता है, निराश होनेपर नाराज़ होता है, अहंकार और अभिमानपर चोट लगनेसे गुस्से हो जाता है; यह शोधनकी प्रक्रियाको पसन्द नहीं करता और इसके विरोधमें भली भांति सत्याग्रहकी घोषणा कर सकता है, सहयोग इनकार करता है, अपनी मांगों और अभिरुचियोंको उचित ठहराता है, अनेक प्रकारके निष्क्रिय प्रतिरोध उपस्थित करता है, प्राणके उस सहारेको हटा लेता है जो जीवन और साधना दोनोंके लिये आवश्यक है और सत्ताको आध्यात्मिक साधनाके मार्गसे दूर करनेका भी यत्न करता है। इन सबका मुकाबला करना है और इन्हें जीत लेना है, क्योंकि यदि हमारी सत्ताके स्वामीको अपने स्थानपर विराजमान होकर हमारी पूजाको ग्रहण करना हो तो सत्ताके मन्दिरको झाड़ बुहारकर साफ रखना ही होगा।

*

जो प्रश्न तुमने पूछा है उससे एक बड़ी ही कठिन और जटिल समस्या उठ खड़ी हुई है और उसपर पूरा पूरा विचार करनेके लिये 'लाइफ डिवाइन'के बड़े-से-बड़े अध्यायके बराबर बड़ा उत्तर लिखना होगा। इस सम्बन्धमें कोरे तर्कके आधारपर नहीं प्रत्युत अनुभवके आधारपर, मेरा जो ज्ञान है उसीके बलपर, मैं यह कह सकता हूँ कि भगवान्का पथनिर्देशन निश्चित रूपमें मिलता है और इस संसारमें व्यर्थ वस्तुतः कुछ भी नहीं है।

जब हम बाह्य घटनाओंका केवल तलीय स्वरूप ही देखते हैं या बाहर जो कुछ होते देखते हैं उसे ही अन्तिम मान लेते हैं अपेक्षा इसकी कि उसे विकसनशील समग्र सत्तामें एक क्षणकी क्रियाएं मानें तब अवश्य ही भागवत निर्देश स्पष्ट रूपमें हम नहीं देख पाते। अधिक-से-अधिक हम देखते हैं कभी-कभीके भागवत अन्तःक्षेप, जो किसी समय अधिक मात्रामें भी हो सकते हैं। जब हम बाह्य घटनाओं और वस्तुओंकी तहमें प्रवेश करते और कार्यनिरत शक्तियों, उनकी कार्यशैली और गुह्य रहस्य को समझनेकी चेष्टा करते हैं तभी वह निर्देश बहुत स्पष्ट रूपमें परिलक्षित होता है और सच तो यह है कि वास्तविक ज्ञान, यहांतक कि वैज्ञानिक ज्ञान भी, ऊपरी तथ्योंकी सतहको भेदकर उनकी प्रच्छन्न प्रक्रिया और उनके कारणों तक जानेसे ही प्राप्त होता है। इतना स्पष्ट है कि यह संसार दुःखपूर्ण है और अनित्य है, यहांतक कि गीतामें दिया हुआ इसका विवरण 'अनित्यम् असुखम्' इसपर ठीक बैठता प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि क्या इसकी उत्पत्ति केवल संयोगवश हुई है, अथवा यह किसी यांत्रिक निश्चेतन विधानसे परिचालित हो रहा है या इसका कुछ और अभिप्राय है और इसकी वर्तमान प्रतीतिसे परे भी कुछ है जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं। यदि इस जगत्का कोई अर्थ है, यदि इसका कोई लक्ष्य है जिसकी ओर वस्तुएं विकास द्वारा बढ़ रही हैं तब अवश्य ही इसमें कोई न कोई पथनिर्देश काम कर रहा है—और इसका अर्थ यह हुआ कि इसमें कोई रक्षिका आधारभूत चेतना और संकल्पशक्ति हैं जिन्हें हम आन्तरिक सम्पर्कसे जान सकते हैं। यदि ऐसी चेतना और संकल्पशक्ति है तो अवश्य ही वह संसारके प्रयोजनको नष्ट करके अथवा इसे एक अनवरत और अन्तिम असफलताका रूप देकर अपने-आपको निष्फल नहीं बना लेगी।

इस संसारके दो रूप हैं—बाह्यतः यह एक भौतिक निश्चेतनापर तथा उस निश्चेतनासे पूर्ण, अज्ञ मन और जीवनपर आधारित प्रतीत होता है; भ्रम और उदासी, मृत्यु और दुःख ही इसके अनिवार्य परिणाम हैं। परन्तु स्पष्टतः ही प्रकाश, ज्ञान, सत्य, शुभ, आनन्द, संतुलन, सौन्दर्यकी ओर भी एक आंशिक रूपमें सफल प्रयत्न और अपूर्ण विकासकी प्रक्रिया चल रही है,

कम-से-कम इन दिव्य गुणोंका आंशिक विकास हो रहा है। इस संसारका अभिप्राय प्रत्यक्षत: इसी विरोधाभासमें है, यह एक ऐसा विकास है जो पहली, अपेक्षाकृत अधिक अन्धकारमय प्रतीतिमेंसे उच्चतर वस्तुओंकी ओर ले जा रहा है या संघर्षपूर्वक बढ़ रहा है। इसमें जो भी पथनिर्देश है वह विरोध तथा संघर्षकी इस परिस्थितिमें ही प्राप्त होगा तथा उस उच्चतर जागतिक अवस्थाकी ओर ले जानेवाला होगा। निश्चय ही यह व्यक्तिको तथा सम्भवत: संसारको भी उच्चतर अवस्थाकी ओर प्रवृत्त कर रहा है परन्तु इसका मार्ग ज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अन्धकार, जीवन और मृत्यु, सुख और दु:ख और हर्ष और शोकके दुहरे भावोंके बीचमें से होकर जाता है। और इन द्वंद्वोंका तबतक अन्त न होगा जबतक हम उच्च स्थितिमें पहुँचकर स्थित नहीं हो जाते। यह निर्देश ऐसा नहीं है न ही साधारणतया यह ऐसा हो सकता है कि इसमें तामसिक शक्तियोंको एकदम अस्वीकार कर दिया जाय। यह निर्देश ऐसा भी नहीं है कि इससे हमें सदा सुख-सौभाग्य और सफलता ही मिलती रहे। इसका मुख्य अभिप्राय है हमारे व्यक्तित्व और चेतनाका विकास, उच्च आत्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व की ओर हमारी प्रगति, और अन्तत: उच्चतर ज्योति, सत्य, आनन्द-की ओर हमारी प्रवृत्ति। शेष सब कुछ गौण है, कभी वह साधन है तो कभी परिणाम, पर मूल लक्ष्य नहीं है।

इस निर्देशका सच्चा अर्थ और स्पष्ट हो जाता है जब हम अपने अन्दर और गहराईमें उतरते हैं और वहां स्थित होकर अधिक नजदीकसे शक्तियोंकी लीला देखते हैं और उनके पीछे स्थित क्रियाशील दिव्य 'संकल्प' का संकेत पाते हैं। स्थूल मनसे हमें उसकी केवल अपूर्ण झलक ही प्राप्त होती है। जब हम भगवान्के सम्पर्कमें आते हैं अथवा अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टिका सम्पर्क प्राप्त करते हैं तब हम अपने जीवनकी समस्त परिस्थितियोंको एक नए प्रकाशमें देखने लगते हैं और तब हमें अनुभव होता है कि हमारे न जानते हुए भी वे परिस्थितियां कैसे हमारी सत्ता और चेतनाके विकासको प्रेरित कर रही थीं, हमें उस कार्यकी ओर प्रवृत्त कर रही थीं जिसे हमें करना था, उस उन्नतिकी ओर जो हमें प्राप्त करनी थी, केवल उस ओर ही नहीं जो शुभ, सौभाग्य-शाली या सफल दीखता है, अपितु संघर्षों, असफलताओं, कठिनाइयों और उलट-फेरकी ओर भी वे हमें प्रवृत्त कर रही थीं। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिके सम्बन्धमें यह निर्देश भिन्न-भिन्न रूपमें तथा उसकी प्रकृति, उसकी जीवन-स्थिति, उसके चेतनाके स्तर, उसके विकासक्रम, उसके नए अनुभवकी आवश्यकता आदिको ध्यानमें रखकर ही अपना कार्य करता है। हम अचेतन यंत्र नहीं बल्कि चैतन्य जीव हैं, हमारी मनोवृत्ति, संकल्प-शक्ति और इसके निर्णय, जीवनके प्रति हमारा

दृष्टिकोण, और हमारी मांग, हमारे अभिप्राय और हमारी गतिविधि—ये सब हमारा पथ निश्चित करनेमें हमारी सहायता करते हैं; इनके द्वारा हम अत्यधिक दुःख और अशुभकी स्थितिमें पहुँच सकते हैं परन्तु इस प्रकार भगवान्‌का पथनिर्देश हमारे अनुभवके तथा अन्तमें हमारी सत्ता और चेतनाके लिये इनका उपयोग करता है। समस्त प्रगति, वह चाहे जिस भी टेढ़े-मेढ़े पथसे हो, चाहे वह पीछे लौटनेकी या उद्देश्यहीन गति ही क्यों न प्रतीत हो और उसके चाहे जो भी अनुभव हों, आत्माकी भवितव्यताके लिये अनिवार्य है। जब हम भगवान्‌के साथ निकट सम्पर्कमें होते हैं तो एक ऐसा संरक्षण हमें सहज ही प्राप्त होता है जो हमारी सहायता करता है, स्वतः प्रत्यक्ष रूपमें हमारा पथनिर्देश एवं संचालन करता है; वह हमारी सारी कठिनाइयोंको, कष्ट और संकटको निकाल ही नहीं फेंकता प्रत्युत हमें इनमेंसे गुजारकर इनसे बाहर निकाल ले आता है। विपरीत स्थितिके अनुभव वहीं कराता है जहां किसी विशेष प्रयोजनके लिये इनकी अनिवार्य आवश्यकता होती है।

ठीक यही बात यद्यपि कुछ और व्यापक और जटिल स्वरूपमें, जगत्‌की गतिविधिके साथ भी है। यह जगत् अपने कर्म-व्यवहारकी अवस्थाओं, नियमों या शक्तियोंके अनुसार लगातार ऊंच-नीचमें पड़ता दिखाई देता है, परन्तु फिर भी इसमें कुछ है जो इसे एक विकासात्मक लक्ष्यकी ओर गति देता है, यद्यपि उस गुप्त तत्त्वको छोटे तथा अधिक परिचित व्यक्तिगत जीवन और चेतनाके क्षेत्रकी अपेक्षा यहां देखना, समझना और पहचानना अधिक कठिन है। भागवत कर्म-व्यवहार की अथवा मानवजातिके जीवनकी किसी विकट अवस्थामें क्या घटित होता है, वह कैसा भी झंझट क्यों न हो, अन्तिम रूपसे निर्धारक नहीं होगा। यहां भी हमें किसी कालविशेषमें अथवा किसी समय-विशेष पर घटित होनेवाली शक्तियोंकी बाह्य क्रियाओंको ही नहीं देखना होगा, गुह्य क्रिया, देरी में प्राप्त होनेवाले परिणाम तथा इस सबके पीछे जो तथ्य है उसको भी देखना होगा। इस धरापर असत्य और अन्धकार सर्वत्र बलशाली हैं और सदासे बलशाली रहते आये हैं, कभी-कभी तो वे शासन करते प्रतीत होते हैं परन्तु समय-समयपर प्रकाशका उदय ही नहीं प्रबल प्रस्फुटन भी तो हुआ है। वस्तुओंके जंजालमें और समयके प्रवाहमें किसी युगका गतिचक्रका बाह्य स्वरूप चाहे जैसा भी रहा हो प्रकाशका विकास बराबर होता रहा है और शुभकी ओर संघर्ष-पूर्ण प्रगति कभी अवरुद्ध नहीं हुई। इस समय असत्य और अन्धकारके बादल उमड़-घुमड़कर घिर आये हैं और उनमें अत्यधिक शक्ति आ गई है; लेकिन प्राचीन कालसे लेकर अबतकके गुह्यदर्शियों और अवतारोंके इस कथनको न भी मानें कि परम अभिव्यक्ति होनेसे पहले ऐसी स्थितिका आना अनिवार्य

है और यह अभिव्यक्तिके शुभागमनकी सूचना है, तो भी इसे असत्यकी निश्चित विजय——चाहे वह अल्पकालीन ही हो——मान लेना असंगत होगा। इसका वास्तविक अर्थ केवल यह है कि शक्तियोंका संघर्ष घोर अवस्थामें पहुँच गया है। इसका परिणाम यथासम्भव उत्तम और शुभका अधिक प्रबल आविर्भाव हो सकता है, क्योंकि विश्वगति प्रायः इसी ढंगसे कार्य करती है। मैं इसे यहीं छोड़ता हूँ, और कुछ नहीं कहता।

*

यह योग सचमुच कठिन है, परन्तु क्या कोई भी योगमार्ग वास्तवमें सरल है? तुम विश्वातीत निरपेक्ष ब्रह्ममें लयरूप मुक्तावस्थाके आकर्षणकी बात कहते हो, किन्तु ऐसे व्यक्ति कितने हैं जो निर्वाणके मार्गपर चलकर इस जन्ममें या सुदीर्घ, कठोर, अविश्रान्त और कठिन प्रयासके बिना उसे प्राप्त कर लेते हैं? ऐसा कौनसा मार्ग है जिसे प्रतिज्ञात वैकुंठधाम तक पहुँचनेके लिये शुष्क मरुभूमिमेंसे नहीं गुजरना पड़ता? भक्तिमार्ग भी जो सबसे सुगम कहा जाता है भक्तोंके विलापोंसे भरा पड़ा है। वे शिकायत करते हैं कि हम तो पुकारते हैं किन्तु प्रियतम हमारी पकड़से साफ निकल जाता है, मिलनका स्थान सुसज्जित है किन्तु अब भी कृष्ण नहीं आते! और जब संक्षिप्त झांकीका हर्ष या मिलनका गाढ़ानुराग प्राप्त होता भी है, तो उसके बाद विरहके सुदीर्घ अन्तराल आते हैं। यह सोचना गलत है कि योगका कोई मार्ग सुगम है, या कोई मार्ग भगवान्‌की ओर जानेवाला राजपथ या छोटा रास्ता है, या "सुगम फ्रेंच-शिक्षक" वा "फ्रेंच स्वयं-शिक्षक" की पद्धतिकी भांति "सुगम योग-शिक्षक" या "योग स्वयं-शिक्षक" की पद्धति भी हो सकती है। कुछ एक महान् आत्माएं, जो अतीत जन्मोंसे तैयार हो चुकी हैं या किसी और विधिसे साधारण आध्यात्मिक क्षमताके ऊपर उठी हुई हैं, अधिक शीघ्र साक्षात्कार प्राप्त कर सकती हैं; कुछ एकको प्रारंभिक अवस्थामें ही ऊंचा ले जानेवाले अनुभव प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु मार्ग चाहे कोई भी क्यों न हो, उसकी सिद्धि अधिकतर लोगोंको दीर्घ, कठिन और धैर्ययुक्त दृढ़ प्रयत्नके बाद ही प्राप्त होती है। कोई भी संघर्षके बिना आध्यात्मिक विजयके शिखरपर आरुढ़ नहीं हो सकता अथवा चढ़ाई और उसके श्रमके बिना चोटियोंपर नहीं पहुँच सकता। सब मार्गोंके बारेमें यह कहा जा सकता है ""दुर्गम है वह पथ, क्षुर-धाराकी न्याईं अति कठिन है उसपर पग धरना।"

तुम मार्गको नीरस इसीलिये अनुभव करते हो कि तुमने अभीतक इसके

उरले सिरेको भी स्पर्श नहीं किया है। परन्तु सब मार्गोंमें अपनी-अपनी नीरस घड़ियां आती हैं और ये घड़ियां सभीके तो नहीं पर अधिकतर लोगोंके साधना-पथमें शुरू-शुरूमें ही आती हैं। जिस आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अवस्थामें अनुभवके द्वार खुल सकते हैं और व्यक्ति एक दृश्यसे दूसरे दृश्यपर चलता चला जा सकता है, उस तक पहुँचनेके लिये तैयारीकी सुदीर्घ अवस्था आवश्यक है — यद्यपि उसके बाद भी नए द्वार सामने आ खड़े हो सकते हैं और वे तबतक खुलनेसे इन्कार कर सकते हैं जबतक सब कुछ तैयार नहीं हो जाता। जब तक व्यक्तिमें आत्म-निरीक्षण और आत्मविजयके लिये उत्कट उत्साह न हो और वह प्रयत्न तथा संघर्षके प्रत्येक पगको मनोरंजक अनुभव न करे अथवा जबतक व्यक्तिको उस विश्वास तथा आत्मदानका रहस्य प्राप्त नहीं है या प्राप्त न हो जाय, जो पथके पग-पगपर भगवान्‌का हाथ देखता है और कठिनाईमें भी उसीकी कृपा एवं पथप्रदर्शन, तबतक यह काल नीरस और सूना लग सकता है। (योगका इस रूपमें वर्णन कि वह कठिनाई और संघर्षके कारण "प्रारम्भमें विषतुल्य कटु" है, किन्तु उपलब्धिके हर्ष, मुक्तिकी शान्ति या दिव्य आनन्दके कारण "अन्तमें अमृततुल्य मधुर" है तथा साधकों और भक्तों द्वारा नीरसताकी घड़ियोंका बहुल वर्णन इस बातको पर्याप्त रूपसे स्पष्ट कर देता है कि यह इस योगकी कोई निराली विशेषता नहीं है)। सब पुरातन अभ्यास-प्रणालियां यह बात स्वीकार करती थीं और इसी कारण गीतामें कहा गया है कि योगाभ्यास धीर-स्थिर भावसे करना चाहिये — ऐसे हृदयसे जो अपनेको निराशासे आच्छन्न न होने दे। यह एक ऐसा उपदेश है जो इस मार्गके लिये संगत है, साथ-ही-साथ गीताके मार्गके लिये तथा वेदान्तके कठिन "क्षुरस्य धारा" मार्गके लिये और अन्य प्रत्येक मार्गके लिये भी। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि नीचे उतरनेवाला आनन्द जितना अधिक ऊंचा होगा, साधनाका प्रारम्भ उतना ही अधिक कठिन होगा, रास्तेमें जो मरुस्थल पार करने हैं वे उतने ही अधिक शुष्क होंगे।

निःसन्देह, अतिमानसिक अभिव्यक्ति केवल शान्ति, शुद्धि, बल, ज्ञानकी शक्ति ही नहीं लाती, ये चीजें वास्तवमें अन्तिम साक्षात्कारके लिये अनिवार्य अवस्थाएं प्रस्तुत करती हैं, उसके अंग हैं, परन्तु उसकी परिपूर्णताके सारतत्त्व तो हैं, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द। चाहे परम आनन्द परम कृतार्थताकी स्थितिमें ही प्राप्त होता है, पर वास्तवमें ऐसा कोई कारण नहीं कि मार्गमें भी प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य क्यों न मिलें। कइयोंने किसी अन्य अनुभवकी प्राप्तिसे पूर्व प्रारम्भिक अवस्थामें ही मार्गका प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य प्राप्त किया है। परन्तु इसका रहस्य हृदयमें हैं, न कि मनमें — उस हृदयमें जो अपने अन्दरके

किवाड़ खोल देता है और फिर जिसमेंसे आत्माकी ज्योति विश्वास और आत्म-दानकी ज्वालाके रूपमें बाहर झिलमिलाने लगती है। उस आन्तरिक अग्निके सामने मनके वादविवाद और कठिनाइयां राख हो जाती हैं और मार्ग चाहे जितना भी लम्बा या दुर्गम हो वह प्रेम और आनन्दकी ओर ले जानेवाला ही नहीं अपितु प्रेम और आनन्दमेंसे होकर जानेवाला ज्योतिर्मय मार्ग बन जाता है।

परन्तु, यदि आनन्द प्रारम्भमें प्राप्त न भी हो तो भी व्यक्ति धीरतापूर्ण अध्यवसायसे उसे प्राप्त कर सकता है — निःसन्देह, अतिमानसिक मार्गपर किसी भी प्रकारकी पहुँचके लिये आन्तरात्मिक परिवर्तन अनिवार्य प्रारंभिक अवस्था है और इस परिवर्तनका अपना असली मर्म ही है आन्तरिक प्रेम, हर्ष और भक्तिका कुसुमित होना। कई व्यक्ति पहले-पहल मानसिक उद्घाटन लाभ कर उसके फलस्वरूप प्रारम्भमें ही शान्ति, प्रकाश एवं ज्ञानोदय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यह ऊपरसे होनेवाला उद्घाटन तबतक अधूरा रहता है जबतक इसके बाद हृदयका अन्दरकी ओर उद्घाटन नहीं हो जाता। क्योंकि तुम्हारे मन और प्राणके संघर्षोंने योगमें तुम्हारा प्रथम प्रवेश नीरस बना दिया है अतः यह मान लेना कि योग शुष्क और आनन्दरहित है, भ्रांति और भूल है। यदि तुम दृढ़तासे लगे रहोगे तो माधुर्यके गुप्त स्रोत स्वतः समुद्भूत होंगे, यद्यपि अब सन्देह और अतृप्त लालसाके अजगर इनपर पहरा दे रहे हैं। असंतोष-के उद्गार तुम भले ही प्रकट करो,—यदि तुम्हारी प्रकृति तुम्हें इसके लिये विवश करती है,— किन्तु योगमें धैर्यपूर्वक लगे रहो।

*

अतिमानस कोई उदासीन, कठोर या चट्टान जैसी वस्तु नहीं है, जैसे कि तुम कल्पना करते हो। भागवतसत्यकी तरह यह अपने अन्दर भागवत-प्रेमकी उपस्थितिको भी धारण करता है, तथा इसका स्वीकार करनेवाले लोगोंके लिये जगत्में इसके शासनका अर्थ है ऐसा सरल एवं निष्कण्टकमार्ग जिसमें कोई बाधा या अवरोध न हो, जिसकी सुदूर सुनिश्चित सम्भावनाको ऋषियोंने देख लिया था।

अन्धेरे मार्गका अस्तित्व है और ऐसे लोग भी हैं जो ईसाइयोंकी तरह आध्यात्मिक कष्टका एक सिद्धान्त बना लेते हैं; बहुतसे लोग इसे विजयके एक अपरिहार्य मूल्यके रूपमें भी ग्रहण करते हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें ऐसा हो सकता है, जैसा कि बहुतसे जीवनोंमें प्रारम्भमें होता रहा है, या व्यक्ति

उसे ऐसा बनाना पसन्द कर सकता है। परन्तु तब वश्यता, सहिष्णुता या अटल नमनीयताके द्वारा मूल्य चुकाना पड़ता है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि अन्धशक्तियोंके आक्रमणोंको या उनके द्वारा थोपी गई परीक्षाओंको इस ढंगसे झेला जाय तो उनकी कुछ सार्थकता होती है। उनके ऊपर प्राप्त हुई प्रत्येक विजयके बाद कुछ प्रत्यक्ष प्रगति होती है; प्रायः वे हमारे अन्दरकी ऐसी कठिनाइयोंका निर्देश करते प्रतीत होते हैं जिनपर हमें विजय प्राप्त करनी है और ऐसा कहते लगते हैं: "यहां तुम्हें विजय प्राप्त करनी होगी"; परन्तु इसके साथ ही यह बहुत अन्धेरा और कठिन मार्ग है जिसका अनुसरण ऐसे किसी व्यक्तिको नहीं करना चाहिये जिसके लिये वह अनिवार्य न हो।

कितने ही लोगोंने तपस्या या किसी अन्य वस्तुपर भरोसा रखकर योग किया है पर किसी-न-किसी प्रकारकी भागवत कृपापर विश्वास करते हुए योग नहीं किया। उच्चतर सत्य या उच्चतर जीवनके लिये यह नहीं, किन्तु अन्तरात्माकी मांग अनिवार्य है। जहां वह विद्यमान होती है, वहां भागवतकृपापर विश्वास करो या न करो, वह हस्तक्षेप करेगी ही। यदि तुम विश्वास करो तो इससे कार्य शीघ्र पूरे हो जायेंगे और आसान बन जायेंगे, यदि तुम अभीतक विश्वास नहीं कर सकते तो भी अन्तरात्माकी अभीप्सा अपनेको सत्य सिद्ध करेगी ही, चाहे उसमें कितनी ही कठिनाई और संघर्ष क्यों न आयें।

*

साधनामें तुम जो आशावादी वृत्ति धारणा करते हो न कि निराशावादी, यह बिलकुल ठीक ही करते हो — प्रगतिशील साधनामें सुनिश्चित श्रद्धा और विश्वासके द्वारा बड़ी भारी सहायता मिलती है। इस प्रकारका विश्वास साक्षात्कारमें मदद देता है, क्योंकि यह गतिशील होता है और यह अपनेको सिद्ध करता चला जाता है।

*

जहांतक सन्देहवादियोंकी बात है — अच्छा, यदि आशावाद उचित न ठहराया गया हो तो भी यह उचित ठहराने योग्य है क्योंकि यह कार्योंको पूरा करनेके लिये एक अवसर एवं शक्ति प्रदान करता है, जब कि निराशावाद उन सब आधारोंके होते हुए भी जो बाह्य घटनाएं उसे प्रदान कर सकती है, एक अवरोध मात्र ही होता है और एक निष्क्रियताकी स्थिति है। सही चीज है

आगे बढ़ना और सब सम्भव कार्योंको, यदि हो सके तो करने योग्य सभी कार्यों-को पूरा करना, पर कम-से-कम उतना तो जरूर करना कि जिससे करने योग्य सब मेरे कार्य-पथका अनुसरण करनेको बाध्य हो जाय। पैगम्बर और शास्त्र-वचनोंका यही कहना है।

*

यदि ये चीजें (गलत क्रियाएं) पहलेसे ही लुप्त हो गई होतीं तो विजय हो चुकी होती। मेरा मतलब* उस अन्तिम विजयकी निश्चिततासे है जिसका सम्बन्ध श्रद्धा और भगवान्‌पर एक आन्तरिक भरोसेसे है। इस निश्चितताके कारण उत्पन्न हुई शान्ति व्यक्तिको कठिनाइयोंके सब दुराग्रह और पुनरावर्तनके बीचमेंसे निकालकर पार ले जाती है।

*

इस प्रकारके एक और आक्रमणकी सम्भावना मुझे भी उतनी ही नापसन्द है जितनी तुम्हें। मैं स्वयं भी शायद स्वेच्छासे नहीं आवश्यकतासे ही योद्धा बना हूं — मुझे आंधी और संग्रांम प्रिय नहीं हैं, कम-से-कम सूक्ष्म स्तरपर। ज्योतिर्मय मार्ग एक भ्रम हो सकता है,—यद्यपि मैं नहीं समझता कि यह ऐसा है,— क्योंकि मैंने लोगोंको बरसों इसपर चलते देखा है; कम-से-कम ऐसा मार्ग तो सम्भव है ही जिसमें रूक्ष ऋतुके प्रकोप केवल सामान्य से हों या केवल हलके हों और जिसमें प्रचण्ड आंधियां तो हों ही नहीं — इसके अनेकों दृष्टांत हैं; 'दुर्गं पथस्तत्' साधारणतः सत्य हो सकता है और निःसन्देह लय या निर्वाणका मार्ग बहुतोंके लिये अतीव कठिन होता है (चाहे मैं तो बिना संकल्प किये निर्वाणमें जा पहुँचा था या सच पूछो तो निर्वाण मेरे यौगिक जीवनके आरम्भ होनेके कुछ समय बाद मुझसे बिना पूछे ही अकस्मात् मेरे अन्दर चला आया था)। परन्तु कुछ-कुछ समयके बाद प्रचण्ड आंधियों द्वारा मार्गका अवरुद्ध हो जाना आवश्यक नहीं है, यद्यपि यह प्रत्यक्ष तथ्य है कि बहुतेरोंका पथ इस प्रकार अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु उनके लिये भी, यदि वे इसपर दृढ़ रहें, मैं देखता हूँ कि एक विशेष कालके बाद आंधियोंका बल, आवृत्ति तथा अवधि

*"तुम्हें अपने अन्दर वह शान्ति विकसित करनी चाहिये जो विजयकी निश्चिततासे उत्पन्न होती है।"

कम हो जाते हैं। यही कारण है कि मैंने तुम्हारे दृढ़ रहनेपर इतना बल दिया था — क्योंकि यदि तुम दृढ़ रहोगे तो यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी घड़ी अवश्य आ जायगी। हाल ही में मैंने कुछ ऐसे आश्चर्यजनक दृष्टांत देखे हैं जिनमें ये प्रचण्ड आंधीके चक्र वर्षोंके उग्र पुनरावर्तनके बाद समाप्त होने लगे हैं।

ये कठिनाइयां प्रकृतिकी साधारण कठिनाइयों जैसी नहीं हैं, भले ही वे कितनी भी दारुण क्यों न हों। ये तो विशेष रचनाएं हैं — प्रबल वात्याएं हैं जो शुरू होती हैं (प्रायः एक विशेष स्थानसे — जो कभी कोई और कभी कोई हो सकता है) और सदा एक ही घेरेमें तबतक चक्कर काटती चली जाती हैं जबतक वे समाप्त नहीं हो जातीं ... इस गतिको मिटा देना सम्भव होना चाहिये यदि कोई यह जानता है कि इसका आशय क्या है और इससे मुक्त होनेके लिये वह कृतसंकल्प है — यदि वह इसके लिये किसी प्रकारके मानसिक समर्थन-को कभी अवकाश नहीं देता, भले ही वह समर्थन कैसा भी तर्कसंगत, उचित तथा युक्तियुक्त क्यों न प्रतीत होता हो — यदि वह मनकी उन सभी युक्तियों या प्राणके उन सभी अनुभवोंको, जो इसका पक्षपोषण करते हैं, सदा वैसा ही उत्तर देता है जैसा केटो (Cato) ने विवादकर्त्ताओंको दिया था, "कार्थाजको तो विनष्ट करना ही है" ("Delenda est Carthago")इस प्रसंगमें कार्थाज वह रचना तथा उसका अतिदुष्ट चक्र है।

जो हो, तुम्हारे पत्रका अन्तिम विचार ठीक है। "भगवान् ढूंढ़ निकालने योग्य हैं, विषादके समुद्र भले ही पार करने पड़ें।" यदि तुम इस रचनाका सदा-सर्वदा ऐसे दृढ़ निश्चयसे सामना कर सको तो इससे विजय प्राप्त होगी। ये कठिनाइयां जीती जा सकती हैं यदि मनुष्य भगवान्के पीछे लगा रहे।

*

भगवान्के लिये प्यास एक बात है, अवसाद बिलकुल दूसरी। प्यास पूरी न होनेपर अवसाद ही हो यह आवश्यक नहीं है। प्यास पूरी न होनेपर और भी गहरी प्यास जग सकती है, और भी दृढ़ संकल्प तथा अटूट प्रयास हो सकता है अथवा और भी तीव्र पुकार या चैत्यीकरणकी उदासी उद्‌बुद्ध हो सकती है जो निराशा और अवसादसे सर्वथा भिन्न होती है। अवसादकी स्थिति अपने स्वरूपमें तमस्‌की मलिन स्थिति है और निर्मल वातावरणकी अपेक्षा तमस्‌की मलिन स्थितिमेंसे प्रकाशका आना अधिक कठिन होता है। हम सभीका यह सामान्य अनुभव है कि अवसाद हमारे आन्तरिक प्रकाशको अवरुद्ध कर देता है। गीता स्पष्ट शब्दोंमें कहती है — योगका अभ्यास दृढ़ता-

पूर्वक 'अनिर्विण्ण चित्त'से करना चाहिये बनियन (Bunyon) ने अपने पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस'में इसे 'निराशाके पंक'के रूपमें प्रतिरूपित किया है, यह इस पथमें बहुत बड़ा विघ्न है और इसपर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। निःसन्देह इस पथमें निराशा और अवसादके आक्रमणोंसे एकदम बच निकलना कठिन है; प्रायः सभी साधकोंको ये आक्रमण सहने होते हैं परन्तु सिद्धान्त यह है कि इनका डटकर सामना किया जाय, और इनके संकेतोंको न किसी प्रकारका मानसिक प्रोत्साहन दिया जाय और न ही उन्हें स्वीकार किया जाय जिससे वे पुनरावर्ती अथवा रूढ़ न हो जायं।

यह सच नहीं है कि भगवान्‌की खोजमें आत्माके लिये अवसाद 'अनिवार्य' है। अनिवार्य है अन्तरात्मामें भगवान्‌के लिये आन्तरिक पुकार जो आत्माको भगवान्‌की ओर उन्मुख कर देती है। यह पुकार किसी भी स्थितिमें आ सकती है—पूरे ऐश्वर्य और संभोगकी स्थितिमें, बाह्य तुमुल जय-विजयकी ऐसी स्थितिमें जिसमें शोक या विषाद नामको भी न हो, किन्तु आकस्मिक या वृद्धि-शील अन्तरके चकमक प्रकाशके द्वारा, या विषयोपभोगके बीच अचानक विद्युत-प्रभाके रूपमें—जैसे बिल्वमंगलके उदाहरणमें, और इस अनुभूतिके द्वारा कि अहंकार और अज्ञानमें बीतते हुए इस भौतिक जीवनसे अधिक महान् और अधिक सच्ची सत्ता कुछ है। अभिमुखताकी इन सब अवस्थाओंमें निराशा या विषादके लिये अवकाश कहां है? प्रायः मनुष्य यह कहता हुआ भगवान्‌की ओर अभिमुख होता है "मनोरंजनकी दृष्टिसे जीवन बड़ा ही सुहावना और सुखप्रद है परन्तु है यह मनोरंजन ही। आध्यात्मिक सत्य मन और इंद्रियोंके जीवनसे अधिक महान् है।" चाहे जिस प्रकार हो, होनी चाहिये भगवान्‌की ओरसे पुकार, या भगवान्‌के लिये आत्माकी पुकार। यही असली चीज है। इसका आकर्षण उन सब पदार्थोंसे कहीं अधिक महान् वस्तु है जो साधारणतया प्रकृतिको वशमें कर लेते हैं। निश्चय ही यदि कोई अपने जीवनसे इस प्रकार तृप्त और मुग्ध है, कि उसे अन्तरात्माकी प्रतीति नहीं होती या भगवान्‌के प्रति उसका आकर्षण कुण्ठित है तब तो अवश्य ही वैराग्य, उदासी, निराशा और अवसादकी तथा प्राणके तमाम बन्धनोंके कष्टकर उच्छेदकी आवश्यकता है। अनेक व्यक्तियोंके लिये इस प्रकारके अनुभवसे गुजरना अनिवार्य है परन्तु एक बार अन्तरात्मा जब भगवान्‌की ओर मुड़े तो बस उसी ओर मुड़ जाना चाहिये, फिर उसे चिर वैराग्य की आवश्यकता नहीं। और जब हम प्रसन्नचित्तता की बात करते हैं और उसे सर्वोत्तम स्थिति बताते हैं तो उससे कदापि हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि प्राणकी निम्न इच्छाओंका सुखेन अनुसरण करते हुए जीवन बहता चले हमारा अभिप्राय होता है भगवान्‌के पथका सानन्द

अनुसरण जो युक्त दृष्टि और स्थितिवाले मन तथा हृदयके लिये असम्भव नहीं है। जो हो, यदि किसीके लिये भावात्मक प्रसन्नताकी स्थिति सम्भव न हो तो सतत उदासी और निराशा-अवसादके आगे सिर झुका देना या इनका मानसिक समर्थन करना उचित नहीं। भगवान्की ओर उन्मुख रहनेके लिये यह अनिवार्य नहीं है।

माताजीका उस बौद्ध साधक तथा उसकी नौ वर्षकी अवरुद्ध स्थिति और अन्य उदाहरणोंसे अभिप्राय एकमात्र इतना ही था कि सात या आठ वर्ष तक सफलता न मिलनेका अर्थ यह नहीं होता कि साधक इस पथके लिये सर्वथा अयोग्य है या यह कि भविष्यमें आशा के सभी द्वार उसके लिये बन्द हो गये हैं। वह अवरुद्ध स्थितिवाला आदमी जापानी बोद्धोंके श्रेष्ठ पुरुषोंमें गिना जाता है और उसकी सुदीर्घ असफलता अयोग्यता अथवा आध्यात्मिक अक्षमताकी बोधक नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे बहुत लोग मिलेंगे जो सुदीर्घ कालतक प्रयास करनेके बाद अन्तमें विजयी हुए हैं। सामान्यतया यही सबका अनुभव है, यह कोई असाधारण बात नहीं है।

*

मुझे इस दिव्य अन्धकारमें बहुत विश्वास नहीं है। यह ईसाइयोंका विचार है । हमारे लिये तो भगवान् शान्ति, पवित्रता, विशालता, प्रकाश और आनन्द-रूप हैं।

*

दुःख और इसके कारणोंसे पराङमुख होकर निर्वाणकी मोहक मुखछविकी ओर उन्मुख होना बौद्धधर्म है। दुःखवाद भारतमें था ही नहीं, सिवाय वैष्णव विरहके सिद्धान्तके; वैसे यह साधनाका साधन या यहांतक कि उसकी एक अवस्था भी नहीं समझा जाता था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि दुःख साधनामें आता नहीं; यह आता है और इसे त्यागना, जीतना और पार करना होता है — सिवाय उस चैत्य दुःखके जो प्राणको उद्वेलित या विषण्ण नहीं करता बल्कि उसे मुक्ति प्रदान करता है। दुःखका वाद या सिद्धान्त बना लेना अनर्थकारी है क्योंकि दुःखमें आसक्ति आदतका रूप धारण कर लेती है और ऐसी चिपक जाती है जैसी शायद ही और कोई चीज एक बार लग जाने-पर चिपकी रहती हो।

*

पाप या विरोधिताके दंडके रूपमें भगवान् मनुष्यको दुःख-कष्ट नहीं देते — यह एक भ्रान्त विचार है। सुख और सौभाग्यकी तरह ही दुःख-कष्ट भी अज्ञानमय जीवनके एक अनिवार्य अंगके रूपमें आता है। सुख और दुःख, हर्ष और शोक, सौभाग्य और दुर्भाग्यके ये द्वंद्व उस अज्ञानके अनिवार्य परिणाम हैं जो हमें सच्ची चेतना और भगवान्से पृथक् करता है। केवल सच्ची चेतना पाने और भगवान्के पास वापस लौटनेपर ही हम दुःख-कष्टसे छुटकारा पा सकते हैं। विगत जीवनोंके कर्म रहते हैं, बहुत कुछ उन्हींके फलस्वरूप दुःख-कष्ट घटित होता है, पर सब नहीं। क्योंकि अपनी निजी चेतना और पुरुषार्थके द्वारा हम अपने कर्मको सुधार सकते हैं। परन्तु दुःख महज प्राचीन भूलोंका स्वाभाविक परिणाम होता है, उसका दंड नहीं, ठीक जिस तरह कि अग्निके साथ खेलनेका स्वाभाविक परिणाम होता है जल जाना। यह उस अनुभवका अंग है जिससे कि अन्तरात्मा अपने करणोंकी सहायतासे तबतक सीखता और वर्द्धित होता रहता है जबतक कि वह भगवान्की ओर मुड़नेके लिये तैयार न हो जाय।

*

कभी-कभी दुःख और दर्द ऐसे साधन बन जाते हैं जिनके द्वारा अन्तरात्मा जाग्रत हो जाता है और भगवान्की ओर आगे धकेल दिया जाता है। यही वह अनुभव है जहां जाकर 'क्ष' का ध्यान निरन्तर स्थिर हो जाता है, क्योंकि अपने जीवनमें वह बहुत दुःख भोग चुका है — किन्तु सब लोगोंको ऐसा नहीं लगता।

*

तुमने अपने पत्रमें जिस वृत्तिका वर्णन किया है वह सही वृत्ति है — मार्गमें जो भी कष्ट आयें उनका उस विजयके लिये जिसे हमें प्राप्त करना है, कोई बड़ा महत्त्व नहीं और यदि उन्हें सही भावसे ग्रहण किया जाय तो वे विजयके साधन भी बन जाते हैं।

*

आदर्शवादियोंका प्रश्न यह है कि सत्ताके मूलभूत सुख गुरुतर होनेपर भी

पीड़ा होनी ही क्यों चाहिये? असली प्रश्न यह है कि असमर्थता, सीमितता और कष्ट जीवनके इस स्वाभाविक सुखमें बाधक क्यों बनते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि जीवनका स्वभाव ही मूलतः दुःखमय है।

*

मैं नहीं कह सकता कि मैं तुम्हारी शंकाओंका तर्क-वितर्क भलीभांति समझता हूँ। तुम्हारे एक उदार एवं निःस्वार्थ मित्रके दुःख भोगनेसे यह कैसे सिद्ध होता है कि योगसे कुछ आशा नहीं? संसारमें दुःखमय दृश्योंकी भरमार है; पर आखिर योग करनेकी आवश्यकताका यही तो असली कारण है। यदि जगत् सारे-का-सारा सुखमय, सुन्दर एवं आदर्श ही होता तो भला कौन इसे बदलना चाहता या पार्थिव मन तथा जड़तत्त्वमें उच्चतर चेतना उतारनेकी आवश्यकता अनुभव करता? तुम्हारी दूसरी युक्ति यह है कि योग-साधन कठिन वस्तु है, सुगम नहीं, यह लक्ष्यकी ओर सुखकर सरपट गति नहीं। निःसन्देह बात ऐसी ही है और इसका कारण है संसार तथा मानवप्रकृतिका स्वरूप और स्वभाव। मैंने कभी नहीं कहा कि योग-साधना सुगम है या इस पुरुषार्थके पथमें दुर्लंघ्य कठिनाइयां नहीं हैं। और फिर, मेरे प्रतिदिन दस घण्टे "तुच्छ" पत्र लिखते रहनेसे नई जातिका निर्माण होनेके बारेमें तुमने जो बात कही है उसे मैं नहीं समझ पाया हूँ। ऐसी बात सचमुच ही नहीं है — यहां तक कि महत्त्वपूर्ण पत्र लिखनेसे भी ऐसा नहीं हो सकता। यदि मैं बढ़िया कविताएं लिखनेमें अपना समय लगाऊं तो उससे भी नई जातिका निर्माण नहीं होगा। प्रत्येक काम अपने-अपने स्थानमें आवश्यक है — विद्युतकण वा अणु-परमाणु स्वतः छोटी-सी चीज हो सकते हैं, पर अपने-अपने स्थानमें वे संसारकी रचनाके लिये अनिवार्य हैं; यह केवल पहाड़ों तथा सूर्यास्तों एवं रजोवलय (Aurora Borealis) या उत्तर-ध्रुवीय प्रकाशकी क्षितिज-रश्मियोंसे ही नहीं बन सकता — चाहे इनका भी वहां अपना स्थान है। सब कुछ निर्भर तो इस बातपर है कि इन चीजोंके पीछे किस शक्तिका हाथ है तथा इनकी क्रियाका प्रयोजन क्या है। इस संसारमें जिस विश्वात्माकी क्रिया चल रही है उसे यह सब मालूम ही है। मैं यह भी कह दूं कि वह विश्वात्मा मन या मानवीय मानदण्डोंके अनुसार नहीं बल्कि इनसे अधिक महान् चेतनासे कार्य करता है। वह चेतना विद्युत्कणको लेकर पूरा संसार बना सकती है तथा नाड़ियोंकी एक विशेष ग्रंथिका प्रयोग कर उन्हें यहां जड़के भीतर मन एवं आत्माके कार्योंका आधार बना सकती है, एक रामकृष्ण, एक नेपोलियन या एक शेक्सपियर

पैदा कर सकती है। भला एक महान् कविका जीवन भी क्या केवल उज्ज्वल एवं महत्त्वपूर्ण चीजोंसे ही बना होता है? "किंग लिअर (King Lear)" या "हैमलेट (Hamlet)" की रचना कर सकनेके पूर्व रचयिताको कितनी ही क्षुद्र कृतियोंमें व्यस्त रहना तथा उन्हें पूरा करना पड़ा? और, तुम्हारी अपनी ही तर्कणाके अनुसार, क्या लोग छन्द, मात्रानिर्णय तथा पदांशके उच्चारणके नाना ढंगोंके बारेमें तुम्हारे कोलाहलका — वे इसे कोलाहल ही कहेंगे, मैं तो ऐसा नहीं कहता — मजाक उड़ानेमें युक्तिसंगत नहीं ठहरेंगे? शायद वे कहेंगे कि क्यों वह ऐसी तुच्छ गद्यात्मक चीजोंमें अपना समय गंवा रहा है जब कि वह यही समय सुन्दर गीतिकाव्य या उत्कृष्ट संगीत की रचनामें लगा सकता था? परन्तु जो सामग्री लेकर कर्त्ताको काम करना होता है उसका उसे ज्ञान होता है तथा उसका वह मान करता है और उसे पता होता है कि क्यों वह "तुच्छ बातों" एवं छोटी-छोटी ब्योरेकी बातोंमें संलग्न है और उसके प्रयत्नकी पूर्णता-में उनका क्या स्थान है।

जहांतक श्रद्धाका प्रश्न है, तुमने ऐसा लिखा है मानो मुझे कभी कोई सन्देह या कोई कठिनाई हुई ही न हो। जैसी बुरी शंकाएं एवं कठिनाइयां मेरे सामने आई हैं, मानव मन उनकी कल्पना भी नहीं कर सकता। यह बात नहीं कि मैंने कठिनाइयोंकी परवा नहीं की है बल्कि असली बात यह है कि मेरे समकालीन या मुझसे पूर्ववर्ती किसी भी व्यक्तिकी अपेक्षा मैंने उन्हें अधिक साफ-साफ देखा है तथा बड़े परिमाणमें अनुभव किया है और इस प्रकार उनका सामना करने तथा उनकी थाह ले लेनेके कारण मुझे अपने कामकी सफलतापर पूर्ण विश्वास हो गया है। पर, यदि मुझे तब भी यह सम्भावना दिखती कि यह निष्फल होगा (जो कि असम्भव है) तो भी, मैं विचलित हुए बिना बढ़ा चलता। कारण, जो काम मुझे करना था उसे मैं यथाशक्ति कर डालता और इस प्रकार जो कुछ किया जाता है वह विश्वके सामंजस्य एवं संविधानमें सदा ही महत्त्व रखता है। परन्तु मैं ऐसा अनुभव ही क्यों करूँ कि यह सब कहीं व्यर्थ ही न जाय जब कि मुझे एक-एक कदम साफ दीख रहा है तथा यह भी दीख रहा है कि वह किधर ले जा रहा है और प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक दिन — कभी यह प्रत्येक वर्ष और मास था और आगे यह प्रत्येक दिन तथा घड़ी हो जायगा — मुझे मेरे लक्ष्यके इतना और निकट ले आ रहा है? ऊर्ध्वस्थित महत्तर प्रकाशकी सहायतासे जब कोई अपने पथपर चलता चला जाता है तो, प्रत्येक कठिनाई भी सहायता पहुँचाती है तथा कुछ महत्त्व रखती है और स्वयं निशा भी अपने भीतर उदयोन्मुख उषाका गर्भ वहन करती है।

*

आघात! क्या वे सदा योग द्वारा ही पहुँचाये जाते हैं? क्या कभी-कभी योगका साधक ही अपने आपको आघात नहीं पहुँचाता? मेरे अनुभवके अनुसार, साधारण जीवनमें अनेकों आघात लगते हैं। आघात जीवनका नियम है: हमारी अपनी प्रकृति और वस्तुओंकी प्रकृति ही हमारे सामने आघातोंको तबतक उपस्थित करती रहती है जबतक हम उनके सामने इस प्रकार सीना तानकर खड़े होना ही नहीं सीख जाते कि वे हमें छू तक न सकें।

*

जीवनकी यह एक शिक्षा है कि इस संसारमें सदा प्रत्येक वस्तु मनुष्यको धोखा देती है—केवल भगवान् धोखा नहीं देते यदि मनुष्य पूर्ण रूपसे उन्हींका आश्रय स्वीकार कर ले तो। तुमपर विपत्तियां इसलिये नहीं आतीं कि तुम्हारे अन्दर कोई खराबी है—विपत्तियां तो सभी मनुष्योंको आती हैं; कारण, वे उन वस्तुओंकी लालसा करते हैं जो अस्थिर हैं। वे उन्हें पाकर खो देते हैं और यदि पाते भी हैं तो उनसे उन्हें निराशा ही मिलती है, तृप्ति तो वे दे ही नहीं सकतीं। भगवान्‌की ओर मुड़ना ही जीवनका एकमात्र सत्य है।

*

'क्ष' के सारे कष्टोंका कारण कुछ तो पूर्वजन्मोंके पुराने कर्म हैं और कुछ उसकी प्रकृति जो अपनी स्थितियोंके साथ समस्वर होनेमें या दृढ़ संकल्प और स्पष्ट समझ द्वारा उनपर प्रभुत्व स्थापित करनेमें या उनका शान्त समचित्तता एवं सन्तुलनके साथ सामना करनेमें असमर्थ है। जीवन अनुभव और विकासके लिये है एवं जबतक व्यक्ति उनसे शिक्षा न ग्रहण कर ले तबतक ऐसी बातें होती रहती हैं जो प्रकृतिके साथ व्यक्तिके अधूरे सन्तुलनका या आन्तरिक त्रुटियोंका परिणाम होती है। जो कुछ होता है वह सब अधिक-से-अधिक भलेके लिये ही होता है यह बात तभी सच्ची होती है यदि हम उस सार्वभौम दृष्टिसे देखें जो भूत और भावीके विकासको भी अपने अन्दर समाविष्ट कर लेती है और विकासमें सौभाग्य एवं दुर्भाग्य, संकट, मृत्यु, कष्ट तथा विपत्ति, इसी प्रकार सुख, सफलता और विजय भी सहयोग देते हैं। यह ठीक नहीं यदि इसका यह अर्थ हो कि केवल ऐसी ही घटनाएं होती हैं जो मानवीय भावमें मनुष्यके लिये मंगलप्रद या प्रत्यक्षतः शुभ है।

*

इन सब कठिनाइयोंका सामना कहीं अधिक शान्ति और कम अहंपूर्ण भावके साथ करना चाहिये।

यह योग एक आध्यात्मिक युद्ध है; इसका प्रयासमात्र करनेसे सभी प्रकारकी विरोधी शक्तियां उठ खड़ी होती हैं और हमें एक स्थिर-शान्ति, अचल-अटल मनोभावके साथ कठिनाइयों, दु:ख-कष्टों तथा सभी प्रकारकी विपरीतताओंका मुकाबला करनेके लिये तैयार रहना चीहये।

जो कठिनाइयां आती हैं वे हमारे लिये कसौटियां और अग्नि-परीक्षाएं हैं और यदि हम सही भावसे उनका मुकाबला करें तो हम कहीं अधिक शक्तिशाली तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे अधिक पवित्र और महान् होकर उन्हें पार कर जाते हैं।

जबतक स्वयं हमारे अन्दर कोई दोष, कोई अपवित्रता, दुर्बलता अथवा, कम-से-कम, अज्ञान न हो तबतक कोई विपत्ति हमारे ऊपर नहीं आ सकती, विरोधी शक्तियां हमें स्पर्श नहीं कर सकतीं या हरा नहीं सकतीं। अतएव हमें अपने अन्दरकी इस दुर्बलताको ढूंढ़ निकालना और उसे दूर करना चाहिये।

जब विरोधी शक्तियोंके किसी मानवयन्त्रके द्वारा आक्रमण हो तो हमें व्यक्तिगत घृणा या क्रोध या आहत अहंकारकी भावनाके साथ नहीं वरन् शक्ति और समतासे पूर्ण शान्त मनोभावके साथ तथा भगवान्की शक्तिको कार्य करनेके लिये पुकारते हुए उसे जीतनेका प्रयास करना चाहिये। सफलता या विफलता तो भगवान्के ऊपर निर्भर करती है।

दूसरोंसे निबटनेके लिये बोलने और करनेका एक तरीका ऐसा है जो अत्यधिक चोट पहुँचाता है और हमारे अन्दर अत्यन्त गलतफहमी पैदा करता है। पर एक दूसरा तरीका भी है जो स्थिर और दृढ़ होता है पर होता है उन लोगोंके साथ समझौता करानेवाला जिनके साथ समझौता सम्भव होता है—उन सबके साथ समझौता करानेवाला जो पूर्णतः बुरी भावना रखनेवाले नहीं होते। पहलेकी अपेक्षा इस दूसरे तरीकेका व्यवहार करना ही अधिक अच्छा है। बस, हमारा मनोभाव यही होना चाहिये कि हम कोई कमजोरी, कोई उद्दंडता या हिंसा-भावको अपने अन्दर न रहने दें।

*

प्राणिक कठिनाइयां प्रत्येक मानव सत्ताके और प्रत्येक साधकके हिस्सेमें समानरूपसे आती हैं। उनका मुकाबला हमें दृढ़ निश्चय और भगवान्में श्रद्धा रखते हुए करना है।

*

योगकी सदा ही अपनी कठिनाइयां होती हैं, चाहे वह कोई भी योग क्यों न हो। और फिर, विभिन्न जिज्ञासुओंपर योग विभिन्न प्रकारसे कार्य करता है। कुछ लोगोंको कोई उल्लेखनीय अनुभव प्राप्त करनेसे पहले अपनी प्रकृतिकी कठिनाइयोंको जीतना होता है। दूसरोंका आरम्भ भव्य होता है और कठिनाइयां सब बादमें आती हैं, अन्य कई दीर्घकालतक बारी-बारीसे लहरके सिरपर चढ़ते और फिर नीचे गढ़ेमें गिरते रहते हैं, ऐसा पुनः पुनः और तबतक चलता रहता है जबतक कठिनाई समाप्त ही नहीं हो जाती। अन्य कइयोंका मार्ग सुगम भी होता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें कठिनाइयां होती ही नहीं—कठिनाइयां उन्हें भी बहुत होती हैं, पर वे उनकी रत्ती भर भी परवा नहीं करते, क्योंकि वे महसूस करते हैं कि भगवान् उन्हें लक्ष्यतक पहुँचानेमें उनकी सहायता करेगा या यह कि वह तब भी उनके साथ है जब वे उसे अनुभव नहीं करते—उनकी श्रद्धा उन्हें अचल अटल बना देती है।

*

बिलकुल निर्विघ्न रूपान्तरके लिये या तो ऐसे शान्त और दृढ़ संकल्पकी जरूरत है जिसका समग्र सत्तापर शासन हो या फिर अति महान् समताकी। यदि व्यक्तिमें ये हों तो कोई विद्रोह नहीं होते यद्यपि साधनामें कठिनाई आ सकती हैं, कोई आक्रमण नहीं होते, होता है केवल प्रकृतिके दोषोंका सचेतन रूपसे निबटारा, कोई पतन नहीं होते, होता है केवल गलत कदमों या क्रियाओंका सुधार।

*

यदि सिर दर्द हो तो यह केवल इस बातका परिणाम है कि शरीर दबावका या फिर वहां होनेवाले प्रतिरोधका आदी नहीं है। अवश्य ही कठिनाइयां उभरती हैं किन्तु हमेशा प्रारम्भमें नहीं। कभी-कभी प्रथम परिणाम ऐसा होता है जिसमें व्यक्ति अनुभव करता है मानों कठिनाइयां थी ही नहीं,—वे पीछे जाकर तब उठती हैं जब उत्साह ठण्डा पड़ जाता है और जब सामान्य चेतनाको ऊपरकी शक्ति या प्रकाशके प्रवाहके विरोधमें डटे रहनेका मौका मिलता है। तब एक ऐसा प्रतिरोध होता है जिससे जूझकर या निबटकर उसे दूर करना होता है—यदि प्रकृति अस्थिर और उग्र रूपसे हठीली हो तब तो उसे जूझकर निकालना होता

है और संकल्प स्थिर हो और प्रकृति अपनी प्रक्रियाओंमें संयत हो तो उसे क्रिया द्वारा बाहर निकालना होता है। दूसरी ओर यदि लम्बे समयतक तैयारी होती रही हो और प्रकृतिके प्रतिरोधका चैत्य द्वारा या मनके आलोकित संकल्प द्वारा बहुत हदतक पहले ही प्रतीकार कर दिया गया हो तो फिर पहले या बादमें प्रतिरोधमें वृद्धि नहीं होती। किन्तु परिवर्तनके कामको स्थिर एवं शान्तभावसे निभा लिया जाता है, बाकी बची हुई कठिनाइयां नई चेतनाके विकासके साथ ही अपने-आप झड़ जाती हैं, या फिर यह भी हो सकता है कि कठिनाइयां बिलकुल न आयें, केवल आवश्यक पुनर्व्यवस्था और परिवर्तन ही करना पड़े।

*

प्रारम्भमें अनुभवोंकी बाढ़ प्रायः बहुत प्रबल होती है, इतनी प्रबल कि प्रतिरोध करनेवाले तत्व शान्त हो जाते हैं—बादमें वे उठ खड़े होते हैं। तब अनुभवको नीचे लाकर इन हिस्सोंमें भी प्रतिष्ठित करना होता है।

*

मैंने कभी नहीं कहा कि योग या यह योग सुरक्षित या सुगम पथ है। मैं जो कहता हूँ वह यही है कि कोई भी व्यक्ति जिसमें इसे पूरा तै करनेका संकल्प है वह इसे तै कर सकता है। शेष बात तो इतनी ही है कि यदि तुम्हारा लक्ष्य ऊंचे जानेका है और तुम अपने वायुयानका संचालन ठीक नहीं करते तो ऊंचाईसे गिरनेका भय सदा ही रहता है। परन्तु भय उन्हींके लिये है जो अपने-आपको दोहरी सत्ता धारण करनेकी अनुमति दे देते हैं, जो ऊंचा लक्ष्य रखते हैं और साथ ही अपने निम्नतर दृष्टिकोण तथा लालसाओंमें आसक्त भी रहते हैं। जब लोग ऐसा करते हैं तब तुम इसके सिवा और क्या आशा कर सकते हो? तुम्हें एकचित्त बनना होगा, तब मन तथा प्राण की कठिनाइयां दूर हो जायंगी। नहीं तो, जो अपनी ऊंचाइयों तथा अपनी निचाइयोंमें डांवाडोल होते रहेंगे उनपर तबतक सदैव संकट आता रहेगा जबतक वे एकचित्त ही नहीं हो जायंगे। यह बात "आगे बढ़े हुए" तथा आरम्भ करनेवाले दोनोंपर समान रूपसे लागू होती है। ये प्रकृतिके तथ्य हैं; किसी व्यक्तिके आश्वासनके लिये मैं ऐसा झूठा दावा नहीं कर सकता कि ये इससे विपरीत होते हैं। परन्तु यह भी तथ्य है कि किसी व्यक्तिको अपने-आपको इस संकटमें डालनेके आवश्यकता नहीं है। एकचित्तता, भगवान्के प्रति समर्पण, श्रद्धा, भगवान्के लिये सच्चा

प्रेम, संकल्पकी पूर्ण सद्हृदयता, आध्यात्मिक विनय (बाह्याचार- रूप नहीं, वास्तविक) —ऐसी कितनी ही चीजें हैं जो अन्तिम अधःपतनके किसी भी अवसरके विरुद्ध रक्षा-साधन बन सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति भूलें करता तथा ठोकरें खाता है, कठिनाइयों तथा उद्विग्नताओंमें से गुजरता है; कोई इन चीजोंके विरुद्ध आश्वस्त नहीं हो सकता, परन्तु यदि उसके पास उक्त रक्षा-साधन है तो ये चीजें क्षणिक होती हैं, प्रकृतिको सीखनेमें सहायता पहुँचाती हैं और इनके बाद अधिक अच्छी उन्नति होती है।

*

हां, किन्तु यह संकल्प शक्तिके अभावसे कहीं अधिक एकाग्र अभीप्साका अभाव है —वे (कुछ साधक) इसलिये चले गये कि उन्हें किसी न किसी ऐसी कामनाने पकड़ लिया था जो भगवान्‌के साक्षात्कारकी अटल और अनन्य अभीप्साके साथ संगत नहीं हुई थी।

यदि बुद्धमें तपस्याके बाद ही ऐसे संकल्पका उदय हुआ तो सत्यकी खोजमें उन्होंने प्रत्येक वस्तुको किस कारण बिना झिझकके छोड़ दिया और उन्हें एक बार भी मुड़कर नहीं देखा, न पछताये, न कोई संघर्ष ही किया। उनके सामने केवल एक ही कठिनाई थी कि सत्यको कैसे खोजा जाय, इसे ढूँढ़नेमें उनका अनन्य संकल्प कभी भी डगमगाया नहीं, स्वयं उनकी तपस्याकी तीव्रता उस संकल्प-बलके बिना असाध्य बनी रहती। जो लोग बुद्धसे कम बलशाली हैं उन्हें इसे प्रयत्न द्वारा विकसित करना पड़ सकता है। जो लोग ऐसा नहीं कर सकते उन्हें भगवती मातापर भरोसा करके ही शक्ति प्राप्त करनी होगी।

*

सच्चा हृदय संसारकी सब असाधारण शक्तियों जितना ही मूल्यवान है।

*

यदि 'क्ष' ने अपनी चेतना और क्रियामें पतन होने दिया जिसके कारण उसकी साधना धीमी पड़ गई और वह अभीतक पूरी तरह अपनी कमजोरी नहीं जीत सकी तो इसका कोई कारण नहीं कि तुम 'उसकी' कठिनाईसे 'अपनी'

श्रद्धा और प्रयासको अभिभूत होने दो। इन दोनोंमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध होनेके लिये कोई कारण भी नहीं — केवल तुम्हारा मन ही ऐसा एक सम्बन्ध बना रहा है। प्रत्येक साधककी अपनी अलग साधना है, अपनी निजी कठिनाइयां है, अनुसरण करनेके लिये अपना मार्ग है। उसकी साधना उसके और भगवान्‌के बीच चल रही है; अन्य किसी भी व्यक्तिका उसमें हिस्सा नहीं। इस बातके लिये भी कोई कारण नहीं कि यदि कोई गिर पड़ता है या असफल होता है तो अन्य व्यक्ति उसके लिये अपनेको संतप्त करे, अपनी श्रद्धा गंवा दे और अपने पथका त्याग कर दे। 'क्ष' के संघर्षका कोई भी स्वरूप या सीमाएं हो तो वह उसका अपना है और उसका सम्बन्ध उसके एवं माताजीके साथ है। वह तुम्हारा नहीं है और उसे तुम्हारा स्पर्श नहीं करना चाहिये या उसका तुमसे जरा भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिये ; यदि तुम उसे अपनेको स्पर्श और विचलित करनेकी अनुमति दो क्योंकि वह तुम्हारी बहन है, तो तुम अपनी निजी कठिनाईको बढ़ानेके लिये एक अनावश्यक कठिनाईको ले आते हो और अपनी प्रगतिको अटका देते हो। अपने मार्गपर कायम रहो और अपने अवरोधोंपर एकाग्र बनो जिससे तुम उन्हें जीत सको। जहांतक तुम्हारी बहनका प्रश्न है, तुम उसके लिये अधिक-से-अधिक भागवत शक्तिसे उसकी सहायता करनेके लिये प्रार्थना कर सकते हो, और बस इतना ही।

*

कोई कारण नहीं कि व्यक्ति अपने भावीके सम्बन्धमें ऐसी थोड़ी भी शंका करने लगे जिसका आधार विफलताके सिवाय और कोई न हो। 'क्ष' और 'य' हमेशा यही करते रहे हैं। और यही उनकी प्रगतिमें महान् बाधा डालनेवाली चीज़ है। इसके स्थानपर, व्यक्तिको यदि दूसरे लोगोंके अनुसार ही चलना हो तो वह ऐसे लोगोंके उदाहरणसे आशा का सन्देश क्यों नहीं ग्रहण करता जो सन्तुष्ट हैं और प्रगति कर रहे हैं। तो भी यह सत्य है कि वे अपनी सफलताको उस तरहसे प्रदर्शित नहीं करते जैसे अन्य लोग अपनी असफलताओंको करते हैं। परन्तु इसके सिवाय असफलता बहुत स्पष्ट भूलों और अधिकतर अविकारी एवं अश्रान्त अभीप्सा या प्रयत्नके अभावके कारण आती है। साधकसे जिस प्रयत्नकी मांग की जाती है वह है अभीप्सा त्याग और समर्पणका प्रयत्न। यदि इन तीनोंको सम्पादित कर लिया जाय तो माताजींकी कृपासे तुम्हारे भीतर उनकी शक्तिकी क्रिया द्वारा बाकी सब अपने-आप ही आ जायेगा। किन्तु इन तीनोंमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है समर्पण जिसका पहला आवश्यक

स्वरूप है कठिनाईके समय श्रद्धा, विश्वास और धैर्य रखना। ऐसा कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते हैं जब अभीप्सा मौजूद हो। इसके विपरीत जड़ताके दबावके कारण अभीप्सा न होनेपर भी विश्वास, भरोसा और धैर्य रह सकते हैं। अभीप्साके निष्क्रिय हो जानेपर भी यदि श्रद्धा और धैर्य मदद न करें तो इसका अर्थ है कि साधक एकमात्र अपने प्रयासपर ही भरोसा रख रहा है—इसका मतलब होगा "ओह, मेरी अभीप्सा निष्फल हो गई, तो अब मेरे लिये कोई आशा नहीं। जब मेरी ही अभीप्सा व्यर्थ हो गई तो भला माताजी भी क्या कर सकती हैं? " इसके विपरीत साधकको यह अनुभव करना चाहिये "कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा वापस आ जायेगी। मैं जानता हूँ इसी बीच माताजी मेरे साथ हैं चाहे मुझे उनका अनुभव न भी हो; वे मुझे अधिक-से-अधिक अन्धेरेके कालमेंसे भी पार ले जायेंगी।" यही पूर्णतया सही वृत्ति है जो तुम्हें धारण करनी चाहिये। जो लोग इसे धारण करते हैं, अवसाद उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता; यदि वह आये तो भी इसे निराश होकर लौट जाना पड़ेगा। यह तामसिक समर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तब होता है जब व्यक्ति कहता है "मैं कुछ नहीं करूँगा, सब कुछ मां ही करें। अभीप्सा, परित्याग, समर्पण भी जरूरी नहीं है। यह सब भी मेरे अन्दर मां ही करें।" इन दो वृत्तियोंमें बड़ा भारी भेद है। एक तो कामचोरकी है जो कुछ भी नहीं करना चाहता, दूसरी उस साधककी है जो अच्छेसे अच्छा काम करता है परन्तु जब उसे कुछ कालके लिये निष्क्रिय बना लिया जाता है और सब परिस्थिति उसके विरुद्ध हो जाती है तो वह सबके पीछे स्थित माताजीकी शक्ति और उपस्थितिपर सदैव विश्वास रखता है और उस विश्वास द्वारा विरोधी शक्तिको व्यर्थ बना देता है तथा साधनाकी सक्रियताको लौटा लाता है।

*

एक वर्षकी तीव्र प्रगतिके बाद 'क' का जो पतन हुआ उसके स्पष्ट कारण उसके चरित्रमें विद्यमान थे जो दूसरोंमें नहीं हैं। यह सब योगियोंको सुविदित है कि पतन हो सकता है और गीता अनेक बार इसका उल्लेख करती है। परन्तु पतनसे यह कैसे सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक अनुभव सच्चा या वास्तविक नहीं है? महान् शिखरसे मनुष्यका पतन यह नहीं प्रमाणित करता कि वह महान् शिखरपर कभी पहुँचा ही नहीं था।

*

जो मनुष्य ऊपर उठ गया है, वह नीचे भी गिर सकता है, विशेषकर यदि उसकी अनुभूति आध्यात्मिक मन द्वारा हुई हो तथा प्राणिक और भौतिक सत्ता पहले जैसी ही बनी रहे। किन्तु यह कहना मूर्खता है कि उसका पतन 'निश्चित' है।

II

जिस व्यक्तिका चैत्य पुरुष उसे आध्यात्मिक मार्गकी ओर बुलाता है उसमें उस मार्गके लिये क्षमता होती है और वह लक्ष्यतक पहुँच सकता है यदि या जैसे ही वह एकमात्र उसी ओर जानेका एकाग्र संकल्प विकसित कर ले। परन्तु यह बात भी है कि हर साधकको अपने अन्दर दो तत्व मिलते हैं —– एक तो आन्तरिक सत्ता, जो भगवान्को और साधनाको चाहती है, और दूसरी, बाह्य सत्ता, मुख्यतः प्राणिक और भौतिक सत्ता, जो उन्हें नहीं चाहती, बल्कि सामान्य जीवनकी चीजोंके प्रति आसक्त होती है। मन कभी तो इनमेंसे एकके द्वारा चालित होता है और कभी दूसरेसे। अतएव मनुष्यको जो सबसे महत्वपूर्ण चीज़ करनी होती है वह यह है कि वह इन दो अंगोंके झगड़ेका मूलतः निपटारा करे तथा चैत्य अभीप्साके द्वारा, मनके विचार और संकल्पकी दृढ़ताके द्वारा, अपनी भावात्मक सत्तामें उच्चतर प्राणके चुनावके द्वारा, विरोधी तत्वोंको पहले शान्त होने और फिर सहमत होनेके लिये राजी करे या बाध्य करे। जबतक वह ऐसा करनेमें समर्थ नहीं होता तबतक उसकी प्रगति या तो बहुत धीमी होगी या अस्थिर और अवरुद्ध, क्योंकि अन्दरकी अभीप्सा निरन्तर कार्य नहीं कर सकती अथवा सतत परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकती। इसके सिवाय जब तक ऐसी स्थिति रहती है तब तक प्राणके इस प्रकारके विद्रोह समय-समयपर होते ही रह सकते हैं जैसे धीमी प्रगति पर कुढ़ते रहना, निराश एवं विषण्ण होना, आधारको अयोग्य घोषित करना; पुराने जीवनकी पुकार आती रहेगी; ऐसी परिस्थितियोंको आकर्षित किया जायगा जो इसे उचित ठहराती प्रतीत होती है; मनुष्यों और अदृश्य शक्तियोंकी ओरसे ऐसे सुझाव आयेंगे जो साधकको उसकी साधनासे हटनेके लिये दबाव डालते हैं और पीछेकी ओर, पहलेके जीवनकी दिशामें लौटनेका संकेत करते हैं। और बहुत सम्भव है कि उस जीवनमें भी उसे कोई सच्चा संतोष न मिले।

तुम्हारी परिस्थितियां प्रारम्भमें और बादमें सब समय अन्य लोगोंकी परिस्थितियोंसे भिन्न नहीं है। तुम पारिवारिक जीवन छोड़कर आये हो पर तुम्हारे प्राणमें अब भी कोई वस्तु है जिसे प्रत्युत्तर देनेकी आदत बनी हुई है

और वही चीज है जिसका उपयोग तुम्हें यहांसे हटा ले जानेके लिये किया जा रहा है। इसमें अधीर प्राण मदद कर रहा है क्योंकि कोई तीव्र आध्यात्मिक प्रगति नहीं हुई या निरन्तर अच्छी स्थिति नहीं रही — ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें उपलब्ध करनेके लिये महान्-से-महान् साधकको भी समय लगता है। ये परिस्थितियां जुटकर तुम्हें यहांसे खींच ले जानेमें मदद कर रही हैं जैसे कि 'क्ष' की बीमारी या तुम्हारे पतिके वे अनुरोध जो तुम्हें पिघलानेमें और बचावको कम असरकारक बनानेमें तब सफल होते हैं जब वह उग्र बननेके स्थानपर सान्त्वना देता है, खुशामद करता है, अनुनय करता है और वचन देता है। और फिर प्राणिक प्रकृति और उसकी शक्तियां भी हैं जो एक या दूसरा सुझाव देती हैं कि तुम अयोग्य हो, तुममें अभीप्सा नहीं है, माताजी और श्रीअरविन्द सहायता नहीं करते, वे अप्रसन्न हैं, ध्यान नहीं रखते, और घर चले जाना ही सर्वोत्तम है।

अधिकतर साधक इस सबमेंसे गुजर चुके हैं और फिर बाहर निकल आये हैं तथा उन्होंने पुराने बन्धन पीछे छोड़ दिये। कोई कारण नहीं कि तुम इसे न कर सको। हमारी सहायता हमेशा विद्यमान है, ऐसा नहीं कि वह कभी दी जाती है और कभी रोक दी जाती है, न ही ऐसा कि वह कुछ ही लोगोंको दी जाती है दूसरोंको नहीं। यह उन सब लोगोंके लिये विद्यमान है जो प्रयत्न करते हैं, सफलताके लिये कृतसंकल्प होते हैं। किन्तु तुम्हें अपना संकल्प स्थिर रखना होगा और बाहरके या ऐसे सुझावोंसे छला या ठगा नहीं जाना होगा जो तुम्हारे अपने विरोधी विचारों और अवसादोंके रूपमें अन्दर घुस आते हैं — तुम्हें उनसे युद्ध करना है और उनपर विजय पानी है। तुम्हारी युद्ध करने और जीतनेकी शक्तिके अनुसार उसमें अल्पाधिक समय लग सकता है। पर प्रत्येक व्यक्तिको पुरानी प्राणिक प्रकृतिपर प्रभुत्व प्राप्त करनेका यत्न करके इसपर विजय पानी होती है।

जहांतक तुम्हारे बाहर जानेका प्रश्न है, तुम्हें अपना निरीक्षण करना होगा और स्पष्ट रूपसे देखना होगा कि कौनसी चीज तुम्हें वहां ले जाना चाह रही है। साधना करनेकी अक्षमताके बहानेका कुछ भी मूल्य नहीं है। यह महज एक ऐसा बहाना है जिसे प्राणमें स्थित प्रतिकूल तत्व प्रस्तुत करते हैं और विरोधी शक्तियोंका सुझाव जिन्हें बल देता है। यदि तुम यह कहो कि तुम्हें लगता है पति और पुत्र या दूसरोंके साथ तुम्हारा लगाव इतना प्रबल है कि तुम्हारी अन्तरात्मा एवं तुम्हारी अभीप्सा उनके विरोधमें कुछ नहीं कर सकती तथा तुम्हारा सच्चा स्थान घरपर ही है, तो निश्चय ही तुम्हारा चला जाना अवश्यम्भावी है — पर तुम्हारे विषयमें इस प्रकारका कथन शायद ही

सच्चा माना जा सकता है। अथवा यदि तुम कहो कि आकर्षण बहुत भारी है और तुम्हारे मतानुसार कुछ समयके लिये यहांसे जाना, अपनी परीक्षा करना और इसे भोगकर समाप्त कर देना अधिक अच्छा है, तो कुछ समयके लिये जाना ठीक भी हो सकता है यदि प्राण प्रबल रूपसे उभर आया हो। और हम मना नहीं करेंगे जैसे कि हमने उस समय भी मना नहीं किया था जब तुमने ज़ाकर 'क्ष' की सेवा-सुश्रूषा करनी चाही थी। किन्तु उस अवस्थामें भी यह अधिक बुद्धिमानी होगी कि तुम इस बातकी जांच गंभीरतासे कर लो और किसी ऐसी अवस्थाके बलपर कोई निश्चय न कर लो जो इससे उलटी भी हो सकती है। तुम्हारे पतिके पत्रोंका हमारे लिये कोई मूल्य नहीं; उसे जब भी ऐसी आशा दिखाई दी कि तुम यहांसे हटकर वहां जा सकती हो तो ऐसे समय उसने हमेशा इसी ढंगसे पत्र लिखा है, और समय उसका सुर इससे बिलकुल भिन्न रहा है।

मैंने तुम्हारे सामने सम्पूर्ण वस्तु विस्तारसे रख दी है। हमारे लिये सीधा रास्ता सदा यही रहा है कि व्यक्ति कोई भी कठिनाई आनेपर अपनी राहपर तबतक चलता रहे जबतक वह प्रभुत्व न प्राप्त कर ले और रास्ता अधिक निर्विघ्न न हो जाय। परन्तु असलमें तो यह निर्णय स्वयं साधकपर ही छोड़ना होगा —मनुष्य ठीक चुनावके लिये दबाव डाल सकता है पर आज्ञा नहीं दे सकता कि साधकको यही कहना होगा।

*

साधारणतया मानव सत्ताके दो भागोंमें दो परस्पर भिन्न प्रवृत्तियां होती हैं, एक है चैत्य या मानसिक प्रवृत्ति जिसे श्रेष्ठतर मार्ग एवं उच्चतर चीजोंकी खोज करनेवाला चैत्य सहारा देता है, दूसरी वह है जिसका मुख्य आधार सत्ताके उस प्राणिक भागमें है जो सहज प्राणिक आवेगों और प्राणिक कामनाओंसे भरा हुआ है, जो निम्नतर प्रकृतिकी चीजोंके साथ आसक्त या उसकी ओर प्रवृत्त है तथा आवेगों, क्रोध, यौनभाव इत्यादिके वशमें है। यदि उच्चतर भाग प्रबल हो, तो निम्नतर भाग नियन्त्रणमें रखा जाता है और अधिक कष्ट नहीं देता। परन्तु निम्नतर भागको प्रायः विश्वगत निम्नतर प्रकृतिके बाह्य बलों एवं शक्तियोंका सहारा मिलता है और कभी कभी ये अन्दर घुस आते हैं और सत्ताके निकृष्टतम भागको एक पृथक् व्यक्तित्व और आजादी प्रदान करते हैं। राक्षसवाले बीभत्स स्वप्नकी और इस अन्य व्यक्तित्वके प्रतिरोधकी यही व्याख्या हो सकती है। यदि ऐसा हो तो इसे अपना हिस्सा नहीं बल्कि एक

ऐसा तत्व मानना होगा जो सच्ची सत्ताके लिये विजातीय है। उच्चतर सत्ताके आदेशोंके निरन्तर वरण करने और दूसरे हिस्सेके निरन्तर इनकार करनेके द्वारा ही निम्नतर सत्ता हारकर अन्तमें पीछे हट जाती है। यथाशक्ति स्थिर होकर तथा किसी पतन या असफलंतासे मनको विक्षुब्ध किये बिना, एक अचल सतत जागरूकता और दृढ़ संकल्पके साथ इसका सामना करना चाहिये।

*

ढेर सारे प्रश्न करना और उनके अलग-अलग उत्तर पाना जरूरी नहीं है। तुम्हारे दसों प्रश्न एक ही प्रश्नमें समा जाते हैं। हरेक मनुष्यमें दो भाग होते हैं एक तो चैत्य जिसमें चिन्तनशील मन और उच्चतर (भाव-प्रधान, बृहत्तर, गतिशील) प्राणका उतना अंश जुड़ा हुआ हो जो चैत्यकी ओर खुला हो और अन्तरात्माके लक्ष्योंके साथ दृढ़तया सम्बद्ध हो तथा उच्चतर अनुभवको स्वीकार करता हो और दूसरी ओर निम्नतर प्राण और स्थूल या बाह्य सत्ता (बाह्य मन और प्राण इसके अन्तर्गत हैं) जो अज्ञानमय व्यक्तित्व एवं प्रकृतिके साथ आसक्त हैं तथा बदलना नहीं चाहते। इन दो हिस्सोंका पारस्परिक विरोध ही साधनाकी सब कठिनाइयोंको उत्पन्न करता है। तुमने जो कठिनाइयां गिनाई हैं वे सब उसीसे उत्पन्न होती हैं अन्य किसी चीजसे नहीं। इस द्वैधको ठीक करके ही मनुष्य उन्हें जीत सकता है। ऐसा तब होता है जब व्यक्ति, आन्तर सत्ताके विषयमें सचेतन होकर एवं उसके साथ तादात्म्य करके उसके अन्दर निवास करनेमें तथा शेषको अपनेसे भिन्न तथा ऐसी अज्ञानमयी प्रकृतिकी उपज माननेमें समर्थ होता है जिससे व्यक्तिने अपनेको पृथक् कर लिया है एवं विलीन हो जाना है और, दूसरे, भागवतप्रकाश एवं शक्ति तथा माताजीके सामीप्यके प्रति अपनेको खोलनेके द्वारा साधनाकी उस गतिशीलक्रियाको सतत जारी रखा जाता है जो अज्ञानके व्यापारोंको दृढ़तापूर्वक बाहर धकेल देती है और उनके स्थानपर निम्नतर प्राणिक और भौतिक सत्तामें भी आन्तर और उच्चतर प्रकृतिकी क्रियाओंको ला बिठाती है। उसके बाद फिर कोई संघर्ष नहीं रहता, पर दिव्य तत्वोंका स्वतः ही विकास और अदिव्य तत्वोंका स्वतः ह्रास होता रहता है। हृदयकी भक्ति और चैत्य सत्ताकी बढ़ती हुई क्रिया ही जिन्हें भक्ति और आत्मदान सबसे अधिक मदद देते हैं, इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये सबसे अधिक शक्तिशाली साधन हैं।

*

प्रत्येक व्यक्तिका दुहरा स्वभाव होता है सिवाय उनके जो जन्मजात (अजन्मजात नहीं) असुर, राक्षस, पिशाच होते हैं और उनमें भी चैत्यपुरुष उनकी प्रसुप्त मानवताके कारण कहीं छिपा रहता है। किन्तु एक दुहरी सत्ता (या विशेष अर्थमें एक दुहरी प्रकृति) उन व्यक्तियोंकी ओर संकेत है जिनकी सत्तामें दो तीव्र परस्पर विरोधी भाग होते हैं पर जिनमें अभी उन्हें जोड़नेवाला ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं होता। कभी-कभी जब वे पूरी तरह उच्च अवस्थाओंके शिखरोंकी ओर उड़ान भरते हैं तो वे बिलकुल ठीक-ठाक होते हैं—कभी वे पूरी तरह गड्ढोंमें जा गिरते हैं तब वे शिखरोंसे जरा भी वास्ता नहीं रखते और उनकी ओर मुँह बनाते हैं या उनकी हंसी तक उड़ाते हैं एवं अपनी बाग-डोर निम्नपुरुषके हाथमें पूरी तरह दे देते हैं। अथवा शिखरोंका स्थान अतल खाईमें धुँआं उगलते हुए एक ज्वालामुखीके शिखरको दे देते हैं। ये चरम उदाहरण हैं, किन्तु अन्य लोग यदि इतनी हदतक नहीं जाते तो भी कभी एक पक्षकी ओर झुक जाते हैं, कभी दूसरे पक्षकी ओर। यदि वे निम्नतरपुरुषको परिवर्तित कर दें या अपने अन्दर केन्द्रीय सत्ताको खोज लें तो एक सच्ची संवादयुक्त समग्र वस्तुका सर्जन किया जा सकता है।

*

कठिनाई यह है कि हरेकके अन्दर (कम-से-कम कहें तो) दो पुरुष हैं—एक तो बाह्य प्राण और शरीरमें है जो भूतकालके अपने स्वरूपसे चिपटा रहता है और मन तथा आन्तरिक सत्ताकी अनुमति पाने या बनाये रखनेकी चेष्टा करता है, दूसरा है अन्तरात्मा जो नये जन्मकी मांग करता है। तुमने अपने अन्दर जिस पुरुषकी वाणी सुनी थी और जिसने प्रार्थना की थी वह है चैत्य पुरुष जो अपने-आपको मन और उच्चतर प्राणकी सहायतासे व्यक्त कर रहा है, और इसे ही तुम्हारे भीतर माताजीके प्रति प्रार्थना और उन्मुखता द्वारा ऊपर आना चाहिये और तुम्हें सही विचार और सही प्रेरणा देनी चाहिये।

यह सच है कि यदि तुम पुराने आदमके द्वारा सुझाये गये कार्यको हमेशा अस्वीकार करो तो यह प्रगतिकी ओर एक बड़ा कदम होगा। तब संघर्ष ऐसी मानसिक भूमिकापर स्थानान्तरित हो जायेगा जहां इस वस्तुके लिये लड़कर निर्णय कर लेना बहुत अधिक आसान हो जायगा। मैं इससे इनकार नहीं करता कि कुछ समयके लिये कठिनाई रहेगी, पर यदि क्रियाका नियन्त्रण बना रहे तो विचार और भावोंका नियन्त्रण आकर ही रहेगा। इसके विपरीत यदि हार मान ली जाय तो पुराने पुरुषको नया पट्टा मिल जाता है।

*

इन बदलते मनोभावोंके आनेका कारण यह है कि तुम्हारे अन्दर दो विभिन्न तत्त्व हैं। एक ओर, तुम्हारे अन्दर तुम्हारा चैत्य पुरुष विकसित होनेका प्रयत्न कर रहा है; जब वह जाग्रत होता है तो तुम्हें श्रीमांके प्रति सामीप्य या ऐक्यका भाव और आनन्दका अनुभव देता है। दूसरी ओर है तुम्हारी पुरानी प्राणिक प्रकृति, अशान्त और कामनाओंसे परिपूर्ण, और इस अशान्ति तथा कामनाके कारण अप्रसन्न। इसी पुरानी प्राणिक प्रकृतिको तुम स्वीकार कर रहे थे और प्रश्रय दे रहे थे, वह प्रकृति तुम्हें गलत रास्ते ले गयी और तुम्हारी प्रगतिके मार्गमें बाधा बनकर खड़ी हो गयी। जब प्राणकी कामना और अशान्तिका परिहार किया जाता है, तब तुम्हारे अन्दरका चैत्य पुरुष आगे आता है और तब स्वयं प्राण बदलता है और अपनेको आनन्द तथा घनिष्ठतासे भरा अनुभव करता है। जब पुराना अप्रसन्न और अशान्त प्राण फिर ऊपर आता है तो तुम अपनेको अयोग्य अनुभव करते हो, तुम्हें किसी भी चीजमें रस नहीं मिलता। तुम्हें करना यह चाहिये कि जब यह वापस आये तो तुम इसे स्वीकार न करो, श्रीमांके सामीप्यका फिरसे आवाहन करो और चैत्य पुरुषको अपने अन्दर वर्द्धित होने दो। यदि अशान्ति और कामनाका त्याग करते हुए ऐसा तुम लगातार करते रहो तो तुम्हारा प्राणिक भाग परिवर्तित हो जायगा और साधनाके योग्य बन जायगा।

*

ये विभिन्न क्रियाएं सत्ताके भिन्न-भिन्न अंगोंकी ही हैं। तुम जैसा कहते हो कि यह तुम्हारे भीतरकी कोई ऐसी चीज है, प्राणकी कोई ऐसी चीज, जिसमें "सचाईका अभाव" या गलत और अस्तव्यस्त अवस्थाके प्रति आकर्षण है, पर तुम्हें इसे अपने 'स्व' के रूपमें नहीं मानना चाहिये, किन्तु एक ऐसे पुराने स्वभावके रूपमें जिसे रूपान्तरित करना है। इसी प्रकार भौतिक सत्तामें भी कोई ऐसी चीज है जिसमें अन्धकार एवं अचेतना है, परन्तु इसे भी तुम्हें अपने 'स्व' के रूपमें नहीं देखना चाहिये, किन्तु किसी ऐसी चीजके रूपमें जिसकी रचना उस बाह्य प्रकृतिमें हुई है जिसे बदलना है और जो बदली जायगी। तुम्हारा यथार्थ 'स्व' है तुम्हारी अन्तःसत्ता, अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष, वह सत्ता जो शान्ति, अचंचलता और शक्तिकी क्रियाके लिये पुकार करती है।

अन्य लोगोंके साथ वाद-विवाद करना, विशेषकर जब उनकी स्थिति ठीक न हो, हमेशा गलत होता है। तुम जब उनसे बात करते हो तो उनकी विक्षुब्ध स्थिति बड़ी आसानीसे तुमपर, तुम्हारे अनजाने ही, बड़ी आसानीसे

धावा बोल सकती है, तुम्हें इसका बोध बादमें जाकर ही होता है। इसीलिये मैंने तुम्हें क्ष की स्थिति ठीक न होनेपर उसकी और उसके कथनकी उपेक्षा करनेको कहा था।

*

सत्ता कई हिस्सोंकी बनी हुई है। एक भागको ज्ञान हो सकता है, पर सम्भव है कि दूसरा उस ज्ञानकी परवाह न करे या उसके अनुसार कार्य न करे। समग्र सत्ताको प्रकाशके अन्दर एक अखण्ड रूप देना है जिससे सब भाग सत्यके अनुसार संवादमय ढंगसे कार्य करें।

*

प्रत्येक व्यक्ति दोका नहीं बल्कि अनेक व्यक्तित्वोंका मिश्रण होता है। इस योगमें उन्हें इस प्रकार संगति प्रदान करना और रूपान्तरित करना जिससे व्यक्तित्व सुसमन्वित हो जाय, यौगिक पूर्णताका अंग है।

*

मेरे ख्यालमें यह नहीं कहा जा सकता कि तुममें व्यक्तित्व नहीं है। सत्ताके अंगोंमें सुसंगति और संवादिता अनेक लोगोंमें नहीं होती; यह एक ऐसी वस्तु है जिसे प्राप्त करना है या जिसका निर्माण करना होता है। इसके सिवाय साधनाकी एक विशेष स्थितिमें उन भागोंमें जो पहले ही सत्यकी ओर मुड़े होते हैं एवं अनुभव प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं और दूसरे उन भागोंमें जो उस ओर उन्मुख नहीं होते और व्यक्तिको निम्नतर भूमिकापर खींच ले जाते हैं, प्रायः सदा ही एक वैषम्य या विरोध रहता है। विरोध सभी व्यक्तियोंमें समान रूपसे उग्र नहीं होता, पर किसी-न-किसी मात्रामें लगभग सारे संसारमें फैला हुआ है। समन्वय और संगठन सन्तोषजनक रूपसे तभी किया जा सकता है जब इस विरोधपर विजय पा ली जाती है। तब तक डांवाडोल स्थितियां अनिवार्य रूपसे आती ही रहती हैं।...ये ऐसी कठिनाइयां नहीं हैं जो तुम्हें प्रकृतिकी परस्पर संघर्ष करती हुई शक्तियोंके प्रवाहसे निकालकर उनसे परे स्थित अन्तिम आध्यात्मिक परिणतिको देखनेसे रोक दें।

*

तुम्हें याद रखना होगा कि तुम्हारी सत्ता ऐसी अखण्ड वस्तु नहीं है जो सीधी-सादी, एक ही प्रकारकी तथा एकसार हो, परन्तु वह जटिल और अनेक वस्तुओंसे बनी है। सत्तामें ऐसे आन्तरिक हिस्से भी हैं जो सत्य और भगवान्के सम्बन्धमें सुगमतांसे सचेतन हो जाते हैं, —जब ये सामने आते हैं, तब सब ठीक चलता है। एक बाह्य सत्ता भी है जो भूतकालीन अज्ञान, दोष और निर्बलतासे भरी हुई है पर बदलनी शुरू हो गई है। यह अभी पर्याप्त रूपसे या सब हिस्सोंमें बदली नहीं है। जब कोई ऐसा भाग जो आंशिक रूपसे बदल गया हो, शान्ति और शक्तिके प्रति प्रबलतासे उद्घाटित होता है तो शेष सभी भाग या तो बिलकुल शान्त हो जाते हैं या अधिक सक्रिय नहीं रहते और तुम शान्ति और शक्तिके प्रति सचेतन और निश्चिन्त हो जाते हो या फिर किसी स्थानपर केवल अव्यवस्था आदिके सम्बन्धमें धुंधले रूपसे ही सचेतन हो जाते हो। किन्तु जब कोई अज्ञानमयी वस्तु नीचेसे ऊपर उभर आती है अथवा कुछ महत्व धारण करती है (या फिर चेतनाकी कोई पुरानी क्रिया जो पहले बाहर फैंक दी गई थी, लौटकर आती है और तुम्हें आच्छादित कर देती है), तब तुम शान्ति और शक्तिको किसी अपनेसे विजातीय वस्तुके रूपमें या असत् या अपनेसे बाहर या दूरीपर स्थित अनुभव करते हो। यदि तुम अचंचलता-को लगातार बनाये रखो तो यह अस्थिरता कम होना शुरू हो जायगी, माताजीकी शक्ति सब जगह अन्दर घुस आयेगी और, यद्यपि अभी बहुत कुछ करना बाकी होगा, तो भी जो काम करना है उसके लिये एक दृढ़ नींव स्थापित हो जायेगी।

*

मैंने तुम्हें स्पष्ट किया है कि तुम्हारी आन्तर सत्ता और बाह्य सत्ता परस्पर विभक्त हैं—जैसा कि अधिकतर लोगोंके मामलेमें होता है। तुम्हारी आन्तरसत्ता सत्य एवं भगवान्को चाहती है और सदासे चाहती आ रही है—जब शान्ति और शक्तिका अनुभव होता है तो यह सामने आती है और तुम्हें ऐसा बोध होता है कि यह तुम्हारा "स्व" है तथा तुम चीजोंको समझते हो और ज्ञानमें, सुखमें तथा सच्ची भावनामें विकसित होते हो। बाह्य प्रकृति आन्तर सत्ताके प्रभाव द्वारा बदल रही है, किन्तु बाहर धकेली गई चीज पुरानी आदतके कारण बारंबार लौटती रहती है—और तब तुम इस पुरानी प्रकृतिको इस रूपमें अनुभव करते हो मानों यह तुम्हारा "स्व" हो। यह बाह्य प्रकृति प्रायः सभी मानवसत्ताओंकी बाह्य प्रकृतिके समान, यहांके अधिकतर साधकोंकी बाह्य प्रकृतिके समान स्वार्थी कामनाओंसे परिपूर्ण और केवल अपनी ही कामना-

ओंको चाहनेवाली रही है, न कि सत्य और भगवान्को चाहनेवाली। जब यह इस तरह लौटकर तुम्हें ढंक लेती है तो ये सब पुराने विचार और वेदन जो हमेशा एक जैसे होते हैं, तुमपर अधिकार कर लेते हैं और तुम्हें निराशाकी ओर धकेलनेका यत्न करते हैं — क्योंकि यह शत्रुकी शक्ति है जो उन्हें तुम्हारे भीतर फिरसे धकेल देती है। मुश्किल यह है कि तुम्हारी स्थूलचेतना इसके आनेपर यह नहीं जानती कि इसका परित्याग कैसे किया जाय। आन्तरसत्ता तो इसका परित्याग करती है किन्तु क्योंकि स्थूल चेतना इसे भीतर आने देती है इसलिये आन्तर सत्ता कुछ समयके लिये पीछे धकेल दी जाती है। तुम्हें इस चीजको अन्दर न आने देना और इसके आनेपर इसे प्रश्रय और सहारा न देना पूरी तरह सीख लेना होगा। यह एक मिथ्यात्व है और कोई वस्तु नहीं हो सकती तथा मिथ्यात्वसे मेरा मतलब केवल साधनाकी भागवत सत्यकी विरोधी वस्तु नहीं बल्कि तुम्हारी अपनी आन्तर सत्ताके, तुम्हारी अन्तरात्माकी अभीप्साके तथा तुम्हारे हृदयकी अभिलाषाके सत्यकी भी विरोधी वस्तु है। ऐसी वस्तु सच्ची कैसे हो सकती है? इसका अस्तित्व है पर इस कारण यह तुम्हारी सत्ताका सत्य नहीं बन जाती। प्रत्येकके अन्दर अन्तरात्मा, आन्तर सत्ता ही उसका सच्चा आत्मा है। उसे ही तुम्हें अपना आत्मा करके मानना होगा और इसे एक ऐसी मिथ्या वस्तुके रूपमें अस्वीकार करना होगा जो तुमपर निम्नतर अज्ञानमयी प्रकृति द्वारा थोपी गई है।

*

तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन और कठिनाइयोंके विषयमें दो या तीन ऐसी बातें हैं जिन्हें तुम्हें बताना मैं आवश्यक समझता हूँ।

प्रथम तो मैं यह चाहूँगा कि तुम उस विचारसे मुक्त हो जाओ कि कठिनाइयोंको उत्पन्न करनेवाली चीज इतना अधिक तुम्हारी अपनी सत्ताका अंग है कि तुम्हारे लिये आन्तर जीवन जीना असम्भव है। आन्तर जीवन सदैव सम्भव होता है यदि प्रकृतिमें, वह अन्य वस्तुओं कितनी ही ढंकी क्यों न हो, एक ऐसी दिव्य सम्भावना विद्यमान हो जिसके द्वारा अन्तरात्मा अपनेको अभिव्यक्त कर सके तथा मन और प्राणमें अपने सच्चे स्वरूपका — भगवान्के एक अंशका — निर्माण कर सके। तुम्हारे अन्दर यह दिव्य सम्भावना विशिष्ट और असाधारण मात्रामें विद्यमान है। तुम्हारे भीतर सहज-प्रकाश, सम्बोधिजन्य दृष्टि, सामंजस्य और सर्जनशील सौन्दर्यसे युक्त एक ऐसी आन्तर सत्ता है जिसने अपनेको ऐसे प्रत्येक समय अचूक-प्रकट किया है जब कि वह प्राण-प्रकृतिमें

घिरे हुए बादलोंको तितर-बितर करनेमें समर्थ हुई। यही वह वस्तु है जिसे माताजीने तुम्हारे अन्दर विकसित करने तथा सामने लानेकी सदा ही चेष्टा की है। जब मनुष्यमें वह चीज होती है तो निराशाका कोई आधार, असम्भावना-की किसी चर्चाका कोई सही कारण नहीं रहता। यदि तुम एक बार दृढ़ता-पूर्वक इसे अपने सच्चे आत्माके रूपमें स्वीकार कर सको, (जैसे कि वस्तुतः यह है, क्योंकि आन्तर सत्ता तुम्हारी सच्ची आत्मा है और बाह्य सत्ता जिसके कारण कठिनाइयां आती हैं, ऐसी कोई वस्तु है जो बाहरसे लाई जाती है, अस्थायी होती है तथा बदली जा सकती है), और यदि तुम जीवनमें इसके विकासको अपना स्थायी और दृढ़ लक्ष्य बना सको तो मार्ग स्पष्ट हो जायगा और तुम्हारा आध्यात्मिक भविष्य प्रबल सम्भावना ही नहीं किन्तु एक ध्रुव वस्तु हो जायगा।

ऐसा बहुधा होता है कि जब प्रकृतिमें इस प्रकारकी असाधारण शक्ति होती है, तो बाह्य सत्तामें ऐसा कोई विरोधी तत्व पाया जाता है जो इसे बिलकुल विरोधी प्रभावकी ओर उद्घाटित कर देता है। यही आध्यात्मिक जीवनके प्रयासको बहुधा कठिन संघर्षका रूप दे देता है: किन्तु इस तरहके विरोधका अस्तित्व, अति उग्र रूपमें होनेपर भी उस जीवनको असम्भव नहीं बनाता। शंका, संघर्ष, प्रयत्न और असफलताएं, भूल-चूक, सुखमय और दुःखमय या अच्छी और बुरी दशाओंका, प्रकाशकी ओर अन्धकारकी स्थितियोंका बारी-बारीसे आना-जाना, ये सब मनुष्योंकी सर्व सामान्य नियति है। ये योग द्वारा या पूर्णताके लिये किये गये प्रयत्न द्वारा नहीं उत्पन्न होती; केवल योगमें व्यक्ति इनका बिना सोचे-समझे अनुभव करनेके स्थानपर उनकी क्रियाओं और उनके कारणोंके विषयमें सचेतन हो जाता है, और अन्तमें व्यक्ति उनसे बाहर निकलकर अधिक स्पष्ट और सुखमय चेतनामें पहुँचनेका मार्ग बना लेता है। साधारण जीवन अन्ततक कष्टों और संघर्षोंकी परम्परा रूप होता है, परन्तु योगका साधक कष्ट और संघर्षसे निकलकर मूलभूत आत्म-प्रसादके धरातलपर आ जाता है जिसे उपरितलीय विक्षोभ तब भी छू सकते हैं पर नष्ट नहीं कर सकते, और, अन्तमें सारा विक्षोभ बिलकुल समाप्त हो जाता है।

चेतनाकी उन अत्यन्त भयानक स्थितियोंका अनुभव भी जिसमें तुम अपनी सच्ची इच्छाके विरुद्ध बातें कहते और करते हो, निराशाका कोई कारण नहीं। यह एक या दूसरे रूपमें उन सबका सर्वसामान्य अनुभव है जो अपनी साधारण प्रकृतिसे ऊपर उठनेकी चेष्टा करते हैं। केवल उन लोगोंको ही नहीं जो योगसाधना करते हैं पर धार्मिक मनुष्यों और उन लोगोंको भी जो केवल नैतिक नियन्त्रण और आत्मोन्नतिकी खोज करते हैं, इस कठिनाईका सामना

करना होता है। और फिर यहां भी, योग, या पूर्णताके लिये किये जानेवाला प्रयत्न ही इन अवस्थाओंको नहीं उत्पन्न करता,—मानव प्रकृतिमें एवं प्रत्येक मानव-जीवमें ऐसे परस्पर विरोधी तत्व होते हैं जो उससे इस तरहके काम करवाते हैं जिनका अनुमोदन श्रेष्ठतर मन नहीं करता। ऐसा प्रत्येक व्यक्तिके साथ, अत्यन्त साधारण जीवन जीनेवाले अतिसाधारण मनुष्योंके साथ भी, होता है। यह हमारे मनोंके सामने प्रत्यक्ष और स्पष्ट तब हो जाता है जब हम अपने सामान्य बाह्य 'स्व' से ऊपर उठनेकी चेष्टा करते हैं, क्योंकि तब हम यह देख सकते हैं कि निम्नतर तत्वोंसे ही उच्चतर संकल्पके विरुद्ध जानबूझकर विद्रोह करवाया जाता है। तब कुछ समयके लिये प्रकृतिमें एक विभाजन जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि सच्ची सत्ता और उसे सहारा देनेवाली सब चीजें पीछे हट जाती हैं और इन निम्नतर तत्त्वोंसे अलग हो जाती हैं। सच्ची सत्ता एक बार तो प्रकृतिके क्षेत्रपर अधिकार कर लेती है, दूसरी बार विरोधी शक्ति द्वारा प्रयुक्त होकर निम्नतर प्रकृति इसे पीछे धकेलकर जमीनपर कब्जा कर लेती है,—और इस बातको हम अब देखने लगते हैं जब कि पहले वस्तु होती थी किंतु उसके घटनेका स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट नहीं होता था। यदि व्यक्ति में प्रगतिका दृढ़ संकल्प हो तो वह इस विभाजनको पार कर जायगा और उस संकल्पके चारों ओर एकीकृत प्रकृतिमें अन्य कठिनाइयां तो आ सकती हैं, पर इस प्रकारकी विसंगति और संघर्ष लुप्त हो जायेंगे। मैंने इस विषयपर इतना अधिक इसलिये लिखा है कि तुम्हें यह गलत ख्याल दिया गया था कि योग ही इस संघर्षको उत्पन्न करता है और यह भी कि प्रकृतिमें परस्पर विरोध या विभाजन लक्ष्य तक पहुँचनेकी अक्षमता या असम्भावनाका लक्षण है। दोनों विचार बिलकुल गलत हैं और यदि तुम अपनी चेतनामें उनका पूर्ण रूपसे परित्याग कर दो, तो साधना अधिक सरल हो जायगी।

पर यह सच है कि अन्य लोगोंकी तरह तुम्हारे दृष्टान्तमें भी इस परस्पर विरोधको स्नायविक भागोंकी उस आनुवंशिक दुर्बलताने एक प्रकारकी विशेष एवं अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न करनेवाली तीव्रता प्रदान की है जो तुम्हारे अन्दर विषाद, उदासी, बेचैनी और अपनेको घोर यन्त्रणा देनेवाले अन्धकारके दौरेके रूपमें प्रकट हुई है तथा जिसने तुम्हारे जीवनको बेस्वाद बना दिया है। तुम्हारी भूल यह है कि तुम सोचते हो यह ऐसी कोई वस्तु है जिससे तुम बंधे हुए हो और बच नहीं सकते, एक ऐसा भाग्य है जो तुम्हारी प्रकृतिके आध्यात्मिक परिवर्तनको असम्भव बना देता है। मैंने ऐसें अन्य परिवार भी देखे हैं जो इस प्रकारकी आनुवंशिक स्नायविक दुर्बलतासे पीड़ित थे साथ ही जिनमें बहुधा बौद्धिक एवं कलात्मक क्षमता या आध्यात्मिक सम्भावनाओंके असाधारण

गुण भी थे। हो सकता है कि 'क्ष' जैसे एक या दो व्यक्तियोंने इससे हार मान ली हो, पर अन्य लोगोंने कभी-कभी तो तीव्र विक्षोभके कालके बाद इस दुर्बलताके कारण हुए विक्षोभोंको जीत लिया; या तो यह दुर्बलता लुप्त हो गई अथवा इसने कोई ऐसा गौण या अहानिकर रूप ले लिया जिसने जीवन और उसकी क्षमताओंके विकासमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। तो फिर तुम्हारे अन्दर यह निराशा क्यों है या तुम बिना कारण ही यह धारणा क्यों बना लेते हो कि तुम बदल नहीं सकते और तुम्हारे अन्दर यह चीज हमेशा बनी रहेगी? यह निराशा, यह विरोधी धारणा ही तुम्हारे लिये यथार्थ खतरेकी चीज है; यह तुम्हें एक शान्त और स्थिर दृढ़ निश्चय और एक स्थायी प्रभावशाली यत्न करनेसे रोकती है; इसके करण ही अधिक अन्धकारपूर्ण अवस्था लौटकर तुम्हें झुकनेके लिये बाध्य करती है तथा उस विरोधी बाह्य शक्तिको अन्दर आने देती है जो तुम्हारे साथ खिलवाड़ करने और अपनी मनमानी करनेके लिये इस दोषका लाभ उठाती है। यह मिथ्या विचार ही आधीसे अधिक कठिनाई उत्पन्न करता है।

इसका कोई यथार्थ कारण नहीं कि अन्य अनेक लोगोंकी तरह तुम अपनी बाह्य सत्ताकी इस त्रुटिपर क्यों न विजय प्राप्त करो। केवल तुम्हारी प्राणिक प्रकृतिका भाग ही इससे प्रभावित है, यद्यपि यही प्रायः शेष भागको आच्छादित कर लेता है; तुम्हारी सत्ताके अन्य भागोंको सरलतासे उस उच्च सम्भावनाके योग्य एक यन्त्र बनाया जा सकता है जिसके विषयमें मैंने कहा है। विशेषकर, तुम्हारे अन्दर स्पष्ट और सूक्ष्म बुद्धि है जिसका सही ढंगसे उपयोग करनेपर वह प्रकाशका एक अनुकूल यन्त्र बन जाती है और इस प्राणिक दोषपर विजय पानेमें तुम्हारे लिये बड़ी उपयोगी हो सकती है। और यह दिव्य सम्भावना, तुम्हारी आन्तर सत्ताका यह सत्य, यदि तुम इसे स्वीकार करो तो, स्वयं ही, तुम्हारी मुक्ति एवं तुम्हारी प्रकृतिके परिवर्तनको अवश्यम्भावी बना सकता है।

अपने अन्दर इस दिव्य सम्भावनाका स्वीकार करो; अपनी आन्तर सत्तामें और अपनी आध्यात्मिक नियतिमें श्रद्धा रखो। भगवान्‌के अंशके रूपमें इसके विकासको अपने जीवनका लक्ष्य बनाओ—क्योंकि जीवनमें एक महान् और गम्भीर लक्ष्य इस प्रकारकी विचलित करने या असमर्थ बनानेवाली स्नायविक दुर्बलतासे छुटकारा पानेके लिये एक अत्यधिक शक्तिशाली सहायक वस्तु है; इससे दृढ़ता, सन्तुलन, समग्र सत्ताको एक प्रबल सहारा तथा संकल्पको कार्य करनेके लिये एक बलशाली कारण प्राप्त होता है। हम जो सहायता दे सकते हैं उसके विरुद्ध अविश्वास, निराशा या निराधार विद्रोह द्वारा अपनेको बन्द किये बिना उसे स्वीकार करो। अभी तो तुम सफल नहीं हो सकते क्योंकि

तुमने अपने अन्दर एक श्रद्धा, एक लक्ष्य, एक दृढ़ विश्वास स्थिर नहीं किया; अन्धकारमयी वृत्ति तुम्हारी सारी चेतनाको आच्छादित करनेमें समर्थ हुई है। किन्तु यदि तुमने इस श्रद्धाको अपने अन्दर स्थिर कर लिया हो और तुम उससे चिपटे रह सको, तो बादल अपनेको और अधिक समयके लिये स्थिर नहीं रख सकेगा; आन्तरसत्ता तुम्हारी सहायताके लिये आ सकेगी। तुम्हारी श्रेष्ठतर सत्ता भी सतहपर रह सकेगी; तुम्हें प्रकाशके प्रति खुला रख सकेगी और अन्तरात्माके लिये आन्तरिक आधारको सुरक्षित कर सकेगी, चाहे बाह्य सत्ता आंशिक रूपसे आच्छादित या अस्तव्यस्त ही क्यों न हो। जब ऐसा होता है, तब यह समझो कि विजय हो चुकी है और प्राणिक दुर्बलताका पूर्ण निर्वासन केवल एक थोड़ेसे धैर्यकी ही बात रह जाती है।

तुमने जो प्रश्न पूछे हैं उनका मैं संक्षेपसे जवाब दूँगा। (1) अपने-आपको ठीक करनेका तरीका है अपनी प्रकृतिको ठीक करना और अपनेको अपनी प्राणिक-सत्ता और आवेगोंका स्वामी बनाना। (2) मानव समाजमें तुम्हारी स्थिति अन्य ऐसे बहुतसे लोगों जैसी है या हो सकती है जिन्होंने अपने प्रारंभिक जीवनमें नाना प्रकारकी ज्यादतियां की हों और बादमें जाकरके आत्मनियन्त्रण प्राप्त किया हो तथा जीवनमें अपना योग्य स्थान पा लिया हो। यदि तुम जीवनके विषयमें इतने अज्ञान न होते, तो तुम यह जानते कि तुम्हारा दृष्टान्त अपवादरूप नहीं है किन्तु इसके विपरीत बहुत सर्वसामान्य है, और यह भी कि बहुतेरे व्यक्तियोंने ऐसे काम किये हैं और आगे जाकर वे उपयोगी नागरिक तथा मानव प्रवृत्तिके विविध विभागोंमें प्रमुख व्यक्ति भी बने। (3) यदि तुम अपने माता-पिताका ऋण चुकाना और उन भूतकालीन आशाओंका पूरा करना अपना लक्ष्य बनाओ जिनके विषयमें तुम कहते थे, तो यह तुम भलीभांति कर सकते हो। तुम्हें केवल पहले अपने स्वास्थ्यको और मन एवं संकल्पके सन्तुलनको पुनः प्राप्त कर लेना होगा। (4) तुम्हारे जीवनका लक्ष्य तुम्हारे अपने चुनाव पर निर्भर करता है और उसे प्राप्त करनेका तरीका लक्ष्यके स्वरूपपर। और तुम्हारी स्थिति भी वही होगी जैसी तुम उसे बनाओगे। तुम्हें केवल यह करना है कि सबसे पहले स्वास्थ्यंलाभ करो; उसके बाद शान्त मनसे अपनी क्षमताओं और अभिरुचिके अनुसार अपने जीवनके लक्ष्यका निर्धारण करो। तुम्हारे लिये निश्चय करना मेरा काम नहीं। मैं केवल इस बातका ही निर्देश कर सकता हूँ कि मेरे विचारसे तुम्हारे सही लक्ष्य और आदर्श क्या होने चाहिये।

बाह्य वस्तुओंके अतिरिक्त दो ऐसे सम्भावित आदर्श भी हैं जिनका मनुष्य अनुसरण कर सकता है। पहला है साधारण मानव जीवनका सर्वोच्च आदर्श और दूसरा योगका दिव्यं आदर्श। (जो बात तुमने अपने पितासे कही लगती

है उसे ध्यानमें रखते हुए मुझे कहना होगा कि साधारण मानव-जीवनका उद्देश्य महापुरुष बनना नहीं और न योगका उद्देश्य महान् योगी बनना ही है।) मानव-जीवनका आदर्श समग्र सत्तापर स्पष्ट, प्रबल विवेकपूर्ण मन तथा सच्चे और विवेकपूर्ण संकल्पका नियन्त्रण स्थापित करना, भावप्रधान और प्राणिक तथा भौतिक सत्ताका स्वामी बनना, समस्त सत्तामें सामंजस्य उत्पन्न करना तथा क्षमताओंको विकसित करना, चाहे वे जो भी हों, और जीवनमें उन्हें चरितार्थ करना। भारतीय चिन्तनकी परिभाषामें कहें तो इसका अर्थ है परिशोधित और सात्विक 'बुद्धि' के शासनको स्थापित करना, 'स्वधर्म' को चरितार्थ करते हुए और अपनी क्षमताओंके अनुरूप कर्म करते हुए 'धर्म' का अनुसरण करना, तथा 'बुद्धि' और 'धर्म' के नियन्त्रणके अधीन काम और अर्थको सम्पादित करना। दूसरी ओर दिव्य जीवनका लक्ष्य है अपने सर्वोच्च 'स्व' का या भगवान्का साक्षात्कार तथा समग्र सत्ताको इस सर्वोच्च 'स्व' के सत्यके साथ या दिव्य प्रकृतिके नियमके साथ सामंजस्यमें लाना, अपनी छोटी या बड़ी उच्च क्षमताओंको खोजना और उन्हें जीवनमें सर्वोच्चके प्रति यज्ञके रूपमें या भगवती शक्तिके सच्चे यन्त्रके रूपमें चरितार्थ करना। इनमेंसे पिछले आदर्श के विषयमें, सम्भव है, मैं कभी बादमें लिखूँ। इस समय तो, मैं केवल उन कठिनाइयोंके सम्बन्धमें ही कुछ कहूँगा जिसे तुम साधारण आदर्शकी पूर्तिमें अनुभव कर रहे हो।

मन और चरित्रका निर्माण इस आदर्शके अन्तर्गत है और यह सदैव एक ऐसी धीमी और कठिन प्रक्रिया होती है जिसके लिये वर्षोंके, कभी-कभी तो जीवनके अधिक श्रेष्ठ भाग के, धैर्यपूर्ण परिश्रमकी आवश्यकता होती है। प्रायः प्रत्येक व्यक्तिके मार्गमें जो मुख्य कठिनाई होती है वह है प्राणिक सत्ताकी कामनाओं एवं आवेगोंको नियन्त्रित करनेकी कठिनाई। तुम्हारी तरह अनेक व्यक्तियोंमें कुछ प्रबल आवेग लगातार ही आदर्श और विवेक एवं संकल्पकी मांगके विरुद्ध भाग-दौड़ करते रहते हैं। इसका कारण प्रायः हमेशा स्वयं प्राणिक सत्ताकी कोई निर्बलता होती है; क्योंकि इस निर्बलताके कारण ही वह उच्चतर मनके आदेशोंको माननेमें अपनेको असमर्थ पाती है और इसके स्थानपर प्रकृतिकी किन्हीं शक्तियोंसे आयें आवेगोंकी लहरोंके अधीन कार्य करनेको बाध्य होती है। ये शक्तियां वस्तुतः पुरुषके बाहर स्थित होती हैं परन्तु अपने इस हिस्सेमें उन्हें सन्तुष्ट करने और उनकी बात माननेके लिये एक प्रकारकी यान्त्रिक तत्परताको पाती हैं। यदि कमजोरीका मुख्य स्थान स्नायुतन्त्रमें हो तो कठिनाई बढ़ जाती है। तब, युरोपियन लोग जिसे नाड़ीदौर्बल्य (Neurasthenia) की प्रवृत्ति कहते हैंवह हो जाती है और इससे किन्हीं परिस्थितियोंमें स्नायविक असंतुलन और स्नायविक

भंग भी उत्पन्न होते हैं। ऐसा तब होता है जब नस-नाड़ियोंपर बहुत तनाव पड़ रहा हो या जब व्यक्ति कामोपभोग या अन्य व्यसनोंमें अत्यधिक फंसा हुआ हो या कभी-कभी तब भी जब निरोध करनेवाले मानसिक संकल्प और इन व्यसनोंके बीच एक अतितीव्र और लम्बा संघर्ष चल रहा हो। तुम इसी बीमारीसे कष्ट पा रहे हो और यदि तुम इन तथ्योंपर विचार करो तो तुम समझ जाओगे कि पांडिचेरीमें तुम्हारा स्वास्थ्य क्यों खराब हो गया था। तुम्हारा स्नायुमण्डल निर्बल था; वह संकल्पका आदेश नहीं मान सकता था और बाह्य प्राणिक शक्तियोंकी मांगका प्रतिरोध नहीं कर सकता था तथा इस संघर्षमें मन एवं नस-नाड़ियोंपर हदसे अधिक भार आ पड़ा और तब नाड़ीतन्त्रकी क्लान्तिके तीव्र आक्रमणका रूप लेकर उन्होंने जवाब दे दिया। इन कठिनाइयोंका यह अर्थ नहीं कि तुम सफल नहीं हो सकते और अपनी नस-नाड़ियों और प्राणिक सत्तापर नियन्त्रण नहीं प्राप्त कर सकते तथा मन एवं चरित्रमें सामंजस्यका निर्माण नहीं कर सकते। तुम्हें इसके विषयमें किन्हीं मिथ्या एवं दूषित विचारोंको प्रश्रय दिये बिना केवल इस बातको ठीक ढंगसे समझना होगा और सही साधनोंका प्रयोग करना होगा। इसके लिये आवश्यकता है शान्त मन और शान्त संकल्पकी, धैर्यके साथ अटल रहकर उत्तेजना या निरुत्साहके वशवर्ती होनेसे इनकार करनेकी, किन्तु सत्तामें आवश्यक परिवर्तन लानेके लिये एक शान्त आग्रह रखनेकी। इस प्रकारका एक अचंचल संकल्प अन्ततोगत्वा निष्फल नहीं हो सकता। इसका प्रभाव अवश्यम्भावी है। संकल्पशक्तिको पहले तो इसका जाग्रत अवस्थामें अस्वीकार करना चाहिये, केवल प्राणिक सत्ताकी अभ्यस्त क्रियाओंका ही परित्याग नहीं किन्तु उनके पीछे रहनेवाले उन आवेगोंका भी परित्याग जिनके विषयमें इसे समझ लेना होगा कि ये व्यक्तिसे बाहरकी वस्तुएं हैं यद्यपि वे उसके अन्दर ही व्यक्त होती हैं और उन सुझावोंका भी परित्याग करना होगा जो आवेगोंके पीछे रहते हैं। इस प्रकार परित्याग करनेपर किसी समयके अभ्यस्त, विचार और क्रिया-व्यापार स्वप्नावस्थामें अब भी प्रकट हो सकते हैं, क्योंकि यह सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नियम है कि जिस चीजको जाग्रत अवस्थामें दबाया या त्यागा जाता है वह फिरसे निद्रा और स्वप्नमें आ सकती हैं कारण विचारादि अब भी अवचेतन सत्तामें विद्यमान होते हैं। किन्तु यदि जाग्रत अवस्थामेंसे इनका पूरी तरह सफाया कर दिया जाय, तो ये स्वप्न-व्यापार धीरे-धीरे समाप्त हो ही जाते हैं क्योंकि तब उन्हें खुराक नहीं मिलती और अवचेतनके संस्कार क्रमशः मिट जाते हैं। जिन स्वप्नोंसे तुम इतना अधिक डर गये हो उनका कारण यही है। तुम्हें यह समझना चाहिये कि वे केवल ऐसे गौण लक्षण हैं जिनसे एकबार जाग्रत स्थितिपर नियन्त्रण प्राप्त कर लेनेके बाद तुम्हें भयभीत

होनेकी कोई जरूरत नहीं।

किन्तु तुम्हें उन विचारोंसे मुक्ति पानी होगी जो आत्म-विजयको सफल बनानेके मार्गमें बाधक रहे हैं।

1. यह पूरी तरह समझ लो कि ये चीजें तुम्हारे भीतर किसी सचमुचकी नैतिक भ्रष्टताके कारण नहीं आती, क्योंकि वह केवल तभी विद्यमान हो सकती है जब मन स्वयं भ्रष्ट हो, और विकृत प्राणिक आवेगोंको सहारा देता हो। जहां मन एवं संकल्प उनका अस्वीकार करते हैं वहां नैतिक सत्ता स्वस्थ एवं निर्दोष होती है और यह केवल प्राणिक भागों या स्नायुमण्डलकी किसी कमजोरीका या व्याधिका ही मामला होता है।

2. भूतकालके विषयमें मत सोचते रहो किन्तु धीरतापूर्ण आशा और विश्वासके साथ भविष्यकी ओर अभिमुख रहो। भूतकालीन असफलताओंका चिन्तन तुम्हारे पुनः स्वस्थ होनेमें बाधक बनेगा तथा तुम्हारे मन एवं संकल्पको निर्बल बनायेगा और आत्म-विजय एवं चरित्रके पुनः निर्माणके कार्यमें रुकावट डालेगा।

3. यदि सफलता तुरन्त न मिले तो निराशाके वशीभूत न होओ, परन्तु तब तक धैर्य और स्थिरताके साथ कार्य जारी रखो जब तक वह पूरा न हो जाय।

4. अपनी कमजोरियोंपर सदैव सोचते रहकर मनको सन्तप्त न करो। यह कल्पना न करो कि वे तुम्हें जीवनके या मानव आदर्शोंको चरितार्थ करनेके अयोग्य बनाते हैं। एक बार अपने अन्दर इनके अस्तित्वसे परिचित हो जानेके बाद शक्तिके अपने ही उद्गमोंकी खोज करो बल्कि उनपर और विजयकी अवश्यम्भावितापर अपनेको एकाग्र करो।

तुम्हारा पहला काम है अपने मन और शरीरके स्वास्थ्यको पुनः प्राप्त करना और इसके लिये आवश्यकता है मनकी निश्चलता और कुछ समयके लिये शान्तिपूर्ण जीवन बितानेकी। ऐसे प्रश्नोंसे मनको उद्विग्न न करो जिन्हें हल करनेको वह अभी तैयार नहीं है। सदा एक ही चीजका रटन न करते रहो। अपने मनको यथाशक्ति स्वस्थ और साधारण व्यापारोंमें लगाये रखो और उसे जितना दे सको उतना आराम दो। बादमें जब तुम्हारी मानसिक स्थिति ठीक और सन्तुलित हो जाय, तब तुम स्पष्ट विचार द्वारा यह निर्णय कर सकते हो कि तुम्हें अपने जीवनको क्या रूप देना है और भविष्यमें क्या करना है।

मैंने तुम्हें यथाशक्ति अच्छे-से-अच्छी सलाह दी है और जो इस समय मुझे तुम्हारे लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात लगती है उसके बारेमें भी बताया

है। जहांतक तुम्हारे पांडिचेरी आनेका प्रश्न है उसके सम्बन्धमें यह अधिक अच्छा होगा कि तुम अभी तुरन्त न आओ। मैंने तुम्हें जो कुछ लिखा है उससे अधिक मैं और कुछ नहीं कह सकता। तुम्हारे लिये सबसे अच्छा यहै है कि तुम जब तक बीमार हो तबतक अपने पिताकी देखरेखमें रहो और सबसे बढ़कर तुम्हारे जैसी बीमारीमें सुरक्षित नियम यह है कि जब तक तुम पूरी तरह ठीक न हो जाओ तथा बीमारीके साथ जुड़ी हुई स्मृतियों और संस्कारोंकी तीव्रता क्षीण न हो जाय, मन उनकी पकड़मेंसे छुट न जाय और वह मनपर भीषण और विक्षोभकारी छाप पैदा करे तब तक उस स्थान और उन परि-स्थितियोंमें न लौटा जाय जहां तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ा था।

*

हां, निश्चय ही समाधान भगवत्कृपा है—जब सब कुछ तैयार होता है तो यह स्वयमेव प्रकट होती है, और एकाएक या बढ़ते हुए बलके साथ हस्तक्षेप करती है। इस बीच, सभी संघर्षोंके पीछे यह विद्यमान होती है, और "प्रकाशके लिये अजेय अभीप्सा", जिसकी तुम चर्चा करते हो, इस बातका बाह्य संकेत है कि वह हस्तक्षेप करेगी। दो प्रकृतियोंकी जो बात है, यह मानव प्रकृतिके उस शाश्वत द्वैतका केवल एक रूप है जिससे कोई व्यक्ति नहीं बचता है, यह इतना सार्व भौम है कि बहुत सी प्रणालियां इसे एक ऐसा स्थायी लक्षण मानती हैं जिसका उंनकी साधनामें ध्यान रखना आवश्यक है, प्रत्येक मनुष्यमें दो व्यक्तित्व हैं, एक प्रकाशमय, और दूसरा अन्धकारमय। यदि ऐसा न होता तो, योगमें विजय-लाभ सुगम हो जाता और उसमें कोई संघर्ष भी न होता। परन्तु इसके रहते भी यह सोचनेके लिये कोई कारण नहीं है कि व्यक्ति अयोग्य है; सांसारिक वृत्तिका हठ भी कारण नहीं है, क्योंकि यह अपने निजी स्वभावमें सदैव हठपूर्ण होती है। इसका आग्रह ऐसा ही है जैसा खाइयोंमें खड़े जर्मनोंका, प्रत्येक बार परास्त होनेपर पीछे हटकर नए सामूहिक आक्रमणके लिये खाइयां खोदनेमें संलग्न जर्मनोंके जैसा। परन्तु यह सब होते हुए भी यदि प्रकाशमय पुरुषने प्रकाशके मुकुटके बिना सन्तुष्ट न होनेका उतना ही आग्रहपूर्ण निश्चय कर रखा है, यदि वह इतना काफी सबल है कि सत्ताके लिये लघुतर वस्तुओंमें संतुष्ट रहना अशक्य कर देता है तो यह इस बातका लक्षण है कि सत्ता बाह्य प्रतीतियों तथा अपने सन्देहों एवं निराशाओंके रहते भी भगवान् द्वारां आहूत है, और उसकी चुनी हुई सत्ताओंमें से एक है, और आन्तरिक आत्मा अन्तमें अवश्य जयलाभ करेगी। निराशाएं और संशय किसको नहीं होते, ईसा या बुद्ध जैसे

भी इनसे नहीं बचे। इस आधारपर किसी प्रकारका भय करनेका कोई कारण नहीं है।

*

तुम "पाप पुरुष" के विषयमें जो कहते हो उसमें मुझे बहुत दिलचस्पी है क्योंकि यह मेरे इससे सुसंगत अनुभवसे मेल खाता है कि कार्य करनेकी महान् क्षमतासे सम्पन्न व्यक्तिके साथ सदैव या प्रायः एक ऐसी सत्ता संलग्न रहती है जो कभी-कभी उसका एक अंग प्रतीत होती है, और जो सत्ता उस वस्तुकी ठीक विरोधी होती है जिसका वह अपने उद्दिष्ट कार्यमें मुख्य रूपसे प्रतिनिधित्व करता है,—शायद मनुष्यको इन वस्तुओंके विषयमें अत्यधिक कठोर नियम नहीं बनाना चाहिये। अथवा यदि यह सत्ता आरम्भमें उसमें न हो अर्थात् वह उसके व्यक्तित्वसे बन्धी न हो तो ज्यों ही वह उसे चरितार्थ करनेके लिये अपनी गतिविधि प्रारम्भ करता है त्यों ही इस प्रकारकी एक शक्ति उसके वातावरणमें प्रविष्ट हो जाती है। इसका ही काम है विरोध करना, रोड़े अटकाना और गलत परिस्थितियां पैदा करना, एक शब्दमें कहें तो, व्यक्तिने जो काम शुरू किया है उसकी सारी जटिलताको उसके सामने रख देना। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों प्रकृतिके गुह्य मितव्ययी विधानमें यह समस्या तबतक हल नहीं की जा सकती जब तक विधाताके द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट यन्त्र इस कठिनाईको अपना न बना ले। यह बात ऐसी अनेक वस्तुओंकी व्याख्या करती है जो ऊपरसे बहुत क्षुब्ध करनेवाली प्रतीत होती हैं।

*

मैं पहले ही तुम्हें बता चुका हूँ कि तुमने जिन दो व्यक्तियोंके फोटो भेजे हैं उन दोनोंके लिये मेरी स्वीकृति है। जहांतक 'अ' का प्रश्न है तुम्हारा विचार ठीक है कि वह जन्मजात योगी है। उसका चेहरा सूफी या अरब रहस्यवादी जैसा लगता है और वह निश्चय ही अपने किसी पूर्व जन्ममें सूफी रहा होगा और अपने उस समयके बहुतसे अंशको वह इस जन्ममें भी ले आया है। उसकी सत्तामें दोष और न्यूनताएं हैं। तुमने जो उसके स्थूलमनकी संकीर्णता की बात कहीं वह फोटोसे भी सूचित होती है, यद्यपि मुखमुद्रामें प्रकट नहीं हुई है, और यह संकीर्णता भगवान्के ऐश्वर्यकी ओर अपनेको अतिशय विकसित और उद्घाटित करनेके स्थानपर इसे दीन-हीन तापस-भावकी दिशामें अधिक

धकेल सकती है। अन्य परिस्थितियोंमें यह इसे किसी कट्टरताकी ओर भी प्रेरित कर सकती है। पर दूसरी ओर, यदि उसे ठीक निर्देशन मिले और वह सही शक्तियोंकी ओर अपने-आपको खोले तो ये चीजें अमूल्य तत्वोंमें बदल सकती हैं, तापसिक क्षमता भौतिक प्राणिक खतरोंके विरुद्ध एक उपयोगी शक्तिके रूपमें तथा कट्टरताका रूप ले सकनेवाली वस्तु उसके सामने प्रकट हुए दिव्य सत्वके प्रति प्रगाढ़ भक्तिके रूपमें। इसके साथ ही भौतिक प्राणिक सत्तामें कोई गड़बड़ भी हो सकती है। परन्तु मैं अभी यह नहीं कह सकता कि किस ढंगकी। यह पूर्णतया सुरक्षित विकासका उदाहरण नहीं है जिसके विषयमें केवल वहीं आश्वासन दिलाया जा सके जहां प्रबल प्राणिक एवं भौतिक आधार हो और सत्ताके विभिन्न भागोंमें एक विशेष प्रकारका स्वाभाविक सन्तुलन हो। इस सन्तुलनका यहां निर्माण करना है और उसका निर्माण सर्वथा सम्भव है। इसमें जो भी जोखिम हो, उठाना होगा; क्योंकि यह प्रकृति योगके लिये ही उत्पन्न हुई है और इसे इस सुयोग से वंचित नहीं करना चाहिये। उस व्यक्तिको पूर्णयोगके स्वरूप और मार्गोंको पूरी तरह समझाना होगा।

अब 'ब' के विषयमें। तुम्हारे कथनानुसार निःसन्देह यह एक धनी और सफल श्रेणी का व्यक्ति है, परन्तु स्वस्थ और उदार सरणीपर चलनेवाले, उस श्रेणीके और ढांचेके लोगोंमें श्रेष्ठ ढंगका। चेहरे और मुद्रामें एक संस्कारिता और आदर्शवादकी क्षमता अंकित है जो बहुत सर्वसामान्य नहीं होती। निःसंदेह हमें लोगोंको उनकी धन-संपदाके कारण योगमार्गमें नहीं स्वीकार करना, किन्तु दूसरी ओर हमें किसी व्यक्तिको उसके धनके कारण इनकार करनेकी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये। यदि धन एक बड़ी बाधा है तो वह एक महान् सुयोग भी है, और हमारे कार्यके लक्ष्यका एक अंग यह भी है कि प्राणिक और भौतिक शक्तियोंको अस्वीकार न किया जाय बल्कि भगवान्‌की आत्माभिव्यक्तिकें लिये लिये उन्हें जीत लिया जाय, इन शक्तियोंमें जो इस समय अन्य प्रभावोंके अधिकार-में है, धन भी समाविष्ट है। तब यदि इस प्रकारका व्यक्ति एक गम्भीर और यथार्थ संकल्पके साथ अपनेको और अपनी शक्तिको दूसरी छावनीमेंसे हमारी छावनीमें लानेके लिये तैयार हो जाय तो उसे मना करनेका कोई कारण नहीं। अवश्य ही यह ऐसे मनुष्यका मामला नहीं है जो 'स' की तरह इस योगके लिये ही उत्पन्न हुआ है, पर एक ऐसे मनुष्यका है जो अन्दरसे आध्यात्मिक जागरणकी ओर उद्घाटित है और मैं समझता हूँ कि ऐसे स्वभावका है जो सम्भवतः सत्ताके किसी विरोधी तत्वके कारण नहीं बल्कि किन्हीं अभावात्मक कमियोंके कारण असफल हो सकता है। एकमात्र आवश्यक बात यह है कि उसे यह समझना और स्वीकार करना चाहिये कि यह योग उससे क्या मांग करता है,—पहले

तो महत्तर सत्यकी खोज, दूसरे, अपना, अपनी शक्तियोंका तथा धनका उसकी सेवाके लिये निवेदन और अन्तमें अपने सम्पूर्ण जीवनका सत्यकी शर्तोंके अनुसार रूपान्तर,—और यह भी कि उसे अपने आदर्शवादको उत्साहपूर्वक उस ओर मोड़ना ही नहीं चाहिये किन्तु उसके लिये दृढ़ और स्वेच्छापूर्ण संकल्प भी करना चाहिये। इन धनी मनुष्योंको इस बातको समझाना विशेष जरूरी है कि इस योगमें एक ओर तो आध्यात्मिक प्रयत्न करना और दूसरी ओर बाकी शक्तियोंको साधारण उद्देश्योंमें लगा देना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु यह भी कि समस्त जीवन और अस्तित्वको योगके लिये निवेदित कर देना होगा। बहुत सम्भवतः दो भागोंमें विभक्त जीवनके कारण ही 'द' जैसे व्यक्ति स्वाभाविक क्षमता होते हुए भी प्रगति करनेमें असफल होते हैं। यदि यह समझ और मान लिया जाय तो जिस आत्मनिवेदनके विषयमें वह कहता है वह प्रत्यक्ष ही उसकी परिस्थितियोंमें इस मार्गमें पहला कदम है। यदि वह इस मार्गमें प्रवेश करे तो उसके लिये यह सलाह दी जा सकती है कि वह कुछ समय बाद आकर मुझे पांडिचेरीमें मिले पर इस बातका निर्णय अवश्य ही बादमें ही करना होगा।

पुनश्च — इस पत्रको समाप्त करनेके बाद मुझे तुम्हारा १२ तारीखका अन्तिम पत्र मिला तुमने उसमें जो 'इ' के विषयमें लिखा है उसने केवल उसी निष्कर्षको सुनिश्चित रूप दिया है जो मैंने उसके विषयमें पहलेसे ही समझ लिया था। मैं नहीं समझता कि ये चीजें बहुत अधिक महत्त्व की हैं। सबल प्रकृतिवाले लोगोंमें राजसिक, बहिर्मुखी शक्ति होती है यदि यह बात योग करनेकी अयोग्यताके लिये पर्याप्त होती तो हममेंसे बहुत कम लोगोंको यह सुयोग प्राप्त होता। जहांतक स्थूलमनकी इस शंकाका प्रश्न है कि क्या यह वस्तु सम्भव है, तो यहां ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे यह शंका न हुई हो? मेरे अपने ही मामलेमें, इस शंकाने मेरा वर्षोंतक पीछा किया और केवल इन पिछले दो वर्षोंमें ही इसकी सैद्धान्तिक सम्भावनाके बाद नहीं किन्तु जगत् और मानव प्रकृतिकी वर्तमान स्थितिमें इसकी सफलताका व्यावहारिक निश्चय हो जानेके बाद शंकाकी अन्तिम छाया मेरे अन्दरसे पूरी तरह विदा हो गई।* आहंकारिक स्थितिके लिये भी यही बात कही जा सकती है कि प्रायः सभी सबल व्यक्तियोंमें उत्कट अहंकारयुक्त स्थिति होती है। फोटो द्वारा परीक्षा करके मुझे यह नहीं लगता कि यह वही 'फ' जैसी आधी बैलकी ओर आधी उसे हांकनेवाले बुलडॉग-कीसी प्रवृत्ति है। ये चीजें केवल आध्यात्मिक विकास एवं अनुभव होनेके साथ-साथ ही हट सकती हैं और तब उनके पीछे रहनेवाला बल एक गुण बन जाता

*यह पत्र १६-४-१९२३ को लिखा गया था।

है। तुमने जो उसकी वाणी और विशालता सम्बन्धी पुरानी अनुभूतिके सम्बन्धमें कहा उससे स्पष्ट है कि मेरे विचारसे उसके अन्दर कोई चैत्य वस्तु आध्यात्मिक जागरणके लिये राह तक रही है और उसके समीप आ पहुँची है। मैं समझता हूँ कि वह भौतिक विश्वास और इसे लानेके लिये आन्तर अनुभूति द्वारा प्राप्त कुछ नहीं कहना। किन्तु प्रश्न यह है, और मुझे प्रतीत होता है उसके मामलेमें एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या वह योगमें उस दृढ़, पूर्ण और निरपेक्ष संकल्प और आत्मनिवेदनको ले आनेके लिये तैयार होगा जो उसे साधनाके सब संघर्षों और संकटोंमेंसे पार उतारनेके लिये आवश्यक है। उसके मानसिक सन्तुलन और उसके कार्यमें विषमता स्वाभाविक ही है, ठीक इस कारणसे कि यह एक मानसिक सन्तुलन है। इसे आध्यात्मिक सन्तुलन बनना होगा उसके बाद ही जीवन एवं आदर्श एक हो सकते हैं। क्या विलासितासे हुई बरबादीने जिसकी तुमने चर्चा की है, और सांसारिक जीवनने उसके अन्दर भगवान्‌की ओर उन्मुख हुए निःशेष संकल्पके विकासकी सम्भावनाको सोख लिया है? यदि नहीं तो उसे इसके लिये अवसर दिया जा सकता है। मैं निश्चित रूपसे नहीं कह सकता कि वह 'अधिकारी' है या भविष्यमें होगा। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि उसकी प्रकृतिके सर्वोत्तम भागमें यह क्षमता है। मैं यह भी नहीं कह सकता कि उसकी गिनती "श्रेष्ठ" मनुष्योंमें है। परन्तु मुझे लगता है कि उसमें कम-से-कम ऐसे कुछ लोगोंसे अधिक मौलिक क्षमता है जिन्हें स्वीकार कर लिया गया है। जब मैंने श्रेष्ठ होनेके विषयमें लिखा था तो मेरा मतलब एक ऐसे आधारसे नहीं था जिसमें दोष न हों और जिसके सामने खतरे न आयें; क्योंकि मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई व्यक्ति मिल सकता है। मुझपर पड़ी छाप अवश्य ही उस साधारण अनुकूल प्रभावपर आधारित है जो आकृति-विज्ञान और उसके बाह्य रूप-रंगसे उत्पन्न हुआ है। साथ ही यह इन्हींपर अवलम्बित कुछ एक निश्चित पर्यवेक्षणोंपर और उन चैत्य निर्देशोंपर आधारित है जो मिश्रित थे किन्तु कुल मिलाकर अनुकूल ही थे। मैंने उस मनुष्यको उस ढंगसे नहीं देखा जैसे तुमने देखा है। वह जो धनराशि देता है वह ले लो, हालमें उसपर और अधिक धनके लिये दबाव न डालो और जहांतक बाकी बातोंका प्रश्न है उसे न केवल यही साफ-साफ समझ लेने दो कि योग क्या है किंतु यह भी कि वह प्रकृतिसे कौनसी बड़ी-बड़ी मांगें करता है। देखो कि वह क्या रुख अपनाता है और उसे अवसर दिया जा सकता है या नहीं।

III

केवल तीन ही आधारभूत अवरोध हैं जो मार्गमें बाधक बन सकते हैं:

1. श्रद्धाका अभाव या अपर्याप्त श्रद्धा।

2. अहंकार — अपने ही विचारोंसे चिपटा हुआ मन, सच्चे समर्पणकी अपेक्षा अपनी ही कामनाओंको अधिक पसन्द करनेवाला प्राण और अपनी निजी आदतोंको पकड़े रहनेवाला शरीर।

3. किसी तमस् और मूलभूत प्रतिरोधसे युक्त चेतना जो बदलना नहीं चाहती क्योंकि प्रयत्न उसके बूतेकी बात नहीं अथवा वह अपनी क्षमतामें या भगवान्की शक्तिपर विश्वास करना नहीं चाहती — या फिर वह किसी अन्य अधिक अवचेतन कारणसे बदलना नहीं चाहती। तुम्हें स्वयं देखना है कि यहां इनमेंसे कौनसा कारण है।

*

साधनाकी मुख्य कठिनाई निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाओंमें, मनके विचारोंमें, प्राणकी कामना और आकर्षणोंमें और देह-चेतनाकी उन आदतोंमें निहित है जो उच्चतर चेतनाके विकासके मार्गमें अवरोध पैदा करती हैं — अन्य भी कठिनाइयां हैं किन्तु विरोधका अधिकांश भाग इन्हींसे बना है।

*

उस मन और प्राणका जो स्वतन्त्र होना चाहते हैं और आध्यात्मिक उपलब्धिके बहाने अपने अहंकी पूर्त्ति करना चाहते हैं, एक या दूसरे रूपमें प्रतिरोध ही योगमें बहुधा अन्तराय बनता है।

*

प्रकृतिका प्रत्येक भाग अपनी पुरानी क्रियाओंको चलाते रहना चाहता है और जहांतक बन पड़े आमूल परिवर्तन एवं प्रगतिसे इनकार करता है, क्योंकि यह बात उसे एक ऐसी चीजके अधीन कर देती है जो उससे अधिक ऊंची है और उसे अपने क्षेत्रमें सार्वभौमतासे तथा अपने पृथक् राज्यसे भी वंचित कर

देती है। इसी कारण रूपान्तर इतनी लम्बी और कठिन प्रक्रिया बन जाता है।

मन जड़ हो जाता है क्योंकि इसके निम्नतर आधारमें तमस् या जड़ताके तत्वके साथ स्थूल मन विद्यमान है—क्योंकि जड़तत्वमें तमस् आधारभूत तत्व है। मनके इस हिस्सेमें उच्चतर अनुभूतियोंके सतत या लम्बे समयतक जारी रहनेसे थकानका बोध होता है या बेचैनीकी प्रतिक्रियाका या जड़ताका अनुभव होता है। समाधि उससे बचनेका एक उपाय है। इसमें शरीर निश्चल कर दिया जाता है, स्थूल मन संज्ञाशून्य स्थितिमें हो जाता है, आन्तर चेतनाको अपनी अनुभूतियां करते रहनेके लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। इसमें हानि यह है कि समाधि अनिवार्य बन जाती है और जाग्रत चेतनाकी समस्या हल नहीं होती; वह अपूर्ण ही बनी रहती है।

*

चेतनाकी अनमनीयता उस हठाग्रहमें थी जिसके साथ तुम्हारा मन एवं प्राण अपने विचार एवं प्राणिक आदतोंसे चिपटे हुए थे और बदलना नहीं चाहते थे। किन्तु इसके परिणाम स्वरूप एक ऐसी शिथिलता एवं सारी सत्तामें व्याप्त, लापरवाही उत्पन्न हुई जो प्रकृतिको आध्यात्मिक प्रयत्नके साथ समस्वर नहीं होने देना चाहती थी पर यह चाहती थी कि सब प्रकारकी चीजें उसके डोरोंपर अपने मनमाने ढंगसे नाचती रहें। चेतनाकी नमनीयता आवश्यक है, परन्तु शक्तिके सच्चे स्पर्शके प्रति नमनीयता, न कि प्रकृतिकी शक्तियोंके किसी साधारण स्पर्शके प्रति। उच्चतर वस्तुके साथ सब हिस्सोंको समस्वर करना ही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये—तभी आत्माका सम्पूर्ण काव्य केवल (कविता) लिखनेमें ही नहीं किन्तु जीवनमें भी प्रकट होगा।

*

अपूर्णताओंका होना, यहांतक कि बहुत अधिक और भयानक अपूर्णताओंका होना भी, योगसाधनाकी उन्नतिमें स्थायी रूपसे बाधक नहीं हो सकता। (मैं यहां यह नहीं कहता कि पहले जो उद्घाटन हो चुका है वही फिरसे प्राप्त होगा, क्योंकि मेरा अनुभव तो यह बतलाता है कि प्रतिरोध और संघर्षका काल निकल जानेपर साधारणतया एक नवीन और बृहत्तर उद्घाटन होता है, एक विशालतर चेतना प्राप्त होती है तथा पहले जो कुछ प्राप्त किया गया था पर जो उस समय खो गया मालूम होता था—किन्तु केवल मालूम ही होता था

—उससे भी आगे साधक बढ़ जाता है)। एकमात्र वस्तु जो स्थायी रूपसे बाधक हो सकती है—परन्तु उसका भी होना आवश्यक नहीं है, कारण उसे भी परिवर्तित किया जा सकता है—वह है मिथ्याचार, सच्चाईका अभाव, और वह तुममें नहीं है। अगर अपूर्णता बाधक होती तो कोई भी मनुष्य योगमें सफलता न प्राप्त कर सकता; कारण सब मनुष्य ही अपूर्ण हैं; और मैंने जो कुछ देखा है उसके आधारपर मैं निःसन्देह कह सकता हूँ कि जिनमें योगकी बड़ी-से-बड़ी योग्यता होती है प्रायः उन्हींमें बड़ी-से-बड़ी अपूर्णताएं भी होती हैं अथवा किसी समय रही होती हैं। सम्भवतः तुम जानते ही हो कि सुकरातने अपने चरित्रपर क्या टिप्पणी की थी; ठीक वही बात बहुतसे बड़े-बड़े योगी अपनी आरंभिक मानवी प्रकृतिके विषयमें कह सकते हैं। योगमें जो बात अन्तमें जाकर सबसे अधिक कामकी साबित होती है वह है सच्चाई और उसके साथ-साथ इस पथपर डटे रहनेका धैर्य—बहुतसे लोग इस धैर्यके बिना भी लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, क्योंकि विद्रोह, अधैर्य, अवसाद, निराशा, क्लांति, श्रद्धाकी सामयिक हानि इत्यादिके होनेपर भी बाह्य सत्ताकी अपेक्षा कहीं महान् एक शक्ति, आत्माकी शक्ति, अन्तरात्माकी आवश्यकताका वेग उन्हें घने बादलों और कुहासेके अंधकारके भीतरसे ढकेलता हुआ उनके लक्ष्यतक पहुँचा देता है। अपूर्णताएं बाधक हो सकती हैं और कुछ समयके लिये साधकको बुरी तरह गिरा भी सकती हैं, परन्तु वे स्थायी बाधा नहीं हो सकतीं। प्रकृतिमें कहीं कोई प्रतिरोध होनेके कारण जो कभी-कभी तमसाच्छन्न अवस्था आ जाती है वह साधनामें विलम्ब लानेका कहीं अधिक गम्भीर कारण बन सकती है, पर वह भी सर्वदा नहीं टिक सकती।

तुम्हारे अन्दर जो इतनी अधिक देरतक जड़ताका भाव (उदासी) बना रहता है वह भी इस बातके लिये पर्याप्त कारण नहीं है कि तुम अपनी योग्यता या अपनी आध्यात्मिक भवितव्यतापरसे विश्वास ही खो दो। मेरा विश्वास है कि साधनामें बारी-बारीसे प्रकाशमय और अन्धकारमय समयका आना-जाना योगियोंका प्रायः सार्वजनीन अनुभव रहा है और इसका अपवाद बहुत कम ही देखा जाता है। यदि कोई इस क्रियाके—जो हमारे अधीर मानव-स्वभावके लिये अत्यन्त अप्रिय है—कारणकी खोज करे तो मेरी समझमें यह पता चलेगा कि इसके प्रधानतया दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि मानव-चेतना या तो ज्योति या शक्तिके या आनन्दके निरन्तर अवतरणको सहन नहीं कर पाती अथवा उसे तुरत ग्रहण करने और पचानेमें असमर्थ होती है; उसे पचानेके लिये हर बार कुछ समयकी आवश्यकता होती है; परन्तु यह पाचनक्रिया बाह्य चेतनाके पीछे होती रहती है; जिस अनुभूति या उपलब्धिका अवतरण हुआ

रहता है वह परदेके पीछे चली जाती है और इस बाह्य या ऊपरी चेतनाको बेकार पड़ी रहने तथा दूसरे नये अवतरणके योग्य तैयार होनेके लिये छोड़ देती है। योगकी और भी अधिक उन्नत अवस्थाओंमें ये अन्धकार या जड़ताके काल उत्तरोत्तर कम लम्बे होते जाते हैं, कम दुःखदायी होते जाते हैं तथा इसके साथ-ही-साथ एक ऐसी महत्तर चेतनाका बोध साधकको ऊपर उठाये रखता है जो चेतना साधककी तात्कालिक उन्नतिके लिये क्रिया तो नहीं करती पर फिर भी वहां वर्तमान रहती है और बाह्य प्रकृतिको धारण किये रहती है। दूसरा कारण है किसी प्रकारके प्रतिरोधका होना, मानव-प्रकृतिमें किसी ऐसी चीज़का होना जिसने पहलेके अवतरणको अनुभव ही नहीं किया है, जो अभीतक तैयार नहीं हुई है, जो सम्भवतः परिवर्तित ही नहीं होना चाहती,—यह चीज अधिकतर या तो मनकी या प्राणकी कोई प्रबल अभ्यासगत वृत्ति होती है या भौतिक चेतनाकी किसी प्रकारकी अस्थायी जड़ता होती है, ठीक हमारी प्रकृतिका कोई भाग नहीं होती —और यही चीज, चाहे स्वयं गुप्त हो या प्रकट, इस बाधाको हमारे मार्गमें खड़ा कर देती है। यदि कोई अपने अन्दर इसके कारणको पकड़ सके, उसे स्वीकार करे, उसकी क्रियाको देख सके और उसे दूर करनेके लिये दिव्य शक्तिका आवाहन कर सके, तो ये अन्धकारके काल बहुत कुछ अल्प-स्थायी बनाये जा सकते हैं और इनकी तीव्रता भी कम हो सकती है। पर, जो भी हो, भागवत शक्ति परदेके पीछे सर्वदा ही कार्य करती रहती है और एक दिन —जब कि हम शायद इसकी जरा भी आशा नहीं करते —ये सब बाधाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, अन्धकारके बादल उड़ जाते हैं और फिरसे प्रकाश और धूप छा जाती है। इन सब अवस्थाओंमें सबसे उत्तम बात, अगर कोई उसे कर सके तो, यह है कि न तो उद्विग्न हुआ जाय न हताश, बल्कि शान्तिके साथ डटा रहा जाय और अपने-आपको दिव्य ज्योतिकी ओर खोले, फैलाये रखा जाय और विश्वासके साथ उसके आनेकी प्रतीक्षा की जाय; इस तरह, मैंने देखा है कि इन अग्निपरीक्षाओंका समय बहुत घट जाता है। इसके बाद, जब ये बाधाएं दूर हो जाती हैं तब हम देखते हैं कि इस बीच बहुत अधिक उन्नति हो गयी है और चेतना ग्रहण और धारण करनेमें पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक समर्थ हो गयी है। आध्यात्मिक जीवनमें जो भी कठिनाइयां और परीक्षाएं आती हैं उन सबके बदले साधकको कुछ लाभ भी अवश्य मिलता है।

*

योगी अपनी सत्तामें एक प्रकारके ऐसे विभाजनपर पहुँच जाता है जिसमें

अन्तःपुरुष स्थिर-धीर होकर बाह्य मनुष्यके विक्षोभोंको इसी प्रकार देखता है जैसे कोई नासमझ बच्चेकी उछल-कूदको देखता है; उसके एकबार शान्त हो जानेपर वह बादमें बाह्य मनुष्यको नियन्त्रित करना शुरू कर सकता है; किन्तु बाह्य मनुष्यके पूर्ण नियन्त्रणके लिये लम्बी और कठोर तपस्याकी आवश्यकता होती है।

पर सिद्ध योगीसे भी तुम सदैव चरम पूर्णताकी आशा नहीं कर सकते: ऐसे बहुतसे योगी हैं जो बाह्य प्रकृतिकी पूर्णताके लिये परवाह तक नहीं करते और यह नहीं माना जा सकता कि यह वस्तु उनकी सिद्धि और अनुभवको अप्रमाणित करती है। यदि तुम इसे इसी रूपमें मानों तो तुम भूतकालके अधिकतर योगियोंको और प्राचीन कालके ऋषियोंको भी इस वर्गसे बहिष्कृत कर दोगे।

मैं मानता हूँ कि मेरे योगका आदर्श भिन्न है, पर मैं इसके द्वारा अन्य आध्यात्मिक मनुष्योंको और उनकी सिद्धियोंको तथा उनकी साधनाको बांध नहीं सकता। मेरा अपना आदर्श है बाह्य प्रकृतिका रूपान्तर यथासम्भव अधिकसे-अधिक पूर्णता। पर तुम यह नहीं कह सकते कि जिन लोगोंने इसे प्राप्त नहीं किया या प्राप्त करनेकी परवाह नहीं की उनमें आध्यात्मिकता नहीं है। सुन्दर व्यवहार——न कि शिष्टता जो महत्वपूर्ण होनेपर भी बाह्य वस्तु है ——परन्तु एक ऐसा सौन्दर्य जो एकता और सामंजस्यकी आध्यात्मिक सिद्धिपर आधारित है और जीवनमें ओतप्रोत हो गया है, अवश्य ही पूर्ण सामंजस्यका एक अंग है।

*

पर आखिर विनम्रता और सामाजिक शिष्टाचार आध्यात्मिक अनुभव या सच्ची योगसिद्धिके अंग या कसौटी कबसे बन गये? आध्यात्मिकताकी कसौटी रूपसे इनका मूल्य नृत्य कर सकने या सुंदर कपड़े पहन सकनेसे बढ़कर नहीं है। जिस प्रकार ऐसे बहुतसे भले और दयालु व्यक्ति देखनेमें आते हैं जिनका व्यवहार गंवार और असभ्य जैसा होता है, उसी प्रकार ऐसे अत्यधिक आध्यात्मिक व्यक्ति भी हो सकते हैं (यहां मेरा मतलब उन आध्यात्मिक व्यक्तियोंसे है जिन्हें गम्भीर आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हुए हैं) जिन्हें भौतिक जीवन या कर्मपर कुछ भी अधिकार प्राप्त न हो (प्रसंगवश, अनेक बुद्धिजीवी व्यक्ति भी ऐसे ही होते हैं) और जो शिष्टाचारके सम्बन्धमें जरा भी परवाह नहीं करते। मैं समझता हूँ कि मुझपर भी असभ्य और उच्छृंखल व्यवहार करनेका

आरोप लगाया जाता है, क्योंकि मैं लोगोंसे मिलना अस्वीकार कर देता हूँ, पत्रोंका जवाब नहीं देता और ऐसे अन्य कितने ही दुर्व्यवहार करता हूँ। मैंने एक प्रसिद्ध योगीके विषयमें सुन रखा है कि वह अपनी एकान्त कुटीमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको पत्थर मारा करता था क्योंकि वह शिष्य बनाना नहीं चाहता था और शिष्य बनना चाहनेवाले लोगोंकी बाढ़को रोकनेका उसे और कोई उपाय सूझ नहीं पड़ता था। कम-से-कम मुझे यह कहनेमें संकोच होता है कि ऐसे लोगोंका जीवन या अनुभव आध्यात्मिक नहीं था। निःसन्देह मैं यह अधिक अच्छा समझता हूँ कि साधक परस्पर उचित रूपसे समझ-बूझकर व्यवहार करें, किन्तु यह बात सामूहिक जीवन और सामंजस्यके नियमके लिये है, न कि योग-सिद्धि या आन्तर अनुभूतिके अपरिहार्य लक्षणके रूपमें।

तुमने ऐसा लिखा है मानों किसी प्रकारका आध्यात्मिक अनुभव या सिद्धि प्राप्त होते ही मनुष्यको तत्क्षण दोषों या दुर्बलताओंसे रहित एक पूर्ण व्यक्ति हो जाना चाहिये। यह एक ऐसी मांग है जिसे पूरा करना असंभव है और इस तथ्यकी उपेक्षा करना है कि आध्यात्मिक जीवन एक क्रमविकास है न कि आकस्मिक और समझमें न आनेवाला चमत्कार। किसी भी साधकको इस रूपमें परखा नहीं जा सकता मानों वह पहलेसे ही एक सिद्ध योगी हो और उन लोगोंके सम्बन्धमें तो बिलकुल भी नहीं जिन्होंने सुदीर्घ पथके चौथाई या उससे भी कम हिस्सेको ही पार किया हो। यहांतक कि महान् योगी भी पूर्णता-का दावा नहीं करते और तुम यह नहीं कह सकते कि क्योंकि वे सर्वथा पूर्ण नहीं है इसलिये उनकी आध्यात्मिकता मिथ्या है या जगत्के लिये उपयोगी नहीं है। इसके सिवाय, आध्यात्मिक व्यक्ति भी सभी कोटियोंके होते हैं: कुछ ऐसे होते हैं जो आध्यात्मिक अनुभवोंसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और बाह्य पूर्णता या प्रगतिके लिये यत्न नहीं करते, कुछ लोग सन्त होते हैं, दूसरे संतपनेकी इच्छा नहीं रखते, कुछ अन्य ऐसे लोग भी हैं जो विश्वात्माके साथ स्पर्शमें या ऐक्यमें रहकर वैश्वचेतनामें निवास करनेसे सन्तुष्ट हो जाते हैं किन्तु सब शक्तियोंको अपने अन्दरसे प्रवाहित होने देते हैं, जैसा कि हम परमहंसकी विशिष्ट परिभाषामें पाते हैं। मैं अपने योगके सामने जो आदर्श स्थापित करता हूँ वह एक वस्तु अवश्य है किन्तु वह सारे आध्यात्मिक जीवन या प्रयत्नको अपने अन्दर सीमित नहीं कर लेती। आध्यात्मिक जीवन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे एक कठोर परिभाषामें सूत्रबद्ध किया जा सके या किसी अटल मानसिक नियम द्वारा बांधा जा सके, यह एक विकासका विस्तृत प्रदेश है, एक विशाल साम्राज्य है जो शक्यताओंकी दृष्टिसे अपनेसे नीचेके अन्य साम्राज्योंसे अधिक विशाल है और जिसमें सैंकड़ों प्रदेश हैं, हजारों प्रकार, भूमिकाएं, रूप, मार्ग,

आध्यात्मिक आदर्शके विभेद तथा आध्यात्मिक प्रगतिकी कोटियां हैं। यदि आध्यात्मिकता और उसके अन्वेषकोंसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओंका निर्णय ज्ञानपूर्वक करना हो तो वह इस सत्यके आधारपर ही करना होगा। इसे इस प्रकार समझने के द्वारा ही व्यक्ति इसके भूतकालीन या भावी स्वरूपको समझ सकता है या प्राचीन और वर्तमान कालके आध्यात्मिक पुरुषोंमें उनका सही स्थान निर्धारित कर सकता है अथवा मानव सत्ताके आध्यात्मिक विकासमें ऊपर आये विभिन्न आदर्शों और भूमिकाओं इत्यादिका परस्पर सम्बन्ध बिठा सकता है।

*

मैं तुम्हारे पत्रका जवाब दे रहा हूँ क्योंकि माताजी अब भी इतनी कार्य-व्यस्त हैं कि वे लिख नहीं सकतीं।

उस समय उनकी दृष्टिमें वह वस्तु थी जिसे भारतीय यौगिक मनोवृत्तिमें "सात्विक" पूर्णता कहा जाता है, गुण और क्रियाके रूपमें एक ऐसी पूर्णता जो स्थूल आदर्शवादको संतुष्ट करे और दूसरोंके लिये बहुत प्रत्यक्ष और प्रशंसनीय हो। यह प्रायः एक प्रकारके ऐसे गर्व और साधुताके दंभको, एक 'सात्विक' अहंकारको उत्पन्न करती है जो चेतनाको कठोर बना देती है और भागवत संकल्पके प्रति नमनीय एव लचकीली नहीं होती। सच्ची आध्यात्मिक पूर्णताका सम्बन्ध बाह्य आकारसे इतना अधिक नहीं होता, यह चेतनाका असली तत्व होता है और क्योंकि उसके आधारमें भागवत चेतनाके साथ पूर्ण सामंजस्य होता है तथा भागवत संकल्पके साथ प्रतिक्षण अपनेको अनुकूल करनेकी स्वतन्त्र एवं सुनम्य वृत्ति होती है इसलिये उसके तथा उसकी क्रियाके आकार-प्रकार इतनी आसानीसे देखे या अनुभव नहीं किये जा सकते। 'सदाचारी' शब्द उसकी क्रियाओंके साथ लागू नहीं किया जा सकता—वे केवल इन अर्थोंमें 'सद्' होती हैं कि उनका भगवान्के साथ ऐक्य होता है।

यह स्पष्ट है कि सचमुचकी अपूर्णताओंको प्रश्रय नहीं देना चाहिये—इस बातको सिद्धान्त रूपसे ग्रहण करना खतरनाक होगा, "प्रतीयमान" अपूर्णताएं वे हैं जो केवल बाहरी दृष्टिको ही उस रूपमें नजर आ सकती हैं। धर्मपरायण व्यक्तिका क्रोध भी सहज उसी धर्मपरायणताके अभिमानका अंग हो सकता है जो माताजीकी दृष्टिमें थी, और धर्मपरायणताके या अन्य किसी प्रकारके क्रोधकी गतिके साथ अपनेको एकाकार कर लेना आध्यात्मिक दृष्टिसे अवांछनीय है। किन्तु यहां जिस प्रकारकी गतिसे अभिप्राय है वह बाह्य दृष्टिको प्रकृतिकी अपूर्णताकी क्रियाओंसे अभिन्न लगनेपर भी उस धर्मपरायणताके अर्थमें बिलकुल

ठीक क्रिया हो सकती है जिसका मैंने ऊपर संकेत किया है। यह किसी विशेष क्रिया या ग्रहण करने योग्य वृत्तिका प्रश्न नहीं है किन्तु उस आन्तरिक चेतनाका प्रश्न है जो भागवत संकल्प द्वारा कार्य करती हुई उसे मुक्त और नमनीय रूपसे अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

शाक्यमुनि बुद्धका नाम है अर्थात् शाक्यवंशका साधु — उस वंशका जिसके साथ बुद्ध जन्म द्वारा सम्बद्ध थे और उनके पिता जिसके राजा थे।

IV

इस बातसे कुछ भी आता-जाता नहीं कि तुम्हारी प्रकृतिमें क्या-क्या दोष हैं। सबसे प्रधान बात है भागवत शक्तिकी ओर अपने-आपको खोले रखना। कोई भी साधक बिना किसी सहायताके केवल अपने प्रयाससे अपना रूपान्तर नहीं कर सकता; एकमात्र भागवत शक्ति ही साधकको रूपान्तरित कर सकती है। अगर तुम अपने-आपको खोले रखो तो बाकी सब कुछ तुम्हारे लिये कर दिया जायगा।

*

सब अपूर्णताओंपर विजय प्राप्त की जा सकती है किन्तु यदि वे हमारी वर्तमान सत्ताकी बनावटमें गुंथ गई हों, तो यह विजय व्यक्तिगत मन और संकल्पकी शक्ति और चेतनाकी अपेक्षा केवल उच्चतर शक्ति और चेतनाका आवाहन करके ही की जा सकती है। उच्चतर चेतना अपनी लाई वस्तुओंके द्वारा व्यक्तिगत प्रकृतिकी दोषपूर्ण वस्तुको सुधार सकती है या फिरसे गढ़ सकती है।

*

शायद ही कोई इतना शक्तिशाली होता है कि वह बिना किसी सहायता-के, केवल अपनी ही अभीप्सा और संकल्पशक्तिके बलपर निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर सके; और वे लोग भी जो ऐसा करते हैं, केवल एक प्रकारका संयम ही प्राप्त करते हैं, पूर्ण प्रभुत्व नहीं। भागवत शक्तिकी सहायताको नीचे उतार लाने तथा निम्नतर शक्तियोंके ऊपर, जब वह शक्ति क्रिया करती है तब उसके पक्षमें, अपनी सत्ताको बनाये रखनेके लियें संकल्प

और अभीप्साकी आवश्यकता होती है। पर एकमात्र भागवत शक्ति ही हमारे आध्यात्मिक संकल्प और हृदयस्थित अन्तःपुरुषकी अभीप्साको सार्थक करती हुई यह विजय ले आ सकती है।

*

जैसी कि मैं तुम्हें कह चुका हूँ कि यथार्थ अवबोध और गलत क्रियाओंके सम्बन्धमें सोचते रहनेसे और यथार्थ क्रियाओंका अनुभव न होनेपर या उनके अधूरा रहनेपर उद्विग्न होनेसे कोई लाभ नहीं। कोई भी व्यक्ति अपनेको बदल नहीं सकता — यहां अधिक-से-अधिक समर्थ साधक भी यह समझते हैं। उनका काम है माताजीकी शान्ति, शक्ति, प्रकाश एवं आनन्दको अन्दर आने देना, उन्हें विकसित होने देना — क्योंकि वे जानते हैं कि वह उन्हें परिवर्तित कर देगी। जबतक ये चीजें नहीं होतीं; इनका अभी स्पर्श नहीं हुआ होता, वे विकसित नहीं हो रही होती तबतक वे मन और प्राणके साथ संघर्ष करतें हैं क्योंकि ऐसा किये बिना वे रह नहीं सकते तथा चेतनाको थोड़ा तैयार करनेके लिये यह आवश्यक भी है जिससे शान्ति और शक्ति भीतर आ जाय। किन्तु एक बार इनका स्पर्श होते ही हमें केवल एक ही वस्तु करनी चाहिये कि हम सारी शक्ति इनपर लगा दें, इनपर विश्वास करें, उन्हें अपना समर्पण और आत्म-दान करें — क्योंकि तब हमें सीधा रास्ता मिल जाता है और सच्ची शक्ति एवं चेतनाका अनुभव प्राप्त हो जाता है।

*

मैं चाहता हूँ कि तुम उद्घाटित बनो और उच्चतर शान्ति, सामीप्य एवं शक्तिके सम्पर्कमें आओ। यदि यह हो जाय तो सब कुछ आपसे आप आ जायगा और तब मनुष्यको उस कालके सम्बन्धमें उद्विग्न होनेकी जरूरत नहीं है जो साधनाके उतार-चढ़ावमें लगता है।

*

तुम्हारे दूसरे अनुभवमें — जो तुम्हारे कथनानुसार उस समय तुम्हें बहुत वास्तविक प्रतीत होता है — एकमात्र सत्य यह है कि तुम्हारे या किसी अन्य व्यक्तिके लिये बिना किसी सहायताके तुम्हारे या उस व्यक्तिके यत्न द्वारा

ही निम्न चेतनासे बाहर निकलनेकी आशा करना व्यर्थ है। इसीलिये जब तुम निम्नतर चेतनामें डूब जाते हो तो प्रत्येक वस्तु तुम्हें निराशाभरी लगती है, क्योंकि कुछ समयके लिये सत्य चेतना परसे तुम्हारी पकड़ ढीली हो जाती है। किन्तु यह सुझाव सच्चा नहीं है, क्योंकि तुम भगवान्‌के प्रति कुछ उद्घाटित हो और इस निम्नतर चेतनामें रहनेके लिये बाध्य नहीं हो।

जब तुम सत्य चेतनामें निवास करते हो, तब तुम यह देखते हो कि प्रत्येक कार्य किया जा सकता है, तब भी जब कि अभी केवल एक हलकासा ही आरम्भ हुआ हो, पर एकबार शक्ति और बलके आधारमें आनेपर आरम्भ हो जाना ही पर्याप्त है। क्योंकि सच यह है कि यह चेतना हरेक कार्य कर सकती है और पूर्ण परिवर्तन एवं अन्तरात्माकी परिपूर्णताके लिये केवल समय और अन्तरात्माकी अभीप्साकी ही आवश्यकता होती है।

*

मानव-प्रकृति या व्यक्तिगत प्रकृतिकी प्रवृत्तिके विरुद्ध जब कुछ करनेका प्रयत्न किया जाता है तब उसे केवल मानसिक संयमके द्वारा करना सर्वदा ही कठिन होता है। अगर धैर्य और अध्यवसायके साथ अपने सुदृढ़ संकल्पको लक्ष्यकी ओर लगाये रखा जाय तो उससे एक प्रकारका परिवर्तन साधित हो सकता है, पर साधारणतया इसमें बहुत दीर्घ समय लग जाता है और सफलता भी आरम्भ में केवल आंशिक तथा अनेक विफलताओंसे मिली-जुली हो सकती है।

केवल अपने विचारोंको संयमित कर कोई साधक अपने सारे कर्मोंको स्वभावतः पूजाके रूपमें नहीं परिणत कर सकता; इसके लिये साधकके हृदयमें एक ऐसी प्रबल अभीप्सा होनी चाहिये जो एकमेवाद्वितीयकी उपस्थितिकी कुछ उपलब्धि या अनुभूति ले आ सके जिसे वह पूजा अर्पित की जाती है। भक्त एकमात्र अपने ही प्रयासपर निर्भर नहीं करता; बल्कि वह जिस भगवान्‌की आराधना करता है उसकी कृपा और शक्तिके ऊपर निर्भर करता है।

*

साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें प्रायः ये बाधाएं आया करती हैं। इनके आनेका कारण यह है कि अभीतक तुम्हारी प्रकृति पर्याप्त रूपसे ग्रहणशील नहीं हो पायी है। तुम्हें यह पता लगाना चाहिये कि तुम्हारी बाधा कहांपर

है, मनमें है या प्राणमें, और फिर तुम्हें वहां अपनी चेतनाको प्रसारित करनेका प्रयास करना चाहिये, वहांपर पवित्रता और शान्तिका अधिक मात्रामें आवाहन करना चाहिये तथा उस पवित्रता और शान्तिके अन्दर अपनी सत्ताके उस भागको सच्चाईके साथ और पूर्ण रूपमें भागवत शक्तिके चरणोंमें अर्पण कर देना चाहिये।

*

कठिनाई और सतत हेरफेरका यथार्थ कारण है अन्दरके प्रच्छन्न सच्चे पुरुषमें और बाह्य प्रकृतिमें संघर्ष, विशेषकर कामनाओंसे भरपूर निम्नप्राणमें तथा अन्धकार एवं अज्ञानसे परिपूर्ण भौतिक मनमें। मानव प्रकृतिमें संघर्ष अनिवार्य है और कोई साधक इससे बचता नहीं । प्रत्येक व्यक्तिको अन्धकार एवं प्रतिरोध तथा उसकी हठधर्मिता और प्रत्यावर्तनसे निबटना होगा क्योंकि निम्नतर प्रकृति केवल पुनरावर्तनों और पुनरागमनोंपर ही नहीं अड़ी रहती, किन्तु जब वह बदलनेको बिलकुल तैयार होती है तब भी विश्वप्रकृतिमें उस भूमिकाकी सर्व साधारण शक्तियां प्रत्येक कदमपर पुरानी क्रियाओंको लौटा लानेके द्वारा प्रतिरोध बनाये रखनेका यत्न करती हैं जिससे प्रगतिको हमेशाके लिये दृढ़ करने और अन्तिम रूपमें स्थापित होनेसे रोका जाय। इसलिये यह सच है कि एक सतत, अटल और अनवरत साधना अवश्यक है यदि व्यक्ति तेजीसे अग्रसर होना चाहे तो — यदि उसके अन्तरात्माकी पुकार हुई हो, तो उपर्युक्त स्थितिके विपरीत भी, व्यक्ति अपने लक्ष्यको पा लेगा क्योंकि अन्तरात्मा अडिग रहेगी और प्रत्येक अन्धकार या ठोकरके बाद प्रकाश को लौटा लायेगी तथा व्यक्तिको योग-पथपर तब तक प्रेरित करती रहेगी जबतक अन्तरात्माको यह अनुभव न होने लगे कि लक्ष्यके प्रति निर्विघ्न और सुगम यात्राके विषयमें आखिर वह निश्चिन्त हो गई है।

*

कठिनाई या अवरोध ऐसी किसी भी क्रियामें आ जाता है जो तुमने आरम्भ की है या जिसे तुम कुछ समयसे कर रहे हो। इससे कैसे निबटा जाय —क्योंकि इस प्रकारके अवरोध अनिवार्य रूपसे प्रायः बारंबार आते हैं, तुम्हारे सामने ही नहीं किन्तु ऐसे प्रत्येक व्यक्तिके सामने जो साधक है; व्यक्ति करीब-करीब कह सकता है कि प्रगतिके हरेक कदमके बाद अवरोध आता ही है —

कम-से-कम यदि यह सार्वभौम नहीं तो अतिसाधारण अनुभव अवश्य है। सदैव अधिक शान्त रहकर, पार करनेके संकल्पको अधिक दृढ़ बनाकर, अपनेको अधिकाधिक उद्घाटित करके कि जिससे प्रकृतिकी हरेक अवरोधक 'ग्रहणशीलता क्षीण या विलीन हो जाय, अन्धकारके क्षणोंमें भी श्रद्धाका समर्थन करते हुए, बादल और परदेके पीछे रहकर कार्य करनेवाली शक्तिकी उपस्थितिमें और गुरुके पथ-प्रदर्शनमें श्रद्धा रखकर, अवरोधके किसी भी कारणको ढूँढ़नेके लिये स्वयं अपना निरीक्षण करते हुए, निराशा या अनुत्साहके भावसे नहीं किन्तु उसे खोजकर हटा देनेके संकल्पके साथ, हमें इससे निबटना है। यह एकमात्र सही वृत्ति है और, यदि व्यक्ति इसे दृढ़तासे बनाये रखे तो अवरोधके काल समाप्त तो नहीं हो जाते, ––क्योंकि तुम्हारी इस स्थितिमें ऐसा नहीं हो सकता,––किन्तु बहुत अधिक कम हो जाते हैं या आनेपर भी मद्धिम ही होते हैं। कभी-कभी ये अवरोध परिपाचनके या प्रच्छन्न तैयारीके लम्बे या छोटे काल होते हैं, उनकी प्रभावहीन अचलताका आभास भ्रामक होता है: उस अवस्थामें, सही वृत्ति द्वारा, व्यक्ति कुछ समय बाद उद्घाटन, निरीक्षण और संचित अनुभव द्वारा ऐसी किसी वस्तुका अनुभव करने लगता है, ऐसी किसी वस्तुका संकेत पाने लग सकता है जो तैयार या निर्मित की जा रही है। कभी-कभी यह ऐसी वास्तविक बाधाओंका काल होता है जिसमें कार्य करनेवाली शक्तिको मार्गकी रुकावटोंमेंसे, अपने अन्दरके अन्तरायोंसे, विरोध करनेवाली वैश्व शक्तियोंकी बाधाओंसे, या और किसी विघ्नसे अथवा एक साथ इन सबसे निबटना होता है, तथा इस प्रकारका अवरोध सामने आनेवाली बाधाओंकी विपुलता या हठीलेपन अथवा जटिलताके अनुसार कम या अधिक समय तक रह सकता है। किन्तु यहां भी सही वृत्ति कठिनाइयोंको हलका या कम कर सकती है और, यदि यह वृत्ति लगातार धारण की जाय, तो उन्हें अधिक मूलगत रूपसे हटानेमें मदद करती है और भविष्यमें पूर्ण अवरोधोंकी आवश्यकताको बहुत कम कर देती है।

इसके विपरीत अवसादकी वृत्ति, या मार्ग दिखानेवाली शक्तिकी मददमें या पथप्रदर्शनमें या विजयकी अवश्यम्भावितामें अश्रद्धा, कठिनाइयोंके वेदनोंमें अपनेको बन्द किये रखना पूर्व स्थितिकी पुनः प्राप्तिमें बाधक होता है, कठिनाइयोंके कालको लम्बा कर देता है, अवरोधोंके आनेको उत्तरोत्तर कम करनेके स्थानपर उनको प्रबलतासे बारंबार आनेमें सहायता देता है। यदि तुम उस बाधापर जिसे तुम इतना महसूस करते हो, विजय प्राप्त करना चाहते हो, तो इस वृत्तिकी हठधर्मिता और पुनरावर्तनको तुम्हें दृढ़ निश्चयके साथ एक ओर फैंक देना होगा। अवसादपूर्ण वृत्ति जबतक बनी रहती है तबतक अवरोधको तीव्र ही बनाती है।

*

मैं नहीं समझता कि यहां कोई ऐसा साधक है—जो चाहे कितना हीं आगे बढ़ा क्यों न हो, सारे समय पूर्ण रूपसे सचेतन रहता हो। ये हेरफेर होते ही रहते हैं और व्यक्तिका कुछ बस नहीं चलता क्योंकि आधारमें साधारण चेतनाका कुछ अंश बचा रहता है और वह उभर आता है जिससे कि उससे निबट लिया जाय। मनुष्यको यह समझना होगा और इससे उद्विग्न नहीं होना होगा—क्योंकि उद्विग्न होनेसे प्रक्रियामें केवल देर ही लगती है। यदि सच्ची चेतना अपनी पूर्णताके साथ सतत बनी रहे, तो साधनाका कार्य समाप्त हो जाय और सिद्धि प्राप्त हो जाय। ये अवस्था तुरन्त नहीं आ सकती।

*

जैसा कि मैं बराबर कहता आया हूँ कि तुम यह आशा नहीं कर सकते कि सब कुछ एकाएक ही आलोकित हो जाय। यहांतक कि महान् से महान् योगीजन भी पग-पग करके ही आगे बढ़ सकते हैं तथा अन्तमें जाकर ही समग्र प्रकृति उस सच्ची चेतनामें हिस्सा बंटाती है जिसे वे पहले हृदयमें या उसके पीछे अथवा सिरमें या सिरके ऊपर स्थापित करते हैं। यह सत्ताके प्रत्येक स्तरको एकके बाद एक जीतती हुई क्रमशः अवतरित होती है या विस्तृत होती जाती है, किन्तु हरेक कदममें समय लगता है।

*

तुम्हें यह साफ समझ लेना चाहिये कि ये तमसाच्छन्नताके काल तुम्हारे अन्दरकी किसी विशेष अक्षमता या विकृतिके कारण नहीं आये हैं—अच्छेसे अच्छे साधकोंके सामने भी ये आते हैं। यही मानव प्रकृतिकी रूपान्तर कालकी कठिनाई है। यह कठिनाई कभी-कभी प्राणमें किसी जगह अशुभेच्छाका या भौतिक सत्तामें पुरानी भूलों अथवा पुरानी आदतोंसे चिपटे रहनेकी प्रकृतिका या रूपान्तरके कष्टसे कतरानेका रूप ले लेती है—किन्तु इन पक्षोंमें तुमने भारी प्रगति की है। उसके अन्दर सर्वसामान्य निम्नतर प्रकृतिकी यांत्रिक आदत विद्यमान है—यान्त्रिक स्वेच्छा प्रेरित नहीं—वह चारों ओरकी वैश्व प्रकृतिसे किसी प्रबल लहरके आनेपर उन पुराने व्यापारोंको दुहराती है जिनकी वह आदी रह चुकी है या अभी हालतक भी आदी थी। यह वस्तु ऐसी अवस्थाओंमें पतनके एक प्रकारके पुनरावर्तनको उत्पन्न करती है जिन्हें आध्यात्मिक प्रगति बाहर धकेल रही है और इस पुनरावर्तनसे पूर्णतया छुटकारा

पाना सरल नहीं है। एकमात्र बात यह है कि इनके आनेपर तुम्हें दुःखी या परेशान नहीं होना चाहिये, इसकी वास्तविकताको समझना चाहिये और इसे दूर धकेलनेके लिये माताजीकी शक्तिके लिये पुकार करते हुए बहुत शान्त रहना चाहिये। इस प्रकार इनके बारंबार आनेकी आदत और बल एवं तीव्रता भी धीमी पड़ जाती है तथा दूसरी ओर व्यक्ति सच्ची चेतनाको एव सच्ची शक्तिको, प्रफुल्ल, सुखद, शान्तिमय, उन्मुक्त अवस्थाको अधिक आसानीसे तथा अधिक जल्दी वापस लानेमें समर्थ हो जाता है। उसके बाद व्यक्ति एक सुनिश्चित आधार परसे अधिकाधिक रचनात्मक प्रगतिकी ओर प्रस्थान कर सकता है।

*

कठिनाईके ये काल अनिवार्य रूपसे आते ही हैं—कोई भी इनसे बचता नहीं, क्योंकि निम्नतर प्रकृति सबमें विद्यमान है। तुम्हें करना यह चाहिये कि तुम उस दृढ़ताको बनाये रखो जिसकी तुमने चर्चा की है और तबतक लगे रहो जबतक भागवत शक्ति और तुम्हारा संकल्प नीचेसे उभरनेवाली वस्तुसे निबट न लें। जो वस्तु ऊपर आकर अपनेको यों दिखाती है मानों वह विशेष रूपसे तुम्हारी है, तुम उसकी ओर ध्यान ही क्यों देते हो? वे मानव सत्ताके निम्नतर प्राणके उपादानके अंग हैं तथा ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसमें वे न हों। इसलिये उनकी उपस्थितिका अर्थ यह बिलकुल भी नहीं कि तुम माताजीके पास नहीं पहुँच सकते। जब मन और अन्तरात्माने लक्ष्य चुन लिया है तो सत्ताका शेष भाग उसका अनुसरण करनेको बाध्य होता है; इतना अवश्य है कि उनके अधिक अन्धकार मय होनेके कारण प्रतिरोध वहां अधिक विवेकहीन और हठीला होता है। किन्तु तुम्हारे प्राणमें भी अब लक्ष्य प्राप्तिका संकल्प स्थिर हो गया है, केवल एक निम्नतर भागको ही इन वस्तुओंका प्रत्युत्तर देनेकी आदत है और इसलिये जब कोई लहर आती है तो यह उससे बचना नहीं जानता तथा कुछ समयके लिये वह लहर उसे लील जाती है। ऐसा केवल थोड़े समयके लिये ही हो सकता है, क्योंकि ये चीजें वस्तुतः तुम्हारी नहीं हैं कारण केन्द्रीय सत्ता और प्रकृतिका अधिक बड़ा भाग अब और अधिक उसकी कामना नहीं करते। तुम्हें महज दृढ़तापूर्वक बढ़ते जाना है और एक समय ऐसा आयेगा जब फिर लहरें उठेंगी ही नहीं।

*

तुमने अपने पत्रमें जिसका वर्णन किया है वह निस्सन्देह तुम्हारे भीतरके चैत्यका दबाव ही है। चैत्य यही चाहता है कि ऐसे हो। किन्तु इस आधारपर कि यह अभीतक ऐसा नहीं है या हमेशा ऐसा नहीं रहेगा, आत्म-अविश्वासद्र या अक्षमताके किसी भी सुझावको स्वीकार करना भूल है। इन चीजोंमें सदैव समय लगता है, यहां तक कि शुरू होनेके बाद भी उनमें समय लगता है। मानवसत्ताकी मिली-जुली एवं उलझी प्रकृतिसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह निरन्तर ही तीव्र अभीप्सा, पूर्ण श्रद्धा एवं प्रेमकी या भागवत शक्तिके प्रति पूर्ण और सतत उद्घाटनकी स्थिति में रहे। उसमें एक मानसिक सत्ता है जो अपने सीमित ज्ञान और अपनी दुविधाओंसे पूर्ण है; एक प्राणिक सत्ता है जो अपनी कामनाओं, अनिच्छाओं और संघर्षोंसे भरपूर है, एक भौतिक सत्ता है जो अपने अन्धकार, मन्दता और जड़तासे युक्त है। अनुभवके प्रारम्भके लिये क्षेत्रको पर्याप्त रूपसे साफ करनेमें भी साधारणतया लम्बे समयतक परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु आगे जाकर यदि शान्ति या दूसरी कोई सही अवस्था आने लगे तो वह कुछ समयतक ठहरती है—और तब निम्नतर प्रकृतिका बचाखुचा हिस्सा किसी बहाने या बिना बहानेके भी उभर आता है और उस अवस्थाको आच्छन्न कर देता है। ऐसा भी हो सकता है कि शान्ति एवं उद्-घाटन इतने प्रबल रूपसे आयें कि ऐसा लगने लगे मानों सब कठिनाइयां हट गई हैं और कभी नहीं लौट सकतीं—पर यह केवल एक संकेत है, एक आश्वासन भर है। यह बताता है कि शान्ति और उद्घाटनके समस्त प्रकृतिमें अटल रूपसे सुस्थिर हो जानेपर ऐसी अवस्था होगी। इसके लिये निरन्तर लगे रहनेकी आवश्यकता है—निरुत्साहित हुए बिना, यह मानते हुए कि प्रकृतिकी प्रक्रिया और माताजीकी शक्तिका कार्य कठिनाईमें भी चल रहा है और वह जो कुछ भी आवश्यक है सब करेगा। हमारी अक्षमतासे कुछ आता जाता नहीं—ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसकी प्रकृतिके किन्हीं भागोंमें कोई अक्षमता न हो—किन्तु यहां भगवान्‌की शक्ति भी उपस्थित है। यदि व्यक्ति उसपर अपना भरोसा रखे तो अक्षमता क्षमतामें बदल जायगी। तब स्वयं कठिनाई और संघर्ष सिद्धिके साधन बन जाते हैं।

*

तुम्हारा अनुभव ठीक है, प्रत्येक चीज ऊर्ध्वमें तैयार की जाती है, उसके बाद आन्तरिक सत्ता द्वारा उसे तबतक कार्यान्वित किया जाता है जबतक बाह्यव्यक्तित्वमें उसके परिणाम सिद्ध और पूर्ण न हो जायें। इसलिये साधकको

अपनेको भयभीत, विचलित या दुःखी नहीं होने देना चाहिये, न तात्कालिक किन्हीं बाह्य कठिनाइयोंसे ही अपनेको निराश होने देना चाहिये। उसको जानना होगा कि सभी चीजें ऊर्ध्वमें तैयार कर दी गई है और उसे शान्ति एवं विश्वासके साथ उसके यहां चरितार्थ होनेकी क्रियाको देखना चाहिये और उसमें सहायता देनी चाहिये।

*

साधारणतया उच्चतर चेतनाकी क्रियाका आरम्भ बाह्य प्रकृतिके परिवर्तनसे नहीं होता; यह क्रिया आन्तर सत्तापर कार्य करती है, उसे तैयार करती है और फिर बाहरकी ओर आती है। उससे पहले बाह्य प्रकृतिमें जो भी परिवर्तन करना हो वह चैत्य द्वारा ही करना होता है।

*

इन सब बातोंसे अपने-आपको विचलित या विक्षुब्ध मत होने दो। एक बात जो सदा करनी है वह है—भगवान्‌के प्रति अपनी अभीप्सामें अटल बने रहना और सभी कठिनाइयों तथा विरोधोंका समता और अनासक्तिके साथ सामना करना। जो लोग आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहते हैं उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का स्थान सदा सबसे पहले आना चाहिये, अन्य सभी चीजें गौण होनी चाहिये।

अपने-आपको अनासक्त रखो और इन सब चीजोंकी ओर उस मनुष्यकी धीर-स्थिर आन्तर दृष्टिसे देखो जो भीतर-ही-भीतर अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर चुका है।

*

व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि विजय पास है या दूर—व्यक्तिको पास और दूरकी चिन्ता किये बिना लक्ष्यपर दृढ़ रहकर साधनाकी क्रिया करते हुए स्थिरतापूर्वक आगे बढ़ते जाना होगा और यदि यह पास आता प्रतीत होता हो तो हर्षित नहीं होना चाहिये, यदि अभी दूर प्रतीत होता हो तो उदास भी नहीं हो जाना चाहिये।

V

शक्तिका अवतरण इसलिये नहीं होता कि वह निम्नतर शक्तियोंको जाग्रत कर दे; परन्तु अभी उसे जिस रूपमें कार्य करना पड़ रहा है उसीकी प्रतिक्रियाके रूपमें नीचेकी शक्तियां इस प्रकार उभड़ आती हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि समस्त प्रकृतिके आधारमें स्थिर और विस्तीर्ण चेतनाको स्थापित किया जाय जिससे कि जब निम्नतर प्रकृति उभड़कर सामने आये तब ऐसा न प्रतीत हो कि कोई आक्रमण या संघर्ष उपस्थित हुआ है, बल्कि ऐसा प्रतीत हो कि शक्तियोंका स्वामी वहां विद्यमान है वह वर्तमान मशीनके दोषोंको देख रहा है तथा मशीनके संशोधन और परिवर्तनके लिये जो कुछ आवश्यक है उसे धीरे-धीरे कर रहा है।

*

तुम जिस पद्धतिकी बात करते हो, मेरी समझके अनुसार वह है कठिनाइयोंको इसलिये उभारना कि हम उन्हें जान लें और क्षीणकरके निकाल दें या नष्ट कर दें। एक बार जब हम योगमें प्रवेश करते हैं तो उनका उभरना अवश्यंभावी है और वे तबतक उभरती रहती हैं जबतक उनमेंसे कोई भी वस्तु आधारमें जरा भी बाकी रहे। तब यह सोचा जा सकता है कि व्यक्तिके लिये उन्हें सामूहिक रूपसे उभारना अधिक अच्छा होगा जिससे कि वह एक ही दफामें हमेशाके लिये उन्हें निबटा दे। यद्यपि यह किन्हीं दृष्टान्तोंमें सफल हो सकती है किन्तु यह मानसिक और प्राणिक स्तरमें भी सुरक्षित या सुनिश्चित विधि नहीं है। निःसन्देह इन्हें निकाल देना असम्भव है; जो चीजें कठिनाइयोंको उत्पन्न करती हैं वे वैश्व शक्तियां, वैश्व अज्ञानकी शक्तियां हैं और उन्हें निःशेष नहीं किया जा सकता। लोग थक जानेकी बात करते हैं क्योंकि कुछ समयके बाद उनका बल घट जाता है और वे क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि यह पुरुषकी परित्यागकी शक्ति और भागवत हस्तेक्षपकी उस शक्तिके द्वारा ही सम्भव है जो इस परित्यागको सहारा देती है और कठिनाईके सिर उठाते ही उसे प्रत्येक बार नष्ट या विलीन कर देती है। ऐसा होनेपर भी कठिनाइयोंसे सामूहिक रूपमें छुटकारा पाना बहुत कम कारगर होता है, कोई वस्तु बची रहती है और तबतक वापस लौटती रहती है जबतक एकाएक ऐसा भागवत हस्तक्षेप न आ पड़े जो अन्तिम हो या फिर चेतनाका एक ऐसा परिवर्तन न हो जाय जो कठिनाईकी वापसी असम्भव बना दे। तो भी मानसिक और प्राणिक

भूमिकामें ऐसा किया जा सकता है।

भौतिक भूमिकामें यह बहुत अधिक खतरनाक होता है क्योंकि यहांपर स्वयं भौतिक आधार ही आक्रमणका लक्ष्य बनता है और भौतिक कठिनाइयोंका भारी अम्बार शरीरको नष्ट या निर्बल अथवा स्थायी रूपसे क्षतिग्रस्त कर सकता है। यहां करने योग्य एकमात्र बात यह है कि व्यक्ति भौतिक चेतनाको — नीचे अत्यन्त स्थूल भागोंतक — शक्तिके प्रति खोल दे, उसके बाद उसे प्रत्युत्तर देने और आज्ञा माननेकी आदी बना दे और प्रत्येक भौतिक कठिनाईके उभरते ही, आक्रमण करनेवाली शक्तिको बाहर निकालनेके लिये भागवत शक्तिको प्रयुक्त करे या अपने अन्दर पुकार कर ले आये। भौतिक प्रकृति आदतोंसे बनी है; यह रोगकी शक्तियोंको आदतके कारण ही प्रत्युत्तर देती है; व्यक्तिको इसके विपरीत भौतिक प्रकृतिमें भागवत शक्तिको ही प्रत्युत्तर देनेकी आदत डालनी है। यह, निःसन्देह तबतक लागू होता है जबतक वह सर्वोच्च चेतना अवतरित नहीं हो जाती जिसमें रोगका प्रवेश ही असम्भव है।

*

निस्सन्देह, शक्तियोंको नीचेसे ऊपर खींचना सम्भव है। हो सकता है कि तुम्हारे खींचनेपर जो-जो शक्तियां ऊपरको उठती हैं वे नीचे छिपी हुई दिव्य शक्तियां ही हों और यदि ऐसा है तो यह जो गति ऊपरकी ओर होती है वह ऊपर ज़ो दिव्य शक्ति है उसकी गति और प्रयत्नको पूरा करती है, विशेषतः उस शक्तिकी इस बातमें सहायता करती है कि वह शरीमें उतर आये। अथवा, यह भी हो सकता है कि ये अंधकारपूर्ण शक्तियां हों जो नीचे रहती हैं और पुकारका प्रत्युत्तर देती हैं, और यदि ऐसा है तो इस प्रकारके खिचावका यह फल होता है कि या तो इससे तमस् छा जाता है या बेचैनी पैदा होती है — कभी-कभी तो बहुत अधिक मात्रामें जड़ता आ घेरती है अथवा भयंकर उथल-पुथल या गड़बड़ी पैदा हो जाती है।

निम्नतर प्राण अत्यन्त अन्धकारमय स्तर है और इसको पूरी तरह खोलकर उसी अवस्थामें लाभ उठाया जा सकता है जब कि इसके ऊपरके स्तर ज्योति और ज्ञानके प्रवाहके लिये पूरी तरह खोल दिये जा चुके हों। ऊपरके स्तरोंको इस प्रकार तैयार किये बिना और ज्ञानको प्राप्त किये बिना ही जो निम्नतर प्राणपर पूरा ध्यान लगा देता है वह बहुतसी उलझनोंमें पड़ जा सकता है। इस बातका यह अर्थ नहीं है कि इस स्तरकी अनुभूतियां उपर्युक्त तैयारी होनेके पहले या यहांतक कि साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें कभी होंगी ही नहीं; ये

अनुभूतियां आप-से-आप भी होती हैं, पर इन्हें बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये।

*

यदि तुम अपनी प्रकृतिके निम्नतर भागों या स्तरोंमें उतरते हो तो तुम्हें इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि चेतनाके जो उच्चतर प्रदेश नव-जीवन प्राप्त कर चुके हैं उनसे तुम जीवित-जाग्रत सम्बन्ध बनाये रख सको और इनके द्वारा ज्योति और शुद्धिको नीचेके उन क्षेत्रोंमें उतारकर ला सको जो अभीतक रूपान्तरित नहीं हुए हैं। यदि साधक उपर्युक्त जागरूकता न रखे तो वह निम्न स्तरोंकी इन अशुद्ध क्रियाओंमें डूब जायगा और अपनेको अज्ञानांध-कार और कष्टमें पायगा।

सबसे निरापद मार्ग यह है कि चेतनाके उच्चतर भागमें ही रहा जाय और वहींसे निम्नतर भागोंपर परिवर्तित होनेके लिये एक दबाव डाला जाय। यह इस तरहसे किया जा सकता है, केवल तुम्हें इसे करनेकी कला जाननी होगी और इसका अभ्यास करना होगा। यदि तुम ऐसा करनेकी शक्ति प्राप्त कर लो तो तुम्हारी प्रगति बहुत सहज, सरल और कम दुःखदायी हो जायगी।

*

इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि तुम उन्हें पार कर सकते हो — ये संघर्ष प्रत्येकके सामने आते हैं; इन्हें पार करनेके लिये आवश्यकता है सचाई और सत्यनिष्ठाकी।

इन संघर्षोंको आमंत्रित करनेसे, जैसा कि बहुतसे लोग करते हैं, कोई लाभ नहीं, अथवा जब वे आते हैं तब उनसे लोहा लेनेके लिये उन्हें स्वीकार करनेसे भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि उनकी पुनरावृत्ति होती सदा रहती है। जब उनसे बचा नहीं जा सकता, तब उनका सामना करना ही चाहिये — मनुष्य उनसे एकदम बच नहीं सकता, विशेषतः योगके आरंभिक भागमें; किन्तु तुम यदि चुपचाप उनसे किनारा कर सको तो इसे एक प्रगति ही समझो। शान्त बने रहना और सच्ची चैत्य स्थितिको शान्तिके साथ वापस बुलाते रहना, जबतक कि वह सामान्य स्थिति न बन जाय और संघर्षको या तो समाप्त कर दे या हलका कर दे — बस, प्रगति करनेका यही उत्तम मार्ग है।

*

शान्तभावसे परित्याग करते हुए और चेतनामें विकसित होते हुए आगे बढ़ना, —और संघर्षको आमन्त्रित न करना—अधिक अच्छा है, यद्यपि यह ठीक है कि यदि संघर्ष तुमपर बलात् थोपा जाय तो तुम्हें स्थिरता और साहसके साथ उससे लोहा लेना होगा।

*

बाह्य चेतना अपनी इस पुरानी आदतसे छुटकारा पानेसे इनकार करती है। जबतक पुरानी क्रियाओंको दुहराते रहनेके इस संकल्पको बाहर नहीं फेंक दिया जाता, तबतक शक्ति कार्य तो करती है किन्तु कठिनाईके अधीन और पीछे रहकर ही, न कि सामनेकी चेतनाको हाथमें लेकर जैसे यह तब भी करती यदि बाह्य प्रकृतिकी स्वीकृति उसे प्राप्त होती। कठिनाइयोंका परिवर्जन करनेके स्थानपर उन्हें उभारने और उनपर जोर देनेकी पुरानी अडियल आदत अभी वहां बची हुई है अर्थात् यह गलत विचार कि उन्हें स्वीकार करना, उनका समर्थन करना, उनकी उपस्थितिके लिये आग्रह रखना ही उनसे मुक्त होनेका एकमात्र उपाय है। मैं तुम्हें कह चुका हूँ कि यह उपाय नहीं है और यह केवल संघर्षको बढ़ाता ही है।

*

साधना करनेमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु वह करनी होती है सतत संघर्ष और अशान्तिके बिना—समयकी परवाह न करते हुए, "कठिनाइयोंके विरुद्ध संघर्ष" का सतत राग न आलापते हुए। मेरा आशय यही है।

*

कोई आपत्ति नहीं—उच्चतर चेतनामें रहकर काम करते रहना बड़ी अच्छी बात है। सारे समय बहुत नीचेके स्तरपर रहकर निम्न शक्तियोंके साथ संघर्ष करते रहनेसे यह अधिक प्रभावशाली है।

*

जगत्में उच्चतर शक्तियां हैं और निम्नतर भी—उच्चतर शक्तियोंके

संपर्कमें लाकर निम्नतर शक्तियोंको क्रिया द्वारा बाहर निकालना है और इस बाहर निकालनेकी क्रियामें कभी निम्नतर शक्तियां ऊपर आती हैं, कभी गायब हो जाती हैं और अन्तमें उनका सफाया हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि वे किसी भूल या दोषके कारण ही उभरें।

*

मेरी जानमें ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जिसमें निम्नतर शक्तियां उभरी न हों। यदि ऐसा दृष्टान्त हो भी तो मैं समझता हूँ कि मानव इतिहासमें यह पहला दृष्टान्त होगा।

*

सभी कठिनाइयोंको शक्तिकी क्रियाके अधीन यथासमय लुप्त होना पड़ेगा। वे इसलिये उभरती हैं कि यदि वे न उभरें तो क्रिया पूरी न हो, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका मुकाबला करके उसे क्रिया द्वारा बाहर करना है जिससे ऐसी एक भी चीज न रह जाय जो भविष्यमें अपना सिर उठाये। स्वयं चैत्य सत्ता एक ऐसा प्रकाश डाल सकती है जिससे पूर्ण चेतना आ जाती है और कोई भी वस्तु अन्धकारमें नहीं रहती।

*

सब कुछ समय आनेपर ही होता है। मनुष्यको तबतक शान्ति एवं स्थिरता-के साथ उच्चतर चेतनाको बढ़ाते रहना चाहिये जबतक वह प्राणिक और भौतिक भागपर अधिपत्य न कर ले।

VI

जब कोई निर्बलता उभर आये तो उसे तुम्हें इस बातको जान लेनेके एक अवसर के रूपमें लेना चाहिये कि अभी क्या कुछ करना बाकी है तथा उस हिस्सेमें शक्तिको पुकार कर नीचे ले आना चाहिये। निराशा इसका सामना करनेका सही रास्ता नहीं है।

*

तुम जो कुछ भी देखो, उससे विचलित या उदास न होओ। यदि मनुष्य अपने अन्दर कोई दोष देखे तो उसे उसकी ओर अत्यन्त शान्तभावसे देखना होगा और उससे मुक्त होनेके लिये अधिक शक्ति और प्रकाशको पुकारकर उतार लाना होगा।

*

जबतक मानसिक सत्ताका कोई हिस्सा (यहांतक कि उसका अवचेतन हिस्सा भी) पूरी तरह रूपान्तरित न हो जाय तबतक भूलोंकी सम्भावना हमेशा बनी रहती है। उससे विचलित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

*

निःसन्देह व्यक्तिको गलती दूर करनेके लिये उसे करना या एक बार करनेंपर उसे अपना लेना नहीं चाहिये — किन्तु उस गलतीसे लाभ उठाना चाहिये ताकि वह अपनेको बदल सके।

*

इस तरहकी घटनाको सदा ही आत्म-विजयके एक अवसरके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। उसमें अर्थात् अपना स्वामी होनेमें न कि आवेशोंके अधीन होनेमें, आत्माभिमान और आत्मगौरवका भी साथ लो।

*

अपनेको छोटी-छोटी बातोंसे चिन्तित या उद्विग्न न होने दो। सब चीजोंको आन्तरिक दृष्टिकोणसे देखो और सभी घटनाओंसे फायदा उठानेका यत्न करो। यदि तुम कोई भूल करो तो उस भूलके कारण दुःखी मत हो — बल्कि इसके कारणको समझनेके लिये उससे लाभ उठाओ जिससे भविष्यमें तुम सही क्रिया कर सको। तुम ऐसा तभी कर सकते हो जब तुम इसे आन्तरसत्तामें रहकर शान्तिपूर्वक बिना दुःख या विक्षोभके देखो।

*

इन छोटी-छोटी बातोंसे क्यों उत्तेजित हो जाते हो? या उनसे अपनेको क्यों विचलित होने देते हो? यदि तुम अचंचल रहो तो वस्तुस्थिति अधिक अच्छी हो जायगी और यदि कोई कठिनाई आये, तो अधिक सम्भव यह है कि तुम शान्ति और शक्तिके प्रति उद्घाटित रहकर शान्त मनके द्वारा रास्ता ढूंढ़ लोगे। आगे बढ़नेका यही रहस्य है कि वस्तुओं और घटनाओंसे, यहांतक कि सच्ची भूलोंसे भी, अपनेको विक्षुब्ध न होने दो, किन्तु बिलकुल शान्त रहकर इस बातपर भरोसा रखो कि शक्ति तुम्हें मार्ग बतायेगी और सब वस्तुओंको उत्तरोत्तर अधिक व्यवस्थित कर देगी। यदि व्यक्ति यह करे तो स्थिति वस्तुतः अधिकाधिक ठीक होती जाती है और कठिनाइयां और भूलें भी सीखनेका साधन तथा प्रगतिके कदम बन जाती हैं।

*

यही वह प्रफुल्लता है जिसे हम तुम्हारे अन्दर हमेशा देखना चाहते हैं। यह चैत्य पुरुषकी प्रफुल्लता है जो अपने गंतव्य स्थानपर पहुँच गयी है। अब चाहे जो भी कठिनाइयां क्यों न हों, यह निश्चित है कि यह आगे बढ़ेगी और लक्ष्यतक पहुँच जायेगी। जब साधकमें यह चीज सतत रूपसे बनी रहती है तो हम यह समझ जाते हैं कि वह सबसे बुरी कठिनाईको पार कर गया है और अब उसके पैर निरापद मार्गपर जम गये हैं।

*

तुम पूछते हो कि उस भूलको तुम कैसे सुधार सकते हो, जो तुम्हारे अनुसार तुमने की है। तुम्हारे कथनको ठीक मानते हुए भी मुझे लगता है कि इसका सुधार निश्चय से इसी बातमें है कि तुम अपने-आपको भागवत सत्य और भागवत प्रेमका पात्र बना लो। और उस दिशामें पहले कदम हैं अपने भीतरकी ऐसी प्रत्येक वस्तुको जो सिद्धिके मार्गमें बाधक बन सकती है, अस्वीकार करते हुए एक पूर्ण आत्म-निवेदन एवं आत्म-शोधन, भगवान्‌के प्रति अपना पूर्ण उद्घाटन। आध्यात्मिक जीवनमें किसी भूलके लिये सुधारका और कोई प्रतीकार नहीं है, ऐसा कोई प्रतीकार नहीं जो पूर्णतया सफल हो। प्रारम्भमें व्यक्तिको इस आन्तरिक विकास और परिवर्तनसे अधिक किसी दूसरे फल या परिणामोंकी आशा नहीं करनी चाहिये — क्योंकि अन्यथा व्यक्ति घोर निराशाके प्रति अपनेको खोल देता है। मुक्त होनेपर ही व्यक्ति दूसरोंको मुक्त कर सकता

है और योगमें आन्तरिक विजयके द्वारा ही बाह्य विजय प्राप्त होती है।

*

जब तुम सत्ताके उस हिस्सेमें स्थिर शान्ति और समताको नीचे ले आओगे तो गलत क्रियाओंसे मुक्ति पाना अधिक सरल हो जायगा। तब अधिकतर इस प्रकारकी क्रियाओंका अपने-आप परित्याग होता रहेगा और तपस्याकी आवश्यकता कम होती जायगी।

*

यदि तुम्हारा एक हिस्सा अर्थात् आन्तर सत्ता अपनी अचंचलता बनाये रखे—तो बाकी हिस्सेके साथ निबटा जा सकता है। इसलिये प्राणको विचलित न होने देना और विक्षोभ द्वारा अन्तःपुरुषको आच्छादित न होने देना, ये अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु हैं। परित्यागकी क्रियाको सदैव जारी रखो।

*

आवश्यकता है महज एक स्थिर और शान्त परित्यागकी और सच्ची शक्ति को स्थिर और शान्तभावसे नीचे पुकार लानेकी। भावप्रधान सत्तामें उत्तेजित हो जानेकी इस सारी वृत्तिको शान्त कर देना चाहिये, यही चीज प्राणको इन वस्तुओंके प्रति उद्घाटित करवाती है। यदि ऐसा न होता तो प्रकृतिके सब दोषोंका शान्तिपूर्वक अवलोकन किया जा सकता और उन्हें शान्तिपूर्वक सुधारा जा सकता।

*

निश्चय ही, जितनी सहायता देना सम्भव है उतनी सब दी जायगी। जहांतक विधिकी बात है, सर्वदा ये ही दो मार्ग सम्भव हैं—एक है कठिनाईको उसीके क्षेत्रमें जीतना, दूसरा है आन्तरिक उपलब्धिका विकास करते जाना जबतक कि वह इतनी सबल न हो जाय कि जिन जड़ोंकी बात तुम कर रहे हो उन्हें पकड़ रखनेके लिये कोई जमीन ही न मिले और वे सहज-स्वाभाविक चैत्य परिवर्तनके द्वारा आसानीसे बाहर निकाल दिये जायं।

*

मनुष्यके भीतर विकसित होती हुई सच्ची चेतना ही उसे बल प्रदान करती है। इसके बढ़नेके साथ-साथ ये प्राणिक शक्तियां अधिकाधिक मूर्त्त और प्रकृतिके लिये विजातीय होती जाती हैं। वे एकमात्र पुरानी आदतके बलपर ही सिर उठाती हैं।

*

अपनी कमजोरियों और कुप्रवृत्तियोंको पहचानना और उनसे अपने-आपको अलग कर लेना — यही मुक्तिकी ओर ले जानेवाला मार्ग है।

जबतक कोई स्थिर मन और स्थिर प्राणके साथ वस्तुओंको न देख सके तबतक अपने सिवा किसी दूसरेके विषयमें कोई विचार निश्चित नहीं करना चाहिये — यह बहुत अच्छा नियम है। साथ ही, किसी बाह्य रूपको देखते ही उसीके आधारपर तुम अपने मनको कोई धारणा मत बनाने दो और न प्राणको ही उस धारणाके आधारपर कोई कार्य करने दो।

आन्तर सत्तामें एक ऐसा स्थान है जहा सर्वदा शान्त-स्थिर रहा जा सकता है और वहांसे बाह्य चेतनाकी हलचलोंको समताके साथ और विचार-पूर्वक देखा जा सकता है तथा उन्हें परिवर्तित करनेके लिये उनके ऊपर कार्य किया जा सकता है। अगर तुम आन्तर सत्ताकी उस स्थिरतामें निवास करना सीख जाओ तो तुम्हें अपनी साधनाका स्थायी आधार प्राप्त हो जायगा।

*

तुमने जो लिखा है वह निःसन्देह सत्य है और इसे इसी रूपमें देखना आवश्यक है जिससे हम साधनाके लिये जरूरी सच्ची वृत्तिको समझ सकें और उसे पूरी तरह हृदयंगम कर सकें। किन्तु जैसे कि मैंने कहा, मनुष्यको मानव प्रकृतिमें अन्तर्हित निर्बलताओंको देखकर और उन्हें बाहर निकालनेकी कठिनाईका अनुभव करके कभी भी दुःखी और उदास नहीं होना चाहिये। कठिनाई स्वाभाविक वस्तु है, क्योंकि वह व्यक्तिमें हजारों जन्मोंसे चली आ रही है तथा मानवके प्राणिक और मानसिक अज्ञानकी मूल स्वभावरूप हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि कठिनाईमें चिपटे रहनेकी शक्ति हो और उनके दूर होनेमें देर लगे। परन्तु हमारे भीतर एक सच्ची सत्ता और सच्ची चेतना भी है जो प्रकृतिकी उपरितलीय रचनाओंके कारण छिपी हुई है और जो एक बार प्रकट हो जानेपर उन्हें झाड़कर फैंक सकती है। उपरितलीय प्रकृतिकी कष्टप्रद

पुनरावर्तनकी आदतके होते हुए भी अन्तरमें निःस्वार्थ भक्तिकी समुचित वृत्ति धारण करके और उसमें अटल रहकर ही व्यक्ति इस आन्तर सत्ता और चेतनाको बाहर प्रकट होनेका तथा उसके अन्दर कार्य करती हुई माताजीकी शक्तिके साथ पुरानी प्रकृतिकी क्रियाओंकी सब वापसीओंसे सत्ताको मुक्त करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है।

*

शान्ति और आत्म-दानको तबतक बढ़ने दो जबतक यह न्यूनताओंसे पूर्ण भागोंपर भी अधिकार न कर ले और उनसे छुटकारा न पा ले। जहांतक न्यूनताओंका सवाल है, उनसे उद्विग्न न होना ही ठीक है—व्यक्तिको केवल उनके विषयमें सचेतन होना है और स्थिर और शान्त संकल्प धारण करना है कि वे चले जायें।

*

यदि तुम पूर्ण सचेतन स्थितिमें बने रहो तो प्रकृतिको निर्मल करना कठिन नहीं होना चाहिये—उसके बाद ही आधारको पूर्ण यन्त्र रूपमें रूपान्तरित करनेका कार्य हाथमें लिया जा सकता है।

*

निःसन्देह उद्घाटनके बढ़नेके साथ-साथ चेतनाका विकास बढ़ता जाता है और सचेतनताका एक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने अन्दर देखनेमें समर्थ हो जाता है—किन्तु केवल निर्बलताओंको ही नहीं, शक्तियोंकी सम्पूर्ण लीलाको भी। केवल यथार्थ चेतनामें पहुँचकर व्यक्ति दुर्बलताओंको इतने अधिक व्यक्तिगत ढंगसे भी नहीं देखता कि वह हतोत्साह हो जाय। मनुष्यको उन्हें प्रकृतिकी, मानसिक प्रकृतिकी, प्राणिक प्रकृतिकी, भौतिक प्रकृतिकी, सब मनुष्योंकी सर्वसामान्य प्रकृतिकी लीलाके रूपमें देखना है—इस प्रकार देखते हुए तथा माताजीकी शक्तिको और प्रकाशको सच्ची प्रकृतिमें इस दोषपूर्ण क्रीड़ाके रूपान्तरके लिये पुकारकर नीचे लाते हुए स्थिर और अनासक्त रहना है—यदि यह तुरन्त न हो तो अधीर नहीं होना है किन्तु स्थिरतापूर्वक आगे बढ़ते जाना है और परिवर्तनके लिये समय देना है। पूर्ण परिवर्तन वस्तुतः तबतक नहीं हो सकता

जबतक ऊपरसे अधिक महान्, स्थिर और विशाल चेतनाके अवतरणके लिये सब कुछ तैयार नहीं हो जाता और यह केवल तभी सम्भव है जब इसके लिये सामान्य चेतना पूरी तरह तैयार कर ली गई हो।

तीव्र प्रेम और भक्ति तुरन्त नहीं उत्पन्न होते। ये सत्तामें चैत्यकी शक्तिके उत्तरोत्तर विकासके साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। किन्तु इसके लिये अभीप्सा करना उचित है और सच्ची अभीप्सा अवश्य ही पूरी होती है। सर्वदा स्थिरता, प्रसन्नता और विश्वासको बढ़ाते रहनेकी चेष्टा करो, यही अत्यन्त सहायक मनोभाव है। बाहरसे आनेवाले विरोधी सुझावोंकी ओर ध्यान मत दो।

*

यद्यपि अपनी प्रकृतिकी अपूर्णताओंको जाने बिना न तो कोई भागवत शक्तिको ही जान सकता है न अपनी प्रकृतिको ही उसके साथ समस्वर बना सकता है, फिर भी उन अपूर्णताओंपर अथवा उन कठिनाईयोंपर जिन्हें वे उत्पन्न करती हैं, अत्यधिक जोर देना, अथवा कठिनाइयोंका अनुभव होनेके कारण भागवत शक्तिकी क्रियापर अविश्वास करना, या वस्तुओंकी काली अर्थात् दोषपूर्ण दिशापर ही लगातार जोर देते रहना अनुचित है। ऐसा करनेसे कठिनाइयोंकी ताकत बढ़ जाती है और अपूर्णताओंको बने रहनेका और भी अधिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। अवश्य ही मैं 'कुएूँ' के आशावाद (Coueistic Optimism) का अनुसरण करनेके लिये आग्रह नहीं करता —यद्यपि अत्यधिक आशावाद अत्यधिक निराशावादकी अपेक्षा कहीं अधिक सहायक होता है; कुएका आशावाद (Coueism) कठिनाइयोंको ढक देना चाहता है; और इसके अतिरिक्त प्रत्येक चीजकी एक मात्रा भी होती है जिसे ध्यानमें रखना उचित है। परन्तु तुम्हारे विषयमें ऐसा कोई खतरा नहीं है कि तुम इन अपूर्णताओंको ढककर रखोगे और अत्यधिक उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना करके अपने-आपको धोखा दोगे; तुम तो, ठीक इसके विपरीत, बराबर छायाके ऊपर सबसे अधिक जोर देते हो और ऐसा करके उसे घना बना देते हो और ज्योतिमें प्रवेश करनेके अपने मार्गोंको ही बन्द कर देते हो। वास्तवमें आवश्यकता है विश्वासकी, और अधिक विश्वासकी! तुम्हें अपनी सम्भावनाओं-पर विश्वास होना चाहिये, परदेके पीछेसे जो दिव्य शक्ति कार्य कर रही है उसपर विश्वास होना चाहिये, जो कार्य करना है उसपर विश्वास होना चाहिये तथा जो पथप्रदर्शन किया जा रहा है उसपर विश्वास होना चाहिये।

ऐसा कोई भी उच्च कोटिका प्रयास नहीं हो सकता—और आध्यात्मिक

क्षेत्रमें तो इसकी सबसे कम सम्भावना है — जिसमें अत्यन्त दृढ़ वनी रहनेवाली घोर बाधाएं न उठती हों। ये बाधाएं बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी होती हैं, और, यद्यपि साधारण तौरपर ये अपने मूल रूपमें सब साधकोंके लिये एक जैसी ही होती हैं, फिर भी विभिन्न व्यक्तियोंपर जो उनका प्रभाव पड़ता है अथवा जो बाहरी रूप वे ग्रहण करती हैं उसमें बहुत अधिक अन्तर हो सकता है। परन्तु वास्तवमें जो एकमात्र कठिन बात है वह है भागवत ज्योति और शक्तिकी क्रियाके साथ अपनी प्रकृतिको समस्वर बनाना। बस, इन प्रश्नको हल कर लो, फिर दूसरी सारी कठिनाइयां या तो दूर हो जायंगी अथवा गौण स्थान ग्रहण कर लेंगी; और यहांतक कि जो कठिनाइयां और भी अधिक साधारण ढंगकी हैं, अधिक स्थायी हैं क्योंकि वे रूपान्तरके कार्यमें अन्तर्निहित हैं, वे भी उतनी अधिक भारी नहीं मालूम होंगी; क्योंकि उस समय तुम यह अनुभव करोगे कि दिव्य शक्ति तुम्हें धारण किये हुए है और उनकी गतिका अनुसरण करनेका सामर्थ्य भी तुममें बढ़ गया है।

*

हां, यह ठीक है। कठिनाइयोंकी कठिनाई अर्थात् अज्ञानकी ग्रन्थि, हमारी अपनी बनाई हुई है। जब कोई आन्तरिक प्रत्यक्ष बोध ग्रन्थिको ढीला करता है, तो बुरी-से-बुरी कठिनाई भी समाप्त हो जाती है।

*

यह आवश्यक है कि तुम अपने अन्दरकी अशुद्ध वृत्तियोंको देखो और जानो; क्योंकि वे ही तुम्हारे दुःखके मूल हैं और अगर तुम्हें उनसे छुटकारा पाना हो तो तुम्हें उनका लगातार त्याग करना ही होगा।

परन्तु तुम सर्वदा अपने दोषों और अशुद्ध वृत्तियोंका ही चिन्तन मत किया करो। तुम उस बातपर अपना ध्यान अधिक एकाग्र करो जो तुम्हें होना है, जो तुम्हारा आदर्श है और यह विश्वास बनाये रखो कि जब यही तुम्हारा लक्ष्य है तब इसे पूरा होना ही होगा और यह अवश्य पूरा होगा।

सदा दोषों और अशुद्ध वृत्तियोंको देखते रहनेसे चित्त उदास होता है और श्रद्धा दुर्बल होती है। अपनी दृष्टिको किसी वर्तमान अन्धकारकी अपेक्षा आने-वाले प्रकाशकी ओर अधिक लगाओ। श्रद्धा, प्रसन्नता और अन्तिम विजयमें विश्वास — ये सब चीजें ही सहायता करती हैं, ये प्रगतिको अधिक सहज और

तीव्र बना देती हैं।

जो अच्छी अनुभूतियां तुम्हें प्राप्त होती हैं उनका अधिक-से-अधिक लाभ उठाओ; वैसी एक भी अनुभूति इन पतनों और विफलताओंसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। पर जब ऐसी अनुभूति बन्द हो जाय तो उसके लिये अनुताप मत करो या उसके कारण निरुत्साहित मत होओ; बल्कि भीतरमें शान्त बने रहो और यह अभीप्सा करो कि वह फिरसे एक अधिक स्थायी रूप ग्रहण करके आये तथा और भी अधिक गभीर और पूर्ण अनुभूतिकी ओर ले जाय।

सर्वदा अभीप्सा करो, पर करो अधिकाधिक अचंचल रहते हुए तथा भगवान्‌की ओर अपने-आपको सरल और सम्पूर्ण रूपमें उद्‌घाटित करते हुए।

*

दोषोंका पता लगाकर उनका परित्याग करना चाहिये, पर एकाग्रता भावात्मक होनी चाहिये — उस वस्तुपर जो तुम्हें बनना है, अर्थात् नई चेतनाके विकासपर, न कि इस निषेधात्मक पक्षपर।

*

तुम्हें गलत क्रियाओंके सम्बन्धमें सचेतन होना है किन्तु मनको केवल उन्हींमें नहीं लगाये रखना।

*

यह (मनसे प्राणमें जा गिरना) इसलिये हुआ कि तुम्हारा मन प्रकृतिकी कठिनाइयोंमें बहुत ही अधिक डूबा हुआ था। अपने अन्दरकी चीजोंके अच्छे पक्षकी ओर ध्यान केन्द्रित करना हमेशा ही अधिक अच्छा होता है। मेरा आशय आहंकारिक ढंगसे नहीं किन्तु श्रद्धा और प्रफुल्लतापूर्ण विश्वासके साथ, उस भावात्मक अनुभवको जिसे प्राप्त करनेके लिये प्रकृति समर्थ हो ही चुकी है, नीचे उतार लाना ताकि एक सतत भावात्मक विकास परित्याग करने योग्य सभी वस्तुओंके परित्यागमें सहायता दे सके। किन्तु सच यह है कि व्यक्ति प्रारंभिक स्थितिमें प्राणिक कठिनाइयोंमें प्रायः ही जा पड़ता है और तब मनसे (हृदयमेंसे होते हुए) चैत्यमें जानेके स्थानपर उसे विक्षुब्ध प्राणमेंसे होकर जाना पड़ता है।

*

यह (प्राणसे चैत्यमें जानेके अपने कदमोंको सुधारना) तभी किया जा सकता है यदि तुम अपनी कठिनाइयोंके चिन्तनमें व्यस्त रहनेसे इनकार कर दो और सच्चे रूपसे सहायक और भावात्मक वस्तुओंपर एकाग्र हो जाओ। प्रसन्न और आश्वस्त रहो। शंका और कामना आदिकी टोलीका निःसन्देह अस्तित्व है पर तुम्हारे अन्दर भगवान् भी विद्यमान हैं। अपनी आंखोंको खोलो और तबतक देखते रहो जबतक कि आवरणका भेदन न हो जाय और तुम भगवान् या भगवतीको साक्षात् न देख लो।

*

कठिनाइयों और परेशानियोंसे छूटनेका तरीका यह कभी नहीं हो सकता कि मन उन्हींकी चिन्तामें लगा रहे और इस प्रकार उनसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करे। मनकी यह आदत उनका हल करनेके बजाय केवल उनके पुनः पुनः आवर्तनका कारण बनती है और चिंताव्यग्रता द्वारा उस दृढ़ उलझनको बनाये रखती है। परेशानियोंका हल अवश्यमेव उनसे ऊपर और बाहरकी किसी वस्तुसे ही होना चाहिये। वास्तविक विचारशील बुद्धिकी तो नहीं पर स्थूल मनकी कठिनाई यह है कि वह अपनेसे बाहरकी इस विस्तीर्णपर चेतनाको नहीं जानता और इसलिये वह इसमें विश्वास नहीं करना चाहता। वह सन्दूक की भांति अपने-आपमें बन्द रहता है, उस प्रकाशको प्रवेश नहीं करने देता जो उस (मन) के चारों ओर सर्वत्र विद्यमान है और प्रवेशके लिये दबाव डाल रहा है। चेतनाकी क्रियाका यह एक सूक्ष्म नियम है कि यदि कठिनाइयोंपर बल तथा ध्यान दिया जाय तो वे और अधिक चिमटती चली जाती हैं या बढ़ जाती हैं। निस्सन्देह, तुम्हें उनका निरीक्षण करना है, किन्तु उनपर बल नहीं देना है, यह तो वे अपने लिये स्वयं सर्वथा पर्याप्त मात्रामें कर लेंगी। इसके विपरीत यदि तुम अपना सारा बल श्रद्धा और अभीप्सापर लगाओ और जिस चीजकी तुम अभीप्सा करो उसपर दृढ़तापूर्वक अपनी सारी शक्ति लगा दो तो, तुम्हें देर-सवेर सिद्धि प्राप्त हो जायगी। बल लगानेमें यह परिवर्तन, अर्थात् मनकी अवस्था और वृत्तिमें परिवर्तन ही अधिक सहायक उपाय होगा।

जहांतक विशेष-विशेष चेष्टाओंका प्रश्न है, मनका जो यह तरीका है कि वह उन चेष्टाओंपर शक्ति केंद्रित कर उन्हें ठीक करनेका यत्न करता है वह मन्द तथा मन्थर है। ऐसा करनेकी आवश्यकता तो होती है किन्तु मुख्य नहीं बल्कि गौण विधिके रूपमें। अगर यह तरीका सफल होता भी है तो इसलिये कि कुछ समयके संघर्ष और दबावके बाद किसी वस्तुके उन्मुक्त होनेसे उद्घाटन साधित

हो जाता है और जिस विस्तीर्णतर चेतनाकी मैं बात करता हूँ वह भीतर प्रवेश कर कोई न कोई सामान्य परिणाम उत्पन्न करती है। परन्तु यदि कोई उद्घाटन को मुख्य वस्तु मानकर विशिष्ट चेष्टाओंसे बरतावको परिणाम-स्वरूप प्राप्य तथा गौण वस्तुके तौरपर स्थगित रख सके तो प्रगति बहुत अधिक तेज होती है। ऐसा उद्घाटन हो जानेपर एक प्रकारकी तात्त्विक (अतएव सामान्य) उन्नति की जा सकती है और, जैसा तुम स्वयं कहते हो, वह "अपने आपको एक-एक चेष्टामें प्रकट तथा चरितार्थ कर सकती है।" मन विशेष चेष्टाओंको सुधारकर उनके द्वारा कोई-न-कोई सामान्य परिणाम पैदा करनेका यत्न सदा ही करता रहता है। परन्तु मनसे परे जो कुछ है वह और मनकी उच्चतर भूमिकाओंकी सर्वश्रेष्ठ शक्तियां भी एक मौलिक परिवर्तन सम्पादित करनेमें प्रवृत्त होती हैं और उसे आवश्यक ब्योरेकी बातोंमें अभिव्यक्त एवं चरितार्थ कराती या उसे स्वयं ऐसा करने देती है।

तथापि मैं यह भी कह दूँ कि चाहे वह मौलिक परिवर्तन अपने-आपको ब्योरेकी बातोंमें प्रकट न भी करे तो भी व्यक्ति उसे अनुभव कर सकता है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति विशाल नीरव शान्ति या स्वतन्त्रता और हर्षकी अवस्थाका अनुभव कर उसीमें शान्त तथा निश्चित रहे और उसे अपनी प्राप्त उन्नति का अनुभव करनेके लिये उस अवस्थाको नानाविध ब्योरेकी बातोंमें चरितार्थ करनेकी आवश्यकता ही न हो।

यह कोई सैद्धान्तिक बात नहीं वरन् एक शाश्वत अनुभव है कि हमारे ऊपर अर्थात् स्थूल शारीरिक चेतनाके ऊपर शान्ति, प्रकाश, हर्ष, शक्तिका जैसे कोई महान् आश्रयदायी वितान है। हम इससे सज्ञान होकर इसे भौतिक चेतनामें उतार ला सकते हैं। प्रारम्भमें इसका अनुभव थोड़े समयके लिये होता है और बादमें बार-बार तथा अधिक समयके लिये। अन्तमें यह नित्य-निरन्तर स्थायी रहकर हमारी दैनिक चेतनाके सम्पूर्ण आधारको परिवर्तित कर सकता है। यह अनुभव जब प्राप्त होता है तो अत्यन्त स्पष्ट होता है। इस ऊर्ध्वस्थित वितानसे सज्ञान होनेके पूर्व भी हम एकाएक ऐसा अनुभव कर सकते हैं कि यह नीचे उतरकर हमारे भीतर प्रवेश कर रहा है। आवश्यक यह है कि हम इसकी अभीप्सा करें, मनको अचंचल बनावें ताकि वह चीज जिसे हम उद्घाटित कहते हैं, सम्पन्न हो सके। अचंचलीकृत मन (वह गतिशून्य या निश्चल-नीरव ही हो यह आवश्यक नहीं, पर यदि व्यक्ति उसे स्वेच्छानुसार प्राप्त कर सके तो अच्छा ही है) और हृदयगत दृढ़ अभीप्सा योगकी दो मुख्य कुंजियां हैं। मनकी क्रियाशीलता अपेक्षाकृत अधिक धीमी प्रक्रिया है और अकेले इसके बलपर ऐसे निश्चित परिणाम पैदा नहीं होते। इनमें वैसा ही भेद

है जैसा सीधी सड़कमें और गोल, चक्करदार या टेढ़े-मेढ़े मार्गोंमें।

*

अभावात्मक साधन हानिकारक नहीं है, वे जीवनसे पराङ्मुख होनेके अपने लक्ष्यके लिये उपयोगी हैं। लेकिन भावात्मक दृष्टिबिन्दुसे वे हानिकारक हैं, क्योंकि वे जीवनको रूपान्तरित करनेके लिये सत्ताके बलोंको दिव्य बनानेके स्थानपर उनसे पिण्ड छुड़ा लेते हैं।

*

अभावात्मकसे मेरा मतलब इच्छाओं, भ्रान्त गतियों और अहंकारको दबानेमात्र से है; भावात्मकसे मेरा मतलब उन अंगोंमें प्रकाश, शान्ति और पवित्रताको ऊपरसे उतार लानेसे है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि इन गतियोंका कोई प्रत्याख्यान न करे, वरन् यह कि इनके प्रत्याख्यानमें ही कोई अपनी सारी शक्ति खर्च न कर दे। इनके स्थानपर उच्चतर चेतनाकी भावात्मक प्रतिष्ठा करनेमें भी शक्ति लगानी आवश्यक है। जितनी ज्यादा यह चेतना आयगी उतना ही प्रत्याख्यानका काम आसान होता जायगा।

*

यह वक्तव्य* सर्वसामान्य है और सभी सर्व सामान्य वक्तव्योंकी तरह इसमें परिस्थितियोंके अनुसार हेर-फेर किया जा सकता है। मेरा आशय उस बातको अनुत्साहित करना था जिसे कुछ लोग किया करते हैं और वह है हमेशा केवल अपनी कठिनाइयों और त्रुटियोंके सम्बन्धमें सोचते रहना, क्योंकि यह बात पिंजरेमें पड़ी गिलहरीकी तरह उन्हें हमेशा कठिनाइयोंके उसी एक चक्करमें ही घुमाती रहती है जब कि बादलोंमेंसे जरासा भी प्रकाश नहीं फूट पाता। यदि यह इस प्रकार लिखा जाता "बहुत अधिक सोचते रहना" या "केवल सोचते ही रहना" तो यह वाक्य अधिक सही या सर्वसामान्य रूपसे लागू हो सकने लायक होता। स्वभावतः ही, परित्यागके बिना कोई भी वस्तु सम्पन्न

*मनुष्यको निरन्तर निम्नतर प्रकृति या उसके अवरोधोंपर ही सोचते नहीं रहना चाहिये।

नहीं हो सकती। और कठिन कालों या क्षणोंमें कठिनाइयोंपर ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य होता है। और साथ ही प्रारंभिक अवस्थाओंमें प्रायः व्यक्तिको बहुत बड़ी मात्रामें सफाईका कार्य करना होता है जिससे कि वह कम-से-कम रास्तेका अनुसरण तो कर सके।

*

यदि व्यक्तिमें त्रुटि हो तो उसे उस त्रुटिको देखना चाहिये, करने लायक बात यह है कि आन्तर सत्तामें निवास करते हुए और वहांसे त्रुटिको देखते हुए उसे बदलना चाहिये।

*

व्यक्तिको कठिनाइयोंसे प्रभावित या विक्षुब्ध नहीं होना चाहिये। उनसे अपनेको पृथक् अनुभव करना मुक्तिकी ओर पहला कदम है।

*

जिन कठिनाइयों और कुप्रवृत्तियोंका तुमपर आक्रमण होता है, उनके साथ वर्ताव करनेमें सम्भवतः तुम यह भूल करते हो कि तुम उनके साथ बहुत अधिक तादात्म्य स्थापित कर लेते हो और उन्हें अपनी प्रकृतिका अंग समझने लगते हो। तुम्हें तो बल्कि उनसे अलग हो जाना चाहिये, अपने-आपको उनसे निर्लिप्त और वियुक्त कर लेना चाहिये, यह समझना चाहिये कि वे अपूर्ण और अशुद्ध विश्वव्यापी निम्न प्रकृतिकी क्रियाएं हैं, वे ऐसी शक्तियां हैं जो तुम्हारे अन्दर प्रवेश करती और अपनी अभिव्यक्तिके लिये तुम्हें अपना यन्त्र बनानेकी चेष्टा करती हैं। इस प्रकार अपने-आपको इनसे निर्लिप्त और वियुक्त कर लेनेपर तुम्हारे लिये यह अधिक सम्भव हो जायगा कि तुम अपने एक ऐसे भागका —अपनी आन्तर या अपनी चैत्य सत्ताका— पता पा लो और उसीमें अधिकाधिक निवास करने लगो जो इन सब बाह्य वृत्तियोंसे आक्रान्त या पीड़ित नहीं होता, इन सबको अपनेसे विजातीय समझता है और स्वभावतः ही इन्हें अनुमति देनेंसे इनकार करता है और अपने-आपको निरन्तर भागवत शक्तियों तथा चेतनाके उच्चतर स्तरोंकी ओर मुड़ा हुआ या उनसे सम्बन्धित अनुभव करता है। अपनी सत्ताके उस भागको ढूँढ़ निकालो और उसीमें निवास

करो; ऐसा करनेमें समर्थ होना ही योगसाधनाकी सच्ची नींव है।

अगर तुम इस प्रकार अलग हट जाओ तो ऊपरी सतहके संघर्षके पीछे, अपने अन्दर ही एक ऐसी प्रशान्त स्थिति प्राप्त करना भी तुम्हारे लिये अधिक आसान हो जायगा जहांसे तुम अपनी मुक्तिके लिये कहीं अधिक सफलताके साथ भागवत साहाय्यका आवाहन कर सकोगे। भागवत उपस्थिति, स्थिरता, शान्ति, शुद्धि, शक्ति, ज्योति, प्रसन्नता और प्रसारता तुम्हारे ऊपर विद्यमान हैं और तुम्हारे अन्दर अवतरित होनेके लिये प्रतीक्षा कर रहीं हैं। इस पीछेकी प्रशान्त स्थितिको प्राप्त करो और फिर तुम्हारा मन भी पहलेसे अधिक प्रशान्त हो जायगा और प्रशान्त मनके द्वारा तुम सबसे पहले शुद्धि और शान्तिका और फिर उसके बाद भागवत शक्तिका आवाहन कर सकोगे। अगर तुम इस शान्ति और शुद्धिको अपने अन्दर अवतरित होते हुए अनुभव कर सको तो फिर तुम उनका तबतक बार-बार आवाहन कर सकते हो जबतक वे तुम्हारे अन्दर प्रतिष्ठित होना आरम्भ न कर दें, उस समय तुम यह भी अनुभव करोगे कि इन वृत्तियोंको परिवर्तित करने तथा तुम्हारी चेतनाको रूपान्तरित करनेके लिये भागवत शक्ति तुम्हारे अन्दर क्रिया कर रही है। उसकी इस क्रियाके अन्दर तुम श्रीमांकी उपस्थिति और शक्तिके विषयमें भी सचेतन हो जाओगे। जब एक बार यह हो जाता है तो बाकी सब चीजें समयपर तथा तुम्हारे अन्दर होनेवाले तुम्हारी यथार्थ और दिव्य प्रकृतिके क्रमविकासपर निर्भर करती हैं।

*

वह अपना प्रयत्न जारी रखे और यदि कुछ परिणाम निकले तो उससे हमें सूचित करे। जो कठिनाइयां उसके अन्दर पैदा हुई हैं वे सर्वथा सामान्य हैं और जो प्रयत्न वह कर रहा है उसकी वे स्वाभाविक प्रतिक्रिया हैं। ये प्रतिरोध साधारणतया उठा ही करते हैं, क्योंकि इन्हें अपने-आपको प्रकट करना होता है जिससे इनका प्रतिकार तथा उन्मूलन किया जा सके। यदि वह लगा रहे तो जल्दी या देर में इनका उन्मूलन हो ही जायगा। परन्तु सर्वोत्तम उपाय है — इन प्रतिरोधोंके साथ संघर्ष न करना बल्कि इनसे पीछे हटकर स्थित होना, साक्षीकी भांति देखना, इन चेष्टाओंका परित्याग करना और इनके निवारणके लिये भागवत शक्तिका आवाहन करना। प्रकृतिका समर्पण सरल कार्य नहीं है और इसमें लम्बा समय लग सकता है; 'स्व' का समर्पण यदि हम इसे कर सकें, अधिक सुगम, है और एक बार यदि यह सम्पन्न हो जाय, प्रकृतिका समर्पण अवेर-सवेर साधित हो जायगा। इसके लिये अपने-आपको प्रकृतिके

कार्यसे वियोजित कर लेना और अपने-आपको उससे पृथक् अनुभव करना आवश्यक है। इस आवश्यक अनासक्ति तथा पार्थक्य को साधित करनेके लिये सर्वोत्तम उपाय है — निरुत्साहित या क्षुब्ध हुए बिना, साक्षीकी भांति प्रकृतिकी चेष्टाओंका निरीक्षण करना। उसे दी जानेवाली किसी भी सहायताके प्रति उसकी ग्रहणशीलता बढ़ाने तथा उसके अन्दर निर्भरताका भाव उत्पन्न करनेमें भी यह उपाय सहायक होगा।

*

स्वभाव-परिवर्तनके लिये पहला पग होगा सचेतन होना और अपने पुराने तथा ऊपरी स्वभावसे अपना सम्बन्ध हटा लेना क्योंकि यह राजसिक प्राणिक स्वभाव प्रकृतिकी तलीय रचना है, यह हमारा वास्तविक व्यक्तित्व नहीं है। यह चाहे कितना भी स्थायी क्यों न प्रतीत हो रहा हो यह है एकदम प्राणिक गतियोंका क्षणिक संघटन। इसके पीछे ही हमारा वास्तविक मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व है और इसका आधार है हमारा चैत्य पुरुष। हमारा वास्तविक पुरुष शान्त, उदार तथा नीरव है। बाह्य प्रकृतिसे हटकर और पृथक् होकर ही इस अन्तःपुरुषकी शान्ति में निवास करना सम्भव होता है, तब बाह्य प्रकृतिके साथ तदात्मता नहीं रहती। आगे चलकर, चैत्यकी अनुभव-शक्ति तथा ऊर्ध्व स्तरकी शान्ति, शक्ति और ज्योति द्वारा बाह्य सत्ताको बदलना अधिक आसान हो जायगा।

*

ये चीजें इसलिये उभरती हैं कि या तो वे प्रकृतिकी आदतके रूपमें सत्ताके सचेतन भागमें विद्यमान होती हैं या वहां छिपी रहती हैं और किसी भी क्षण उभर सकती हैं अथवा वे उस बाहरकी सार्वजनीन या वैश्व प्रकृतिसे आनेवाले सुझाव होते हैं जिन्हें व्यक्तिगत सत्ता प्रत्युत्तर देती है। जो भी हो, वे चीजें इसलिये उभरती हैं कि उनका सामना करके उन्हें बाहर निकाला जा सके और, अन्तमें उनका परित्याग किया जा सके जिससे वे प्रकृतिको और अधिक कष्ट न दे सकें। उनसे हमें जो कष्ट पहुँचता है उसकी मात्रा उस ढंगपर निर्भर करती है जिस ढंगसे उनका सामना किया जाता है। पहला नियम है अपने-आपको उनसे अलग कर लेना उनके साथ एक न हो जाना, उन्हें और अधिक प्रकृतिका एक अंग न मानना किन्तु ऐसी आरोपित वस्तुओंके रूपमें देखना

जिनके लिये व्यक्ति यह कहे कि "यह सब मैं या मेरा नहीं है—यह एक ऐसी चीज है जिसे मैं सर्वथा अस्वीकार करता हूँ"। मनुष्यको अपने भीतर सत्ताके एक ऐसे भागका अनुभव होने लगता है जो इसके साथ तादात्म्य नहीं करता, जो दृढ़ रहकर कहता है "उपरितलपर यह भले ही गड़बड़ पैदा कर ले, किन्तु यह मुझे छू बिलकुल नहीं सकती"। यदि भीतरकी इस पृथक् सत्ताका अनुभव किया जा सके, तो आधी कठिनाई हल हो जाती है—बशर्ते कि व्यक्तिमें केवल पृथक् होनेकी ही नहीं किन्तु उपरितलीय प्रकृतिकी अपूर्णताओंसे मुक्त होनेका भी संकल्प विद्यमान हो।

*

तुम्हें सदैव आत्माके विषयमें सचेतन रहना होगा और अन्धकारमयी प्रकृतिको आत्माके रूपमें नहीं किन्तु एक ऐसे उपकरणके रूपमें अनुभव करना होगा जिसे आत्माके साथ समस्वर बनाना है।

*

सभी व्यक्तियोंमें अहंकार, कामनाएं, प्रकृतिके दोष बहुत कुछ एक जैसे ही होते हैं। लेकिन एक बार जब व्यक्ति उनके विषयमें सचेतन होने लगता है और उसमें मुक्त होनेका संकल्प उत्पन्न हो जाता है, तब व्यक्तिको केवल उस संकल्पको बनाये रखना होता है और फिर कोई वास्तविक खतरा नहीं रहता। क्योंकि ज़ब व्यक्ति तुम्हारी तरह सचेतन होने लगता है और भीतरकी कोई वस्तु छिपकर सब वस्तुओंको ऊपर उभारती है, तो इसका अर्थ है कि तुम्हारी प्रकृतिपर माताजीकी कृपा छाई हुई है और उनकी शक्ति कार्य कर रही है एवं तुम्हारी आन्तरिक सत्ता इन सब वस्तुओंसे छुटकारा पानेके लिये मातृ-शक्तिकी सहायता कर रही है। इसलिये तुम्हें दुःखी या हतोत्साह नहीं होना होगा, न किसी वस्तुसे डरना ही होगा किन्तु उन सभी वस्तुओंको स्थिर दृष्टिसे देखना होगा जो तुम्हारी प्रकृतिसे बाहर हैं एवं इस संकल्पको धारण करना होगा कि इन सब चीजोंको पूरी तरह और सदाके लिये हट जाना चाहिये। माताजीकी शक्ति यदि कार्य करती रहे और चैत्य सत्ता उस शक्तिको सहारा देती रहे तो सब कुछ किया जा सकता है और निश्चयसे पूरा हो भी जायगा। यह विशुद्धीकरण केवल इसलिये किया जाता है कि जिससे भविष्यमें ऐसी कोई गड़बड़ी पैदा न हो जैसी कि किन्हीं लोगोंके साथ हुई है, कारण उनमें विशुद्धिका

कार्य सम्पन्न नहीं हुआ था और इसलिये भी कि उच्चतर चेतना विशुद्ध की गई प्रकृतिमें आ सके और आन्तरिक रूपान्तर निरापद रूपसे हो सके। अतएव माताजीके ऊपर भरोसा रखते हुए श्रद्धा और उत्साहके साथ आगे बढ़ते जाओ।

*

तुमने यहां जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक है। बात ऐसी ही है, इन शक्तियोंसे पीछे हटकर, इनसे न तो आकर्षित और न विक्षुब्ध होकर, मनुष्य इनसे मुक्ति पाता है, इनकी असत्यता या अपूर्णताको देखता है और इनसे ऊपर उठने और इन्हें जीतनेमें समर्थ होता है। जो चेतना आगे आ रही है वह या तो चैत्य पुरुषकी है या अध्यात्मभावापन्न मनकी—सम्भवतः चैत्य पुरुषकी ही है।

*

माताजीने जिस चीजकी चर्चा की थी वह आत्म-विश्लेषण या अपनी छानबीन और चीरफाड़ी नहीं थी। ये मानसिक विधियां हैं जो जड़ पदार्थोंपर बरती जा सकती हैं या चेतनको निर्जीव कर सकती हैं, ये आध्यात्मिक विधियां नहीं हैं। माताजीने यह नहीं कहा था कि तुम आत्मविश्लेषण करो बल्कि अपना और अपनी सत्ता तथा प्रकृतिकी सभी सजीव चेष्टाओंका अवलोकन करो, अपनी सत्ताके रंगमंचपर अभिनय करनेवाले व्यक्तित्वों और शक्तियों तथा उनके प्रेरकभावों, उनके आवेगों, उनके सामर्थ्योंका स्पष्ट निरीक्षण करो, —ऐसा निरीक्षण जो नाटक या उपन्यासको देखने और समझनेके समान ही मनोरंजक होता है, इस बातका विशद दर्शन और अवलोकन करो कि हमारे अन्दर ये सब चेष्टाएं कैसे होती हैं। इससे तुम्हें अन्तर्जगत्पर सचेतन प्रभुत्व प्राप्त होगा। ऐसी चीजें शुष्क तभी बनती हैं जब कोई विश्लेषणात्मक तथा तार्किक मनसे उनपर विचार करता है, न कि तब जब वह जीवनकी एक हलचलके रूपमें उनका इस प्रकार अवलोकन और अनुभव करके उनका उपाय करता है। यदि तुममें (बाह्य बौद्धिक एवं नैतिक नहीं वरन् आन्तर आध्यात्मिक दृष्टि-बिन्दुसे) निरीक्षण करनेकी शक्ति हो तो अपनी कठिनाइयोंमेंसे निकलना तुम्हारे लिये अपेक्षाकृत सुगम हो जायगा। उदाहरणतः, तुम्हें तुरन्त पता लग जायगा कि पलायनका यह अयुक्तियुक्त आवेग कहांसे आया है और तब यह तुमपर किसी प्रकारका अधिकार नहीं कर पायगा। निस्सन्देह, यह सब अत्यन्त प्रभाव-

शाली रूपमें तभी किया जा सकता है जब तुम अपनी प्रकृतिकी क्रीड़ाके पीछे, उससे अलग स्थित होकर साक्षी-नियंता या नट-दर्शक-प्रबन्धक बन जाओ। परन्तु यह तभी होगा जब तुम इस प्रकार आत्म-अवलोकन कर सको।

यह भय कि यह नीरस या कष्टप्रद होगा बेसमझ बुद्धिका विचार है।

*

तुम आन्तर आत्म-दर्शनके अपने बौद्धिक-नैतिक रूपसे ही चिपटे हुए हो? यह कैसा शुष्क तथा पुलिसमैन — अपराधी भावसे युक्त है! राम राम! यदि ऐसा हो, तो यह आत्म-दर्शन ही नहीं रहेगा — क्योंकि सच्चे आत्म-दर्शनमें तो पुलिसमैनीपना तथा अपराधगिरी बिलकुल नहीं होती। यह सब तो उस बौद्धिक-नैतिक पात-पुण्यरूप छलसे सम्बद्ध है जो बाह्य जीवनके लिये क्रियात्मक रूपमें मूल्यवान् मानसिक रचनामात्र है पर जो वास्तविक आभ्यन्तर मूल्योंका सत्य नहीं है। सच्चे आत्म-दर्शनमें हम केवल सामंजस्यों कौर असामंजस्योंको देखते हैं और अशुद्ध स्वरोंको ठीक करते तथा उनके स्थानपर सच्चे स्वर प्रस्थापित करते हैं। परन्तु यह मैं इसके सत्य स्वरूपके वर्णनके लिये कह रहा हूँ, तुम्हें आत्म-दर्शनका प्रयत्न आरम्भ करनेकी प्रेरणा देनेके लिये नहीं; क्योंकि यदि तुमने अपने ये विचार रखते हुए इसके लिये यत्न आरम्भ किया तो तुम अवश्य ही इसे अपने पुलिसमैनी आधारसे आरम्भ करोगे और कष्टमें पड़ जाओगे। इसके अतिरिक्त, स्पष्टतः तुम योगमें पियानो बजानेवाले नहीं बल्कि पियानो बनना अधिक पसन्द करते हो, जो सर्वथा ठीक है पर इसके लिये चाहिये पूर्ण आत्म-दान तथा परम गायक एवं स्वर-साधकका सहयोग। तथास्तु।

प्रत्येक मनुष्य इन विरोधोंसे भरा हुआ है, क्योंकि वह निःसन्देह एक व्यक्ति होता हुआ भी विभिन्न व्यक्तित्वोंसे गठित है। व्यक्तित्वोंके बहुत्वका अनुभव अब मनोवैज्ञानिकोंका सुपरिचित तथ्य बन रहा है, जो वैसे अत्यधिक एक दूसरेसे मतभेद रखते हैं। जबतक मनुष्य एक ही सर्वोपरि उद्देश्य द्वारा, जैसे भगवान्की खोज तथा उसके प्रति आत्मोत्सर्ग द्वारा, एकरसताको अपना लक्ष्य नहीं बनाता तबतक ये व्यक्तित्व किसी तरह इकट्ठा निर्वाह करते हैं; बारी-बारीसे कार्य करते हैं या लड़ते हैं या ज्यों-त्यों काम निकालते हैं अथवा कभी एक अग्रणी बनकर कार्य करता है और दूसरोंको गौण रूपमें कार्य करनेके लिये बाधित करता है — पर एक बार जब तुम इन्हें एक ही लक्ष्यमें संगठित करनेका यत्न करने लगते हो तब उपद्रव प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेता है।

*

VII

तुम्हें बाहरी चीजोंपर इतना आश्रित नहीं होना चाहिये, तुम्हारी यही मनोवृत्ति परिस्थितियोंको इतना महत्त्व देनेके लिये तुम्हें बाध्य करती है। मैं यह नहीं कहता कि परिस्थितियां सहायक या बाधक नहीं हो सकतीं— परन्तु वे परिस्थितियां ही हैं, वह मूल वस्तु नहीं जो हमारे भीतर है; और उन परिस्थितियोंकी सहायता या बाधाको हमें अत्यधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। मानवके प्रत्येक महान् और गम्भीर प्रयासकी तरह योगमें भी विरोधी हस्तक्षेपोंका तथा प्रतिकूल स्थितियोंका बाहुल्य सदा ही होगा जिनपर हमें विजय प्राप्त करनी है। उन्हें बहुत अधिक महत्त्व देनेका मतलब है उनके महत्त्वको बढ़ाना। इस तरह उनकी शक्ति कई गुना बढ़ जाती है, मानों उन्हें एक तरहका आत्मविश्वास हो जाता है और उन्हें बार-बार आगे आनेकी आदत पड़ जाती है। यदि कोई विश्वस्त एवं सुदृढ़ संकल्प और आनन्दके साथ उनका निरन्तर सामना करनेमें अक्षम होनेपर भी उनके विरोधमें शान्त भावसे डटा रहे तो उल्टे उनका प्रभाव और महत्त्व घट जाता है और शीघ्र नहीं तो, अन्तमें वह व्यक्ति उनके चंगुल और आघातोंसे मुक्त हो जाता है। अतएव योगका यह मूल सिद्धान्त है कि अपने अन्तःस्थ सत्यकी—जो हमारा अधिक गहरा सत्य है—निर्धारक शक्तिसे अभिज्ञ होकर उसे ठीक स्थितिमें लाया जाय और बाहरी परिस्थितियोंके बलके विरुद्ध आन्तरिक शक्तिकी प्रतिष्ठाकी जाय। शक्ति तो वहां है ही—जो सबसे शक्तिहीन हैं उनमें भी; व्यक्तिको केवल उसका पता लगाना है, उसे निरावृत करना है तथा यात्रा और संघर्षमें बराबर उसे सबसे आगे रखना है।

*

प्रतिरक्षा संगठनका मतलब है इस बातको स्वीकार कर लेना कि गृहयुद्ध हो रहा है*। साधकके दृष्टि-बिन्दुसे व्यक्तिको गृहयुद्धकी सम्भावना स्वीकार नहीं करनी चाहिये। साधकको सदैव यह याद रखना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु आन्तरिक वृत्तिपर निर्भर करती है; यदि उसे भागवत कृपामें सम्पूर्ण श्रद्धा हो तो वह इस बातको अनुभव करेगा कि भगवान्की कृपा प्रत्येक कदमपर उसके द्वारा सही चीज ही करवायेगी। उदाहरणके लिये यदि घरमें रहना

*भारतके विभाजनसे पहले बंगालमें हुए उपद्रवोंके समय लिखा गया पत्र।

खतरनाक हो तो वह उसे घरसे बाहर जानेको प्रेरित करेगी, और यदि उसके बाहर रहनेमें खतरा हो तो वह घरमें रहेगा। कृपा उसे ठीक वही कुछ करनेके लिये तत्काल प्रेरित करेगी जो चीज़ उसे संकटसे उबारती है। किन्तु ऐसा होनेके लिये तुम्हारे अन्दर एक गहरी श्रद्धा होनी चाहिये जो तुम्हारी सम्पूर्ण सत्तामें ओतप्रोत हो और जिसका विरोध तुम्हारे भीतरकी कोई भी क्रिया न करती हो। और स्वभावतः ही यह कठिन है। साथ ही तुम्हारे अपने अन्दर तो श्रद्धा हो सकती है किन्तु तुम्हारे चारों ओर ऐसे अन्य लोग भी हैं जो तुम्हारे इस श्रद्धा-भावसे हिस्सा नहीं बंटाते। उन लोगोंके बीचमें रहनेके कारण तुम बाह्य मान-दण्डोंको स्वीकार करनेको, और जैसा कि तुम कहते हो, प्रतिरक्षा संगठनमें शामिल होनेको बाध्य हो सकते हो। ऐसा होनेपर भी यह बात तुम्हें अपने मनमें रखनी होगी कि एकमात्र महत्व आन्तरिक वृत्ति और श्रद्धाका ही है। बाह्य सभी साधनोंका कोई महत्व नहीं; वे पूरी तरहसे अनुपयोगी और शून्य सिद्ध हो सकते हैं, केवल भागवत कृपा ही तुम्हारा संरक्षण कर सकती है।

*

कठिनाईसे भागनेमें यही तो असुविधा है,—यह व्यक्तिके पीछे दौड़ती है—सच पूछो तो वह इसे अपने साथ लिये फिरता है, क्योंकि कठिनाई वास्तवमें भीतर है, बाहर नहीं। बाह्य परिस्थितियां तो केवल प्रकट होनेका अवसर देती हैं और जबतक अन्दरकी कठिनाई जीत नहीं ली जाती तबतक परिस्थितियां किसी-न-किसी प्रकार सदैव सिर उठाती रहेंगी।

*

'क्ष' के साथ होनेवाली इन सब घटनाओंका यथार्थ कारण यही है। जब प्रकृति में कोई ऐसी वस्तु विद्यमान होती है जिसे जीतना होता है, तो वह अपनी ओर सदा ही घटनाओंको खेंचती रहती है जो उस वस्तुको कसौटीपर तबतक कसती हैं जबतक साधक उसपर अधिकार प्राप्त करके मुक्त न हो जाय। कम-से-कम यह एक ऐसी घटना है जो प्रायः होती है, विशेषकर तब जब कि मनुष्य उसपर अधिकार करनेके लिये सच्चे दिलसे प्रयत्न कर रहा हो। मनुष्यको हमेशा यह नहीं मालूम होता कि ये विरोधी शक्तियां ही दृढ़ निश्चयको तोड़नेका प्रयत्न कर रही हैं या उस वस्तुकी परीक्षा कर रही हैं (क्योंकि वे दावा करती हैं कि ऐसा करनेका उनका अधिकार है) या यों कहें कि वे देव हैं जो प्रगतिके

लिये उसपर दबाव डालने और उसमें तेजी लानेके लिये ऐसा कर रहे हैं या हमारे अभीप्सित परिवर्तनकी सुनिश्चितता एवं पूर्णताका आग्रह कर रहे हैं। शायद जब मनुष्य इसे पिछले दृष्टिकोणके अनुसार ग्रहण कर सके तो यह अत्यधिक सहायक हो सकता है।

*

तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है—तुम्हें इसे इसी ढंगसे ग्रहण करना होगा, कि यह एक अवसर है जो तुम्हें अपनी प्रकृतिकी इस बाधापर विजय प्राप्त करनेके लिये दिया गया है। मनुष्य जब साधना करता है तो यह हमेशा देखा गया है कि जब उसमें कहीं भी कोई बहुत बड़ा दोष हो, तो परिस्थितियां ऐसी बन जाती हैं कि दोषको उभरनेका अवसर तबतक मिलता रहता है जबतक उसे सत्तामेंसे बाहर नहीं फेंक दिया जाता। यदि व्यक्ति आर-पार देखनेवाली दृष्टि द्वारा इन परिस्थितियोंके आगमनको दोषोंके जीतनेके लिये एक पुकार और अवसरके रूपमें ग्रहण कर सके तो वह बहुत तेजीसे प्रगति कर सकता है।

जहांतक दूसरी बातका सम्बन्ध है, यह बहुत अच्छा हुआ है कि तुमने अन्य लोगोंकी आलोचनाके सम्बन्धमें उचित वृत्ति एवं दृष्टि धारण की, किन्तु उनमें यदि कोई गलत क्रिया हो तो इस वृत्ति एवं दृष्टिको उनतक भी विस्तारित करना चाहिये। क्योंकि यदि उनके दोष उनकी प्रकृतिमेंसे जो कि सबकी साझी मानव प्रकृति है, बाहर निकलते हैं तो उनके कार्य भी उसी स्रोतसे प्रवाहित होते हैं और यह देखना और समझना काफी है—इन दोनों चीजोंपर एक ही नियम लागू होना चाहिये।

*

कठिनाईपर विजय तुम्हें उससे भागनेसे प्राप्त नहीं हो सकती।

इस सबका कारण यह है कि तुमने अपने साथ व्यवहार करनेका जो मार्ग अपनाया है वह अशुद्ध है। अपने-आपको पश्चात्ताप तथा व्याकुल करनेवाले विचारोंसे पीड़ित करके तुम जीत नहीं सकते। खूब शान्त भावसे तथा शान्त और दृढ़ संकल्पके साथ अपने-आपको अवक्र रूपसे देखते हुए और तब प्रसन्नतासे तथा वीरतापूर्वक पूरे विश्वास और भरोसेसे अग्रसर होते हुए, कृपापर निर्भर रहते, प्रसन्न और सहज भावमें अपने चैत्य पुरुषकी शरण लेते, प्रेम और आनन्दका

अधिकाधिक आवाहन करते और उत्तरोत्तर एकान्त भावसे माताजीकी ओर उन्मुख होते हुए ही तुम कठिनाई पर विजय लाभ कर सकोगे।

*

यह भी समझदारीकी बात है कि तुमने उस स्थानके साथ मेल बिठा लिया है तथा तुममें वहांकी स्थितिका सामना करनेके लिये सामर्थ्यका अनुभव हो रहा है। अपने चारों ओरकी परिस्थितियोंके साथ अनुकूल एवं समस्वर होनेकी एक विशेष शक्ति जरूरी है—तुममें यह शक्ति बहुत प्रबल रूपसे विद्यमान थी और इसलिये तुम जहां भी गये सफल हुए। अपनी पहली स्थितिसे पीछे हटनेके कारण ही तुम बेचैन और उदास हो गये थे तथा तुमने अपने अन्दर इस शक्तिके कार्यको बरबाद कर दिया। मैं आशा करता हूँ कि अब तुम्हारी इस नई वृत्तिके साथ यह शक्ति वापस आकर तुम्हारी सभी कठिनाइयोंको हल कर देगी।

हम तुम्हें अपना आशीर्वाद भेजते हैं। तुम अपनेको ऊपरसे आनेवाली शक्तिके प्रति तथा यहांसे भेजी गई हमारी सहायताके प्रति सदा उद्घाटित रखो और उन सब कठिनाइयोंके समक्ष दृढ़ एवं समर्थ बने रहो जो बाह्य जीवन या साधनामें अभीतक बची हुई है। इन अवस्थाओंके होनेपर विजय हमेशा निश्चित है।

*

निराशाकी बात बेहूदी है और आत्मघातकी चर्चाका यहां कोई स्थान ही नहीं। मनुष्यको ठोकरें भले ही लगें तो भी भगवान्‌की कृपा वहां तबतक रहती है जबतक वह उसके लिये अभीप्सा करता है और अन्तमें वह उसे पार ले जाती है।

*

आत्महत्या करना निरर्थक है, इससे प्रश्नका समाधान नहीं हो सकता। उसका यह सोचना सरासर भूल है कि आत्महत्या करनेसे उसे शान्ति मिल जायगी। ऐसा करनेसे तो वह मरनेके बाद अपनी सारी कठिनाइयोंके साथ और भी अधिक बुरी अवस्थामें पहुँच जायगा और फिर पृथ्वीपर दूसरा जन्म

होनेपर उन्हें अपने साथ वापस लेता आयेगा। इसका एकमात्र उपाय यही है कि इन सब दूषित विचारोंको दूर फेंक दिया जाय और जीवनके लक्ष्य-स्वरूप किसी निर्दिष्ट कार्यको पूरा करनेका एक स्पष्ट संकल्प रखते हुए सुदृढ़ और सक्रिय साहसके साथ जीवनका सामना किया जाय।

*

साधना शरीरमें रहकर ही करनी है, शरीरके बिना अन्तरात्मा साधना नहीं कर सकता। जब शरीरपात हो जाता है तब अन्तरात्मा अन्य लोकोंमें विचरण करने लगता है—और अन्तमें वह फिर दूसरे जीवन और दूसरे शरीरमें वापस आता है। उस समय वे सभी कठिनाइयां जिन्हें उसने पूर्वजन्ममें हल नहीं किया था, फिरसे नये जन्ममें आ जुटती हैं। तब भला शरीर छोड़नेसे क्या लाभ?

फिर इसके अतिरिक्त, अगर कोई जबर्दस्ती शरीर-त्याग करता है तो वह दूसरे लोकोंमें बहुत अधिक दुःख भोगता है और जब वह फिरसे जन्म ग्रहण करता है तब वह किसी अच्छी नहीं बल्कि और भी बुरी अवस्थामें जा पड़ता है।

अतएव बुद्धिमानीकी बात बस यही है कि इसी जीवनमें और इसी शरीरमें कठिनाइयोंका मुकाबला किया जाय और उन्हें जीता जाय।

*

साधनामें सफल होनेके लिये मृत्यु कोई उपाय नहीं है। यदि तुम इस प्रकार मर जाओ, तो तुम्हारे सामने वही-ही-वही कठिनाइयां फ़िरसे आयेंगी, और आयेंगी बहुत करके कम अनुकूल परिस्थितियोंमें।

साधनामें सफल होनेका उपाय है हताश होनेसे इनकार करना, सरल और सच्चे भावसे इस प्रकार अभीप्सा करना जिससे माताजीकी शक्ति तुममें कार्य करे और ऊपरकी चीजको नीचे ले आये। इस साधनामें कोई भी मनुष्य केवल अपनी ही योग्यतासे सफल नहीं हुआ है। एकमात्र आवश्यक चीज है माताजीके प्रति उद्घाटित और नमनीय होना।

*

यह ठीक नहीं। प्राण त्याग देनेसे अगले जन्मके लिये सम्भावनाओंमें सुधार नहीं होता। व्यक्तिको इसी जीवनमें और इसी शरीरमें कार्योंको पूर्ण

कर लेना होगा।

*

हां, तो यह समुचित ढंगकी शान्ति नहीं है। निर्वाणकी शान्तिमें कोई अर्थ होगा किन्तु, ऐसी अवस्थामें मृत्यु होना बिलकुल भी मुक्ति नहीं जब प्रकृति निढाल होकर शान्त हो जाय।

*

शान्ति, नीरवता और कामनाके अभावमें प्रतिष्ठित आन्तर जीवनमें ही सच्ची विश्रान्ति है। अन्य कोई विश्रान्ति है ही नहीं — क्योंकि उसके विना यन्त्र चलता रहता है चाहे व्यक्तिको उसमें दिलचस्पी हो या न हो। आन्तरिक मुक्ति ही एकमात्र इलाज है।

VIII

इस बातका कोई कारण नहीं कि तुम योगमें सफलता पानेकी आशा ही छोड़ दो। जिस अवसादकी अवस्थाको तुम अभी अनुभव कर रहे हो वह क्षणिक है और वह एक-न-एक समय अत्यन्त शक्तिशाली साधकपर भी आती है, यहांतक कि बार-बार आती है। ऐसे समयमें बस आवश्यकता इस बातकी है कि सत्ताका जो भाग जागृत हो गया है उसे दृढ़ताके साथ पकड़े रखा जाय, सभी विपरीत सूचनाओंका त्याग किया जाय और अपने लिये जितना सम्भव हो उतना अपने-आपको सत्य-शक्तिकी ओर उद्घाटित रखते हुए तबतक प्रतीक्षा की जाय जबतक कि यह संकट या परिवर्तनका काल, जिसका कि यह अवसाद एक अवस्थामात्र है, समाप्त न हो जाय। तुम्हारे मनमें जो सब सूचनाएं आती हैं और तुमसे यह कहती हैं कि तुम योग्य नहीं हो और तुम्हें साधारण जीवन यापन करनेके लिये वापस लौट जाना चाहिये, वे सब विरोधी शक्तियोंसे आनेवाले सुझाव हैं। इस तरहके विचारोंको निम्न प्रकृतिकी उपज समझकर उनका बराबर त्याग करते रहना चाहिये; अगर ये विचार हमारे अज्ञानी मनको बाहरसे देखनेमें सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित हुएसे भी प्रतीत हों तो भी ये होते हैं मिथ्या ही, क्योंकि ये एक अस्थायी गतिधाराको अतिरंजित करते और उसे अन्तिम और यथार्थ सत्यके रूपमें हमारे सामने रखते हैं। तुम्हारे अन्दर केवल एक ही सत्य

है जिसे तुम्हें निरन्तर पकड़े रखना होगा और वह है तुम्हारी दिव्य सम्भावनाओं-का सत्य तथा ऊर्ध्वतर ज्योतिके लिये तुम्हारी प्रकृतिकी पुकार। यदि तुम उसे सदा पकड़े रखो, अथवा, कभी-कभी तुम्हारा हाथ ढीला होनेपर भी यदि तुम उसे फिरसे पकड़ लिया करो, तो सारी कठिनाइयों, बाधाओं और पदस्खलनों के होते हुए भी अन्तमें वह सत्य सिद्ध होकर ही रहेगा। तुम्हारी आध्यात्मिक प्रकृतिके क्रम-विकासके साथ-साथ यथासमय तुम्हारी सारी बाधाएं दूर हो जायंगी।

आवश्यकता बस इस बातकी है कि तुम्हारे प्राणमय भागका स्वभाव बदल जाय और वह समर्पण कर दे। उसे यह अवश्य ही सीखना होगा कि वह एकमात्र सर्वोच्च सत्यको ही पानेकी आकांक्षा करे और अपने निम्नतर प्रेरणाओं और वासनाओंकी तृप्तिके लिये आग्रह करना छोड़ दे। हमारे प्राणमय पुरुषका यह सहयोग ही वह चीज है जो आध्यात्मिक जीवनमें हमारी समस्त प्रकृतिको पूर्ण तुष्टि और आनन्द प्रदान करती है। जब यह हो जायगा (अर्थात् जब प्राणमय पुरुष सहयोग देने लगेगा) तब साधारण जीवनमें लौट जानेका विचार करना भी असम्भव हो जायगा। परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक तुम्हें अपने मनके संकल्प और हृत्पुरुषकी अभीप्साको अपना आधार बनाना होगा, उन्हें ही पकड़े रहना होगा, और अगर तुम बराबर आग्रह करते रहो तो अन्तमें तुम्हारा प्राण हार मान लेगा, उसका स्वभाव बदल जायगा और वह समर्पण कर देगा।

अपने मन और हृदयमें इस संकल्पको दृढ़तापूर्वक बैठा दो कि तुम्हें भागवत सत्यके लिये — एकमात्र भागवत सत्यके लिये ही जीना है। इसके विपरीत या इससे न मिलने-जुलनेवाली जितनी बातें हैं उन सबका त्याग करो और निम्नतर वासनाओंसे मुँह मोड़ लो। यह अभीप्सा रखो कि अन्य किसी शक्तिकी ओर नहीं, बल्कि एकमात्र भागवत शक्तिकी ओर तुम्हारा उद्घाटन हो। बस, पूरी सच्चाईके साथ इसे करो और तुम्हें जिस तात्कालिक और जीती-जागती सहायताकी आवश्यकता है उससे तुम वंचित नहीं रहोगे।

*

व्यक्तिमें आध्यात्मिक जीवनके लिये एक स्थिर संकल्प अवश्यमेव होना चाहिये, एकमात्र वही सब विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त कर सकता है।

*

निराशापूर्ण स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होती सिवाय उस समयके जब संकल्प एक अधिक बुरे मार्गका चुनाव कर लेता है।

*

तुम यह क्यों नहीं समझ सकते कि यह सच्ची चेतनाकी अवस्था नहीं है, पर केवल सत्यको ढंके रखना है, तुम यदि दृढ़ निर्णय कर लो तो इससे हमेशा ही मुक्त हो सकते हो? यहां तुम्हारे कथनसे समझकी कमी नहीं किन्तु संकल्पकी कमी व्यक्त होती है—और यह संकल्पकी कमी तुम्हारी अपनी नहीं है किन्तु उस निम्नतर चेतना द्वारा तुमपर बलात् थोपी गई है जो तुमपर हावी हो गई है और ज्ञान और वेदनके सभी सच्चे मूल्योंको उलटनेके लिये तुम्हें बाध्य करती है। तुम्हारी सत्ता अवश्य ही प्रकाशमें मुक्त, शान्त तथा प्रसन्न रहना चाहती है—तुम्हारे बाह्य मनको कब्जेमें करनेवाला यह मिथ्यात्व ही तुम्हें ऐसा चाहनेके लिये प्रेरित करता है कि मैं अधिक अन्धकारग्रस्त, दीन-दुःखी और विद्रोही रहूँ और अपनेसे घृणा करूँ तथा जीवन त्याग दूँ। इस प्रकारकी भावनाएं, इस प्रकारकी विकृत इच्छा प्रकृतिकी सामान्य भावनाओंसे बिलकुल विपरीत है और "सच्ची" तथा सही नहीं हो सकती। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो तुम्हें ढोंग करनेको कहे—हम तुमसे मिथ्या विकृतियों एवं गलत वेदनों तथा अज्ञानके परित्यागके लिये कहते हैं और यह भी कहते हैं कि तुम उनकी इच्छानुसार उनका समर्थन न करते रहो। इन चीजोंको अपनी प्रकृतिके एक धर्मके रूपमें स्वीकार कर लेनेमें कोई साहस या श्रेष्ठता नहीं है और न उच्चतर सत्यके लिये अभीप्सा करनेकी चेष्टा करनेमें तथा उसे अपनी प्रकृतिका धर्म बनानेमें ही कोई नीचता और कायरता है।

*

जहांतक उसकी कठिनाइयों और परेशानियोंका सवाल है, यदि वह इस बातको समझ न ले कि वे अन्दरसे आती हैं न कि बाहरसे, तो इस बातकी बहुत ही कम आशा है कि वह उन्हें जीत सकेगा। उसकी प्राणिक प्रकृतिकी दुर्बलता ही, उसकी उस स्नायवीय सत्ताकी वह सामर्थ्यहीन असहाय अवस्था ही जो जीवनका सामना करने और कठिनाइयोंको जीतनेके स्थानपर सदा ही रोती-धोती और शिकायत और विलाप करती रहती है, और उसके द्वारा ग्रहण की गई यह भावुकतापूर्ण विलापकी वृत्ति ही उसकी परेशानियोंको हल नहीं

होने देती और उन्हें जीवित बनाये रखती है। यह ऐसी प्रकृति है जिसकी सहायता देवता भी नहीं कर सकते क्योंकि वे जानते हैं कि सहायता करना बेकार है, कारण या तो उसे ग्रहण नहीं किया जायगा अथवा वह बिखर कर बरबाद हो जायगी; और संसारकी सभी राजसिक एवं आसुरिक वस्तुएं इस प्रकारकी प्रकृतिसे घृणा करती हैं तथा उसे पैरोंसे रौंद देती हैं।

यदि उसने निर्बलतासे तथा शोरशराबे तथा जोर जबर्दस्तीसे रहित एक ऐसे स्थिर बल और शान्त साहसका अभ्यास कर लिया होता जो यहांसे सदा मिल सकनेवाली सहायता में विश्वास पर और साथ ही माताजीकी शक्तिके प्रति उद्घाटन पर आधारित होता है, तो अबतक सब बातोंका अनुकूलतापूर्वक निवटारा हो जाता। किन्तु वह उसे प्रदान की गई किसी भी सहायताका लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि उसकी प्राणिक प्रकृति अपनी निर्बलताको पोसती रहती है और इसे घृणापूर्वक पौरुषके अयोग्य और साधकके लिये अनुपयुक्त वस्तुके रूपमें दूर फैंकनेके स्थानपर हमेशा प्रश्रय देती रहती है तथा आडम्बर-पूर्ण ढंगसे व्यक्त करती रहती है। यदि वह इसका इस प्रकार परित्याग कर दे केवल तभी वह शक्तिको प्राप्त कर सकता है और जीवनमें टिक सकता है या साधनामें प्रगति कर सकता है।

*

इसका कारण यह है कि तुम इतने चंचल, अधीर, दुविधाग्रस्त और अनिश्चित हो कि हम कोई निर्णय करनेमें असमर्थ हैं।

*

यदि तुम अपनी कमजोरीको मान लो जिसका मतलब है स्वयं वस्तुको मान लेना — तुम्हारी प्रकृतिका कोई हिस्सा उसे स्वीकार करता है और तुम उसके सामने झुक जाते हो — तो फिर हमारे तुम्हें इस बातको बतानेका क्या फायदा कि तुम्हें क्या करना चाहिये? तुम्हारे प्राणका वह भाग हमेशा ही यह कह सकेगा — "मैं इतना अधिक कमजोर था कि मैं ऐसा न कर सका"। इसमेंसे बाहर निकलनेका एकमात्र मार्ग यह है कि तुम निर्बल न रहो, अपने इस भावनाप्रधान भागको निकाल दो, शक्तिको नीचे पुकार ले आओ कि वह आकर इस कमजोरीका स्थान ले ले और यह कार्य एक स्थिर और गम्भीर इरादेके साथ करो। यदि हम तुम्हें इस तत्वपर विजय प्राप्त करनेके लिये

प्रेरित नहीं कर सकते जब कि तुम्हारे पास साधनाका कुछ आधार है तो तुम हमसे यह आशा कैसे कर सकते हो कि हम 'क्ष' को इसके लिये प्रेरित करें जो कहता है कि मेरे पास कोई आधार नहीं है, बल्कि मैं सतहपर ही उतरा रहा हूँ ?

*

माताजीकी और मेरी सहायता तुम्हारे लिये सर्वदा विद्यमान है। तुम्हें बस पूरी तरहसे उसकी ओर मुड़ना है और यह तुमपर क्रिया करने लगेगी।

ये गलत विचार ही तुम्हारे आड़े आये हैं कि तुममें योग्यता नहीं है, तुम्हारे भीतर ऐसी गन्दी चीजें विद्यमान हैं जो तुम्हें माताजीकी कृपा ग्रहण करनेसे रोकती हैं और तुममें अभीप्साकी कमी है जो तुम्हें साक्षात्कार और अनुभव प्राप्त करनेसे रोकती है। ये विचार बिलकुल गलत और असत्य है — और ये तुम्हारे अपने विचार भी नहीं है; ये ऐसे सुझाव हैं जो अन्य साधकोंके समान ही तुमपर बलात् फैंके गये हैं और जिनका प्रयोजन है अवसाद उत्पन्न करना। तुम्हारे अन्दर कोई अयोग्यता नहीं है, कोई खराब चीज नहीं है जो बाधा उपस्थित करती है, अभीप्साकी ऐसी कोई कमी नहीं है जो अनुभवको रोकनेका कारण बन रही है। अवसाद, आत्म-अविश्वास और निराश होनेकी तत्परता ही इसका एकमात्र कारण है; दूसरा कोई नहीं। जैसा कि मैंने तुम्हें लिखा, सभी साधकोंको, यहां तक कि सबसे अधिक श्रेष्ठ और बलशाली साधकों-के सामने भी साधनाके प्रवाहमें अवरोध आते हैं। यह ऐसा कारण नहीं है जिससे व्यक्ति अपनेको अयोग्य समझने लगे और इस विचारके साथ यहांसे चला जाना चाहे कि अब कोई आशा नहीं। थोड़ासा शान्तभाव प्रवाहको लौटा लायगा। तुम्हें आवश्यक अनुभूतियां हो रही थी एवं तुम्हारी आवश्यक प्रगति भी हो रही थी तथा केवल भौतिक चेतनाकी कुछ कठिनाइयोंने ही सामने आकर उनको कुछ समयके लिये रोक दिया। ऐसा सबके साथ होता है, विशेषकर तुम्हारे साथ ही नहीं जैसा कि मैंने समझाया था। ये कठिनाइयां सदा ही आती हैं और उन्हें जीतना होता है। शक्तिकी क्रियाके द्वारा एक बार जीत लिये जानेपर साधना पहलेकी तरह आगे बढ़ती है। किन्तु तुम अयोग्यता एवं अभीप्साकी कमीके गलत विचारको एक कारणके रूपमें आश्रय देने लगे और पूरी तरहसे निराश हो गये। तुम्हें इस सबको झाड़कर फैंक देना होगा और अपने पास आनेवाले विचारात्मक सुझावोंमें विश्वास करनेसे इनकार कर देना होगा। किसी भी साधकको मनमें कभी भी अयोग्यता और असाध्यताके विचारोंको प्रश्रय नहीं देना चाहिये — वे बिलकुल असंगत होते हैं क्योंकि मनुष्य

की व्यक्तिगत योग्यता और उपयुक्तता नहीं, किन्तु माताजीकी कृपा एवं शक्ति तथा उनकी कृपा एवं शक्तिकी क्रियाके लिये अन्तरात्माकी सहमति ही उसे सफल बनाती है।

इन अन्धकारमय विचारोंसे अपना मुँह फेर लो और केवल माताजीकी ओर ही निहारो, फल और कामनासे अधीर होकर नहीं किन्तु विश्वास और भरोसेके साथ, तथा उनकी क्रियाओंको तुम्हारे अन्दर अचंचलताको और चैत्य उद्‌घाटन एवं उपलब्धिके प्रति प्रगतिको पुनः स्थापित करने दो। वह निश्चयसे और असंदिग्ध रूपसे उस पूर्णतर श्रद्धा एवं प्रेमको ले आयेंगी जिसकी तुम्हें चाह है।

*

परिवर्तनसे मेरा आशय था बाह्य वस्तुओं तथा जीवनके प्रति तुम्हारी मानसिक एवं प्राणिक वृत्ति तथा प्रतिक्रियाओंमें हुआ वह महान् सुधार जो तुम्हारे पत्रोंमें घटनाओंके विवरणमें बहुत स्पष्ट रूपसे व्यक्त हुआ था और जिसने उन्हें एक ऐसा बिलकुल नया वातावरण प्रदान किया था जो ऊष्मा, स्पष्टता और चैत्य-भावसे परिपूर्ण था। स्वभावतः परिवर्तन अभी अन्तिम रूपसे और पूर्ण नहीं हुआ है किन्तु यह भित्तिरूप अवश्य प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, निश्चय ही भीतर बढ़ती हुई भक्ति ही इसका कारण है विशेषकर अपने मार्गके रूपमें भक्तिमार्गको स्वीकार करना तथा उस स्वीकृतिके अन्तर्निहित अर्थोंको भी मानना। मनने एक ऐसी नई सन्तुलित स्थिति ग्रहण की है जो बौद्धिक कम और चैत्य अधिक है। तुम्हें अपने अन्दर भक्तिके विकासको देखनेसे जो वस्तु रोकती है (कभी-कभी तुमने इसे देखा है और इसके विषयमें लिखा भी है) वह है उस स्थूल मनकी सतत उपस्थिति जो अवसादका स्पर्श होते ही अपने बंधे-बंधाये विचारोंके निरन्तर चक्कर खाते आवर्तमें घूमने लगता है। उनमेंसे एक विचार यह है कि तुम उन्नति नहीं कर रहे, उन्नति नहीं करोगे और कभी उन्नति नहीं कर सकते, वही पुरानी चीज जो कहा करती थी "योग मेरे जैसोंके लिये नहीं है" आदि। (प्राणकी गलत प्रवृत्तिके बाद) स्थूल मनकी ही यह प्रवृत्ति अधिकतर व्यक्तिकी चेतनाको सतहपर बनाये रखती है और भीतरके एवं भीतर होनेवाली क्रियाओंके विषयमें सचेतन होनेसे उन्हें रोकती है; यह प्रवृत्ति प्रकृतिकी उपरितलपर होनेवाली घटनाओंके कुछ अंशको, आन्तरिक क्रियाके परिणामोंको देख सकती है न कि घटनाओंके कारणको जो स्वयं आन्तरिक क्रिया ही होती है। यह भी एक कारण है जिससे मैं स्थूल मनको कविता और

संगीतमें और दूसरी उन स्वास्थ्यवर्धक प्रवृत्तियोंमें लगा हुआ देखना पसन्द करता हूँ जो आन्तरिक विकासमें मदद देती हैं और जिनमें आन्तरिक भक्ति अपनेको व्यक्त कर सकती है क्योंकि वह स्थूल मनको व्यस्त एवं यन्त्रवत् घूमनेवाली क्रियाओंसे पृथक् रखती है तथा आन्तरिक विकासको होने देती है और उसमें सहायता करती है। लौट-लौटकर आनेवाली क्रिया पहलेसे कम हो गई है और मैं आशा करता हूँ कि इन कुछ ही दिनोंमें यह स्वयं थक जायेगी और बिलकुल चली जायगी।

*

ये विचार महज ऐसे सुझाव हैं जो सदा ही तब उभरते हैं जब तुम इस उदासीको अपने अन्दर बढ़ने देते हो; उन विचारोंको अपने अन्दर प्रश्रय देनेके स्थानपर तुम्हें उन्हें तुरन्त फैंक देना चाहिये। हम तुमसे दूर और तटस्थ 'क्यों' हैं, तुम्हारे इस प्रश्नके लिये कोई अवकाश ही नहीं, कारण इन बातोंका अस्तित्व ही नहीं, और यह भाव स्वतः बिना किसी सच्चे कारणके चेतनाकी गलत ढंगकी लहरके साथ ऊपर आ जाता है। ये जब भी ऊपर आये, तो तुम्हें तुरन्त ही इस बातका निश्चय हो जाना चाहिये कि यह गलत मोड़ है तथा इसे रोक देना चाहिये एवं इसके विशिष्ट सुझावोंको अस्वीकार कर देना चाहिये। जब तुम ऐसा लम्बे कालतक कर सकोगे तो तुम महान् प्रगति कर लोगे और सही चेतना एवं सही विचार तथा चैत्य चेतनाको विकसित कर लोगे। यहां आकर तुम हमारे काममें रुकावट नहीं डाल रहे, न ही यहां आनेवाले दूसरे लोगोंके मार्गमें बाधक बन रहे हो; सभी कठिनाइयोंके होते हुए भी साधनामें लगे रहकर तुम अपनेको धोखा नहीं दे रहे बल्कि उचित कार्य कर रहे हो तथा निश्चय ही तुम भगवान्को नहीं ठग रहे हो जो तुम्हारी अभीप्सा और कठिनाई दोनोंको अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये तुम्हारे यहांसे जानेके लिये लेशमात्र भी कारण नहीं। यदि तुम "सचाईके साथ योग करना चाहो", और इस विषयमें कोई सन्देह नहीं हो सकता, तो यह तुम्हारे यहां रहनेके लिये पर्याप्त कारण है। इस बातकी कोई परवाह नहीं कि तुम्हें अभी तक कुण्डलिनी जागने आदि जैसा कोई गुह्य अनुभव नहीं हुआ: ये अनुभव किन्हींको जल्दी होते हैं, किन्हींको देरमें; इसके सिवाय विभिन्न प्रकृतिके लोगोंके लिये ऐसे अनुभवोंका क्रम भी विभिन्न होता है। ये अनुभव अभीतक नहीं हुए इस कारण तुम्हें उनके लिये लालायित या निराश एवं उदास नहीं होना चाहिये। चेतनाके तैयार होनेपर इन चीजोंको स्वतः आनेके लिये छोड़ा जा सकता है। तुम्हें अभीप्सा करनी

है भक्तिकी, प्रकृतिके शोधनकी, सही चेतना एवं समर्पणकी। भक्तिके लिये अभीप्सा करो और वह तुममें बढ़ेगी ही। यह तुम्हारे भीतर पहलेसे ही विद्यमान है और यही अपनेको तुम्हारी कविता और संगीतमें और ऐसे भावोंमें व्यक्त करती है जैसे कि "कन्याकुमारीके माताके मन्दिर" में उद्भूत हुए हैं। प्रकृतिमें भक्ति और पवित्रताके बढ़नेके साथ-साथ सही चैत्य चेतना भी बढ़ेगी और वह पूर्ण समर्पणकी ओर ले जायगी। किन्तु स्थिर बने रहो, अक्षमता, कुण्ठा और यहांसे चले जानेके इन विचारोंको प्रश्रय न दो; वे तमस्‌के तत्व हैं और उन्हें केवल एक ओर फैंक देना ही अच्छा है।

*

तुमसे ऐसी किसी भी चीजकी मांग नहीं की गई है जिसे तुम नहीं कर सकते; यह एक ऐसी चीज है जिसे तुम पहले भी कर चुके हो और इसलिये जिसे तुम अब करनेमें समर्थ हो। तुमसे केवल अपने ही प्रयास द्वारा अपनी प्रकृतिको बदलनेके लिये नहीं कहा गया, किन्तु इन भावों और विचारोंसे केवल हटकर पीछे स्थित होनेके लिये, उन्हें प्रश्रय न देनेके लिये और अपने अन्तरमें शान्त रहनेके लिये तथा उस शान्तिको अन्दर आने देनेके लिये कहा गया है। लगातार यह दुहराते रहनेसे कि "मैं दुर्बल हूँ, मैं अयोग्य हूँ, मैं खराब हूँ", तुम कुछ भी नहीं पा सकते।

*

अपनेको सदा यह याद दिलाते रहो कि भगवान्‌की शक्ति यहां विद्यमान है और तुमने उसका अनुभव किया है, चाहे कुछ समयके लिये तुम्हें ऐसा प्रतीत होता हो कि तुमने उसका ज्ञान खो दिया है या वह कोई दूरकी वस्तु लगती हो, तो भी वह यहां विद्यमान है और अवश्य ही विजयी होगी क्योंकि शक्ति जब किन्हीं लोगोंका स्पर्श कर लेती है और अपने अधिकारमें ले लेती है तबसे वे भगवान्‌के ही हो जाते हैं।

*

यह अच्छा है। तुम शक्ति एवं स्थिरताकी भावनाको जितना अधिक स्थिर रखोगे और बढ़ाओगे, अन्य भाव उतना ही अधिक मन्द होकर विलीन

हो जायेगा। ऐसा सदा ही होता है कि पहले शक्ति एवं शान्ति केवल विभिन्न भागोंपर दवाव डालती हैं, उन्हें स्पर्श करती हैं और घेर लेती हैं, आखिर एक समय आता है जब सत्ताका एक भाग उस अवस्थाका सदैव अनुभव करने लगता है, चाहे सतहको कितना ही विक्षोभ क्यों न घेर ले। बादमें विक्षोभ अधिकाधिक उस हदतक बाहर निकाल दिया जाता है जबतक ऐसा न लगे कि वह सत्ताके अन्दर नहीं, किन्तु उसके बाहर हो रहा है। जब वह भी चला जाता है तब पूर्ण शान्ति हो जाती है और पूर्ण आधार स्थापित हो जाता है।

*

बात यह है कि साधना पथमें इस चीजसे नहीं बचा जा सकता कि सत्ताके कुछ भाग कम खुले हों, कम विकसित हों, अभी उच्च शान्ति और शक्तिके प्रति कम सचेतन हों, दूसरे भागोंकी अपेक्षा उनसे कम घनिष्ठता रखते हों। हमें इन हिस्सोंपर कार्य करना है और उन्हें बदलना है किन्तु वह निर्विघ्न रूपसे तभी किया जा सकता है यदि तुम उनसे अनासक्त रहो, उसे अपना स्व न मानो, चाहे वे प्रकृतिका एक ऐसा भाग हों जिसे बदलना हो। इसके बाद जब वे अपने दोषोंके साथ प्रकट होंगे तब तुम घबराओंगे नहीं, उनकी क्रियाओंसे प्रभावित नहीं होगे, शान्ति और शक्तिकी अनुभूति गंवा नहीं दोगे; तुम उनपर उसी तरह कार्य कर सकोगे (बल्कि शक्तिको कार्य करने दोगे) जैसे व्यक्ति एक ऐसी मशीनपर कार्य करता है जिसे सुधारना है या एक ऐसे कार्यपर जिसमें दोष हों और जिसे इस बार अधिक अच्छा करना है। यदि तुम इन हिस्सोंके साथ अपना तादात्म्य कर लो तो यह बहुत कष्टदायक होगा। काम तब भी पूरा हो जायगा और परिवर्तन भी, पर देरसे, बेढंगी उथल-पुथलके साथ, बहुत कष्टदायक ढंगसे न कि निर्विघ्न रूपसे। इसीलिये हम लोगोंसे कहते हैं सदा ही स्थिर और अनासक्त रहो और इन वस्तुओंको अपने सच्चे 'स्व'के रूपमें नहीं किन्तु एक ऐसे बाह्य हिस्सेके रूपमें देखो जिसपर शान्तिसे तबतक का करना है जबतक यह वैसा न हो जाय जैसा उसे होना चाहिये।

*

निःसन्देह मानसिक संकल्पका उतार-चढ़ाव ही उपलब्ध ज्ञानको स्थिरतापूर्वक क्रियान्वित होनेसे रोकता है। यदि तुम्हारा संकल्प पर्याप्त सबल न हो, तो पृष्ठभागमें स्थित महत्तर संकल्पको अर्थात् माताजीके संकल्पको उनकी चिन्मय

शक्तिको जिसमें ज्ञान और संकल्प एक हो गये हैं, सबल बनाने और अवलम्ब देनेके लिये पुकारना होगा। तो भी बहुधा, संकल्प एवं ज्ञान दोनोंके मौजूद होनेपर भी प्राणिक प्रकृतिकी आदत पुरानी प्रतिक्रियाओंको ले आती है। इसे केवल ऐसी स्थिर अभीप्साके द्वारा जीता जा सकता है जो कभी निरुत्साहित नहीं होती और जो गलत क्रियाओंको बाहर धकेलने और स्थानभ्रष्ट करनेके लिये चैत्यसत्ता और उसकी क्रियाओंको अधिकाधिक आगे ले आयें। पुरानी और अज्ञानमय चेतना तथा उसकी क्रियाओंके स्थानपर सच्ची चैत्य और आध्यात्मिक चेतनाको क्रमशः और स्थिरतापूर्वक प्रतिष्ठित करते जाना ही उस रूपांतरका स्वरूप है जिसे हमें योग द्वारा सिद्ध करना है। किन्तु इसमें समय लगता है, इसे आसानीसे यह तुरत-फुरत नहीं किया जा सकता। इसलिये यदि बीचमें व्यक्तिको यह लगे कि उसके ज्ञानके बावजूद पुरानी क्रियाएं बार-बार लौटती हैं तो इस बातको मनमें नहीं लाना चाहिये या इससे हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिये। व्यक्तिको केवल अपनेको उनसे उत्तरोत्तर अलग रखनेका यत्न करना चाहिये जिससे उनके वापस लौटनेपर उन्हें वहां फिर सत्ताद्वारा स्वीकृति न मिले।

*

चरित्रकी कठिनाइयोंके उठनेपर जबतक मनुष्य कार्यरूप में उनके आगे झुकता चला जाता है तबतक वे डटी ही रहती हैं। उसे कठोर नियम कर लेना होगा कि क्रोध, अहंकार या जिस किसी भी दुर्बलतासे वह छुटकारा पाना चाहता है उसके आवेगके अनुसार वह कार्य नहीं करेगा, अथवा, यदि उस क्षणकी उत्तेजनाके वश वह कार्य कर ही बैठता है तो उसे उचित नहीं ठहरायगा न ही उस कार्यमें लगा रहेगा। यदि कोई ऐसा करता है तो कुछ समय बाद कठिनाई कम हो जाती है या केवल एक आभ्यन्तर गतितक ही सीमित रह जाती है। और तब वह उसे देख सकता है उससे अपनेको पृथक् कर सकता है और उसका सामना कर सकता है।

*

जबतक चरम रूपान्तर नहीं हो जाता तबतक मनुष्य सदा ही (प्रकृतिकी अज्ञानमयी शक्तियोंके प्रति) खुला रहता है। यदि चीजें अन्दर नहीं आतीं तो इसका कारण यह है कि चेतना सजग होती है या चैत्य आगे आया हुआ होता है

किन्तु जागरूकताका जरासा भी अभाव या शिथिलता किसी भी चीजको अन्दर आने दे सकती है।

*

मनुष्यको चिन्तित नहीं होना चाहिये, किन्तु असावधान भी नहीं रहना चाहिये, अर्थात् उसे इन क्रियाओंको संकल्प या बुद्धिकी स्वीकृति नहीं देनी चाहिये। क्योंकि समस्त स्वीकृति उनकी क्रियाओं और उनकी बार-बार वापसीको लम्बा करती रहती है। यदि मन तथा संकल्प द्वारा अस्वीकार किये जानेपर भी वे न जायें तो इसका कारण है उत्तर देनेकी वह आदत जो प्रकृतिके कम सचेतन भागोंमें होती है। इन्हें प्रकाश और शक्तिको ग्रहण करके तबतक सचेतन बनते जाना है जब तक कि वे अन्तमें जाकर निम्नतर प्रकृतिकी पुकारोंको जवाब देना बन्द न कर दें।

*

यह बिलकुल ठीक है। यदि तुम इस स्थितिको बनाये रखो, उसे पूरी तरह अन्धकारावृत और देरतक आच्छादित न होने दो तो तुम अपनी सच्ची सत्तामें अर्थात् अन्तरात्मामें अपनी प्रकृतिके नवजन्मकी ओर अपने जीवनकी, अपने सब विचारों, क्रियाओं और व्यापारोंकी नींव डालनेकी दिशामें तेजीसे बढ़ सकते हो। ऐसे विचारों, सुझावों और वेदनोंको कभी सम्मति न दो जो अन्धकार, विक्षोभ और विद्रोहको वापस ले आते हैं। यह सम्मति ही उन्हें वापस आनेका बल प्रदान करती है। सम्मति देनेसे इनकार कर दो तब उन्हें तुरन्त या कुछ समय बाद चले जानेके लिये बाध्य होना होगा।

सच्ची चेतनाके सूर्यालोकमें स्थिर बने रहो—क्योंकि केवल उसीमें सुख और शान्ति हैं। ये बाहरकी घटनाओंपर नहीं, बल्कि इसी बातपर निर्भर करते हैं।

IX

यह उस पद्धतिका साधारण क्रम है जिसके द्वारा चेतनाका परिवर्तन संपादित किया जाता है। निम्नतर शक्तियां दीर्घकालीन और प्रायः बारंबार होनेवाले संघर्षके बिना वशमें नहीं आतीं। यह हो सकता है कि उपलब्ध

वस्तु आवृत हो जाय पर वह नष्ट तो कदापि नहीं होती।

*

जब ये चीजें अवचेतनामेंसे ऊपर आती हैं तो तुम पश्चात्ताप और निराशा के इन अतिरंजित भावोंको प्रश्रय ही क्यों देते हो? इनसे कोई मदद नहीं मिलती और वे उभरनेवाली चीजको बाहर निकालना कम नहीं बल्कि अधिक ही कठिन बनाते हैं। सत्ताके सचेतन भागोंसे बहुत पहले निकाले जा चुके पुराने स्वभावकी ऐसी वापसियां साधनामें सदा ही होती रहती हैं। इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं कि स्वभाव बदला नहीं जा सकता। आन्तरिक शान्तिको फिरसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करो, इन व्यापारोंसे पीछे हट जाओ और उन्हें शान्तभावसे देखो एवं उन्हें कम करके उनके सही अनुपातमें स्थान दो। तुम्हारी सच्ची प्रकृति वह है जिसमें तुम्हें भगवान्‌की शान्ति, आनन्द और प्रेम प्राप्त होता है। यह दूसरी चीज तो बाह्य व्यक्तित्वका अंचलमात्र है, इन वापसियोंके होते हुए भी सच्ची चेतनाके विस्तार एवं बुद्धिके साथ-साथ इसका नाश अवश्यंभावी है।

*

अपनेको इतना नीचा समझनेका या अपनी प्रगतिसे निराश होनेका कोई कारण नहीं। प्रत्यक्ष ही तुम्हारी पुरानी क्रियाएं उभर आई हैं किन्तु यह तो तबतक सदा ही हो सकता है जबतक चेतना और अवचेतन भाग दोनोंमें पुरानी प्रकृति पूरी तरह परिवर्तित न हो जाय। कोई चीज उभर आई है और उसने तुम्हें सन्तुलित स्थितिसे निकालकर भूतकालीन वेदनोंके चक्करमें डाल दिया। एकमात्र करने लायक चीज यह है कि तुम अपनेको शान्त करके सच्ची चेतना और सन्तुलनमें वापस चले जाओ।

*

तुम जिस मुक्तिका अनुभव करते हो वह सम्भवतः आधारभूत और सुनिश्चित है। किन्तु इन मामलोंमें, मुक्तिके बाद भी मनुष्यको जाग्रत रहना होता है—क्योंकि प्रायः ये चीजें बाहर निकलकर खूब दूर जाकर खड़ी हो जाती हैं तथा यह जाननेकी ताकमें रहती हैं कि वें किन्हीं परिस्थितियोंमें धावा

बोलकर अपने राज्यको फिरसे प्राप्त कर सकती हैं या नहीं। यदि नीचे गहराइयों तक शोधन हो गया हो और ऐसी कोई चीज न रहे जो द्वार खोल दे तो वे चीजें ऐसा नहीं कर सकतीं। पर जब व्यक्तिको मुक्त हुए बहुत समय बीत जाय तभी वह कह सकता है, "बस, अब सब हमेशाके लिये ठीक हो गया"।

*

जहांतक तुम्हारी आन्तर वृत्तिकी बात है, वह हमेशा एक सी रहनी चाहिये। यह एक नियम है कि जीवनके इन "प्रसंगो" से या नवीन तत्वोंके प्रवेशसे उत्तेजित या बहिर्मुख नहीं होना चाहिये। उन तत्वोंको अक्षुब्ध सागरमें लहरोंकी तरह उसमें समा जाना चाहिये और स्वयं अक्षुब्ध एवं प्रशान्त रहना चाहिये।

तुम्हारी वर्तमान स्थिति सब प्रकारसे वैसी ही है जैसी होनी चाहिये। क्योंकि जब स्थिति अच्छी होती है तो निम्नतर क्रियाओंको डुबकी मार जानेकी आदत होती है और वे चुप्पी साध लेती हैं मानों छिप गई हों — अथवा वे प्रकृतिसे बाहर आकर कुछ दूरीपर खड़ी हो जाती हैं। किन्तु यदि उन्हें लगे कि साधककी सतर्कता कम हो रही है तो वे धीरेसे उठने लगती हैं या पास आना शुरू करती हैं, बहुधा अलक्षित रूपमें, और जब वह अपनी रक्षामें बिलकुल असावधान होता है तो एकाएक उमड़ पड़ती हैं या अकस्मात् धावा बोल देती हैं। यह तबतक जारी रहता है जबतक नीचे स्वयं अवचेतनतक मानसिक, प्राणिक, भौतिक समस्त प्रकृति आलोकित, सचेतन और भगवान्‌से परिपूर्ण नहीं हो जाती। जबतक यह नहीं होता तबतक मनुष्यको सदैव निस्तन्द्र जागरूकताके साथ चौकन्ना रहना होगा।

*

इसका कारण शायद यह है कि अपने भीतरकी शान्तिको स्थिर रखकर, बदलने लायक वस्तुओंको शनैः शनैः बदलनेकी और किन्हीं चीजोंको भविष्यके लिये स्थापित कर देनेकी जो वृत्ति तुमने धारण की — यद्यपि वह अपने-आपमें गलत नहीं थी तो भी — उसीने तुम्हें शिथिल बना दिया और उन (कामनाओं आदि) को सतहपर खेलने दिया जिन्हें नियन्त्रणमें रखना चाहिये था। सम्भव है कि तुम्हारे इस दृढ़ निश्चयने पुराने व्यापारोंके लिये सत्ताके इस भागके द्वारा उभरनेका मार्ग खोल दिया हो जो भाग अभी जरा भी बदलनेके लिये तैयार न था और विरोधी शक्तियोंने तुम्हें अपनी रक्षाके लिये सावधान न देखकर

अपने लक्ष्यपर धावा बोलनेका मौका पा लिया। वे मौका पानेके लिये हमेशा चौकन्नी रहती हैं और मौका न देनेके लिये साधककी ओरसे पर्याप्त सतर्कता रहनी चाहिये। यह भी सम्भव है कि सार्वभौम वातावरणमें अवतरित होती हुई शक्ति अपने साथ साधककी चेतनापर डालनेके लिये ऐसा दबाव लाई जिससे साधक आजकी अपेक्षा अधिक तैयार, अधिक जाग्रत और सामान्य क्रियाओंमें कम व्यस्त रहें वह शक्ति इस हिस्सेपर और उसके प्रतिरोधपर आ पड़ी हो जो हिस्सा लम्बे समयसे अधिकतर निष्क्रिय था, और अब उस दबावके कारण एकाएक सक्रिय हो उठा।

*

इन सब क्रियाओंका केवल यही मतलब है कि अभ्यस्त भावप्रधान व्यापारों से भरा हुआ प्रकृतिका कोई हिस्सा दबा पड़ा था किन्तु जिसके साथ निश्चित रूपसे निबटा नहीं गया था और जो जब शान्ति और आनन्दके स्तरसे हुए चेतनाके अवतरणका लाभ लेकर यथासम्भव अधिकतम शक्तिके साथ ऊपर आया है। आहंकारिक प्राणकी यह पुरानी अभ्यस्त क्रिया है जो अपनेको दुहरा रही है। तुमने इसे अवचेतनमें नीचे और अपनी प्रकृतिकी बाहरी सीमाओंतक दूर धकेल दिया था; किन्तु प्रकृतिको इससे पूरी तरह साफ नहीं किया था। इसमें आश्चर्य नहीं कि इस क्रियाने अन्त: पुरुष और उसके अनुभवोंको कुछ समयके लिये पीछे धकेल दिया; यदि उसने ऐसा न किया होता तो यह एक क्षणके लिये भी न टिक सकती। किन्तु यह कोई ऐसा कारण नहीं जिससे तुम ऐसा कहो मानों यह एक निराशाजनक पतन हो; ऐसी बात नहीं है यद्यपि यह एक गम्भीर पतन है। तुम्हें इसके प्रयोजनको समझकर इस लहरसे बाहर आ जाना है और उसे अपनेसे परे फैंक देना है। अपनेको स्थिर करो और इस घटनाको इसकी महत्तापर जरूरतसे अधिक बल न देते हुए, सीधा देखो, तब यह अधिक तेजीसे समाप्त हो जायगी।

*

किन्तु सच यह है कि ये चीजें दुखी और उदास होनेके लिये पर्याप्त कारण नहीं हैं। इस तरह वापस लौटना इन कठिनाइयोंके लिये बिलकुल सामान्य है और यह इस बातका प्रमाण नहीं कि कोई प्रगति नहीं हुई। यह वापसी (मनुष्यके यह समझ लेनेके बाद कि उसने उन्हें जीत लिया है) कोई ऐसी

रहस्यमय चीज नहीं है जिसे समझा न जा सके। उस समय जो हुआ करता है उसे मैं अपने लेखोंमें स्पष्ट कर चुका हूँ। जब प्रकृतिमें लम्बे समयसे गुँथी कोई अभ्यस्त क्रिया बाहर निकाल दी जाती है, तो यह प्रकृतिके किसी अल्प प्रकाशित भागमें आश्रय लेती है, और जब शेष प्रकृतिमेंसे भी बाहर निकाल दी जाती है, तो यह अवचेतनमें शरण लेती है और वहांसे तब ऊपर उठती है जब तुम्हें उसके उभरनेकी जरा भी आशा नहीं होती अथवा स्वप्नोंमें या आकस्मिक निश्चेतन क्रियाओंमें ऊपर आ जाती है या यह बाहर निकलकर उस परिवेशी सत्तामें ताक लगाये बैठी रहती है जिसके द्वारा वैश्व प्रकृति कार्य करती है और वह वहांसे सुझावों या पुरानी क्रियाओंको दुहरानेके द्वारा अपने राज्यको फिरसे प्राप्त करनेका यत्न करते हुए बाहरकी एक शक्तिके रूपमें आक्रमण करती है। व्यक्तिको दृढ़तापूर्वक तब तक डटे रहना होता है जबतक उनकी यह वापस आनेकी शक्ति लुप्त नहीं हो जाती। इन वापसियोंको या आक्रमणोंको अपनी सत्ताके हिस्से नहीं किन्तु उसपर हुए धावे समझना चाहिये —और किसी अवसाद या अनुत्साहको अनुमति दिये बिना अस्वीकार कर देना चाहिये। यदि मन उन्हें अनुमति नहीं देता, यदि प्राण उनका स्वागत करनेसे इनकार करता है, यदि भौतिक सत्ता स्थिर बनी रहती है और भौतिक प्रेरणाका अनुसरण करनेसे इनकार करती है, तो विचारका, प्राणिक आवेगका, भौतिक वेदनका वापस लौटना अपने अन्तिम सहारोंको खोने लगेगा और अन्तमें वे इतने कमजोर हो जायेंगे कि कोई गड़बड़ी नहीं पैदा कर सकेंगे।

*

अवसादका कोई कारण नहीं है। यदि कोई उतनी दूरतक प्रगति कर लेता है जितनी दूर तुमने की है, अर्थात् इतनी दूरतक कि मनुष्य शांतिका अनुभव करे और उसे बनाये रखे तथा चैत्य विवेक और चैत्य बोधको इतना अधिक प्राप्त कर ले, तो उसे अपने आध्यात्मिक भविष्यके बारेमें निराश होनेका कोई अधिकार नहीं है। तुम अपने विवेकको अभीतक सम्पूर्ण चैत्य परिवर्तनके अन्दर नहीं ले जा सके हो, क्योंकि बाह्य स्थूल चेतनाका एक बड़ा-सा अंग अभी भी पुरानी गतियोंमें कुछ सुख पा रहा था और इसलिये ये जड़ें अवचेतनामें सजीव बनी रहीं। जब तुम सावधान नहीं थे, सारी चीज ऊपर उठ आयी और कुछ समयके लिये बड़ी भारी विच्युति हो गयी। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति परिवर्तित होने योग्य नहीं है। बस, आवश्यकता यह है कि प्रशान्त आन्तरिक सचेतन स्थिति, चैत्य विवेक, और सबसे ऊपर, परिवर्तनका

संकल्प जो पहलेसे अधिक सबल और दृढ़ हो, इस प्रकार स्थापित किया जाय कि कोई भी उभाड़ या आक्रमण आंशिक रूपमें भी विवेकको धूमिल न कर सके और न संकल्पको ही स्थगित कर सके। तुमने सत्यको तो देखा पर पुरानी प्रकृतिके इस भागने, जो उठ खड़ा हुआ, इसे स्वीकार करना नहीं चाहा——वह अपना खेल करना चाहता था और उसने उसे तुमपर थोप दिया। इस बार तुम्हें समूची सत्तामें सम्पूर्ण सत्यतापर जोर देना चाहिये जिससे कि तुम्हारे अन्दरकी कोई चीज चैत्य विवेककी देखी हुई चीजकों अस्वीकार न करे, जिसे चैत्य विवेकने नामंजूर कर दिया है उसका कहीं कोई चीज समर्थन न करे और न उसे अनुमति दे, आध्यात्मिक दीनता, धर्माभिमान, आत्मप्रस्थापन, अपने-आपको दूसरोंपर लादनेकी इच्छा दूसरोंका विचार करनेकी प्रवृत्ति आदिको छोड़ना अस्वीकार न करे। तुम जानते हो कि ये सारे दोष तुम्हारे अन्दर हैं, उन्हें निकालनेमें समय लग सकता है, किन्तु आन्तर आत्माके प्रति यदि सर्वरूपेण सच्चा होनेका संकल्प सबल, सुदृढ़ और सतर्क हो और श्रीमांकी शक्तिको सदा पुकारता हो तो अभी जैसा सम्भव प्रतीत होता है उससे जल्दी ही यह काम हो सकता है।

*

भूतकालको जो पाठ तुम्हें सीखाना है उसे तुम जबतक सीख नहीं लेते तबतक यह तुम्हारे पास वापस आता रहता है। इस बातको सावधानीसे देखो कि किस प्रकारकी स्मृतियां तुम्हारे पास आती हैं, तो तुम पाओगे कि वे तुम्हारे अन्दर ऐसी किन्हीं मनोवैज्ञानिक क्रियाओंसे सम्बद्ध हैं जिनसे तुम्हें छुटकारा पाना है। तो तुम्हें अपनी उन सब चीजोंको पहचाननेके लिये तैयार रहना होगा जो ठीक नहीं थी और अब तक भी ठीक नहीं हुई इस बातका ख्याल रखो कि कोई मिथ्याभिमान या सदाचारका अभिमान तुम्हारी दृष्टिको आवृत न कर लें।

X

हमारी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी। यह तुम्हारे भौतिक मनके बावजूद भी असरकारक हो सकती है, किन्तु यह और भी अधिक असरकारक होगी यदि स्थिरता पूर्वक कार्य करनेवाला संकल्प उसके उपकरणके रूपमें वहां विद्यमान हो। आध्यात्मिक सफलतामें हमेशा ही दो तत्व होते हैं—व्यक्तिका अपना

स्थिरसंकल्प एवं प्रयत्न तथा वह उच्चतर शक्ति जो एक या दूसरे रूपमें सहायता देती है और प्रयत्नका फल प्रदान करती है।

*

तुम्हारी मनोवृत्ति थी ऊपर चले जानेकी और उच्चतर चेतनाको निम्न प्रकृतिसे ही निबटनेके लिये छोड़ देनेकी जिंससे उसके लिये तुम्हें कोई व्यक्तिगत प्रयत्न न करना पड़े। वह (वृत्ति) दो अवस्थाओंमें ठीक-ठीक काम कर सकती है। (1) यदि शांति और शक्ति आकर नीचे भौतिक सत्तातक सारी सत्ताको अधिकारमें कर लें; (2) यदि तुम अन्तः सत्ताको बाह्य सत्तासे आच्छादित होनेसे बचाये रखनेमें सफल हो जाओ। भौतिक सत्ता शान्तिको आत्मसात् करनेमें असमर्थ हुई, इसके स्थानपर जड़ता उत्पन्न हुई; शक्ति नीचे न आ सकी; बाह्य प्रकृतिसे आये सुझाव तुम्हारे लिये अत्यधिक प्रबल साबित हुए और इन सुझावों और जड़ताके बीचमें आकर उन्होंने साधनामें विघ्न डाला।

*

मैंने यह नहीं कहा कि तुमने भूल की है। मैंने केवल यही बताया है कि क्या हुआ और उसके क्या कारण थे। यदि तुम उससे ऊपर रह सकते और शक्तिको नीचे आकर कार्य करने देते और उस समय तुम बाह्य प्रकृतिसे अनासक्त रहते तो सब कुछ ठीक हो जाता। तुम ऊपर इसलिये जा सके कि शान्ति नीचे उतरी। तुम ऊपर इसलिये स्थिर न रह सके कि शान्तिने भौतिक सत्ताको पर्याप्त रूपसे अधिकृत नहीं किया था और शक्ति पर्याप्त अवतरित नहीं हुई थी। इसी बीच तमस् उभरा, तुम बाह्य प्रकृतिमें प्राणिक सुझावों और तमस् आ पड़नेसे अधिकाधिक विक्षुब्ध होते गये, इसलिये तुम अनासक्त रहनेमें और शक्तिको अधिकाधिक उतारने या अधिकाधिक नीचे बुला लानेमें समर्थ नहीं हुए। फलतः तुम स्थूल चेतनामें नीचे उतर आये। यह सब कहकर मैं तुम्हें कोई दोष नहीं दे रहा, या यह नहीं कह रहा कि तुमने भूल की या तुमने माताजीके संकल्पके विरुद्ध कार्य किया। भूल करने या माताजीकी इच्छानुसार न करनेकी ये धारणाएं तुम्हारी अपनी हैं, मेरी नहीं।

*

जब मन और भौतिक सत्ताको अपने हाथमें कर लेते हैं और इसे अपना यन्त्र बना लेते हैं, तो तमस् नहीं रहता। किन्तु यहां स्थूल चेतनासे निबटा जा चुका है। यदि यह अपने भीतर अन्तःपुरुषको तमस्से आच्छादित किये बिना उसकी शान्तिको ग्रहण कर सकी होती — तो सब ठीक हो जाता। किन्तु प्राणने अपनी मांग और असन्तोषको लेकर किसी तरह हस्तक्षेप किया है, इसलिये प्रगतिमें यह अवरोध एवं अक्षमता आई हैं। साधनामें ऐसी बात प्रायः होती है और व्यक्तिमें सक्रिय होकर इसका परित्याग करनेकी अथवा जबतक यह थक न जाय तबतक अनासक्त रहनेकी शक्ति होनी चाहिये। उसके बाद सच्ची क्रिया फिर आरम्भ हो जाती है।

*

तुम सदा ही यह आशा करते रहते हो कि माताजी यह करें — और यहां आकर फिर आलस्य और तमस् अन्दर घुस आते हैं — यह तामसिक समर्पणका भाव है। यदि माताजी तुम्हें अच्छी स्थितिमें लौटा ले आती हैं, तो तुम्हारा प्राण तुम्हें फिरसे नीचे खींच ले जाता है। तुम जबतक इस प्राणको हां कहते रहते हो और उसकी निराशाजनक बातको, उग्रताओंको तथा उसकी बाकी चीजोंको अपनी मानते रहते हो तबतक यह प्राण कैसे रुक सकता है? अनासक्ति नितान्त आवश्यक है।

*

मैं दो बातोंपर बल देना चाहता था, इसलिये मैंने उनके सम्बन्धमें इतना अधिक लिखा है।

1. माताजीके प्रति कोई तामसिक (जड़, निष्क्रिय) समर्पण नहीं करना होगा — क्योंकि वह अपनी प्रतिक्रियाके रूपमें निम्नतर या विरोधी शक्तियों या सुझावोंके सामने एक निष्क्रिय एवं जड़ लाचारी, एक प्रतिरोध न करनेवाली या लाचारीवश प्रतिरोध करनेवाली मौन सहमति या इन आक्रमणोंकी अधीनता ले आयेगा। एक निष्क्रिय अवस्था प्रचुर शान्ति, अचंचलता, यहांतक कि हर्ष भी ला सकती है, किन्तु वह सत्ताको विशालतामें एकाग्र होनेके स्थानपर बिखेर देती है और संकल्प पंगु हो जाता है। समर्पण होना चाहिये प्रकाशमय, सक्रिय, माताजीके प्रति स्वेच्छापूर्वक आत्मदानरूप, उनकी शक्तिको ग्रहण करनेवाला तथा क्रियाको सहारा देनेवाला। इसके साथ ही उन सब वस्तुओंका जो उनकी

न हो, परित्याग करनेके लिये एक शक्तिशाली जाग्रत संकल्प भी होना चाहिये। बहुतसे साधक निम्नतर प्रकृतिके आक्रमणोंसे पहले ही रोने-चिल्लाने लगते हैं कि "मैं लाचार हूँ, मैं विरोध नहीं कर सकता, यह निम्न प्रकृति आकर मुझसे अपने मनमाने काम करवाती है।" यह गलत ढंगकी निष्क्रियता है।

2. मनुष्यको एक ऐसी स्थितिकी आदत नहीं डाल लेनी चाहिये जिसमें वह सदैव सुझावों और शक्तियोंके साथ संघर्ष करता रहे। लोग इस अवस्थामें सहज ही जा गिरते हैं और इसे अपनी आदत बना लेते हैं—प्राणिक हिस्सा चीख-पुकार करनेमें एक तरहका उत्तेजनापूर्ण सन्तोष पाता है, "मुझपर हमला हुआ है, मुझे दबाया जा रहा है, मैं कष्ट पा रहा हूँ, मैं दुःखी हूँ। मेरा भाग्य भी कितना शोचनीय है। हे भगवान्, आप क्यों नहीं सहायता करते? मेरे लिये कोई सहायता नहीं, भगवान्की कृपा भी नहीं? मुझे अपनी विपदा और अधोगतिपर छोड़ दिया गया है आदि, आदि, आदि"। मैं नहीं चाहता कि एक और साधक भी इस अवस्थामें जा गिरे—इसीलिये इस सतत संघर्षकी आदतमें तुम्हारे उलझ जानेसे पहले ही मैं तुम्हें पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, रुक जाओ! ये शक्तियां तुम्हें ये अनुभव कराना चाहती हैं कि तुम असहाय हो, पराजित और अभिभूत हो गये हो, उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहिये।

*

यह सब है स्थूल मनका आध्यात्मिक प्राप्तिके लिये आवश्यक प्रयास और संघर्षका कष्ट उठानेसे इनकार कर देना। उसे सर्वोच्च वस्तु चाहिये किन्तु वह चाहता है कि रास्तेमें निर्विघ्न रूपसे प्रगति होती रहे, "कौन ऐसा पामर है जो भगवान्को पानेके लिये इतनी सारी कठिनाईका सामना करेगा?"—इसके पीछे यही भाव काम कर रहा है। विचारोंसे सम्बन्ध रखनेवाली कठिनाई एक ऐसी कठिनाई है जिसमेंसे प्रत्येक योगी गुजरा है यही बात कई दिन प्रयत्न करनेके बाद थोड़ेसे परिणाम आनेकी घटनापर भी लागू होती है। मनुष्य जब खेतको साफ करके उसे बहाकर, उसमें बीज बोकर उसकी रखवाली करता है तभी बड़ी फसलोंकी आशा की जा सकती है।

या तो व्यक्तिको प्रयत्नका उपयोग करनेके बाद शान्त और अध्यवसायी बनना होगा, या उसे सतत आवाहन और अभीप्सा करते हुए भगवान्पर भरोसा रखना होगा। किन्तु तब वह भरोसा सच्चा होना चाहिये जो तत्काल फल प्राप्तिके लिये आग्रह न रखता हो।

*

शक्ति हरेक चीज कर सकती है, हरेक चीजको वदल सकती है और बदलेगी भी किन्तु वह इसे तभी पूर्णतासे, सरलतासे और स्थायी रूपसे कर सकती है जब तुम्हारा अपना मानसिक, प्राणिक और भौतिक संकल्प सत्यके पक्षमें लगा दिया जाय। यदि तुम प्राणिक अज्ञानके पक्षमें रहो और स्वयं अपने आध्यात्मिक परिवर्तनके विरोधमें लड़ाई करना चाहो, तो इसका अर्थ है कार्य पूरा होनेसे पहले अष्टदायक और कठिन संघर्ष। इसीलिये मैं कम-से-कम अचंचल रहने और उसके साथ-साथ यथाशक्ति धैर्ययुक्त विश्वासके लिये आग्रह रखता हूँ — जिससे कि पतन एवं संघर्षभरी कष्ट दायक एवं यातनापूर्ण क्रिया न होकर शान्त और स्थिर प्रगति हो सके।

*

शक्ति भी तवतक किसी निश्चित एवं चिरस्थायी परिणामको नहीं उत्पन्न करती जबतक साधकके अन्तरमें सिद्धिके लिये कोई संकल्प और दृढ़ निश्चय न हो।

*

तुमने लिखा था: "मुझे इसके सम्बन्धमें परेशान होनेकी जरूरत नहीं — यदि शान्तिकी आवश्यकता हो तो वह आपसे-आप आ जायगी।" निःसन्देह सबसे अधिक बल शक्तिपर ही देना चाहिये किन्तु साधककी सक्रिय सहमतिकी भी आवश्यकता होती है; किन्हीं चीजोंमें शक्तिके साधनके रूपमें उसके संकल्पकी भी जरूरत हो सकती है।

*

उच्चतर क्रिया संकल्पके प्रयोगपर प्रतिबन्ध नहीं लगाती — संकल्प उच्चतर क्रियाका एक तत्व है।

*

ये चीजें इस तरह नहीं की जा सकती। क्योंकि रूपान्तर सच्चा हो सके इसके लिये सत्ताके सब हिस्सोंको अवरोधका परित्याग करना होगा। शक्ति

केवल सहायता कर सकती है या उन्हें यह कार्य करनेमें समर्थ बना सकती है किन्तु इस आवश्यक क्रियाका स्थान किसी संक्षिप्त क्रियाको नहीं दे सकती। तुम्हें ऐसा करना होगा जिससे तुम्हारा मन तथा तुम्हारी आन्तर सत्ता अपना संकल्प बल सम्पूर्ण क्रियाको प्रदान करे।

*

जबतक ऊर्ध्वमें स्थित शक्तिकी सतत क्रिया चालू नहीं हो जाती या फिर, भीतरसे एक गभीरतर संकल्प सक्रिय नहीं हो जाता तब तक मानसिक संकल्पकी जरूरत रहती ही है।

*

शक्ति संकल्पको आगे लाकर उसका उपयोग कर सकती है।

*

मनके अन्दर केवल विचार शक्ति ही नहीं किन्तु संकल्प भी होता है।

*

जीतनेके लिये सचेतन होना पहला कदम है किन्तु जीतनेके लिये सामर्थ्य की आवश्यकता होती है और साथ ही अनासक्ति एवं जीतनेके संकल्पकी भी।

*

संकल्प वह ऊर्जा है जो क्रियाको प्रेरित करती है या गलत क्रियाको रोकती है।

*

संकल्पके बिना दृढ़ता या अटलता नहीं आ सकी।

*

संकल्प अपनेको स्वयं क्रियान्वित कर सकता है। वह स्वभावसे ही एक शक्ति या ऊर्जा है।

*

जड़ निष्क्रिय संकल्प जैसी कोई चीज ही नहीं है। संकल्प अपने स्वभावसे ही गतिशील होता है। यदि वह संघर्ष या प्रयत्न न भी करे तो भी स्वयं उसकी उपस्थिति ही गतिशील होती है और प्रतिरोधपर सक्रिय रूपसे कार्य करती है। तुम जिसकी बात करते रहे हो वह है निष्क्रिय इच्छा — अर्थात् मैं चाहता हूँ कि यह चीज ऐसी हो या वैसी। इसका नाम संकल्प नहीं है।

*

तो यह सही ढंगकी संकल्प शक्ति नहीं, बहुत करके लोग उच्चतर चेतना एवं शक्तिको उतार लानेवाली शान्त किन्तु सबल संकल्प शक्तिके स्थानपर किसी संघर्षरत या आयासपूर्ण संकल्प शक्तिका प्रयोग करते हैं।

*

शान्ति संकल्पकी क्रियाके लिये पहलेसे आवश्यक शर्त नहीं है। जब सत्ता विक्षुब्ध होती है, तो प्रायः यह संकल्पका काम होता है कि वह उसपर बलपूर्वक शान्ति स्थापित करे।

*

संकल्प तो संकल्प ही है चाहे यह स्थिर हो या चंचल, चाहे यह योग सम्बन्धी लक्ष्यके लिये यौगिक ढंगसे कार्य करता हो या अयौगिक ढंगसे। तुम क्या यह समझते हो कि नेपोलियनमें और सीज़रमें कोई संकल्प-बल नहीं था या वे योगी थे? वस्तुओंके सम्बन्धमें तुम्हारे विचार बड़े विचित्र हैं। ऐसे तो तुम यह भी कह सकते हो कि स्मरण शक्ति तभी स्मरण शक्ति होती है जब केवल यह भगवान्‌का स्मरण करती है और तब स्मरण शक्ति नहीं रहती जब वह दूसरी चीजोंको याद करती है।

*

यहां ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं। जब मन और प्राण परस्पर सहमत हो जाते हैं जैसे कि कामनाके मामलेमें, तो संकल्प-बल अपने-आप ही कार्य करता है। यदि कामना तृप्त न हो तो संकल्प इसे प्राप्त करनेका यत्न करते हुए, उसपर आग्रह रखते हुए, मांगोंको दूहराते हुए, किसी भी व्यक्ति और उपायका प्रयोग करते हुए, तर्कों द्वारा मनसे उसका समर्थन करवाते हुए उसे अनिवार्य रूपसे संतुष्ट करने योग्य आवश्यकताके रूपमें प्रस्तुत करते हुए तबतक चोट पर चोट करता रहता है जबतक कामना पूरी न हो जाय। यह सब इस बातका प्रमाण है कि संकल्प-बल कार्य कर रहा है। जब तुम्हें साधनाके लिये संकल्प-बलका प्रयोग करना पड़ता है तो तुम्हारे अन्दर वैसी दृढ़ता नहीं होती, मन प्रयत्नको जारी न रखनेके लिये कारण ढूँढ़ लेता है, कठिनाईके प्रबल होते ही संकल्पको छोड़ दिया जाता है, उसमें सातत्य नहीं रहता, उसे अपने लक्ष्यपर स्थिर नहीं रखा जाता।

*

यह (संकल्प) विकासके द्वारा माताजीके संकल्पमें विलीन होने योग्य हो जाता है। एक ऐसा संकल्प जो प्रबल न हो, साधनाके लिये अत्यन्त बाधक है।

*

यदि संकल्पका निरन्तर प्रयोग किया जाय तो सत्ताका शेष भाग, कितनी ही मन्द गतिसे भी, संकल्पका अनुसरण करना सीख लेता है और तब क्रियाएं प्राणिक आवेग और कामनाओंके साथ नहीं बल्कि संकल्पके साथ संगत हो जाती हैं। जहांतक दूसरी बातोंका (खुद वेदनों और कामनाओं आदिका) प्रश्न है, यदि उन्हें अपनी क्रिया या कल्पनामें प्रश्रय और संकल्प द्वारा समर्थन न दिया जाय, यदि उनके आनेपर केवल अवलोकन करके उनका परित्याग कर दिया जाय तो थोड़ा बहुत संघर्षके बाद वे अपनी शक्ति खोने लगते हैं और क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं।

*

मैं समझता हूँ कि इसका कारण अवश्य यह रहा होगा कि प्रकृतिके

अन्य भागोंको बाध्य करनेके लिये संकल्प बलका प्रयोग करनेकी तुम्हारी आदत नहीं रही है—इसलिये जब तुम यह काम पूरा करना चाहते हो तो वे एक ऐसे नियन्त्रणको माननेसे इनकार कर देते हैं जिसके वे आदी नहीं हैं और उसे भी उन्हें वशमें रखनेका कोई अभ्यास नहीं है।

संकल्प चेतनाका एक अंग है और उसे मानव सत्ताओंमें प्रकृतिके व्यापारोंको नियन्त्रित करनेका मुख्य माध्यम होना चाहिये।

*

वह (संकल्पकी कमी) एक ऐसा सुझाव है जिसकी छाप तुमपर भौतिक तमस्‌ने थोप दी है। इसने तुम्हारे संकल्पको ढंक दिया है और इस बातसे सहमत कर लिया है कि अब तुम्हारे अन्दर कोई संकल्प नहीं बचा और उसकी सम्भावना भी नहीं रही।

*

तुम यह आशा नहीं कर सकते कि वैसी हठीली जड़ता इसलिये हट जायगी कि तुमने इसका प्रतिरोध करनेके लिये किसी तरहका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है।

*

(विरोधी शक्तिके विरोधमें उठ खड़े होनेमें असमर्थताका मूल कारण:) उस संकल्पकी शिथिलता है जो लम्बे समयतक लगातार प्रयत्न नहीं करना चाहती। यह ऐसा ही है मानों कोई व्यक्ति एक क्षणभर आधा कदम चलनेके बाद आश्चर्य करने लगे कि इतना भीषण प्रयास करनेके बाद वह लक्ष्यकी ओर 100 मील आगे क्यों नहीं बढ़ गया।

*

इसका केवल यही अर्थ है कि तुम्हारा संकल्प निर्बल है और सच्चा नहीं है। विचित्र प्रकारका संकल्प है यह! शायद यह एक ऐसी मोटरकार जैसा है जो चलके नहीं देती और जिसे तुम्हें पीछेसे धकेलना पड़ता है।

*

जब तुम अधिक अच्छी अवस्थाका अर्थात् शान्ति और शक्तिको काम करते हुए अनुभव करो तो यह अधिक अच्छा है कि तुम अपनेको स्थिर और शान्त रखते हुए शक्तिको कार्य करने दो, तथा मनके द्वारा कोई काम करनेकी चेष्टा न करो।

जब गड़बड़ या गलत स्थिति उत्पन्न हो, तो तुम्हें गलत विचारोंपर ध्यान न देकर बल्कि उनका परित्याग करते हुए शान्त स्थितिको नीचे बुला लाना है, सच्ची स्थितिमें वापस आनेकी चेष्टा करनी है। यदि तुम यह तुरन्त न भी कर सको तब भी यथाशक्ति शान्त रहो और अभीप्सा तथा समर्पण करो। भगवान्‌की शक्ति व्यक्तिगत प्रयत्नकी अपेक्षा सदा ही अधिक कुछ कर सकती है; मुख्य बात यह है कि तुम शान्त हो जाओ और इसे नीचे बुला लाओ या फिरसे सामने ले आओ — क्योंकि यह शक्ति सदैव पीछे या ऊपर विद्यमान होती है।

*

'क्ष' हमेशा ही ऐसा रहा है। उसकी मनकी प्रवृत्ति ही अत्यधिक चंचल है; कभी-कभी उसमें चैत्य उद्‌घाटन होता है और तब सब ठीक होता है, उसके बाद मन आड़े आता है और वह उलझनमें पड़कर दुखी हो जाता है। यहांसे चले जानेसे वह ठीक नहीं होगा; इन बातोंपर सोचते रहनेकी क्रिया उसे केवल और अधिक उलझा देगी और भटका देगी। वह एक ऐसा आदमी है जिसे इन सब बातोंसे एक पूर्ण और स्थायी चैत्य उद्‌घाटन द्वारा, हृदयके द्वारा ही बचाया जा सकता है न कि मनके द्वारा।

*

बाह्य सत्तामें कोई भी प्रतिरोध हो वह चला ही जायगा, केवल इसमें समय लगता है। यह हमेशा उत्तम होता है कि व्यक्ति इस निश्चयात्मकतापर अपनी नींव स्थापित करे और इसके आधारपर अपने मनमें तब भी शान्त और अटल बना रहे जब वह कठिनाईका सक्रियतापूर्वक प्रतिकार न कर सके। क्योंकि भले ही मनुष्य विक्षुब्ध और चिन्तित हो तो भी शान्त निष्क्रिय प्रति-रोधके कारण वह जल्दी चली जायगी।

व्यक्ति जब माताजीकी शक्तिको सक्रिय रूपसे नहीं पुकार सकता तब भी उसे इसपर भरोसा रखना चाहिये कि वह आयेगी ही।

*

जिस ढंगसे दर्द मिट गया, वह यह बताता है कि तुम्हें समग्र प्रकृतिसे किस प्रकार निबटना चाहिये,—क्योंकि बेचैनी और गड़बड़ीके भौतिक कारणोंके समान ही मानसिक और प्राणिक कारणोंके साथ निबटनेका भी यही ढंग है। अन्तरमें शान्त रहना, श्रद्धा बनाये रखना और शान्त एवं उद्घाटित होनेके लिये उसका अनुभव करना तथा उच्चतर शक्तिको कार्य करने देना यही एक उपाय है। स्वभावतः ही पूर्णतया सचेतन होना अभी सम्भव नहीं है, किन्तु इसे अनुभव करना, उद्घाटित होना, इसे कार्य करने देना, इसके परिणामोंका अवलोकन करना यह पहली बात है। यही सचेतन होनेका प्रारम्भ है, पूर्ण चेतनाकी ओर जानेका मार्ग है।

*

हमारी सहायताको सदा ही दृढ़तासे पकड़े रहो,—जब तुम उसका अनुभव न कर सको तो उसके लिये पुकार करो और तबतक शान्त बने रहो जबतक तुम्हें फिरसे उसका अनुभव न होने लगे। तुमने जिसकी चर्चा की है वह केवल एक आवरण है जो तुम्हारे और सहायताकी उपस्थितिकी अनुभूतिके बीचमें आ जाता है—क्योंकि सहायता तो सदैव विद्यमान होती है।

*

यदि तुम कोई अन्य वस्तु न कर सको, तो कम-से-कम तुम्हें अनासक्त अवश्य बने रहना चाहिये—सत्तामें एक ऐसा भाग सदैव होता है जो अनासक्त रह सकता है और अड़े रहकर ऊपरसे शक्तिको नीचे पुकारता रह सकता है।

*

यदि हृदयमें सचाई और प्रयासमें सत्यनिष्ठा और श्रद्धा हो तो उसके द्वारा कोई भी कठिनाई वस्तुतः सुगम बनाई जा सकती है, यहांतक कि असम्भव चीज भी सम्भव बन सकती है। प्रायः ऐसा भी पाया गया है कि कुछ हदतक अभ्यास और ईमानदारीसे प्रयत्न करनेके बाद प्रायः भीतरसे कोई सत्ता हस्तक्षेप करती है और जिस कार्यमें लम्बा समय लग सकता, वह निश्चयात्मक रूपसे और शीघ्र ही पूरा हो जाता है।

तुम्हारी प्रार्थनाको अवश्य ही प्रत्युत्तर मिलेगा क्योंकि तुम उसीकी ओर बढ़ रहे हो।

*

मदद जिस भी ढंगसे आवश्यक या सम्भव है, दी जाती है। यह शक्ति, प्रकाश और ज्ञानतक ही सीमित नहीं है। निःसन्देह, यदि शक्ति इत्यादिसे तुम्हारा मतलब चाहे किसी भी या प्रत्येक चीजसे हो तो यह सूत्र ठीक है।

*

यह कई बातोंपर आधार रखता है यदि चेतना ज्ञानरूपी पक्षमें ही विकसित हुई हो तो यह केवल सावधान ही करेगी। यदि उसका संकल्प या शक्तिका पक्ष विकसित हो तो यह कार्यान्वित वस्तुके करनेमें मदद देगी।

*

व्यक्तिके अधिकाधिक ऊंचा उठने बल्कि अधिकाधिक पूर्ण होनेके साथ-साथ सहायताके लिये पुकारकी आवश्यकता कम होती जाती है और उसका स्थान उत्तरोत्तर उच्चतर शक्तिकी स्वतः चालित क्रिया अधिकाधिक लेती जाती है।

*

ऐसा कोई कारण नहीं कि तुम पत्र लिखना बन्द कर दो—केवल एक प्रकारके पत्रपर ही आपत्ति की गई है और वह सम्पर्क स्थापित करनेका बहुत अच्छा साधन नहीं है; तुमने यह स्वयं अनुभव किया कि इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई। मैंने तुम्हें इसलिये पत्र लिखनेके लिये कहा कि उस समय तुम्हें अपने अन्दरके खतरनाक तत्वसे छुटकारा पानेकी बहुत अधिक जरूरत थी। यद्यपि इससे तुम्हें तुरन्त छुटकारा नहीं मिला तो भी इसके कारण मुझे इस युद्धकी व्यूह-रचनाके विषयमें ठीक-ठीक पता लगता रहा और संकटपूर्ण क्षणमें इसके द्वारा आक्रमणकारी शक्तियोंपर एक खास दबाव डालनेमें सहायता मिली। लेकिन मैं नहीं समझता कि अब इनमेंसे किसी भी चीजकी आवश्यकता

है। बल्कि अपने भीतरसे इन क्रियाओंके मूलतत्वको अनुत्साहित करना ही इस समय आवश्यक है; किन्तु जैसा कि मैंने कहा, उन्हें भौतिक रूप देना उन्हें अधिक मूर्त्त और ठोस बनानेकी ओर ही प्रेरित करेगा।

यह एक ऐसा असंदिग्ध तथ्य है जो सैंकड़ों उदाहरणोंके द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि अपनी कठिनाइयोंको हमें सही-सही बताना बहुतसे लोगोंके लिये उससे तत्काल यहांतक कि तत्क्षण छूटनेका सर्वोत्तम साधन रहा है, यद्यपि हमेशा नहीं। यह बात साधकोंने यहांपर ही नहीं किंतु बहुत दूर-दूर भी होती देखी है और केवल आन्तरिक कठिनाइयोंके लिये ही नहीं किन्तु बीमार और प्रतिकूल परिस्थितियोंके बाहरी दबावके बारेमें भी। किन्तु उसके लिये एक विशेष वृत्ति आवश्यक है अर्थात् मन और प्राणमें एक प्रबल श्रद्धा या आन्तर सत्तामें ग्रहण करने और प्रत्युत्तर देनेकी आदत। जहां यह आदत दृढ़ हो गई होती है वहां मैंने इसे लगभग अचूक ढंगसे सफल होते देखा है, तब भी जब श्रद्धा अस्थिर होती या मनकी बाह्य अभिव्यक्ति हलकी, अज्ञानयुक्त होती या फिर उसका रूप गलत या अशुद्ध होता। इसके अलावा, यह तरीका सबसे अधिक तब सफल होता है जब लिखनेवाला अपने क्रियाओंका साक्षी बनकर लिख सके या क्रियाओंका वर्णन सही लगभग निष्पक्ष यथार्थताके साथ, अपनी प्रकृतिके एक व्यापारके रूपमें या अपनेको प्रभावित करनेवाली उस शक्तिकी क्रियाके रूपमें कर सके जिससे वह छुटकारा पाना चाहता है। दूसरी ओर यदि लिखते समय उसका प्राण उस वस्तुके अधिकारमें हो जाय जो वह लिख रहा है या यदि वह व्यक्तिके स्थानपर कलम अपने हाथमें ले ले —और शंका, विद्रोह, अवसाद तथा निराशाको व्यक्त करने लगे और प्रायः ही उन्हें पुष्ट भी करे तो यह दूसरा ही मामला हो जाता है। यहां भी कभी-कभी अभिव्यक्ति शोधनके रूपमें कार्य करती है; किन्तु यह भी हो सकता है अवस्थाका विवरण आक्रमणको कम-से-कम तत्क्षणके लिये बल प्रदान करे, ऐसा प्रतीत हो कि वह उसे बढ़ा रहा और खेंच रहा है और उसे शायद उस समयके लिये उसकी अपनी ही उग्रताके द्वारा थकाकर निकाल रहा है। और इस प्रकार अन्तमें एक मुक्ति दिला रहा है, किन्तु यह सब होता है उथल-पुथल और हेलचलकी भारी कीमत चुका कर ही—और आवर्तादशमलव जैसी क्रियाका खतरा लेकर ही, क्योंकि यह छुटकारा आक्रमणकारी शक्तिके थोड़े समयकी थकानके कारण ही मिला है न कि साधककी असंदिग्ध अनुमति और समर्थनके द्वारा और भागवत शक्तिके हस्तक्षेपके बलपर परित्याग और पवित्रीकरणकी क्रियाके द्वारा। यहां एक अस्तव्यस्त लड़ाई हुई है, हड़बड़ीमें एक हस्तक्षेप किया गया है और शक्तियोंको स्पष्टरूपसे व्यूहबद्ध नहीं किया गया—और इस अस्तव्यस्तता एवं हड़-

बड़ीमें सहायक शक्तिके हस्तक्षेप का अनुभव नहीं होता। तुम्हारी संकटकी स्थितियोंमें ऐसा ही हुआ करता था; तुम्हारे अन्दरका प्राण बहुत गम्भीरतासे प्रभावित हुआ था और वह आक्रमणकारी शक्ति का समर्थन करने और उसके तर्कोंको प्रकट करने लगा—जागरूक मन कठिनाइयोंका स्पष्ट अवलोकन करके उसे व्यक्त करे साथ ही वस्तु स्थितिको इस प्रकार रखे जिससे उच्चतर प्रकाश और शक्ति उसपर कार्य करे, इसके स्थानपर विरोधी दलके पक्षमें एक जोरदार वक्तव्य दिया गया। बहुतसे (यहांतक कि आगे बढ़े हुए) साधकोंने भी अपनी कठिनाइयोंको इस प्रकार व्यक्त करनेकी आदत बना ली थी और कुछ अब भी ऐसा करते हैं; वे अभीतक यह नहीं समझ सकते कि यह कोई तरीका नहीं है। एक समय आश्रममें एक प्रकारका वेदवाक्य (Gospel) चल पड़ा था कि यही करना चाहिये,—मैं नहीं जानता किस आधारपर, क्योंकि यह योग सम्बन्धी मेरी शिक्षा का कोई अंग कदापि नहीं रहा,—किन्तु अनुभवने बताया है कि इससे काम नहीं बनता; यह व्यक्तिको आवर्त दशमलवकी पद्धतिमें, संघर्षके कभी न समाप्त होनेवाले चक्करमें फंसा देती है। यह आत्म-उद्‌घाटनकी उस क्रियासे बिलकुल भिन्न है जो सफल होती है (यहां भी यह आवश्यक नहीं कि क्षणभरमें ही, किन्तु फिर भी बुद्धि संगत और क्रमिक रूपमें) और जिसके लिये वे लोग सोच रहे हैं गुरुके सामने सब चीजोंको इसलिये खोलनेका आग्रह रखते हैं जिससे सहायता वहां अधिक प्रभावकारी रूपमें रह सके।

मानवकी सामान्य प्रकृतिको आध्यात्मिक प्रकृतिमें रूपान्तरिक करने जैसा, बहिर्मुखी मूल्यों और उपरितलीय अनुभवोंकी पद्धतिके स्थानपर गभीरतर आन्तर-मूल्यों और अनुभवोंको स्थापित करने जैसे बड़े कठिन कामसे शंकाएं उठना और कठिनाइयां आना अनिवार्य है। किन्तु शंकाओं तथा कठिनाइयोंको पूर्णतया प्रबल बनाकर नहीं जीता जा सकता; बल्कि यह कार्य उनसे पीछे हटना और उनके साथ बह जानेसे इनकार करना सीखकर ही किया जा सकता है; तब अन्तरकी शान्त छोटीसी आवाज सुननेका और बाहरकी इन अधिक ऊंचे शोर-शराबेवाली आवाजों और क्रियाओंको बाहर धकेल देनेका समय आता है। तुम्हें इस भीतरकी ज्योतिके लिये जगह करनी होगी, बाह्य मनकी ज्योति आन्तर मूल्योंके अन्वेषणमें या आध्यात्मिक अनुभवोंके सत्यपर विचार करनेमें बिलकुल असमर्थ है।

*

भागवत संरक्षणसे व्यक्तिको बहुत अधिक आशा नहीं करनी चाहिये

क्योंकि हम और जगत जैसे बने हैं उसे देखते हुए भागवत संरक्षणको सीमित रहकर ही काम करना पड़ता है। निःसन्देह चमत्कार हुआ करते हैं पर हम उनके होनेके लिये दावा नहीं कर सकते।

*

तुमने जो वृत्ति धारण की है वह उचित ही है। यह वेदन और वृत्ति ही तुम्हें उन आक्रमणोंपर इतनी जल्दी विजय प्राप्त करनेमें सहायता देते हैं जो कभी तुमपर आ पड़ते हैं और तुम्हें सही चेतनामेंसे दूर फैंक देते हैं। जैसा कि तुमने कहा है, कठिनाइयोंको इस रूपमें लेनेपर वे सुयोग बन जाती हैं; कठिनाईका सही भावनासे मुकाबला करके जीत लेनेपर मनुष्य पाता है कि एक अवरोध समाप्त हो गया है, वह आगेकी ओर एक कदम बढ़ गया है। सत्ताके किसी हिस्सेमें शंका एवं प्रतिरोध करनेसे कष्ट एवं कठिनाइयां बढ़ ही जाती हैं—इसीलिये पुरानी भारतीय योग प्रणालियोंमें गुरुका आज्ञाको बिना ननु-नचके मान लेने और उसका अचूक पालन करनेका विधान किया गया है—यह मांग गुरुके खातिर नहीं किन्तु शिष्यकी खातिर की गई है।

*

इस तरहका तीव्र संघर्ष साधकके सामने बहुधा तब आता है जब वह अशुद्धियोंको धीरे-धीरे बाहर निकालनेके स्थानपर, जो प्रकृतिका साधारण क्रम है, एक पूर्ण और निर्णयात्मक प्रगति करना चाहता है; निम्न भूमिकासे पीछेकी ओर खींचनेवाला प्रबल आकर्षण ऊर्ध्वकी ओर होनेवाली प्रेरणाका प्रतिरोध करता है किन्तु उसका लाभ यह है कि जब व्यक्ति डटे रहकर विजयी हो जाता है, तो संघर्ष द्वारा बहुत कुछ प्राप्ति हो जाती है और वह भी सत्ताके उस हिस्सेमें जो निर्णयात्मक लाभका प्रतिरोध किया करता है। इसलिये डटे रहो और कभी-कभी आनेवाली डांवालोल स्थितियों या ठोकरोंसे दुःखी मत होओ जो ऐसे कठिन संघर्षमें सहज ही लग सकती हैं। साधकको सदा ही यह नियम बना लेना चाहिये कि ऐसी घटनाएं होनेपर वह रुक न जाय किन्तु अपनेको फिरसे स्वस्थ करके दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ता जाय।

हमारी सहायता, हमारी शक्ति, हमारे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे और अन्तिम विजयतक प्रत्येक पगपर तुम्हारी मदद करते रहेंगें।

*

कृपा और संरक्षण सदैव तुम्हारे साथ हैं। किसी आन्तर या बाह्य कठिनाई या विपदाके आनेपर अपनेको उससे उत्पीड़ित न होने दो; रक्षणहारी भागवत शक्तिकी शरण ग्रहण करो।

यदि तुम यह सदा ही श्रद्धा और सचाईके साथ करो तो तुम अपने अन्दर किसी ऐसी वस्तुको खुलते हुए पाओगे जो सभी बाहरी विक्षोभोंके होते हुए भी हमेशा स्थिर और शान्त रहेगी।

*

हां, यही बात है। अपने ऊपर प्राप्त की गई हरेक विजयका अर्थ है और अधिक विजय प्राप्त करनेके लिये नवीन बलकी प्राप्ति।

*

यह वस्तुतः सत्य है कि जब व्यक्ति किसी कठिनाईको जीत लेता है या आगे बढ़ता है, तो यह वस्तु वातावरणमें प्रगतिके समुचित प्रवाहको उत्पन्न कर देती है। इसके सिवाय प्रत्येक बार जब व्यक्तिमें कोई उद्घाटन होता है तो उससे इसके अधिक स्थायी होनेकी सम्भावना बढ़ जाती है।

*

हां, व्यक्तिको महान् प्रगतिसे ऐसी महत्तर प्रगतिकी ओर प्रेरित और प्रोत्साहित होना चाहिये जिसके सामने पहली प्रगति कुछ भी न लगे।

*

हां, —व्यक्तिको अपनी नजर हमेशा आगे, भविष्यकी ओर लगाये रखनी चाहिये—पीछेकी ओर मुड़कर देखना बहुत कम ही हितकर होता है क्योंकि यह व्यक्तिको भूतकालीन चेतनाकी ओर फेर देता है।

*

अपने संग शान्ति और अचंचलता एवं हर्षको लिये रहो तथा भगवान्को

स्मरण करते हुए सदैव इसे बनाये रखो।

यदि भूत और भविष्य सम्बन्धी विचार महज स्मृतियों और कल्पनाओंके रूपमें ही आयें तो उनका कोई लाभ नहीं और तुम्हें अपने मनको शान्तिपूर्वक उनसे हटाकर वापस भगवान्‌की ओर और योगकी ओर मोड़ना चाहिये। यदि वे कोई लाभदायक चीज हैं तो उन्हें भगवान्‌के सामने प्रस्तुत कर दो, उन्हें सत्यके प्रकाशमें रख दो, जिससे तुम उनके सम्बन्धमें सत्यको या यदि किसी निर्णयकी आवश्यकता हो तो भविष्यके लिये उचित निर्णय या बने-बनाये नियम पा सको।

तुम जिन आंसुओंकी चर्चा करते हो उनसे कोई हानि नहीं, वे अन्तरात्मासे, चैत्य सत्तामेंसे उद्भूत होते हैं, और सहायक होते हैं न कि बाधक।

*

व्यक्ति भूतकालकी ओर वापस नहीं लौट सकता, उसे हमेशा भविष्यकी ओर जाना है।

*

यह सदैव अधिक अच्छा होता है कि व्यक्ति अपना मुख भूतकालकी अपेक्षा भविष्यकी ओर मोड़े रखे।

*

भूतकालको पकड़े नहीं रखना है,—व्यक्तिको भावी उपलब्धिमें प्रवेश करना है:। भूतकालमें भविष्यके लिये जो भी आवश्यक तत्व हैं उन सबको हाथमें लेकर एक नया रूप दिया जायगा।

विभाग सात

विरोधी शक्तियोंका प्रतिरोध

विरोधी शक्तियोंका प्रतिरोध

यह ऐसा तथ्य है जिसे आदिकालसे भारतकी तरह युरोप और आफ्रिकाके सभी योगी और गुह्यविद् भी जानते हैं कि जहां कभी योग या यज्ञ प्रारम्भ किया जाता है वहां विरोधी आसुरिक शक्तियां किसी भी साधन द्वारा उसे रोकनेके लिये आ जुटती हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि एक निम्न प्रकृति है और एक उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति—यह भी सब जानते हैं कि वे परस्पर भिन्न दिशाओंमें खींचती हैं और पहले-पहल निम्नतर प्रकृति प्रबलतम होती हैं और बादमें उच्चतर प्रकृति। यह सर्व विदित है कि विरोधी आसुरिक शक्तियां निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाओंका लाभ उठाती हैं और उनके द्वारा सिद्धिको बिगाड़ने, नष्टभ्रष्ट करने या उसमें विलम्ब करानेकी चेष्टा करती हैं। यह उपनिषद युग जैसे पुराने कालसे कहा जाता रहा है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्); आगे जाकर ईसा मसीहने भी यही कहा था "जिस रास्ते और द्वारसे होकर व्यक्ति भगवान्के राज्यमें प्रवेश करता है वह कठिन और तंग है और यह भी कि "पुकार बहुतोंको होती है पर चुने विरले ही जाते हैं"—इन सबका कारण ये कठिनाइयां ही हैं। किन्तु यह भी हमेशा सर्व विदित रहा है कि जो लोग हृदयसे सच्चे और निष्ठावान् हैं और ऐसे ही बने रहते हैं तथा जो भगवान्पर भरोसा रखते हैं वे सब कठिनाइयों, ठोकरों या पतनोंके बावजूद लक्ष्यको प्राप्त कर लेते हैं।

*

सामान्य मानव-त्रुटियां होना एक बात है—वे अविद्यामय निम्न प्रकृतिकी क्रिया हैं। पर विरोधी शक्तियोंकी क्रिया एक ऐसा विशेष हस्तक्षेप है जो उग्र अन्तःसंघर्षोंको, असामान्य अवसादोंको, इस प्रकारके विचार और प्रवृत्तियोंको उत्पन्न करता है जिन्हें ऐसे सुझावोंके रूपमें आसानीसे पहचाना जा सकता है जैसे आश्रमसे चले आना, योग-साधना छोड़ देना, भगवान्के विरुद्ध विद्रोह करना, असाध्य प्रतीत होनेवाली विपत्ति और विनाशके सुझाव, बुद्धिहीन आवेग आदि-आदि। यह सर्व सामान्य मानव निर्बलताओंसे भिन्न कोटिकी चीजें हैं।

*

मनुष्योंमें निम्न प्रकृतिका सामान्य प्रतिरोध और विरोधी सत्ताओंकी क्रिया, ये दो बिलकुल भिन्न चीजें हैं। पहली स्वाभाविक क्रिया है और सबमें होती है; पिछली क्रिया एक ऐसा हस्तक्षेप है जो मानवेतर लोकसे होता है। किन्तु यह हस्तक्षेप दो रूपोंमें हो सकता है (1) विरोधी सत्ताएं निम्न प्रकृतिकी शक्तियोंका उपयोग करती हैं और उनपर दबाव डालकर उनसे प्रतिरोध करवाती हैं अन्यथा वे शान्त पड़ी रहें, प्रतिरोधको प्रबल या उग्र बनाती हैं अन्यथा वह प्रतिरोध हलका और मद्धिम हो, प्रतिरोधके उग्र होनेपर उसकी उग्रताको और भी बढ़ा देती हैं इसके सिवाय जब विरोधी सत्ताएं इन शक्तियोंपर क्रिया करती हैं तो उनमें एक अनिष्टकारी चतुराई, एक सचेतन योजना और संगठन होता है जो शक्तियोंके सामान्य प्रतिरोधमें प्रत्यक्ष नहीं होता। (2) वे कभी-कभी अपनी शक्तियों द्वारा आक्रमण करती हैं। जब ऐसा होता है तो व्यक्ति प्रायः उससे अल्पकालके लिये अभिभूत हो जाता है या कम-से-कम उस पर एक ऐसा दुर्निवार प्रभाव छा जाता है जो उसके विचारों, वेदनों और कार्योंको असाधारण बना देता है—मस्तिष्कपर काला परदा छा जाता है, प्राणमें तूफान आ जाता है, सबकुछ इस तरहसे कार्य करता है मानों व्यक्ति लाचार हो गया हो और अभिभूत करनेवाली शक्तियों द्वारा घसीटा जा रहा हो। दूसरी तरफ यह भी हो सकता है कि उससे अभिभूत होनेके स्थानपर केवल व्यक्तिपर उसका कोई प्रबल प्रभाव ही हो; तब लक्षण कम स्पष्ट होते हैं, किन्तु जो इन शक्तियोंके तौर-तरीकोंसे परिचित है उसके लिये व्याधिको देख लेना आसान होता है। अन्तमें यह भी हो सकता है कि व्यक्ति उससे आक्रान्त ही हो, अधिकृत या प्रभावित नहीं। जब व्यक्ति उससे पृथक् रहता है तो उससे पराभूत नहीं होता और प्रतिरोध करता है।

ऐसे भी कुछ लोग हैं जिन्हें विरोधी शक्तियां कभी स्पर्श नहीं करती।

*

स्थूल चेतनामें साधारण मानव प्रकृतिकी एक ऐसी सहज क्रिया होती है जिससे छुटकारा पानेमें समय लगता है। निश्चय ही हम उन्हें निम्न प्रकृतिकी शक्तियां कहते हैं किन्तु मनुष्यको उन्हें केवल साधारण शक्तियां ही मानना चाहिये, न कि विरोधी। हमें उन्हें बदलना है परन्तु साधारणतया इसमें समय लगता है और इसे शान्तिपूर्वक किया जा सकता है। व्यक्तिको विरोधी शक्तियोंकी अपेक्षा साधनाके रचनात्मक पक्षकी ओर अधिक संलग्न रहना होगा। यदि

वह उन्हें विरोधी वस्तु मानकर उनके विषयमें हमेशा विचार करता रहे और उनके आनेपर उन्हें भूतावेश मानकर विक्षुब्ध हो जाय तो यह ठीक नहीं।

ऐसी चीजें बहुत ही कम हैं जो सचमुचमें विरोधी हों और उनमें तथा प्रकृतिकी साधारण क्रियाओंमें भेद करना होगा। इनमें पहले प्रकारकी चीजको तो दूर हटाना होगा और दूसरे प्रकारकी चीजोंसे शान्तिके साथ तथा उनके बाह्य रूपसे विचलित या अनुत्साहित हुए बिना निबटना होगा।

*

प्रकृतिके दोष कोई बड़ी बात नहीं, उनसे क्रमशः निबटा जा सकता है। इन बाहरके आक्रमणोंसे, इन सुझावोंसे और उन गलत शक्तियोंके अन्दर फेंके जानेसे साधकको अपनेको पूरी तरह बचाये रखना होगा।

*

निम्न प्रकृति अज्ञानमयी और अदिव्य है, यह स्वयं ज्योति और सत्यका विरोध नहीं करती, बस यह उनकी ओर खुली हुई नहीं है। परन्तु जो विरोधी शक्तियां हैं वे केवल अदिव्य ही नहीं, वरन् दिव्यताकी शत्रु भी हैं; वे निम्न प्रकृतिका उपयोग करती हैं, उसे कुमार्गमें ले जाती हैं, उसे विकृत वृत्तियोंसे भर देती हैं तथा इस उपायके द्वारा वे मनुष्यको प्रभावित करती हैं और यहांतक कि उसके अन्दर प्रवेश करने और उसे अपने अधिकारमें कर लेनेकी या कम-से-कम उसपर अपना पूरा शासन स्थापित कर लेनेकी चेष्टा करती हैं।

सब प्रकारकी अतिरंजित आत्मनिन्दासे तथा पाप, कठिनाई या विफलताका बोध होनेपर अवसन्न होनेकी आदतसे अपने-आपको मुक्त करो। ये सब भाव वास्तवमें तनिक भी सहायता नहीं करते, बल्कि उल्टे ये एक बहुत बड़ी बाधा हैं और हमारी उन्नतिको रोकते हैं। ये सब धार्मिक मनोवृत्तिके परिचायक हैं, यौगिक मनोवृत्तिसे इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। योगीको चाहिये कि वह प्रकृतिके सारे दोषोंको इस दृष्टिसे देखे कि ये निम्न प्रकृतिकी क्रियाएं हैं और ये सबके अन्दर होती रहती हैं, और भागवत शक्तिमें पूर्ण विश्वास रखते हुए स्थिरता और दृढ़ताके साथ इनका नित्य-निरन्तर त्याग करता रहे—पर न तो किसी प्रकारकी दुर्बलता या अवसाद या अवहेलनाके भावको, न किसी प्रकारकी उत्तेजना, अधीरता या उग्रताके भावको अपने अन्दर आने दे।

*

यह (प्राणिक अहंकार) साधारण मानव प्रकृतिका एक अंग है, यह प्रत्येक व्यक्तिमें होता है। हमें इसे परिशोधित और रूपान्तरित करना है, ताकि अहंके स्थानपर वह सच्ची प्राणिक सत्ता स्थापित हो जाय जिसकी यह विकृत छाया है। निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियां प्रायः ही विद्रोह करती हैं और अविद्या, कामना, दंभ, गर्व, विषयवासना, अहंकारमय इच्छा आदिकी परिचित क्रियाओंसे आसक्तिके कारण रूपान्तरका प्रतिरोध करती हैं, किन्तु वे स्वभावसे विरोधी नहीं होतीं। विरोधी शक्तियां वे हैं जिनके अस्तित्वका मूल प्रयोजन है भगवान्के विरुद्ध, उच्चतर प्रकाश और सत्यके विरुद्ध विद्रोह और भगवान्के कार्यके प्रति द्वेष !

*

अविद्याकी शक्तियां पार्थिव प्रकृतिका विकृत रूप हैं और विरोधी शक्तियां उनका उपयोग करती हैं। वे मनुष्यपर हुए अपने कब्जेको बिना संघर्षके नहीं छोड़तीं।

*

विरोधी शक्तियोंने अपने लिये स्वयं एक कार्य निर्धारित कर रखा है —यह कार्य है व्यक्तिकी, कार्यकी और स्वयं पृथ्वीकी अवस्थाकी परीक्षा करना और यह जांच करके देखना कि ये आध्यात्मशक्तिके अवतरण तथा सिद्धिके लिये कहांतक तैयार हुए हैं। ये शक्तियां हमारे रास्तेमें पग-पगपर बड़ी प्रचंडताके साथ आक्रमण करती हुई, छिद्रान्वेषण करती हुई, उलटी बातें सुझाती हुई, निराशा उत्पन्न करती हुई या विद्रोहके लिये उकसाती हुई, अविश्वास पैदा करती हुई, कठिनाइयोंका ढेर लगाती हुई विद्यमान रहती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस कार्यने उन्हें जो अधिकार दे रखा है उसका ये अत्यन्त अतिरंजित अर्थ लगाती हैं और हमें जो चीज एक राईके बराबर दिखायी देती है उसे ही ये पर्वत बना देती हैं। जरासा भी कहीं गलत कदम उठाया अथवा कोई भूल की कि ये रास्तेपर आ खड़ी होती हैं और रास्ता बन्द करनेके लिये मानों समूचे हिमालयको लाकर खड़ा कर देती हैं। परन्तु पुराकालसे इन शक्तियोंको जो इस प्रकार प्रतिकूलता उत्पन्न करने दी जाती है, इसका उद्देश्य केवल यह नहीं है कि इसके द्वारा हमारी जांच या अग्निपरीक्षा की जाय बल्कि यह है कि यह हमें एक महत्तर शक्ति, पूर्णतर आत्मज्ञान, तीव्रतर पवित्रता और अभीप्सा

की शक्ति तथा किसी चीजसे नष्ट न होनेवाला विश्वास प्राप्त करने एवं भगवत्-कृपाका अधिक शक्तिशाली अवतरण करानेका प्रयास करनेके लिये बाध्य करे।

*

जहांतक जगत् और विरोधी शक्तियोंके साथ सम्पर्कका प्रश्न है, निःसन्देह यह हमेशा ही साधककी अन्यतम मुख्य कठिनाई रही है, किन्तु जगत् और विरोधी शक्तियोंका रूपान्तर करना बहुत भारी काम है और व्यक्तिगत रूपान्तर इसके लिये रुक नहीं सकता। व्यक्तिको यह करना है कि वह उच्चतर शक्तिमें निवास करने लगे जिसमें ये चीजें, ये विचलित करनेवाले तत्व प्रवेश नहीं कर सकते, या, यदि प्रवेश करें भी तो उसे विचलित नहीं कर सकते, और उससे इतना परिशोधित और सबल बन जाये कि वह किसी विरोधी वस्तुको कोई जवाब ही न दे। यदि व्यक्तिके पास रक्षा करनेवाला आवरण हो, उसमें आन्तरिक शोधन करनेवाला अवतरण हुआ हो और, उसके परिणाम स्वरूप उसकी आन्तर सत्तामें उच्चतर चेतना प्रतिष्ठित हो गई हो तथा अन्तमें वह अत्यधिक बाह्य सतहपर सक्रिय रहनेवाले भागोंमें भी पुरानी अज्ञानमयी चेतनाका स्थान ले ले, तो जगत् और विरोधी शक्तियोंका फिर कोई प्रभाव नहीं रहेगा — कम-से-कम व्यक्तिकी अपनी अन्तरात्माके लिये; क्योंकि एक और भी बृहत्तर कार्य है जो व्यक्तिगत नहीं है तथा जिसमें उसे निश्चय ही उनके साथ निबटना पड़ेगा; परन्तु वर्तमान भूमिकामें वह व्यक्तिका मुख्य व्यापार नहीं होना चाहिये।

*

निम्न प्रकृतिकी शक्तियोंपर बदल जानेके लिये हमेशा ही एक दबाव रहता है — निम्न प्रकृतिके द्वारा ही विरोधी शक्तियां भी इस दबावका अनुभव करती हैं; किन्तु विरोधी शक्तियोंका बदलना या नष्ट हो जाना बहुत कुछ उनके अपने चुनावपर ही छोड़ दिया गया प्रतीत होता है।

*

यह सच है। जगत्की वर्तमान परिस्थितियोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणिक मिथ्यात्व अपनेसे अधिक श्रेष्ठ सात्विक प्रकृतिकी अपेक्षा अस्थायी रूपसे अधिक अनुकूल परिस्थितिमें है।

*

यह बिलकुल सच है कि इस जगत्पर मिथ्यात्वका राज्य है इसी कारण ये कठिनाइयां प्रकट होती हैं। किन्तु तुम्हें इससे अपनेको विचलित नहीं होने देना है। तुम्हें स्थिर और दृढ़ रहकर उस सत्यके बलका और दिव्य शक्तिका प्रयोग करते हुए सीधा आगे बढ़ना होगा जो तुम्हें कठिनाइयोंपर विजय पानेमें सहारा देती है और उस वस्तुको सीधा सरल बनाती है जिसे मिथ्यात्वने कुटिल बना रखा है।

*

मैं ऐसा ही मानता हूँ। जब कोई कार्य करना होता है तो वहां सदा ही कुछ शक्तियां होती हैं जो उसमें हस्तक्षेप करना चाहती हैं। मैं समझता हूँ वे यह दरशाना चाहती है कि निर्विघ्न रूपसे चलना और "विशाल अप्रतिहत और निष्कण्टक मार्ग" केवल वेदकी ऋतम् सत्यम् बृहत्की भूमिकासे ही सम्बद्ध है और यदि शक्ति हो तो हमें उस भूमिकामें ऊपर उठना चाहिये।

*

विरोधी शक्तियां आक्रमणके लिये किसी भी जगह को चुनें और वह चाहे बाह्य मानवीय मनको कितनी छोटी क्यों न प्रतीत होती हो, तो भी एक संगीन जगह बन जाती हैं, और उसे सौंप देनेका अर्थ है किलेकी एक चावी सौंप देना। यदि यह एक छोटासा गुप्त द्वार हो, और वे उसमें प्रवेश कर सकें तो उनके लिये इतना ही पर्याप्त है।

इस महान् मार्गमें कोई भी चीज वस्तुतः क्षुद्र और गौण नहीं होती। विशेषकर, जब संघर्ष नीचे भौतिक स्तरतक आ जाता है तो इन भेदोंका मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि वहां 'क्षुद्र' चीजोंका संकेतक मूल्य ऐसा नहीं होता जिसका आसानीसे हिसाब लगाया जा सके और वे बड़त महत्वकी होती हैं। हो सकता है कि उस स्तरपर एक छोटीसी चौकी गंवाना एक बड़ी लड़ाईमें हारको अवश्यम्भावी बना दे।

तुम जिन कसौटी और अग्नि-परीक्षाओंमेंसे गुजर रहे हो उनमेंसे सबको गुजरना पड़ा है। यदि सम्भव होता तो हम तुम्हें इससे बचा लेते, पर क्योंकि अब ये आ गई हैं तो हम तुमसे अड़े रहने और इसे जीतनेकी आशा करते हैं। धैर्य, शांतिपूर्ण सहनशीलता लक्ष्यतक पहुँचने एवं जीतनेका धीर-स्थिर निश्चय, तुमसे इन गुणोंकी मांग की गई है — कम आडम्बरपूर्ण पर अधिक सारभूत

एवं ठोस वीरोचित गुणोंकी।

और कुशाग्रता एवं जागरूकता भी। अपने भीतरकी कठिनाईकी ओरसे अपनी आंखें बन्द न कर लो और न उससे मुख ही मोड़ो किन्तु साथ ही इसके कारण अपनेको निरुत्साह भी न होने दो। यदि हम लगे रहें तो विजय निश्चित है और ऐसी विजयके लिये कठिनाई और प्रयासकी ऐसी कौन कीमत है जो बहुत भारी हो सकती है?

*

हां, निश्चय ही। मनुष्य निरन्तर विरोधी शक्तियोंद्वारा आक्रान्त हो रहे हैं। बहुत बड़ी संख्यामें मनुष्य अंशतः या संपूर्णतः उनके प्रभावके अधीन हैं। कुछ लोगोंको उन्होंने अधिकृत कर लिया है, दूसरे (थोड़ेसे) लोग विरोधी सत्ताओंकी साकार मूर्तियां ही हैं। वर्तमान समयमें सारी पृथ्वीपर वे बहुत सक्रिय हैं। निस्सन्देह, बाहरी जगत्‌में कोई ऐसी चेतना नहीं है जैसी कि योगमें विकसित होती है, जिससे कि लोग या तो उनके आक्रमणके विषयमें सचेतन हों या उसे ज्ञानपूर्वक हटा सकें। उनके अन्दर चैत्य पुरुष और विरोधी शक्तियोंका संघर्ष अधिकांशमें पर्देके पीछे चल रहा है अथवा जहांतक वह ऊपरी सतहपर है उसे भी लोग मनके द्वारा नहीं समझ पाते।

*

अधिकार जमानेवाली (विरोधी) सत्ताका पहला प्रयत्न होता है व्यक्तिको उसके चैत्य पुरुषसे पृथक् कर देनेका, और बस इसीके कारण संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है। सब कुछ इस बारपर निर्भर करता है कि अधिकार किस हदतक किया गया है और वह कितना स्थायी है—सत्ताका कितना अंश उसने अधिकृत किया है और वह अधिकार निरन्तर बना रहता है या नहीं।

*

तुम हस्तिब्रह्मकी कहानी नहीं जानते? सब कुछ ब्रह्म ही है, किन्तु कर्ममें तुम्हें हाथीके साथ हस्तिब्रह्मके रूपमें और असुरके साथ असुरब्रह्मके रूपमें ही व्यवहार करना चाहिये न कि केवल विशुद्ध और सीधे सादे ब्रह्मके रूपमें। व्यक्तिको या तो राक्षससे बचना होगा या उसका पराभव करना होगा;

अन्यथा राक्षस मनुष्यको खा सकता है, यद्यपि दोनों ही पूरी तरह ब्रह्ममय हैं। ब्रह्मकी उपलब्धि तबतक एक आन्तरिक निष्क्रिय उपलब्धि है जबतक मनुष्य भागवत चेतना और शक्तिका गतिशील उपकरण नहीं बन जाता — तब हाथी और राक्षसकी समस्या ही नहीं पैदा होगी क्योंकि तब प्रत्येक मामलेमें जो कुछ करना है उसे भागवत चेतना जान लेगी और भागवत शक्ति क्रियान्वित करेगी। भीतर वैर-भाव रखनेकी जरूरत नहीं है पर राक्षसके साथ मित्रता रखना भी बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि राक्षस ऐसी वस्तुओंसे प्रभावित नहीं होता —वह उसका लाभ अपने उद्देश्यकी ओर अग्रसर होनेके लिये ही उठायेगा।

*

वस्तुओंको देखना एक बात है और उन्हें अपने अन्दर प्रवेश करने देना बिलकुल दूसरी। व्यक्तिको बहुतसी बातोंका अनुभव करना है, देखना और अवलोकन करना, उन्हें चेतनाके प्रदेशमें ले आना तथा उनके स्वरूपको जानना है। लेकिन कोई कारण नहीं कि तुम उन्हें अपने अन्दर घुसने और अपने ऊपर अधिकार जमाने दो। भगवान्‌को और उन चीजोंको जो भगवान्‌की ओरसे आती हैं केवल उन्हींको अपने अन्दर प्रविष्ट होनेकी स्वीकृति दी जा सकती है।

यह कहना कि सब प्रकाश अच्छा होता है, इस कथनके समान है कि जल मात्र अच्छा होता है — अथवा, सब स्वच्छ या पारदर्शी जल अच्छा होता है : पर यह बात सच नहीं है। मनुष्यको पहले यह देखना चाहिये कि प्रकाशका स्वरूप क्या है या वह कहांसे आता है अथवा उसमें क्या है, उसके बाद ही वह कह सकता है कि यह सच्चा प्रकाश है। मिथ्या प्रकाश भी होते हैं और भ्रममें डालनेवाली चमकें तथा निम्नप्रकाश भी जिनका सम्बन्ध सत्ताके निम्नस्तरोंके साथ होता है। इसलिये मनुष्यको सावधान रहना और उनमें भेद करना चाहिये; सच्चा विवेक तो चैत्य पुरुषका विकास होनेपर और परिशोधित मन और अनुभवसे ही प्राप्त होगा।

*

महज शक्तिकी प्रचण्डता ही यह नहीं बताती कि यह अशुभ शक्ति है; दिव्य शक्ति भी प्रायः बहुत प्रचण्डताके साथ कार्य करती है। सब कुछ शक्तिके स्वरूप और उसकी क्रियापर निर्भर करता है : वह क्या करती है, उसका क्या प्रयोजन प्रतीत होता है? यदि वह आधारके शुद्ध करने या खोलनेका

कार्य करे या अपने साथ प्रकाश शान्ति लाये, या विचारों, भावों, वेदनोंमें और चरित्रमें उच्चतर चेतनाकी ओर मोड़नेकी दृष्टिसे परिवर्तन लानेकी तैयारी करे तो यह सही शक्ति है। यदि यह अन्धेरी या धुँधली चीज हो या सत्ताको राजसिक या अहम्भावपूर्ण सुझावोंके द्वारा विक्षुब्ध करती हो अथवा निम्न प्रकृतिको उत्तेजित करती हो, तो ये विरोधी शक्ति है।

II

मैं नहीं समझता कि मैं यह कहा हो कि तुम हमारा योग नहीं कर सकते जब कि तुम्हें ऐसे अनुभव हुए और अब भी हो रहे हैं जो इस योगके विशेष लक्षण हैं। चेतनामें हुए अवरोध और आक्रमण इस बातका प्रमाण नहीं कि मनुष्य योग-साधना करनेका अधिकारी नहीं है। योग साधना करनेवाला ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसके सामने ये नहीं आते यहां तक कि जो महान् सिद्ध-योगी बन गये हैं उनके सामने भी साधनाके कालमें ये चीजें आई थीं।

*

यह तथ्य नहीं है कि राजयोगी या दूसरे लोगोंपर पारिपार्श्विक शक्तियोंके आक्रमण नहीं होते। लक्ष्य चाहे मोक्ष हो या रूपान्तर, सभी पर आक्रमण होते हैं—क्योंकि प्राणिक शक्तियां न मुक्ति चाहती हैं न ही रूपान्तर। केवल योगीजन इसके विषयमें प्रचलित परिभाषामें कहते हैं कि ये राक्षसी-माया या काम क्रोध या लोभके आक्रमण हैं,—वे लोग इन वस्तुओंके उद्गमका पता लगानेकी या वे किस प्रकार अन्दर आयी इस बातकी खोज करनेकी परवाह नहीं करते —परन्तु स्वयं यह वस्तु सर्व विदित है।

*

विरोधी शक्तियां हरेक साधकपर आक्रमण करती हैं; कुछ इनके सम्बन्धमें सचेतन होते हैं, अन्य नहीं। उनका लक्ष्य या तो व्यक्तिको प्रभावित करना होता है या उसे उपयोगमें लाना अथवा उसकी साधना या कर्मको बरबाद करना या इसी प्रकारका कोई अन्य हेतु। उनका उद्देश्य कसौटीपर कसना नहीं है, परन्तु पथप्रदर्शक शक्तिके द्वारा उनके आक्रमणका उपयोग एक कसौटीके रूपमें

किया जा सकता है।

*

प्रत्येक व्यक्तिकी प्रकृतिमें यह आलोचनात्मक विरोधी आवाज होती है जो अनुभवके सम्बन्धमें प्रश्न करती है, तर्क करती है, स्वयं उसके अस्तित्वसे इनकार करती है, अपने विषयमें और भगवान्‌के विषयमें शंका करनेका सुझाव देती है। मनुष्यको इसे एक ऐसे विरोधी शत्रुकी आवाजके रूपमें पहचानना होगा जो प्रगतिको रोकनेकी और इसपर आस्था रखनेसे बिलकुल इनकार करनेकी चेष्टा कर रहा है।

*

ऐसे कोई भी साधक नहीं हैं जिनपर गलत शक्तियोंने कभी भी आक्रमण न किये हों—परन्तु यदि व्यक्तिमें पूर्ण श्रद्धा और आत्म-निवेदनका भाव हो, तो वह बहुत अधिक कठिनाईके बिना ही आक्रमणको दूर हटा सकता है।

*

यदि सत्ताके सभी भागोंमें श्रद्धा और समर्पण पूर्ण रूपसे हों तो आक्रमण नहीं हो सकता। यदि प्रबल केन्द्रीय श्रद्धा और समर्पण सब समय विद्यमान हों, तब भी आक्रमण हो सकते हैं किन्तु उन्हें सफल होनेका मौका नहीं मिलता।

*

दो चीजें हैं जो मन या प्राणपर उन (विरोधी शक्तियों) के किसी आक्रमणकी अस्थायी सफलताको भी असम्भव बना देती हैं—पहली है पूर्ण प्रेम, भक्ति और ऐसा विश्वास जिसे कोई चीज विचलित नहीं कर सकती; दूसरी, मन तथा प्राणमें एक ऐसी स्थिरता एवं समता जो आन्तरिक प्रकृतिका मूल स्वभाव बन गया हो। सुझाव उसके बाद भी आ सकते हैं, बाहरी तौरपर स्थिति फिर भी खराब हो सकती है, किन्तु सत्ता अभेद्य बनी रहती है। इनमेंसे कोई एक चीज भी अपने-आपमें पर्याप्त है—और जैसे-जैसे ये बढ़ती हैं उसी अनुपातमें विरोधी शक्तियोंका अस्तित्व भी कम होता जाता है और उत्तरोत्तर

एक ऐसा व्यापार बन जाता है जो हमारे आन्तरिक जीवनका अंग नहीं होता, —यद्यपि बाह्य वातावरणमें वे तब भी रह सकती हैं।

*

अत्यधिक सात्विक प्रकृतिके लोग, विशेषकर यदि वे माताजीके प्रति प्रबल रूपसे समर्पित हों तो, मन और प्राणमें विरोधी आसुरी शक्तियोंके घेरे या आक्रमणोंसे बच जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि वे मानवकी निम्न, प्रकृति या साधनाकी कठिनाइयोंसे बच जाते हैं, परन्तु ये कठिनाइयां विरोधी शक्तियों द्वारा इन्हें मिलनेवाली प्रभावशाली सहायतासे जटिल नहीं बन जातीं। यह बात नहीं कि उनमें कोई ऐसा स्थल नहीं होता जिसे विरोधी शक्तियां दबा न सकें किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि वे इन स्थलोंतक पहुँच ही नहीं सकतीं, क्योंकि प्रकृतिकी रचना ही ऐसी है जो सात्विक प्रकृति द्वारा लाये गये प्रकाश और सुख (देखो गीता) के कारण उनके आक्रमणसे सुरक्षित होती है। परन्तु वैसे सत्तामें एक ऐसी आन्तरिक स्पष्टता, संतुलन, एवं एक सुखद रचना होती है जो सूर्यके प्रकाशको आसानीसे प्रतिबिम्बित करती है, बादल और तूफानके प्रभावके अधीन कम होती है जो विरोधी शक्तियोंको कोई अवसर प्रदान नहीं करती। प्रकृति उग्र रूपमें उत्तेजित या विचलित या उद्विग्न होनेसे इनकार करती है। अधिक-से-अधिक, शरीरपर ही विरोधी शक्तियां आक्रमण करती हैं और वहां भी इसलिये कि स्नायवीय सत्ता शान्त होती है, और यह आक्रमण केवल स्थूलतम सत्ताके माध्यमसे ही किया जा सकता है।

*

प्राणिक पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इसे आक्रमणसे मुक्त रखना तब तक सरल नहीं है जब तक ठोस आध्यात्मिक पवित्रताके साथ विशालता और उस विशालतामें उतरती हुई शान्ति स्थिर न हो जांय। निःसन्देह यह विशालता अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है।

*

वे (विरोधी शक्तियां) इसलिये आती हैं कि उन्हें भूतकालमें मुक्त रूपसे

आने दिया गया था — इसलिये वे अपने कार्यको फिरसे आरम्भ करना और जारी रखना चाहती हैं। उनका सामना करनेका उपाय है पूर्ण परित्याग और भगवान् की ओर पूर्णतया उन्मुख होना।

*

अशुभ शक्तियां सदा ही अचेतनताके या अर्धचेतनताके क्षणोंमें अथवा अवचेतन या बाह्य भौतिक चेतना द्वारा तब तक आक्रमण कर सकती हैं — जबतक सबकुछ अतिमानसिक रूपमें रूपान्तरित नहीं हो जाता। यदि शक्ति विद्यमान हो तो उन शक्तियोंको तुरन्त ही पीछे ठेल दिया जा सकता है।

*

विरोधी शक्तियोंको आक्रमण करनेके लिये किसी कारणकी आवश्यकता नहीं होती — सामर्थ्य होनेपर वे कभी भी और किसी पर भी आक्रमण कर देती हैं। मनुष्यको देखना यह है कि उसकी सत्ता की कोई भी वस्तु उनको प्रत्युत्तर न दे या उन्हें अन्दर न घुसने दे।

*

तुम पूछते हो कि क्या विरोधी शक्तियां दिव्य शक्तिसे भी अधिक बलवान् हैं। तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यका अपने कर्मके लिये कोई उत्तर-दायित्व नहीं और वह जो भी कर्म करता है या किसी भी तरहकी भूल करता है और किसी भी फलको पाता है तो दोष दिव्य शक्तिका ही होता है। ऐसा हो सकता है, किन्तु उस अवस्थामें साधना करनेकी कोई आवश्यकता या उप-योगिता ही नहीं। मनुष्यको केवल शान्त बैठना है और विरोधी शक्ति या दिव्य शक्तिको मनमानी करने देना है। इस सिद्धान्तके अनुसार, शैतानने ईसाको जो कहा था वह बिलकुल ठीक ही था, "तुम इस पहाड़परसे कूद पड़ो और भगवान्के दूत आकर तुम्हारा उद्धार करें," और ईसाका इस सुझावको अस्वीकार करना और यह कहना बिलकुल गलत था कि "शास्त्रोंमें लिखा है 'तुम्हें प्रभुकी, अपने देवताकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये।' "उसे कूद पड़ना चाहिये था और यदि उसकी हड्डी-पसली टूट जाती, तो इससे केवल यही सिद्ध होता कि विरोधी शक्तियां दिव्य शक्तिसे अधिक महान् हैं।

यदि कोई विरोधी शक्ति आये तो, व्यक्तिको उसके सुझावोंका स्वीकार और स्वागत नहीं करना चाहिये, परन्तु माताजीकी ओर मुड़ना चाहिये और उनसे विमुख होनेसे इनकार करना चाहिये। व्यक्ति खुल सके या न खुल सके, उसे प्रभुपरायण और सत्यनिष्ठ रहना चाहिये। प्रभुपरायणता और सत्यनिष्ठा ऐसे गुण नहीं हैं जिनके लिये व्यक्तिको योग करना पड़े। वे बिलकुल सादी चीजें हैं जिसे सत्यकी अभीप्सा करनेवाले किसी भी स्त्री पुरुषको संपादित करनेमें समर्थ होना चाहिये।

यह एक ऐसी बात है जिसे प्रत्येक व्यक्तिको भलीभांति समझ लेना चाहिये। चैत्य सचाई ही असुरोंके सामने टिकनेकी शक्ति प्रदान कर सकती है और संरक्षणको कार्य करनेमें समर्थ बनाती है।

III

आक्रमण और वैश्व शक्तियोंकी क्रियाके सम्बन्धमें — जब प्रगति तेजीसे हो रही होती है, और सुनिश्चित होनेकी दिशामें बढ़ रही होती है तब बहुत सामान्य रूपसे यह पाया जाता है कि ये आक्रमण प्रचण्ड हो जाते हैं — विशेष कर यदि उन्हें लगे कि वे आन्तरसत्तापर सफलता पूर्वक धावा नहीं बोल सकते तो वे बांहरी आक्रमणोंसे विचलित करनेकी चेष्टा करते हैं। व्यक्तिको इसे बलकी कसौटीके रूपमें, प्रकाश और शक्तिके प्रति अपनी स्थिरता और उद्-घाटनकी सब क्षमताओंको एकत्रित करनेके लिये पुकारके रूपमें ग्रहण करना होगा जिससे वह अपनेको अदिव्यतापर दिव्यताकी विजयका और इस जगत् जालमें अन्धकारपर प्रकाशकी विजयका उपकरण बना सके। तुम्हें इसी भावसे इन कठिनाइयोंका तबतक मुकाबला करना होगा जबतक उच्चतर वस्तुएं तुममें इतनी दृढ़ न हो जायें कि ये शक्तियां उनपर आक्रमण न कर सकें।

*

उसका यह कहना बिलकुल ठीक है कि उन आक्रमणोंकी प्रचण्डताका कारण यह तथ्य था कि तुमने साधनाको गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया था और हम कह सकते हैं कि तुम आलोकके साम्राज्यके द्वारोंपर पहुँचनेकी तैयारीमें थे। यह चीज हमेशा ही इन शक्तियोंको भड़का देती है और वे शक्तियां साधकको साधनासे विमुख करनेके लिये एड़ीसे चोटीतक जोर लगा देती हैं तथा हर किसी मौक़ेका उपयोग करती हैं या उसे उत्पन्न करती हैं अथवा, यदि सम्भव

हो, तो अपने सुझावों, अपने उग्र प्रभावों एवं सब प्रकारकी ऐसी घटनाओंसे जो इस प्रकारकी अवस्थाओंके प्रबल होनेपर सदा ही अधिकाधिक मात्रामें प्रकट हो जाती हैं, अनुचित लाभ उठाकर साधकको पूरी तरह पथभ्रष्ट करनेके लिये पूरा जोर लगाती हैं जिससे वह द्वारोंतक न पहुँच पाये। मैंने तुम्हें अनेक बार इन शक्तियोंका निर्देश करते हुए लिखा है, किन्तु मैंने इस बातपर बल नहीं दिया क्योंकि मैंने देखा कि ऐसे अधिकतर व्यक्तियोंके समान जिनके मन आधुनिक युरोपीय शिक्षणके द्वारा तार्किक बन गये हैं, तुम्हारे अन्दर भी इस ज्ञानमें विश्वास करनेकी या कम-से-कम इसे कोई महत्व देनेकी प्रवृत्ति नहीं थी। आजकल लोग प्रत्येक वस्तुका कारण अपनी अज्ञानमयी बुद्धिमें, अपने उपरितलीय अनुभव और बाह्य घटनाओंमें खोजना चाहते हैं। वे लोग उन परोक्ष शक्तियोंको और आन्तरिक कारणोंको नहीं देखते जो भारतीय यौगिक ज्ञान परंपरामें भली-भांति विदित और प्रत्यक्ष कर लिये गये थे। निःसन्देह इन शक्तियोंको अपना अवलम्ब बिन्दु स्वयं साधकमें ही, उसकी चेतनाके अज्ञान मय हिस्सों में और उनके सुझावों और प्रभावोंके प्रति चेतनाकी स्वीकृतिमें ही प्राप्त होता है; अन्यथा वे क्रिया ही न कर सकती या कम-से-कम सफलता पूर्वक क्रिया न कर सकती। तुम्हारे मामलेमें मुख्य अवलम्ब बिन्दु ये रहे हैं—निम्नतर प्राणिक अहंकारकी अत्यधिक संवेदनशीलता और अब भौतिक चेतना भी जो अपनी सारी दृढ़ या स्थिर सम्मतियों, पक्षपातों, पूर्व निर्णयों, अभ्यासगत प्रतिक्रियाओं, व्यक्तिगत अभिरुचियों, पुराने विचारों और साहचर्योंके प्रति आसक्ति, अपनी हठीली शंकाओंको साथ लिये फिरती है और बृहत्तर प्रकाशका अवरोध और विरोध करनेके लिये एक दीवारके रूपमें इन वस्तुओंको बनाये रखती है। भौतिक मनकी इस क्रियाको लोग बुद्धि एवं तर्क कहते हैं यद्यपि यह एक ऐसी मशीन है जो केवल मानसिक अभ्यासोंको चक्रमें घूमाती रहती है और यह उस सच्ची और स्वतन्त्र तर्क बुद्धि, उच्चतर बुद्धिसे बहुत भिन्न है जो कि आलोकित करनेमें समर्थ होती है, और उस उच्चतर आध्यात्मिक प्रकाशसे अथवा चैत्य चेतनाकी उस अन्तर्दृष्टि और कुशालतासे तो और भी अधिक भिन्न है जो तुरन्त यह देख लेती है कि कौनसी चीज सच्ची और यथार्थ है और उसे उस चीजसे पृथक् कर देती है जो गलत और मिथ्या है। ये अन्तर्दृष्टि उस समय तुममें सतत थी जब तुम अच्छी हालतमें थे और विशेषकर जब भी भक्ति तुम्हारे अन्दर प्रबल होती थी। जब साधक उन मानसिक और उच्चतर प्राणिक क्षेत्रोंको छोड़कर भौतिक स्थूल चेतनामें नीचे उतर आता है जिनपर स्थित होकर वह पहले-पहल भगवान्‌की ओर मुड़ा था, तो ये विपरीत वस्तुएं बहुत दृढ़ और चिपकनेवाली बन जाती हैं और जैसे-जैसे व्यक्तिकी अधिक

सहायक अवस्थाएं और अनुभव परदेके पीछे चले जाते हैं और उसे कदाचित् ही यह समझमें आता है कि ये चीजें भी कभी उसको प्राप्त हुई थी, वैसे-वैसे उसके लिये उस स्थितिमेंसे बाहर निकलना कठिन होता जाता है। उस समय केवल एक ही वस्तु होती है जैसा कि 'क्ष' ने कहा और मैंने भी जिसपर आग्रह रखा है, वह है इसमेंसे दृढ़तापूर्वक बाहर निकल जाना। यदि एक बार व्यक्ति इन शक्तियोंके सुझावोंको स्वीकार करनेसे इनकार करनेका दृढ़ निश्चय कर सके और उसे बनाये रख सके तो चाहे वे कितने ही युक्तियुक्त क्यों न प्रतीत होते हों, तब यह अवस्था या तो जल्दी या धीमे-धीमे कम हो सकती है और आगे जाकर व्यक्ति उसे पार कर जाता है और वह समाप्त हो जाती है। योगको छोड़ देना कोई हल नहीं है।

*

तुम ठीक कहते हो। विरोधी शक्तियों, उनके आक्रमण, उनके सुझावोंको अब सेवा-निवृत्त कर देना चाहिये, इस साधनामें वे पिछड़े गये हैं, उनका इसमें स्थान नहीं रहा है। यदि कोई व्यक्ति इस बातको समझ ले और अपनी साधनामें चरितार्थ कर ले तो अन्य लोगोंको इसका अनुसरण करनेके लिये शायद बल प्राप्त हो सकता है। ये चीजें अब भी इसलिये विद्यमान हैं कि साधक अभ्यासवश, कामनाके कारण, प्राणके नाटकके आकर्षणसे, भयसे, निष्क्रिय प्रत्युत्तर और प्रतिरोध न करनेवाले तमसुके कारण अपनेको उनके प्रति खोल देते हैं। लेकिन उनके यहां और अधिक रहनेकी कोई यथार्थ आवश्यकता नहीं हैं या सच्चा हेतु भी नहीं है,—बाहरके संसारकी बात दूसरी है। साधना इस रूपमें भली-भांति चल सकती है और चलनी चाहिये कि वह क्रमशः खुलती जाय, दोष और कठिनाइयां स्वभावतः दूर होते जायें, प्रकाश शक्ति और रूपान्तर अधिकाधिक महान् होते चले जायें।

*

मैंने जब कहा था "उनकी अब और जरूरत नहीं है," तो मेरा मतलब यह नहीं था कि उनकी क्रिया आगे जारी नहीं रह सकती—मैं समझता हूं मैंने यह स्पष्ट रूपसे कहा था कि यदि साधक इसके प्रति अपनेको खुला रखनेका आग्रह रखें, तो वे जारी रहेंगी। विरोधी शक्तियोंकी क्रियामें और निम्नतर प्रकृतिकी साधारण क्रियामें भेद है। निम्नतर प्रकृति जबतक बदल नहीं

जाती तबतक अपनी क्रिया करती रहती है किन्तु इसके लिये उसे विरोधी आक्रमणोंका और विक्षोभोंका रूप ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है; इसके साथ एक ऐसी मशीनकी तरह व्यवहार किया जा सकता है जिसे ठीक करना है और जो उच्चतर प्रकाश और बलकी सहायतासे ठीक की जा सकती है। ऐसे भी कुछ लोग हैं जो एक समय विरोधी शक्तियोंके आक्रमणोंकी पकड़में आ गये थे पर अब एक ऐसे स्थलपर पहुँच गये हैं जहां वे इस पद्धतिका अनुसरण कर सकते हैं; अन्य लोग उसके निकट पहुँच रहे हैं—कुछ लोगोंने इसका हमेशा ही अनुसरण किया और उनपर आक्रमण कभी भी नहीं हुए, कम-से-कम उनके मन और प्राणमें। किन्तु अब भी ऐसे बहुतसे लोग हैं जो इससे बहुत दूर हैं और इसलिये विरोधी शक्तियोंकी क्रिया जारी है।

*

मैंने यह इसलिये लिखा था कि अब ऐसे प्रकाश और बलका इतना अधिक अवतरण हो चुका है कि व्यक्ति अग्नि-परीक्षाओं और कसौटियोंके अधीन रहनेको बाध्य नहीं। इन अग्नि-परीक्षाओं आदिको विरोधी शक्तियां व्यक्तिके सामने तब रखती हैं जब उसकी प्रगतिको सहारा देनेके लिये मानसिक भूमिकापर केवल मानसिक या साधारण आध्यात्मिक शक्तियां ही होती हैं। यदि तुम सूक्ष्मतासे देखो तो तुम पाओगे कि वे शक्तियां अब कार्य करते हुए पूर्णतया अयुक्तियुक्त एवं साहजिक ढंगसे सदैव उन्हीं क्रियाओंको दुहराती रहती हैं, उनके पृष्ठ भागमें कोई बौद्धिक या उच्चतर प्राणिक बल नहीं होता। अब उनकी पद्धति ऐसी तर्कहीन एवं यांत्रिक होती है कि वह अन्य किसी भी वस्तुकी अपेक्षा निम्नतम भौतिक और अवचेतन भागमें हमें अधिक तमसावृत कर देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनका वहां रहनेका कोई यथार्थ कारण नहीं।

*

जो चीजें तुमने गिनाई हैं वे आक्रमणोंकी कारण नहीं हैं किन्तु वह एक संयोग, साधकोंकी ऐसी निर्बलता है जो उन्हें स्वीकृति देती है जब कि उन्हें भलीभांति बहिष्कृत किया जा सकता था। विरोधी शक्तियां जगत्में अज्ञानको बनाये रखनेके लिये है—उन्हें साधनामें इसलिये रहने दिया गया था कि भगवान्के साथ लगे रहने और कठिनाइयोंको जीतनेके लिये साधकोंके बल और संकल्पकी सचाईकी परीक्षा लेनेका उन्हें अधिकार था। किन्तु यह केवल

तब तकके लिये है जबतक भौतिक स्तरपर उच्चतर प्रकाश उतर नहीं आता; अब यह उतर रहा है, अब यह वहां इतना पर्याप्त विद्यमान है कि इसे कोई भी अधिकाधिक पूर्णरूपसे ग्रहण कर सकता है जिससे मार्ग सरल हो जाय और खुल जाय और वह एक प्रगतिशील विकास हो न कि कोई संघर्ष।

*

ऊपरसे पड़नेवाला दबाव कठिनाइयां नहीं उत्पन्न करता। निम्नतर भूमिकाओंमें परिवर्तनके लिये एक प्रबल प्रतिरोध विद्यमान है और कुछ शक्तियां विक्षोभके बवण्डर उठानेके लिये इसका फायदा उठाती हैं और यथाशक्ति अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंको विचलित करनेकी चेष्टा करती हैं। इनपर ऊपरसे पड़नेवाले दबावकी क्रिया एकमात्र यही होती है कि वह उन्हें व्यक्तिके वातावरणमेंसे या सार्वभौम वातावरणमेंसे भगा देती है। कुछ समय बाद उन्हें व्यक्तिके वातावरणमेंसे या सार्वभौम वातावरणमेंसे बाहर धकेल दिया जाता है और वे उसपर और अधिक कार्य नहीं कर सकती सिवाय इसके कि वे दूरसे और बहुत मन्द प्रभावके साथ कार्य करें। जब सामान्य रूपसे ऐसा करना, अर्थात् आश्रमके वातावरणसे उन्हें दूर धकेल देना सम्भव हो जायगा, तो यह सब गड़बड़ शांत हो जायेगी।

*

वह (आश्रमसे चले जाना) योगके दबावके कारण नहीं परन्तु उनके अन्दरकी किसी ऐसी वस्तुके दबावके कारण होता है जो योगका निषेध करती है। यदि व्यक्ति अपनी चैत्य सत्ता और उच्चतर मानसिक पुकारका अनुसरण करे तो चाहे कितना ही योगका दबाव पड़े उससे ऐसे परिणाम नहीं पैदा हो सकते। लोग ऐसी बातें करते हैं मानो योगमें ऐसी अनिष्टकर शक्ति हो जो इन परिणामोंको उत्पन्न करती हैं। बल्कि इसके विपरीत योगका प्रतिरोध ही ऐसा करता है।

IV

जब कोई प्रगति की जाती है तो वह प्रायः विरोधी शक्तियोंको सक्रिय होनेके लिये उकसा देती है, वे शक्तियां उसके प्रभावोंको शक्तिभर कम करना

चाहती हैं। जब तुम्हें इस प्रकारका कोई निर्णायक अनुभव हो जाय तो तुम्हें अपनी शक्तियोंको इधर-उधर बिखेर देने और चेतनाको किसी भी तरहसे बहिर्मुख बनानेसे बचते हुए अपने अन्दर केन्द्रित रहना चाहिये और प्रगतिको आत्मसात् कर लेना चाहिये।

*

बहुधा एक अच्छी अनुभूति या निर्णायक प्रगतिके बाद ही प्राणिक लोककी सत्ताएं साधकपर आक्रमण करने और उसे डराने धमकानेकी चेष्टा करती हैं। ......उन्हें हमेशा यह आशा रहती है कि वे साधकको आक्रमणों और धमकियों द्वारा उसके मार्गसे विमुख कर सकती हैं।

*

ऐसा प्रायः होता है। जब कोई प्रगति कर ली जाती है (यहां आन्तरिक दृष्टिका उद्घाटन है) तो विरोधी शक्तियां क्रोधान्ध होकर टूट पड़ती हैं। जब तुम प्रगति कर रहे होते हो तो विशेषकर तुम्हें अपनी रक्षाके लिये सावधान रहना होगा — जिससे आक्रमणके तुम्हारे अन्दर प्रवेशसे पहले ही उसे रोक दिया जाय।

*

यह ठीक है। बाकी तो आक्रमणका बचाखुचा हिस्सा है — इस प्रकारका आकस्मिक और उग्र आक्रमण ऐसी चीज है जो वस्तुतः प्रायः तब होता है। जब साधक सीधे और खुले मार्गकी ओर पूरी तरह आगे बढ़ रहा होता है। वह साधकको प्रगतिके मार्गसे स्थायी रूपसे विचलित नहीं कर सकता, जब यह आक्रमण हट जाता है तब साधारणतया साधकको लक्ष्यकी ओर अधिक दृढ़ता और तेजीसे आगे बढ़नेका मौका मिल जाता है। हमें इस समय यही करना चाहिये।

*

स्वभावतः विरोधी शक्तियां उन वस्तुओंके यथासम्भव अधिक-से-अधिक

भागका अपहरण करनेकी ताकमें रहती हैं जिन्हें साधक उपलब्ध कर चुका है — यह नहीं कि इससे उन शक्तियोंको कोई फायदा होता है परन्तु वे उन्हें इसलिये रोकती हैं कि जिससे उनका जीवनमें भगवान्‌को मूर्त्तरूप देनेके लिये उपयोग न हो।

*

प्रकाशकी शक्तियों और विरोधी शक्तियोंके बीचमें हमेशा संग्राम चलता रहता है — जब कोई सच्ची क्रिया और, प्रगति होती है तो विरोधी शक्तियां उनके आड़े एक गलत क्रियाको फैंकनेकी चेष्टा करती हैं जिससे प्रगति रुक जाय या मन्द पड़ जाय। कभी-कभी वे ऐसा तुम्हारे अन्दर उन पुरानी क्रियाओंको उभारकर करती है जिनमें अब भी लौटनेकी शक्ति है; कभी-कभी वे चेतनाको विक्षुब्ध करनेके लिये वातावरणमें स्थित गतियों या विचारोंका, अन्य लोगों द्वारा कही गई बातोंका उपयोग करती हैं। जब भौतिक सत्तामें स्थिर शान्ति एवं शक्तिकी क्रिया और सत्ताका आत्म-दान दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित किया जा सके, तभी एक सुरक्षित आधार प्राप्त होता है — तब इस प्रकारके उतार-चढ़ाव और अधिक नहीं आते, यद्यपि उपरितलीय कठिनाइयां आती रह सकती हैं।

*

या तो उच्चतर चेतनाको प्राणिक या भौतिक भूमिकामें उतरना होता है या फिर चैत्य चेतनाके सामने आनेपर व्यक्तिको देखना होता है कि प्राणमें कौनसी न्यूनता है और उसका परित्याग करना होता है।

ऐसी विरोधी शक्तियां सदा ही रहती हैं जो अनुभूतिको रोकने या उसे भंग करनेकी चेष्टा करती हैं। यदि ये अन्दर आ जायें, तो यह इस बातका चिह्न है कि प्राणिक या भौतिक सत्तामें कोई ऐसी चीज है जो या तो उनका प्रत्युत्तर देती है या इतनी जड़ है कि उनका विरोध नहीं कर सकती।

*

तुम्हारा किया वर्णन बड़ा अस्पष्ट है। तुमने जो लिखा है उसके अनुसार तो यह बखूबी एक ऐसी प्रतिक्रिया भी हो सकती है जो अनुभूतिके बाद बहुधा

ही हुआ करती है; विरोधी शक्ति प्रतिकूल क्रियाके साथ भीतर आती है। कसौटियां कभी विरोधी शक्तियोंकी ओरसे आती हैं, कभी -कभी प्रकृतिके स्वाभाविक क्रममें। मैं समझता हूँ कि वे अवश्य ही आवश्यक हैं क्योंकि वे साधनामें हमेशा आती हैं।

*

परीक्षा लेनेका जरा भी प्रयोजन नहीं—जिस भी परीक्षाकी जरूरत होती है वह स्वयं सामर्थ्यका उपयोग करते समय और स्वयं प्रगतिके कदम भरते हुए अपने-आप ही सामान्य ढंगसे आती है—अन्य किसी परीक्षाकी जरूरत नहीं होती। उससे भिन्न जो कसौटियां आती हैं वे विरोधी शक्तियोंकी ओरसे ही आती हैं—किन्तु उनका परीक्षा लेनेका तरीका है किसी दुर्बल स्थलका लाभ उठाना और अपनी सारी शक्तिके साथ उस स्थलपर टक्कर मारना जिससे साधना खण्डित हो जाय या फिर सारी विरोधी शक्तियोंको चेतनापर झोंक देना जब कि चेतना अभी संक्रमणकी प्रक्रियामेंसे गुजर रही होती हैं और अभी इतनी परिपक्व नहीं होती कि सब किये करायेको चौपट कर दे। यह सच्ची कसौटी नहीं होती किन्तु केवल एक ऐसा विध्वंस है जो रचनात्मक पद्धतिका स्थान ले रहा है। अनावश्यक परीक्षा लेते रहनेसे व्यक्ति खतरनाक तरीकेसे इस विरोधी दबावको आमन्त्रित करता है और उन वस्तुओंको उभारता है जिन्हें उसे निकालना है। सचेतन होना जरूरी है किन्तु इसके लिये एक शान्त आत्म-निरीक्षण पर्याप्त है—परीक्षा लेनेकी योजनाके अन्तर्गत कठिनाइयोंको उभारना बिलकुल गलत तरीका है।

*

भागवत अभिव्यक्तिका तरीका है स्थिरता और सामंजस्यके द्वारा कार्य करना न कि भीषण उथल-पुथलके द्वारा। उथल-पुथल संघर्षका चिह्न है, साधारणतया परस्पर संग्राम करती प्राणिक शक्तियोंका, किन्तु जो भी हो एक ऐसे संघर्षका जो निम्नतर भूमिकापर हो रहा है।

तुम विरोधी शक्तियोंके विषयोंमें बहुत अधिक सोचते हो उनमें इस प्रकार व्यस्त रहनेसे बहुत अधिक अनावश्यक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अपने मनको भावात्मक पक्षपर स्थिर करो। अपनेको माताजीको शक्तिके प्रति खोलो; उसके संरक्षणके प्रति अपना ध्यान एकाग्र करो, प्रकाश, स्थिरता और शान्ति तथा

पवित्रताके लिये एवं दिव्य चेतना और ज्ञानमें विकसित होनेके लिये पुकार करो।

परीक्षाओंका विचार भी बहुत स्वस्थ विचार नहीं और इसे बहुत आगे नहीं बढ़ाना चाहिये। परीक्षाएं भगवान् द्वारा नहीं किन्तु मन, प्राण और शरीरकी निम्नतर भूमिकाओंकी शक्तियों द्वारा ली जाती हैं—और भगवान् उन्हें इसलिये अनुमति देते हैं कि यह अन्तरात्माके प्रशिक्षणका एक अंग है और यह इसे अपने आपको, अपनी शक्तियोंको और उन परिसीमाओंको जाननेमें सहायता देती है जिनका उसे अतिक्रमण करना है। माताजी प्रतिक्षण तुम्हारी परीक्षा नहीं ले रही हैं, बल्कि प्रतिक्षण तुम्हें उन परीक्षाओंकी और कठिनाइयोंकी आवश्यकतासे परे उठनेमें सहायता दे रही हैं जिनका सम्बन्ध निम्नतर चेतनासे है। उस सहायताके विषयमें सदैव सचेतन रहना उन सब आक्रमणोंके विरोधमें तुम्हारा सर्वोत्तम रक्षा-कवच बनेगा जो चाहे विरोधी शक्तियोंके हों या तुम्हारी अपनी निम्नतर प्रकृतिके।

*

यदि व्यक्ति अनुभवसे लाभ उठाना जाने तो आसुरिक शक्तियां और उनके आक्रमण भी लाभ दायक सिद्ध हो सकते हैं;—यद्यपि निश्चय ही इसका अर्थ यह नहीं कि आक्रमणोंको आमन्त्रित करना चाहिये। वे करती यह हैं कि हमारी प्रकृतिके किसी निर्बल स्थलपर अपनी सारी शक्तिके साथ दबाव डालती हैं और यदि हम सतर्क हों तो हम उस कमजोरीको देखकर उसे दूर फैंक सकते हैं। सिर्फ इन शक्तियोंके आक्रमणका तरीका बड़ा उग्र और उथल-पुथल मचानेवाला होता है और व्यक्तिकी श्रद्धा, शान्ति आदि अच्छी बातोंकी भी खतरेमें डाल देता है इसलिये उसे आक्रमणोंके सामने श्रद्धा आदिको बनाये रखनेके लिये सावधान रहना होता है।

*

विरोधी शक्तियां जब योगको भावात्मक साधनों द्वारा प्रत्यक्ष प्रलोभनों या प्राणिक विद्रोह द्वारा भंग नहीं कर सकती तो वह निषेधात्मक ढंगसे ऐसा करनेके लिये पूरी तरह तैयार रहती हैं: पहले तो अवसाद लाकर और फिर साधारण जीवन और साधनासे एक साथ इनकार करके।

*

परोक्ष आक्रमण इस तरहके नहीं होते कि विरोधी शक्तियां उग्रतासे धावा बोलकर चारों ओरसे घेर लें — ये गुप्त सुझावों द्वारा आधे सच और आधे झूठके द्वारा मिथ्यात्वको भागवत सत्यके भेसमें प्रस्तुत करने या उच्चतर चेतनाको चालाकीसे निम्नतर चेतनाके साथ मिलानेके प्रयत्नों द्वारा किये जाते हैं। वे बल द्वारा जीतनेकी अपेक्षा धोखेबाजीसे मार्गभ्रष्ट करनेका ही प्रयत्न करते हैं।

*

प्राणिक शक्तियां या सत्ताएं किसी प्रभावको फैंकते समय उसे विचार या क्रियाके कोई रूप दे देती हैं और लोगोंके मन या प्राणमें उन्हें इस प्रकार डाल देती हैं कि वे उसके विषयमें एक विशेष ढंगसे अनुभव करते हैं, विचारते, काम करते और बोलते हैं। जो कोई भी व्यक्ति उनके प्रभावके प्रति खुला होता है, वह इसी ढांचेके अनुसार कार्य करता है, शायद कुछ हेर-फेरके साथ जिसका कारण उसका अपना प्राणिक स्वभाव होता है।

*

ऐसी कोई निश्चित संख्या नहीं होती — किन्तु कभी-कभी कुछ इस तरहकी विशेष प्राणिक सत्ताएं होती हैं जो मनुष्यकी स्वीकृति होनेपर अपनेको उसके साथ संयुक्त कर लेती हैं।

V

आक्रमण तो चारों ओर होते ही रहते हैं और यह ऐसा काल है जब वे बहुतसे लोगोंपर टूट पड़े हैं। किन्तु यदि किसीमें माताजीके प्रति दृढ़ श्रद्धा हो और उनके प्रति पूर्ण हार्दिक अभीप्सा हो तो किसी भी आक्रमणका प्रभाव देरतक नहीं ठहर सकता।

*

आक्रमणोंसे निबटनेके दो साधारण उपाय हैं: या तो सक्रिय और सबल साधनों द्वारा अस्वीकार कर दिया जाय या उनसे अप्रभावित रहकर उन्हें

गुजर जाने दिया जाय।

*

यह स्थिति जो आक्रमण करके तुम्हें अपने काबूमें करनेकी चेष्टा कर रही है, तुम्हारी सच्ची आत्मा नहीं है, किन्तु कोई विजानीय प्रभाव है। इसलिये इसके सामने झुककर इसे व्यक्त करना सत्यनिष्ठा नहीं होगी बल्कि यह एक ऐसी अभिव्यक्ति होगी जो तुम्हारी सच्ची सत्ताकी दृष्टिसे मिथ्या है, एक ऐसी चीज जो तुम्हारी प्रगति करनेके साथ-साथ अधिकाधिक विजातीय होती जायगी। यह जब भी आये इसका सदा परित्याग करो, तब भी जब तुम इस स्पर्शका तीव्रतासे अनुभव करो; अपने मन और अन्तरात्मामें माताजीके प्रति उद्घाटित रहो, अपने संकल्प और श्रद्धाको बनाये रखो और तुम पाओगे कि यह चीज पीछे हट रही है। यदि यह हठपूर्वक वापिस लौटे तो तुम भी उसके विरोधमें उतने, और उससे भी अधिक हठीले बनो, परित्याग करनेमें दृढ़ रहो—यह वस्तु इसे हतोत्साह करके क्षीण कर देगी और अन्तमें कमजोर होकर अपनी छायाभर रह जायगी और फिर मिट जायगी।

अपने वास्तविक आत्माके प्रति सदैव सच्चे बने रहो—यही यथार्थ सत्य निष्ठा है। लगे रहो, तुम जीत जाओगे।

*

वे (निम्नतर शक्तियां) आशा करती हैं कि वे लगी रहकर तुम्हें थका देंगी या केवल अपनी हठपर अड़े रहकर अन्दर घुस आयेंगी—या अपने आक्रमणों द्वारा कम-से-कम साक्षात्कारमें देर लगवायेंगी। उनका हमेशा यही तरीका होता है। यदि वे श्रद्धा, शान्ति और समताको विचलित कर सकें तो वे समझती हैं कि उन्हें भरपूर प्रतिफल मिल गया है।

*

एकमात्र गलत चीज होगी अपने-आपको उनसे (विरोधी शक्तियोंसे) पराजित होने देना। यदि तुम अपने-आपमें स्थिर बने रहो तो तुम आक्रमणको पीछे धकेल सकते हो या फिर यह अपनेको निःशेष करके समाप्त हो जायगा। ऐसी परिस्थितियोंमें तुम्हें ऐसी चट्टान बन जाना चाहिये जिसपर तूफानी समुद्रने

आक्रमण किया है, किन्तु जो उसके कारण कभी भी डूबी नहीं।

*

एकमात्र उसी वस्तुको व्यक्त करना सचाई नहीं है जिसका विरोधी शक्तियां सुझाव देती हैं या जो तुम उस समय अनुभव करते हो जब तुम्हारी स्थिति अच्छी नहीं होती, तुम अज्ञान और गलत दृष्टिकोणसे अभिभूत होते हो। जब तुम सत्यमें निवास करते हो तो तुम इससे बिलकुल उलटा अनुभव करते हो और उस अवस्थासे चिपटे रहना और इसे वापस ले आना सत्यनिष्ठाका अभाव नहीं है। सत्यनिष्ठाको वापस लानेके द्वारा ही तुममें सत्य विकसित हो सकता है।

तुम्हारी छातीमें प्राणिक प्रतिरोधके कारण ही पीड़ा उत्पन्न होती है और इसलिये जारी रहती है कि तुम उस प्रतिरोधके साथ तादात्म्य कर लेते हो। ये चीजें एकमात्र अचंचलता और माताजीके प्रति उद्घाटन द्वारा ही नष्ट हो सकती हैं। प्रगति करनेका और कोई मार्ग नही है।

यदि तुम्हारे भीतर अचंचलता न हो तो पहले तुम सदा ही अभीप्सा कर सकते हो और सच्ची अभीप्सा इसे वापस ले आयेगी।

*

मैं नहीं जानता कि ऐसे कौनसे कारण इतने सूक्ष्म हो सकते हैं कि वे उस वस्तुको उचित ठहरायें या उचित ठहराते प्रतीत हों, जो वस्तु साधनाका विरोध करके उसे नष्ट करनेकी चेष्टा करती है। आध्यात्मिक प्रगतिके मार्गमें जो भी चीज बाधक बनती है अवश्य ही वह मिथ्या वस्तु होती है, फिर चाहे वह अपने पक्षमें कितने ही तर्क क्यों न प्रस्तुत करे। सबसे अच्छा यह है कि इसके तर्कोंको अनसुना कर दिया जाय।

*

तुम्हारे अन्तिम पत्रसे यह स्पष्ट है कि तुम्हारा संकल्प तुम्हें यहांसे जानेके लिये प्रेरित नहीं करता किन्तु कोई दूसरी ही चीज है जिसने तुम्हारे मनको अधिकारमें कर लिया है, किसी ऐसी शक्तिकी पकड़ है जो क्रियाको संचालित करनेके लिये बाह्य मन और प्राणकी किसी पुरानी क्रियाका उपयोग

कर रही है। इस क्रियाको अस्वीकार करनेके लिये यह और भी अधिक बड़ा कारण है कि यह अन्तरात्मा और हृदयके सच्चे वेदनके प्रतिकूल है। वह अहंकार जो कहता है: "मैं उन चीजोंमें हूँ जो टूट सकती है किन्तु झुकती नहीं, " अहंकारका यह वचन एक बेकारकी बात है और इसके पीछे यह तथ्य छिपा है कि व्यक्ति अज्ञानपूर्ण और अन्धकारमयी शक्तियोंके सामने झुक रहा है। इसका परिणाम यह होता है, जैसे कि तुमने अपने पत्रके अन्तमें स्वयं ही समझ लिया है, कि व्यक्ति प्रकृतिकी निम्नतर शक्तियोंके सामने झुक जाता है किन्तु भगवान्‌के सामने झुकनेसे इनकार करता है।

यदि साधना उच्चतर संकल्प और कष्ट एवं आन्तरिक उत्पीड़न देनेवाली पुरानी प्राकृतिक शक्तियोंके बीच होनेवाला एक संघर्ष हों तो हम नहीं चाहते कि तुम ऐसी साधना करो। हमारे योगकी मूल भावना यह नहीं। अपने अन्दर अचंचलता का आधार प्राप्त करके भागवत शक्तिको दृढ़ता और शान्तिपूर्वक कार्य करने देना ही हमेशा सर्वोत्तम विधि है—यह जरूरी नहीं है कि हम बड़े भारी व्यक्तिगत प्रयत्न, विक्षोभ और संघर्षके द्वारा आगे बढ़ें। इस अवस्थामें वापस लौट आओ और माताजीकी शक्ति और कृपाको मार्ग दर्शक बनने दो। अपने-आपको एक बार फिर खोलो जैसा कि तुमने पहले किया था—उस समय तुमने निद्रा या स्वास्थ्यको पुनः दो-एक दिनमें प्राप्त कर लिया था और तुम अपने अन्दर भी बिना अधिक कष्टके प्रगति कर रहे थे।

मैं तुम्हें सहायता देकर इस कठिनाईमेंसे बाहर निकालनेके लिये सब कुछ करूँगा, परन्तु तुम्हारे अन्दर जिस चीजने अपनेको बन्द कर रखा है, तुम्हें उसे खोलना होगा जिससे सहायता पहलेकी तरह तेजीसे काम करे। ऐसा न होनेपर भी यह तुम्हें कठिनाईमेंसे बाहर निकाल सकती है परन्तु यदि यह प्रबल अवरोध जिसे हटाना है, आधारमें बना रहे तो इसके लिये समयकी जरूरत होगी। मैं समझता हूँ तुम्हारी मानसिक वृत्तिमें केन्द्रीय परिवर्तनसे बहुत फर्क पड़ जायगा—पहले भी यह हो चुका है।

*

तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि ये चीजें एक प्रकारके आक्रमण हैं जो विरोधी शक्ति द्वारा तुम पर आते हैं। तुम्हारी प्रकृति उसका प्रत्युत्तर प्राणिक कामना एवं प्राणिक अहंकारके कारण देती थी—जिसे तुम स्वार्थपरायणता कहते हो। जब यह विरोधी शक्ति आती है तो तुम्हें समझ लेना चाहिये कि यह एक आक्रमण है और इससे इनकार करना चाहिये—और यह करनेमें

समर्थ होनेके लिये तुम्हें सदा ही अपने भीतरकी कामना एवं स्वार्थपरताको तथा उनमेंसे उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्या, दावा, क्रोध आदि जैसी सब वस्तुओंको सदा ही निरुत्साहित करना होगा। इस कथनका कोई लाभ नहीं है कि उनके उभरनेके लिये अच्छे खासे कारण हैं—यदि ये सब कथित कारण सच्चे हों तो भी ये तुम्हारे इन्हें प्रश्रय देनेको उचित नहीं ठहरायेंगे क्योंकि साधकमें कोई भी वस्तु उसे उचित नहीं ठहरा सकती। इसे समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं—क्योंकि केवल एक ही वस्तु समझनी जरूरी है—कि सकारण या अकारण किसी भी रूपमें कामना, स्वार्थपरता, ईर्ष्या, मांग और क्रोधके लिये आध्यात्मिक जीवनमें कोई स्थान नहीं।

यदि तुम अपने किये हुए निश्चयपर कायम रहो, तो सब ठीक हो जायगा और यथार्थ ज्ञान तुम्हें मन और उसके तर्कों द्वारा नहीं बल्कि अन्तरात्मा और वस्तु सम्बन्धी सच्चे अन्तर्दर्शन द्वारा प्राप्त होगा।

*

हां, कठिनाई सदैव यह होती है कि प्रकृतिके अन्दर कोई ऐसी चीज है जो आक्रमणको पैर रखनेके लिये जगह दे देती है। या तो इसमें आसक्त होती है, या इसे पसन्द करती है और यदि मुक्त होना चाहे तो भी इन आक्रमणोंकी इतनी अधिक आदी होती है कि पुराने वेदनों, विचारों, सुझावोंको ग्रहण करके उनका प्रत्युत्तर नहीं दे पाती और नहीं जानती कि आक्रमणका प्रत्युत्तर देनेसे कैसे बचा जाय। पहली चीज यह है कि मानसिक सत्ताको पीछे हट जाना चाहिये, उसे यह कहते हुए इनको अस्वीकार करना चाहिये कि "अब इसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।" उसके बाद यदि प्राणिक सत्ता आक्रमणका प्रत्युत्तर दे तो प्रकृतिका एक हिस्सा मुक्त होकर इसका निरीक्षण कर सकता है और इसे अनुत्साहित कर सकता है। इसके बाद इस मुक्त हिस्सेको वही अनासक्तिका संकल्प प्राणपर इस प्रकार लागू करना चाहिये कि कुछ समय बाद आक्रमण होनेपर यह हिस्सा भी अनुभव करने लगे कि यह कोई विजातीय वस्तु है न कि उसकी अपनी—मानों कोई अजनबी कमरेके अन्दर घुसकर वहां रहनेवालोंपर अपने विचारों या अपने संकल्पको लादनेकी चेष्टा कर रहा हो। तदनन्तर उससे पूरी तरह मुक्त हो जाना अधिक सरल हो जाता है। माताजीकी शक्ति निःसन्देह कार्य कर रही है किन्तु मन और प्राणकी ओरसे इस प्रकारकी स्वीकृति के कारण परिणाम तेजीसे और सुगमतासे प्राप्त हो जाता है—अन्यथा इसमें समय लगता है और अधिक श्रम एवं संघर्ष करना

पड़ता है।

*

जब कोई आक्रमण अथवा अवरोध हो तब यह सम्भव है कि माताजीका आह्वान अथवा ध्यान तत्काल सफल न हो। यह भी सम्भव है कि आक्रमण अथवा अवरोधसे मुक्ति पानेका संकल्प भी फौरन सफल न हो किन्तु फल-प्राप्तितक निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये और यदि कोई निरन्तर प्रयत्न-शील रहता है तो फल-प्राप्ति निश्चित है।

आक्रमणोंके समय हम केवल नकारात्मक पक्ष ही देखते हैं क्योंकि आक्रमण अथवा अवरोधका पहला काम मनके ज्ञानको मेघाच्छन्न करनेका प्रयत्न होता है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो कुछ कालके लिये उसका सर्वथा प्रबल होना कठिन है, क्योंकि यदि मन सावधान रहे और सत्यसे अलग न हो तो आक्रमण केवल प्राणको ही उद्वेलित कर सकता है। यद्यपि यह भी काफी कष्टप्रद हो सकता है, तो भी मनका सही रुख शोधन का काम करता है और फिरसे सन्तुलन प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल बना देता है और प्राणकी सही अवस्था अपेक्षाकृत शीघ्र वापिस लौट आती है। प्राण यदि अपने सन्तुलन को बनाये रखे तो आक्रमण स्थूल चेतनाको केवल अपने संकेतों द्वारा ही छू पाता है और कहीं ज्यादा छिछला होता है। अथवा यदि वह कुछ करे भी तो शरीरके अन्दर अस्थायी व्यग्रता, अशान्ति या अस्वस्थता पैदा करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाता, बाकी चेतना अप्रभावित रहती है। इसलिये आक्रमण कितना भी बलशाली हो, उसके दौरानमें सही मानसिक रुख बनाये रखनेका स्वभाव डालना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके लिये सर्वोत्तम सहायता श्रद्धा बनाये रखना है, यह श्रद्धा कि भगवान् सदा उपस्थित हैं और कैसी भी परीक्षाएं क्यों न हों, मैं उनको पार करके उनतक पहुँच जाऊंगा। इससे अन्य वस्तुओंको भी सही रूपमें देखनेमें सहायता मिलती है।

तामसिक अहंका तात्पर्य दुर्बलता, आत्म-अवमानना, अवसाद तथा अनास्था का अहं है। राजसिक अहं आत्म-प्रशंसा तथा अभिमानसे भरा होता है अथवा वह पग-पगपर या जहां भी सम्भव हो धृष्टतापूर्वक अपनी स्थापना करता है। इसके विपरीत तामसिक अहं सदा यह महसूस करता है कि "मैं दुर्बल हूँ, मैं दीन हूँ। मुझमें कोई शक्ति नहीं। भगवान् मुझे प्यार नहीं करते या उनके दरबारमें मेरी पहुँच नहीं। मैं इतना बुरा और इतना अयोग्य हूँ कि भगवान् मेरे लिये कर ही क्या सकते हैं?" अथवा यह कि "दुर्भाग्य तथा

कष्ट ही विशेषरूपसे मेरे भाग्यमें आये हैं। अन्य सब मेरी अपेक्षा प्रिय हैं। वे सब प्रगति कर रहे हैं। केवल मैं ही पीछे रह गया हूँ। मुझे सब त्याग देते हैं। मेरे सामने पलायन, मृत्यु या विनाशके अतिरिक्त और कुछ नहीं है" आदि आदि या कुछ (और) ऐसी बातें या ये सब बातें मिली हुई। कभी-कभी राजसिक और तामसिक अहंकार आपसमें मिलजुल जाते हैं और सूक्ष्म रूपसे एक दूसरेकी सहायता करते हैं। दोनों अवस्थाओंमें यह 'मैं' है जो अपने बारेमें झगड़ा खड़ा करता है और वास्तविक दृष्टिको धूमिल कर देता है। सही आध्यात्मिक अथवा आन्तरात्मिक दृष्टि यह है कि 'मैं' चाहे जो कुछ भी हूँ, अथवा मेरी आत्मा भगवान्का बालक है और अवेर-सवेर उसे भगवान्के पास पहुँचना ही है। मैं अपूर्ण हूँ किन्तु अपने अन्दर भगवान्की पूर्णताको खोज रहा हूँ। वह पूर्णता मुझे मेरे द्वारा नहीं बल्कि भगवान्की कृपासे ही मिलेगी। यदि मेरी श्रद्धा बनी रहे तो भगवत्कृपा अपने-आप सब कार्य सम्पादन कर देगी। यहां 'मैं' को भगवान्के लघु अंश तथा यंत्रकी हैसियतसे अपना वास्तविक स्थान लेना होगा। 'मैं' वह 'कुछ' है जो भगवान्के बिना कुछ नहीं है किन्तु उसकी कृपासे जैसा वह चाहे वैसा 'सब कुछ' बन सकता है।

माताजीकी सहायता सदा उपस्थित है किन्तु तुम्हें उसका ज्ञान तभी होता है जब तुम्हारा चैत्य पुरुष सक्रिय हो और तुम्हारी चेतना मेघाच्छन्न न हो। विचारोंके आनेका अर्थ यह नहीं है कि सहायता उपस्थित नहीं है। विचार सभी साधकोंके अन्दर उठते हैं—महान्से महान् साधकों और अवतारोंके अन्दर भी जैसे कि वे बुद्ध और ईसाके अन्दर उठते थे। बाधाएं हैं,—वे प्रकृतिके अंग हैं और उनपर विजय पानी है। हमें उन विचारोंको अस्वीकार करनेकी क्षमता प्राप्त करनी है। उनको अपने विचारोंके अथवा सत्यके रूपमें स्वीकार नहीं करना है अपितु उनको उनके वास्तविक रूपमें पहचानकर उनसे अपनेको अलग रखना है। बाधाओंको ऐसा मानकर चलना होगा कि मानव प्रकृतिके यंत्रमें कुछ खराबी है जिसे परिवर्त्तित करना है। इनको पाप अथवा कुकर्म नहीं समझना चाहिये क्योंकि ऐसा समझनेसे अपने तथा साधनाके प्रति निराशाके भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

*

किन्तु सुझावोंके आनेपर उनके अपने आचरणसे उनके स्वरूपको समझ लेना सम्भव हो जाता है और यह स्वयं बताता है कि वे सुझाव निश्चय ही गलत प्राणिक शक्तियोंसे आते हैं। एकमात्र बात यह है कि उन्हें तुरन्त अस्वीकार

करना होगा और अपने मन और प्राणमें इनके प्रवेशको रोकना होगा — अर्थात् उन्हें किसी भी तरह स्वीकार नहीं करना चाहिये या प्रभावित करनेकी अनुमति नहीं देनी चाहिये। ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्हें सुझावोंके पीछे स्थित शक्तियोंके विषयमें सीधा गुह्य अन्तर्बोध हो — कम-से-कम जबतक चैत्य चेतना पूरी तरह खुल नहीं जाती, क्योंकि तब प्रत्यक्ष अन्तर्बोध अधिक सुगमतासे हो सकता है,—किन्तु मानसिक समझका ऐसे ढंगसे प्रयोग किया जा सकता है कि उसका अच्छा परिणाम हो।

*

इन सुझावोंको प्रबल न होने दो। ये शक्तियां जब भी आक्रमण करें उस समय यदि तुम प्रत्येक बार मुड़कर उनका सामना करो तो तुम्हें प्रगतिके लिये और अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। वे आक्रमण करती हैं और इस आशासे गलत बातका सुझाव देती हैं कि यदि तुम स्वीकार कर लो तो तुम्हारे पास वापस आनेकी उनकी शक्ति कुछ अधिक समयतक बनी रहेगी। थोड़े समयके लिये भी उन्हें विजयी मत होने दो।

*

यदि तुम शक्तिके साथ सम्पर्क बनाये रख सको और अव्यवस्थाके किसी भी प्रबल आक्रमणको अस्वीकार कर दो तो इतना ही पर्याप्त है। बाकी सब स्वयं शक्ति कर लेगी — क्योंकि कोई भी व्यक्ति वस्तुतः इतना शक्तिशाली नहीं होता कि अपनेको परिवर्तित कर सके, पुकारकर नीचे लाई गई भागवत शक्ति ही यह करती है।

*

हां, सहायता और आन्तर क्रिया करती हुई शक्ति तुम्हारे साथ सदा विद्यमान है और सदा विद्यमान रहेगी। अत्यन्त प्रबल आक्रमणोंके समय और घने-से-घने अन्धकारके कालोंमें भी यह शक्ति केवल ढंकी–और छिपी पड़ी थी, किन्तु ऐसा नहीं कि यह वहां न रही हो या पीछे हट गई हो, और न कभी ऐसा होगा ही।

*

स्वभावतः ही इन कठिनाइयोंमें जो कुछ भी है उस सबकी मूल जड़ें प्राणमें और उसकी सब प्रकारकी प्रत्याशाओंमें हैं। जब कोई व्यक्ति उनसे मुक्त होना चाहता है तो प्राण प्रतिरोध करता है और उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, लेकिन यह अपने-आपमें एक ऐसे परिवर्तन, समझौते, पुनर्व्यवस्था के कार्यसे अधिक कोई चीज नहीं होगी जिसमें समय लग सकता है किन्तु इसके कारण गम्भीर संघर्ष एवं उथल-पुथल नहीं होगी। क्योंकि एकबार यदि मन और आन्तरिक संकल्प इनसे मुक्त होनेका निश्चय कर ले तो, उच्चतर प्राणका संकल्प भी इनके साथ शामिल हो जायेगा, सत्ताका शेष भाग जो परिवर्तनके विरुद्ध इसलिये आग्रह रखता है कि वह भाग अभ्यासगत क्रियाओंसे बनी चीज है, अवचेतनपर आधारित है और तर्क या ज्ञान द्वारा नियन्त्रित नहीं होता, सत्ताके उच्चतर संकल्पके दबावका स्थायी या उग्र रूपसे प्रतिरोध करनेमें समर्थ नहीं होगा। इसकी प्रतिरोध करनेकी शक्ति क्षीण हो जायगी और अभ्यासगत प्रतिक्रियाएं जर्जर हो जायेंगी या झड़ जायेंगी। किन्तु कठिनाईका और उसकी उत्कटताका बढ़ते रहना इस तथ्यके कारण होता है कि प्रकृतिमें ऐसी शक्तियां भी हैं जो निजी या व्यक्तिगत नहीं किन्तु वैश्व हैं, जो इन क्रियाओंके आधारपर जीती हैं और इनके द्वारा उन्होंने चिरकालसे व्यक्तिगत प्रकृतिपर नियन्त्रण कर रखा है। ये अपने शासनको खोना नहीं चाहतीं, इसलिये जब इन क्रियाओंको बाहर फैंक दिया जाता है तो वे इन क्रियाओंको साधकपर शक्तिशाली तरंगोंके रूपमें या अत्यधिक उग्रताके साथ वापिस फैंक देती हैं। अथवा वे प्राणमें अत्यन्त अवसाद, अनुत्साह, निराशा पैदा करती हैं — ये उनका प्रिय हथियार है क्योंकि यह अपने पहलेके कामनाओंके प्रदेशको खो रहा होता है और उसके पास सुनिश्चित और सतत चैत्य या आध्यात्मिक अनुभव जैसी असन्दिग्ध कोई वस्तु नहीं होती जो इसका स्थान ले ले। इन शक्तियोंका सारा प्रयत्न उस चीजको रोकनेके लिये ही है। इसलिये वे यह उथल-पुथल उत्पन्न करती है और प्राण निम्नतर शक्तियोंको प्रत्युत्तर देनेकी निजी आदतके कारण उन्हें अन्दर आने देता है इसके साथ ही वे आक्रमण मनके अन्दर भी इन सुझावोंको डाल देते हैं जिससे वह भी विक्षोभ, अनुत्साह और अवसादको स्वीकार कर ले। ये ऐसे आक्रमण हैं जो बाहरसे आते हैं और उन्हें अस्वीकार करना होगा, इस कथनसे मेरा यही आशय था। यदि उन्हें पूरी तरह अस्वीकार न किया जा सके तो भी व्यक्तिको मनके एक ऐसे हिस्सेको सचेतन रखनेका यत्न करना होगा जो सुझावोंको अन्दर आने देनेसे या अवसाद और गड़बड़में भाग लेनेसे इनकार करे — जो दृढ़तापूर्वक कहे "मैं जानता हूँ यह क्या है और यह भी जानता हूँ कि यह चला जायगा तथा मैं अपने उस लक्ष्यकी ओर फिरसे चलना

शुरु कर सकता हूँ जहां पहुँचनेसे मुझे कोई नहीं रोक सकता क्योंकि मेरी अन्तरात्माका संकल्प इस लक्ष्य प्राप्तिके लिये है और सदा इसीके लिये रहेगा।" तुम्हें उस स्थानतक पहुँचना है जहां तुम सदा ऐसा कर सको, तब विरोधी शक्तियोंका विक्षुब्ध करनेका बल क्षीण होकर समाप्त हो जायगा। हमारी शक्ति तुम्हारे साथ है और तुम्हें अवलम्ब और सामर्थ्य प्रदान करनेसे नहीं चूकेगी। ऐसे सुझाव कि हम तुमसे उदासीन हैं, प्रत्यक्ष ही अवसादको सहायता देने और दृढ़ करनेके इरादेसे दिये गये सुझावके सिवाय और कुछ नहीं है। तुम्हें इसे इसी रूपमें लेना चाहिये और इसे सच्चा नहीं मानना चाहिये न अपना विचार ही समझना चाहिये; क्योंकि सम्भवतः यह सच्चा नहीं है। शान्ति और प्रकाश प्राप्त करनेमें तुम सफल होओ इसकी हमें भी उतनी ही चिन्ता है जितनी तुम्हें, बल्कि तुमसे भी अधिक।

*

सत्तामें प्रायः सदा ही ऐसे हिस्से होते हैं जो उनसे अपेक्षित प्रयत्नको करनेके लिये या तो अनिच्छुक होते हैं या अपनेको असमर्थ अनुभव करते हैं। साधारणतया चैत्य, मन और उच्चतर प्राण ही योगके लिये परस्पर एक साथ संयुक्त हो जाते हैं—क्योंकि यदि ये तीनों संयुक्त न हों तो योगमें बीच-बीचमें कुछ अनुभूतियां प्राप्त करनेसे अधिक कुछ कर सकना भी कठिन हो जाता है। किन्तु निम्न प्राणमें प्रायः हमेशा ही कोई अड़ियल चीज होती है और भौतिक सत्ताका भी ऐसा बहुतसा भाग है जो अत्यन्त तमसाच्छन्न है। यदि साधकको अपनेपर छोड़ दिया जाय तो इसे अधिक कठिनाईके विना ही ठीक किया जा सकता है किन्तु यहीं आकर वैश्व (निम्न) शक्तियोंमें विरोध-भाव उत्पन्न हो जाता है—वे सत्तापर अपना शासन कायम रखना चाहती हैं। परिणाम यह होता है कि निम्न प्राणका प्रतिरोध तीव्र हो जाता है और भौतिक सत्तामें अवरोध (तमस्, निष्क्रिय प्रतिरोध) अपनेको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाता है। ये तमस् आदि फिर अपने साथ आत्म-विनाश. अवसाद या निराशाके इन सुझावों-को अन्दर ले आते हैं।

VI

उन (बाह्य सत्तापर विरोधी आक्रमणों) का अनुभव सुझावोंके, या उपरितलीय मन, प्राण, शरीरपर एक स्पर्शके या वातावरणमें (व्यक्तिगत या

सर्वसामान्य पारिपार्श्विक चेतनामें) क्रियाओंके रूपमें — किन्तु आन्तरिक सत्ताके लिये यह बाहरी झोंकों या तूफानों जैसा ही होता है। यदि वे संयोगवश घरमें आ भी जायें तो उन्हें तुरन्त बाहर फैंक दिया जाता है और उनके सामने दरवाजे और खिड़कियां जोरसे बन्द कर दी जाती हैं — भीतर ऐसी कोई चीज नहीं है जो उन्हें स्वीकार करे या सहन करे।

*

यह सुझाव या प्रभावके स्रोत या स्थानका कोई निर्देश रहा होगा। जब चेतना खुली होती है तो गलत शक्तिके विचारके या स्पन्दनोंके या किन्हीं दबावके खूब ठोस रूपमें फैंके या भेजे जानेका अनुभव होता है। जब यह खुली नहीं होती तब वे आंखें बचाकर अन्दर घुस आते हैं और केवल उनके प्रभावका ही अनुभव होता है।

*

उच्चतर मनसे ऊपरी सब भूमिकाएं विरोधी शक्तिकी क्रियासे मुक्त होती हैं। क्योंकि उन सबका आध्यात्मिक चेतनासे सम्बन्ध है यद्यपि उनमें प्रकाश, बल या पूर्णताकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है।

*

प्राणिक शक्तियां मनपर आक्रमण कर सकती हैं और करती भी हैं। अनेक लोग उनसे मस्तिष्कके द्वारा सुझाव प्राप्त करते हैं, इसलिये यह बिलकुल सम्भव है कि वह आक्रमण ऊपरसे सिरके रास्ते अन्दर आता हुआ अनुभूत हो। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मनसे ऊपरके (उच्चतर मन, संबोधि मन या अधि-मानसके) प्रदेशोंसे आया है। विशुद्ध तर्कका अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं है कि वह एक विशेष दृष्टिविन्दुसे सुसंगत युक्ति है और वह यह नहीं सिद्ध करता कि क्रोधका आवेश उचित है या यह सूचित नहीं करता कि इसका मूल विरोधी शक्तियां नहीं हैं।

*

तुम नीचे प्राणतकमें सच्ची चेतनाको ग्रहण कर रहे थे परन्तु भौतिक सत्तामें पुरानी कठिनाईके फिरसे उठ खड़े होनेसे प्राणिक आक्रमण फिर हुआ है। जब तुम्हारा प्राण सदा ही इससे विचलित हुए विना या चीख-पुकार किये बिना तथा अन्दर स्थिर और परित्याग करनेवाली शक्तिके द्वारा इसकी शक्तिको पीछे हटाते हुए इस आक्रमणका मुकाबला कर सकेगा तो यह पूर्ण मुक्तिका लक्षण होगा।

*

इन सब भागोंमें प्रगति हो चुकी है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे भाग विरोधी शक्तियोंके सुझावोंका प्रत्युत्तर देनेके लिये लाचार है। ये सुझाव हरेक व्यक्तिके पास आते हैं, परन्तु उन्हें अन्दर नहीं घुसने देना चाहिये, विशेषकर हृदयमें , या प्राणको उन्हें स्वीकार नहीं करने देना चाहिये, यह स्पष्ट है कि वे स्थूल मनके द्वारा (गलेसे ऊपरके भागोंसे अभिप्राय स्थूल मनसे था) प्रविष्ट होते हैं और सतहकी प्राणिक और भावप्रधान सत्तापर असर डालते हैं। तुम्हें वहींसे उनके सुझावोंका सतत और स्थिरता पूर्वक इनकार और परित्याग करनेके द्वारा उन्हें अस्वीकार करनेकी शक्ति प्राप्त करनी होगी। जब तुम्हारे भीतरकी कोई वस्तु 'हामी' भर देती है या स्वीकार कर लेती है तब सदैव उनके लौटनेकी सम्भावना बनी रहती है।

*

मैंने जैसा कहा है कि स्थूल मन या प्राणका इन शक्तियोंको प्रत्युत्तर देना एक आदत मात्र है। शक्तिके इन मन या प्राण दोनोंमेंसे किसी एकका स्पर्श करते ही तुम विचलित हो जाते हो और अपने ऊपर नियन्त्रण खो बैठते हो। उनसे मुक्त होनेका उपाय है हृदयमें एकाग्र होना, किन्तु साथमें चेतनाकी अनासक्ति भी होनी चाहिये जिससे यह आक्रमणसे पीछे हटकर रहे और इससे अपनेको पृथक् अनुभव करे।

*

यदि हृदयमें एकाग्र होनेसे विरोधी शक्तियोंके आक्रमण कम प्रबल हो गये हैं (या आक्रमणोंकी संख्या कम होने लगी है) तो तुम्हें उस एकाग्रताको

तबतक जारी रखना चाहिये जबतक कि तुम मस्तिष्क और हृदयको, चैत्य और उच्चतर चेतनाको संयुक्त नहीं कर लेते। यह सबकुछ उसीपर निर्भर करता है। चैत्य पुरुषको इतना अधिक सबल हो जाना चाहिये कि वह प्राण और शरीरको भगवान्‌के प्रति आत्मदान करनेको बाध्य कर सके — या उच्चतर चेतना इस तरह अवतरित होनी चाहिये और प्रत्येक चीजपर उसे इस भांति अधिकार कर लेना चाहिये कि पुरानी गतियां अधिक-से-अधिक केवल ऊपरी सतहपर ही मंडराती रहें, वे न तो अन्दर प्रवेश कर सकें न आन्तरिक शान्तिको छू सकें — या इन दोनों, चैत्य और आध्यात्मिक चेतनाको, सारी सत्तापर अधिकार जमा लेना चाहिये। ये ही तीन मार्ग हैं जिनसे योग आगे बढ़ता है। यदि हृदयकी एकाग्रता, जिसका अर्थ होता है चैत्य पुरुषका जागरण, आक्रमणोंके विरुद्ध अत्यधिक प्रभावशाली है तो तुम्हें उसीका अनुसरण करना चाहिये।

*

यदि तुम इन आक्रमणोंमें भी अपने अन्दरके उस हिस्सेका अनुभव कर सको जिसमें कष्ट-क्लेश और अन्धकारके बीचमें भी उच्चतर शान्ति सतत बनी रहती है और यदि तुम इसे सदैव बनाये रखो तो यह एक बड़ी भारी प्राप्ति है। तुम्हारे भीतरकी उस वस्तुको भी अब पूर्ण समर्पणके लिये कदम उठाना होगा जो सदैव इसका अनुभव नहीं करती, जो असमंजसमें, अनिश्चित अवस्थामें पड़ी रहती है। तुम्हारे स्थूल मनका केवल एक हिस्सा ही अभी समझ नहीं पा रहा और वह पुराने विचारोंको फिरसे ग्रहण कर लेता है — इस स्थितिको बदलना ही होगा। जब भौतिक सत्तामें पूर्ण शान्ति और उच्चतर शक्ति विद्यमान होती है तब निर्बलता और अक्षमताओंका कोई महत्त्व नहीं रहता, उन्हें दूर कर दिया जायगा। तुम्हारे अन्दर नवजन्म होकर रहेगा — इसका प्रथम स्पर्श जाग्रत चैत्य में पहले ही विद्यमान है — शेष अंश आये बिना नहीं रह सकता।

*

मेरे विचारमें इसका उत्तरदायित्व निद्राके अभावपर अधिक है। यह उत्तरदायित्व संघर्षके उस अतिरेकपर भी है जो स्थूल तमस् और प्राणमय बाधाओंके निरन्तर पड़ रहे भारके कारण होता है और जिससे स्नायुएं दुर्बल

हो जाती हैं।

प्राणमय बाधाके समान भौतिक जड़ता अपने समस्त लक्षणों सहित उच्चतर उन्मीलनको रोकनेके लिये और उसके मार्गमें बाधा डालनेके लिये किया गया विरोधी शक्तियोंका आक्रमण है। इस जड़ताको उचित सिद्ध करनेके लिये जो विचार उठते हैं उनका कोई मूल्य नहीं है। यह सत्य नहीं है कि स्थूल कर्मका मूल्य मानसिक संस्कारिताके मूल्यसे कम है। बुद्धिका दर्प ही ऐसा दावा करता है। भगवानके लिये किये गये सब काम समान रूपसे दिव्य हैं। भगवान्के लिये किया गया शारीरिक श्रम अपने निजी विकास, यश या मानसिक संतोषके लिये की गई मानसिक संस्कारितासे अधिक दिव्य है।

इस जड़ता, अवेदनता और पीड़ाको उसी दृढ़ निश्चयके साथ दूर कर देना चाहिये जिसके साथ प्राणमय बाधाओंको दूर किया जाता है। तुम्हारे मामलेमें इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि प्राणके समान इसके आक्रमण भी सदा तेज होते हैं अन्यथा दूसरोंके साथ भी ऐसा ही होता है लेकिन हर बार वे इसे अस्वीकार कर देते हैं, माताजीकी शरण में जाते हैं और मुक्त हो जाते हैं। यदि आक्रमण तीक्ष्ण है तो मुक्तिमें कुछ समय लगता है और यदि हल्का है तो वह तुरन्त मिल जाती है।

यदि अस्थायी शारीरिक असमर्थता है तो विश्राम लिया जा सकता है। लेकिन एकमात्र शारीरिक शक्तिको पुनः प्राप्त करनेके लिये ही ऐसा हो सकता है। मानसिक स्व-विकासके लिये शारीरिक कर्मका त्याग मानसिक अहंकी सृष्टि है।

*

तमस् विरोधी शक्तियोंको कार्य करनेके लिये अवकाश और बल प्रदान करता है।

*

तुम जिन आक्रमणोंकी बात कर रहे हो वे कहीं भी हो सकते हैं। यह स्नायविक केन्द्रोंमें स्थित विरोधी प्राणिक शक्तियोंका स्नायविक सत्तापर आक्रमण है। यह आक्रमण तुम्हें यहां नहीं आने दे रहा था और तुम्हारे इस वातावरणमें तथा "योग और उसके उद्देश्य" पुस्तकके विचारोंमें रम जानेपर हटने लगा, यह तथ्य ही आक्रमणके मूलका द्योतक है। जहांतक अन्य लक्षणोंकी बात है वे इकट्ठे होकर स्नायविक सत्ताको अत्यधिक बेचैन कर रहे थे। और ऐसे

उदाहरणोंमें ये पर्याप्त जाने पहचाने लक्षण हैं। कहीं दूर भाग जानेकी इच्छा एक अत्यन्त सामान्य लक्षण है। वातोन्माद (हिस्टीरिया) का दौरा भी ऐसी ही शक्तिका आक्रमण है, किन्तु यह केवल एक रूप है; यह जरूरी नहीं कि आक्रमण बीमारीका रूप धारण करे ही। चिकित्सक लोग साधारणतया इसे उस रोगका प्रकार मानते हैं जिसे वे मनः शान्ति या नाड़ी-दौर्बल्य कहते हैं; किन्तु यह वस्तुके यथार्थ स्वभाव और कारणकी व्याख्या किये बिना ही केवल उसके स्थानको निर्धारित करता है। दोनों ही दशाओंमें, यहां और वहां, सत्ताके प्राणिक-भौतिक भागमें असमर्थता और विक्षोभकी स्थिति पैदा करके तुम्हारे आध्यात्मिक जीवनमें बाधक बननेका ही यह प्रयत्न था। जो हो, तुम यहांसे न जा सके यह तथ्य और जानेकी बातसे तुमने जो दुःख अनुभव किया उसके द्वारा अपनी सत्ताके किसी हिस्सेमें तुम्हारे उद्घाटित होते ही हम तुरन्त सारी चीजकोसमाप्त या दूर कर पाये यह तथ्य दर्शाता है कि तुम्हारे अन्दर आध्यात्मिक जीवन चरम सीमापर पहुँची हुई विरोधी शक्तियोंसे भी अधिक प्रबल और गहरे रूपमें स्थित है, तब भी जब कि वह ऊपरसे ढंका होता है। यह मुख्य वस्तु है।

*

तुम्हारे भीतर इन सुझावोंको प्रत्युत्तर देनेकी शक्ति है वह अब भी इसलिये कायम है कि भौतिक सत्ता, विशेषकर अवचेतन भौतिक सत्तापर पुरानी आदतोंकी छाप पड़ी हुई है। यह बात मैंने तुम्हें समझा दी है—कि जब अवचेतनमें उतरे हुए मन और प्राण द्वारा इन चीजोंको अस्वीकार कर दिया जाता है या फिर जब ये सुझाव बाहर पारिपार्श्विक चेतनामें चले जाते हैं, तब वहांसे विरोधी शक्तियों द्वारा धकेले जानेपर वे आदतें वापिस लौट सकती हैं। विरोधी शक्तियां इन दो तरीकोंसे अपनी पकड़ फिरसे पानेकी चेष्टा करती हैं। परन्तु उनका अवचेतनमेंसे उभरना इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि लम्बे समयतक उभरते रहना—यह उभार स्वप्नमें होता है या जाग्रत चेतनामें यह थोड़ा-थोड़ा करके आता है। लेकिन परिवेशी चेतनामेंसे आनेपर यह जोरदार आक्रमण हो सकता है और स्पष्ट : ही इस समय यही कुछ हो रहा है।

मैं समझता हूँ जो चीज इन आक्रमणोंको बल प्रदान करके तुम्हें विचलित करती रहती है वह है किसी स्थानपर स्थित अधीरताका यह भाव कि स्थिति आगे नहीं बढ़ रही, एक निश्चित ढंगकी प्रगति नहीं की जा रही और यह कि ये चीजें सदाके लिये अभीतक समाप्त नहीं हुई। बाहरसे प्रतीत होनेवाला

गतिरोधका काल आवश्यक रूपसे विरोधी चीज नहीं है, यह अधिक निश्चयात्मक ढंगको नवीन प्रगतिके लिये तैयारीका काल भी हो सकता है—साधनामें ऐसा प्रायः ही होता है—आक्रमणोंके बावजूद भी तुम्हें प्राप्त हुई प्रगतिको जागरूक रहकर बनाये रखना होगा। आगेकी प्रगतिके रूपमें ऊपरसे पूर्ण आध्यात्मिक स्थिरता और शान्तिका अवतरण—बृहत्के भीतर चेतनाका उद्घाटन होना चाहिये। इसके आनेतक अपनेको दृढ़ बनाये रखो और इसका ध्यान रखो कि ये आक्रमण तुम्हारे आधारको विचलित न कर दें।

*

बाह्य चेतना उस वस्तुसे आक्रान्त हो सकती है जो अवचेतनसे उभरती है या बाहरसे आती है या पुरानी आदतके फिरसे स्पन्दित होनेके कारण प्रत्युत्तर दे सकती है—किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्राण या स्थूल मनका संकल्प इन वस्तुओंके पक्षमें है। यदि उनमें कोई ऐसी वस्तु होती जो सामान्य रूपसे कामवासना या उग्रताका पक्ष लिया करती तो तुम कह सकते कि उनमें मलिनताएं थी। परन्तु यदि ऐसा होता तो इससे भी अधिक आक्रमण होते, काम और क्रोधसे प्रतिदिन संघर्ष होता।

यदि व्यक्तिको भगवान्का साक्षात्कार शुरू होनेसे पहले, इन आक्रमणोंकी सारी सम्भावनासे मुक्त चरम विशुद्धिकी राह देखनी पड़ती तो कोई भी व्यक्ति साक्षात्कार करनेमें समर्थ न होता। साक्षात्कारके बढ़नेके साथ ही साथ मूल रूपान्तर भी होता जाता है।

*

इन आक्रमणोंसे तुम्हें हतोत्साह नहीं होना चाहिये। जबतक भौतिक सत्तामें पूर्ण आधार न बन जाय तबतक ऐसे अवसर सदैव आते हैं जब कि पुरानी क्रियाएं फिरसे सिर उठाती प्रतीत होती हैं। परन्तु जबतक यह अवचेतनको मथनेवाली बाहरकी शक्तिका धावा मात्र होता है और देरतक नहीं टिकता तबतक इसका अर्थ यह जरा भी नहीं कि प्रगति हुई ही नहीं। हमें मानव चेतनाकी सारी जटिलताके साथ, उसके प्रच्छन्न भागोंके अलावा सतहपर भी निबटना होता है—और चेतनाकी ऐसी परतोंपर परते हैं जिनमें पुरानी प्रतिक्रियाओंकी कोई चीज छिपी रह सकती है किन्तु प्रत्येक विजय नियन्त्रणको

अधिक मजबूत बनाती है और पूर्ण शोधनको अधिकाधिक पास लाती है।

*

तुम्हें इस मामलेमें विचलित नहीं होना चाहिये; यह पर्याप्त है यदि तुम इन जैसी क्रियाओंका अपने मनमें ख्याल रखो और इसके लिये जागरूक रहो कि उन्हें तुम्हारे अन्दर फिरसे आधार न मिले। बहुत करके तुम्हें बाहरके जगत्के साथ होनेवाले उस सम्पर्कमें उनके कारणका पता चलेगा जो तुम्हारे भीतर पुरानी आदमकी किन्हीं सम्भावनाओंको फिरसे ताजा करता रहता है। जब चेतनाका एक या दूसरे स्थानपर कोई पतन या ह्रास होता है अथवा कोई हानि होती है तो सतत निगरानी करनेवाला शत्रु या छिद्रान्वेषी असुर तुम्हारी नजरसे छिपे पड़े कमजोर स्थानपर पूरे जोरके साथ अपना दबाव डालता है और एकाएक कोई गलत क्रिया अप्रत्याशित बलके साथ उछलकर ऊपर आ जाती है। सचेतन बनो और इसके ताजा होनेकी सम्भावनाको बाहर निकाल दो, बस, तुम्हें इतना ही करना है।

*

ये (जड़ता, अवसाद आदिकी शक्तियां) ऐसी चीजें हैं जो वातावरणमें चारों ओर भटकती रहती हैं और व्यक्तिपर उसके अनजाने ही कूद पड़ती है। यह जानना प्रायः कठिन होता है कि वे ठीक-ठीक कहांसे आती हैं और प्रायः उनके व्यक्तिके भीतर आनेके लिये कोई जरासा भी तर्क या उन्हें निमन्त्रित करनेवाला कोई कारण नहीं होता। उन्हें तो बस उसी तरह दूर फैंक देना चाहिये जिस तरह हम किसी चीजके शरीरपर आ पड़नेपर उसे फैंक देते हैं।

*

हरेक व्यक्तिके साथ ऐसा तबतक होता है जबतक रूपान्तरकी वह निश्चयात्मक सिद्धि नहीं प्राप्त हो जाती जिसके कारण इन स्पन्दनोंका प्रत्युत्तर देना आधारके मूल स्वभावके प्रतिकूल हो जाता है — क्योंकि वे इसके लिये विजातीय बन गये होते हैं। तबतक सब कुछ चेतना और उसके संकल्पकी जागरूकतापर निर्भर करता है। प्रत्युत्तरका बारंबार दुहराना कठिनाईको नहीं बढ़ाता —

यह आक्रमणकारी शक्तियोंकी सफाईमें देर ही कराता है।

*

प्रत्युत्तर देनेकी यान्त्रिक क्रिया प्रत्येकमें ऐसी ही होती है। यह क्रिया किसी प्रहार करनेवाली वस्तु द्वारा नहीं किन्तु विशालता और उच्चता प्रदान करनेवाली किसी वस्तु द्वारा ही आदतकी लीकमेंसे बाहर निकल सकती है।

*

यह अधिक अच्छा है कि विरोधी शक्तियोंके विषयमें चिन्ता ही न की जाय। अपनी अभीप्साको प्रबल और निष्कपट बनाये रखो तथा प्रत्येक वस्तुमें और प्रतिक्षण सहायताके लिये भगवान्‌की पुकार करो तथा तुम्हें जो कुछ भी अनुभव होता है उस सबमें अपनेको हमारे प्रति खोले रखो। भगवान्‌को पानेका यह सबसे सरल उपाय है। यदि तुम विरोधी शक्तियोंकी चिन्ता करने लगो तो तुम मार्गको केवल मुश्किल ही बना दोगे।

*

इन (विरोधी सुझावों) को इसी रूपमें देखना चाहिये — बिना लागल-पेटके, उदासीन भावसे। इनसे निरन्तर संघर्ष करते रहनेकी जरूरत नहीं रहती। यह संघर्ष अपने-आपमें व्यक्तिके लगावका एक रूप है और यह वृत्ति इन सुझावों-को उतनी ही बल्कि और भी अधिक हतोत्साह करनेवाली है।

*

यह बिलकुल ठीक है। अपने अनुभवकी दूसरे लोगोंसे चर्चा करनेसे अनुभवकी शक्ति मन्द होती जाती है। और विरोधी शक्तियोंके विषयमें बहुत अधिक चिन्तनका अर्थ है उनके वातावरणको ले आना। व्यक्तिको उनके आनेपर उन्हें पहचान कर बाहर निकालना होता है, किन्तु उनके सम्बन्धमें बहुत सोचना, उनसे डरना, उनके लिये आशा या प्रतीक्षा करते रहना भूल है।

*

साधनाके लिये सबसे खराब बात यह है कि व्यक्ति विकृत मानसिक स्थितिमें पहुँच जाय और हमेशा "निम्न शक्तियोंके आक्रमणोंके" विषयमें सोचता रहे। यदि साधना कुछ समयके लिये रुक गई हो, तो उसे रुके रहने दो, शान्त बने रहो, साधारण कामकाज करते रहो, जरूरत होनेपर आराम करो—स्थूल चेतनाके तैयार होनेतक प्रतीक्षा करो। मेरी अपनी साधना एक साथ छः महीने बन्द हो जाया करती थी जब कि वह तुम्हारी साधनासे बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई थी। मैंने इसके सम्बन्धमें शोरशराबा नहीं किया, किन्तु मैं उस खाली या शुष्क कालके समाप्त होनेतक शान्त बना रहा।

*

हां, विरोधी शक्तियां इस तरहके किसी भी विक्षोभका फायदा उठाती हैं, क्योंकि यह मानों उनकी क्रियाके लिये एक आने-जानेका रास्ता खोल देती है। उनके सामने भयका अनुभव तो बिलकुल ही नहीं करना होता क्योंकि इससे वे निडर और आक्रामक हो जाती हैं।

इसके सिवाय, जैसा कि तुमने ठीक ही कहा है, भय डरानेवाली वस्तुओंको ले आता है—इसलिये इसे सर्वथा बाहर फैंक देना चाहिये।

*

यह बहुत दिलचस्प बात है—क्योंकि यह माताजीके इस सतत आग्रहके साथ मेल खाती है कि प्राणिक शक्तियोंसे अभिभूत व्यक्तियोंके साथ कोई सहानुभूति या किसी निर्बल लोकोपकारकी वृत्तिके ढंगकी भावुकता अनुभव करना सबसे अधिक खतरनाक है क्योंकि वह व्यक्तिपर एक ऐसा आक्रमण ले आ सकता है जिसका कोई भी रूप हो सकता है। व्यक्तिको करने योग्य सभी कुछ करना होगा किन्तु इस प्रकारकी सारी कमजोरीसे बचना होगा।

VII

निरी दुर्घटना नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। भौतिक सत्तामें शायद बहुत थोड़ीसी अचेतनता होती है और प्राणमय भौतिक जगतकी ये छोटी-छोटी सत्ताएं इसका लाभ उठाती हैं—जो सचेतन रूपसे विरोध करनेवाली सत्ताओंकी अपेक्षा अधिक अनिष्टकर होती हैं।

*

वह शक्ति जो तुम्हारे अन्दर घुसकर इन चीजोंको करती है, बुरी नहीं है; ये बाहरकी छोटी-छोटी शक्तियां हैं जो किसी असावधानी या लापरवाही इत्यादिका लाभ उठाकर इस प्रकारकी छोटी-छोटी दुर्घटनाओंको उत्पन्न करती हैं और अपना जी बहलाती हैं।

*

दुर्घटनाओंके सम्बन्धमें तुमने ठीक ही कहा है। मुख्यतः स्थूल मनकी अचेतना ही इन दुर्घटनाओंको या अनिष्टकर शक्तियोंके इन हस्तक्षेपोंको सरल बना देती है।

*

यह ठीक है। ये दुर्घटनाएं तुम्हें विक्षुब्ध करनेके लिये ही आती हैं। तुम्हें अपनेको इनसे विक्षुब्ध नहीं होने देना होगा।

हां — यह इसलिये होता है कि वे (विरोधी शक्तियां) जानती हैं कि दिव्य शान्ति ही आधार है और यदि वह पूर्ण रूपमें विद्यमान हो, तो बाकी सब आप ही आ जायेगा। इसलिये वे शान्तिको किसी भी प्रकारसे रोकना चाहती हैं।

*

हां, यह एक हमला था — विरोधी शक्तियां स्थूल साहचर्य द्वारा भौतिक चेतनापर अधिक ठोस पकड़ प्राप्त करनेके लिये प्रायः इस या उस व्यक्तिका रूप धारण करती हैं।

*

ऐसा कभी-कभी होता है कि सावधानीसे बनाई हुई इस प्रकारकी योजनासे और किसी तीसरे ऐसे व्यक्तिको साधन बनाकर जिसकी गतिविधि पर उनका नियन्त्रण होता है, विरोधी शक्तियां चौकन्ने पहरेको पार कर इस प्रकारकी दुर्घटना पैदा करती हैं। वे अवचेतनके द्वारा ही ऐसा करनेमें सफल होती हैं क्योंकि अवचेतनमें अभी न तो कोई ऊपरसे उतरी शक्तिका पुंज ही होता है जो पास आती हुई साइकलको दूर हटा सके या उसकी गतिको मोड़ सके,

न कोई ऐसा साहजिक निश्चय होता है जिसे पहलेसे ही इस बातका आभास मिल जाय कि साइकल चलानेवाला क्या करने जा रहा है और उससे बचनेका ठीक उपाय कर सके। फिर भी जब संरक्षण विद्यमान होता है तो ऐसी दुर्घटनाएं गम्भीर स्वरूपवाली होनेपर भी साधारणतया एक ऐसी वस्तुमें बदल दी जाती है जिनके परिणाम मामूली होते हैं।

*

प्राय: देखा गया है कि जब कोई दुर्घटना किसी विशेष स्थानपर होती है तो कुछ समयके लिये वहां अन्य दुर्घटनाओंके होनेकी भी प्रवृत्ति होती है। कुछ वर्ष पहले विल्लियानूरके पासके एक स्थानके लिये भी ऐसी ही बात कही जाती थी। किसी विशेष स्थानपर आत्महत्या करनेके पीछे भी यही प्रवृत्ति होती है। यह एक प्रकारकी प्रबल रचना है जो वहां विद्यमान रहती है चाहे उस रचनाके पीछे उसका अधिष्ठातृत्व करनेवाली कोई प्राणिक सत्ता (प्रेतात्मा) वहां हो या न हो।

VIII

तथापि मुझे कहना होगा कि पागलपनका कारण न तो भगवान्‌के साथ मिलनका आवेग होता है, न भगवान्‌की शक्ति ही — इन वस्तुओंके सम्बन्धमें अपने दावेको लेकर लोग स्वयं जिस ढंगसे क्रिया करते हैं वही इसका कारण होता है। और अधिक निश्चित रूपमें कहें तो मैंने एकमात्र कठिनाई या अभावात्मक असफलताके मुकाबले योगमें भ्रष्टताका कोई दृष्टान्त कभी नहीं देखा —नाटकीय ढंगकी दुर्घटनाका ऐसा कोई दृष्टान्त जिसमें निम्न तीनों कारणोंमेंसे कोई एक या एकसे अधिक कारण कार्य न कर रहे हों। पहला है कोई यौन विकृति — मैं एकमात्र यौन वृत्तिकी बात नहीं कह रहा जो पतनकी ओर न ले जाती हुई भी किसी व्यक्तिकी प्रकृतिमें बहुत प्रबल हो सकती है — या आध्यात्मिक अनुभवको एक प्राणिक अथवा स्थूल भौतिक आधारपर यौनरूप देनेका प्रयत्न; दूसरा है बढ़ी-चढ़ी महत्वाकांक्षा, गर्व या मिथ्याभिमान जो आध्यात्मिक शक्ति या अनुभव को अपने अधिकारमें करके अपनी महिमाकी ओर मोड़नेकी चेष्टा कर रहा हो और जिसका परिणाम ही महत्वोंन्माद; तीसरा है एक असंतुलित प्राण और निर्बल स्नायुमंडल। इसका रुझान अपनेको स्थिर और नियन्त्रित करनेके लिये बिना किसी सच्चे मानसिक संकल्प या प्रबल संकल्पके कल्पनाओं और

आवेगोंका अनुसरण करनेकी ओर ही होता है और इस प्रकार तब यह विरोधी प्राणिक जगत्की कल्पनाओं और सुझावोंकी दयापर ही जीता है। जब वह किनारेपर उस मध्यवर्ती क्षेत्रमें ले जाया जाता है जिसके विषयमें मैंने अपने हाल ही के सन्देशमें चर्चा की थी*। पतनके सभी दृष्टान्तोंके पीछे ये तीन ही कारण रहे हैं—अधिकतर पहले दो। इनमेंसे केवल तीन या चार दृष्टान्तोंमें ही व्यक्ति अन्तमें पागल हो गये—और इनमें यौन-विकृति निरपवाद रूपसे प्रत्येकमें विद्यमान थी; साधारणतया परिणाम होता है तीव्र पथ-भ्रष्टता। 'क्ष' इस नियमका अपवाद नहीं है। 'क्ष' ने भगवान्सें मिलनेके लिये तपस्या की इसके कारण वह पागल नहीं हुआ, किन्तु इस कारण हुआ कि मेरी बारंबार आग्रहपूर्वक दी गई चेतावनियोंके बावजूद 'क्ष' ने ऊर्ध्वमेंसे आई हुई शक्तिका दुरुपयोग गुह्य कामोपभोगकी और महत्वोन्मादपूर्ण मिथ्याभिमानकी तृप्तिके लिये किया।

*

साधारणतया इसके पीछे पहलेसे ही कोई आनुवंशिक, जन्मजात (जन्मकी किन्हीं परिस्थितियोंके कारण) या अपर्याप्त स्नायविक सन्तुलनमें प्रतिष्ठित पूर्व प्रवृत्ति होती है। प्राणमें प्रायः अति प्रबल महत्वाकांक्षा, लालसा या अन्य कोई उग्र "रिपु" विद्यमान होता है। किन्तु ये साधनाको अवांछनीय शक्तियोंकी ओर खोलनेके द्वारा विकृत या नष्ट करनेमें समर्थ होनेपर भी व्यक्तिमें उन्माद (जिसे महत्वोन्माद, विषयोन्माद और धर्मोन्माद कहा जाता है) नहीं पैदा कर सकते—यह केवल तभी होता है यदि उनमें स्नायविक सन्तुलनकी विकृति या अभाव हो। न ही चिन्ता या ध्यानके दबावकी अधिकता व्यक्तिको पागल बनायेगी सिवाय इस प्रकार कि वह पहलेकी किसी स्वभावगत कमजोरीके आधारपर कार्य करके ऐसा करे। व्यक्ति किसी ऐसे पूर्व प्रवृत्तिके कारणके बिना ही प्राणिक जगत्की सत्ताओंसे अभिभूत हो सकता है, किन्तु इसे अधिक सरलतासे ठीक किया जा सकेगा। तथापि ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें व्यक्ति गलत अभ्यासोंसे अपने स्नायविक सन्तुलनको बिगाड़ लेते हैं—इनमें वस्तुतः पागल-पनका साधनासे कोई सम्बन्ध नहीं।

*

*देखिये भाग ३ पृष्ठ ५३० से ५३६ तक।

जहांतक कृतज्ञताकी बात है, यह एक चैत्य-भाव है और जो कुछ चैत्यसे संबंध रखता है वह सब अन्तरात्माके प्रस्फुटित होनेमें सहायता देता है। आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दुसे भावुक होनेमें कोई खराबी नहीं। एकमात्र बात यह है कि हमें साधनामें इसे बन्धनकी ग्रन्थि नहीं बनने देना चाहिये।

यह बिलकुल असम्भव है कि भगवान्‌की कृपाका अवतरण मतली या घबराहट पैदा करे—ऐसा सोचना ही स्वतः विरोधी है। कभी-कभी अत्यधिक खेंच-तान करनेपर व्यक्तिको सिर दर्द या सिर दर्द जैसा संवेदन होता हो, अथवा यदि व्यक्ति भागवत शक्तिको अत्यधिक मात्रामें नीचे खींच लाये तो सम्भव है कि उसके सिरमें चक्कर आयें, परन्तु उसे केवल शान्त रहना है और वह सिरदर्द आदि अपनेको ऊपरसे या अन्य प्रकारसे आई वस्तुको पचानेके द्वारा ठीक कर लेता है। इसमें पीछे जाकर कदापि कोई विरोधी या कष्टदायक परिणाम नहीं होता।

यह विचार एक निरर्थक और तर्कहीन अन्ध-विश्वास है कि भगवान्‌की शक्तिने 'क्ष' को पागल कर दिया :। लोग पागल इसलिये हो जाते हैं कि उनकी भौतिक सत्तामें पहलेसे ही कोई वैसी प्रवृत्ति होती है जिसका कारण होता है या तो आनुवंशिकता या किसी प्रकारका अंग-रचना सम्बन्धी दोष अथवा सिफिलिस जैसा कोई गुप्त रोग, यह क्रिया प्रायः किसी मनोवैज्ञानिक तत्व (महत्वाकांक्षाका महत्वोन्माद, रोगभ्रम, विषादरोग आदिमें बदल जाना) के द्वारा उभारी जाती है। यह सब केवल योगमें नहीं किन्तु रोजमर्रा जीवनमें भी होता है: यहां भी वहीं कारण कार्य करते हैं। एक बात यह हो सकती है कि यहां कोई बाहरी शक्ति आक्रमण करके गड़बड़ पैदा कर देती हो किन्तु यह भागवत शक्ति नहीं होती, कोई प्राणिक शक्ति ही होती है जो आक्रमण करती है। भागवत शक्ति अपने अवतरण द्वारा जैसे पक्षाघात या अन्य किसी शारीरिक बीमारीका कारण नहीं हो सकती वैसे ही पागलपनका भी कारण नहीं हो सकती। यदि व्यक्तिमें पूर्व प्रवृत्ति न हो तो प्राणिक या अन्य शक्तियोंके अथवा व्यक्तिकी अपनी निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाओंके सब प्रकारके अधिक-से-अधिक उग्र आक्रमण होनेपर भी वह पागल नहीं होता।

*

अवतरणसे सम्भवतः मतली और वमन आदि विकार नहीं उत्पन्न हो सकते। यदि व्यक्ति शक्तिको अत्यधिक मात्रामें नीचेकी ओर खींचे तो सम्भव है उसे सिरदर्द हो जाय या चक्कर आयें; यदि व्यक्ति शान्तिको बनाये रखे

और खींच-तानको बन्द कर उसे आत्मसात् करने लगे तो ये दोनों ही चले जाते हैं। शक्तिका अवतरण सम्भवतः रक्तचाप, पागलपन या पक्षाघात अथवा हृदयका रुकना या अन्य किसी बीमारीको उत्पन्न नहीं कर सकता।

बीमारी शक्तिके अवतरणके कारण नहीं उभरती; न आनुवंशिक विकृति, न ही पागलपन। वे अपने-आप ही ऊपर आ जाते हैं जैसे 'क्ष' के मामलेमें हुआ जिसमें कहीं भी अवतरण या शक्तिका रंचमात्र भी अनुभव नहीं हुआ था। जब वह अपने केन्द्रसे च्युत हो गया उसके बादसे ही हम अपनी शक्तिका उसमें (अवतरणके रूपमें नहीं लेकिन एक सहायकके रूपमें) उसे यथासम्भव ठीक और स्वस्थ रखनेके लिये प्रयोग कर रहे हैं।

*

यह बिलकुल सम्भव है कि यदि प्रकृतिमें पवित्रता और शान्तिके स्थित होनेसे पहले अतितीव्र आनन्दको आने दिया जाय तो यह देहतन्त्रको विक्षुब्ध कर सकता है। यद्यपि मैं नहीं जानता कि इसके परिणामस्वरूप किसीके पागल होनेका कोई उदाहरण है या नहीं। जो भी हो, यह तथ्य है कि सामान्यतया आनन्द (मेरा आशय है, अपने स्वाभाविक क्रममें, यदि नीचेकी ओर खींचा न जाय तो) केवल समय-समयपर तबतक आता है जबतक शान्ति और पवित्रता वहांपर आधारके रूपमें प्रतिष्ठित न हो जायें। बहुत करके यह ठीक है कि यह ऐसा ही होना चाहिये।

*

जो लोग उन्मादग्रस्त होते हैं वे सच्चा स्पर्श खो चुके होते हैं और गलत सम्पर्कमें आ चुके होते हैं। यह या तो ऐसी किसी अशुद्धि और आध्यात्मिकता-हीन कामनाके कारण होता है जिसे लेकर साधक योग मार्गमें प्रवेश करता है अथवा इसका कारण कोई सचाईका अभाव, अहंका और मिथ्यावृत्ति या मस्तिष्क अथवा स्नायुमंडलकी कमजोरी होती है जिसके कारण स्नायु-संस्थान अपने अन्दर पुकार कर नीचे लायी गई शक्तिको नहीं सहन कर सकता।

सबसे अधिक निरापद मार्ग है ऐसे किसी व्यक्तिके पथप्रदर्शनका अनुसरण करना जिसने उस मार्गमें आत्म-प्रभुत्व कर लिया हो। मुख्य बात यह है कि प्रथप्रदर्शनका बिना किसी ननुनचके सचाईके साथ अनुसरण करना चाहिये; व्यक्तिको अपने मनको, अपने विचारोंको और अपनी अकल्पनाओंको जरा भी

हस्तक्षेप नहीं करने देना होगा। यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यह मार्गदर्शन अवश्य ही सच्चा होना चाहिये, किसी नीम हकीम या पाखण्डीका नेतृत्व नहीं।'

*

मिरगी या अपस्मारका अर्थ भूताविष्ट होना नहीं है—यह एक आक्रमण है या अधिक-से-अधिक एक अस्थाई दौरा है। पागलपन हमेशा ही किसी आवेशको सूचित करता है। आनुवंशिक अवस्थाएं पूर्व-प्रवृत्तिको उत्पन्न करती हैं। किसी प्राणिक शक्ति या सत्ताके लिये आक्रमण करना या अभिभूत करना तबतक सम्भव नहीं होता जबतक उसके प्रवेशके लिये द्वार न खुले हों। यह द्वार कोई प्राणिक स्वीकृति या आकर्षण अथवा सत्ताके अन्दर भौतिक त्रुटिके रूपमें हो सकता है।

*

अपस्मार स्वयं एक प्राणिक आक्रमणका चिह्न है, तब भी जब कि उसका कारण कोई भौतिक वस्तु हो—आक्रमण करनेवाली शक्ति (विशुद्ध) मानसिक या प्राणिक सत्ताको विचलित करनेमें असमर्थ होनेपर शरीरपर टूट पड़ती है और किसी (सोये पड़े या उभरते हुए) भौतिक कारणको अपने कार्यके आधारके रूपमें प्रयुक्त करती है। क्योंकि भौतिक सत्तामें व्यक्त हुई प्रत्येक वस्तुके लिये अवश्य ही एक भौतिक अवलम्ब या साधन होना चाहिये जिसके द्वारा वह अपनेको प्रकट कर सके।

*

उन्माद हमेशा ही प्राणिक आक्रमणके, बल्कि किसी आवेशकें कारण होता है यद्यपि साथ ही प्रायः कोई भौतिक कारण भी होता है। हिस्टीरिया प्राणिक जगत्के किसी दबावके कारण होता है और उसमें थोड़े समयके लिये भूतावेशकी अवस्थाएं भी हो सकती हैं। सामान्य प्रलापके विषयमें यही बात नहीं कही जा सकती इसका कारण केवल भौतिक ही होता है—ऐसा केवल उस हदतक कहा जा सकता हैं जिस हदतक बीमारियां प्रकृतिकी निम्नतर शक्तियोंके आक्रमण होती हैं, किन्तु ये निम्नतर शक्तियां प्राणिक सत्ताए या वे सत्ताएं नहीं होतीं जिन्हें हम विशेषकर विरोधी शक्तियां कहते हैं। वे केवल प्रकृतिमें अपनी भूमि-

काको अदा कर रही है और अवश्य ही प्रत्येक प्रकारकी बीमारीके ऊपर किसी प्रकारकी सत्ता अधिष्ठातृत्व कर सकती है और बहुधा करती भी है—बंगालमें लोग इनमेंसे कुछ एकको एक विशेष नामसे पुकारते हैं और उनकी देवियोंके रूपमें पूजा करते हैं जिससे विपत्तिको टाला जा सके। परन्तु जैसा मैं कहता हूँ कि ये वस्तुतः शक्तियां हैं, न कि प्राणिक विरोधी शक्तियां।

जहांतक मनुष्योंको आविष्ट करनेमें प्राणिक सत्ताओंकी अभिरुचिका प्रश्न है—प्राणिक जगत्‌की सत्ताओंकी संरचना मनुष्यों जैसी नहीं है—वे लोग संघर्ष, दुःख-कष्ट और अस्तव्यस्ततामें आनन्द लेती हैं—यह उनका स्वाभाविक वातावरण है। इसके सिवाय वे जन्मके बन्धनको ग्रहण किये बिना अथवा चैत्य सत्ताको विकसित किये बिना एवं भगवान्‌के प्रति विकास साधे बिना स्थूल जगत्‌का आस्वाद लेना चाहती हैं। वे जो कुछ हैं वही रहना चाहती हैं लेकिन स्थूल जगत् और स्थूल शरीर द्वारा अपना मनोरंजन करना चाहती हैं।

*

साधारणतया वातोन्माद (हिस्टीरिया)के इन दृष्टान्तोंमें हंसी-ठट्ठे या मौज-मजासे कुछ नहीं बनता—साधारणतया दृढ़ बने रहनेसे अधिक लाभ होता है, क्योंकि बहुधा उसमें कोई ऐसी चीज होनी जो दिलचस्पी पैदा करना और सहानुभूति पाना चाहती है तथा यह चाहती है कि उस व्यक्तिके लिये शोर-शराबा किया जाय। जहांतक उपचारका प्रश्न है वह एक अलग मामला है, उसमें आन्तरिक कारणसे छुटकारा पाना होगा और यह कोई सरल बात नहीं है।

*

सन्तुलनकी कमी चेतनामें अव्यवस्था पैदा करती है और विरोधी शक्तियां आक्रमण करने और सारे तन्त्रमें उथल-पुथल मचानेका तथा अपना कार्य करनेके लिये उस कमीका लाभ उठाती हैं। इसीलिये लोगोंको हिस्टीरिया या उन्माद हो जाता है या उन्हें मरने या यहांसे चले जानेकी इच्छा होती है।

*

(सन्तुलन खोनेकी घटना:) मनुष्योंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें, किन्तु कुछ मनुष्यों

में भी, अधिक सरलतासे होती हैं। सन्तुलनके भंगको पैदा करनेवाली वस्तु है बुद्धि द्वारा प्राणिक व्यापारोंको नियन्त्रित करनेकी अक्षमता और स्वयं प्राणकी अस्थिरता जिसके कारण वह बिना किसी सामंजस्य या व्यवस्थाके एक भावसे दूसरे भावमें, एक आवेगसे दूसरे आवेगमें झूलता रहता है।

*

मैं कह सकता हूँ कि 'क्ष' मुझे पागल नहीं प्रतीत होता — चोट या दुर्घटना अथवा बीमारी के कारण होनेवाली चिन्तनशील मनकी अव्यवस्थाका उसमें कोई चिह्न नहीं है। वहां है केवल एक आग्रहपूर्ण विचार और जिसे उत्पीड़नसे होनेवाला पागलपन कहा जाता है, किन्तु इसका कारण विक्षिप्तता नहीं है — ऐसे लोगोंको भी यह बीमारी होती है जिनमें वैसे एक तीव्र और पूर्ण तथा सुव्यवस्थित बुद्धि होती है। 'क्ष' के फोटोसे यह प्रतीत होता है कि उसके अन्दर माध्यम बननेका तत्व विद्यमान है और वह किसी अशुभ घड़ीमें प्राणिक भूमिकाकी शक्तियोंके सम्पर्कमें आया जो अपने सुझावोंको उसमें, उसकी चेतनाके उस भागमें जिसे हम प्राणिक-मन कहते हैं, डालनेमें समर्थ हुई — जिसके परिणाम स्वरूप वह वस्तुओंको उनके यथार्थ प्रकाशमें निश्चित नहीं जान पाता और उन सुझावोंसे पीड़ित हो रहा है जिन्होंने उन अभ्यस्त विचारोंकी पक्की लीकें बनाई जो उसे उत्पीड़ित कर रही हैं और जिन्हें वह गले लगाने या परे हटानेमें असमर्थ है। दुर्भाग्यसे यह चेतनाकी एक ऐसी व्याधि है जिसे ठीक करना बहुत कठिन होता है क्योंकि स्वयं बीमार व्यक्ति कोई सहायता नहीं देता कारण वह अपने स्थिर विचारोंसे तब भी चिपटा रहता है जब कि उस प्रभावको दूर कर दिया जाता है, वह उसे अपने ऊपर वापस बुला लाता है। निश्चय ही यहांसे उसे जताया जा सकता था कि वह पागल नहीं है और भगवान्से अभिशाप भी नहीं है — लेकिन यह बात अपने-आपमें उसे ठीक करनेके लिये पर्याप्त नहीं हो सकती।

*

मैं आज तुम्हारे पुत्र 'क्ष' और उसकी बीमारीके सम्बन्धमें, यदि उसे बीमारी कहा जा सके तो, लिख रहा हूँ। पहले मैं सामान्य शब्दोंमें व्याधिकी प्रकृतिको और उसके साधारण परिणामोंको स्पष्ट करूँगा अर्थात् उस सामान्य क्रमको बताऊंगा जिनका यह तब अनुसरण करती है जब इसे हटानेके लिये कोई चैत्य

या आध्यात्मिक शक्ति अन्दर नहीं लायी जाती। उसके बाद मैं इलाजके दो सम्भव साधनोंका भी निर्देश करूँगा।

मैं समझता हूँ मेरे लिये सबसे अच्छा यह होगा कि मैं केवल बीमारीकी यथासम्भव सर्वोत्तम अवस्थाकी ही नहीं किन्तु उसकी निकृष्टतम अवस्थाका भी वर्णन करूँ क्योंकि यह आवश्यक है कि तुम इसके सम्पूर्ण सत्यको जान लो और तुममें उसका सामना करनेका साहस आ जाय। ये दृष्टान्त वास्तविक भौतिक व्याधिके नहीं हैं, किन्तु प्राणिक जगत्से आविष्ट करनेके लिये किये गये प्रयत्नका एक दृष्टान्त है; और दौरे तथा अन्य भौतिक लक्षण स्वयं व्याधिके चिह्न नहीं है परन्तु विरोधी प्रभावोंके दबावके विरुद्ध प्राकृतिक सत्ताके संघर्षके चिह्न हैं। इस उम्रके बच्चेका ऐसा उदाहरण स्थूल आनुवंशिकतामें किसी प्रकारके ऐसे संस्कारोंके संचयको सूचित करता है जो अवसर या पूर्व प्रवृत्तिको उत्पन्न करता है, इसका लाभ प्राणिक आक्रमण उठा लेता है। विशेषकरके स्थूल चेतना और स्थूल प्राणमें ही इस पूर्व प्रवृत्तिके जीवाणु या उपादान होते हैं। स्थूल सत्ता अपने घटकोंको सदैव बदलती रहती है और प्रत्येक सात वर्षके कालमें घटक-तत्व पूरी तरह बदल जाते हैं। यदि प्रकृतिमें स्थित इस पूर्व प्रवृत्तिके रोग-लक्षणोंको देख लिया जाय और उनका समूल नाश करनेके लिये माता-पिता एक बुद्धिमत्तापूर्ण प्रभाव और प्रशिक्षणका प्रयोग करें और यदि यह वस्तु इतने प्रभावशाली ढंगसे की जाय कि पहले सात वर्षोंमें व्याधिके कोई भी बीज न प्रकट हों, तो साधारणतया आगे कोई खतरा नहीं रहता। इसके विपरीत यदि वे सातवें वर्ष प्रकट हों तो अगला सात वर्षका काल संकट-पूर्ण काल होता है, और सामान्यतया चौदहवें वर्ष या उससे पहले ही उस बीमारी-का इधर या उधर फैंसला हो जाता है।

सामान्यतया इसके तीन सम्भव परिणाम होते हैं। इतने छोटे बच्चेके इलाज करनेमें कठिनाई यह है कि उसका मन विकसित नहीं होता और वह ठीक होनेकी दिशामें कोई सहायता नहीं दे सकता। परन्तु क्योंकि मन अगले सात वर्षोंमें विकसित हो जाता है, इसलिये मन यदि साधारण स्तरसे अधिक कमजोर न हो, जो मेरे विचारसे इस उदाहरणमें नहीं है, तो प्रभावके विरोध-में अधिकाधिक प्रतिक्रिया करेगा। एक अच्छे नियन्त्रण और प्रभावसे सहायता पाकर यह विरोधी शक्तियोंकी घुसपैठ और उनके दबावको पूरी तरह बाहर निकालनेमें भली-भांति सफल हो सकता है। उस अवस्थामें दौरे और भौतिक संघर्षके अन्य चिह्न नष्ट हो जाते हैं, विचित्र और प्राणिक प्रवृत्तियां क्षीण होकर हमारी आदतोंमेंसे बाहर निकल जाती हैं और बच्चा मानसिक, नैतिक और भौतिक रूपसे एक स्वस्थ सामान्य प्राणी बन जाता है।

दूसरी सम्भावना यह है कि प्राकृतिक सत्ता और घुंसपैंठ करनेवाली सत्ताका संघर्ष चैत्य अर्थमें निर्णायक न हो अर्थात् घुंसपैंठ करनेवाली सत्ता पूर्ण अधिकार न प्राप्त कर सके लेकिन साथ ही पूरी तरह बाहर भी न फैंकी जा सके। उस दशामें इनमेंसे कुछ भी हो सकता है—एक छिन्न भिन्न मन और स्वास्थ्य, शरीरका निधन या उद्भ्रान्त, विभक्त और सदाके लिये विकारयुक्त प्रकृति।

तीसरी और सबसे निकृष्ट सम्भावना यह है कि घुंसपैंठ करनेवाली सत्ता सफल होकर सम्पूर्ण सत्तापर आधिपत्य जमा ले। उस अवस्थामें दौरे और अन्य उग्र रोग-लक्षण अदृश्य हो जायेंगे, बच्चा भौतिक रूपसे अच्छा और स्वस्थ दीखने लगेगा, किन्तु वह साधारण स्तरसे नीची और अत्यधिक खतरनाक एक ऐसी सत्ता बन जायेगा जो एक अशुभ प्राणिक शक्तिका मूर्त्तरूप होगी और जिसमें शक्तिकी सब भीषण प्रवृत्तियां होंगी तथा उन्हें तृप्त करनेके लिये असाधारण प्रकृति-प्रदत्त शक्तियां भी।

'क्ष', के मामलेमें अभी पूरे अर्थमें भूतावेश नहीं हुआ किन्तु एक प्रबल दबाव और प्रभाव पड़ा है जो तुम्हारे द्वारा उल्लिखित उन विचित्र आदतोंसे सूचित होता है। इन आदतोंके सुझाव और प्रेरणा घुंसपैंठ करनेवाली सत्ताओंने दी है और ये स्वयं लड़केकी अपनी नहीं है। जिस निर्भयता और निश्चिन्ततासे वह इन चीजोंको करता है उनकी प्रेरणा-स्रोत यही है। किन्तु दौरे यह सिद्ध करते हैं कि अभी तक वह भूताविष्ट नहीं हुआ। एक संघर्ष हो रहा है जो उनके द्वारा सूचित होता है और एक अस्थाई पकड़ भी है जो फिर हट भी जाती है। प्रत्यक्ष ही वह संकट कालकी प्रारम्भिक अवस्थामेंसे गुजर रहा है जिसमेंसे बीमारी सामान्यतया गुजरा करती है। मैंने उस क्रमका उल्लेख किया है, लेकिन उसमेंसे गुजरना और उसके खतरोंको उठाना जरूरी नहीं है। ऐसे अन्य उपाय भी हैं जो उसकी सहायता करके बीमारीको पूरी तरह ठीक कर सकते हैं।

पहला और सबसे अधिक सरल उपाय है सम्मोहनके सुझाव द्वारा इलाज करना। यदि इसका प्रयोग ठीक ढंगसे किया जाय तो यह एक पूर्णतया अचूक इलाज है। किन्तु सबसे पहले तो इसका प्रयोग किसी ऐसे व्यक्तिको करना चाहिये जो स्वयं अशुभ शक्तियोंके प्रभावके आधीन न हो जैसे कि कुछ सम्मोहक होते हैं। क्योंकि यह वस्तु स्पष्ट ही मामलोंको और भी बिगाड़ देगी। इसके सिवाय यह इलाज किसी ऐसे व्यक्तिको करना चाहिये जिसे समुचित प्रशिक्षण मिला हो और जो अपने विषयका पूरा माहिर हो; क्योंकि एक भी भूल अनर्थकारी हो सकती है। सर्वोत्तम अवस्थाएं यह होगी कि तुम्हारे जैसा कोई व्यक्ति जिसका बच्चेके साथ सहज सम्बन्ध हो और उसपर पहलेसे ही प्रभाव हो तो

वह एक आवश्यक प्रशिक्षण और ज्ञान लेकर इलाज कर सकता है।

इलाजका दूसरा उपाय है आध्यात्मिक शक्ति और प्रभावका प्रयोग। यदि किसी चैत्य-आध्यात्मिक साधनका उपयोग किया जा सके तो यह दूसरे इलाजके समान ही अचूक और प्रभावकारी होगा। किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि वहा ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे इसका यथार्थ ज्ञान हो। स्वयं आध्यात्मिक प्रभाव भी यह कार्य कर सकता है किन्तु कार्य सम्भवतः धीमा होगा। साधारणतया इसे उसी स्थलपर रहनेवाले किसी व्यक्तिके द्वारा संप्रेषित करना चाहिये और इसके लिये स्पष्टतः ही तुम स्वयं उपकरण हो। तुम्हें करना यह है, कि इस विचारको बनाये रखो कि मैं तुम्हारे पास इस उद्देश्यके लिये शक्ति भेज रहा हूँ, तुम इसके प्रति अपने-आपको ग्रहणशील बनाओ और उसके साथ ही अपने संकल्पको और वालकपर अपने सहज प्रभावको इसके लिये एक सीधा माध्यम बनने दो। यह संकल्प एक शान्त, स्थिर और आत्म-विश्वासपूर्ण संकल्प होना चाहिये जो अपने लक्ष्यपर एकाग्र हो किन्तु आसक्ति रहित, प्रतिरोधकी कितनी भी मात्रासे विचलित न होनेवाला और बीमारीके उभरनेपर भयभीत तथा अनुत्साहित न होनेवाला हो। वच्चेके प्रति तुम्हारी वृत्ति एक स्थिर और दृढ़ संरक्षणकारी स्नेहकी होनी चाहिये जो भावुकतापूर्ण निर्बलता और विक्षोभसे मुक्त हो। पहली चीज है एक ऐसे प्रभावको प्राप्त करना जो आक्रमण होनेपर उसे परे हटानेमें और यदि वह कोई कब्जा जमा ले तो उसकी शक्तिको और अभिव्यक्तिकी उग्रताको स्थिरतापूर्वक कम करनेमें समर्थ हो। तुम्हारे पत्रसे मैं समझ पाया हूँ कि तुम इस प्रकार प्रभावके प्रारम्भको स्थापित करनेमें पहले ही समर्थ हो गये हो। किन्तु जैसा वह बीमारकी उप-स्थितिमें कार्य करता है उसी तरह उसे दूरसे भी कार्य करनेमें समर्थ होना चाहिये। उसके बाद तुम्हें अपनी अनुपस्थितिमें उसके चारों ओर एक संरक्षण छोड़ जानेकी शक्ति भी प्राप्त करनी होगी। दूसरे तुम्हारे अन्दर उसकी ओर लगातार सुझाव प्रेषित करनेकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये। वह सुझाव तुम्हारे पत्रमें उल्लिखित उसकी विचित्र और अवांछनीय आदतोंको भी धीरे-धीरे रोक देगा। मैं कह सकता हूँ कि यह किसी प्रकारके बाहरी बल प्रयोग द्वारा सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। क्योंकि बहुत करके यह इन आवेगोंको अधिक उग्र ही बनायेगा। अवश्य ही यह एक संकल्प, सुझाव और नीरव प्रभाव होना चाहिये। यदि तुम्हें लगे कि नियन्त्रण बढ़ रहा है और आदतें क्षीण हो रही हैं तो तुम समझ सकते हो कि बीमारीके ठीक होनेका काम शुरू हो गया है। इसके पूरा होनेमें कुछ समय लग सकता है क्योंकि ये प्राणिक सत्ताएं बहुत अधिक चिपटनेवाली और हठीली होती हैं और हमेशा आक्रमण करनेके लिये

लौटती रहती हैं। बीमारीको तेजीसे ठीक करनेवाली एक चीज यह है कि स्वयं बालक अपनेको बदलनेके लिये अपने मनके अन्दर एक संकल्पको विकसित करें, क्योंकि इससे विरोधी प्रभावकी नींव ही नष्ट हो जायगी। कारण उसके अन्दर कोई ऐसी वस्तु है जो उस प्रभावके साथ आनेवाली शक्तिसे खुश होती है और उसमें आनन्द लेती है इसलिये ये चीजें बारंबार लौटनेमें और बने रहनेमें समर्थ होती हैं। उसके अन्दर रहनेवाला यह तत्व चारों ओर घिरी हुई सत्ताको पुकारकर तब भी वापस ले आता है जब कि उसका केन्द्रीय रूपसे परित्याग कर दिया गया हो। निश्चय ही मैं उसपर सीधे और साथ ही तुम्हारे द्वारा क्रिया करनेकी चेष्टा करूँगा, किन्तु रोगीके निवास स्थान पर किसी व्यक्तिका साधन बनना बहुत अधिक शक्तिदायक होता है और कभी-कभी कार्यके लिये अनिवार्य भी।

* * * * * *